भट्टाकलकदेवविरचितम्

तत्त्वार्थवार्तिकम्

[राजवार्तिकम्]

हिन्दी अनुवाद सहित

द्वितीय भाग



वार्तिक सम्पादक

(स्व) प्रो. महेन्द्रकुमार जैन

न्यायाचार्य, जैन-प्राचीन न्यायतीर्थ



हिन्दी भाषानुवादिका

गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी



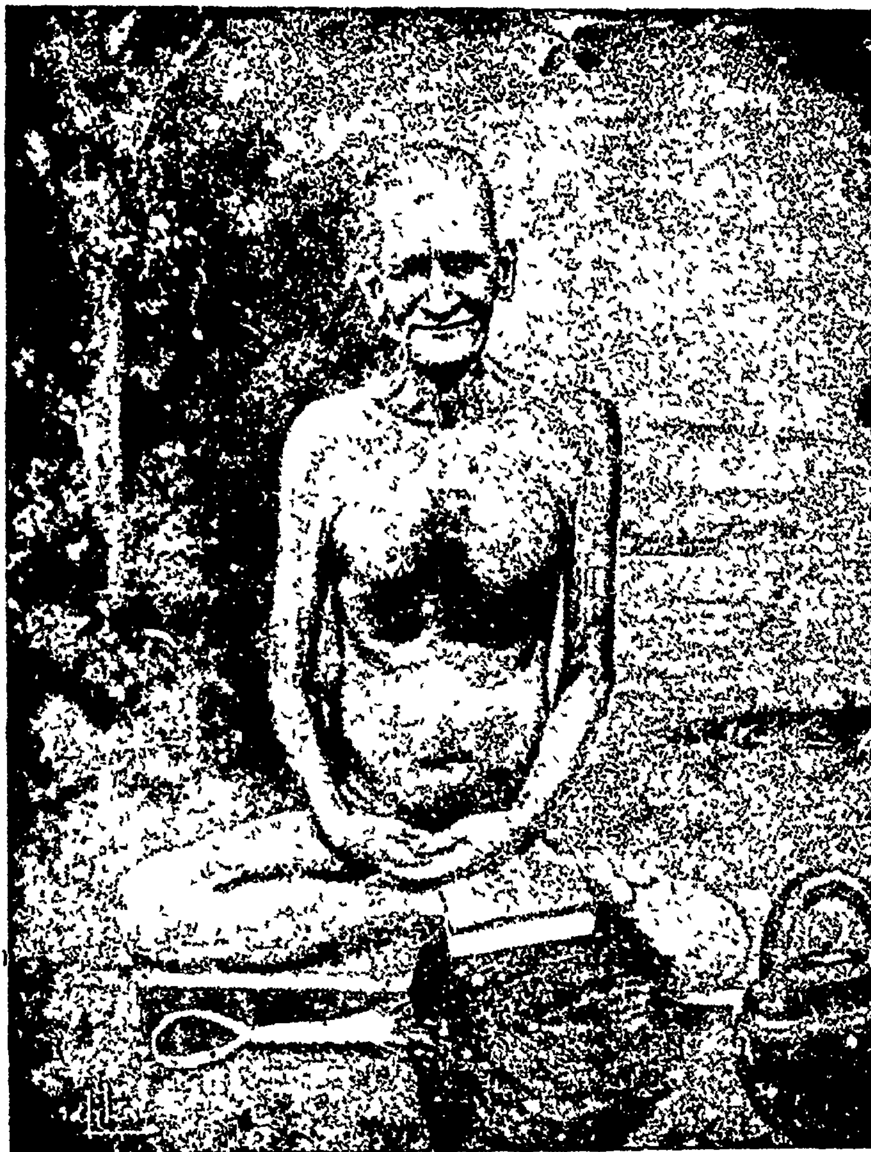
प्रकाशक

दुलीचन्द बाकलीवाल, यूनिवर्सल एजेन्सीज, देरगाँव (आसाम)

तत्त्वार्थवार्तिकम्
(राजवार्तिकम्)
द्वितीय भाग

- वार्तिक सम्पादक . (स्व.) प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, वाराणसी
- हिन्दी अनुवादकर्त्री : गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी
- सम्पादक : डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर
- अर्थ सहयोग : श्रीमती अनोपदेवी धर्मपत्नी श्री दुलीचन्द बाकलीवाल, देरगांव (आसाम)
- प्राप्तिस्थान : दुलीचन्द प्रदीपकुमार, यूनिवर्सल एजेन्सीज, देरगांव 785 614 (आसाम)
  फोन : 35
- संस्करण प्रथम : १००० प्रतियां
- प्रकाशनतिथि : आषाढ़ कृष्णा १३, वि. सं. २०४६
  स्व० आर्यिका इन्दुमतीजी की चतुर्थ पुण्यतिथि
- मूल्य : १००) रुपये
- मुद्रक : ताज प्रिंटर्स, जोधपुर

अनुवादकर्त्री आर्यिकाश्री के दीक्षा-गुरु



परम पूज्य (स्व.) आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज

स्वात्मैकनिष्ठं नृसुरादिपूज्यं, षड्जीवकायेषु दयार्द्रचित्तं ।
श्रीवीरसिन्धुं भववार्धिपोतं, तं सूरिवर्यं प्रणमामि भक्त्या ॥

परम पूज्य धर्मदिवाकर



(स्व.) आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज



तुभ्यं नमोस्तु शुभधर्मसमर्थकाय ,
तुभ्य नमोस्तु जनतापविनाशकाय ।
तुभ्यं नमोस्तु भवशोषकपद्मबन्धो !
तुभ्य नमोस्तु गणपोषकधर्मसिन्धो !

अनुवादकर्त्री आर्यिकाश्री के विद्या-गुरु

आर्षमार्गसंरक्षक, जिनवाणीप्रसारक, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, परम प्राज्ञ



पूज्य आचार्य १०८ श्री अजितसागरजी महाराज



परम पूज्य गुरुदेव !

पूजनीया स्व. आर्यिका १०५ श्री इन्दुमती माताजी की चतुर्थ पुण्यतिथि पर आपकी कृपा-प्रसादी के सुफल रूप यह अनुवाद आपके पुनीत कर-कमलों में अनन्य श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक सादर समर्पित . . .

—आर्यिका सुपार्श्वमती

प्रस्तुत अनुवादकी प्रेरणास्रोत

जिनशासनप्रभाविका, सिद्धान्तसंरक्षिका, तपोनिधि, अध्यात्ममूर्ति



(स्व.) पूज्य आर्यिकाश्री इन्दुमती माताजी

जन्म	क्षुल्लिका दीक्षा	आर्यिका दीक्षा	समाधि
वि सं. १९६२	वि. सं. २०००	वि. स. २००६	वि. स. २०४२
डेह - नागौर (राज.)	कसावखेड़ा (महाराष्ट्र)	नागौर (राज.)	सम्मेदशिखर (बिहार)

दो शब्द

'तत्त्वार्थराजवार्तिक' महान् ग्रन्थ है। इसके अर्थ का तलस्पर्श करना तथा शब्दो के गहन भाव को जानना मुझ जैसी अल्पज्ञ के लिए तो अति दुस्साध्य है। मैने इसका अनुवाद किया है, यह मेरी ढीठता है, विद्वज्जन मेरी हँसी करेगे क्योकि न तो मुझे सस्कृत-व्याकरण का ज्ञान है, न मेरे पास कोई शब्दकोश है। मेरा स्कूली अध्ययन भी नही, अत न मुझे अर्द्ध विराम का ज्ञान है और न पूर्णविराम का। फिर भी मैंने दुस्साहस किया है, अत इसमे जो अनेक त्रुटियाँ रही हैं, अर्थ मे कही कमी हुई है या अर्थ स्पष्ट नही हो सका है तो मैं उसके लिए विद्वद्जनो से क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरे इस अनुवाद-कार्य के साहस का कारण है पूज्य वात्सल्यमयी **माँ श्री इन्दुमतीजी** का वरद हस्त एव स्नेहपरिपूर्ण आशीर्वाद। माँश्री ने अन्तिम समय के तीन माह दूध-पानी पर निकाले तथा मरण के छह दिन पूर्व यम सल्लेखना की घोषणा कर वीरो का कार्य किया, जो तीर-तलवार-धारियो द्वारा भी साध्य नही था। नारी जाति का ऐसा साहस करने का यह प्रथम अवसर था। उनके समक्ष मे ग्रन्थ के प्रकाशन की मेरी कामना पूर्ण नही हो सकी। पूर्वोपार्जित अन्तराय कर्म उभर कर सामने आया जिसने उनसे मेरा वियोग कराया। उस माँश्री के पावन चरणो मे नमस्कार करके प्रार्थना करती हूँ कि हे मातेश्वरी! आपका वरद हस्त मेरे मस्तक पर रहे ताकि मेरा चारित्र निर्दोष रहे और अन्त मे समाधिपूर्वक मरण हो। पूज्य माँश्री के चरणो मे मुझे ३५ वर्ष तक रहने का सुअवसर मिला, उनका वात्सल्य भाव अविस्मरणीय है।

स्त्रीलिंग-विच्छेदक आर्यिकापद प्रदान करने वाले प्रातस्मरणीय परम पूज्य स्वर्गीय आचार्यश्री **वीरसागरजी महाराज** के चरणो मे शत-शत वन्दन करती हूँ। आचार्यश्री ने तप-त्याग एव चारित्रसाधना की कठिन चर्या करते हुए भगवान महावीर की देशना को जन-जन तक पहुँचाना अपना जीवनलक्ष्य बनाया था। उनके चरणो मे जीवन की भौतिक भागदौड से हारे-थके को शीतलता का आभास होता था। मुझे पूज्य श्री **महावीरकीर्तिजी, शिवसागरजी और धर्मसागरजी** आचार्यवर्य का सतत आशीर्वाद और सम्बोधन मिलता रहा, जिससे मेरी जीवन-यात्रा सुपथ पर अक्षुण्ण चल रही है क्योकि **'गुरुस्नेहो हि कामसू'** गुरुजनो का स्नेह इच्छित फल देने वाला होता है। परम पूज्य प्रातस्मरणीय **आचार्यवर्य अजितसागरजी** का मुझ पर असीम उपकार है, जिन्होने ज्ञानज्योति प्रदान कर मुझे इस योग्य बनाया। आपके चारित्र मे आत्मार्थ सयम, विचारो मे आत्मानुसधान और व्यवहार मे समाजहित-चिन्तन देखकर 'परमारथ के कारणे साधुन धरा शरीर' की छवि मानव-मन पर अकित हो जाती है। जहाँ एक ओर आचार्यश्री की घोर तपस्या, कठिन चारित्रसाधना और चर्या आत्मगत्न को प्रकाशित करने के लिए हैं वही दूसरी ओर उनका गहन चिन्तन, अमृत प्रवचन और असीम ज्ञान लोक-जीवन की मगलकामना हेतु मुखरित होता है। पूज्य आचार्यश्री के चरणो मे कोटि-कोटि वन्दन।

ग्रन्थराज तत्त्वार्थवार्तिक के इस अनुवाद को वर्तमान रूप मे प्रकाशित करने का श्रेय **डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी, जोधपुर** को है, जिन्होने अपना अमूल्य समय निकाल कर इसका सम्पादन कर इसे मनोज्ञ बनाया है तथा सशोधन करने का भार वहन कर इसे भली प्रकार सजोया है। वे दीर्घायु हो तथा उनके द्वारा जिनवाणी का सम्यक् प्रचार-प्रसार हो, इसी कामना के साथ उन्हे आशीर्वाद देती हूँ। प्रकाशन हेतु अर्थसहयोग प्रदान करने वाले **बाकलीवाल परिवार** के सभी सदस्य शुभाशीर्वाद के पात्र है। **श्री दुलीचन्दजी बाकलीवाल** ने इस विशाल ग्रन्थराज के दोनो भागो का प्रकाशन कर जिनवाणी के सरक्षण एव प्रचार-प्रसार मे जो योग दिया है, उसके परिणामस्वरूप वे परम्परा से अक्षय ज्ञान के धनी बनें, यही शुभाशीर्वाद है। इस महत्कार्य मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे सहयोग प्रदान करने वाले सभी को आशीर्वाद देती हुई उनके धर्मलाभ की कामना करती हूँ।

—**आर्यिका सुपार्श्वमती**

卐 अभिलाषा 卐

आभूषण शरीर से शोभित होते है या शरीर आभूषणो से ? यदि विचार किया जाय तो दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात होगा। शरीर का सौन्दर्य आभूषणो से सौ गुणित हो उठता है और लोग देखकर वाह्-वाह् करने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार आज मुझ अबोध एव अज्ञानी को कौन जानता यदि मैंने आर्यिकारत्न परम विदुषी पूज्य सुपार्श्वमती माताजी का आश्रय न लिया होता। मेरी ३० वर्षो की पिपासा आज शमन हुई। मैं करीब ३० वर्षो से पूज्य माताजी से यही कहता आ रहा था कि मुझ पर अनुग्रह करके आप मुझे कोई काम बताइए। आज वह सुअवसर आया है। मैं अपने आपको धन्य समझता हूँ और पूज्य माताजी से आशीर्वाद की याचना करता हूँ कि मेरी बुद्धि भविष्य मे भी इसी प्रकार के कार्यो मे जुटी रहे और मैं इसी तरह जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करता रहूँ।

देरगांव (आसाम)
दिनाक १०-४-८९

गुरुजन-चरणचञ्चरीक
दुलीचन्द बाकलीवाल
प्रकाशक



अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, आर्षमार्गपोषिका, गुरुभक्तिपरायणा
पूज्य गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

(सक्षिप्त जीवनवृत्त)

विक्रम सवत् १९८५, फाल्गुन शुक्ल पक्ष नवमी की शुभ वेला भारतीय नारी के इतिहास मे चिरस्मरणीय हो गई। इस दिन मैनसर (राज) मे पिताश्री हरकचन्दजी चूडीवाल के यहाँ मातेश्वरी श्रीमती अणचीदेवी की कोख से एक बालिका ने जन्म लिया—भँवरे के सदृश कृष्ण केशराशियुक्त श्यामलवर्णी परन्तु मनमोहक बाला। अणचीदेवी अपनी पुत्री की श्यामल सौम्य मोहक आकृति को देखकर फूली न समाई। नाम रखा गया—भँवरी।

दिन, माह और वर्ष बीतने लगे। यह सुकुमारी गोद से पालने पर, पालने से आँगन मे, प्रथम घुटनो के बल, फिर अस्फुट ध्वनि मे लडखडाती हुई गुन्जार करने लगी। माँ ने कभी स्वप्न मे भी नही सोचा होगा कि इस नेत्रपुत्तलिका की वाणी मे ऐसा जादू होगा कि जिसे सुनकर हजारो नही, लाखो मन्त्रमुग्ध हो जायेंगे। उन दिनो नारी-शिक्षा का बहुत प्रचलन नही था। अतएव आरम्भिक सामान्य पढना-लिखना आने पर ही भँवरी की शिक्षा भी बन्द कर दी गई। माता की सेवावृत्ति और परोपकारपरायणता की छाप कन्या पर पडी। सबसे मधुर बोलना, पास-पडोसियो के साथ मिलकर रहना, समवयस्काओ से भी कलह न करना उसका स्वभाव हो गया था। जो भी घर मे आता, बालिका के भोले और मधुर स्वभाव से प्रसन्न होकर जाता।

जब पिता ने अपनी पुत्री को चतुराई के अनेक कार्य करते देखा तो उनकी इच्छा शीघ्र ही उसका विवाह-सम्बन्ध कर देने की हुई। फलत पिता ने नागौर के श्रेष्ठिवर श्रीमान् छोगमलजी बडजात्या के सुपुत्र बाबू इन्द्रकुमार के साथ अपनी इस लाडली का विवाह सम्पन्न किया।

विधि का विधान हमारी समझ से परे है। विराट् साधनासम्पन्न जगज्जननी माता बनने वाली भँवरीबाई को प्रकृति शायद सीमित परिवार की दुनिया मे नही रखना चाहती थी। सेवा का क्षेत्र सकीर्ण रखना विधि को नही भाया, वह शायद उसे साधना के विस्तृत क्षेत्र मे ले जाना चाहती थी अत अभी विवाह-सस्कार सम्पन्न हुए चार माह ही बीते थे कि वर इन्द्रकुमार रोग से आक्रान्त हो गए और बहुत शीघ्र ही उनकी मृत्यु का विषादपूर्ण सवाद बिजली की तरह सर्वत्र फैल गया। सारा वातावरण शोकमग्न हो गया। माता-पिता जामाता के निधन से किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये। असमय मे ही अपने आशा-कुसुमो को धूलिसात् होते देखकर उनके हृदय के टुकड़े-टुकडे हो गए। माता अपनी पुत्री की दशा विचार कर विलख उठी—

अभी तो मुकुट बधा था माथ, हुए कल ही हल्दी के हाथ,
खुले भी न थे लाज के बोल, हाय! रुक गया यहीं संसार,
बना सिन्दूर अगार,
वातहत लतिका वह सुकुमार, पड़ी है छिन्नाधार!!

और इसी वेदना मे माता अणचीदेवी भी पुत्री को सर्वथा असहाय छोड़कर चल बसी।

देवशास्त्रगुरुभक्त विवेकी पिता के सम्पर्क से भँवरीबाई ने जाना कि मानवीय सम्बन्धो मे राग-द्वेष की रगड ही दु:ख का मूल कारण है। कुशाग्रबुद्धि बाला विचारने लगी कि 'रात-दिन सी घूमती विपदा और सम्पदा ही तो जीवन का कठोर सत्य है, यथार्थ है। ममत्व के इस नीड मे अब मुझे प्रश्रय नही मिलेगा।' शनै शनैः ज्ञानज्योति अन्तर मे दीप्त होने लगी। मोह की कडियाँ शिथिल होने लगी और तभी दैवयोग से गाँव-गाँव मे जिनधर्म की प्रभावना करती हुई पूज्य १०५ आर्यिका इन्दुमतीजी मैनसर आ पहुँची। जैसे उत्तम भूमि मे उपयुक्त वर्षा का सयोग पाकर बीज अकुरित हो जाता है, कुशूला अवस्था की मिट्टी कुम्भकार और चाक का सयोग पाकर घट रूप मे परिणत हो जाती है, उसी प्रकार आर्यिका इन्दुमतीजी के धर्मोपदेश से भँवरीबाई भी अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त कर वैराग्य को अकुरित करने की ओर अग्रसर हुई। उन्होने अनुभव किया कि नारी जाति के उत्थान का कार्य प्राचीन संस्कृति और साहित्य के गहन अध्ययन, अनुशीलन और पाण्डित्य के विना सम्भव नही, अतएव ज्ञानार्जन करना और जीवन को साधना-सम्पन्न बनाना अत्यावश्यक है।

आर्यिकाश्री इन्दुमतीजी के सम्पर्क से भँवरीबाई को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव ही इस लोक मे सच्ची शरण हो सकते है। उनकी वाणी ही ससार रूपी मरुभूमि मे त्रिविध तापो से सन्तप्त जीवो को शान्ति दे सकती है। अनादिकाल से जीव की जन्म-मरण की परम्परा चली आ रही है। इसे दूर करने का साधन जिनेन्द्रकथित धर्म को धारण करना है। अतएव माता इन्दुमतीजी से सप्तम प्रतिमा के कठोर व्रत धारण कर आप उनकी अनुगामिनी बन गई। अब ब्रह्मचारिणी भँवरीबाई ने सस्कृत भाषा और धर्मशास्त्रो का अध्ययन प्रारम्भ किया। आरम्भ मे सस्कृत का अध्ययन ब्रह्मचारी राजमलजी (वर्तमान चतुर्थ पट्टाधीश आचार्य अजितसागरजी) के पास किया। फिर कुछ वर्षो बाद आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज के पास भी आपको अध्ययन का अवसर मिला।

ज्ञानदीप के प्रज्वलित होने पर जीवन का अन्धकार छँटने लगा जिससे भँवरीबाई अब जगज्जननी बनने के प्रयास मे सन्नद्ध हुई। व्रत, उपवास, जप तप मे आपकी प्रवृत्ति निरन्तर बढती गई। इन्द्रियो की शक्ति को क्षीण करने के लिए आपने नमक का त्याग कर दिया और केवल एक बार भोजन करने लगी। आर्यिका इन्दुमतीजी के साथ नागौर, सुजानगढ़, मेडता रोड, ईसरी, शिखरजी, कटनी आदि स्थानो पर घूमती हुई भँवरीबाई आचार्यश्री वीरसागरजी महाराज के दर्शनार्थ जयपुर खानिया पहुँची। आचार्यश्री के उद्बोधन ने उनके सकल्प को दृढ किया और अब उन्होने निष्काम, निर्लिप्त, अनिकेत, अपरिग्रही जीवन-क्रम अपनाने का निश्चय किया। भँवरीबाई शास्त्रो के इस कथन को प्रत्यक्ष कर दिखाना चाहती थी कि—

विद्यावान् पुरुषो लोके, सम्मानं याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते, स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम ॥

वि.स. २०१४ भाद्रपद शुक्ला ६ के दिन विशाल जनसमूह के मध्य आचार्य वीरसागरजी एव आचार्य महावीरकीर्तिजी के सघो की उपस्थिति मे ब्रह्मचारिणी भँवरीबाई ने आचार्यश्री वीरसागरजी महाराज के कर-कमलो से स्त्रीपर्याय को धन्य करने वाली आर्यिकादीक्षा ग्रहण की। भगवान सुपार्श्वनाथ का गर्भ-कल्याणक दिवस होने से गुरुदेव ने आपको सुपार्श्वमती नाम से प्रसिद्ध किया। आचार्य महावीरकीर्तिजी ने कहा था—जैसे कुम्भ राशि वाले अगस्त्य ऋषि ने समुद्र का शोषण किया था, उसी प्रकार यह कुम्भ राशि वाली आर्यिका जैनशास्त्रो के समुद्र को मथ कर अमृत निकालेगी और अपने ससार-समुद्र का शोषण करगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ की अनुवादिका



जन्म	आर्यिका दीक्षा	गणिनी पद
वि. स. १९८५	वि. स. २०१४	वि. सं. २०४३
मैनसर-नागौर (राज.)	खानिया, जयपुर	कानकी (बिहार)

दीक्षादिवस से अद्यपर्यन्त आपका साधना का क्रम अनवरत चल रहा है। ध्यान, अध्ययन और धर्म-चर्चा मे ही जोवन सलग्न है। शनै शनै. सभी रसो का त्याग कर चुकी है, केवल एक रस दूध ही लेती है। साधना और तपश्चरण से आपकी आत्मा ज्योतित हुई है। आपको ज्योतिष, मत्र-तत्र यत्रो का अद्भुत ज्ञान है। आपकी प्रवचन शैली के सम्बन्ध मे क्या लिखू ? श्रोता अभिभूत हुए बिना नही रहते। विशाल जनसमुदाय के समक्ष जिस निर्भीकता से आप सिद्धान्तो का क्रमिक प्रतिपादन करती है तो लगता है साक्षात् सरस्वती के मुख से अमृत प्रवाहित हो रहा है। आपके प्रवचन आगमसम्मत और अकाट्य तर्कपूर्ण होते हैं। समझाने के लिए अनेक व्यावहारिक उदाहरण भी आप देती चलती है परन्तु कभी विषयान्तर नही होता। प्रतिष्ठित विद्वान् भी अपनी शकाओ का आपसे समीचीन समाधान पाकर सतुष्ट होते है। आपकी सबसे बडी विशेषता तो यह है कि कोई आपसे कितने ही प्रश्न करे, कितनी ही बार करे, आप विना व्यग्र हुए बराबर उनका प्रामाणिक उत्तर देती हैं और प्रश्नकर्त्ता को सन्तुष्ट करती है। आपके चेहरे पर खीज या क्रोध के चिह्न कभी दृष्टिगत नही होते।

माताजी की एक अन्य विशेषता यह है कि वे अपने से पूर्व वक्ताओ के भाषणो के नोट्स लेकर अपने प्रवचन मे उनका सार तत्त्व दोहरा देती है। कलकत्ता वर्षायोग मे प सुमेरुचन्द्रजी आए। कहने लगे—"प्रमिला! *जब मैंने माताजी के सर्वप्रथम दर्शन किए तो लगा कैसी गाँव की गँवारिन सी आर्यिका है और* लोग पूज रहे हैं। लेकिन जब मैंने प्रवचन सुना तो लगा—अन्दर मे साक्षात् सरस्वती का निवास है। ऐसी प्रतिभासम्पन्न महिला इतने वर्ष तक कहाँ छुपी थी?"

महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, आसाम, विहार, वगाल, नागालैंड, उडीसा आदि प्रान्तो मे आपने अपूर्व धर्म-प्रभावना की है एव जैनधर्म की एक मशाल जलाई है जिसका प्रकाश युगयुगान्तर तक होता रहेगा। जहाँ न कभी कोई जैन मुनि पहुँचे है ऐसे स्थानो, प्रान्तो मे भी आपने धर्म का जयघोष सफलतापूर्वक किया है। इतिहास इसके लिए सदैव आपका ऋणी रहेगा। आज आपकी वाणी जन-जन के हृदय को आह्लादित कर रही है। आपके आशीर्वादात्मक वरद हस्त की प्रतीक्षा आज जन-जन को है। जहाँ वैधव्य अभिशाप और अपशकुन था, वही आज आपका मुखदर्शन मागलिक बन गया है। याद आती है ये पक्तियाँ—

शाप को वरदान तुमने कर लिया।
सो रही थी जिन्दगी जो आँसुओ मे,
आँसुओ को गान तुमने कर लिया।

आपकी तपःपूत लेखनी के कुछ प्रसून

प्रकाशित-परमाध्यात्मतरगिणी, सागारधर्मामृत (हिन्दी अनुवाद), नारी का चातुर्य, भगवान महावीर और उनका सन्देश, नयविवक्षा, पार्श्वनाथ पचकल्याणक, पचकल्याणक क्यो किया जाता है?, मेरा चिन्तवन, दशधर्म विवेचन, प्रतिक्रमणपजिका, आचारसार (हिन्दी टीका), नैतिक शिक्षाप्रद कहानियाँ (१ से १० भाग), वरागचरित्र, मोक्ष की अमर बेल रत्नत्रय, जिनगुणसम्पत्ति विधान, लघु बोधकथा, राजवार्तिक प्रथम एव द्वितीय खण्ड (हिन्दी अनुवाद), योगसार।

प्रकाश्य—सारसमुच्चय (हिन्दी टीका), पट् प्राभृत (अनुवाद), नसीव अपना-अपना, तत्त्वार्थवृत्ति (हिन्दी अनुवाद), नीतिसार (हिन्दी)।

—ब्र (डॉ) प्रमिला जैन, सघस्था

सम्पादकीय

आचार्य उमास्वामी प्रणीत **तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र** पर **तत्त्वार्थवार्तिकम्/राजवार्तिकम् भट्ट अकलंकदेव** की सस्कृत भाषा मे रचित एक गुरु-गम्भीर टीका है। अपनी प्राचीनता, प्रामाणिकता एव विशद गाम्भीर्य और विस्तार आदि गुणो के लिए यह टीका समादरणीय एव श्रेष्ठ मानी जाती है। इसकी शैली न्यायप्रचुर है और कही-कही बहुत जटिल भी हो गई है। भट्ट अकलक ने अपने पूर्व की सिद्धान्त और न्याय सम्बन्धी सामग्री और परम्परा का इसमे अच्छा उपयोग किया है। परवर्ती रचनाओ पर भी इस कृति का गम्भीर प्रभाव परिलक्षित होता है।

ऐसी महत्त्वपूर्ण कृति का मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद अब तक सुलभ नही था। अपनी **गुरुवर्या (स्व.) आर्यिका १०५ श्री इन्दुमतीजी** की प्रेरणा से **पूज्य १०५ आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी** ने यह कष्टसाध्य कार्य सम्पन्न किया है। अनुवाद का यह कार्य पूज्य इन्दुमतीजी के जीवनकाल मे ही उनकी सुयोग्य एव प्रधान शिष्या ने सम्पन्न तो कर लिया था परन्तु खेद है कि तब इसका प्रकाशन नही हो पाया।

पूज्य (स्व) आर्यिका इन्दुमतीजी की द्वितीय पुण्यतिथि-आषाढ कृष्णा १३ वि स २०४४ तदनुसार २४ जून, १९८७ को तत्त्वार्थवार्तिकम् के प्रथम चार अध्यायो का अनुवाद (प्रथम खण्ड) प्रकाशित किया गया। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का विमोचन उक्त तिथि पर मध्याह्न मे गौहाटी (आसाम) के महावीर भवन मे भव्य समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। ग्रन्थ की प्रथम प्रति प्रकाशक श्रीमान् दुलीचदजी बाकलीवाल, देरगाँव ने अनुवादकर्त्री माताजी को भेंट की।

जिस किसी ने भी यह ग्रन्थ देखा उसी ने पूज्य माताजी के पाण्डित्य एव परिश्रम की प्रचुर प्रशसा की। साधुवर्ग एव श्रावक समुदाय—दोनो ने इस प्रकाशन की सराहना की और द्वितीयखण्ड के शीघ्र प्रकाशन की कामना भी।

प्रथम खण्ड के प्रकाशन के ठीक दो वर्ष बाद आज पूज्य आर्यिका इन्दुमतीजी की चतुर्थ पुण्यतिथि पर ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड तत्त्वजिज्ञासुओ एव स्वाध्यायियो को सौपते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। इस खण्ड मे तत्त्वार्थसूत्र के अन्तिम छह अध्याय (५ से लेकर १० तक) प्रकाशित किए गए हैं। प्रत्येक पृष्ठ के अर्ध भाग मे ऊपर मूल वार्त्तिक टीका सहित है और अधो भाग मे उसका मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद। इसमे भी प्रथम खण्ड की भाँति **स्व प्रो. महेन्द्रकुमारजी जैन** द्वारा सम्पादित वार्त्तिक का ही उपयोग किया गया है। ग्रन्थारम्भ मे विस्तृत विषय-सूची दी गई है। सूत्रकार उमास्वामी और वार्त्तिककार भट्ट अकलकदेव के व्यक्तित्व और कृतित्व की जानकारी प्रथम खण्ड मे दी गई थी अत उसकी पुनरावृत्ति यहाँ नही की गई है। परिशिष्ट में प जवाहरलालजी जैन सि शास्त्री, भीण्डर का 'द्रव्यनिग प्रतीत्य भाज्या' आलेख प्रकाशित किया गया है।

पूज्य आचार्यो एव मुनिराजो ने कतिपय सूत्रो की विशेष विस्तृत व्याख्या का सुझाव दिया था। परन्तु खेद है कि ग्रन्थ का कलेवर बढने के भय से चाहते हुए भी ऐसा नही किया जा सका। यो ही दोनो खण्डो की कुल पृष्ठ सख्या १६०० के लगभग हो गई है।

इस ग्रन्थराज के अनुवाद की प्रेरकशक्ति **पूज्य आर्यिका इन्दुमतीजी** ने आज से चार वर्ष पूर्व यमसल्लेखना-पूर्वक सम्मेदशिखर तीर्थराज मे सम्यक् समाधिमरण किया था। उस पुनीत आत्मा को शत-शत नमन।

अनुवादकर्त्री पू. **आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी** अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी विदुषी साध्वी है। आर्ष-परम्परा मे आपकी अटूट निष्ठा है। आपकी वाणी और लेखनी दोनो आगमप्रमाण पुष्ट है। आपकी प्रवचन शैली बडी मधुर और मार्मिक है, व्यावहारिक जीवन से उदाहरण प्रस्तुत कर आप कठिन से कठिन विषय को भी अति सरल बना देती है और श्रोता उसे सहज रूप से ग्रहण करता है। भट्ट अकलक के इस दुरूह ग्रन्थ का अनुवाद करना कोई सहज कार्य नही है परन्तु अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना और फलस्वरूप प्रकट हुए क्षयोपशम से आपने इस दुष्कर कार्य को सम्यक्रीत्या सम्पन्न किया है जिसकी सर्वत्र मुक्तकण्ठ से सराहना हुई है। विधिवत् शिक्षार्जन न होने पर भी तपश्चरण के प्रभाव से आपके ज्ञान मे आश्चर्यजनक वद्धि हो रही है। पूज्य माताजी ने अनेक मौलिक एव अनूदित कृतियाँ रच कर माँ सरस्वती के भण्डार को समृद्ध किया है। अभी आपने तत्त्वार्थसूत्र की **आचार्य श्रुतसागर कृत तत्त्वार्थवृत्ति** का भाषानुवाद किया है और अब **श्री विद्यानन्दी विरचित 'श्लोकवार्तिक'** सस्कृत टीका का मूलानुगामी भाषानुवाद करने का मानस बनाया है। निकट भविष्य मे इन महत्त्वपूर्ण कृतियो का भी प्रकाशन होगा, ऐसी आशा है। अनुवाद का कार्य बडा जटिल कार्य है, तिस पर दर्शन, न्याय और सिद्धान्त ग्रन्थो का अनुवाद कार्य तो और भी कठिन है, इसे मुक्त-भोगी अनुभवी ही जानते है।

प्रस्तुत महान् सिद्धान्तग्रन्थ के सम्पादन का गुरुतर भार मुझ मन्दबुद्धि पर डाल कर पूज्य आर्यिकाश्री ने जो अनुग्रह मुझ पर किया है, उसके लिए मैं आपका अतिशय अनुगृहीत हूँ। मैं पूज्य मात जी की कृति को जिस रूप मे प्रस्तुत कर सका हूँ, उसमे गुरु-कृपा की ही प्रधानता है, मेरी योग्यता उतनी नही। मैं पूज्य गणिनी **आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी एव संघस्थ आर्यिकावृन्द** के श्रीचरणो मे सविनय नमोस्तु निवेदन करता हूँ।

सघस्था ब्र. डॉ. प्रमिला बहिन ने पत्रो के माध्यम से सूचनाएँ भेजकर कार्य मे आने वाले गतिरोध को दूर किया है और साथ ही अनुवादकर्त्री माताजी का सक्षिप्त जीवन परिचय लिख कर भिजवाया है, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के सम्बन्ध मे सराहना और प्रशसा के अनेक पत्र प्राप्त हुए है, सबको प्रकाशित करना तो सम्भव नही है तथापि कतिपय आशीर्वचन और अभिमत प्रकाशित किये गए हैं। मैं सभी श्रुतानुरागियो का हृदय से आभारी हूँ।

पं. जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर ने प्रथम खण्ड मे रही कुछ अशुद्धियो की ओर ध्यान दिलाया है (देखिए शुद्धि पत्र) और मेरे अनुरोध पर "द्रव्यलिंग प्रतीत्य भाज्या" आलेख तैयार किया है। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

प्रथम खण्ड की भाँति द्वितीय खण्ड के प्रकाशन का भी सम्पूर्ण व्यय भार **श्रीमती अनोपदेवी धर्मपत्नी श्रीमान् दुलीचन्दजी बाकलीवाल, देरगाँव (आसाम)** ने वहन किया है। ऐसा कर आपने उत्कृष्ट गुरुभक्ति का परिचय दिया है और जिनवाणी के प्रचार-प्रसार मे अपनी महती निष्ठा प्रकट की है। मैं उदार दातार की इस भावना का आदर करता हूँ और उन्हे व उनके परिवार को हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

सुन्दर, स्वच्छ एव शुद्ध मुद्रण के लिए **ताज प्रिंटर्स, जोधपुर** का स्टॉफ हार्दिक धन्यवाद का पात्र है।

ग्रन्थ की रचना से प्रारम्भ कर इसके प्रकाशन और वितरण तक के वृहद् कार्य मे अनेक महानुभावो का सहयोग अपेक्षित होता है। मैं उन सभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होने इस महदनुष्ठान मे किंचित् भी सहयोग प्रदान किया है। मेरे प्रमाद एव अज्ञान से भूलें रह जाना स्वाभाविक हैं। मैं अपनी सभी भूलो के लिए सुधीजनो से क्षमा प्रदान करने की कामना करता हूँ। इत्यलम्—

जोधपुर, फाल्गुन अष्टाह्निका वि.सं. २०४६ विनीत : **चेतनप्रकाश पाटनी**

ग्रन्थ के प्रकाशक

श्रीमान् दुलीचन्दजी बाकलीवाल का संक्षिप्त परिचय

'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' की उक्ति बाकलीवाल परिवार पर पूर्णत चरितार्थ होती है। लालगढ निवासी श्रीमान् खूबचन्दजी बाकलीवाल की धर्मपत्नी प्यारीदेवी की कोख से श्री भँवरीलालजी, श्री नेमीचन्दजी, श्री इन्दरचन्दजी और श्री आसूलालजी चार पुत्र हुए। सवत् २०१७ मे यह परिवार सुजानगढ आया।

श्री भँवरीलालजी बाकलीवाल प्रखर व्यक्तित्व के धनी और देवशास्त्रगुरु के परम भक्त थे। श्री भारतवर्षीय दिग जैन महासभा के अध्यक्ष पद पर रह कर आपने जैन समाज का मार्गदर्शन किया। श्रीमान् नेमीचन्दजी बाकलीवाल सुजानगढ समाज मे अग्रणी धर्मप्रेमी हैं। श्री इन्दरचन्दजी धार्मिक रुचिसम्पन्न मिलनसार व्यक्ति हैं। श्रीमान् आसूलालजी (१९०७-१९४१) का युवावस्था मे अकाल मे ही स्वर्गवास हो गया। आपने कलकत्ता मे समाज को सगठित कर जागृति पैदा की और पशुबलि का तीव्र विरोध कर सफलता प्राप्त की। आप श्री दिगम्बर जैन सम्मेलन के प्रमुख, सक्रिय स्तम्भ थे। आपका विवाह श्री आसूलालजी बडजात्या मैनसर निवासी, लाडनू प्रवासी की सुपुत्री भँवरीदेवी के साथ हुआ। आपको चार पुत्रो और एक पुत्री के पिता होने का गौरव मिला। पुत्र श्री दानमल (अब स्वर्गीय); दुलीचन्द, शान्तिलाल और महावीरप्रसाद, पुत्री अगूरीदेवी। परिवार के सभी सदस्य आर्ष परम्परा मे आस्था रखने वाले कट्टर देवशास्त्रगुरु-भक्त हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय भार श्रीमान् दुलीचन्दजी बाकलीवाल ने वहन किया है। आपका जन्म वि स. १९८७ मे आषाढ शुक्ला ९, शनिवार दिनाक २० जून, १९३० ई. को लालगढ मे हुआ। वि. स. २००२ मे उज्जैन प्रवासी, सुजानगढ निवासी श्रीमान् हरकचन्दजी गोधा की सुपुत्री अनोपदेवी के साथ आपका विवाह सम्पन्न हुआ। प्रदीप, सुनील और रवीन्द्र आपके पुत्र हैं, वेणा और आशा पुत्रियाँ। प्रशान्त, प्रकाश, अक्षय और अविनाश पौत्र हैं और पूजा पौत्री। जोरहाट और देरगाँव (आसाम) मे आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान है। आर्यिका १०५ श्री इन्दुमतीजी एव सुपार्श्वमतीजी जब वि स. २०१५ मे लालगढ पधारी थी तब उनके धर्मोपदेश एव सम्पर्क से आपकी धार्मिक रुचि पुष्ट हुई। आपकी धर्मपत्नी अशुद्ध खानपान का त्याग कर आहारदान देकर तभी से पुण्योपार्जन कर रही हैं। आपने भारत के सभी प्रमुख जैन तीर्थों की दो बार वन्दना की है। आप स्वय तीन साल का रत्नत्रय व्रत और दो बार अष्टाह्निका व्रत कर चुके हैं। आपकी धर्मपत्नी ने तीन अठाइयाँ की हैं। अभी आपने देरगाँव मे बहुत सुन्दर गृहचैत्यालय बनवाया है। उसमे श्री शान्तिनाथ, श्री पार्श्वनाथ और श्री महावीर भगवान की प्रतिमाएँ विराजमान की है।

धार्मिक अनुष्ठानो मे आप रुचि से सम्मिलित होते हैं। तीर्थदर्शन, सघदर्शन के लिए आप सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। यथाशक्ति चतुर्विध दान मे प्रवृत्ति करते हैं। आर्यिका इन्दुमती अभिनन्दनग्रन्थ की ११०० प्रतियाँ आपकी ओर से विभिन्न प्रान्तो के जिनालयो मे भेजी गई थी। प्रस्तुत 'तत्त्वार्थवार्तिक' ग्रथ का प्रकाशन भी आप ही की ओर से हो रहा है। एतदर्थ आप अतिशय धन्यवाद के पात्र हैं। आपके बाबाजी श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल की सुपुत्री शान्तिबाई वर्तमान मे आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी के सघ मे आर्यिका विद्यामतीजी के रूप मे आत्मकल्याणरत हैं।

—डूंगरमल सबलावत, डेह



पिताश्री (स्व.) आसूलालजी चाकलीवाल

卐 प्रकाशक परिवार 卐



मातेश्वरी (स्व.) श्रीमती भँवरीदेवीजी



श्रीमान् दुलीचन्दजी बाकलीवाल
देरगाँव – आसाम

ग्रन्थ के
प्रकाशक



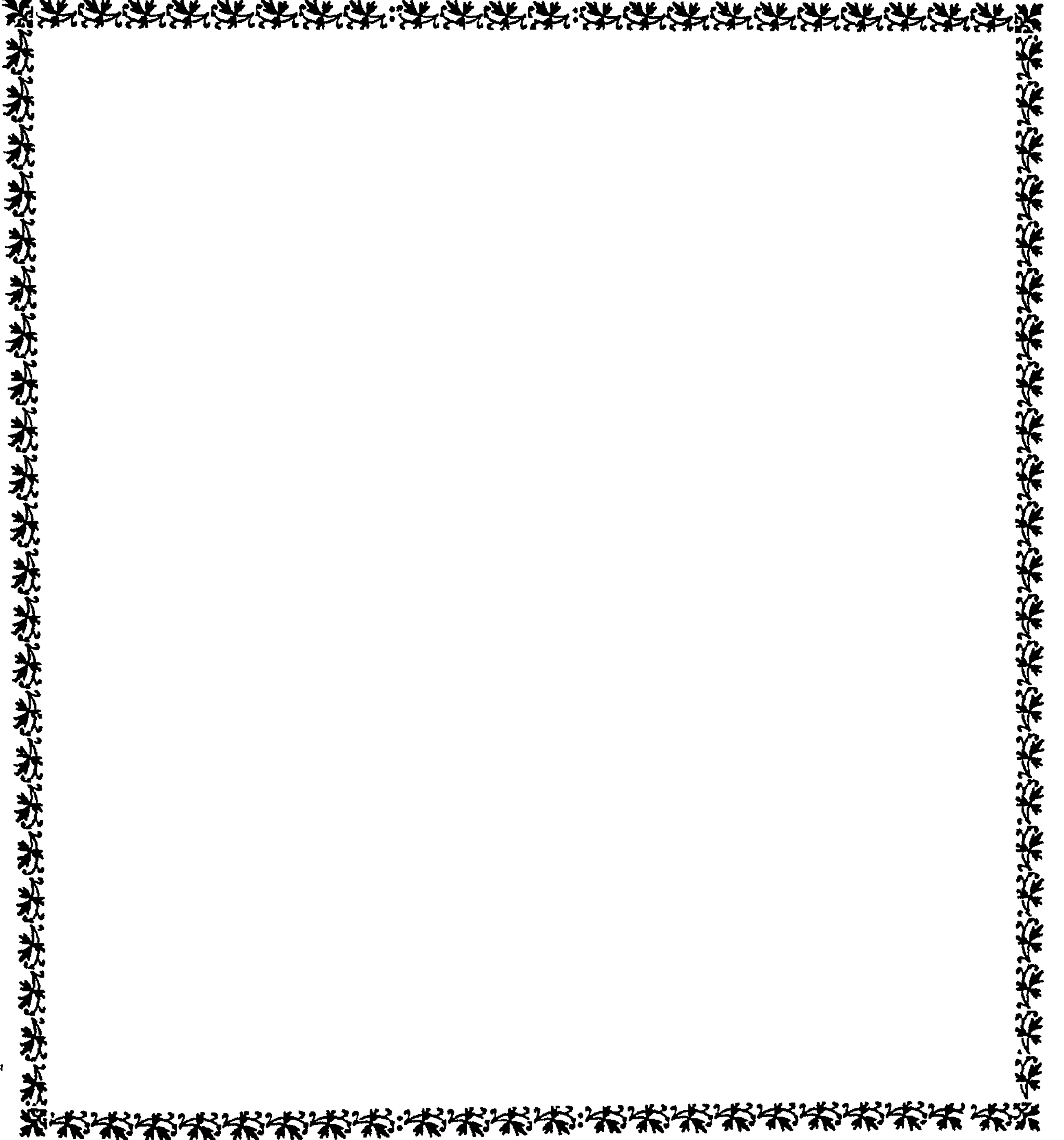
द्रव्यदाती



श्रीमती अनोपदेवी धर्मपत्नी श्री दुलीचंदजी बाकलीवाल
देरगाँव – आसाम

आशीर्वचन एवं अभिमत

[१]



आचार्य अजितसागरजी महाराज
का शुभाशीर्वाद :

जैनशासनश्रद्धावती, जैनवाङ्मयचतुरा, आत्मशक्त्यनुसारेण चारित्रपालिका, धर्मप्रभावनादक्षा, धर्मोपदेशनकुशला, समस्तभारतवर्षलब्धकीर्तिः, सर्वजनहितकारिणी, जैनजनविशेषवत्सला, जैनतत्त्वजिज्ञासुजनप्रबोधिका, इत्याद्यनेकगुणभूषिता अनेकग्रन्थानां अनुवादिका, सम्प्रति अकलङ्कदेवरचितराजवार्तिक बृहद् ग्रन्थस्य सरलभाषायां टीकाकर्त्री, निरन्तरं वीतराग सर्वज्ञप्रणीतग्रन्थानां पठनपाठनेषु कालयापनकारिणी, अस्मिन् भौतिकयुगे ईदृशी परमविदुषी आर्यिकाया महती आवश्यकता आसीत्, भवत्या तस्य पूर्तिः कृता अत एव रत्नत्रयस्य साधनीभूतशरीरतः स्वस्थीभूय चिरकालं संवरनिर्जरासाधनभूतमोक्षमार्गसाधनं कृत्वा तत्प्रभावेण स्त्रीलिङ्गं छित्वा द्वित्रिभवं अतिक्रम्य मुक्तिसुखनामृतपायिका भव।
ईदृशी मम भावना वर्तते, अलमतिविस्तारेण।

भवत्या हिताभिकांक्षी
अजितसागर·

[३]

कुम्भोज बाहुबली से प्रेषित आचार्य १०८ श्री समन्तभद्रजी महाराज का मन्तव्य :

"श्री १०५ सुपार्श्वमती माताजी एव अन्य सब माताजी के प्रति महाराज के अनेक शुभाशीर्वाद। समाधिपूर्वक स्वात्मोपलब्धि सहित मुक्ति-लाभ हो, ऐसी शुभकामना इस पत्र के साथ प्रेषित की है। श्री ग्रन्थराज राजवार्त्तिक मिला। महाराज को अतिप्रसन्नता हुई। महाराज ने पुन पुन धन्यवाद कहे हैं और कहा है कि सतत प्रभावना-कार्य करते हुए प्रवचन के साथ-साथ आप ग्रन्थ-लेखन के लिए भी अपार कष्ट ले रही हो, यह सब अप्रतिम एव अद्वितीय है। अत आपकी जितनी प्रशसा की जाए वह थोडी ही भासित होती है। श्रुत की उपासना आपको श्रुतकेवली पद जरूर प्रदान करेगी।"

(दि १३-७-८७ को प्रेषित पत्र का एक अश)

[४]

एलाचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती उपाध्याय कनकनन्दीजी महाराज :

"गणिनी आर्यिका विदुषी श्री सुपार्श्वमती माताजी ने राजवार्त्तिक का आधुनिक हिन्दी मे भाषानुवाद करके समसामयिक माग को पूर्ण करने के साथ-साथ अपनी महती विद्वत्ता के प्रकाशन के अलावा जगत्-उद्धारिणी मगलमय जिनवाणी माता की अविस्मरणीय सेवा की है। यह कार्य स्व-पर, इहलोक-परलोक अभ्युदय एव नि.श्रेयस् सुख के लिए कारणभूत है।

"मैं राजवार्तिक का शिक्षण हमारे सघस्थ साधु साध्वियो को दे रहा हूँ। पहले प मक्खनलाल शास्त्री कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित सस्कृत टीका से दे रहा था। जब से माताजी कृत हिन्दी भाषानुवाद राजवार्तिक की प्रति मुझे ब्र डॉ प्रमिला जैन से उपलब्ध हुई तब से मैं (द्वितीय अध्याय के कुछ सूत्रो के बाद से) उसी प्रति से शिक्षण करा रहा हूँ। मैंने पाया है कि अनुवाद मूलानुसार शुद्ध, सरल एव स्पष्ट है। ग्रन्थ का सम्पादन, मुद्रण भी उत्तम है। अभी मैं पचम अध्याय अन्य शास्त्र से पढा रहा हूँ परन्तु माताजी कृत अनुवाद से पढाने मे मुझे जो सुगमता थी वह अन्य अनुवाद मे नही मिल रही है।

"मेरी महती शुभेच्छा है कि द्वितीय खण्ड का प्रकाशन शीघ्र होकर जन-मन के अन्दर स्थित अज्ञान रूपी तम को अपने प्रकाश से दूर करने के साथ-साथ मेरा भी अज्ञान रूपी तम दूर करे।

"मैं माताजी की आगमनिष्ठा और जिनवाणी-सेवा से बहुत ही प्रभावित हूँ। विशत शताब्दी की जैन समाज के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जो विदुषी आर्यिका माताओ द्वारा जिनवाणी की अश्रुतपूर्व सेवा की जा रही है।

"जिनवाणी का एक क्षुद्र सेवक होने के कारण मैं जिनवाणी की महती सेविका आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी को क्या आशीर्वाद दे सकता हूँ। मैं तो केवल उनके महान् कार्य की प्रशसा करके ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम एव क्षय करना चाहता हूँ। माताजी द्वारा अनूदित राजवार्तिक ग्रन्थ से सर्व लाभान्वित हो, जिनवाणी की सेवा, प्रचार-प्रसार हो, जिनवाणी माता की आज्ञानुसार चल कर सब आत्मकल्याण करें, यही मेरी हार्दिक शुभकामना है।"

उपाध्याय १०८ श्री भरतसागरजी महाराज :

"आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी ने भट्ट अकलंकदेव प्रणीत राजवार्तिक ग्रन्थराज का शब्दश हिन्दी-अनुवाद करके जिनशासन की प्रभावना का महान् कार्य किया है, वर्तमान पीढी को नव ज्योति देकर उसका महान् उपकार किया है।

"सघस्थ त्यागियो के बीच अभी गत चातुर्मास में हमने माताजी द्वारा अनूदित इस ग्रन्थ का स्वाध्याय किया है। इसके माध्यम से अत्यन्त क्लिष्ट विषय भी अब सरलता से समझे जा सकते हैं। ग्रन्थ के कतिपय स्थलो का विशेष स्पष्टीकरण माताजी भावार्थ के माध्यम से दूसरे खण्ड मे कर दें तो उत्तम होगा, जैसे 'आर्या म्लेच्छाश्च' सूत्र के माध्यम से श्रावको की उचित आजीविका क्रिया क्या-क्या है ? आदि।

"ग्रन्थ का कागज, मुद्रण, जिल्द, शुद्धता, साजसज्जा सभी अति उत्तम है। जिनागम की उद्धारिका आर्यिका सुपार्श्वमतीजी को हमारा पूर्ण आशीर्वाद है। आपकी सरलता व वात्सल्यभाव प्रशसनीय है। आपका शरीर नीरोग रहे तथा जिनमार्ग की प्रभावना कर स्त्रीलिंग छेद कर मुनि-अवस्था धारण कर मुक्ति का लाभ आपको मिले, यही कामना है।"

[६]

मुनिश्री वर्धमानसागरजी महाराज :

"विदुषी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी ने 'राजवार्तिक' ग्रन्थराज का शब्दश हिन्दी-अनुवाद कर जैन साहित्यिक जगत् को अनुपम भेट दी है। अध्येता, किन्तु सस्कृत भाषा से अनभिज्ञ जन भी उनके इस हिन्दी अनुवाद से मूल ग्रन्थ और उसकी विशद एवं अर्थगाम्भीर्यपूरित टीका का रसास्वादन कर सकेंगे।

"जैन जगत् की प्रसिद्ध आर्यिकाश्री के सर्वजनहिताय ऐसे प्रयास निरन्तर गतिमान रहे और उनके वैदुष्य से अनूदित अन्य भी मूल ग्रन्थो का हिन्दी भाषा मे अध्ययन-मनन-चिन्तन-अनुप्रेक्षण कर अध्येताजन अनवरत स्वाध्यायनिरत रह सकें, ऐसी मङ्गल भावना है।"

[७]

ज्ञानयोगी स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामीजी, मूडबिद्री (कर्नाटक) :

"प. पू आर्यिकारत्न श्री सुपार्श्वमती माताजी जैनदर्शन की प्रकाण्ड मनीषी व उद्भट विदुषी हैं। निरतिचारपूर्वक साधु-चर्या के साथ स्वात्मकल्याण मे लीन पूज्य माताजी जहाँ एक ओर दिगम्बर आर्यिका परम्परा की जीवन्त मूर्ति हैं, वही सिद्धहस्त लेखिका, प्रखर वक्ता व अनेक भाषाओ की ज्ञाता भी है। अनेकान्त शैली से प्रतिपादित, जिनशासन के महान् प्रभावक भट्टाकलकदेव विरचित 'तत्त्वार्थवार्तिकम्' आचार्य उमास्वामिकृत 'तत्त्वार्थसूत्र' की उच्चकोटि की गहन-गम्भीर एव तलस्पर्शी टीका है। ऐसे दुरूह ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करना अपने आप मे गुरुगम्भीर कार्य है। माताजी ने सफलतापूर्वक यह कार्य सम्पन्न कर 'तत्त्वार्थवार्तिकम्' को पुनर्जन्म प्रदान किया है। 'अनुवाद' या 'रूपान्तरण' शब्द ऊपर से जितने सरल लगते है, वस्तुतः कार्य उतना सरल नही है, तिस पर 'तत्त्वार्थवार्तिकम्' जैसे दुरूह, क्लिष्ट, गम्भीर ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अथाह परिश्रम, चिन्तन, मनन, अध्ययन व जैनदर्शन के तलस्पर्शी ज्ञान की पूर्ण अपेक्षा रखता है। प पू. माताजी द्वारा प्रस्तुत यह हिन्दी रूपान्तरण अपने आप में पूर्ण व सर्वांग सुन्दर है। माताजी द्वारा और भी ऐसे ग्रन्थरत्नो का सम्पादन व रूपान्तरण कार्य सुसम्पन्न होकर जिनवाणी माँ सरस्वती का भण्डार वृद्धिगत हो—यही वीर प्रभु से प्रार्थना है।"

[८]

ब्र. विद्युल्लता शहा, सोलापुर (महाराष्ट्र) :

"राजवार्तिक प्रथम खण्ड का यह अनुवाद पूज्य माताजी की गहन एवं सूक्ष्म अध्ययनशील प्रवृत्ति का प्रतीक है। अनुवाद बहुत जटिल कार्य है। माताजी के अभीक्ष्णज्ञानोपयोग से प्रणीत यह अनुवाद हम जैसे अल्पबुद्धि और अल्प क्षयोपशमियो के लिए अध्ययन को सरल करता है। नयी पीढी के लिए तो यह दीपस्तम्भवत् सफल सिद्ध हुआ है। अनुवाद के साथ-साथ विदुषी माताजी ने महत्त्वपूर्ण गूढ विषयो को यत्र-तत्र भावार्थ द्वारा सुलझा कर रख दिया है।

'इस महाग्रन्थ की छपाई, जिल्द सभी निर्दोष एव आकर्षक है।"

[९]

पं. मनोहरलाल शाह, रांची (बिहार) :

"पूज्य माताजी सुपार्श्वमतीजी द्वारा अनूदित राजवार्तिक ग्रन्थ का अवलोकन किया। माताजी ने बडे ही सरल सुपठनीय शब्दो मे इस महान् ग्रथ को ज्यो-का-त्यो हिन्दी मे प्रस्तुत कर सम्पूर्ण जैन जगत् का और खासकर विद्यार्थी समुदाय का बडा उपकार किया है। समाज के प्रति उनका यह अनन्त उपकार है। ग्रन्थ की छपाई, सफाई आदि सभी सुन्दर नयनाभिराम है। दूसरा खण्ड भी छप रहा होगा। इनसे समाज का खूब लाभ होगा।"

[१०]

पं. मिश्रीलाल शाह, लाडनूँ (राजस्थान) :

" 'राजवार्तिकम्' का भाषानुवाद करके पूज्य आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी ने जैन समाज का बडा उपकार किया है। स्वाध्यायप्रेमी इस ग्रन्थ को पाकर तुष्ट एव प्रसन्न होगे। अपनी कृतियो द्वारा आपने जैन साहित्य को श्रीमण्डित किया है, आपकी यह जिनवाणी-सेवा सदैव अविस्मरणीय रहेगी।"

[११]

पं. हेमचन्द जैन शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य, अजमेर (राजस्थान) :

" 'राजवार्तिक' जैनदर्शन का अनूठा ग्रन्थ है, जिसमे महाविद्वान् तार्किक भट्टाकलक की दार्शनिक बहुमुखी प्रतिभा प्रतिबिम्बित है। इस दुरूह ग्रन्थ का भाषा मे अनुवाद पूज्य माताजी के पाण्डित्य द्वारा हुआ, यह स्वाध्यायियों के महान् पुण्योदय की बात है। प्रथम खण्ड मेरे देखने मे आया और उसके कई दार्शनिक स्थल अनुवाद की दृष्टि से भी चिन्तन किये। ग्रन्थ पूरा प्रकाशित हो जाय और भाषाज्ञानियो मे स्वाध्याय मे उसका प्रचार व प्रसार हो, यही मैं जिनेन्द्रदेव से विनम्र विनती करता हूँ तथा माताजी के दीर्घ जीवन और जिनवाणी-भक्ति की सतत शुभकामना करता हूँ।" □

तत्त्वार्थवार्तिकम् द्वितीय भाग

विषय-सूची

पाँचवाँ अध्याय (१-२४२)

छठा अध्याय (२४३-३४०)

नवाँ अध्याय (५१६-६९१)

दसवाँ अध्याय (६९२-७२८)



शुद्धि-पत्र : द्वितीय भाग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१४	ज्ञान होता है	ज्ञान नही होता है
१२	१४	कसे	कैसे
२०	२९	गुण-कम	गुणकर्म
२७	१३	मुक्ति के	युक्ति के
३३	१७	परत.	परतः सिद्धि
३८	२३	आदि जीवस्थान	आदि चौदह जीवस्थान
६२	१८	क्षत्र	क्षेत्र
६२	२२	कम	कर्म
८०	२४	अ काश	आकाश
९३	२२	होगा	होता है
१०५	२५	आकाश....नही होता,	यदि आकाश के उपग्रह से मछली का गमन होता तो भूमि पर भी होना चाहिए।
१२७	१०	नही किया है,	नही करना चाहिए,
१३०	२५	भावमन	भाववचन
१३१	२६	ग्रहण होता है।	ग्रहण, प्रेरणा और अवरोध देखा जाता है।
१४०	२०	जब इन्द्रियाँ	जब चक्षु आदि इन्द्रियाँ
१४५	१८	मानना अयुक्त है ॥३८॥	मानना असिद्धत्व होने से अयुक्त है ॥३८॥
१४६	१८	उपकार का है,	उपकारक हैं,
१५५	१२	द्रव्व	द्रव्य
१७१	१९-२०	मुख्य और प्रदेश	मुख्य और उपचार प्रदेश
१७५	२१	किया	क्रिया
१७९	तीसरे वार्तिक के अनुच्छेद से पूर्व यह जोड लें—वायु मे रस-रूपादिक का अभाव है अत उसमे व्यभिचार आएगा कि स्पर्श होने पर ही रस का ग्रहण होता है। ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि		
१९०	३	तत्रा जीवविषयो	तत्राजीवविषयो
२०४	९	अणु कारण ही है'	अणु कारण ही है, कार्य नही'
२०६	१	इस प्रकार ·· नही है ॥१२॥	इस प्रकार हेतु विशेष विवक्षा मे 'कारणमेव' मे एवकार का भी विरोध नही है, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा उपस्थित रहता है।
२०८	१५वी पक्ति के मध्य मे यह जोड लें		बंध का वर्णन आगे करेगे। उस बन्ध को प्राप्त जो परमाणु है, वे स्कन्ध कहलाते हैं।
२२७	१८	गुण साम्यपद से····	गुण साम्यपद से अर्थसिद्धि हो जाने से

।। श्रीवीतरागाय नम ।।

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ।।
अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम् ।।
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

•

।। श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यश्रीगुरवे नमः ।।

•

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धक, भव्यजीवमनः-प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं **श्रीतत्त्वार्थवार्तिकम्**, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य **भट्टाकलंकदेवविरचितम्**, श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ।।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ।।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ।।

॥ श्रीमहावीराय नमो नम ॥

॥ श्रीशान्तिवीरचन्द्रशिवधर्माजितसिन्धुभ्यो नमो नम ॥

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितम्

तत्त्वार्थवार्तिकम्

पञ्चमोऽध्याय:

[1]इदानी सम्यग्दर्शनस्य विषयभावेनोपक्षिप्तेषु जीवादिषु अजीवपदार्थो विचारप्राप्त:, तस्य भेदसज्ञासकीर्तनार्थमिदमुच्यते तत्पूर्वकत्वादितरस्येति–

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला. ॥ १ ॥

अजीवकाया इति समानाधिकरणा वृत्तिः ।१। अजीवाश्च ते कायाश्च ते अजीवकाया इति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिरिय वेदितव्या। कथ वृत्ति ?

इस समय सम्यग्दर्शन के विषय-भाव से उपक्षिप्त[2] जीवादि पदार्थो मे अजीव पदार्थ का विचार प्राप्त है। अत अजोव द्रव्य के भेद और नाम का कथन करने के लिए आचार्य सूत्र कहते है; क्योकि आस्रव आदि का वर्णन अजीवपूर्वक ही होता है—

धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल ये चार अजीव भी है और काय भी है ॥ १ ॥

इस सूत्र मे 'अजीवकाय' इस प्रकार समानाधिकरण समास है। जो अजीव है और जो काय है, वे अजीवकाय। इस प्रकार समानाधिकरण[3] लक्षण समास जानना चाहिये। **प्रश्न**—इस सूत्र मे कौनसा समास है ? **उत्तर**—इस सूत्र मे विशेषण-विशेष्य द्वन्द्व समास है। जैनेन्द्र व्याकरण में 'विशेषण विशेष्येणेति' यह सूत्र है। इसका अर्थ है विशेषण-विशेष्य के साथ समास का होना।

प्रश्न—जहाँ व्यभिचार (विशेषण को छोडकर विशेष्य और विशेष्य को छोडकर विशेषण) होता है वहाँ विशेषण-विशेष्य समास होता है, जैसे—नील और कमल मे विशेषण-विशेष्य समास

---

१. अत्र पृष्ठद्वयस्य प्राचीनटिप्पणी पाठान्तर च प्रभ्रष्टम्-सम्पा । २ उठाये गये, वर्णित । ३. जहाँ पर दो पदो का एक आश्रय हो उसको समानाधिकरण कहते हैं ।

"विशेषणं विशेष्येण"[1] इति सति व्यभिचारे नीलोत्पलादिषु वृत्तिः ? इहाप्यस्ति व्यभिचारः, कायशब्दस्य जीवेष्वपि वृत्तेः, अजीवशब्दस्यापि काले। भिन्नाधिकरणवृत्तौ को दोषः ?

भिन्नाधिकरणत्वे हि अर्थान्तरभावप्रसङ्गः। २। यथा राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः इति अर्थान्तरभावे भिन्नाधिकरणत्वं भवति, तथा अजीवानां कायः अजीवकाय इति भिन्नाधिकरणत्वे गृह्यमाणेऽर्थान्तरभावः प्रसज्येत।

दृष्टत्वात् सुवर्णाङ्गुलीयकवदिति चेत्; न; तत्रान्यविशेषनिवृत्त्यर्थत्वात्। ३। स्यान्मतम्–भिन्नाधिकरणत्वेऽपि नार्थान्तरभावः। कुतः ? दृष्टत्वात्। कथम् ? सुवर्णाङ्गुलीयकवत्। यथा सुवर्णस्य अङ्गुलीयकं सुवर्णाङ्गुलीयकमिति भिन्नाधि-

---

करने पर व्यभिचार आता है क्योकि कमल के बिना भी कोई वस्तु नील वर्ण की हो सकती है और नीलवर्णरहित भी कमल हो सकता है अतः वहाँ पर विशेषण विशेष्य समास हो सकता है ? उत्तर—जिस प्रकार 'नील कमल' इसमे व्यभिचार (असम्बन्ध) पाया जाता है, उसी प्रकार 'अजीवकाय' शब्द मे भी व्यभिचार पाया जाता है क्योकि काय जीव द्रव्य मे और अजीव काल मे भी पाया जाता है अर्थात् किन्ही दो पदार्थो मे असम्बन्ध होने पर किसी एक स्थान मे उनके सम्बन्ध को बतलाने के लिए विशेषण-विशेष्य समास होता है। यहाँ पर नील कमल के समान काल द्रव्य अजीव है लेकिन काय नही है, जीव द्रव्य काय है लेकिन अजीव नही अतः काय अजीव को छोडकर जीव मे और अजीव काय को छोडकर काल मे पाया जाता है इसलिये अजीव और काय मे व्यभिचार होने के कारण यहाँ पर विशेषण विशेष्य समास हो जाता है। **प्रश्न**—इस सूत्र मे भिन्न अधिकरण (षष्ठीतत्पुरुष) समास मान लेने पर क्या दोष आता है ? ॥ १ ॥

उत्तर—'अजीवकाया' इस शब्द मे षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर अर्थान्तरत्व का प्रसग आता है, जैसे—राजा का पुरुष 'राजपुरुष'। यह अर्थान्तर भाव मे षष्ठीतत्पुरुष समास है-उसी प्रकार अजीवो की काय 'अजीवकाय' इस प्रकार भिन्न अधिकरणत्व स्वीकार करने पर अर्थान्तर का प्रसग आयेगा (अजीव और काय भिन्न पदार्थ हो जायेगे, जैसे राजा और पुरुष) ॥ २ ॥

सुवर्ण की अगुलीयक (अङ्गूठी) के समान भिन्न अधिकरण मे भी समास देखा जाता है, ऐसा नही कहना क्योकि यह अन्य विशेष को निवृत्ति के लिये है। **प्रश्न**—भिन्न अधिकरण मे भी अर्थान्तर भाव नही होता क्योकि ऐसा देखा जाता है, जैसे—सुवर्ण की अङ्गूठी सुवर्ण अगुलीयक यह भिन्न अधिकरण (षष्ठीतत्पुरुष समास) है परन्तु इसमे अर्थ भेद नही है। सुवर्ण और अङ्गूठी का अस्तित्व एक ही है उसी प्रकार यहाँ पर भी "अजीवो की काय 'अजीवकाय'" ऐसा समास करने मे कोई दोष नही है। उत्तर—ऐसा कहना समुचित नही है-क्योकि सुवर्ण की अङ्गूठी मे तो सुवर्ण

---

१. जैनेन्द्र १।३।१२।

करणत्वेऽपि नार्थभेदः, तथा इहापि न दोष इति। तन्न, किं कारणम्? तत्रान्य-विशेषनिवृत्त्यर्थत्वात्। तत्र हि सुवर्णशब्दप्रयोगः रूप्यादेः प्रमाणान्तरस्य च निवृत्त्यर्थम्, सुवर्णस्येदमङ्गुलीयकं न रूप्यादेर्न माषादेर्वेति, न तथेह अजीवस्य काया अजीवकाया इति विशेषणेन कदाचिदर्थान्तरनिवृत्तिरस्ति।

अस्तु वाऽविरोधात्।४। अथवा अस्तु भिन्नाधिकरणा वृत्तिः। कुतः? अविरोधात्। यस्माज्जीवोऽपि कायः पञ्चास्तिकायोपदेशात् अतस्तन्निवृत्त्यर्थोऽत्राजीव-शब्दप्रयोगः। अजीवस्य कायो न जीवस्येति। किञ्च,

कथञ्चिद्भेदोपपत्तेः।५। केनचित्प्रकारेण सञ्ज्ञालक्षणप्रयोजनादिना भेद उपपद्यते। यथा सुवर्णस्याङ्गुलीयकमित्यत्र सुवर्णं सामान्यं तद्विशेषोऽङ्गुलीयकं तयोः सामान्यविशेषयोः सञ्ज्ञालक्षणादिभिः कथञ्चिन्नानात्वम्। यदि सर्वथैकत्वं स्यात्; सुवर्ण-सामान्यस्याङ्गुलीयकवत् कुण्डलादिषु वृत्तिर्न स्यात्। सुवर्णसामान्यवद्वा अङ्गुलीयकत्वस्य कुण्डलादिषु वृत्तिः स्यात्। त एवाऽन्यनिवृत्त्यर्थः प्रयोगो युक्तः, सुवर्णस्येदमङ्गुलीयकं न रूप्यादेरिति। यदि सर्वथैकत्वं स्यात्, व्यपदेश एव न स्यात्। तथा अजीवानां काया

यह शब्द अन्य विशेषण की निवृत्ति के लिये है-अर्थात् सुवर्ण से भिन्न रूप्यादि की निवृत्ति के लिये है कि यह अङ्गूठी सुवर्ण की ही है चादी की नही है न माशा रत्ती आदि की। परन्तु यहाँ पर "अजीव की काय अजीवकाय" ऐसा समास करने पर इस विशेषण से किसी भी अर्थान्तर की निवृत्ति नही होती है ।। ३ ।।

अविरोध होने से भिन्न अधिकरण भी हो सकता है। अथवा भिन्नाधिकरण समास करने मे भी कोई विरोध नही है क्योंकि जीव भी काय है। पचास्तिकाय मे जीव का ग्रहण है अतः जीव को निवृत्ति के लिये अजीव शब्द का प्रयोग है जिसका अभिप्राय है कि धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अजीव की काय है जीव की नही ।। ४ ।।

कथञ्चित् विशेषण विशेष्य मे भेद भी है। सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि किसी प्रकार से विशेषण-विशेष्य मे भेद भी हो सकता है। जैसे—'सुवर्ण की अगूठी' इसमे सुवर्ण सामान्य है, अगूठी विशेष है, उन सामान्य और विशेष मे सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा कथञ्चित् भेद है (नानात्व है)। यदि सुवर्ण और अगूठी मे सर्वथा अभेद माना जायेगा तो सुवर्ण सामान्य के अगूठी के समान कुण्डल आदि मे समास नही होगा। अर्थात् सुवर्ण का कुण्डल ऐसा नही कहा जाएगा क्योंकि वह तो अगूठी स्वरूप है। अथवा सुवर्ण सामान्य के समान अगूठी के साथ कुण्डल का समास होगा-अर्थात् "अगूठी का कुण्डल" इस प्रकार का भी समास होगा। अतएव अन्य चादी आदि की निवृत्ति के लिए सुवर्ण शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह अगूठी सुवर्ण की है, चादी आदि की नही। यदि सर्वथा एकत्व होगा तो सुवर्ण की अगूठी यह व्यपदेश भी नही होगा। उसी प्रकार

इत्यत्रापि कायशब्द. प्रदेशवाची। प्रदेशाश्च धर्मादीना वक्ष्यन्ते। ते च तेभ्य: संज्ञालक्षणादिभिः कथञ्चिद्भिन्नाः। अन्यथा ऐकान्तिकैकत्वे धर्मादीनामेकत्ववत् प्रदेशानामप्येकत्वं स्यात्, प्रदेशाना बहुत्ववत् धर्मादीना बहुत्वं प्रसज्येत। तत एव अन्यनिवृत्त्यर्थं प्रयोगो युक्तः अजीवाना काया न जीवस्येति। यदि सर्वथैकत्वं स्यात्, व्यपदेश एव न स्यात्। ततो भेदोपपत्तेः युक्ता भिन्नाधिकरणा वृत्ति। ननु चाभेदेऽपि लोके व्यपदेशो दृष्ट यथा शिलापुत्रकस्य शरीर राहोः शिर इति। न हि शिलापुत्रकादन्यच्छरीरमस्ति, नापि राहोरन्यच्छिरः, शिरोमात्रत्वादिति। तत्राप्यस्ति भेद.। कुतः? शक्तित। योऽनेकक्रियानिष्पादनशक्तिभेदेन भिन्नरूप· शिलापुत्रक· तस्येद शरीर एकक्रियाविषयमिति शब्दप्रकल्पिताद् बुद्धिभेदाद्वा कथञ्चित्पृथक्त्वमध्यवसेयम्। अतश्चैतदेवं तदन्यनिवृत्त्यर्थं विशेषणम् उपादीयते–शिलापुत्रकस्येदं शरीर न मनुष्यादे, राहोरिद शिर नान्यस्य इति। ऐकान्तिकैकत्वे हि अन्यनिवृत्तिर्न स्यात् यथा सुवर्णस्य सुवर्ण घटस्य घट इति।

अजीव इत्यभावमात्रप्रसङ्ग इति चेत्; न; भावान्तरप्रतिपत्तेरनश्ववत्। ६।

'अजीवो की काया' इसमे भी कायशब्द प्रदेशवाची है। धर्मादि के प्रदेश आगे कहेगे। वे धर्म-अधर्म आदि द्रव्यप्रदेशो से सज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा कथञ्चित् भिन्न है यदि सर्वथा प्रदेशो से प्रदेशी को एक (अभिन्न) मान लिया जाय तो धर्मादि के समान प्रदेशो के भी एकत्व होगा अथवा प्रदेशो के समान धर्मादि मे भी बहुत्व का प्रसग आयेगा। अत. अन्य की निवृत्ति के लिये भिन्न अधिकरण मानना भी उपयुक्त है कि धर्मादि अजीव के काय है-जीव के काय नही। यदि काय और अजीव मे सर्वथा एकत्व (अभिन्नत्व) होगा तो-'अजीव की काय' यह व्यपदेश भी नही होगा। इसलिये भेद उत्पत्ति मे भिन्नाधिकरण (षष्ठीतत्पुरुष) समास मानना भी उपयुक्त है। **प्रश्न**—लोक मे अभेद मे भी भिन्नाधिकरण देखा जाता है-जैसे शिलापुत्र का शरीर, राहु का सिरा इत्यादि। क्योकि शिलापुत्र से भिन्न शरीर नही है और न राहू से भिन्न शिर है क्योकि राहू शिर मात्र ही है। **उत्तर**—शिलापुत्र के शरीर और राहु के शिर मे कथञ्चित् भेद है। **प्रश्न**—भेद कैसे है? **उत्तर**—शक्ति की अपेक्षा भेद है अनेक क्रियाओ की निष्पादन शक्ति के भेद से भिन्नरूप शिलापुत्रक है, उसका यह शरीर है ऐसा कहा जाता है-क्योकि एक क्रिया विषय है-इस प्रकार शब्द की प्रकल्पना (शब्द) बुद्धि और प्रयोजन की अपेक्षा इनमे भी कथञ्चित् भेद है। अत यहाँ भी अन्य की निवृत्ति के लिये शिलापुत्रक या राहुशिर ऐसा ग्रहण किया जाता है कि शिलापुत्र का ही शरीर है मनुष्यादि का नही। राहु का ही शिर है अन्य का नही। यदि एकान्त से सर्वथा अभिन्न मानेंगे तो अन्य की निवृत्ति होगी ही नही जैसे—सुवर्ण का सुवर्ण ही रहेगा और घट का घट ही॥ ५॥

'अजीव' ऐसा कहने से अभाव का प्रसग नही आता क्योकि अनश्व के समान भावान्तर की

स्यान्मतम् न जीवोऽजीव इत्युक्तेऽभावमात्र प्रसज्येत यथा न भाव. अभाव इति, तन्न; किं कारणम् ? भावान्तरप्रतिपत्ते.। कथम् ? अनश्ववत्। यथा नायमश्व अनश्व इत्युक्ते नाभावसप्रत्यय· किन्तु "नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगति."१ इति, अन्यस्मिन् भाव एव तुल्योदरैकशफादिलक्षणे गर्दभे सप्रत्ययो भवति। एवमिहापि नायं जीव इति प्रतिषेधात् नाभावे सप्रत्यय., किन्तु अन्यस्मिन् भाव एव अनुपयोगलक्षणे धर्मादौ प्रतिपन्निर्भवति। सादृश्याभावात् अप्रतिपत्तिरिति चेत्, न, सत्त्वद्रव्यत्वादिभिः सादृश्योपपत्ते। यच्चोक्तम्—यथा 'न भाव अभाव' इत्युक्ते अभावमात्रसंप्रत्यय इति; तदप्ययुक्तम्; सत एव पररूपत्वादिभि. अभावशब्दगोचरत्वोपपत्ते।

अभ्यन्तरीकृतेवार्थः कायशब्दः। ७। इवार्थमभ्यन्तरीकृत्य अत्र कायशब्दः प्रयुक्त. काया इव काया इति। क उपमार्थ ? यथौदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशात् पुद्गलैश्चीयन्ते काया. तथा धर्मादीनामनादिपारिणामिकप्रदेशचयनात् कायत्वम्।

प्रतिपत्ति (ज्ञान) होने से। **प्रश्न**—'न जीवः अजीव' कहने से अभाव मात्र का प्रसग आता है जैसे न भाव· अभाव ? **उत्तर**—ऐसा नही है क्योकि अभाव मे भी भावान्तर का ज्ञान होता है। अनश्व के समान। जैसे—'यह घोडा नही है' ऐसा कहने पर केवल अभाव का ही ज्ञान होता है किन्तु नञ् समास मे असदृश अन्य का अधिकरण होने से अर्थ की गति होती है इसलिये अनश्व कहने से घोड़े के निषेध के साथ ही समान उदर पूछ आदि लक्षण वाले घोडे सरीखे अन्य प्राणी गधा आदि का प्रत्यय (ज्ञान) होता है। उसी प्रकार यहाँ भी जीव नही है, ऐसा कहने पर निषेधात्मक जीव के अभाव का हो सिर्फ ज्ञान नही होता अपितु जीव से भिन्न अनुपयोग (अचेतन) आत्मक धर्म-अधर्म पुद्गलादि द्रव्य दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान होता है अर्थात् जीव नही है, धर्मादिक अजीव है। **प्रश्न**—धर्मादिक द्रव्यो मे जीव के साथ सादृश्य का अभाव है इसलिये अजीव कहने से धर्मादि द्रव्यो का सप्रत्यय नही हो सकता ? **उत्तर**—ऐसा कहना समुचित नही है क्योकि जड और चेतन मे सत्त्वद्रव्यत्व आदि की दृष्टि से सादृश्य है ही, जो यह कहा है, जैसे—'न भाव. अभावः' इसमे अभाव मात्र का ही ज्ञान होता है, यह भी कहना अयुक्त है, क्योकि एक 'सत्' पदार्थ ही पररूप आदि की अपेक्षा अभाव प्रत्यय का विषय होता है॥ ६॥

अभ्यन्तर किया है इव शब्द को जिसने ऐसा काय शब्द है। इव अर्थ को अभ्यन्तरी करके यहाँ काय शब्द प्रयुक्त है-अर्थात् काय शब्द मे 'काय की तरह काय' यह सादृश्य अर्थ अन्तर्भूत है। यहाँ किसकी उपमा है ? जैसे—औदारिक शरीर, नाम कर्म के उदय के वश से (कारण), पुद्गलो का सचय करने के कारण काय कहलाता है अर्थात् पुद्गलपिण्ड के समूह के कारण शरीर को काय कहते है, उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्यो के भी अनादि पारिणामिक प्रदेशो के सचय (समूह) होने से कायत्व है। अर्थात् प्रदेश समूह के कारण ये काय कहलाते है॥ ७॥

---

१. पात. महा. ३।१।१२।

तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थम् । ८ । तस्य कायशब्दस्य ग्रहणं क्रियते। किमर्थम् ? प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थम् । मुख्यरूपेणाऽविद्यमानत्वेऽपि श्रोतॄणा सुखावबोधार्थं प्रज्ञया द्रव्यपरमाण्ववगाहमात्रत्वेन प्रदिश्यन्त इति प्रदेशा·, प्रदेशा एवावयवाः प्रदेशावयवाः तेषा बहुत्वस्य ज्ञापनार्थम् ।

न, असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानामिति शास्त्रप्रवृत्तेः । ९ । न तत्प्रयोजनम् उपपद्यते । कुत· ? अन्यत एव तत्सिद्धेः । वक्ष्यते हि–"असख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्"[१] इति । अत एवैषा प्रदेशबहुत्व सिद्ध नार्थ. कायग्रहणेन ।

[२]**प्रदेशसंख्यावधारणार्थमिति चेत्; न; अतोऽप्यनिश्चयात् । १० ।** स्यादेतत् "असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्" इत्यनेन न प्रदेशसंख्यावधारणं क्रियते। कुतः ? त्रयाणा सभूय प्रदेशासख्येयत्वप्रतिपत्तेः । तत· एकैकस्याऽसंख्येयप्रदेशख्यापनार्थं

काय शब्द का ग्रहण प्रदेश रूप से अवयवो के बहुत्व के ज्ञापनार्थ है । **प्रश्न**—काय शब्द का ग्रहण किसलिये किया है ? **उत्तर**—काय शब्द का ग्रहण ही प्रदेशो या अवयवो की बहुतायत को सूचित करने के लिये है । मुख्य रूप से धर्म अधर्म आदि द्रव्यो मे प्रदेश के न रहने पर भी श्रोतृजन को सुखपूर्वक ज्ञान कराने के लिये द्रव्यपरमाणु की अवगाहना मात्र से (एक परमाणु के द्वारा रोके गये आकाश प्रदेश के माप से) बुद्धि के द्वारा 'प्रदिश्यते इति प्रदेशा.' उनमे भेद किये जाते है वे प्रदेश है, प्रदेश ही अवयव है वह प्रदेशावयव है। उनके बहुत्व का ज्ञान कराने के लिये काय शब्द है। अर्थात् अखण्ड धर्मादि द्रव्य मे भी प्रदेश के द्वारा माप होने से अवयव वा प्रदेश कहे जाते है ।। ८ ।।

प्रश्न—इस सूत्र मे काय शब्द का ग्रहण निरर्थक है—क्योकि **असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानां** इस सूत्र से ही बहुप्रदेशत्व सिद्ध है । इस सूत्र मे काय के ग्रहण से कोई प्रयोजन नही है क्योकि आगे के सूत्र सख्या आठ से धर्म आदि द्रव्यो का बहुप्रदेशत्व स्वयमेव सिद्ध हो जाता है । अतः धर्मादिक के बहुप्रदेशत्व की सिद्धि के लिये कायग्रहण करने से निरर्थक है ।। ९ ।।

प्रदेशो की सख्या के अवधारणार्थ भी काय शब्द ग्रहण करना उपयुक्त नही है क्योकि सूत्र सख्या आठ से ही प्रदेशो की अवधारणा हो जाती है—सूत्र कथित "असख्येय शब्द" प्रदेशो की सख्या की अवधारणा का द्योतक है । इस सूत्र मे कथित काय शब्द से प्रदेशो की सख्या की अवधारणा नही होती—क्योकि तीनो के मिलकर ही प्रदेशो के असख्येयत्व की प्रतिपत्ति होती है । इसलिये एक-एक के असख्यात प्रदेश का ख्यापन करने के लिये काय ग्रहण किया है, ऐसा भी नही कह सकते—

---

१ –त. सू. ५।८ । २ कश्चित्तटस्थः प्रत्यवतिष्ठते तमपि प्रतिवदति पर. ।

कायग्रहणमिति; तन्न, कि कारणम् ? अतोऽप्यनिश्चयात् । कायग्रहणादपि नास्ति निश्चय., प्रदेशप्रचयमात्रप्रतिपत्ते. । कुतस्तर्हि तन्निश्चय.[1] ?

"लोकाकाशेऽवगाहः"[2] इत्यादि वचनात् तन्निश्चयः ।११। यदयं "लोकाकाशेऽवगाह:" इत्युक्त्वा "धर्माधर्मयोः कृत्स्ने"[3] इत्यादि वक्ष्यते, तेन तस्य प्रदेशपरिमाणस्य निश्चयो भवति ।

[4]**अप्रदेशैकद्रव्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।१२।** स्यादेतत्–कायग्रहणादृते अप्रदेशैकद्रव्यता प्राप्नोति, अतस्तन्निवृत्त्यर्थ कायग्रहणमिति; तन्न, कि कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–'असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् इति वक्ष्यते' इति ।

आर्षानुवादार्थमिति चेत्; न; तदवस्थत्वात् ।१३। स्यादेतत्–आर्षमेव प्रवृत्तम् **'पञ्चास्तिकायाः"** इति अतः तदनुवादार्थ कायग्रहणमिति, तच्च न, कस्मात् ? तदवस्थत्वात् 'असख्येया. प्रदेशाः' इत्यनेनैव आर्षानुवादस्य कृतत्वात् ।

स्वभावापरित्यागार्थमिति चेत्; न; नित्यावस्थितवचनात् सिद्धेः ।१४।

क्योकि कायग्रहण से भी असख्यात का निश्चय नही हो सकता, कायग्रहण से प्रदेश प्रचय मात्र की प्रतिपत्ति होती है । इसका निश्चय किससे होता है ? ।। १० ।।

'लोकाकाशेऽवगाहः' इत्यादि सूत्र से प्रदेशो की सख्या का निश्चय होता है। जो **'लोकाकाशेऽवगाहः'** ऐसा कहकर इसके बाद **'धर्माधर्मयोःकृत्स्ने'** ऐसा कहने से उसके प्रदेशप्रचयों का निश्चय होता है ।। ११ ।।

अप्रदेशी एक द्रव्यपने का प्रसग भी नही आ सकता क्योकि उसका खण्डन पूर्व मे कर दिया है । काय के ग्रहण नहो करने से अप्रदेशो एकद्रव्यत्व का प्रसग प्राप्त होता है, अतः उसकी निवृत्ति के लिए काय शब्द का ग्रहण किया है ऐसा भी नही कह सकते क्योकि कह दिया है कि आगे यह सूत्र 'असख्येया प्रदेशा. धर्माधर्मैकजीवानां' कहेगे। इस सूत्र से वहुप्रदेशित्वरूप सूचित हो जाता है ।। १२ ।।

पचास्तिकाय के आर्ष उपदेश के अनुवाद के लिए काय शब्द का ग्रहण निरर्थक है क्योकि **"असख्येयाः प्रदेशाः"** इत्यादि सूत्र से ही वह कार्य हो जाता है ।। १३ ।।

स्वभाव के अपरित्याग के लिये भी काय शब्द का ग्रहण उपयुक्त नही है क्योकि **'नित्यावस्थित'** इत्यादि सूत्र से उसकी सिद्धि होती है । काय-वहुप्रदेशित्वरूप स्वभाव उनका सदा

---

१. इनि पर पृच्छति तटस्थ । २ त. सू. ५।१२ ३ त. मू. ५।१३ ४. अथ तटस्थमुल्लिख्य आह परः ।

स्यान्मतं कायस्वभावापरित्यागार्थं कायग्रहणमिति, तन्न; किं कारणम् ? नित्यावस्थितवचनात् सिद्धेः वक्ष्यते हि **"नित्यावस्थितान्यरूपाणि"** [त.सू. ५।४] इति, तत एव स्वभावापरित्यागः सिद्धः । [१]तर्त्तहि कायग्रहणं न कर्तव्यम् ? [२]कर्तव्यं च । किं प्रयोजनम् ?

तत्सिद्धावसंख्येयप्रदेशावधारणसिद्धेः ।१५। तस्य कायशब्दस्य पञ्चस्वपि अस्तिकायेषु प्रदेशावयवबहुत्वार्थस्य सिद्धौ सत्याम् उत्तरवचनमवधारणार्थं युज्यते—असंख्येयाः प्रदेशा न संख्येयाः नाप्यनन्ताः इति, विधिपूर्वकत्वादवधारणस्य ।

अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च ।१६। अद्धाशब्दो निपातः कालवाची, स वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणं क्रियते । यथाऽणोः प्रदेशमात्रत्वात् द्वितीयादयोऽस्य प्रदेशा न सन्तीत्यप्रदेशोऽणुः, तथा कालपरमाणुरपि एकप्रदेशत्वादप्रदेश इति ।

धर्मादयः संज्ञाः सामा (म) यिक्यः ।१७। धर्मादयः संज्ञाः सामा (म)-

---

रहता है, छूटता नही । इस बात का द्योतन करने के लिए भी काय शब्द का कोई उपयोग नही है क्योकि **'नित्यावस्थित'** इत्यादि सूत्र से नित्य और अवस्थित कथन से ही स्वभाव के अपरित्याग की सिद्धि हो जाती है । इसलिये कायग्रहण नही करना चाहिये क्योकि कायग्रहण से कोई प्रयोजन नही है ।। १४ ।।

काय की सिद्धि होने पर ही असख्येय प्रदेशो की अवधारणा की सिद्धि होती है । उस काय शब्द के ग्रहण से पाँचो अस्तिकायो मे प्रदेशबहुत्व की सिद्धि हो जाने पर ही उत्तर वचन की अवधारणा के लिये यह सूत्र उपयोगी होता है । उनके (धर्म आदि के) प्रदेश असख्यात है, न सख्यात है न अनन्त है और अवधारणा विधिपूर्वक ही होती है । सख्यात और अनन्त प्रदेशो की जब सत्ता होगी तभी असख्यात ही प्रदेश है, सख्यात और अनन्त नही, यह निर्धारण हो सकता है ।। १५ ।।

अद्धा-काल के प्रदेशो का निषेध करने के लिये काय शब्द का ग्रहण किया है । 'अद्धा' शब्द निपात-अव्यय है तथा आगे जिसका वर्णन करेंगे उस काल का वाची है । उस काल के प्रदेशत्व का निषेध करने के लिए काय शब्द का ग्रहण किया गया है, जैसे—अणु एक प्रदेशस्वरूप है, दो, तीन आदि प्रदेश उसके नही है-इसलिये उसे अप्रदेश कहते है, उसी प्रकार कालाणु भी एकप्रदेशी होने से अप्रदेशी है ।। १६ ।।

धर्मादि संज्ञा सामायिकी जाननी चाहिये । यथाकाल अभिव्यक्त ज्ञान, दर्शन आदि अतिशय

---

१. तर्हि अ. । २. अथ गृण्वन्निप्यन्त कालमाचार्यं प्राह कर्त्तव्यमित्यादिना ।

यिक्यो द्रष्टव्याः । आर्हते हि प्रवचनेऽनादिनिधने अर्हदादिभि· यथाकालमभिव्यक्तज्ञान-दर्शनातिशयप्रकाशैरवद्योतितार्थसारे रूढा एता· सञ्ज्ञा ज्ञेया ।

क्रियानिमित्ता वा । १८ । अथवा क्रियानिमित्ता एता· संज्ञा वेदितव्या· । कथमिति चेत् ? उच्यते–

स्वयं क्रियापरिणामिनां [1]साचिव्यधानाद्धर्मः । १९ । स्वय क्रियापरिणामिनां जीवपुद्गलाना यस्मात्साचिव्य दधाति तस्माद्धर्म इत्याख्याते ।

तद्विपरीतोऽधर्मः । २० । तस्य विपरीतलक्षण अधर्म इत्याम्नायते ।

आकाशन्तेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं चाकाशत इत्याकाशम् । २१ । जीवादीनि द्रव्याणि स्वै· स्वै पर्यायै· अव्यतिरेकेण यस्मिन्नाकाशन्ते[2] प्रकाशन्ते तदाकाशम्, स्वयं चाऽऽत्मीयपर्यायमर्यादया आकाशत इत्याकाशम् ।

अवकाशदानाद्वा । २२ । अथवा इतरेषा द्रव्याणाम् अवकाशदानादाकाशमिति पृषोदरादिषु निपातित· शब्द ।

के प्रकाशक अर्हत के द्वारा अवबोधित किया गया है अर्थ का सार जिसमे ऐसे अनादिनिधन अर्हत् प्रवचन मे धर्म, अधर्म आदि सञ्ज्ञाये (नाम) रूढ जाननी चाहिये ।। १७ ।।

अथवा ये सञ्ज्ञाएँ क्रियानिमित्तक भी हैं । अर्थात् इन संज्ञाओ (नामो) को क्रियानिमित्तक भी कह सकते है । क्रिया के अधीन कैसे कह सकते है ? सो कहते है—।। १८ ।।

स्वय क्रियापरिणामियो के साचिव्य (सहायकपने) को धारण करने वाला होने से धर्म है । स्वय गतिक्रियापरिणत जीव और पुद्गलो को उनकी गतिक्रिया मे जो सहायक होता है वह धर्म कहा जाता है । इससे विपरीत अधर्म कहा जाता है । गति से विपरीत स्थिति मे अर्थात् स्वय ठहरने वाले जीव और पुद्गलो को ठहरने मे सहायता पहुँचाने वाला अधर्मद्रव्य है ।। १९-२० ।।

जिसमे द्रव्य प्रकाशित है वा जो स्वय प्रकाशित है, उसे आकाश कहते हैं । जिसमे जीवादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायो के साथ पृथक्-पृथक् रूप से रहते है, प्रकाशित होते है वा आत्मीय पर्यायो की मर्यादा से जो स्वय प्रकाशित होता है, वह आकाश है ।। २१ ।।

अवकाश देता है इसलिये आकाश है । अथवा इतर जीवादि पदार्थो को अवकाश (जगह) देता है इसलिये आकाश कहलाता है । यह आकाश शब्द पृषोदरादिगण[3] मे निपातित है ।। २२ ।।

---

१. व्यावधाना–मु , द । २ विराजन्ते । –न्ते तदा–अ । ३ व्याकरणशास्त्र मे एक पृषोदरादिगण पाठ है । पृषोदर आदि शब्दो का शिष्ट पुरुषो ने जिस रूप से उच्चारण किया है, वे उस रूप से शुद्ध ही है अर्थात् चाहे वे प्रकृति प्रत्यय के द्वारा न निष्पन्न हो तो भी उनकी शुद्धता मे बलवान् प्रमाण शिष्टो के मुँह मे होने वाला उच्चारण ही है । आकाशशब्द प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध नही परतु शिष्टो ने उसका उच्चारण किया है अतः वह प्रमाण ही है ।—जैनेन्द्रव्याकरण ।

अलोकाकाशस्यावकाशदानाभावात्तदभाव इति चेत्; न; तत्सामर्थ्याऽविरहात् । २३ । स्यान्मतम्-यद्यवकाशदानादाकाशमित्युच्यते अलोकाकाशे जीवाद्यवकाशदानाभावात् आकाशव्यपदेशो नोपपद्यते इति; तन्न, किं कारणम् ? तत्सामर्थ्याऽविरहात् । यथैष्यत्कालस्यातिदूरस्यापि वर्तमानप्राप्त्यर्हत्वात् तत्प्राप्त्यभावेऽपि भविष्यद्व्यपदेशो भवति, एवमलोकाकाशस्यावगाहिद्रव्याभावेऽपि अवगाहनशक्तिरविरुद्धा इत्यवकाशदानात् आकाशत्वं युज्यते । अथवा, क्रियानिमित्तत्वेऽपि रूढिविशेषबललाभात् गोशब्दवत् तदभावेऽपि प्रवर्तते ।

पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः । २४ । यथा भासं करोति भास्कर इति भासनार्थमन्तर्नीय भास्करसंज्ञाऽन्वर्था प्रवर्तते तथा भेदात् संघातात् भेदसघाताभ्या च पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिका क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः पृषोदरादिषु निपातितः, यथा शवशायनं श्मशानमिति ।

परमाणुषु तदभावात् पुद्गलत्वाभाव इति चेत्; न; गुणापेक्षया तत्सिद्धेः । २५ । स्यान्मतम्-अणूना निरवयवत्वात् पूरणगलनक्रियाभावात् पुद्गलव्यपदेशाभावप्रसङ्ग

अलोकाकाश मे अवकाशदान का अभाव होने से आकाश का अभाव है ऐसा नही कहना चाहिए क्योकि उसमे सामर्थ्य का अभाव नही है । **प्रश्न**—यदि अवकाशदान के कारण आकाश कहा जाता है तो अलोकाकाश मे जीवादि पदार्थो के अवकाश का अभाव होने से अलोकाकाश को आकाश व्यपदेश नही होगा । **उत्तर**—ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि अलोकाकाश मे भी अवकाश देने की सामर्थ्य पायी जाती है । जैसे अतिदूर भविष्यत्काल मे वर्तमान काल मे उसकी प्राप्ति की योग्यता के कारण ही भविष्यत् का व्यपदेश होता है । उसी प्रकार अलोकाकाश, अवगाही द्रव्य के अभाव होने पर भी अवगाहन शक्ति के अविरुद्ध है इसलिये अलोकाकाश भी अवकाशदान के योग्य होने से आकाश कहा जाता है अथवा क्रियानिमित्तत्व होने पर भी रूढि विशेष बलके लाभ से गो शब्द के समान अवकाशदान के अभाव मे भी अलोकाकाश आकाश कहा जाता है ।। २३ ।।

पुद्गल पूरण-गलनरूप सार्थक नाम वाला है, जैसे—भा-प्रभा को करने वाला भास्कर (सूर्य) है । इस प्रकार भासनरूप अर्थ को अन्त.प्रविष्ट कर भास्कर सज्ञा सार्थक है । उसी प्रकार जो भेद से, सघात से और भेदसघात से पूरण और गलन को प्राप्त हो वे पुद्गल कहलाते है । अर्थात् पूरण गलनात्मिका क्रिया के अन्तर्भाव्य पुद्गल शब्द सार्थक है । पृषोदरादि गण मे पाठ मान कर इसे निपातित माना है, जैसे—'शवशयन श्मशान' यह पृषोदरादि गण मे निष्पन्न होता है ।। २४ ।।

परमाणु मे पूरण-गलन स्वभाव नही है इसलिये परमाणु पुद्गल नही है, ऐसा नही कह सकते; क्योकि गुण की अपेक्षा परमाणु मे भी पूरण-गलन होता रहता है । **शंका**—निरवयव (निर्विभागी अश) होने से परमाणु मे पूरण-गलन क्रिया का अभाव है अत. परमाणु पुद्गल नही है । अर्थात्

इति; तन्न, कि कारणम् ? गुणापेक्षया तत् सिद्धेः। रूपरसगन्धस्पर्शयुक्ता हि परमाणवः एकगुणरूपादिपरिणता द्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणत्वेन वर्धन्ते, तथैव हानिमपि उपयान्तीति गुणापेक्षया पूरणगलनक्रियोपपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वमविरुद्धम्। अथवा गुण उपचार[1]कल्पनम् पूरणगलनयोः भावित्वात् भूतत्वाच्च शक्त्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वोपचारः।

पुङ्गिलनाद्वा । २६ । अथवा पुमासो जीवाः, तै शरीराहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्त इति पुद्गलाः। अण्वादिषु तदभावाद[2]पुद्गलत्वमिति चेत्; उक्तोत्तरमेतत्।

बहुवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम् । २७ । धर्माधर्माकाशपुद्गला इति बहुवचन स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थ द्रष्टव्यम्। कि पुनः स्वातन्त्र्यम् ? धर्मादयो गत्याद्युपग्रहान् प्रति वर्तमानाः स्वयमेव तथा परिणमन्ते न परप्रत्ययाधीना तेषा प्रवृत्तिः इत्येतदत्र विवक्षित

परमाणु मे पुद्गल व्यपदेश का अभाव है। उत्तर—ऐसा कहना युक्त नही है क्योकि गुण की अपेक्षा परमाणु मे भी पूरण-गलन की सिद्धि है, परमाणु भी रूप, रस, गध और स्पर्श से युक्त है। एकगुण रूपादि से परिणत परमाणु भी दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात और अनन्त गुणरूप से वृद्धि को प्राप्त होते है और उसी प्रकार सख्यात असख्यात और अनन्त रूप से हानि को भी प्राप्त होते है। इस प्रकार गुण की अपेक्षा परमाणु मे भी पूरण-गलन क्रिया की उत्पत्ति होने से उसे पुद्गल मानने मे कोई विरोध नही है अथवा भूत मे पूरण-गलन स्वभाव था, भविष्यत् मे होगा इसलिए शक्ति की अपेक्षा परमाणु में पूरण-गलन की उपचार कल्पना है इसलिये शक्ति की अपेक्षा परमाणु मे पुद्गल का उपचार किया जाता है ॥ २५ ॥

अथवा पुरुष के द्वारा निगला जाता है इसलिये पुद्गल कहलाता है। पुमान्-पुरुष को जीव कहते है। पुरुष के (जोव) द्वारा शरीर, आहार, विषय और इन्द्रियरूप उपकरण आदि के रूप मे निगला जाता है वा ग्रहण किया जाता है अतः उसे पुद्गल कहते है। शंका—अणु आदि मे इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्यत्व नही है, इसलिये परमाणु मे पुद्गलपना नही है। उत्तर—परमाणु भी स्कन्ध दशा मे जीवो के द्वारा निगले जाते है ॥ २६ ॥

बहुवचन स्वातन्त्र्य की प्रतिपत्ति के लिये है। 'धर्माधर्माकाशपुद्गला.' यहाँ बहुवचन स्वातन्त्र्य प्रतिपत्ति के लिये है। शंका—इनकी स्वतन्त्रता क्या है ? उत्तर—इनका यही स्वातन्त्र्य है कि ये स्वय गति और स्थिति रूप से परिणत जीव और पुद्गलोकी गति और स्थिति मे स्वय निमित्त होते है-परप्रत्यय के आधीन से इनकी प्रवृत्ति नही होती। अर्थात् जीव और पुद्गल की प्रेरणा से परिणमन नही करते। शंका—बाह्य द्रव्य क्षेत्र आदि के निमित्त से परिणामी द्रव्यो

---

१ -चारात् क-मु, द, ब। २ -भावत्वाद-श्र।

स्वातन्त्र्यम् । ननु च बाह्यद्रव्यादिनिमित्तवशात् परिणामिना परिणाम उपलभ्यते, स च स्वातन्त्र्ये सति विरुध्यत इति, नैष दोष.; बाह्यस्य [1]निमित्तमात्रत्वात् । न हि गत्यादिपरिणामिनो जीवपुद्गला· गत्याद्युपग्रहे[2] धर्मादीना प्रेरका । ननु इतरेतर-योगलक्षणे द्वन्द्वे न्यायप्राप्तं बहुवचन तेन कथ स्वातन्त्र्य प्रतीयते ? समाहारे समुदायप्रधाने एकवचनेन सिद्धे बहुवचन ज्ञापक स्वातन्त्र्यस्य । यथा "हृत·"[3] इत्यत्र एकवचनेन सिद्धे बहुवचन ज्ञापकम्–अनुक्तस्यापि 'हृत' उत्पत्तिर्यथा स्यात् इति, तेन सिद्ध अन्ते भव· अन्तिम·, यमेन प्रोक्त याम्यं धर्मशास्त्रमित्यादि ।

प्रशस्ताभिधानाद्धर्मग्रहणमादौ । २८ । धर्मशब्दोऽय लोके प्रशस्तार्थ ततोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते ।

तदनन्तरमधर्मग्रहणं लोकव्यवस्थाहेतुत्वात् । २९ । तदनन्तरम् अधर्मग्रहण

का परिणमन होता है इसलिये इनका स्वतन्त्र परिणमन मानने मे विरोध आता है । **उत्तर**—यह दोष नही है क्योकि यह बाह्य का निमित्तमात्रत्व है क्योकि गति आदि मे परिणत जीव और पुद्गल गति आदि उपकार मे धर्मादि को प्रेरणा नही करते है । **शंका**—इतरेतर योग लक्षण द्वंद्वसमास मे न्यायप्राप्त बहुवचन है इसलिये इसमे बहुवचन होने से स्वातन्त्र्य कसे जाना जाता है ? **उत्तर**—समुदाय प्रधान समाहार द्वद्व मे एकवचन की सिद्धि होने पर बहुवचन स्वतत्रता का ज्ञापक होता है, जैसे—व्याकरण मे हृत् (तद्धित) इस एकवचन से कार्य चल सकता था फिर भी बहुवचन का निर्देश ज्ञापन करता है कि अनुक्त भी 'हृत्' की उत्पत्ति जैसे होती है उससे तद्धितीय प्रत्यय होता है । जैसे—'अन्ते भव अन्तिम ' यम के द्वारा कथित 'याम्य' धर्मशास्त्र इत्यादि, इसमे अन्त शब्द से 'डिम' प्रत्यय करने पर अन्तिम शब्द और 'यम' शब्द से ण्य प्रत्यय करने पर याम्य शब्द बना है । यहाँ पर 'डिम' और 'ण्य' इन दोनो ही प्रत्ययो का हृत् (तद्धित) प्रकरण मे उल्लेख नही है तथापि 'हृत ' इस सूत्र मे जो बहुवचनान्त हृत् शब्द को रखा गया है उसके सामर्थ्य से नही कहे गये भी डिम और ण्य प्रत्यय की उत्पत्ति मान ली जाती है उसी प्रकार 'धर्माधर्माकाशपुद्गला:' इस समाहार द्वद्व मे एकवचन हो सकता था तथापि बहुवचन का प्रयोग स्वतन्त्रता को सूचित करने के लिए किया गया है ।। २७ ।।

प्रशस्त अभिधान होने से धर्म शब्द को आदि मे ग्रहण किया है । लोक मे यह धर्म शब्द प्रशसनीय अर्थ मे है । अत· धर्मद्रव्य का ग्रहण आदि मे किया गया है ।। २८ ।।

लोकव्यवस्था का हेतु होने से धर्म के बाद अधर्म को ग्रहण किया है । पचास्तिकाय और काल जिसमे रहते है उसको लोक कहते हैं । इस अधर्म के द्वारा ही लोक की पुरुषाकार आकृति की

---

१. निमित्तत्वात् ब. द । निमित्तवशात् मु. । २ उपकारे । ३. जैनेन्द्र ३।१।६१

क्रियते । कुतः ? लोकव्यवस्थाहेतुत्वात् । पञ्चास्तिकाया· कालश्च लोक, अवतिष्ठन्ते पदार्था अनया [1]आकृत्येत्यवस्था, विविधा अवस्था व्यवस्था विविधसन्निवेशो वेत्रासनाद्याकार इत्यर्थ., लोकस्य व्यवस्था लोकव्यवस्था तस्या हेतुत्वात् लोकव्यवस्था-हेतुत्वात् । असति हि अधर्मास्तिकाये गतिमता द्रव्याणा गतिविषयनियमाभावात् । विष्वग्भावे सति लोकव्यवस्था विशिष्टा न स्यात्, अतोऽस्य धर्मानन्तर ग्रहण न्याय्यम् ।

तत्प्रतिपक्षत्वाच्च । ३० । तस्य धर्मास्तिकायस्य प्रतिपक्षोऽधर्मास्तिकाय. स्थितिकारणत्वात् । ततश्चानन्तर ग्रहणं क्रियते ।

तत्परिच्छेद्यत्वात्तदनन्तरम् आकाशग्रहणम् । ३१ । ताभ्यां धर्माधर्माभ्याम् आकाश परिच्छिद्यते—यत्र धर्माधर्मौ तल्लोकाकाशम् इतरदलोकाकाशमिति । अत तदनन्तरम् आकाशग्रहण क्रियते ।

व्यवस्था बनती है । विविध अवस्था-व्यवस्था, विविध सन्निवेश, वेत्रासन आदि लोक की आकृति की व्यवस्था होती है । अधोलोक वेत्रासन, मध्यलोक झलरी आकार और ऊर्ध्व लोक मृदग के आकार है । इस लोक की व्यवस्था का हेतु अधर्म द्रव्य है । क्योकि अधर्मास्तिकाय द्रव्य के नही होने पर गतिमान द्रव्य के गतिविषयक नियम का अभाव हो जाएगा । यदि अधर्म द्रव्य नही माना जाता तो गतिमान जीव और पुद्‌गल समस्त आकाश अर्थात् अलोकाकाश मे भी पहुँच जाते, अत· लोक का कोई आकार ही नही बन पाता । इसलिये लोक-अलोक के विभाग का कारण अधर्म द्रव्य है अत· धर्म द्रव्य के बाद अधर्म द्रव्य को ग्रहण करना युक्त ही है ।। २९ ।।

अथवा प्रतिपक्षी होने से भी अधर्म को ग्रहण किया है । धर्मास्तिकाय का प्रतिपक्षी अधर्म द्रव्य है क्योकि धर्म गमन मे सहायक होता है और अधर्म द्रव्य उससे विपरीत जीव और पुद्‌गल की स्थिति मे कारण है अत धर्म द्रव्य का प्रतिपक्षी होने से धर्म के बाद अधर्म को ग्रहण करना उचित ही है ।। ३० ।।

उनके द्वारा (धर्म और अधर्म के द्वारा) परिच्छेद्य होने से अनन्तर आकाश को ग्रहण किया है । धर्म और अधर्म के द्वारा लोक और अलोकरूप मे आकाश का परिच्छेद (ज्ञान) किया जाता है । जहाँ तक धर्म और अधर्म द्रव्य है वह लोकाकाश है और इससे भिन्न अर्थात् जहाँ धर्म-अधर्म द्रव्य नही है, वह अलोकाकाश है अत. धर्म और अधर्म के बाद आकाश को ग्रहण किया गया है ।। ३१ ।।

---

१ सप्तैकपचाकृत्या ।

अमूर्तत्वसाधर्म्याच्च । ३२ । यथा धर्माधर्मावमूर्तौ रूपादिविरहात् एवमाकाशमप्यमूर्तम् अतश्चानन्तरमुक्तम् ।

तदवगाहित्वात् तत्समीपे पुद्गलवचनम् । ३३ । तदाकाशमवगाह्य पुद्गला वर्तन्ते इति तत्समीपे तेषा वचन[१] क्रियते ।

आकाशग्रहणमादौ धर्मादीनामाधारत्वादिति चेत्; न; लोकविनिवेशस्यानादित्वात् । ३४ । स्यान्मतम्—धर्मादीना पञ्चानामपि द्रव्याणामाकाशम् आधार. साधारण., ततस्तस्य ग्रहण सर्वेषामादौ न्याय्यमिति; तन्न; कि कारणम् ? लोकविनिवेशस्यानादित्वात् । नाऽय नियमोऽस्ति लोकविनिवेशे आकाशमाधारः इतराणि द्रव्याणि आधेयानि इति । किन्तु लोकविनिवेशक्रम एवायमनादिसिद्ध इति नाकाशमाधारः । आदिमता हि कुण्डबदरादीना दृष्ट आधाराधेयभावः ।

आर्षविरोध इति चेत्; न; आदेशवचनात् । ३५ । स्यादेतत्—यद्याधाराधेयभावो नेष्यते यदुक्तमार्षे[२] —"**स्वप्रतिष्ठमाकाशम् आकाशप्रतिष्ठं तनुवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठं**

अमूर्त्तत्व की अपेक्षा साधर्म्य है इसलिये धर्म-अधर्म के समीप आकाश को ग्रहण किया है। जैसे—रूप, रस, गध और स्पर्शरहित होने से धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त है वैसे ही आकाश भी रूपादि रहित होने से अमूर्त है अत. धर्म-अधर्म के समीप आकाश का उल्लेख किया है ।। ३२ ।।

आकाश मे अवगाहन करते है इसलिये उसके बाद पुद्गल को ग्रहण किया है। आकाश मे पुद्गल अवकाश पाते है अत आकाश के समीप पुद्गल का उल्लेख किया है ।। ३३ ।।

धर्मादि का आधार होने से आकाश को सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिये ? ऐसा नही है क्योकि लोक की रचना अनादिकालीन है। **प्रश्न**—धर्मादि पॉच द्रव्यो का साधारण आधार आकाश है अत उस आकाश को सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिये। **उत्तर**—ऐसा कहना उचित नही है क्योकि लोक की यह रचना अनादिकाल से है, इसलिये इसमे वह नियम नहीं है कि लोक की रचना मे आकाश आधार है और अन्य द्रव्य आधेय है किन्तु लोक की रचना का क्रम अनादिसिद्ध है अत. आकाश आधार नही है क्योकि आदिमान कुण्ड और बदरीफल आदि मे ही आधार-आधेय भाव देखा जाता है ।। ३४ ।।

आर्षग्रन्थ का विरोध है-ऐसा भी नही कह सकते, आदेश वचन होने से। **प्रश्न**—यदि आकाश और धर्म-अधर्म आदि द्रव्यो मे आधार-आधेय भाव नही मानते है तो जो आर्ष ग्रन्थ मे लिखा

---

१. ग्रहण श्र. । २. तुलना—'घनोदधिवलय घनवातवलयप्रतिष्ठ घनवातवलय तनुवातवलयप्रतिष्ठ, तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठ, आकाशमात्मप्रतिष्ठ तस्यैवाधाराधेयत्वात्'। —स सि ३/१।

घनवातवलयं तत्प्रतिष्ठं घनोदधिवलयम्" इत्यादि, तद्विरोधः इति; तन्न, किं कारणम् ? आदेशवचनात् ? 'यदि एकान्तेनाधाराधेयभावो न स्यात् स्यादार्षविरोध', यदा तु 'स्यादाधाराधेयभाव इति। स्यान्नाधाराधेयभाव.' इति आदेशवचनादिष्यते ततो नास्त्यार्षविरोध । कथमिति चेत् ? उच्यते–आकाशादीनां द्रव्यार्थादेशात् स्यादाधाराधेयत्वाभावो यत पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् प्रतिनियतानादि-पारिणामिकद्रव्यार्थेनादिष्टाना[1]माकाशादीना, षण्णामाधाराधेयपर्यायाभावः। द्रव्यार्थिकगुणभावे च पर्यायार्थिकप्राधान्यात् षण्णामपि द्रव्याणाम् आदिमत्त्वोपपत्ते-राधाराधेयभावो युज्यते। ततस्तदपेक्षया आधाराधेयभाव आर्षे प्रणीत इति नास्ति विरोध । अथवा व्यवहारन[2]यादेशात् स्यादाधाराधेयता, यतोऽनादिपारिणामिक-लोकविनिवेशेऽपि व्यवहार एव प्रवृत्त 'आकाशमाधार' अन्यानि द्रव्याणि आधेयानि' इति। एवम्भूतनयादेशात् स्यादनाधाराधेयता, यतोऽनादिपारिणामिकलोकविनि-वेशस्यैवभूतत्वात् 'स्वात्मप्रतिष्ठान्येव सर्वद्रव्याणि' इति। ननु[3] च व्यवहारनयापेक्षया

है कि 'आकाश स्वप्रतिष्ठ' है, आकाश मे तनुवातवलय है, तनुवातवलय मे घनवातवलय और घनवातवलय मे प्रतिष्ठित घनोदधिवातवलय (आधेय) है। इस कथन मे विरोध आयेगा क्योकि इसमे आधाराधेय भाव माना है। **उत्तर**—ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि यदि आधार-आधेय भाव का सर्वथा निषेध किया जाता है तो आर्ष ग्रन्थ के साथ विरोध आता है-स्याद्वाद मे विरोध नही आता अर्थात् कथञ्चित् आकाश और धर्मादि द्रव्यो मे आधार-आधेय भाव है ओर कथञ्चित् नही है। इस प्रकार स्याद्वाद वचन स्वीकार करने पर आर्ष मे विरोध नही आता। जैसे—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कथन किया जाता है तो आकाश आदि मे आधार-आधेयत्वभाव नही है-क्योकि द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता और पर्यायार्थिकनय की गौणता से यदि कथन किया जाता है तो प्रतिनियत अनादि पारिणामिक द्रव्यार्थिक नय से कथित आकाशादि छहो द्रव्यो मे आधार-आधेय पर्याय का अभाव है तथा द्रव्यार्थिक नय को गौण करे और पर्यायार्थिक नय की मुख्यता से वर्णन किया जाय तो छहो द्रव्यो मे आदिमत्व की उत्पत्ति होने से आकाश और द्रव्यो मे आधार-आधेयभाव हो जाता है। अत पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आकाशादि मे आधार-आधेयभाव ऋषिप्रणीत ग्रन्थो मे कहा है, इसलिये आधार-आधेयभाव मे कोई विरोध नही है अथवा व्यवहार नय की अपेक्षा आकाश को आधार और अन्य द्रव्यो को आधेय कहते ही है-क्योकि अनादि पारिणामिक लोक की रचना में भी इस प्रकार व्यवहार की प्रवृत्ति होती है कि 'आकाश आधार है और अन्य द्रव्य आधेय है' एवभूत नय की अपेक्षा से आधार-आधेय भाव नही भी है क्योकि अनादि पारिणामिक लोक की रचना इसी प्रकार की है तथा सर्वद्रव्य अपने आपमे ही प्रतिष्ठित है-अर्थात् सब द्रव्यो का आधार अपना स्वरूप ही है। **प्रश्न**—व्यवहार नय की अपेक्षा से आकाश और धर्मादि द्रव्यो मे

---

१ उपदिष्टानाम्। २ नयस्यादे—श्र ता। ३. ननु व्य-मु द. व।

आधाराधेयभावाभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गः–घनोदधिवलयस्य घनवातवलयमाधार, घनवातवलयस्य तनुवातवलय[1]माधार. तनुवातवलयस्य आकाशम्, आकाशस्याऽन्यत्, तस्यान्यत्, तस्याप्यन्यदिति, नैषः दोष., आकाशस्य सर्वगतत्वात् अनन्तत्वाच्च । [2]यद्धि सर्वगतमनन्त च तस्य सर्वत्र सान्निध्यात् 'तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यत्' इति व्यवहाराभावात् अनवस्था नास्ति । परिशेषादसर्वगतस्यान्तवतो मूर्तिमत सात्रयवस्यैन्द्रियकस्य स्यादनवस्था, तद्विपरीतलक्षणश्चाकाशम्, अतो नास्त्यनवस्था । यदि सर्वगतत्वादि-लक्षणस्यानवस्था दृष्टा सोच्यताम्, नैषोच्यते ततो विमुच्यतामनवस्थादोषकल्पना । तस्मान्निःप्रतिद्वन्द्वः[3] पूर्वोक्त एवास्तु क्रमहेतु. ।

कालोपसंख्यानमिति चेत्; न; वक्ष्यमाणलक्षणत्वात् । ३६ । स्यादेतत्–कालोऽपि कश्चिदजीवपदार्थोऽस्ति । अतश्चास्ति यद्भाष्ये बहुकृत्व **"षड्द्रव्याणि"** इत्युक्तम्, अतोऽस्योपसख्यान कर्तव्यमिति ? तन्न, कि कारणम्, वक्ष्यमाणलक्षणत्वात् । वक्ष्यते हि तस्य लक्षणमुपरिष्टात् ।

आधार-आधेयभाव मानने पर अनवस्था दोष का प्रसग आता है, जैसे—घनोदधिवातवलय का आधार घनवातवलय है, घनवातवलय का आधार तनुवातवलय है, तनुवातवलय का आधार आकाश है-आकाश के भी अन्य आधार की कल्पना करनी चाहिये-उसके भी और अन्य आधार की कल्पना करनी चाहिये-ऐसा करने पर अनवस्था दोष आता है-अर्थात् आधार की परिपाटी समाप्त नही होगी । **उत्तर**—व्यवहार मे तनुवातवलय का आकाश को आधार मान लेने पर भी आकाश के अन्य आधार की कल्पना करके अनवस्था दूषण नही आ सकता-क्योकि आकाश सर्वगत और अनन्त है । जो सर्वगत और अनन्त है-उसका सर्वत्र सान्निध्य होने से 'उसका भी अन्य आधार-उसका भी अन्य आधार' इस प्रकार के व्यवहार का अभाव होने से अनवस्था दोष नही आ सकता है । परिशेष न्याय से असर्वगत सान्त, मूर्त्तिमान्, सावयव और ऐन्द्रियिक विषय वाले पदार्थो मे ही आधार आधेय कल्पना से अनवस्था दोष आ सकता है—उससे विपरीत लक्षण वाले अनत आकाश मे अनवस्था दोष नही है । यदि सर्वगतादि पदार्थो मे भी अनवस्था दोष देखा जाता है तो उदाहरण देकर समझाना चाहिये । परन्तु सर्वगत पदार्थो मे आधार-आधेय कल्पना मानने पर भी अनवस्था दोष नही आ सकता—इसलिये आकाश को आधार मानने पर अनवस्था दोष की कल्पना छोड देनी चाहिये । अतः "अजीवकायाधर्माधर्माकाशपुद्गला" इसमे जो द्रव्यो के क्रम का हेतु है—वह निर्दोष है ।। ३५ ।।

कालद्रव्य का भी ग्रहण करना चाहिये, ऐसा नही कहना, क्योकि उसका लक्षण आगे कहेगे । शंका—काल भी अजीव पदार्थ है—क्योकि भाष्य मे अनेक वार छह द्रव्यो का कथन किया है

---

१ –नय तनु –मु, मू द व ता । २. यदि श्र. । ३ पक्षः ।

अत्राह "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य"[१] इत्येवमादिषु द्रव्याण्युक्तानि कानि तानीति ? अत्रोच्यते—

द्रव्याणि ॥ २ ॥

स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि । १ । स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययो तौ स्वपरप्रत्ययौ । उत्पादश्च विगमश्चोत्पादविगमौ स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषा ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमा । के पुनस्ते ? पर्याया । द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्य प्रत्यय पर प्रत्यय तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरम् आस्कन्दति इति । तत्समर्थ स्वश्च प्रत्यय । तावुभौ सभूय भावानाम् उत्पादविगमयो हेतू भवत नान्यतरापाये कुशूलस्थमाष–पच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत् । एवमुभयहेतुकोत्पादविगमै तैस्तै स्वपर्यायै द्रूयन्ते गम्यन्ते द्रवन्ति गच्छन्ति तान् पर्यायानिति द्रव्याणीति व्यपदिश्यन्ते । भेदनयवशात् कर्तृकर्मणोर्भेद कृत्वा निर्देश

इसलिये इस सूत्र मे काल को भी ग्रहण करना चाहिये । **उत्तर**—काल का लक्षण आगे कहेगे (वह काय नही है—बहुप्रदेशो नही है—इसलिये उसका यहाँ ग्रहण नही किया है) ॥ ३६ ॥

यहाँ कोई पूछता है कि "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलम्" इस सूत्र मे द्रव्य कहे हैं—वे द्रव्य कोन-कौन से है—उसका कथन करते हैं—

उपर्युक्त धर्म अधर्म आकाश पुद्गल ये द्रव्य है ॥ २ ॥

स्व (उपादान) और पर (निमित्त) प्रत्ययो (कारणो) से होने वाले उत्पाद और व्यय रूप पर्यायो को जो प्राप्त होते है वा पर्यायो के द्वारा जो प्राप्त किये जाते हैं, वे द्रव्य कहलाते है । स्व और पर कारणो से उत्पाद और व्यय जिनमे होता है, वे पर्यायें कहलाती हैं और जिसमे ये होती है वे द्रव्य है । द्रव्य क्षेत्र काल और भाव रूप बाह्य कारण परप्रत्यय कहलाते हैं तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति स्व प्रत्यय है । बाह्य कारणो के रहने पर भी यदि द्रव्य मे स्वय उस पर्याय की योग्यता न हो तो वह पर्यायान्तर को प्राप्त नही हो सकता । अत स्वप्रत्यय ही समर्थ कारण है । स्व और पर दोनो कारण मिलकर ही पदार्थो के उत्पाद और व्यय मे कारण होते हैं, एक के भी (निमित्त या उपादान के) अभाव मे उत्पाद व्यय नही हो सकते । जैसे—पकने योग्य उडद यदि वोरे मे पडा हुआ है तो भी पाक नही हो सकता और यदि घोटक (नही पकने योग्य) उडद बटलोई मे उबलते हुए पानी मे भी डाला जाय तो भी वह नही पक सकता । अत उभय (निमित्त उपादान) हेतुक उत्पाद-व्यय है, उन उत्पाद व्यय रूप स्वकीय पर्यायो के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है वा स्वय पर्यायो को जो प्राप्त होता है उसको द्रव्य कहते है । यद्यपि उत्पाद-व्यय रूप पर्यायें द्रव्य से अभिन्न है तथापि

---

१ त सू १।२९ ।

क्रियते स्वजात्यपरित्यागेनावस्थितिरन्वयैरुपलब्धस्वरूपाणा मुहुर्मुहुरुत्पादाविगमवता च भेदोपपत्तेः। यदा द्रव्याणा कर्मविवक्षा तदा न्यायप्राप्तः कर्मणि य.। यदा कर्तृविवक्षा तदा बहुलापेक्षया कर्तरि य.। अथवा उत्पादकविनश्वरनानापर्यायोत्पाद-विनाशाविच्छेदेऽपि सान्ततिकद्रव्यार्थादेशवशेन द्रवणात् गमनात् सप्रत्ययाद् द्रव्याणि कुत एतत्? गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्।

[1]**इवार्थे वा निपातितो द्रव्यशब्दः ।२।** अथवा **"द्रव्यं भव्ये"**[2] इत्यनेन निपातितो द्रव्यशब्दो वेदितव्य.। द्रु इव भवतीति द्रव्यम्। क उपमार्थ.? द्रु इति दारु नाम यथा अग्रन्थि अजिह्म[3] दारु तक्षणोपकल्प्यमान तेन तेन अभिलषितेनाकारेण आविर्भवति, तथा द्रव्यमपि आत्मपरिणामगमनसमर्थ पाषाणखननोदकवदविभक्त-कर्तृकरणमुभयनिमित्तवशोपनीतात्मना तेन तेन पर्यायेण द्रु इव भवतीति द्रव्यमित्युपमीयते।

भेदनय के वश से कर्तृ और कर्म मे भेदविवक्षा करके 'द्रवति गच्छति' यह निर्देश किया जाता है। क्योकि स्वजाति का त्याग न करके अवस्थित तथा अन्वय रूप से स्वरूप वाले पदार्थो का बार-बार उत्पाद और विगम (व्यय) होने के कारण भेद उत्पन्न होता है। जिस समय द्रव्यो को कर्मविवक्षा से (पर्यायो) का कर्त्ता वनाते है तब कर्म मे 'द्रु' धातु से 'यः' प्रत्यय हो ही जाता है और जब कर्तृ विवक्षा मे द्रव्य को कर्त्ता मानते है तब बहुलापेक्षया कर्त्ता मे 'यः' प्रत्यय हो जाता है। अथवा उत्पाद और विनाश रूप नाना पर्यायो के निरतर होने पर भी सान्ततिक द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा द्रवण और गमन के कारण द्रव्य कहलाते है। क्योकि जितनी भी धातुएँ गमन अर्थ मे है वे सव 'ज्ञान' अर्थ मे भी होती हैं। अर्थात् जो ध्रौव्य रहकर भी निरन्तर परिवर्तन करता हुआ ज्ञान का विषय होता है, वह द्रव्य है। अर्थात्—निरतर परिवर्तनशील होते हुए भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जिस की निरतर प्रतीति होती रहती है, वे द्रव्य कहलाते है ॥ १ ॥

अथवा, इव अर्थ मे निपातित द्रव्य शव्द है। अथवा "द्रव्य भव्ये" इस व्याकरण सूत्र से द्रव्य शव्द को इवार्थ निपातित शव्द जानना चाहिये। जैसे—"द्रु" के समान होता है वह "द्रव्य" है, ऐसा जानना चाहिये। प्रश्न—यह उपमा किसकी है? उत्तर—'द्रु' से दारु शव्द बनता है। विना गाँठ की सीधी लकडी को दारु कहते हैं। जैसे—विना गाँठ की सीधी लकड़ी बढई आदि के निमित्त मे टेविल, कुर्सी, चौकी आदि (बढई के अभीप्सित) अनेक आकारो को प्राप्त होती है उसी प्रकार स्वय परिणमन करने मे समर्थ, पाषाण खोदने से जैसे पानी निकलता है, वैसे अभिन्न कर्तृकरण द्रव्य भी बाह्य और अन्तरग कारणो के कारण उपनीत अपनी-अपनी पर्यायो को प्राप्त होता रहता है अर्थात् जैसे दारु का नाश न होकर आकार पलटते रहते हैं, वे आकार सर्वथा लकडी से भिन्न नही है, न

---

१ द्रव्यार्थे मु.। २. जैनेन्द्र ४।१।१५८। ३ अचिह्मम् द. ब. मु. अकुटिलम्–ता.टि.।

द्रव्यत्वादिति चेत्; न; तदभावात् । ३ । स्यान्मतम्—यथा दण्डसम्बन्धात् दण्डीत्यभिधानं प्रत्ययश्च देवदत्ते भवति तथा द्रव्यत्वं नाम सामान्यविशेषोऽस्ति पृथिव्यादिषु द्रव्य द्रव्यमिति प्रत्ययाभिधानानुप्रवृत्तिदर्शनात्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्त्युपलब्धेश्चानुमीयमानान्वयव्यतिरेक. तेन योगाद् द्रव्यं न पर्यायद्रवणादिति, तन्न कि कारणम् ? तदभावात् । यथा दण्डसम्बन्धात् प्राक् देवदत्तो जात्यादिभि सिद्ध । देवदत्तसंबन्धाच्च प्राग्दण्डो वृत्तत्वद्राघिमादिभि प्रसिद्ध , ततस्तयो सबन्धो युक्त । न च तथा द्रव्यत्वयोगात् प्राक् द्रव्यमुपलभ्यते । यद्युपलभ्येत सबन्धकल्पनमनर्थक स्यात् । द्रव्यत्वमपि द्रव्यसबन्धात् प्राङ् नोपलब्धस्वरूपम्, अत तयोरसतोर्न युक्त. सबन्ध । अस्तित्वे चाभ्युपगम्यमाने पृथगनुपलभ्यमानशक्तिकयो सबन्धेऽपि न तच्छक्तिप्रादुर्भावोऽस्ति, यथा जात्यन्धयो पृथग्दर्शनशक्तिविरहात्, न योगेऽपि रूपालोकनशक्तिसभव: । तथा द्रव्यद्रव्यत्वयोरपि द्रव्यप्रत्ययाभिधानोपत्त्यसामर्थ्ये तत्सबन्धेऽपि न

सर्वथा अभिन्न हैं उसी प्रकार दारु के समान पर्याय रूप अनेक प्रकार के आकारो को प्राप्त होता है परन्तु सर्वथा नाश को प्राप्त नही होता वह द्रव्य कहलाता है ।। २ ।।

द्रव्यत्व के कारण द्रव्य है, ऐसा नही कहना चाहिये उसका अभाव होने से । **प्रश्न**—जैसे दण्ड के सम्बन्ध से देवदत्त मे दण्डी ऐसा प्रत्यय होता है अर्थात् दण्डी यह व्यवहार और ज्ञान होता है । उसी प्रकार द्रव्यत्व नामक सामान्यविशेषात्मक पदार्थ है, वह पृथिवी आदि मे 'द्रव्य' है इस प्रकार के प्रत्यय के कारण अनुप्रवृत्ति से देखा जाता है (प्रतीत होता है) अर्थात् इसी सामान्य द्रव्यत्व के सम्बन्ध के कारण ही पृथिवी आदि मे यह "द्रव्य" है ऐसा व्यवहार होता है । इसीसे वह द्रव्यत्व गुण-कर्म आदि से व्यावृत्त भी सिद्ध हो जाता है और वही अनुमोयमान [1]अन्वयव्यतिरेक[2] रूप है अत. द्रव्यत्व के सम्बन्ध से ही द्रव्य मानना चाहिये न कि पर्यायो को प्राप्त होने से । **उत्तर**—उपर्युक्त शका ठीक नही है क्योकि जैसे—दण्ड के सम्बन्ध से पूर्व देवदत्त अपनी जाति आदि से युक्त प्रसिद्ध है और देवदत्त के सम्बन्ध के पहले दड अपनी गोलाई-लम्बाई आदि के द्वारा प्रसिद्ध है अत· उन दोनो दण्ड-दण्डी का सम्बन्ध युक्त है । परन्तु दण्ड और दण्डी के समान द्रव्यत्व सम्बन्ध के पहले न तो द्रव्य ही प्रसिद्ध है और न द्रव्यत्व ही उपलब्ध है । यदि द्रव्य के सम्बन्ध के पूर्व द्रव्य प्रसिद्ध है तो द्रव्यत्व के सम्बन्ध की कल्पना निरर्थक हो जाती है । द्रव्यत्व भी द्रव्य के सम्बन्ध के पहले उपलब्ध नही है । अत. दोनो जब सम्बन्ध के पहले असत् हैं तो उनके सम्बन्ध की कल्पना ही निरर्थक है (अयुक्त है) । द्रव्य के साथ सम्बन्ध के पूर्व द्रव्य और द्रव्यत्व का अस्तित्व भी मान लिया जाय परन्तु जब उन दोनो मे पृथक्-पृथक् शक्ति नही है तब मिलकर भी स्वप्रत्ययोत्पादक शक्ति नही आ सकती । जैसे—पृथक्-पृथक् दर्शनशक्ति रहित होने से दो जन्मान्धो को एक साथ

---

१ जिसके होने पर जो होता है वह अन्वय है । २ जिसके नही होने पर नही होता वह व्यतिरेक है ।

सामर्थ्यम् । तत्र द्रव्य तावत् प्राक् द्रव्यत्वसमवायात् द्रव्यात्मनैव नात्मनि द्रव्यप्रत्ययाभिधानयोरुत्पादकम् । यदि स्यात्, द्रव्यत्वसंबन्धस्य वैयर्थ्य स्यात् । तथा द्रव्यत्वमपि प्राग्द्रव्यसमवायात् द्रव्यत्वात्मन्येव न द्रव्यप्रत्ययाभिधाननिमित्तमस्ति । माभूद् द्रव्यत्वस्य[1] द्रव्येण समवायस्य वैयर्थ्यमिति अतस्तयो पृथगनुपलभ्यमानसामर्थ्ययो संबन्धेऽपि न तत्सामर्थ्यमस्ति इत्यवेमः न द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यमिति । ननु च द्रव्यत्वसंबन्धात् प्राक् द्रव्यव्यपदेशो नास्ति, अस्ति तु तत्, ततः सतो[2] द्रव्यत्वस्य युक्तः सबन्ध, नैषोऽस्ति परिहार । कुत ? सतोऽसत्त्वात् । नहि तद्द्रव्य स्वतोऽस्ति सत्तायोगादेव सत्स्यात्[3] स च नास्तोत्युक्तम्[4] । अथासतामपि सबन्ध स्यात् खरविषाणादीनामपि स्यात् । किञ्च, द्रव्यत्व नाम सर्वगत पदार्थ, स यदि अतदात्मकेन सबन्ध्यते गुणकर्मभि., खरविषाणादिभिश्च सबन्ध्येत, न चेष्यते सबन्ध । अथ तदात्मकेनैव सबन्ध्यते द्रव्यत्वसम्बन्धो व्यर्थ प्रागपि तदात्मकत्वात्, तत. स्वतो द्रव्यसिद्धि ।

आह–समवायिकारणत्वाद् द्रव्यत्वेन द्रव्यमेव सम्बध्यते न गुणकर्माणि नापि

मिला देने पर रूपावलोकन (दर्शन) शक्ति उत्पन्न नही होती । उसी प्रकार द्रव्य और द्रव्यत्व मे द्रव्य प्रत्ययाभिधान-शक्ति की उत्पत्ति के सामर्थ्य का अभाव होने पर, उनका सम्बन्ध होने पर भी द्रव्यत्व का व्यवहार नही हो सकता । द्रव्यत्व समवाय के पहले द्रव्य द्रव्यस्वरूप से अपने स्वरूप मे द्रव्य प्रत्ययाभिधान का उत्पादक है कि नही ? यदि द्रव्यत्व के सम्बन्ध के पूर्व द्रव्य मे द्रव्यत्व है तो द्रव्यत्व की कल्पना करना या द्रव्यत्व का सम्बन्ध मानना व्यर्थ ही होगा ? उसी प्रकार द्रव्यत्व भी द्रव्य समवाय के पहले द्रव्यत्व ही है, द्रव्यप्रत्यय के अभिधान का निमित्त नही है । अर्थात् द्रव्यव्यवहार का निमित्त नही बन सकता । द्रव्य के साथ द्रव्यत्व के सम्बन्ध की निरर्थक कल्पना न हो इसलिये पृथक् अनुपलम्भ (पृथक्-पृथक् नही दीखने वाले) द्रव्य और द्रव्यत्व का सम्बन्ध होने पर भी वैसी सामर्थ्य नही है—इसोलिये हम मानते है कि द्रव्यत्व के योग (सम्बन्ध) से द्रव्य नही है, अपितु अपने-अपने गुण और पर्यायो को प्राप्त होता है इसलिये द्रव्य है । **प्रश्न**—द्रव्यत्व सम्बन्ध के पहले यद्यपि द्रव्य व्यपदेश नही है तथापि अस्ति मात्र तो है ही अत· अस्तित्व के साथ द्रव्यत्व का सम्वन्ध मानना उचित ही है । **उत्तर**—यह कहना उचित नही है—क्योकि द्रव्यत्व के सम्बन्ध के पहले यदि द्रव्य का 'सत्' स्वरूप भी होता तो द्रव्यत्व का सम्बन्ध मानना उचित होता किन्तु द्रव्य स्वत. 'सत्' भो नही है, वह तो सत्ता के समवाय से सत् होता है । यदि असत् मे भी सत्तासमवाय माना जाता है तो खरविशाण (गधे के सीग, आकाश के फूल) आदि का भी सम्वन्ध होना चाहिये । अथवा, द्रव्यत्व सामान्य सर्वगत पदार्थ है अत. यदि अतदात्मक द्रव्य मे वह समवाय सम्बन्ध से रहता है तो गुण-कम और खर-विषाण आदि में भी रहना चाहिये-परन्तु गुण-कर्म, खरविपाण आदि मे नैयायिको ने द्रव्यत्व सम्वन्ध माना नही है ।

---

१. महजारमानम्य । २ द्रव्यत्वसमवायेणैव द्रव्यव्यपदेशमन्तरेण विद्यमानस्य । ३ इति चेत् । ४. प्रथमाध्याये

खरविषाणादीनि, द्रव्यत्वस्य हि द्रव्यमेव समवायिकारणमिष्ट नेतराणि इति। उच्यते–

न, स्वतोऽसिद्धत्वात्। यदि द्रव्यत्वादन्यद्द्रव्य स्वत सिद्ध स्यात् अतस्तत्समवायिकारणमिति व्यपदेशार्ह स्यात्, न च तत्स्वत सिद्ध किञ्चिदस्ति, अत स्वतोऽसिद्धत्वात् न तत्समवायिकारणम्। अथ तत्स्वतोऽसिद्धमपि समवायिकारण खरविषाणादिषु को मत्सर? अथाऽसत्त्वान्न समवायिकारण तानि, नन्वसत्त्वाद् द्रव्यमपि द्रव्यत्वस्य न समवायिकारणम्।

किञ्च, अतस्तत्सिद्धे.। यत एव द्रव्यत्वस्य समवायिकारण द्रव्य न गुणकर्माणि[1] अतस्तद्द्रव्यत्व द्रव्य एव समवैति न गुणकर्मादिषु इति विवक्षितम्, ननु अत एव द्रव्यात्मैव द्रव्यत्वम्, आभ्यन्तरोऽर्थो[2]ऽनादिपारिणामिक द्रव्यापरित्यागी न द्रव्याद् बहिरन्य सामान्यविशेषाख्य इत्येतत्सिद्ध्यति।

यदि द्रव्य तदात्मक है अत उसमे ही द्रव्यत्व का समवाय होता है, तो फिर द्रव्यत्व के समवाय की कल्पना ही निरर्थक है क्योकि वह द्रव्यत्व समवाय के पूर्व ही द्रव्यात्मक था इसलिये द्रव्यत्व के समवाय सम्बन्ध से द्रव्य मे द्रव्यत्व की कल्पना करना व्यर्थ है। द्रव्य की सिद्धि स्वत है। नैयायिक कहता है कि द्रव्य समवायिकारण है और समवायिकारण होने से द्रव्यत्व से द्रव्य का ही सम्बन्ध इष्ट है, अन्य गुण-कर्म, खर-विषाणादि मे समवायिकारणत्व का अभाव होने से द्रव्यत्व का सम्बन्ध नही है।

नैयायिक का ऐसा कहना उचित नही है क्योकि वह स्वत असिद्ध है। यदि द्रव्यत्व से भिन्न द्रव्य स्वत· सिद्ध हो तो उसके साथ समवायिकारण का व्यपदेश योग्य होता है। परन्तु द्रव्यत्व से भिन्न स्वत सिद्ध कोई द्रव्य नही है अत· स्वत असिद्धत्व होने से उनके साथ समवायिकारण का सम्बन्ध भी नही हो सकता। यदि स्वत. असिद्ध द्रव्य मे भी समवायिकारण हो सकता है तो खरविषाण आदि मे मत्सर भाव क्यो है-उनमे भी समवायिकारण होना चाहिये। यदि कहो कि खरविषाण मे सत्व नही है इसलिये समवायिकारण नही है तो द्रव्य के भी सत्ता सम्बन्ध के पूर्व असत्त्व होने से द्रव्यत्व का समवायिकारण नही होगा।

किच-इससे यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार द्रव्यत्व का समवायिकारण द्रव्य ही है, गुण और कर्म नही, उसी प्रकार यह मानना होगा कि द्रव्य का निजस्वरूप ही द्रव्यका आत्मा है अत: द्रव्यत्व द्रव्य को ही प्राप्त होता है, गुणकर्मादि मे द्रव्यत्व नही है। ऐसा विवक्षित है कि द्रव्य के निजस्वरूप से ही द्रव्यत्व का व्यवहार होता है। अत द्रव्यात्मा ही द्रव्यत्व है और यह द्रव्यत्वरूप द्रव्यका निजस्वरूप आभ्यन्तर पदार्थ है, वह अनादि पारिणामिक है, द्रव्य को नही छोड़ने वाला है,

---

१ गुणकर्मणी त। २. द्रव्यत्वम्।

आह–विशेषोपलब्धेर्द्रव्यमेव समवायिकारण द्रव्यत्वस्य। को विशेष ? आश्रयभाव, यस्माद् द्रव्यमितरेषा पदार्थानामाधार उच्यते - न द्रव्यमाश्रय स्वतोऽसिद्धत्वात्। लोके स्वत:सिद्ध आधेयानामाश्रयो भवति यथा घटो जलादीना न तथा द्रव्यत्वात् पृथक् द्रव्य स्वत सिद्धमस्ति यदाधारो द्रव्यत्वस्येति व्यपदिश्येत। किञ्च,

द्रव्याभिधानानुपपत्तिश्च। ४। यस्य वादिना द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यमित्यभिमत तस्य द्रव्यमित्यभिधान नोपपद्यते। कथमिति चेत् ? उच्यते–इहाऽभेदेन वा व्यपदेश स्यात्, भेदेन वा ? यदि अभेदेन व्यपदेश, यथा यष्टिसहचरित पुरुषो यष्टिरित्युच्यते तथा द्रव्यत्वसहचरित द्रव्यत्वमिति व्यपदिश्येत न द्रव्यमिति। अथ मत द्रव्यत्वस्य द्रव्यत्वमित्यभिधानमस्ति द्रव्यमिति च, तेन द्रव्यत्वेन द्रव्यमित्यभिधीयमानेन योगाद् द्रव्यमिति, तददिमसिद्धमसिद्धेन साध्यते। द्रव्यत्वस्य द्रव्यमित्यभिधानं कुत ? स्वतः

द्रव्य से बहिर्भूत सामान्यविशेष नामक कोई अन्य पदार्थ द्रव्य का द्रव्यत्व नही है, द्रव्यत्व द्रव्य का निजोस्वरूप है, ऐसा सिद्ध होता है।

वैशेषिक मत का कथन है कि द्रव्यत्व का समवायिकारण (सम्बन्ध) विशेषकी उपलब्धि होने से द्रव्य ही है अन्य कोई पदार्थ नही। **प्रश्न**—वह विशेष क्या है ? द्रव्यत्व को आधार देना ही द्रव्य की विशेषता है क्योकि द्रव्य को ही इतर पदार्थो (गुणकर्म) का आधार कहा गया है। **उत्तर**—वैशेषिकका यह कथन ठीक नही है क्योकि स्वत. असिद्ध होने से द्रव्य आश्रय नही है। क्योकि लोक मे स्वत सिद्ध पदार्थ लोकके आधेयो का आश्रय होता है-जैसे घट जलादि पदार्थो का अत: द्रव्यत्व से भिन्न कोई द्रव्य नही है, द्रव्य जो स्वत सिद्ध है वह द्रव्यत्व का आधार कहा जाता है। अर्थात् जो द्रव्यत्व से भिन्न स्वत. सिद्ध द्रव्य नही है, वह द्रव्यत्व का आधार कैसे हो सकता है ? ।। ३ ।।

'द्रव्य' यह व्यपदेश भी नही हो सकता। जो वादी द्रव्यत्व के योग से द्रव्य मानता है उसके मत मे 'द्रव्य' यह व्यपदेश ही नही हो सकता। क्योकि यहाँ दो प्रश्न सहज उठते है कि द्रव्य द्रव्यत्व मे अभेद से यह द्रव्य है, यह व्यपदेश होता है कि भेद से ? यदि द्रव्यत्व और द्रव्य मे अभेद से यह द्रव्य है ऐसा कहा जाता है तो जैसे यष्टि के साहचर्य से पुरुष को 'यष्टि' कहा जाता है उसी प्रकार द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य मे 'द्रव्यत्व' का व्यपदेश होगा न कि द्रव्य। जिनका यह कथन है कि द्रव्यत्व के वाचक द्रव्यत्व शब्द के समान 'द्रव्य' शब्द भी है अत उसके सम्बन्ध से उसमे द्रव्यव्यवहार हो जाएगा। परन्तु इस प्रकार कहना उचित नही है क्योकि यह असिद्ध-द्रव्य असिद्ध हेतु से सिद्ध किया जा रहा है कि द्रव्यत्व के द्रव्य अभिधान है। क्योकि द्रव्यत्व की 'द्रव्य' यह सज्ञा स्वतः ही है तो द्रव्य को स्वत मानने मे असन्तोष क्यो है ? उसकी भी 'द्रव्य' यह सज्ञा स्वत मान लेनी चाहिये। यदि यह सज्ञा किसी अन्य पदार्थ के सम्बन्ध से है तो उसमे भी वे ही दाष आते है, उनमे भी द्रव्यत्व

एवेति चेत्, द्रव्ये कोऽपरितोषः ? अर्थान्तरादिति चेत्, तत्रापि स एव दोष.,[1] [2]द्रव्यत्वाभिधानप्रसङ्गश्च । कुतो ह्येतत्—उभयशब्दवाच्यत्वे द्रव्यत्वस्य तद्योगात् द्रव्ये द्रव्यमित्यभिधान भवति न द्रव्यत्वमिति । अथ भेदेन व्यपदेश., यथा यष्टिरस्यास्तीति यष्टिमानिति व्यपदिश्यते, एवं द्रव्यत्वमस्यास्तीति द्रव्यत्ववद्द्रव्यमित्यभिधान प्रसज्येत न द्रव्यमिति । अथ मतमेतत्—यथा शुक्लगुणयोगात् शुक्ल पट इति मत्वर्थीयस्य निवृत्ति, एवमिहापि मत्वर्थीयस्याभाव इति, विषम उपन्यास ।[3] युज्यते तत्र मत्वर्थीयस्याभावः गुणवचनेभ्यो निवृत्तेरन्वाख्यातत्वात् ।[4] अनन्वाख्याने वा 'उभयवचना शुक्लादयः' इति व्याकरणाभ्युपगमात् ।[5] अय तु द्रव्यत्वशब्दो न गुणवचन.[6] तेन अस्मान्मतोर्निवृत्तिर्दुरुपपादा । किञ्च, त्वस्यापि[7] निवृत्तिर्नान्वाख्याता[8] ततो द्रव्यमित्यभिधानं नोपपद्यते ।

त्वोत्पत्त्यभावश्चोभयथा दोषात् । ५ । द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वमिति त्वस्य

अभिधान का प्रसग आता है क्योकि उभयशब्द वाच्यत्व द्रव्यत्व के योग से द्रव्य मे 'द्रव्य' यह अभिधान होता है न कि द्रव्यत्व । अर्थात् द्रव्यत्व के वाचक 'द्रव्यत्व और द्रव्य' ये दो शब्द है तो 'द्रव्य' व्यपदेश के समान द्रव्यत्व व्यपदेश भी होना चाहिये । यदि 'यष्टिमान्' के समान भेदमूलक व्यपदेश मानते है जैसे—यष्टि के सयोग से पुरुष यष्टिमान् कहलाता है वैसे ही द्रव्यत्व के सयोग से द्रव्य मे 'द्रव्यत्वमान्' ऐसा व्यपदेश होगा, 'द्रव्य' ऐसा व्यपदेश नही होगा । यदि वैशेषिक का यह मत (सिद्धान्त) हो कि जैसे – शुक्ल गुण के योग से शुक्लः पट' इस प्रयोग मे 'मतुप्' प्रत्यय का लोप होकर अभेदमूलक प्रयोग होता है-उसी प्रकार यहाँ 'मतुप्अर्थी' प्रत्यय का लोप हो जाने पर 'द्रव्य' यह प्रयोग हो जाएगा । परन्तु वैशेषिक का यह दृष्टात विषम है । क्योकि व्याकरण शास्त्र मे गुणवाची शब्दो से 'मतुप्' प्रत्यय का लोप स्वीकार किया गया है । व्याकरण शास्त्र मे शुक्ल आदि शब्द द्रव्यवाची और गुणवाची दोनो प्रकार के होते है, ऐसा स्वीकार किया है, किन्तु 'द्रव्यत्व' शब्द गुणवाची नही है, अत. इससे 'मतुप्' प्रत्यय की निवृत्ति नही हो सकती तथा व्याकरणशास्त्र मे 'त्व' की निवृत्ति भी स्वीकार नही की है इसलिये द्रव्यत्व के योग से 'द्रव्य' यह व्यपदेश नही हो सकता ।। ४ ।।

दोनो प्रकार से दोष आने से 'त्व' प्रत्यय का भी अभाव है । द्रव्य का भाव 'द्रव्यत्व' इस प्रकार भावावचक शब्द मे भी 'त्व' प्रत्यय की उत्पत्ति नही हो सकती क्योकि उभयथा दोष आता

---

१ अर्थान्तरस्य द्रव्यमित्यभिधान कुत. ? स्वत एवेति चेत् द्रव्ये कोऽपरितोष ? अर्थान्तरात् इति चेत्; तत्रापि स एव दोष । २ यथा द्रव्यत्वस्य द्रव्यमित्यभिधान तथा द्रव्यस्यापि । ३. कुत । ४ 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः ।' –पा वा. ५/२/९४ ५ व्यवहार । ६ किन्तु सामान्यवचन । ७ मत्वर्थस्यापि मु. । ८. अङ्गीकृत्यापि दूषयति द्रव्यत्ववद् द्रव्यमित्यत्र यथाकथञ्चन मतोर्निवृत्तिर्भवतु तथापि द्रव्यत्वेन योगात् द्रव्यमित्यत्र त्वस्यापि निवृत्तिर्नान्वाख्यातेति ।

चोत्पत्तिर्न प्राप्नोति । कुत ? उभयथा दोषात् । इदमिह सम्प्रधार्यम्[१] —असौ भाव द्रव्यस्य आत्मभूतो वा स्यात्, अनात्मभूतो वा ? [२]यद्यात्मभूत, अनादिपारिणामिकद्रव्यस्य आत्मभवने त्वस्य विधानात् नान्यद् द्रव्याद् द्रव्यत्वमिति संसर्गवादहानि । अथ अर्थान्तरभूत , द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वमिति विग्रहो नोपपद्यते, द्रव्यानात्मभूतत्वात् द्रव्यत्वस्य । न हि घटस्य भाव इति पटे वृत्तिरुपपद्यते ।

किञ्च, द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वमिति यथा अन्यो भाव. तथा द्रव्यत्वस्यान्यो भाव स्याद्वा, न वा ? यदि नास्ति, तस्य स्वभावाभावादभाव स्यात् । अथास्ति, तस्मिन्नभिधेये [३]त्वत्तोत्पत्ते द्रव्यत्वत्वमिति प्राप्नोति, तथा सति अनवस्था । अथ मतमेतत्—यथा अवेर्मासमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकमिति, तथा द्रव्यत्वस्य भाव इति विगृह्य द्रव्यशब्दादेव त्वोत्पत्तिर्भवतीति; नैतद्युक्तम्, अर्थान्तर-विषयत्वात् । युज्यते अवेर्मासमविकस्य मासमिति केवलो विग्रहभेदो नार्थभेद इति

है । यहाँ पर यह विचारणीय विषय है कि यह द्रव्य का भाव द्रव्यत्व आत्मभूत है कि अनात्मभूत ? यदि द्रव्य का भाव द्रव्य से अभिन्न आत्मभूत है तो अनादि पारिणामिक द्रव्य के निजी स्वरूप के होने मे 'त्व' प्रत्यय का विधान किया गया है। अपना स्वरूप आप ही कहा जाता है इसलिए द्रव्य से द्रव्यत्व अन्य नही है । अर्थात् भाव, द्रव्य से अभिन्न आत्मभूत अनादि पारिणामिक द्रव्यरूप ही है, द्रव्य से भिन्न नही । इसलिये ससर्गवाद (समवायसम्बन्ध) की हानि है अर्थात् ऐसी दशा मे द्रव्यत्व के समवाय की कल्पना समाप्त हो जाती है । यदि द्रव्य का भाव द्रव्य से भिन्न है, अनात्मभूत है तो द्रव्य का भाव द्रव्यत्व यह विग्रह (समास) उत्पन्न नही हो सकता क्योकि द्रव्यत्वका द्रव्य से अनात्मभूतत्व (अर्थान्तरत्व) है । जैसे—घट का भाव पट मे है, ऐसा समास नही हो सकता ।

किंच, जिस प्रकार द्रव्य का भाव द्रव्यत्व माना जाता है उसी प्रकार द्रव्यत्व का भी कोई अन्य भाव है कि नही ? यदि नही है तो स्वभाव शून्य होने से अभाव हो जाएगा । यदि अन्य भाव द्रव्यत्व का है तो उस अभिधेय मे 'त्वत्' की उत्पत्ति (सयोग) से 'द्रव्यत्व' यह व्यपदेश होगा और ऐसा होने पर अनवस्था दोष आयेगा । अर्थात् द्रव्य से भिन्न द्रव्यत्व के सयोग से द्रव्य मे द्रव्यत्व है तो द्रव्यत्व मे किसके सयोग से द्रव्यत्व है, वह अन्य के सयोग से है, तो वह किसके सयोग से है, इत्यादि अनवस्था दोष आयेगा । **प्रश्न**—जिस प्रकार 'अवेर्मासम्' या 'अविकस्य मासम्' दोनो विग्रहो (समासो) मे 'अवि' शब्द से ही प्रत्यय होता है और 'आविकम्' शब्द बनता है, अवि भेड का मास आविक कहलाता है । उसी प्रकार 'द्रव्यस्य भाव ' और 'द्रव्यत्वस्य भाव ' दोनो विग्रहो मे द्रव्य शब्द से ही प्रत्यय होता है वा द्रव्य शब्द की उत्पत्ति होती है । **उत्तर**—अर्थान्तर का विषय होने से ऐसा कहना ठीक नही है, जैसे—'अवेर्मास' या 'अविकस्य मास आविक' इस शब्द की उत्पत्ति

---

१ विचारणीयम् । २. यद्यात्मभू—ता , अ । ३. त्वत्वोत्पत्ता., अ ।

एकेन विग्रह. अपरस्मादुत्पत्तिरिति । इह तु द्रव्य-द्रव्यत्वशब्दयो पदार्थान्तरविषयत्वात् विग्रहभेदे अर्थभेद इति नासौ न्याय· कल्पयितु शक्य ।

[1]**एकस्यानेकत्र वृत्त्यभावो बहुत्वप्रसङ्गो वा । ६ ।** तद्द्रव्यत्वमेकमित्यभ्युपगम्यते तद्वादिभि· । तत्कथमेक निरवयवम् अनेकत्र पृथिव्यादौ वर्तितुमुत्सहते? अथ वर्तेत; बहुत्वमेवास्य स्यात् अनेकत्र वृत्ते रूपादिवत् । आकाशवदेक सत् अनेकमवगाहत इति चेत्, न, वैषम्यात् । युज्यते महापरिमाण वियदवगाहते सकलमिति गुणानां तु द्रव्यपदार्थविषयत्वात् कथममहद्द्रव्यत्व कृत्स्न वेवेष्टि । एकत्वसख्यागुणवदुपचारतो महत्त्वमस्येति चेत्, तदिदमसिद्धेन साध्यते । [2]सिद्धसा-[3]ध्यव्यवस्थाश्रया हि [4]कथामार्गा । उपचरितस्य मुख्यकार्यसाधनाशक्तेश्च । अपि च द्रव्यत्वेन एकमाकाश प्रदेशभेदेन त्वनन्तमितीष्टत्वात् [5]दृष्टान्ताभाव ।

है वैसे 'द्रव्यस्य भावो वा द्रव्यत्वस्य भावो द्रव्य' यह द्रव्य शब्द नही बनता, क्योकि 'अवेर्मास वा अविकस्य मासं' इसमे केवल विग्रह का भेद है, अर्थभेद नही है, एक से ही दूसरे के विग्रह की उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु द्रव्य और द्रव्यत्व ये दोनो शब्द एकार्थवाची नही है तथा पदार्थान्तर का विषय होने से विग्रह भेद से अर्थभेद का होना अवश्यम्भावी है इसलिये 'आविक' के समान इसकी कल्पना शक्य और उचित नही है ।। ५ ।।

एक की अनेक मे वृत्ति का अभाव या बहुत्व का प्रसग आता है। नैयायिकादि वादियो के द्वारा यदि द्रव्यत्व को एक स्वीकार किया जाता है तो वह एक और निरवयव द्रव्यत्व पृथ्वी आदि अनेक पदार्थो मे कैसे रह सकता है। यदि वह द्रव्यत्व पृथ्वी आदि अनेक पदार्थो मे रहता है तो अनेक मे रहने वाले रूपादि के समान द्रव्यत्व के भी बहुत्व (अनेकपने) का प्रसग आयेगा। आकाश एक ही पदार्थ है परन्तु वह अनेक पदार्थो का अवगाहन करता है उसी प्रकार द्रव्यत्व भी एक पदार्थ है और वह अनेक पदार्थो का अवगाहन कर सकता है, ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि आकाश का दृष्टात विषम है। आकाश महापरिमाण वाला है अत. उसका एक साथ अनेक द्रव्यो को व्याप्त करना बन जाता है, परन्तु द्रव्यत्व गुण है और गुण द्रव्य मे ही होते हैं अर्थात् महापरिमाण गुण द्रव्य मे रहता है, द्रव्यत्व मे नही। अत. अल्पपरिमाण वाला द्रव्यत्व सर्व पदार्थो मे कैसे रह सकता है? एकत्व संख्या गुण के समान इसमे उपचार से महत्त्व स्वीकार करके निर्वाह करना भी उचित नही है अर्थात् जैसे—एकत्व सख्या परमाणु मे भी रहती है और आकाश मे भी रहती है अतः सर्वथा वह महापरिमाण वाली नही है, उपचार से मान ली जाती है-उसी प्रकार द्रव्यत्व को भी उपचार से महान् मानना चाहिये, यह कथन भी उपयुक्त नही है क्योकि यह असिद्ध हेतु से सिद्ध किया जा रहा है किन्तु वाद सिद्धसाध्य व्यवस्था के आश्रय होता है। तथा उपचरित

---

१. तावताऽपरितुष्टः सन् पुनरपि सम्बन्ध निराकर्तुकाम आह । २ धूमवत्त्व । ३ अग्निमत्त्व ।
४. वादः । ५. अस्माकम् ।

नीलद्रव्यवदिति चेत्; न; असिद्धत्वात् । ७ । स्यान्मतम्–यथा [1]नीलीद्रव्यमेकम् अनेकशाटीपटकम्बलसंबन्धि दृष्टं तथैकं द्रव्यत्वमपि अनेकद्रव्यसबन्धीति । तन्न; किं कारणम् ? असिद्धत्वात् । नैतत् सिद्धं शाटीपटकम्बलेषु एकमेव नीलीद्रव्यमिति । यथा शाट्यादिभेद तथा तद्रञ्जकस्य नीलीद्रव्यस्यापि भेदोपपत्ते । एकस्मिन्नपि पटे यन्मध्ये नीलीद्रव्यं न तत्प्रान्तयो, यच्च प्रान्तयो न तन्मध्ये इति भेदोऽभ्युपगन्तव्य किमुत भिन्नेषु द्रव्येषु । नीलत्ववदिति चेत्, न, तदपि साध्यसमम् । अथ मतमेतत्–

दृष्टान्ताभावेऽपि एकत्वमस्य सिद्धमग्निवदिति चेत्; न; प्रतिज्ञाहानेः । ८ । यथा अग्नेरन्यस्मिन्नुष्णे दृष्टान्ते असत्यपि औष्ण्यम् । एवमसत्यपि एकस्मिन् अनेकसबन्धिनि दृष्टान्ते द्रव्यत्वस्य द्रव्येषु वृत्तिः सिद्ध्यतीति, तदपि नोपपद्यते; प्रतिज्ञाहानेः । ननु

पदार्थ मुख्य कार्य करने में असमर्थ होता है । आकाश द्रव्यत्व की अपेक्षा एक होते हुए भी प्रदेशभेद से अनन्त रूप मे स्वीकार किया गया है इसलिये एक द्रव्यत्व की अनेक पदार्थो मे वृत्ति सिद्ध करने के लिए आकाश का दृष्टात विषम होने से उसमे दृष्टातपने का अभाव है ।। ६ ।।

नील द्रव्य के समान कहना भी उचित नही है-क्योकि यह हेतु असिद्ध है । **प्रश्न**—जैसे एक ही नीलद्रव्य शाटिका, वस्त्र, कम्बल आदि अनेक पदार्थों मे रहता हुआ देखा जाता है उसी प्रकार एक ही द्रव्यत्व अनेक पदार्थो मे सम्बन्ध कर लेगा ? **उत्तर**—ऐसा कहना भी असिद्ध होने से युक्त नही है क्योकि शाटिका, वस्त्र, कम्वल आदि मे एक नीलद्रव्य सिद्ध नही है । जैसे—शाटिका आदि मे भेद है, उसी प्रकार शाटिका आदि के रजक (रगने वाले) नीलद्रव्य मे भी भेद है । अनेक वस्त्रो मे रहने वाला नीलद्रव्य तो जुदा-जुदा है ही परन्तु एक ही पट मे जो मध्य में नील द्रव्य है, वह उसके प्रान्तों (छोरो) मे नही और जो प्रान्तो मे है वह मध्य मे नही, ऐसा भेद स्वीकार करना चाहिये । नीलत्ववान् के समान मानना भी उचित नही है क्योकि जैसे—द्रव्यत्व असिद्ध है वैसे नीलत्व ही असिद्ध है इसलिये यह उदाहरण साध्यसम है अर्थात् जैसे द्रव्यत्वधर्म को एक मानना अयुक्त है उसी तरह नीलत्व को भी एक मानना अयुक्त है ।। ७ ।।

दृष्टात के अभाव मे भी अग्नि के समान द्रव्यत्व के एकत्व की सिद्धि होती है, ऐसा मानने पर प्रतिज्ञा को हानि होती है । जैसे अग्नि को उष्णता सिद्ध करने के लिए अन्य दृष्टात नही है, फिर भी स्वभाव से ही अग्नि मे उष्णता सिद्ध होती है, उसी प्रकार अनेक मे सम्बन्ध रखने वाले एक द्रव्यत्व मे दृष्टान्त के नही होने पर भी द्रव्यत्व की द्रव्यो मे वृत्ति स्वयमेव स्वभावत. सिद्ध हो जाएगी; ऐसा कथन भी तर्कसगत नही है क्योंकि दृष्टान्त के अभाव मे भी साध्य सिद्ध होता है । इस प्रतिज्ञा की सिद्धि मे आपने स्वय दृष्टात उपस्थित किया है इसलिये ऐसा कहना प्रतिज्ञा की हानि

---

१. नीलद्र-ना , द., ब , मु. ।

दृष्टान्तो नास्तीति प्रतिज्ञाय दृष्टान्तं ब्रुवतस्ते प्रतिज्ञा हीयते। किञ्च, युक्त्यभावेऽपि यदि द्रव्यत्वमेकमनेकसंबन्धीति मन्यते स्वत एव द्रव्य द्रव्यमिति कस्मान्न प्रतिपद्यते ? समवायादिति चेत्, न; तस्य प्रत्युक्तत्वात्।

गुणसंद्रावो द्रव्यमिति चेत्; न; एकान्ते दोषोपपत्तेः। ९। स्यादेतद्[1]–गुणसद्रावो द्रव्यमित्येतल्लक्षणमनवद्यम्। गुणै. सद्रूयते प्राप्यते गुणान्वा संद्रवति प्राप्नोति' इति द्रव्यमिति, तन्न, किं कारणम् ? एकान्ते दोषोपपत्ते.। कथमिति चेत् ? उच्यते–गुणेभ्यो द्रव्यम् अन्यद्वा स्यात्, अनन्यद्वा ? यद्यनन्यत कर्तृकर्मभेदाभावात् निर्देशो नोपपद्यते। अपि च, एकान्तानन्यत्वे हि गुणा एव वा स्यु, द्रव्यमेव वा। यदि गुणा एव, द्रव्याभावे तदविनाभाविना गुणानामपि निराधारत्वादभाव स्यात्। अथ द्रव्यमेव, एवमपि अलक्षणत्वात् खरविषाणत्वकल्पना द्रव्यस्य स्यात्। [3]अथान्यत्व गृह्येत एवमप्येकान्तेन पृथग्भावे स्वरूपशून्यत्व स्यात्। अभ्युपगम्योच्यते गुणै सद्रूयते द्रव्यमिति

या स्ववचनो का विरोध है अर्थात् दृष्टात नही है कहकर दृष्टात देने वाले के प्रतिज्ञाहानि होती है। किच—यदि मुक्ति के अभाव मे भी एक द्रव्यत्व को अनेक मे सम्बन्ध करने वाला मानते हो तो द्रव्य को ही स्वत द्रव्य क्यो नही मान लेते ? समवाय से सम्बन्ध होता है इसका खण्डन तो पहले किया जा चुका है ॥ ८ ॥

एकान्त पक्ष मे अनेक दोष आने से गुणो के सन्द्राव (गुणो के द्वारा प्राप्त) को द्रव्य कहना भी ठीक नही है। गुण-सन्द्राव द्रव्य है-यह लक्षण निर्दोष है। जो गुणो के द्वारा प्राप्त हो वा जो स्वय गुणों को प्राप्त होता है वह द्रव्य है, यह मत भी ठीक नही है क्योकि सर्वथा एकान्त पक्ष मे अनेक दोष आते हैं। प्रश्न—एकान्त पक्ष मे अनेक दोष कैसे आते है ? उत्तर—जो गुणो के सन्द्राव को द्रव्य मानते है वे गुणो से द्रव्य को सर्वथा भिन्न मानते है कि अभिन्न ? यदि गुणो से द्रव्य को सर्वथा अभिन्न माना जाता है तो द्रव्य और गुण मे कर्त्ता और कर्मरूप से भेद का अभाव होने से गुण कर्म और द्रव्य कर्त्ता रूप भिन्न निर्देश नही हो सकेगा। क्योकि एकान्त से अभेद (गुणो से द्रव्य को अभिन्न) पक्ष स्वीकार करने पर या तो गुण ही रहेगा या फिर द्रव्य ही। यदि गुण ही रहते है, तो द्रव्य के अभाव मे निराश्रय हो जाने से द्रव्य के अविनाभावी गुणो का भी अभाव हो जाएगा। यदि द्रव्य रहता है तो बिना लक्षण या स्वभाव के द्रव्य का अस्तित्व मानना गधे के सीग की कल्पना के समान है। यदि गुणो से द्रव्य को सर्वथा भिन्न (पृथक्) मानते है तो भी दोनो का नि:स्वरूप होने से अभाव ही हो जाएगा। गुणो से द्रव्य को भिन्न मानकर यदि कहा जाता है कि 'गुणो को जो प्राप्त होता है' या 'गुणो के द्वारा प्राप्त किया जाता है'-वह द्रव्य है तो

---

१. 'गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचन गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।'—पात महा. ५।१।११९।
२ –ति द्र–द, मू., ब., ता, श्र.। ३. अथवान्य–श्र।

लक्षण नोपपद्यते; गुणाना निष्क्रियत्वे द्रव्यं प्रत्याभिमुख्येन द्रवणाभावात्। **"दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निष्क्रियाणि। एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः निःक्रियाः।"**[१] इति वचनात्। गुणान् सद्रवति इति च लक्षण नोपपद्यते नि.क्रियद्रव्याणा गुणान् प्रति द्रवणाभावात्।

किञ्च, स्वतोऽसिद्धत्वात्। यथा [२]वाटीपरिक्षेपादिलक्षणान् ग्रामादीन् स्वत-सिद्धान् देवदत्त: सिद्ध प्राप्नोति न तथा गुणा[३] स्वत.सिद्धा सन्ति यान् प्राप्नुयाद् द्रव्यम्।

आह–पाकजदर्शनात् तत्सिद्धि। पार्थिवेषु परमाणुषु अग्निसयोगात् औष्ण्यापेक्षात्[४] श्यामाद्युच्छेदेन रक्ताद्यारम्भे च ननु प्राप्यते गुणैर्द्रव्यम्। उच्यते–ननु युतसिद्धत्वप्रसङ्गात्। यदि द्रव्यमवतिष्ठते रूपादयो विनश्यन्ति प्रादुर्भवन्ति च। ननु [५]युतसिद्धा द्रव्यरूपादय इत्यासक्तम्। अथ अयुतसिद्धा समवायसबन्धात् इति मतम्,

---

यह लक्षण नही बन सकता, क्योकि गुण तो निष्क्रिय होते है अत उनका द्रव्य के प्रति अभिद्रवण (गमन) भी नही हो सकता। क्योकि वैशेषिक सूत्र मे लिखा है कि 'दिशा, काल और आकाश क्रिया वाले द्रव्यो से विलक्षण होने से निष्क्रिय है इसलिये कर्म और गुणो को निष्क्रिय कहा है।' अत: निष्क्रिय द्रव्य गुणो के प्रति गमन नही कर सकते, इसलिये गुणो के द्वारा जो प्राप्त किया जाय, वा जो गुणो को प्राप्त हो यह (सद्रवति) द्रव्य का लक्षण घटित नही हो सकता।

किंच, गुण स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले नही है। जैसे स्वत.सिद्ध देवदत्त 'बाड से घेरा हुआ' आदि लक्षण से स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले ग्रामादि को प्राप्त करता है ग्राम मे जाता है, उस प्रकार वे गुण स्वतन्त्र सत्ता वाले नही है जिससे द्रव्य जाकर उन्हे प्राप्त करे।

शंका—पाक से होने वाले गुण देखे जाते है, उसमे गुणो के द्वारा प्राप्त किया जाय यह सिद्ध हो जाएगा? उत्तर—पार्थिव परमाणु घटादि मे अग्नि के सयोग से औष्ण्य की अपेक्षा से श्याम रूपादि का विनाश होकर लालरूप उत्पन्न होता है अत: यहाँ गुणो के द्वारा द्रव्य प्राप्त किया जाता है ऐसा कहते हो तो इसमे युतसिद्धत्व का प्रसग आता है। (भिन्न-भिन्न पदार्थो के सम्बन्ध को युतसिद्ध कहते है जो पूर्व मे भिन्न-भिन्न थे, समवाय सम्बन्ध से एक हो गये, अब पृथग् नही होगे, उनको अयुत सिद्ध कहते है।) क्योकि यदि द्रव्य ठहरता है और रूपादि नष्ट होते और उत्पन्न होते है तो द्रव्य और रूपादि गुणो मे युतसिद्ध (भेद) का प्रसग आयेगा। यदि इन द्रव्य और गुण मे समवाय सम्बन्ध मानकर इन्हे अयुतसिद्ध (अभेद) स्वीकार किया जाता है तो द्रव्य के समान रूपादि

---

१ वैशे. द ५।२।२१, २२। २. वाटिप-मु.। वादगि–व द। वाड्परि भा. २।वृत्ति। ३ ते। ४. ग्रामघटस्य। ५. कुण्डबदरवत् जैसे कुण्डे मे बदरी है वैसे सम्बन्ध को युतसिद्ध कहते हैं।

ननु द्रव्यवत्त[1]न्नित्यत्वप्रसङ्गः। एवं सति अयुतसिद्धिर्भवति—यदा रूपादयस्तदा द्रव्य यदा द्रव्यं तदा रूपादय इति, नन्वेव सति यथा द्रव्य नित्यं तथा रूपादयोऽपि नित्या यथा रूपादीनामनित्यत्वं तथा द्रव्यस्येति [2]प्राप्त तुल्यवृत्तित्वम्।

किञ्च, विरोधात् पण्डितमूर्खवत्। यदि पण्डितो न मूर्ख अथ मूर्खो न पण्डित तथा यदि समवायसबन्धात् द्रव्यादयुतसिद्धा. रूपादयः[3] न विनश्यन्ति न वोत्पत्स्यन्ते। अथ विनश्यन्त्युत्पद्यन्ते च[4] नाऽयुतसिद्धा.। अथवा, अयुतसिद्धाश्च नाम रूपादय· विनश्यन्ति उत्पद्यन्ते च द्रव्य चावतिष्ठत इति कुतस्त्योऽयं न्याय.। [5]न च गुणैर्द्रूयते गम्यते उपलभ्यते[6] तदिति द्रव्यम्, कस्मात्? अर्थान्तरत्वात्। न हि घटेन पट उपलभ्यते[7] अन्यत्वात्। अथोपलभ्यते [8]द्रव्यगुणलक्षणभेदकल्पनाविरोध·।

आह—भेदे एव [9]उपलभ्योपलम्भकभावो दृष्ट. अग्निधूमादिषु, नाऽभेदे [10]स्वात्मनि

गुण भी नित्य हो जायेगे। क्योकि अयुतसिद्ध तो तभी हो सकता है जब द्रव्य के काल मे रूपादि सदा विद्यमान रहे। जैसे—जब रूप है तब द्रव्य और जब द्रव्य हो तब रूप हो और ऐसा होने पर या तो द्रव्य के नित्य होने से द्रव्य के समान रूपादि गुण नित्य हो जायेगे या रूपादि गुणों के अनित्य होने से रूपादिगुणो के समान द्रव्य अनित्य हो जायेगा।

किंच, नित्य-अनित्य के एक साथ रहने मे पण्डित और मूर्ख के समान विरोध है। जैसे—जो पण्डित है वह मूर्ख नहीं, जो मूर्ख है वह पण्डित नही क्योकि परस्पर दोनो मे विरोध है, वैसे ही समवाय सम्बन्ध के कारण यदि रूपादि अयुतसिद्ध होगे तो वे द्रव्य की तरह, न उत्पन्न होगे और न नष्ट होगे परन्तु गुण उत्पन्न होते है और नष्ट होते है इसलिये द्रव्य और गुण मे अयुतसिद्धत्व नही है। अथवा, अयुतसिद्ध नाम रूपादि गुण यदि नष्ट होते है और उत्पन्न होते है और द्रव्य स्थिर रहता है तो यह न्याय कहाँ का है? अर्थात् अयुतसिद्ध नही हो सकता है, न द्रव्य गुणो के द्वारा प्राप्त किया जाता है, न गुणो के द्वारा उपलब्ध है क्योकि द्रव्य से गुण सर्वथा भिन्न है क्योकि यदि गुण और द्रव्य सर्वथा पृथक्-पृथक् है तो गुणो के द्वारा द्रव्य का नियत प्राप्त होना उसी तरह असम्भव है जिस तरह घटके द्वारा पट का। यदि गुणो के द्वारा द्रव्य प्राप्त किया जाता है तो द्रव्य और गुण के लक्षण की जो आप कल्पना करते हैं, वह विरोधी है।

भेद मे ही अग्नि और धूम की तरह उपलभ्य-उपलम्भक भाव होता है अभेद मे नही, क्योकि स्वात्मा मे वृत्ति का विरोध है, वही अगुली का अग्रभाग अपने आपका स्पर्श नही कर सकता।

---

१. पटादि। २. प्रोक्तं श्र.। ३ तर्हि। ४. तर्हि। ५ ननु गु–द.। न तु गु-व., मु.। ज्ञानार्थपक्षेऽपि दोषमुत्पादयन्नाह। ६ -ज्ञायते। ७. अनन्वयत्वान् मु. द व.। ८ समवायिकारणं द्रव्य, सामान्यवानसम-वायिकारणम्, अस्पन्दात्मा गुण इति। ९ ज्ञाप्यज्ञापक। १० कुत।

वृत्तिविरोधात् । न[1] ह्यङ्गुल्यग्रमात्मानं स्पृशति इति ? उच्यते—युज्यते अग्निधूमादिषु-भिन्नेष्वेव लक्ष्यलक्षणभावः पृथकसिद्धरूपत्वात् । न च द्रव्यगुणाना पृथक् प्रसिद्धरूपता[2] व्यतिरेकेण अनुपलब्धे ।

यच्चोक्तम्—स्वात्मनि वृत्तिविरोध इति, तदप्येकान्तग्रहणात् सूक्तं न भवति । दृश्यते हि स्वात्मन्यपि वृत्तिः यथा प्रदीपः स्वात्मान प्रकाशयति, न [3]तस्य स्वरूपप्रकाशने प्रदीपान्तरमपेक्षते । यद्यपेक्षेत पटादिवदप्रकाशकत्वमेवाऽस्य स्यात् ।

किञ्च; तस्य तत्त्वस्योपदेष्टा स्वात्मान वेत्ति वा, न वा ? यदि न वेत्ति; स्ववचनविरोधः—"**आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषात् आत्मप्रत्यक्षम् ।**"[4] इति वचनात् ।

असर्वज्ञत्वप्रसङ्गश्च । यद्यात्मानमेवासौ न वेत्ति कथम् इतरद्विजानीयात् ततोऽस्य स्वपरविशेषानभिज्ञत्वात् असर्वज्ञत्व प्रसज्यते । अथ वेत्ति; ननु स्वात्मनि

पृथक्-पृथक् प्रसिद्ध रूप अग्नि धूमादि मे ही लक्ष्य-लक्षण भाव बनता है और द्रव्य गुणों मे पृथक्ता सिद्ध नही है क्योकि गुण और द्रव्य मे पृथक्ता उपलब्ध नही है । अर्थात् द्रव्य के बिना गुणो की और गुणो के बिना द्रव्य की प्राप्ति नही है ।

भेद मे ही उपलभक-उपलम्भ्य भाव है अभेद मे नही क्योकि स्वात्मा मे वृत्ति का विरोध है ऐसा भी एकान्त मानना ठीक नही है क्योकि स्वात्मा मे भी वृत्ति देखी जातो है । जंसे—दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है । वह दीपक स्वरूप-प्रकाशन मे अन्य दीपक की अपेक्षा नही करता । स्वात्मनि क्रियाविरोध है ऐसा कहने वाले वादी के मत मे यदि दीपक स्वरूप-प्रकाशन मे अन्य प्रदोप की आवश्यकता रखेगा तो वह कपडा आदि के समान अप्रकाशक हो होगा अर्थात् वस्त्रादि जंसे अपने स्वरूप का प्रकाशन नही कर सकते इसलिये वे दीपक नही, उसो प्रकार दीपक भी दीपक नही रहेगा ।

अथवा, हम पूछते है कि वैशेषिक मत मे तत्त्व का उपदेष्टा अपने स्वरूप को जानता है कि नही ? यदि नही जानता है तो स्ववचन विरोध और स्वशास्त्र विरोध आता है-क्योकि वैशेषिक दर्शन मे बताया है कि 'आत्मा और मन के सयोग विशेष से आत्मा प्रत्यक्ष होता है ।'

तथा तत्त्व उपदेष्टा यदि अपने को नही जानेगा तो असर्वज्ञता का भी प्रसग आयेगा । क्योकि जो अपनी आत्मा को (स्वयको) ही नही जानता है वह इतर पदार्थों को कैसे जान सकता

---

१ यथा, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । न हि तदेव अगुल्यग्र तेनैव अगुल्यग्रेण स्पृश्यते, सैवासिधारा तयैवासिधारया छिद्यते-स्फुटार्थ. अभिध पृ-७८ । २ द्रव्यरू–ता., मु । ३ स्वात्मनि क्रियाविरोध यो वादी वदति तस्य । ४. वैशे ९।१।११ ।

वृत्तिविरोधात् इति प्रतिज्ञात हीयते। तस्मात् स्वात्मनि वृत्त्यविरोधात् द्रव्यात्मका एव पर्याया· द्रव्यं लक्षयन्तीति साधूक्तम्।

यो हि मन्यते—गुणसमुदायमात्र द्रव्य नातोऽन्यत् किञ्चिदिति, तस्यापि गुणसद्रावो द्रव्यमिति एतल्लक्षणं नोपपद्यते। कुत· ? कर्तृकर्मभेदाभावादेव। गुणसमुदायमात्र-द्रव्यवादिनो हि वादिनो न गुणा· पृथक् सन्ति नापि समुदाय ततोऽन्योऽस्ति येषा कुतश्चित् भेदात् कर्तृकर्मभावो[१] भवेत्। ननु चाऽभेदेऽपि कर्तृकर्मभावो दृष्टः यथा आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयति इति, तत्रापि कथञ्चिद् भेदेन भवितव्यम्, भासुरस्य रूपस्य द्रव्यस्य च स्याद् भेददर्शनात्। यदि सर्वथैवाऽभेद स्यात्, सर्व द्रव्य[२] भासुररूप[३] स्याद् भासुरस्य च द्रव्यस्य सर्वदैव ताद्रूप्यं प्रसज्येत। दृश्यते च [४]माषादिभाव.।

न च समुदायकल्पना युज्यते गुणानां[५] पृथक्स्वरूपानुपलब्धेः। दृश्यते माषादीना

है ? और जो स्व-पर को नही जानता वह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ? यदि कहो कि तत्त्व उपदेष्टा (भगवान् वा ईश्वर) स्व-स्वरूप को जानता है तो 'स्वात्मा मे वृत्ति का विरोध है' यह प्रतिज्ञा (मत) खण्डित हो जाती है। अत: स्वात्मा मे वृत्ति का विरोध न होने से द्रव्यात्मक ही पर्याय द्रव्य का ज्ञान कराती है वा द्रव्यात्मक ही पर्याय है, यह कहना ठीक है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

जो द्रव्य को गुण-समुदाय मात्र स्वीकार करते है, गुण से अन्यत् कुछ भी नही, ऐसा मानते हैं उनके यहाँ भी **'गुणसंद्रावो द्रव्य'** यह द्रव्य का लक्षण घटित नही होता, क्योकि इनके मत मे भी कर्त्ता और कर्म के भेद का अभाव है क्योकि गुण समुदायमात्र द्रव्य का लक्षण मानने वाले वादी के न तो गुण पृथक् है और न समुदाय ही, जिससे कुतश्चित् भेद से कर्तृ-कर्म भाव बनाया जा सके। **प्रश्न**—अभेद मे भी कर्त्तृ-कर्म भाव देखा जाता है जैसे—दीपक स्व-स्वरूप को प्रकाशित करता है, उसमे दीपक कर्त्ता भी स्वय है और दीपक का स्वरूप कर्म है इसलिये अभेद मे कर्त्ता कर्म है ? **उत्तर**—दीपक अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है। इसमे भी भासुररूप (प्रकाश) और द्रव्य (दीप) मे कथञ्चित् भेद मानकर ही कर्त्तृ-कर्मभाव प्रयुक्त हुआ है। यदि सर्वथा इनमे अभेद ही माना जाता तो सभी द्रव्य भासुररूप वाले हो जाते और भासुर द्रव्य सदा भासुररूप वाला ही बना रहता, परन्तु उसमे कालापन भी देखा जाता है।

जब गुण पृथक् उपलब्ध नही होते हैं तब समुदाय की कल्पना करना उचित नही है। पृथक्-पृथक् उपलभ्यमान उडद आदिका समुदाय तो दृष्टिगोचर होता है किन्तु गुणो के समुदाय की कल्पना

---

१. कर्माभावो अ.। २ घटपटादि। ३. इद द्रव्य इद द्रव्यमिति द्रव्यसामान्याद्। ४ कलमाषादि मष्यादि मू.। ५. कुत।

पृथगुपलभ्यमानरूपाणा समुदायः । नापि गुणकल्पनोपपद्यते, गुण्यते विशेष्यते यैरर्थास्ते गुणा विशेषणानीत्यर्थ । न च गुणिन विशेष्य किञ्चिदन्तरेण गुणाना गुणत्व भवति ।

किञ्च, समुदायो गुणेभ्योऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा, अवक्तव्यो वा ? अन्यत्वानन्यत्वयो· विहिता दोषाः । यद्यवक्तव्य·, स्ववचनविरोध· प्रसज्यते । यदि समुदायोऽस्ति नावक्तव्य·, अथ अवक्तव्य न समुदायोऽस्ति, सत सज्ञोपपत्तेः, अवक्तव्यस्य च सर्ववाग्गोचरात्यये निरात्मकत्वप्रसङ्गात् इति, शिष्टेतरवचनवत् अन्यत्वोपपत्तेश्च । यदि वक्तव्यलक्षणा गुणा समुदायो न वक्तव्यलक्षण , ननु च लक्षणभेदादन्यत्व सिद्धम् ।

किञ्च, रूपादिपरमाणुसमुदायमात्रत्वे [1]तुट्यादे· [2]धर्मान्तरस्याऽप्रादुर्भावात्, अणूनामितीन्द्रियस्वभावव्यतिक्रमाभावात् दृश्यमिद भ्रान्तिरूप स्यात् । [3]सत्यमेवेदमिति चेत्, प्रत्यक्षानुमानयो [4]तदाभासयोश्च अविशेषप्रसङ्ग· स्यात् ।

भी नही हो सकती है क्योकि जिनके द्वारा पदार्थ जाने जाते है, वे गुण होते है अर्थात् द्रव्य विशेष्य है और गुण विशेषण है और गुणी विशेष्य के बिना गुणो के गुणत्व नही रह सकता ।

किञ्च, गुणो से गुणों का समुदाय भिन्न है कि अभिन्न कि अवक्तव्य है ? यदि समुदाय गुणो से भिन्न वा अभिन्न है तो उसके दोष पूर्व मे कह दिये है । अर्थात् समुदाय गुणो से यदि अभिन्न है, तो या तो समुदाय रहेगा या गुण रहेगे, गुणो का समुदाय ऐसा नही कहा जाएगा । यदि समुदाय से गुण भिन्न है, तो 'यह गुणो का समुदाय है' यह व्यवहार नही हो सकेगा । यदि गुणो का समुदाय 'अवक्तव्य' है तो स्ववचन विरोध आएगा । अर्थात् 'अवक्तव्य' शब्द से 'गुणसमुदायद्रव्य' यह कथन नही हो सकेगा । यदि अवक्तव्य है तो समुदाय नही और समुदाय है तो अवक्तव्य नही हो सकता, क्योकि विद्यमान (सत्स्वरूप) अर्थ की हो सज्ञा होती है, सर्ववचन के अगोचर होने से उन्मत्त पुरुष के वचन के समान अवक्तव्य के निरात्मकता का प्रसग आता है । गुण एव गुणसमुदाय मे भेद की उत्पत्ति होती है । यदि कहो कि गुण वक्तव्य है और समुदाय अवक्तव्य है तो दोनो मे लक्षण भेद होने से अन्यत्व (भिन्नत्व) की सिद्धि होती है ।

अथवा, यदि त्र्यणुक आदि स्कन्धो को रूपादि परमाणु का मात्र समुदाय माना जाता है और उस अवस्था मे गुरुत्व-लघुत्व आदि अन्य किसी धर्मान्तर का वा किसी नवीन पर्याय का प्रादुर्भाव नही होता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमाणु की अतीन्द्रियता समुदाय मे भी वनी रहती है

---

१. गुर्वादे. मु·। गुट्यादे· द । तुटीशब्दोऽत्र कुटीपर्याय तथा चोक्त शाकटायन-लिङ्गानुशासने स्त्रीलिगप्रकरणे कुटीतुटीदीधितिकाकणीरात्रिच्छविनीविवेणिपेश्यश्रीरित्यादि इति । २. दृश्यमानत्व । ३ स एवेदमिति मु. द. ब. । ४. मरुमरीचिकादि-घूमायमानमशकराजि ।

'द्रव्य भव्ये' इत्ययमपि द्रव्यशब्द एकान्तवादिना न सभवति, स्वतोऽसिद्धस्य द्रव्यस्य भव्यार्थासभवात् । ससर्गवादिनस्तावत् गुणकर्मसत्ताद्रव्यत्वादिसामान्यविशेषेभ्यो द्रव्यस्यात्यन्तमन्यत्वे खरविषाणकल्पस्य स्वतोऽसिद्धत्वात् न भवनक्रियाया कर्तृत्वं युज्यते । परत सिद्धिरपि स्वतोऽसिद्धस्य न सभवति खरविषाणवत् । गुणसमुदाय-मात्रत्वेऽपि समुदायस्य सवृत्या[1] कल्पितस्याऽसत्त्वात् गुणाना च प्रत्येक अनुपलभ्यत्वात्[2] तदव्यतिरेकाच्चाऽसत्त्वमिति भवनक्रियाया कर्तृता दुरुपपादा । अनेकान्तवादिनस्तु गुणसद्रावो द्रव्यम्, द्रव्य भव्य इति चोपपद्यते, पर्यायिपर्याययो कथञ्चिद्भेदोपपत्तेरित्युक्तं पुरस्तात् ।

धर्मादिसामानाधिकरण्याद्बहुवचनम् । १३ । प्रकृता धर्मादयो बहव तत्सामानाधिकरण्याद् बहुवचनेन निर्देश क्रियते । धर्मादीन्येव द्रव्याणि नान्यानीति ।

तव स्कन्धो को दृश्य नही होना चाहिये और यदि स्कन्ध की दृश्यता को भ्रान्त माना जाता है तो प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास तथा अनुमान और अनुमानाभास मे कोई भेद नही रहेगा क्योकि इनमे भेद वाह्य पदार्थो की प्राप्ति और अप्राप्ति से ही पडता है ।

एकान्तवादियो के मत मे 'द्रव्य भव्ये' यह लक्षण भी नही वन सकता, क्योकि जब द्रव्य ही असिद्ध है तव उसमे भव्य (होने योग्य) की कल्पना ही नही हो सकती । गुण, कर्म, सत्ता, द्रव्यत्व आदि सामान्य विशेष से द्रव्य अत्यन्त भिन्न होने पर खरविषाण (गधे के सीग) के समान वह स्वय असिद्ध है इसलिये वह भवनक्रिया का कर्त्ता नही हो सकता । जो स्वय असिद्ध है उसमे परत: (समवाय सम्वन्ध के कारण स्वरूप कल्पना) भी गधे के सीग के समान सभव नही है । गुण समुदाय मात्र द्रव्य है इसमे भी मिथ्यारूप से कल्पित समुदाय का असत्व होने से और गुणो का पृथक् स्वरूप उपलब्ध नही होने से द्रव्य से गुण अभिन्न हैं अत. उभयथा असत् पदार्थ मे भवन क्रिया को कर्तृपना नही वन सकता । अनेकान्तवादी (जैनधर्म के सिद्धान्त) के मत मे तो द्रव्य और पर्याय मे कथञ्चित् भेद होने से 'गुणसद्रावो द्रव्य' और 'द्रव्यभवे द्रव्य' ये दोनो लक्षण घटित हो जाते है । पर्याय-पर्यायी मे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा कथञ्चित् भेद है और प्रदेशो की अपेक्षा अभेद है ऐसा पूर्व मे कथन किया है ।। १२ ।।

धर्मादि द्रव्यो मे सामानाधिकरण होने से बहुवचन दिया है । प्रकरण मे **"धर्माधर्माकाश-पुद्गला:"** ये बहुत है इसलिये इनके सामानाधिकरण का ज्ञान कराने के लिये "द्रव्याणि" यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया है कि धर्म, अधर्म आदि ही द्रव्य है—इनको छोडकर दूसरा कोई द्रव्य नही है ।। १३ ।।

---

१ मिथ्यारूपेण । –२. लब्धत्वात् मु, द, ब । अनुपलभ्यत्व परमाणुरूपत्वात् ।

पुल्लिङ्गप्रसङ्ग इति चेत्; न; आविष्टलिङ्गत्वात् । १४ । स्यादेतत्-यदि तत्सामानाधिकरण्याद्बहुवचन क्रियते तत एव पुल्लिङ्गमपि प्राप्नोति इति । ते हि अजीवकाया उक्ताः पुल्लिङ्गा इति, तन्न, किं कारणम् ? आविष्टलिङ्गत्वात् । आविष्टो ह्ययं द्रव्यशब्द[1]वचनादिवत् स्वलिङ्गं न जहाति ।

[2]अनन्तरत्वाच्चतुर्णामिव द्रव्यव्यपदेशप्रसङ्ग [3]अन्यावापार्थमिदमुच्यते–

जीवाश्च ॥ ३ ॥

जीवशब्दो व्याख्यातार्थः ।

जीवत्वादिति चेत्; न; प्रतिषिद्धत्वात् । १ । स्यादेतत्–जीवत्व नाम सामान्यविशेषोऽस्ति तेन योगात् जीवा इति, तन्न, किं कारणम् ? प्रतिषिद्धत्वात् । द्रव्यत्ववदस्य प्रतिषेधो वेदितव्य । किञ्च,

---

पुल्लिंग का प्रसग आयेगा, ऐसा भी नही है क्योकि द्रव्य आविष्ट (नित्य) लिंग वाला है । **प्रश्न**—यदि धर्मादिक के साथ सामानाधिकरण का ज्ञान कराने के लिये 'द्रव्याणि' बहुवचन का प्रयोग किया गया है तो इसमे पुल्लिग (द्रव्याः) होना चाहिये, क्योकि धर्मादि मे "अजीवकाया" पुल्लिग बहुवचन का प्रयोग है ? **उत्तर**—यह प्रश्न ठीक नही है क्योकि 'द्रव्य' वह नित्य नपु सकलिङ्ग है इसलिये वह अपने लिंग को नही छोड़ता (एक दो वचन के समान) । अत. धर्मादिक के साथ "द्रव्याणि" का सामानाधिकरण होने पर भी पुल्लिङ्ग का प्रयोग नही हुआ है ।। १४ ।।

निकट होने से धर्म अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चार के ही द्रव्यत्व का व्यपदेश होने से इनके सिवाय भी द्रव्य है उसे बताने के लिये सूत्र कहते है—

जीव भी द्रव्य है ।। ३ ।।

जीव शब्द का लक्षण पूर्व मे कह दिया गया है ।

जीवत्व के सयोग से 'जीव' है- -ऐसा नही कहना क्योकि इसका पहले खण्डन कर दिया है । **शका**—जीवत्व नाम सामान्य विशेष का है । उस जीवत्व के सयोग से जीव 'जीव' कहलाता है । **उत्तर**—जीवत्व नामक अपर सामान्य के सम्बन्ध से जीव है, जीव स्वत सिद्ध नही है, यह वैशेषिक का मत ठीक नही है क्योकि द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य है, ऐसा मानने मे जो दोष दिये गए है, वे दोष यहाँ लागू हो जाते है ।। १ ।।

---

१ एकवचनद्विवचनादिवत् । २ द्रव्याणीति सूत्रस्य । ३ अन्यत्रारोपार्थम् । अन्योपादानार्थ-मु, ब, ।

अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसङ्गात् । २ । यो जीवत्वसंयोगाज्जीव इति प्रत्ययाभिधाने कल्पयति स प्रष्टव्य:-जीवत्वे केन योगात् प्रत्ययाभिधानवृत्तिरिति ? तत्रापि अन्यत एवेति चेत्; अनवस्थाप्रसङ्ग. । अथाऽनवस्थादोषो माक्लृपत् इति जीवत्वे स्वत एव वृत्तिरभ्युपगम्यते; ननु प्रतिज्ञाहानिस्ते[1] अर्थान्तरसंसर्गात् सर्वत्र वृत्तिरिति, तद्वज्जीवेऽपि स्यात् ।

अथ मतमेतत्-जीवत्वे प्रदीपवत् स्वत एव वृत्तिरिति, जीवे कोऽपरितोष: । आह—पदार्थान्तरत्वादेव जीवजीवत्वयो न जीवत्ववत् जीवे स्वत. प्रत्ययाभिधानसिद्धि., यस्मात् न पदार्थान्तरधर्म. पदार्थान्तरे भवितुमर्हति पदार्थान्तरत्वादेव, अन्यथा पदार्थसकरप्रसङ्ग., स च नास्ति, अतो नानवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोपौ स्त इति । उच्यते—न पदार्थान्तरत्वासिद्धेः । यदि जीवजीवत्वयो' पदार्थान्तरत्वमभविष्यत् अपि तर्हि धर्मसंकराभावोऽसेत्स्यत् । न तु पदार्थान्तरत्वमस्ति इत्युक्त पुरस्तात् 'स्वतोऽसिद्धत्वात्' इति ।

अनवस्था और प्रतिज्ञाहानि दोष आते हैं । जो जीवत्व के सम्बन्ध से जीव है, ऐसी कल्पना करते है—उनसे मैं पूछता हूँ कि जीवत्व मे किसके सम्बन्ध से जीवत्व है, यदि जीवत्व मे अन्य "जीवत्वत्व" के सम्बन्ध से प्रत्यय (जीवत्व) मानते है तो अनवस्था दोष आता है । यदि इस अनवस्था के भय से "जीवत्व" को स्वत सिद्ध मानते है तो "अर्थान्तर के सम्बन्ध से सर्वत्र प्रत्यय होता है" इस प्रतिज्ञा को हानि होती है । अत. जिस प्रकार जीवत्व स्वत सिद्ध है वैसे जीव को भी स्वत सिद्ध मान लेना चाहिये ।

यदि दीपक के समान जीवत्व मे स्वत जीवत्व मानते हो तो 'जीव' मे स्वत प्रत्यय मानने मे अपरितोष (असतोष) क्यो है अर्थात् जीव मे स्वत प्रत्यय मानने मे कोई बाधा नही है । **प्रश्न**—जीव और जीवत्व ये दो भिन्न पदार्थ है अत जीवत्व के समान जीव मे स्वत प्रत्यय के अभिधान की सिद्धि नही है—(जीव स्वत सिद्ध नही है) क्योकि पदार्थान्तर का धर्म पदार्थान्तर मे आरोपित करना उपयुक्त नही है । एक पदार्थ का धर्म पदार्थान्तर मे लगायेगे तो पदार्थो मे सकर दोप का प्रसङ्ग आयेगा । पदार्थो मे सकर (परस्पर मिलना) है नही अत जीवत्व के सम्बन्ध से 'जीव' प्रत्यय मानने मे अनवस्था और प्रतिज्ञाहानि दोष नही आते ? **उत्तर**—जीव और जीवत्व मे पदार्थान्तर (भिन्नत्व) नही है—क्योकि इनमे भिन्नत्व की असिद्धि है । यदि जीव और जीवत्व मे भिन्नत्व होगा तो धर्मसङ्कर (भिन्न पदार्थ का धर्म भिन्न मे) आयेगा । परन्तु "जीव और जीवत्व मे पदार्थान्तर (भिन्नत्व) नही है—स्वत: असिद्ध होने से", ऐसा पूर्व मे वर्णन किया है ।

---

१ तव ।

किञ्च, प्रतिज्ञाहानिस्ते प्रसजति यदि पदार्थान्तरधर्मं पदार्थान्तरे न भवेत्, सत्ताया. सदिति प्रत्ययाभिधानहेतुत्वलक्षणो धर्मं द्रव्यगुणकर्मसु न स्यात्। अथ योगेऽपि सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्व सत्ताया एवेति चेत्, न सन्ति द्रव्यगुणकर्माणि सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वविरहात् खरविषाणवत् इत्यासक्तम्। तत सिद्धमेतत्–जीवनक्रियोपलक्षितद्रव्यविशेषविषयाऽनादिपारिणामिकी जीवसंज्ञेति।

द्रव्यलक्षणयोगाद्द्रव्याणीति चेत्; न; नियमार्थत्वात् ।३। स्यान्मतम् **"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (५।२९)** इति द्रव्यलक्षण वक्ष्यते, तेन योगाद् धर्मादीना द्रव्यत्व सिद्ध नार्थोऽनेन[१] द्रव्यसख्यानेन इति, तन्न, कि कारणम्? नियमार्थत्वात्। नियमार्थोऽयमारम्भ। धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गला जीवाश्च वक्ष्यमाणलक्षणेन कालेन सह षडेव द्रव्याणीति। [२]तेनान्यवादिपरिकल्पिताना दिगादीना निवृत्ति सिद्धा। कथमिति चेत्? उच्यते-पृथिव्यप्तेजोवायुमनासि पुद्गलद्रव्ये अन्तर्भवन्ति रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्।

किच—पदार्थान्तर का धर्म यदि पदार्थान्तर मे नही आरोपित होता है तो तुम्हारी प्रतिज्ञा की हानि होती है क्योकि सत्ताका 'सत्प्रत्ययहेतुत्व लक्षण' धर्म द्रव्य, गुण और कर्म मे नही जायेगा परन्तु तुम्हारे मत से सत्ता के योग से सत्त्व गुण कर्म और द्रव्य मे आते है। यदि सत्ता का सम्बन्ध होने पर भी द्रव्यादि मे सत्प्रत्यय (ज्ञानत्व) हेतुता नही है किन्तु सत्ता मे ही है, तो फिर सत्प्रत्यय से रहित होने से द्रव्य गुण और कर्म का खरविषाण के समान "सत्" ही नही कह सकेंगे। अत यह सिद्ध हुआ कि "जीवत्व" के योग से जोव नही है अपितु जीवनक्रिया से उपलक्षित द्रव्य विशेष मे 'जीव' यह सज्ञा अनादि पारिणामिकी और स्वभावभूत है ॥ २ ॥

द्रव्यलक्षण के योग से द्रव्य है ऐसा नही कहना क्योकि यहाँ नियम के लिये सूत्र बनाया है। यद्यपि आगे 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' इस सूत्रगत द्रव्यलक्षण से ही धर्मादि मे द्रव्यता सिद्ध हो जाती है तथापि यहाँ द्रव्यो की गिनती के नियम के लिये ही "द्रव्याणि" इस सूत्र की रचना की है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव काल के साथ मिलकर छह द्रव्य होते है। इनसे अतिरिक्त द्रव्य नही है। इस नियम के आरभ के लिये "द्रव्याणि" यह सूत्र है। अथवा इस सूत्र से अन्यवादी (वैशेषिक) द्वारा कल्पित दिशा, आकाश, काल, वायु, मन, पृथ्वी आदि द्रव्यो की सख्या है उनकी भी निवृत्ति हो जाती है। शंका—वैशेषिको द्वारा प्ररूपित नो द्रव्यो की निवृत्ति कैसे हो जाती है? उत्तर—वैशेषिक दिशा आकाश काल पृथ्वी आदि नव द्रव्य मानते है। उनका इन्ही द्रव्यो मे अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले होने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन का पुद्गल द्रव्य मे अन्तर्भाव हो जाता है। प्रश्न—वायु और मन मे रूपादि का अभाव है अत· वायु और मनका पुद्गल द्रव्य मे अन्तर्भाव कैसे होगा? उत्तर—वायु और मन रूपादिमान् है। क्योकि

---

१ सूत्रेण। २. वैशेषिकादि—मम्पा.।

वायोर्मनसश्च रूपादियोगाभाव इति चेत्, न, रूपादिमत्त्वात् । वायुस्तावत् रूपादिमान् स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत् । चक्षुरादिकरणग्राह्यत्वाभावात् रूपाद्यभाव इति चेत्, न; परमाण्वादिषु अतिप्रसङ्गात् ।

मनोऽपि द्विविध-द्रव्यमनो भावमनश्चेति । तत्र भावमनो ज्ञान तस्य जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भाव । द्रव्यमनश्च रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यविकार । [1]तद्योगाभावोऽनुपलभ्यत्वात् इति चेत्, परमाण्वादिषु विधर्मस्वपि वृत्ते [2] सशयहेतुत्वम् ।

रूपादिवन्मनो ज्ञानोपयोगकरणत्वात् चक्षुरिन्द्रियवत् । [3]अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोगकरणत्वदर्शनात् व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तस्य पौद्गलिकत्वात् मूर्तिमत्त्वोपपत्ते । परमाण्वादीनामतीन्द्रियत्वेऽपि रूपादिमत्कार्यदर्शनात् रूपादिमत्त्वमनुमीयते न तथा वायूना मनसा च रूपादिमत्कार्यमुपलभ्यते यतोऽवसीयते रूपादिमत्त्वमेषामिति

उनमे रूप अनुमानसिद्ध है—जैसे—वायु रूप वाली है क्योकि उसमे घटादि के समान स्पर्श पाया जाता है। जो स्पर्श वाला होता है वह रूप वाला भी अवश्य होता है। चक्षु आदि के द्वारा वायु नही दीखती है इसलिये वायु मे रूप नही है ऐसा भी नही कह सकते –क्योकि ऐसा मानने पर परमाणु आदि मे भी रूप के अभाव का प्रसग आयेगा—क्योकि परमाणु भी चक्षु के द्वारा नही दीखता है।

द्रव्य मन और भाव मन के भेद से मन दो प्रकार का है। उनमे भाव मन ज्ञान रूप है, वह जीव का गुण होने से आत्मा मे गर्भित हो जाता है। द्रव्य मन रूपादि वाला होने से पौद्गलिक है। इसलिये पुद्गल मे उसका अन्तर्भाव हो जाता है। **शका**—द्रव्य मन मे रूपादि नही है क्योकि दीखते नही है (अनुपलभ्य है)। **उत्तर**—चक्षु से नही दीखने के कारण द्रव्य मन मे रूपरसादि गुणो का अभाव नही माना जा सकता क्योकि परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ रूपादि वाले होकर भी दृष्टिगोचर नही होते है अत चक्षु के द्वारा न दिखने के कारण मन को रूपादि वाला नही मानना सशय हेतु है क्योकि परमाणु आदि विधर्मियो मे भी इसकी वृत्ति है अर्थात् परमाणु चक्षु द्वारा नही दिखने पर भी रूपी है।

मन ज्ञानोपयोग का करण होने से रूपादि वाला है। चक्षु इन्द्रिय की तरह, इस अनुमान से मन मे रूपादि का सद्भाव सिद्ध होता है। अमूर्त्तिक शब्द मे भी ज्ञानोपयोग का करणत्व देखा जाता है इसलिये ज्ञानोपयोग का करणत्व होने से मन को रूपी मानना हेतु व्यभिचारी (अनेकान्तिक) है ऐसा भी कहना उचित नही है क्योकि शब्द के भी पौद्गलिक होने से मूर्त्तिकत्व की सिद्धि है। **प्रश्न**—अतीन्द्रियत्व होने पर भी परमाणु आदि का रूपादिमान् कार्य देखा जाता है अत परमाणु आदि मे रूपादिमत्त्व अनुमान से जाना जाता है परन्तु परमाणु की तरह वायु और मन का

---

१. –पलभ्यमानत्वात् मु., द, ब । २ अनुपलभ्यत्वादिति हेनो. । ३. स्वमनमाश्रित्याह पर ।

चेत्; न; तेषामपि तदुपपत्तेः । [1]सर्वेषा परमाणूनां[2] सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्ति-योग्यताभ्युपगमात् । न च केचित् पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ता परमाणव सन्ति, [3]जातिसंकरेण[4] आरम्भदर्शनात् । दिशोऽप्याकाशे अन्तर्भाव आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशे पङ्क्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपपत्तेः ।

जीवा इति बहुवचनं वैविध्यख्यापनार्थम् । ४ । जीवा इति बहुवचन क्रियते वैविध्यख्यापनार्थम् । विविधा हि जीवाः संसारिणो मुक्ताश्चेति । ससारिणोऽपि गतीन्द्रियादिचतुर्दशमार्गणास्थानविकल्पात् मिथ्यादृष्टयादिचतुर्दशगुणस्थानभेदात् सूक्ष्मबादरादिचतुर्दशजीवस्थानविकल्पाच्च विविधा. । मुक्ताश्च एकद्वित्रि चतु.सख्येया-सख्येयानन्तसमयसिद्धपर्यायभेदाश्रयात् मुक्तिहेतुशरीराकारानुविधायिस्वक्षेत्रपरक्षेत्रावगाह-नादिभेदाच्च विविधा ।

एकयोग इति चेत्; न; जीवानामेव प्रसङ्गात् । ५ । स्यान्मतम्-एक एव योग

रूपादिमान् कार्य नही देखा जाता जिससे इनके रूपादिमत्त्व को सिद्धि हो सके ? उत्तर—मन और वायु के भी रूपादि कार्य की उत्पत्ति है, क्योकि सर्व परमाणुओ को सर्वरूपादिमत्कार्यत्व की प्राप्ति की योग्यता स्वीकार की गई है अत वायु और मन के पुद्गल परमाणुओ मे भी स्कन्ध होने की योग्यता है, अत. वे भी स्कन्ध बनते है । पार्थिव और जलीय आदि रूप से परमाणुओ मे जातिभेद नही है, क्योकि पार्थिव चन्द्रकान्तमणि से जल की और जल से पार्थिव ओला बरफ मोती आदि की जातिसकररूप से उत्पत्ति देखी जाती है । दिशा रूप द्रव्य का भी आकाश मे अन्तर्भाव हो जाता है क्योकि सूर्योदय आदि की अपेक्षा से आकाश प्रदेशो मे ही यह पूर्व है, आदि दिग्व्यवहार होता है ।। ३ ।।

"जीवा." यह बहुवचन विविधता का ख्यापक (सूचक) है । जीवो की अनन्तता और विविधता का सूचन करने के लिये "जीवाश्च" यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया है । ससारी और मुक्त जीव विविध प्रकार के है । ससारी जीव भी गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणा स्थान, मिथ्यादृष्टि आदि चौदहगुणस्थान, सूक्ष्म-बादर आदि जीवस्थान की अपेक्षा विविध प्रकार के है । मुक्त जीव भी एक, दो, तीन, सख्यात, असख्यात और अनत समय सिद्धपर्याय के आश्रय से तथा मुक्ति प्राप्ति के कारणभूत शरीर के आकार को अनुविधायी स्वक्षेत्र-परक्षेत्र, अवगाहन आदि के भेद से अनेक प्रकार के है ।। ४ ।।

एक योग करना भी उपयुक्त नही है—क्योकि एक योग करने पर जीव के ही द्रव्य का प्रसग

---

१ कथ । २ तद्यथा । ३ कालान्तरेण । ४. चन्द्रकान्तपाषाणादप् जायते, सूर्यकान्तादग्नि, काष्ठाच्च जलान्मौक्तिकमित्यादि ।

कर्तव्य द्रव्याणि जीवा इति। एव च सति चशब्दाकरणात् लघ्विति, तन्न, किं कारणम् ? जीवानामेव प्रसङ्गात्। तथा सति जीवा एव द्रव्याणि न धर्मादीनि इत्यनिष्टमासज्यते।

बहुवचनादिति चेत्; न; उक्तत्वात्।६। स्यादेतद्–द्रव्याणीति बहुवचनात् धर्मादीना जीवाना च द्रव्यसज्ञा सिद्ध्यतीति, तन्न, कि कारणम् ? उक्तत्वात्। उक्तमेतत् 'जीवा इति बहुवचन वैविध्यख्यापनार्थम्' इति। तत्सामानाधिकरण्यात् द्रव्याणि इति बहुवचन न्यायप्राप्तम् इति न ततो धर्मादिगति।

अधिकारादिति चेत्; न; उक्तत्वात्।७। स्यादेतत्–"**अजीवकायाः धर्माधर्माकाशपुद्गलाः [५।१]** इत्यजीवाधिकारात् एकयोगेऽपि जीवाजीवयोर्द्रव्यसज्ञा सेत्स्यति इति, तन्न, कि कारणम् ? जीवावबद्धत्वात्। द्रव्यशब्दोऽय जीवावबद्ध इति जीवानामेव द्रव्यसज्ञा प्राप्नोति।

आता है। **प्रश्न**—'द्रव्याणि जीवा' ऐसा इकट्ठा एक सूत्र बनाना चाहिये क्योकि 'द्रव्याणि जीवा' ऐसा सूत्र बना लेने पर सूत्र मे च शब्द का प्रयोग नही होने से, लघु सूत्र होता। **उत्तर**—यद्यपि "द्रव्याणि जीवा." ऐसा इकट्ठा सूत्र बना लेने पर 'च' शब्द नही होने के कारण लघु सूत्र तो होता परन्तु इससे जीवो का ही प्रसग होता और ऐसा होने पर जीव ही द्रव्य कहे जा सकते, धर्मादि नही। अत. अनिष्ट का प्रसग आता ॥ ५ ॥

'द्रव्याणि' इस बहुवचन से धर्मादि का ज्ञान हो जाता है ऐसा भी नही है—क्योकि यह तो पूर्व मे कह दिया है। **प्रश्न**—'द्रव्याणि जीवा" इसमे बहुवचन का प्रयोग होने से धर्म अधर्म आदि की और जीवो की द्रव्य सज्ञा सिद्ध हो ही जाती ? **उत्तर**—ऐसा नही है—(क्योकि) उक्त होने से। अर्थात् जिसका कथन पूर्व मे कर दिया है। हमने पूर्व मे कथन कर दिया है कि "जीवा" यह बहुवचन जीवो की विविधता का सूचक है और 'द्रव्याणि' मे जो बहुवचन है वह तो अनेक प्रकार के जीवो के सामानाधिकरण्य के लिए ही न्यायप्राप्त (सार्थक) है अत 'द्रव्याणि जीवा' यह इकट्ठा सूत्र करने से धर्मादि मे द्रव्यता सिद्ध नही होती ॥ ६ ॥

अधिकार से सिद्धि होती है, ऐसा भी नही क्योकि इसके कारण को पूर्व मे कह दिया है। **प्रश्न**—"**अजीवकायाःधर्माधर्माकाशपुद्गलाः**" इस सूत्र मे अजीव का अधिकार होने से '**द्रव्याणि जीवाः**' ऐसा इकट्ठा सूत्र कर देने पर भी जीव और अजीव की द्रव्य सज्ञा सिद्ध हो जायेगी। **उत्तर**—ऐसा नही है—क्योकि '**द्रव्याणि जीवाः**' इसमे द्रव्यशब्द जीव के साथ ही अवबद्ध है अत. यद्यपि '**अजीवकायाः**' इस सूत्र से अजीवाधिकार चल रहा है, परन्तु जब '**द्रव्याणि जीवा.**' ऐसा एक सूत्र बना दिया जाता तो स्वभावत· जीवो मे ही द्रव्यता फलित होगी, अजीवो मे नही ॥ ७ ॥

सत्यप्यधिकारे यत्नाभावाच्च । ८ । अनुवर्तमाना अपि विधयो न चानुवर्तनादेव भवन्ति । किं तर्हि ? यत्नाद्भवन्तीति । जीवानामेव द्रव्यसंज्ञा स्यात् अजीवाना न स्यात् यत्नाभावात् । तत पृथक्योगग्रहण न्याय्यम् । एव च कृत्वा चशब्दोऽप्यर्थवान् भवति ।

उक्ताना द्रव्याणा विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

नित्यशब्दो ध्रौव्यवचनः । १ । अय नित्यशब्द ध्रौव्यवचनो वेदितव्य । नेध्रु ॅवे त्योऽन्वाख्यात ? । किं पुनरिह नित्यत्वम् ।

तद्भावाव्ययो नित्यत्वम् । २ । येन भावेन उपलक्षित द्रव्य तस्य भावस्याऽव्ययो नित्यत्वमुच्यते । वक्ष्यते **"तद्भावाव्ययं नित्यम्"** [५।३१] इति । धर्मादीनि द्रव्याणि गतिहेतुत्वादिविशेषलक्षणद्रव्यार्थादेशात् अस्तित्वादिसामान्यलक्षणद्रव्यार्थादेशाच्च कदाचिदपि न व्ययन्तीति नित्यानि ।

अधिकार के होने पर भी प्रयत्न का अभाव होने से । अथवा, अधिकार के रहने पर भी जब तक उस प्रकार का प्रयत्न नही किया जाय तब तक 'अजीवो मे' द्रव्यरूपता बन ही नही सकती । अर्थात् अधिकार के अनुवर्तन मात्र से कार्य की सिद्धि नही होती, उसका प्रयत्न भी होना चाहिये और **'द्रव्याणि जीवाः'** यह सूत्र बनाने मे द्रव्यो की सिद्धि के प्रयत्न का अभाव होने से जीवो की द्रव्य संज्ञा होगी, अजीवो की नही अत **'द्रव्याणि जीवाश्च'** ऐसे पृथक्-पृथक् सूत्र का ग्रहण करना न्याय (उचित) ही है और ऐसे दो सूत्र बनाकर उसमे 'च' शब्द का प्रयोग करना अर्थवान् होता है यानी सार्थक होता है ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त द्रव्यो की विशेषता का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते है—

ये द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी है ॥ ४ ॥

नित्य शब्द का अर्थ ध्रौव्य है । यह नित्य शब्द ध्रौव्य वचन जानना चाहिये । **'नेध्रु ॅवे'** "नि" धातु ध्रुव अर्थ मे है इसलिये 'नित्य' शब्द का अर्थ ध्रौव्य ऐसा जानना चाहिये । अथवा अन्य प्रकार से नित्यत्व का अर्थ कहते है ॥ १ ॥

वस्तु के स्वभाव का नाश नही होना ही 'नित्यत्व' है । जिस भाव से पदार्थ उपलक्षित है उसका उसी रूप से रहना द्रव्य है । इस द्रव्य के भाव का व्यय नही होना ही नित्यत्व है । द्रव्य के भाव का नाश नही होना ही नित्यत्व है, धर्मादि द्रव्य जिन-जिन गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहन-हेतुत्व, वर्त्तनाहेतुत्व, आदि विशेष लक्षणो से तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षण से युक्त है उन-

इयत्तानतिवृत्तेरवस्थितानि । ३ । धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते, ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते । अथवा, धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवाना तुल्यासंख्येयप्रदेशत्वम्, अलोकाकाशस्य पुद्गलाना चाऽनन्तप्रदेशत्वमित्येतदियत्त्वम्, तस्यानतिवृत्ते' अवस्थितानीति व्यपदिश्यन्ते ।

गतार्थत्वादवक्तव्यमिति चेत्; न; परिणामानेकत्वात्[१] । ४ । स्यान्मतम्—नित्यवचनेनैव गतार्थत्वात्-अवस्थितानीति न वक्तव्यम्, न हि नित्यत्वमतिक्रम्यावस्थितत्व-मस्तीति, तन्न, कि कारणम् ? परिणामानेकत्वात् । धर्मादीनामनेक [२] परिणामोऽस्ति गतिस्थित्युपग्रहादिपर्यायोत्पादव्ययव्यवस्थितिलक्षण । [३]अत किम् ? अमुष्मिन् परिणामानेकत्वेऽपि न मूर्तिमत्त्वोपयोगपरिणामो भवति धर्माधर्मकालाकाशानाम्, नापि जीवानामचेतनत्वम्, पुद्गलाना च अमूर्तत्वम् [४]अवस्थितवचनात् ।

उन स्वभावो का द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कभी नाश नही होता । इसी तद्भावाव्यय को नित्य कहते है ।। २ ।।

ये द्रव्य इयत्ता (सख्या) का उल्लघन नही करते अत अवस्थित है । ये धर्म अधर्म आदि छहो द्रव्य कभी अपनी छह सख्या का उल्लघन नही करते (छह सख्या को नही छोडते), न तो कभी सात होते है और न कभी पाँच, अत अवस्थित है । अथवा धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव मे तुल्य असख्यात प्रदेश है । अलोकाकाश के अनन्त और पुद्गल मे सख्यात, असख्यात और अनत प्रदेश बताये गए है, उनमे न्यूनाधिकता नही होती, वैसे ही अवस्थित रहते है इसलिये अवस्थित कहे जाते है ।। ३ ।।

गतार्थ होने से अवस्थित को नही कहना चाहिये, ऐसा भी नही कहना परिणमन मे अनेकपना होने से । **प्रश्न**—'नित्य' वचन से ही इस अर्थ का ज्ञान हो जाता है इसलिए अवस्थित शब्द नही कहना चाहिए क्योकि नित्य का अतिक्रम करके अवस्थित नही रहता है ? **उत्तर**—धर्मादि के परिणाम अनेक है—धर्मादि द्रव्यो के गत्युपग्रह, स्थित्युपग्रह, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, मूर्त्तिमत्त्व, अमूर्त्तिमत्त्व आदि अनेक लक्षण वाले अनेक परिणमन होते है, अत. नित्य के बाद भी अवस्थित वचन का कथन किया है । **प्रश्न**—इससे क्या जाना गया ? **उत्तर**—धर्मादि द्रव्य गति उपग्रह आदि रूप से अनेक रूप परिणमन करने पर भी कभी धर्म, अधर्म, आकाश और काल मे मूर्त्तिमत्त्व उपयोगत्व (चेतनत्व) परिणाम नही होते । जीव मे अचेतनत्व और पुद्गल मे अमूर्त्तत्व नही आ सकते इसलिये सर्व द्रव्य नित्य होते हुए भी अपने स्वरूप का त्याग नही करते, इस कथन को सूचित करने के लिए अवस्थित वचन का प्रयोग किया है ।। ४ ।।

---

१. नित्यशब्देन परिणामानेकत्व विवक्षित । २. –कगतिपरिणामो द. मु । ३ अवस्थितवचनमनर्थकमित्युक्ते परिणामानेकत्वादित्युक्तम्, अत प्रश्नात् किमुक्त भवतीत्यत आह । ४ कुतः ।

विरोधादयुक्तमिति चेत्; न; उभयनयसद्भावात् । ५ । स्यादेतत्—परिणामानेकत्व येपामिष्टमवस्थितत्वं चेति एतद्विरुद्धमिति; तन्न; कि कारणम् ? उभयनयसद्भावात् । धर्मादीनां सर्वेषा द्रव्याणा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाऽन्यतरगुणप्रधानभावार्पणाभेदात् स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकमविरुद्धम् ।

अवस्थितविशेषणं वा नित्यग्रहणम् । ६ । अथवा, नित्यग्रहणमिदमवस्थितविशेषण विज्ञायते । यथा गमनागमनाद्यनेकपर्यायसद्भावेऽप्यभीक्ष्णप्रजल्पनसद्भावात् 'नित्यप्रजल्पितो देवदत्त.' इत्युच्यते, तथोभयकारणवशोपनीतोत्पादनिरोधसंभवेऽपि अमूर्तत्वादिस्वभावं कदाचिदपि धर्माधर्मादीनि न जहतीति नित्यावस्थितानीत्युच्यन्ते ।

क्रियावत्त्वनिवृत्त्यर्थमवस्थितवचनमिति चेत्; न; निःक्रियाणीत्याम्नातत्वात् । ७ । स्यादेतत्—परिस्पन्दात्मिकायाः क्रियाया निवृत्त्यर्थमवस्थितवचनमिति, तन्न, कि कारणम् ? निष्क्रियाणीत्याम्नातत्वात् ।

अरूपग्रहणं द्रव्यस्वतत्त्वनिर्ज्ञानार्थम् । ८ । अरूपग्रहण क्रियते द्रव्यस्वतत्त्व-

---

नित्य कहना विरोध युक्त है, ऐसा नही कहना क्योकि उभय नयो का सद्भाव है । **प्रश्न**—जो अवस्थित होकर अनेक रूप से परिणमन करे, यह तो परस्पर विरुद्ध है ? **उत्तर**—इस कथन मे विरोध नही है क्योकि उभय नयो का सद्भाव है । इन धर्मादि सर्व द्रव्यो मे द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की गौण मुख्य विवक्षा से यह अनेक प्रकार का परिणमन बन जाता है जैसे स्थिति, उत्पत्ति और ध्रौव्यत्व एक साथ रहते है, इसमे कोई विरोध नही है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य और अवस्थित है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा परिणमन होता है, इसमे कोई विरोध नही है ।। ५ ।।

अथवा, अवस्थित के विशेषण 'नित्य' को ग्रहण किया है । अथवा, 'नित्य' शब्द अवस्थित का विशेषण है, ऐसा जाना जाता है । जैसे गमनागमन शयनादि अनेक क्रियाओ के करते रहने पर भी सतत प्रजल्प-बकवास करने के कारण देवदत्त मे 'नित्य-प्रजल्पित' (नित्य बकवास करता है यह) व्यवहार कर दिया जाता है, उसी प्रकार बाह्य और अभ्यन्तर कारणो से उत्पाद, व्यय होने पर भी धर्म, अधर्म, आकाश आदि पदार्थ कभी अपने अमूर्त्तत्व स्वभाव को नही छोडते है इसलिये इन्हे नित्य अवस्थित कहते है ।। ६ ।।

क्रियावचन की निवृत्ति के लिये अवस्थित वचन नही है क्योंकि 'निष्क्रियाणि' यह सूत्र आगे कहेंगे । परिस्पन्द रूप क्रिया की निवृत्ति के लिये अवस्थित पद की सार्थकता नही है, क्योकि आगे इस क्रिया की निवृत्ति के लिये 'निष्क्रियाणि' सूत्र कहा जाने वाला है ।। ७ ।।

अरूप पद का ग्रहण द्रव्य के स्वतत्त्व का ज्ञान कराने के लिये है । 'अरूप' पद, रूप और

निर्ज्ञानार्थम् । न विद्यते रूपं येषा तान्यरूपाणि । रूपव्युदासात्तदविनाभाविना रसादीनामपि व्युदासो वेदितव्य. । अरूपाणि अमूर्तानीति यावत् ।

वृत्तौ पञ्चवचनात्[1] **षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेत्; न; अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् । ९ ।** स्यान्मतम्–वृत्तावुक्तम्[2] **"अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पञ्चत्वं व्यभिचरन्ति"** इति, तत. षड्द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति, तन्न, किं कारणम् ? अभिप्रायापरिज्ञानात् । अयमभिप्रायो वृत्तिकारस्य[3] "कालश्च" [५।३८] इति पृथग् द्रव्यलक्षणं कालस्य वक्ष्यते, [4]तदनवेक्ष्य अधिकृतानि पञ्चैव द्रव्याणीति षड्द्रव्योपदेशाविरोधः ।

यथा सर्वेषां द्रव्याणा नित्यावस्थितानि इत्येतत् साधारण लक्षणं तथा अरूपत्वमपि प्राप्तम्, अतस्तदपवादार्थमाह–

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

स्पर्श, रस, गधादि का निषेध करके धर्मादिक का जो 'अमूर्त्तत्व' स्वभाव है, उसकी सूचना करता है । नही है रूप जिसके वह अरूप कहलाता है । रूप के निपेघ से, रूप के अविनाभावी रस, गन्ध, स्पर्शादि का भी निषेध जानना चाहिए । अरूपी का अर्थ अमूर्त्तिक है अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव अमूर्त्तिक है ।। ८ ।।

वृत्ति (सूत्र) मे पच वचन होने से षड् द्रव्य के उपदेश का व्याघात होता है, ऐसा भी नही है क्योकि ऐसा कहने वाले ने सूत्रकार के आशय को नही समझा । प्रश्न—सूत्र मे 'अवस्थित धर्मादि अपनी पचत्व की संख्या को कभी नही छोडते' यह कथन होने से षड् द्रव्य के उपदेश का व्याघात होता है ? उत्तर—षड् द्रव्य का व्याघात होता है, ऐसा कहने वाले ने सूत्रकार के अभिप्राय को नही जाना क्योंकि वृत्तिकार के अभिप्राय से वृत्ति मे 'कालश्च' सूत्र से निर्दिष्ट होने वाले 'काल द्रव्य का लक्षण आगे कहेगे' उसकी अपेक्षा न करके 'पॉच' का निर्देश किया गया है । अत. वृत्ति मे (सूत्र मे) 'पॉच' सख्या होते हुए भी छह द्रव्यो के उपदेश का व्याघात नही होता ।। ९ ।।

जैसे सर्व द्रव्यों का 'नित्यावस्थितानि' यह साधारण लक्षण है उसी प्रकार अरूपत्व भी सर्व द्रव्यो को प्राप्त हो जायेगा । इस अपवाद को दूर करने के लिये सूत्र कहते हैं—

धर्मादि द्रव्यों के अरूपी होने पर भी पुद्गल द्रव्य रूपी हैं ।। ५ ।।

---

१ पचत्वव–मु व. । २ तत्त्वार्थवृत्तिरित्यपरस्मिन् शास्त्रे । तुलना-अवस्थितानि च, न हि कदाचित् पञ्चत्व भूतार्थत्व च व्यभिचरन्ति–त. भा. ५।३ । ३. वृत्तिकरणान्य मु । वृत्तिकारणान्य द. ज. ।
४. तदनपेक्षादिकृतानि मु ।

रूपशब्दस्याऽनेकार्थत्वे मूर्तिपर्यायग्रहणं शास्त्रसामर्थ्यात् । १ । रूपशब्दोऽनेकार्थं क्वचिद् द्रव्ये वर्तते–गोरूपाणि गोद्रव्याणि इत्यर्थः । क्वचित् स्वभावे वर्तते–**"चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्"**[१] स्वभाव इत्यर्थः । क्वचिदभ्यासे वर्तते, दशरूपमध्ययन कार्यम् दशवारानभ्यास. कार्य इत्यर्थ । क्वचिच्छ्रुतौ[२] वर्तते–स्व रूप शब्दस्य स्वा श्रुतिरित्यर्थ । क्वचिन्महाभूतेषु वर्तते–**"रूपं चत्वारि महाभूतानि उपादाय रूपं चेति ।"** इति । क्वचित् गुणविशेषे वर्तते–चक्षुर्ग्रहणयोग्यो[३] योऽर्थस्तद्रूपमिति । क्वचिन्मूर्तिपर्यायवचन – रूपिद्रव्य मूर्तिमद्–द्रव्यमित्यर्थः । तत्रेह मूर्तिपर्यायवचनो रूपशब्दो ग्रहीतव्य । कुत ? शास्त्रसामर्थ्यात् । अर्हत्प्रोक्ते हि गणधरावधारिते श्रौते[४] शास्त्रे अभिहितम्–**"रूपिद्रव्यं [५]मूर्तिद्रव्यम्"** इति । तस्मात् रूपिण पुद्गला. मूर्तिमन्त पुद्गला इत्यर्थ । का पुन. मूर्ति ?

रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्त्तिः । २ । रूपमादिर्येषा त इमे रूपादय. । के

रूप शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी शास्त्र के सामर्थ्य से मूर्त्त पर्याय ग्रहण करना चाहिये । रूप शब्द अनेक अर्थ मे प्रयुक्त है । कही द्रव्य मे रहता है, जैसे गो रूप का अर्थ गो द्रव्य । क्वचित् रूप शब्द स्वभाव अर्थ मे आता है 'चैतन्य पुरुषस्य स्वरूप' इसमे रूप का अर्थ है 'स्वभाव' अर्थात् पुरुष (आत्मा) का स्वभाव चैतन्य है । क्वचित् 'रूप' शब्द अभ्यास मे आता है—जैसे 'दशरूप अध्ययन' यहाँ रूप का अर्थ है–अभ्यास अर्थात् दस बार अभ्यास करना चाहिए । क्वचित् रूप शब्द का अर्थ श्रुति है जैसे–'स्वरूप शब्दस्य' यहाँ रूप का अर्थ श्रुति अर्थात् शब्द की स्व श्रुति । क्वचित् रूप का अर्थ होता है—महा भूत–जैसे 'रूप चत्वारि महाभूतानि उपादाय रूप' । यहाँ रूप का अर्थ चार महाभूत है । क्वचित् रूप शब्द का अर्थ गुण होता है—जैसे चक्षु के द्वारा ग्रहण करने योग्य जो पदार्थ है वह रूप है । वह रूप पुद्गल का गुण है । क्वचित् रूप शब्द का अर्थ मूर्त्ति का पर्यायवाची होता है—रूपी द्रव्य अर्थात् मूर्त्तिमान् द्रव्य । इस प्रकार यद्यपि रूप शब्द के स्वभाव अभ्यास, श्रुति, महाभूत, गुण विशेष और मूर्त्ति आदि अनेक अर्थ है—परन्तु यहाँ शास्त्रानुसार 'मूर्त्ति' अर्थ ग्रहण करना चाहिए । अर्हत कथित और गणधर रचित शास्त्र मे कहा है कि "रूपी द्रव्य अर्थात् मूर्त्तिमान् द्रव्य ।" इसलिये "रूपिण पुद्गला" इसका अर्थ पुद्गल मूर्त्तिक हैं । **प्रश्न**—मूर्त्ति किसको कहते हैं ? ।। १ ।।

उत्तर—रूपादि सस्थान परिणाम को मूर्त्ति कहते है । रूप है आदि मे जिसको उसको रूपादि कहते हैं । **प्रश्न**—आदि शब्द से किसको ग्रहण करना चाहिए ? वा रूपादि क्या है ? **उत्तर**—रूप, रस, गध, स्पर्श और गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बा, चौड़ा आदि आकृतियो को रूपादि

---

१. योग भा १।९ । २. श्रवणगोचरत्वे इत्यर्थः । ३ नीलादि । ४ गणधरावधारितशास्त्रस्य श्रुतिरिति सज्ञा अन्ये स्मृतिरिति । ५. मूर्तिमद्द्रव्य–मु., द ।

पुनस्ते ? रूपरसगन्धस्पर्शा, परिमण्डलत्रिकोणचतुरस्रायतचतुरस्रादिराकृति संस्थानम्, तै रूपादिभि संस्थानैश्च परिणामो मूर्तिरित्याख्यायते ।

गुणविशेषवचनग्रहणं वा । ३ । अथवा रूपमित्यनेन गुणविशेषो गृह्यते चक्षुर्ग्रहणयोग्य ।

रसाद्यग्रहणमिति चेत्; न; तदविनाभावात् तदन्तर्भावसिद्धेः । ४ । स्यादेतत्—गुणविशेषग्रहणे सति रसादीनामग्रहण प्रसक्तमिति; तन्न, कि कारणम् ? तदविनाभावात् तदन्तर्भावसिद्धे. । रूपाविनाभाविनो हि रसादयो रूपग्रहणेन गृह्यन्ते ।

इनोऽनुत्पत्तिरभेदादिति चेत्; न; कथञ्चिद् व्यतिरेकसिद्धेः । ५ । स्यादाकूतम्—सति भेदे इन उत्पत्तिर्दृष्टा यथा दण्डोऽस्यास्तीति दण्डीति । न च तथा रूप द्रव्याद्भिन्नमस्ति तस्यैव रूपादिपर्यायपरिणामात् । तत इन उत्पत्तिर्नोपपद्यते 'रूपमेषामस्ति ते रूपिण' इति, तन्न, कि कारणम् ? कथञ्चिद्व्यतिरेकसिद्धे. । यद्यपि

कहते हैं और उन रूप रसादि और गोल आदि आकृति रूप जिसका परिणमन है, उसे मूर्त्ति कहते है ।। २ ।।

अथवा रूप से गुणविशेष को ग्रहण करना चाहिये । रूप शब्द से आँखो के द्वारा ग्रहण करने योग्य रूप नामक पुद्गल के गुणविशेष को ग्रहण करना चाहिए ।। ३ ।।

रूपके अविनाभावी होने से रूपशब्द मे रसादि का अन्तर्भाव हो जाता है । **प्रश्न**—यदि रूप शब्द का अर्थ आँखो के द्वारा ग्रहण होने योग्य पुद्गल का गुण लेते है-तो रस गध आदि का ग्रहण नही होगा और पुद्गल रसादि से रहित होगा अर्थात् पुद्गल रूपवाला होगा, रसवाला नही होगा ? **उत्तर**—रूपी कहने से रसादि का ग्रहण नही होगा, ऐसा नही है क्योकि रस, गन्ध और स्पर्श का रूप के साथ अविनाभाव[2] सम्बन्ध है । अत रूप के ग्रहण करने से रस, स्पर्श, गध का ग्रहण हो ही जाता है-अर्थात् रूप मे रस, गध और स्पर्श का अन्तर्भाव हो जाता है ।। ४ ।।

रूप का पुद्गल से अभेद होने से 'इन्' प्रत्यय नही होता है, ऐसा नही कहना क्योकि पुद्गल और रूप मे कथञ्चित् भेद है । **प्रश्न**—भेद के होने पर ही 'इन्' प्रत्यय होता है जैसे—दण्ड जिसके है-वह दण्डी है-यहाँ दण्ड और पुरुष भिन्न-भिन्न है अत. दण्ड के योग से दण्डी कहलाता है-परन्तु दण्ड के समानरूप द्रव्य से भिन्न नही है क्योकि पुद्गल द्रव्य ही रूपादि पर्याय से परिणमन करता है 'रूप इसके है-अत यह रूपी है' ऐसा इन प्रत्यय इसमे नही लग सकता ? **उत्तर**—रूपी पुद्गल है । इसमे अभेद 'इन' प्रत्यय नही लग सकता, ऐसा नही है-क्योकि गुण और गुणी मे कथञ्चित् भेद है-

---

१ –षग्रहणवचन वा अ. । २ जिसके होते पर हो, न होने पर न हो उसको अविनाभाव कहते है-रूप के होने पर ही रसादि होते है, नही होने पर नही होते ।

पुद्गलद्रव्यादनन्यद्रूप तत्परिणामात्,[1] द्रव्यार्थादेशाद् व्यतिरेकेणाऽनुपलब्धे.। तथापि पर्यायार्थिकनयविवक्षाविजृम्भिते[2] रूपविनाशे[3] पुद्गलावस्थानात् उत्पाद्यानुत्पाद्यत्वाद्। आदिमदनादिमत्त्वात् [4]अन्वयव्यतिरेकरूपवाग्विज्ञानवृत्तिहेतुत्वादित्येवमादिभि· हेतुभि कथञ्चिद् व्यतिरेक सिद्ध्यतीति तदपेक्ष इन. प्रादुर्भाव· सिद्धः।

तेनैव[5] व्यपदेशाच्च । ६ । अनन्यत्वेऽपि लोके व्यपदेशो दृष्ट. 'आत्मवान् आत्मा, सारवान् वृक्ष' इति । नहि आत्मनोऽन्य आत्मास्ति, नापि वृक्षादन्य सार, तथापि व्यपदेशो दृश्यते । एवमिह अनन्यत्वेऽपि व्यपदेशो वेदितव्य.।

पुद्गला इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थम् । ७ । पुद्गला इति बहुवचन क्रियते। कि प्रयोजनम् ? भेदप्रतिपादनार्थम् । भिन्ना हि पुद्गलाः परमाणुभेदात् स्कन्धभेदाच्च। तद्विकल्पा उपरिष्टाद्वक्ष्यन्ते ।

यद्यपि पुद्गल द्रव्य से भिन्न रूप नही है, पुद्गल का ही परिणमन होने से द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा रूप पुद्गल से भिन्न उपलब्ध नही है, तथापि पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा से रूप का नाश होने पर भी पुद्गल द्रव्य अवस्थित रहता है। क्योकि रूपादि तो उत्पन्न होते है और नष्ट होते है जैसे—आम का हरा रूप नष्ट हो गया और पीत वर्ण की उत्पत्ति हो गई परन्तु पुद्गल द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है, रूपादि गुण आदिमान् है और पुद्गल द्रव्य अनादि है। द्रव्य अन्वयी है। सर्व पर्यायो मे रहता है। रूपादि गुण व्यतिरेकी है (द्रव्य की सब पर्यायो मे नही रहता जैसे—जहाँ हरा रूप है वहाँ पीला नही) रूपादिगुण वचन विज्ञान के हेतु है (वचनगोचर है) पुद्गल वचनगोचर नही है, इत्यादि कारणो से रूप गुण पुद्गल द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है इसलिये इस अपेक्षा से रूप मे 'इन' प्रत्यय की उत्पत्ति सिद्ध होती है ।। ५ ।।

अथवा अभेद मे भी 'इन्' प्रत्यय होता है। अथवा लोक मे अभेद मे भी 'मतुप्' आदि प्रत्ययो के द्वारा भेदपरक निर्देश देखा जाता है-जैसे कि आत्मवान् आत्मा, सारवान् वृक्ष इत्यादि। यहाँ आत्मा से भिन्न कोई आत्मत्व या वृक्ष को छोडकर अन्य सार नही पाया जाता तथापि आत्मवान् यह व्यपदेश देखा जाता है। उसी प्रकार 'रूपिण' इसमे अभेद होने पर भी 'इन्' प्रत्यय होकर 'रूपी' पुद्गल यह शब्द वन जाता है ।। ६ ।।

'पुद्गला' यह बहुवचन भेदो का प्रतिपादन करने के लिये है। सूत्र मे 'पुद्गला' इस वहुवचन के ग्रहण करने का प्रयोजन है पुद्गलो के भेदो का प्रतिपादन। अत. परमाणु और स्कन्ध आदि के भेद से पुद्गल अनेक प्रकार के है। उनकी सूचना देने के लिये 'पुद्गला.' यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया है। पुद्गलो के विकल्पो का वर्णन आगे करेगे ।। ७ ।।

---

१. -णामद्रा-अ.। २ -ते रूप-मु। ३ आमघटस्य श्यामरूपविनाशे पीतरूपम्। ४ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयेन। ५ अभेदेऽपि इन उत्पत्तिर्घटत इत्याह।

अत्राह–किं पुद्गलवद्धर्मादीन्यपि द्रव्याणि प्रत्येकं भिन्नानि इति ? अत्रोच्यते–

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अभिविधावाङ्प्रयोगः । १ । अभिविधिरभिव्याप्तिः, तस्मिन्नर्थे अयमाङ् प्रयुज्यते, तेनाऽऽकाशस्यापि एकद्रव्यत्व[१] संकीर्तित भवति । यदि हि मर्यादाया गृह्यते आकाशस्यान्तर्भावो न स्यात्[२] । [३]सौत्रीमानुपूर्वीमाश्रित्य इदमुक्त तेन धर्माधर्माकाशानि गृह्यन्ते ।

एकशब्दः संख्यावचनः । २ । अन्याऽसहायाद्यनेकार्थसभवेऽप्ययमेकशब्द. संख्यावचनो द्रष्टव्य ।

तत्संबन्धाद् द्रव्यशब्दस्यैकवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः । ३ । स्यान्मतम्–यद्ययमेकशब्द सख्यावचन तेन सामानाधिकरण्याद् द्रव्यशब्दस्याप्येक-

---

क्या पुद्गल के समान धर्म-अधर्म आदि द्रव्य भी प्रत्येक भिन्न-भिन्न है ? ऐसी आशका होने पर आचार्यसूत्र कहते है—

आकाश पर्यन्त अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश ये एक एक-द्रव्य है ॥ ६ ॥

'आङ्' का प्रयोग अभिविधि अर्थ मे है। अभिविधि का अर्थ है अभिव्याप्ति, उस अभिव्याप्ति के अर्थ मे यहाँ 'आङ्' का प्रयोग किया गया है। इससे आकाश के भी एकद्रव्यत्व का कथन हो जाता है। यदि मर्यादा अर्थ मे 'आङ्' होता तो आकाश के पहले-पहले के द्रव्यो का ग्रहण होता, आकाश का नही। 'अजीवकाया·' इस सूत्र की आनुपूर्वी का आश्रय लेकर यह सूत्र कहा गया है इसलिये इससे धर्म, अधर्म और आकाश को ग्रहण करना चाहिये ॥ १ ॥

एक शब्द सख्यावाची है। अन्य असहाय आदि अनेक अर्थो मे एक शब्द के आने पर भी यहाँ सख्यावाची ग्रहण करना चाहिये ॥ २ ॥

सख्यावाची एकवचन के सम्बन्ध से द्रव्य मे भी एकवचन होना चाहिए, ऐसा कहना भी उपयुक्त नही है क्योकि धर्माधर्मादि की अपेक्षा बहुवचन का निर्देश किया है। प्रश्न—यदि एक यहाँ सख्यावाची है तो उसके साथ सामानाधिकरण होने से द्रव्य मे भी एकवचन होना चाहिये ? **उत्तर**—सख्यावाची एक शब्द के साथ सामानाधिकरण के लिये द्रव्य मे एकवचन का निर्देश करना योग्य नही है क्योकि धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनो द्रव्यो के एक-एकपने का निर्देश करना है, अतः सूत्र मे द्रव्य शब्द का बहुवचन के रूपमे निर्देश किया है। एक के भी अनेक अर्थो का ज्ञान

---

१ एकद्रव्यत्व सकीर्त्तन ब , द., मु । २. असहितया निर्देशश्च ऽसन्देहार्थः । ३ अजीवादि ।

वचनमेव प्राप्नोतीति, तन्न. किं कारणम् ? धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः। धर्मादीनि बहूनि द्रव्याणि तदपेक्षया बहुवचनं युज्यते एकस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्तियोगात्।

एकैकमित्यस्तु लघुत्वात्।४। अत्र कश्चिदाह–'आ आकाशादेकैकम्' इत्येव तावदस्तु सूत्रम्, कुत ? लघुत्वात्। कथ द्रव्यगतिः ?

प्रसिद्धत्वाद् द्रव्यगतिः।५। धर्मादीनि षड्द्रव्याणि इति प्रसिद्धमतो[1] द्रव्यगतिर्भवति, तस्मादनर्थक द्रव्यग्रहणमिति।

न वा द्रव्यापेक्षयैकत्वख्यापनार्थत्वात्।६। न वानर्थकम्। किं कारणम् ? द्रव्यापेक्षया एकत्वख्यापनार्थत्वात्। एकैकमित्युक्ते न ज्ञायते किं द्रव्यत क्षेत्रत.[2] भावत इति ? अतोऽसन्देहार्थं द्रव्यग्रहणं क्रियते। तेनाऽयमर्थो गृह्यते–गतिस्थितिपरिणामिविविधजीवपुद्गलद्रव्यानेकपरिणामनिमित्तत्वेन सत्यपि भावतो बहुत्वे, सति च प्रदेशभेदादसख्येयक्षेत्रत्वे धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्य च द्रव्यत एकैकमेव। अवगाह्यनेकद्रव्य-

---

कराने की शक्ति का योग पाया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म, अधर्म और आकाश अखड द्रव्य है, पुद्गल की तरह भिन्न-भिन्न नही ।। ३ ।।

लघुत्व हो जाने से 'एकम्' यह सूत्र बनाना चाहिये। **प्रश्न**—'आ आकाशादेक' ऐसा लघुसूत्र बनाने से भी कार्य चल सकता है। **उत्तर**—द्रव्य का ज्ञान कैसे होगा ? अर्थात् 'आ आकाशादेक' ऐसा सूत्र बनाने पर द्रव्य का ज्ञान कैसे होगा ? ।। ४ ।।

प्रश्न—द्रव्य तो प्रसिद्ध ही है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल ये छह द्रव्य प्रसिद्ध ही है इसलिये द्रव्य का ज्ञान (अन्वय) तो हो ही जाएगा। अत. सूत्र मे द्रव्य पद निरर्थक है ? ।। ५ ।।

उत्तर—द्रव्यपद निरर्थक नही है क्योकि द्रव्य की अपेक्षा एकत्व का ख्यापन करने के लिये द्रव्य पद दिया गया है। केवल 'एकंक' कहने से यह पता नही चलता कि ये किस अपेक्षा से एक कहे जा रहे हैं, द्रव्य की अपेक्षा या क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अत. असदिग्ध रूप से 'द्रव्य की अपेक्षा' का सूचन करने के लिए 'द्रव्य' पद देना सार्थक ही है अत. गति, स्थिति आदि परिणामवाले विविध जीव-पुद्गलो की गति आदि मे निमित्त होने से भाव की अपेक्षा, प्रदेशभेद से क्षेत्र की अपेक्षा तथा कालभेद से काल की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य मे अनेकत्व होने पर भी धर्मादि द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा अखण्ड एक-एक ही द्रव्य है। अवगाह्य अनेक द्रव्यो की अनेक प्रकार की अवगाहना के निमित्त से भाव की अपेक्षा और प्रदेश मे क्षेत्र की अपेक्षा आकाश मे अनन्तता होने पर भी द्रव्य

---

१. -द्धमिति द्र-मु. द व। २. -त कालत भा-मु, व।

विविधावगाहननिमित्तत्वेन अनन्तभावत्वेऽपि प्रदेशभेदात् सति चानन्तक्षेत्रत्वे द्रव्यत. एकमेवाकाशमिति न जीवपुद्गलवदेषा बहुत्वम्, नापि धर्मादिवत् जीवपुद्गलानामेकद्रव्यत्वम्। यदि हि स्यात्, दृष्टस्य[1] क्रियाकारकभेदस्य इष्टस्य[2] च ससारमोक्षक्रियाविस्तरस्य विरोधः स्यात्।

आह कालद्रव्य किम् एकमनेकमिति ? उत्तरत्र तस्य निर्णयो वक्ष्यते। अधिकृतानामेवैकद्रव्याणा[3] विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया । १ । अभ्यन्तर क्रियापरिणामशक्तियुक्त द्रव्यम्, बाह्य च नोदनाभिघाताद्यपेक्ष्योत्पद्यमानः पर्यायविशेष द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतु क्रियेत्यु[4]पदिश्यते। उभयनिमित्त इति विशेषण[5] द्रव्यस्वभावनिवृत्त्यर्थम्। यदि हि द्रव्यस्वभाव स्यात् परिणामिनो

की अपेक्षा आकाश एक ही है। जीव और पुद्गल की तरह धर्म, अधर्म और आकाश अनेक नही हैं और न जीव एव पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश की तरह एक है। यदि जीव और पुद्गल को धर्म, अधर्म और आकाश के समान एक-एक द्रव्य माना जाएगा तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले क्रिया-कारक का और इष्ट अनुमान सिद्ध ससार-मोक्ष की क्रिया के विस्तार का विरोध आयेगा। अर्थात् अखण्ड एकद्रव्य के न तो क्रिया-कारक का भेद होगा अर्थात् सबकी क्रिया एकसी होगी। यह चटाई पर बैठा है, वृक्ष से पत्ते गिर रहे है इत्यादि भेद नही होगा और न ससार और मोक्ष की क्रिया का विस्तार रहेगा ॥ ६ ॥

शका—काल द्रव्य एक है कि अनेक ? उत्तर—इसका निर्णय आगे के सूत्र मे करेंगे।

अधिकृत धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य की विशेष प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते है—

ये धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य निष्क्रिय है ॥७॥

बाह्य और आभ्यन्तर दोनो कारणो से होने वाली देश से देशान्तर की प्राप्ति मे कारणभूत द्रव्य को पर्यायविशेष को क्रिया कहते है। क्रियापरिणामशक्तियुक्तद्रव्य अभ्यन्तर (उपादान) कहलाता है। नोदन[6] अभिघात[7] आदि की अपेक्षा से उत्पद्यमान द्रव्य की पर्याय विशेष को बाह्य कहते है, द्रव्य के देशान्तर-प्राप्ति के हेतु को क्रिया कहते है। उभयनिमित्त विशेषण द्रव्य के स्वभाव की निवृत्ति के लिये है, क्योकि क्रिया द्रव्य का सदा वर्त्तमान स्वभाव नही है, यदि क्रिया द्रव्य

---

१ वृक्षात् पर्णं पतति, कटे आस्ते देवदत्त इत्यादि। २. अनुमानस्य। ३ अखण्ड। ४ –त्यपदि-अ ब. द मु। ५ क्रियायाः। ६. नोदन=चोट मारना। ७ टुकडे करना।

द्रव्यस्याऽनुप[1]रतक्रियत्वप्रसङ्गः। द्रव्यस्य पर्यायविशेष इति विशेषणम् अर्थान्तरभावनिवृत्त्यर्थम्। यदि हि क्रिया द्रव्यादर्थान्तरभूता स्यात्[2] द्रव्यस्य निश्चलनत्वप्रसङ्ग देशान्तरप्राप्तिहेतुरिति विशेषण ज्ञानादिरूपादिनिवृत्त्यर्थम्।

तस्याः प्रादिवृत्त्या अन्यपदार्थगतिः।२। तस्याः क्रियाया. [3]प्रादिवृत्त्या अन्यपदार्थगतिर्भवति–निष्क्रान्तानि क्रियाया निष्क्रियाणीति।

निष्क्रियत्वादुत्पादाभाव इति चेत्; न; अन्यथोपपत्तेः।३। स्यादेतत्–धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषाम् उत्पादो न भवेत्। क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्ट·, उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति सर्वद्रव्याणामुत्पादादित्रितयरूपकल्पनाव्याघात इति; तन्न, किं कारणम्? अन्यथोपपत्तेः। क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽपि एषां

का स्वभाव होगा तो परिणामी द्रव्य के निरन्तर क्रियत्व का प्रसग आयेगा अर्थात् द्रव्य मे प्रतिक्षण क्रिया होगी। पर्याय विशेषण अर्थान्तर की निवृत्ति के लिये है अर्थात् क्रिया द्रव्य से भिन्न नही है अपितु क्रियापरिणामी द्रव्य की पर्याय है, इस बात को सूचित करने के लिये पर्याय विशेषण दिया है। यदि क्रिया द्रव्य से अर्थान्तरभूत (भिन्न) हो तो द्रव्य मे निश्चलत्व का प्रसग आएगा। ज्ञानादि या रूपादि गुणो की व्यावृत्ति के लिए 'देशान्तर' विशेषण दिया है ।। १ ।।

उस क्रिया के[4] प्रादिवृत्ति से अन्य पदार्थ गति है। उस क्रिया का प्र आदि उपसर्गों के साथ समास होने से अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् क्रिया शब्द से 'निर्' उपसर्ग का समास करने पर 'निष्क्रिय' शब्द निष्पन्न होता है 'निष्क्रान्ता क्रिया' निष्क्रान्त क्रिया-अर्थात् ये पदार्थ देशान्तर प्राप्तिरूप क्रिया से रहित हैं ।। २ ।।

निष्क्रियत्व होने से उनमे उत्पाद का अभाव मानना भी उचित नही है अन्यथा उपपत्ति होने से। **प्रश्न**—ये धर्मादि द्रव्य यदि निष्क्रिय है तो उनमे उत्पाद नही होगा क्योकि क्रियापूर्वक ही घटादि मे उत्पाद देखा जाता है। उत्पाद का अभाव होने से व्यय का भी अभाव होगा और उत्पाद-व्यय के अभाव मे सर्वद्रव्यो के उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यत्व लक्षण की कल्पना का व्याघात होगा। **उत्तर**—निष्क्रिय होने से धर्मादि द्रव्यो मे उत्पादादि का अभाव करना उचित नही है क्योकि अन्यथा उपपत्ति है, क्रिया निमित्तक उत्पाद का अभाव होने पर भी इन धर्मादि मे अन्यथा उत्पाद होता है। उत्पाद दो प्रकार का है स्वनिमित्तक और परप्रत्यय निमित्तक। आगम प्रमाण से

---

१. अपर्यवसान। २ द्रव्यनिश्चलनत्व-ता मू.। द्रव्यनिश्चलत्वप्र -मु ब द.। ३ गतादिषु प्रादयः [शाक. २।१।२१] इति। ४. तेन प्रकृतैकद्रव्याणा गतिः। प्र आदि उपसर्ग कहलाते हैं-क्रम् धातु मे नि उपसर्ग लाने से निष्क्रिय बना।

धर्मादीनामन्यथोत्पाद. कल्प्यते । तद्यथा, द्विविध उत्पाद—स्वनिमित्त, परप्रत्ययश्च । स्वनिमित्तस्तावत् अनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थान-पतितया वृद्धया हान्या च वर्तमानाना स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च । परप्रत्ययोऽपि अश्वादेर्गतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्, क्षणे क्षणे तेषा भेदात् [1]तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते ।

निष्क्रियत्वात् गतिस्थित्यवगाहनक्रियाहेतुत्वाभाव इति चेत्; न; बलाधान-मात्रत्वादिन्द्रियवत् । ४ । स्यादेतत्—यद्येतानि निष्क्रियाणि गतिस्थित्यवगाहनक्रिया-हेतुत्वमेषा नोपपद्यते । क्रियावन्ति हि जलादीनि मत्स्यादीना गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानि इति, तन्न, कि कारणम् ? बलाधानमात्रत्वात् इन्द्रियवत् । यथा दिदृक्षोश्चक्षुरिन्द्रिय[2] रूपोपलब्धौ बलाधानमात्रमिष्टं न तु चक्षुषः तत्सामर्थ्यम्[3] इन्द्रि-यान्तरोपयुक्तस्य तदभावात् । यथा वा, आयु सक्षयात् आत्मनि शरीरान्निष्क्रान्ते सदपीन्द्रियम् रूपाद्युपलब्धौ समर्थ न भवति, ततो ज्ञायते आत्मन एवैतत्सामर्थ्यम् इन्द्रियाणा तु बलाधानमात्रत्वमिति,[4] तथा स्वयमेव गतिस्थित्यवगाहनपर्यायपरिणामिना

स्वीकृत अनन्त अगुरुलघु गुणो की अपेक्षा द्रव्यों मे षट् स्थान पतित वृद्धि और हानि से सभी द्रव्यो मे स्वाभाविक उत्पाद, व्यय होते है वह स्वनिमित्तक उत्पाद है । परप्रत्यय भी उत्पाद-व्यय अश्वादि की गति, स्थिति और अवगाहन मे निमित्त होने से होते हैं । उन पदार्थो मे प्रतिक्षण परिणमन होता है अत उनको अपेक्षा उनके हेतुत्व मे भी भिन्नता आती है । अर्थात् गमन, स्थिति, अवगाह शील पदार्थो के गमन, स्थिति और अवगाहन मे हेतु होने से धर्मादि मे भेद होता रहता है, अतः परप्रत्यय की अपेक्षा से भी धर्म-अधर्म आदि मे उत्पाद-व्यय का व्यवहार होता है ।। ३ ।।

निष्क्रिय होने से धर्मादि मे गति, स्थिति और अवगाहन क्रिया के हेतुत्व का अभाव नही है, इन्द्रियो के समान बलाधान मात्र होने से । **प्रश्न**—निष्क्रिय धर्म, अधर्म और आकाश जीवादि पदार्थो की गति, स्थिति और अवगाहन मे निमित्त नही हो सकते क्योकि क्रिया वाले ही जलादि पदार्थ मछली आदि की गति और स्थिति मे निमित्त देखे जाते है । **उत्तर**—निष्क्रिय धर्मादि गति आदि मे कारण नही होते ऐसा नही कहना क्योंकि यह द्रव्य इन्द्रिय के समान बलाधान मात्र है । जंसे—रूप देखने की इच्छा करने वाले आत्मा को रूप की उपलब्धि मे चक्षु इन्द्रिय बलाधायक मात्र इष्ट है अर्थात् बलाधायक (सहकारी) हो जाती है । इन्द्रियान्तर मे उपयुक्त आत्मा को वह स्वयं प्रेरणा नही करती । जैसे आयु के क्षय हो जाने पर आत्मा के शरीर से निकल जाने पर शरीर मे विद्यमान भी इन्द्रियाँ रूपादि की उपलब्धि मे समर्थ नही होतीं अर्थात् रूपादि का दर्शन नही कराती । अतः ज्ञात होता है कि आत्मा में ही रूपादि को जानने की शक्ति है, इन्द्रियाँ तो मात्र

---

१ गतिस्थित्यवगाहनहेतुभूतपर्यायोऽपि । २. द्रव्येन्द्रियम् । ३ श्रोत्राद्यन्यतम । ४ –मात्रमिति ता ।

जीवपुद्गलानां धर्माधर्माकाशद्रव्याणि गत्यादिनिर्वृत्तौ बलाधानमात्रत्वेन विवक्षितानि न तु स्वयं क्रियापरिणामीनि । कुतः पुनरेतदेवमिति चेत् ? उच्यते—

द्रव्यसामर्थ्यात् । ५ । यथा आकाशमगच्छत् सर्वद्रव्यैः संबद्धम्, न चास्य सामर्थ्यमन्यस्यास्ति । तथा च निष्क्रियत्वेऽप्येषा गत्यादिक्रियानिर्वृत्तिं प्रति बलाधानमात्रत्वमसाधारणमवसेयम् ।

चशब्दोऽभिहितसंबन्धार्थः । ६ । चशब्द क्रियते अभिहितानामेकद्रव्याणा संबन्धार्थः । अतो धर्माऽधर्माकाशाना निष्क्रियत्वनियमाज्जीवपुद्गलाना स्वत परतश्च क्रियापरिणामित्वं सिद्धम् ।[1] अत्र[2] कश्चिदाह—आत्मा सर्वगतत्वान्निष्क्रिय, क्रियाहेतुगुणसमवायात्[3] [4]परत्र क्रियाहेतुरिति, तत्प्रतिविधानार्थमाह—

द्रव्यस्य क्रियापरिणामिनोऽर्थान्तरे तत्परिणामसामर्थ्यं वायुवत् । ७ । यथा वायु

बलाधायक होती है, उसी प्रकार स्वय गति, स्थिति और अवगाहन रूप से परिणमन करने वाले जीव और पुद्गलो के गति, स्थिति आदि मे धर्म, अधर्म आदि द्रव्य बलाधानमात्रत्व (सहकारीपने) से विवक्षित है वा निमित्त मात्र है, वे स्वय क्रिया नही करते । **प्रश्न**—वे स्वय क्रिया क्यो नही करते ? ॥ ४ ॥

उत्तर—द्रव्य की सामर्थ्य है । जैसे-आकाश अपने द्रव्य-सामर्थ्य से गमन नही करने पर भी सभी द्रव्यो से सम्बद्ध और सर्वगत कहलाता है, ऐसा सामर्थ्य अन्य द्रव्य मे नही है । धर्मादि द्रव्यो को निष्क्रिय होने पर भी जीव पुद्गलादि की गति, स्थिति आदि के प्रति असाधारण बलाधानमात्र (निमित्तमात्र) जानना चाहिये ॥ ५ ॥

'च' शब्द अभिहित सम्बन्ध के लिए है । 'च' शब्द अभिहित धर्मादि द्रव्यो के सम्बन्ध के लिए है । अर्थात् 'च' शब्द से धर्म, अधर्म और आकाश निष्क्रिय है, ऐसा जानना चाहिए । धर्म अधर्मादि मे निष्क्रियत्व का नियम होने से ही जीव और पुद्गलो के स्व-परप्रत्यय सक्रियता सिद्ध हो जाती है । यहाँ कोई (वैशेषिक) प्रश्न करता है कि आत्मा स्वय तो सर्वगत होने से निष्क्रिय है, केवल क्रिया हेतु गुण (अदृष्ट) के समवाय से पर-पदार्थो की क्रिया मे हेतु होता है अतः आत्मा को सक्रिय कहना उचित नही है ? इसका उत्तर देने के लिये कहते है—॥ ६ ॥

क्रियापरिणामी द्रव्य के अर्थान्तर मे वायु के समान उसके परिणाम का सामर्थ्य है । जैसे स्वय क्रियाशील होने से ही वायु, वृक्ष आदि की कम्पन आदि क्रिया मे निमित्त होती है अर्थात् कम्पन

---

१ कालस्यापि सक्रियत्वमिति चेत्, न, अनधिकारात् । अत एव चासावेतै सह नाधिक्रियते । २ वैशेषिक—म ।
३ प्रयत्नः संयोगश्चेति । ४. हस्तादौ ।

स्वय क्रियापरिणतत्वात् वनस्पतौ क्रियानिमित्त तथा आत्मन. क्रियापर्यायस्वभावस्य वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे सति विहायोगतिनामोदयापादितशक्तिविशेषे च सति व्रज्यामनुतिष्ठतो हस्तादिषु क्रियोत्पत्तिर्युक्ता, न तु निष्क्रियस्यात्मन. परत्र क्रियाहेतुत्व युक्तम् । [1]तत्र यदुक्तम्–"**आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म**"[2] इत्येतदपाकीर्णम् । कथमिति चेत् ? उच्यते–

अतत्परिणामस्य तदभावो व्योमवत् । ८ । यथा व्योम्नो निष्क्रियस्य घटादिषु सत्यपि संयोगे न क्रियाहेतुत्वम्, तथा आत्मनो निष्क्रियस्य सत्यपि संयोगे हस्तादिषु न क्रियाहेतुत्व युक्तम् । किञ्च,

उभयोः निष्क्रियत्वात् । ९ । यथोभयोर्जात्यन्धयो सम्बन्धे न दर्शनशक्तिप्रादुर्भावोऽस्ति तथा आत्मसयोगप्रयत्नयो निष्क्रियत्वात् क्रियाहेतुत्वमयुक्तम् । कथ निःक्रियत्वमिति चेत् ? उच्यते–"**दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निःक्रियाणि । एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः**",[3] निष्क्रिया इति वचनात् सयोगप्रयत्नयो गुणत्वात् निष्क्रियत्वम् ।

आदि क्रिया करती है, उसी प्रकार स्वय क्रियापर्यायशील आत्मा के वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय और क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय एव विहायोगति नाम कर्म के उदय विशेष से प्राप्त शक्ति के मिलने पर गति मे तत्पर होते ही हाथ-पैर आदि मे क्रिया होती है। निष्क्रिय आत्मा दूसरे पदार्थो मे क्रिया नही करा सकता। अत. वैशेषिक का यह सिद्धान्त खण्डित होता है (वहाँ जो कहा है) कि आत्मसयोग और प्रयत्न से हाथ में क्रिया होती है। **प्रश्न**—'आत्मसयोग और प्रयत्न से हाथ मे क्रिया होती है' यह वैशेषिक का सिद्धान्त कैसे खण्डित होता है ? ॥ ७ ॥

उत्तर—आकाश के समान अतत्परिणामी के क्रिया का अभाव है। जैसे निष्क्रिय आकाश का घटादिक मे संयोग होने पर भी क्रिया नही हो सकती, जैसे निष्क्रिय आत्मा का सयोग होने पर हस्तादि मे क्रियाहेतुत्व युक्त नही है ॥ ८ ॥

दोनो ही निष्क्रिय होने से। जैसे—दो जन्मान्धो का सयोग होने पर भी दर्शनशक्ति (देखने की शक्ति) का प्रादुर्भाव नही होता वैसे ही आत्मा के सयोग और प्रयत्न के होने पर भी निष्क्रिय होने से वे क्रिया के हेतु (कारण) नही हो सकते। आत्मा को निष्क्रियपना क्यो है ? वैशेषिक सूत्र मे बताया है कि दिशा, काल और आकाश क्रिया वाले द्रव्य है, इन द्रव्यो से विलक्षण होने से

---

१ तथा सति। २. वैशे ५।१।१। ३. वैशे ५।२।२१, २२।

[1]अग्निसंयोगवदिति चेत्; न; अस्मदिष्टसिद्धेः । १० । स्यान्मतम्—यथा अग्निसयोग. औष्ण्यापेक्ष. परत्र घटादौ पाकजान् रूपादीनारभते नात्माधारेऽग्नौ तथा आत्मसंयोगप्रयत्नयोरदृष्टापेक्षयोः हस्तादौ क्रियाहेतुत्व युक्त नात्मनीति, तन्न, कि कारणम् ? अस्मदिष्टसिद्धे· । यथा अग्निसयोगो रूपादिमद्द्रव्यगुण· परत्र घटादौ रूपादिमति रूपाद्यन्तरोत्पत्तिहेतुर्भवति, तथा आत्मसयोगप्रयत्नावपि परत्र हस्तादौ क्रियामारभमाणौ क्रियावद्द्रव्यगुणाविति क्रियावत्त्वमात्मनोऽस्मदिष्ट सिद्धम् ।

तत्सामर्थ्याभावाच्च । ११ । य उक्तोऽग्निसयोगो दृष्टान्त. न तस्य तत्सामर्थ्यमस्ति । कुत ? अनुष्णाशीतस्याऽप्रेरकस्यानुपघातिनोऽप्राप्तस्य संयोगस्य रूपाद्युच्छेदोत्पत्त्योर्हेतुत्वासभवात् । तस्मादसौ असिद्धो दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकार्थसिद्धये नालम् ।

आत्मा निष्क्रिय है, उसी प्रकार कर्म और गुण पदार्थ भी निष्क्रिय है। सयोग और प्रयत्न दोनो गुण है अतः निष्क्रिय है ।। ९ ।।

यह तर्क भी ठीक नही है कि जैसे अग्नि का सयोग होने पर उसकी उष्णता घटादि परपदार्थो मे पाक से जायमान रूप आदि को उत्पन्न करती है वैसे ही यहाँ समझना क्योकि इससे तो हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है। **प्रश्न**—जैसे अग्नि का सयोग उष्णता की अपेक्षा करके परत्र घटादि पदार्थो मे पाकज रूपादि को उत्पन्न करता है स्वय अपने आधाररूप अग्नि मे नही, उसी प्रकार अदृष्ट की अपेक्षा लेकर आत्मसयोग और प्रयत्न हस्तादि मे क्रिया उत्पन्न कर देगे, अपने आप मे नही ? **उत्तर**—यह तर्क उचित नही है क्योकि इससे तो हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है, जैसे—रूपादिमान् द्रव्य का गुण अग्निसयोग परत्र रूपादिमान् घटादि मे अन्यरूप की प्राप्ति मे कारण होता है, उसी प्रकार आत्मसयोग और प्रयत्न के होने पर क्रिया करने वाले परत्र हस्तादि क्रियावाले द्रव्य एव गुणो मे क्रियावत्त्व का कारण निमित्त है इसलिये आत्मा के क्रियावत्त्व होने से जैनमत की सिद्धि होती है ।। १० ।।

अग्निसयोगदृष्टान्त मे सामर्थ्य का अभाव है। अर्थात् अग्निसयोग का दृष्टात भी ठीक नही है-क्योकि अनुष्ण, अशीत, अप्रेरक, अनुपघाती और अप्राप्त सयोग के रूपादि की उत्पत्ति या उच्छेद मे कारणत्व की असभवता हे। अर्थात् अनुष्ण, अशीत, अप्रेरक, अनुपघाती और अप्राप्त सयोग के रूपादि की उत्पत्ति और उच्छेद मे कारणत्व नही हो सकता। अर्थात् अनुष्ण, अप्रेरक आदि गुणवाली अग्नि के सयोग से घटादि मे रूपादि गुण उत्पन्न नही हो सकते। अत यह अग्निसयोग का दृष्टांत असिद्ध है क्योकि यह दार्ष्टान्तिक अर्थ को सिद्ध करने मे समर्थ नही है ।। ११ ।।

---

१ निष्क्रियस्यापि गुणस्य क्रियावत्त्वमग्नीति दृष्टान्तेन द्रढयति पर ।

गुरुत्ववदिति चेत्; न; तुल्यत्वात् ।१२। स्यादेतत्–यथा निष्क्रिय गुरुत्व लोष्टे वर्तमानं तृणादौ क्रियाया हेतु तथा आत्मसयोगप्रयत्नौ निष्क्रियावपि सन्तौ हस्तादौ क्रियाहेतू इति; तन्न, कि कारणम् ? तुल्यत्वात् । अग्निसयोगेन तुल्यमेतत् । यथा क्रियापरिणामिनो लोष्टस्य गुणो गुरुत्व परत्र क्रियाहेतु तथा आत्मसंयोगप्रयत्नावपि क्रियापरिणामिद्रव्यगुणाविति क्रियावत्त्वमात्मन सिद्धम् । किञ्च, निष्क्रियस्य गुरुत्वस्याऽस्पर्शकस्याऽप्रेरकस्यानुपघातिनोऽन्यत्र क्रियाहेतुत्व नोपपद्यते इति दृष्टान्तोऽसिद्ध । द्रव्यमेव [1]तथापरिणत क्रियाहेतुरिति ।

धर्मास्तिकायवदिति चेत्; न; वैषम्यात् ।१३। स्यान्मतम्–यथा धर्मास्तिकायो निष्क्रिय जीवपुद्गलाना गतिहेतु तथा आत्मसयोगादि निष्क्रियोऽपि परत्र क्रियाहेतुरिति, तन्न, कि कारणम् ? वैषम्यात् । युज्यते धर्मास्तिकायस्य जीवपुद्गलगतिं प्रत्यप्रेरकत्वम्,[2] निष्क्रियस्यापि बलाधानमात्रत्वदर्शनात्, आत्मगुणस्तु अपरत्र क्रियारम्भे प्रेरको हेतुरिष्यते तद्वादिभि । न च[3] निष्क्रियो द्रव्यगुण प्रेरको भवितुमर्हति इति वैषम्यम्[4] । किञ्च, धर्मास्तिकायाख्य द्रव्यमाश्रयकारण[5] भवतु, न तु निष्क्रियात्म-

---

गुरुत्व होने से क्रियाहेतु होगा, यह भी कहना उचित नही है तुल्यहेतु होने से । प्रश्न— जैसे–लोष्ट (पत्थर) मे रहने वाला गुरुत्व तृण आदि मे क्रिया का हेतु (निमित्तकारण) होता है, उसी प्रकार निष्क्रिय होते हुए भी आत्मसयोग और प्रयत्न हाथ, पैर आदि की क्रिया मे हेतु होते है । उत्तर—यह तर्क ठीक नही है जैसे—अग्निसयोग का दृष्टात असिद्ध था, वैसे यह दृष्टात भी असिद्ध है क्योकि जैसे गुरुत्व भी क्रियापरिणामी द्रव्य का गुण होकर ही अन्य द्रव्य मे क्रिया का निमित्त हो सकता है, वैसे ही क्रियापरिणामी द्रव्य का गुण, आत्मसयोग और प्रयत्न परद्रव्य की क्रिया मे निमित्त होते है । अत: आत्मा का क्रियात्व सिद्ध है । अथवा, निष्क्रिय, अस्पर्शक, अप्रेरक और अनुपघाती गुरुत्व के परपदार्थो मे क्रियाहेतुत्व नही हो सकता क्योकि तथापरिणत-क्रियापरिणत द्रव्य ही क्रिया का हेतु बन सकता है, अत गुरुत्व का दृष्टात भी असिद्ध है ।। १२ ।।

धर्मास्तिकाय के समान कहना भी विषम दृष्टात है। प्रश्न—जैसे निष्क्रिय भी धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलो की गति मे निमित्त कारण होता है, उसी प्रकार निष्क्रिय भी आत्मसयोग और प्रयत्न पर-पदार्थ (हाथ-पैर) आदि मे क्रिया का निमित्त हो जाएगा । उत्तर—ऐसा कहना उचित नही है क्योकि धर्मास्तिकाय, जीव और पुद्गल की गति मे अप्रेरक कारण है अत: वह निष्क्रिय होकर भी बलाधायकमात्र हो सकता है परन्तु आत्मनिष्क्रियवादियो ने तो आत्मगुण को पर की क्रिया मे प्रेरक निमित्त माना है अत: धर्मास्तिकाय का दृष्टात विषम है ।

---

१. गुरुत्वेन । २ प्रत्यप्रेरकस्य नि-ता, श्र, मू । ३ निष्क्रियद्रव्य-मु, द. ब. । ४ –षम्य च किं च ता । ५. बलाधान ।

द्रव्यगुणस्य ततो[1] व्यतिरेकेणाऽनुपलभ्यमानस्य क्रियाया आश्रयकारणत्व युक्तम्। अर्थान्तरभावे चासत्त्वमिति वैषम्यम् । किञ्च,

शरीरे क्रियाभावो जीवस्य निष्क्रियत्वात् आकाशप्रदेशवत् ।१४। यथा आकाशप्रदेशो निष्क्रियः [2]शरीरे क्रियारम्भहेतुर्न भवति तथा आत्मा तद् गुणश्च निष्क्रियत्वात् क्रियाहेतुर्न भवेत् । किञ्च, एकान्तेनाऽमूर्तस्य निष्क्रियस्य शरीरेण सह सम्बन्धाभावात् परस्परोपकारो नोपपद्यते आकाशवदेव ।

शरीरवियोगे निष्क्रियत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; अभ्युपगमात् ।१५। स्यान्मतम्–यस्य कार्मणशरीरसम्बन्धे सति तत्प्रणालिकापादिता क्रिया आत्मनोऽभिप्रेता तस्याष्टविधकर्मसक्षये शरीरवियोगात् [3]अशरीरस्यात्मनो निष्क्रियत्व प्रसक्तमिति, तन्न, कि कारणम् ? अभ्युपगमात्, कारणाभावात् कार्याभाव इति । कर्मनोकर्मनिमित्ता या

क्योकि कोई भी निष्क्रिय द्रव्य या उसका गुण प्रेरक निमित्त नही हो सकता । अथवा, धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य तो परपदार्थो, जीव और पुद्गल की गति मे बलाधायक हो सकता है परन्तु निष्क्रिय आत्मा का गुण, जो द्रव्य से पृथक् उपलब्ध नही है वह क्रिया का बलाधायक नही हो सकता । यदि आत्मद्रव्य से आत्मगुण को पृथक् मानते है तो आत्मा और गुण दोनो का ही अभाव हो जाएगा ।। १३ ।।

आकाश प्रदेश के समान, जीव के निष्क्रिय होने से शरीर मे क्रिया का अभाव होगा । जिस प्रकार निष्क्रिय आकाश प्रदेश शरीर की क्रिया का निमित्त नही होते उसी प्रकार निष्क्रिय होने से आत्मा और आत्मा के गुण क्रिया के हेतु नही हो सकते । अथवा, एकान्त से अमूर्त और निष्क्रिय आत्मा के शरीर के साथ सम्बन्ध की असभवता होने से आकाश के समान परस्पर उपकार भी नही बन सकेगा ।। १४ ।।

शरीर के वियोग मे निष्क्रियत्व का प्रसग आयेगा, यह तर्क भी उपयुक्त नही है, क्योकि ऐसा तो जैनधर्म मे स्वीकार किया है । **प्रश्न**—जिसके कार्माण शरीर का सम्बन्ध होने पर उस कार्माण शरीर के द्वारा आपादित क्रिया आत्मा की कही जाती है, उसके ज्ञानावरण आदि अष्ट प्रकार के कर्मो का क्षय हो जाने पर शरीर का वियोग हो जाने से अशरीरी आत्मा के निष्क्रियत्व का प्रसग आयेगा ? **उत्तर**—ऐसा कहना उचित नही है क्योकि जैन तो कार्माण शरीर (कर्म-नोकर्म) के निमित्त मे आत्मा मे क्रिया मानते है, अत जब आठो कर्मो के नाश होने से शरीर का वियोग हो जाता है तब अशरीरी आत्मा निष्क्रिय बन जाता है, क्योकि कारण के अभाव मे कार्य का अभाव होना सर्वसिद्ध है । अतः मुक्तात्मा मे निष्क्रियत्व जैन लोगो के द्वारा स्वीकार किया गया है। अथवा

---

१ द्रव्यत. । २ शवस्य । जीवच्छरीरे वा । ३. अयोगकेवलिचरमसमये वर्तमानस्येत्यर्थ ।

क्रिया सा तदभावे नास्तीति निष्क्रियत्व मुक्तस्याभ्युपगम्यतेऽस्माभि: । अथवा, परनिमित्त-क्रियानिवृत्तावपि स्वाभाविकी मुक्तस्योर्ध्वगतिरभ्युपगम्यते प्रदीपवत् । अथवा, [1]स्यात् शरीरवियोगे[2] मुक्तस्य निष्क्रियत्वं यद्यनन्तवीर्यज्ञानदर्शनाचिन्त्यसुखानुभवनादय क्रिया नाऽभ्युपगम्येरन्, अभ्युपगम्यन्ते तु, तस्मादयमदोष. शरीरवियोगादात्मनो निष्क्रियत्वप्रसङ्ग इति ।

वक्ष्यमाणत्वाच्च पूर्वप्रयोगादिभिः । १६ । वक्ष्यते चोत्तरत्र मुक्ताना क्रिया । कथम् ? पूर्वप्रयोगादिभि. ।[3]

पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया विस्रसा प्रयोगनिमित्ता च । १७ । पुद्गलाना द्विविधा क्रिया वक्ष्यते । सा द्वितयी भवति विस्रसा प्रयोगनिमित्ता चेति ।

सा अनन्या स्वात्मविशेषभावात् । १८ । सा क्रिया [4]तद्वतोऽनन्या वेदितव्या । कुत. ? स्वात्मविशेषभावात् । यथा अग्नेर्नान्यदौष्ण्य स्वात्मविशेषभावात् । यद्यन्यत् स्यात्; अग्नेरभावप्रसङ्ग स्यात् अलक्षणत्वात्[5] । तथा क्रियापि क्रियावतो नान्या

जो क्रिया कर्म और नोकर्मरूप परनिमित्त से आत्मा मे होती है, उसका अभाव परनिमित्त (कर्म-नोकर्म) के अभाव मे हो ही जाना चाहिये, पर आत्मा की स्वाभाविक ऊर्ध्व गतिरूप क्रिया तो मुक्त के भी स्वीकार की जाती है, प्रदीप के समान । जैसे वायु के अभाव मे दीपक ऊर्ध्व को जाता है । अथवा, शरीर का वियोग हो जाने पर भी जैन लोगो के द्वारा मुक्तात्मा मे अनन्तवीर्य, ज्ञान, दर्शन, अचित्य सुख के अनुभव रूप क्रिया स्वीकार नही की गई है ऐसी बात नही है, सिद्धो मे भी अनन्त ज्ञानादि क्रिया स्वीकार की गई है । अत शरीर के वियोग से आत्मा के निष्क्रियत्व का प्रसग अदोष है ।। १५ ।।

पूर्वप्रयोगादि के द्वारा आगे कहा जाएगा । आगे दसवे अध्याय मे पूर्वप्रयोग, असगत्व, वधच्छेद आदि कारणो से मुक्तात्मा के ऊर्ध्व गतित्व रूप क्रिया का समर्थन किया भी है ।। १६ ।।

पुद्गलो की भी स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनो प्रकार की क्रिया होती है, पुद्गलो की दो प्रकार की क्रिया आगे कहेगे, वह क्रिया दो प्रकार की है-स्वाभाविक और प्रायोगिक ।। १७ ।।

स्वात्म विशेष होने से वह क्रिया अभिन्न है । वह क्रिया क्रियावान् द्रव्य से अभिन्न है, ऐसा जानना चाहिये । क्योकि वह क्रिया क्रियावान् द्रव्य का परिणाम विशेष है, जैसे अग्नि का परिणाम विशेष होने से औष्ण्य अग्नि से भिन्न नही है । यदि अग्नि से औष्ण्य भिन्न होगा तो लक्षण

---

१. भवतु । २. तर्हि । ३ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्चेति . [त सू. १०।६] । ४. तद्वतोऽन्न-मु. द ब. । ५. यथा क्रियाया अस्पन्द द्रव्य तथा ।

स्वात्मविशेषभावात् । यद्यन्या स्यात्, द्रव्यस्यास्पन्दत्व स्यात् क्रियायाश्चाऽभाव, तस्मादनन्या क्रिया ।

अर्थान्तरत्वेऽपि योगात् व्यपदेशो दण्डदण्डिवदिति चेत्; न; स्वतोऽसिद्धत्वात् । १९ । अर्थान्तरत्वेऽपि क्रियाया· तद्योगाद् द्रव्यस्य क्रियावद्व्यपदेश दण्डदण्डिवदिति च यदि मतम्, तदपि नोपपद्यते; कुत ? स्वतोऽसिद्धत्वात् । युज्यते स्वत सिद्धेन दण्डेन योगात् देवदत्तस्य दण्डिव्यपदेश., न च तथा क्रिया स्वत·सिद्धा व्यतिरेकेणानुपलब्धे । तस्मात्तद्वद्व्यपदेशो न युक्त ।

समवायादिति चेत्; न; अविशेषप्रसङ्गात् । २० । स्यान्मतम्, सत्यमेतत् न दण्डदण्डिवद्योग., स्वतःसिद्ध्यभावात् । कथ तर्हि ? समवायो नामाऽयुतसिद्धिलक्षणः[१] संबन्धोऽस्ति, तेनैकत्वमिव नीतस्य द्रव्यस्य क्रियावद्व्यपदेशो भवतीति, तन्न, किं कारणम् ? अविशेषप्रसङ्गात् । अयुतसिद्धिलक्षणश्चेत् सबन्ध क्रियाक्रियावतोर-

---

रूप औष्ण्य का अभाव होने से अग्नि के भी अभाव का प्रसग आयेगा। उसी प्रकार क्रिया भी स्वात्म विशेष भाव होने से क्रियावान् से भिन्न नही है, यदि क्रिया क्रियावान् से भिन्न होगी तो द्रव्य स्पन्दनरहित, निष्क्रिय हो जायेगा और क्रिया का अभाव होगा अतः क्रिया क्रियावान् से अभिन्न हैं ।। १८ ।।

स्वत· असिद्ध होने से दण्ड और दण्डी के समान भिन्नत्व मे भी योग होने से व्यपदेश नही होता। क्रियावान् से भिन्न क्रिया के सयोग से भी द्रव्य मे 'क्रियावान्' यह व्यपदेश हो जाएगा, जैसे दण्ड के सयोग से 'दण्डी' यह व्यपदेश होता है, यह तर्क भी ठीक नही है क्योकि दण्ड अपने लक्षण से स्वतःसिद्ध है अतः दण्ड के सयोग से देवदत्त के 'दण्डी' यह व्यपदेश हो सकता है परन्तु क्रिया तो द्रव्य से भिन्न-पृथक् सिद्ध नही है क्योकि दण्ड के समान क्रिया क्रियावान् से पृथक् उपलब्ध नही है। इसलिये दण्डी की तरह 'क्रियावान्' व्यपदेश नही हो सकता ।। १९ ।।

समवाय सम्बन्ध के द्वारा 'क्रियावान्' व्यपदेश मानना भी उचित नही है, क्योकि ऐसा मानने से अविशेषता का प्रसग आता है। **प्रश्न**—यह तो सत्य है कि स्वत.सिद्धि का अभाव होने से क्रिया और क्रियावान् मे दण्ड-दण्डी के समान सयोग नही है परन्तु अयुतसिद्ध लक्षण समवाय नामक सम्बन्ध तो है, उसी समवाय सम्बन्ध से एकत्व के समान क्रिया के साथ एकता को प्राप्त द्रव्य के क्रियावान् व्यपदेश होता है ? **उत्तर**—ऐसा नही है-ऐसा मानने पर दोनो मे अविशेषता का प्रसग आता है-क्योकि अयुतसिद्ध लक्षण सम्बन्ध भी क्रिया और क्रियावान् मे विशिष्टता नही ला सकता। उससे भी जो द्रव्य है वह क्रिया है और जो क्रिया है वह द्रव्य है, इसमे कोई विशेषता प्राप्त नही

---

१ विद्यमानयो सम्बन्धोऽयुतसिद्धिः ।

विशिष्टः;[१] यद्द्रव्यं सैव क्रिया, या च क्रिया, तदेव द्रव्यमित्यविशेष प्राप्नोति, तथा च सति पदार्थान्तरकल्पनाव्याघात । पदार्थान्तरत्व चेदभ्युपगम्यते, न [२]नामाऽयुतसिद्धिलक्षरण: संबन्ध ।

अनन्यत्वे द्वयोरैकात्म्यमिति चेत्; न; कथञ्चिद्व्यतिरेकसिद्धेः । २१ । स्यादेतत्, यदि क्रियाक्रियावतोरनन्यत्वमभ्युपगम्यते तयोरैकात्म्य प्रसज्येत । दृष्टा च नानात्मता–द्रव्यमवस्थितं क्रिया क्षणिकात्मिका, द्रव्यमकारण क्रिया कारणवतीति । यद्यैकात्म्यं स्यात् द्रव्यस्यावस्थानवत् अकारणवच्च क्रियाया अप्यवस्थानमकारणत्व च स्यात्, [३]विपर्ययो वेति; तन्न, कि कारणम् ? कथञ्चिद् व्यतिरेकसिद्धे । अत एवाऽस्माभि कथञ्चिदन्यत्वमवसीयते ऐकात्म्य मा विज्ञायीति ।

क्रियावत्त्वे सत्यनित्यत्वमिति चेत्; न; व्यभिचारात् । २२ । स्यादेतत्, यदि क्रियावत्त्वमभ्युपगम्यते जीवस्यानित्यत्व प्राप्नोति । दृष्टा हि क्रियावता प्रदीपादीना-

---

होती और क्रिया एव क्रियावान् द्रव्य मे अविशेषता (अभिन्नता) होने से पदार्थान्तर (क्रिया के पार्थक्य) की कल्पना का व्याघात होगा । यदि क्रिया को पदार्थान्तर (क्रियावान् द्रव्य से भिन्न) मानते है तो अयुतसिद्ध सम्बन्ध नही हो सकता ।। २० ।।

क्रियावान् से क्रिया के अभिन्न होने से दोनो मे एकता आजाएगी ऐसा भी नही है क्योकि कथञ्चित् इनमे भेद की सिद्धि है । प्रश्न—यदि क्रिया और क्रियावान् द्रव्य मे अभिन्नत्व माना जाता है तो क्रिया और क्रियावान् द्रव्य मे अभेद का प्रसग आता है परन्तु क्रिया और क्रियावान् द्रव्य मे तो भेद देखा जाता है क्योकि द्रव्य अवस्थित है, क्रिया क्षणिक है, द्रव्य अकारण है और क्रिया सकारण है । यदि दोनो मे अभेद माना जायेगा तो द्रव्य के समान क्रिया भी अवस्थित (नित्य) और अकारण हो जाएगी और क्रिया के समान द्रव्य, अनित्य तथा सकारण हो जाएगा । उत्तर—उपर्युक्त शका उपयुक्त नही है क्योकि जिनधर्मावलम्वी हमलोग क्रिया और क्रियावान् द्रव्य मे कथञ्चित् भेद मानते हैं-अर्थात् क्रिया और क्रियावान् द्रव्य मे कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानते है, सर्वथा अभेद नही मानते ।। २१ ।।

'क्रियावान् होने पर द्रव्य सर्वथा अनित्य है' ऐसा कहना भी युक्तिसगत नही है, इसमे व्यभिचार (अनेकान्तिक) दोष आता है । प्रश्न—यदि द्रव्य को क्रियावान् मानते है तो जीव द्रव्य के अनित्यत्व का प्रसग आएगा क्योकि क्रियावान् प्रदीप आदि मे अनित्यता देखी जाती है । उत्तर—यह तर्क ठीक नही है क्योकि क्रियावान् महान् अहकार और परमाणु आदि मे भी नित्यना

---

१. –तोरिष्ट द., व., मु., मू., ता. । २ निश्चयेन । ३. क्रियाया क्षणिकत्ववत् द्रव्यस्यापि क्षणिकत्व स्यादित्यादि ।

मनित्यतेति; तन्न; किं कारणम् ? व्यभिचारात् । महदहङ्कारादीना परमाण्वादीना च क्रियावतामपि नित्यत्वदर्शनात् व्यभिचारी हेतु । अथ सर्वानित्यत्ववादि आत्मानित्यत्वे हेतु ब्रूयात् [१]असिद्धो हेतुः **"सर्वे प्रत्ययजाश्चैव सर्वे चैव निरीहकाः"** इति क्रियावत्त्वनिह्नवात् । किञ्च,

अभ्युपगमात् । २३ । अभ्युपगम्यतेऽस्माभि क्रियावता जीवादीना पर्यायार्थिक-नयादेशात् अनित्यत्वं ततो न बाधाकरोऽय हेतु. ।

असिद्धेश्च । २४ । नेद क्रियावत्त्वमस्मान् प्रति सिद्ध द्रव्यार्थिकनयादेशात् निष्क्रियत्वोपपत्ते । एतेन प्रदीपादिदृष्टान्तासिद्धिश्च योज्या । किञ्च,

अनुत्पादाव्ययोत्पादव्ययदर्शनात् । २५ । पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिक-प्राधान्यात् सर्वे भावा अनुत्पादाव्ययदर्शनात् निष्क्रिया नित्याश्च । द्रव्यार्थिकगुणभावे

देखी जाती है अर्थात् महद् अहकार और परमाणु आदि क्रियावान् होकर भी नित्य हैं अत क्रियावान् होता है, वह अनित्य होता है, इसमे क्रियावान् हेतु व्यभिचारी है-अर्थात् यह क्रियावान् हेतु नित्य और अनित्य दोनो मे जाता है अत· अनैकान्तिक हेत्वाभास है । अर्थात् क्रियावान् होने से जीव मे दीपक के दृष्टान्त से अनित्यता का प्रसग नही आ सकता । अथवा सर्वपदार्थो को अनित्य कहने वाले का आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करने मे दिया गया यह हेतु असिद्ध है कि सर्व पदार्थ प्रत्ययजन्य और निरोहक है क्योकि ऐसा मानने पर जीवादि द्रव्यो में क्रियावत्त्व का लोप हो जाएगा ।। २२ ।।

स्वीकार किया है । जैनसिद्धान्त मे क्रियावान् जीवादि पदार्थो को पर्यायार्थिक नय से अनित्य स्वीकार किया है । अत· यह हेतु बाधाकारक नही है ।। २३ ।।

यह हेतु असिद्ध भी है । जैनाचार्य द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य को निष्क्रिय मानते हैं अत. जैनो के प्रति क्रियावत्त्व हेतु सिद्ध भी नही है । जब द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है तो हम उसे दीपक के समान क्रियावाला भी नही मानते अत इस पक्ष मे प्रदीप दृष्टान्त भी असिद्ध है ।। २४ ।।

द्रव्यो मे अनुत्पाद, अव्यय, उत्पाद और व्यय भी देखे जाते है । पर्यायार्थिक नय की गौणता और द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से सभी पदार्थ उत्पाद और व्यय से शून्य है, निष्क्रिय हैं और नित्य है । द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, सक्रिय है और अनित्य है । इस प्रकार इनमे अनेकान्त

---

१ न सिद्धो अ. ।

पर्यायार्थिकप्राधान्यात् सर्वे भावा उत्पादव्ययदर्शनात् सक्रिया अनित्याश्चेति अनेकान्तोपपत्ते एकान्तवादिविहिता दोषा नानेकान्तवादे अवकाश लभन्ते ।

अजीवकाया इत्यत्र कायग्रहणे प्रदेशास्तित्वमात्रत्व निर्ज्ञात नत्वियत्ताऽवधारिता प्रदेशानाम्, अतस्तन्निर्धारणार्थमिदमुच्यते–

असंख्येया· प्रदेशा धर्माऽधर्मैकजीवानाम् ।। ८ ।।

संख्याविशेषातीतत्वादसंख्येयाः । १ । सख्यान सख्या गणनेत्यर्थ । स्वलक्षणेन परस्परतो विशेष्यत इति विशेष सख्याया सख्यैव वा विशेष सख्याविशेष तमतिक्रान्ता ये तेऽसख्येया । न केनचित् सख्यातु शक्यन्त इति यावत् ।

तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्वप्रसङ्गः इति चेत्; न; तेनात्मनाऽवसितत्वात् । २ । स्यान्मतम्, यदि ते न केनचिदपि सख्यातु शक्यन्ते, प्राप्त तर्हि तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्वमिति, तन्न, किं कारणम् ?[१] तेनात्मनाऽवसितत्वात् । यथा अनन्तमनन्तात्मनोपलभमानस्य[२]

समझना चाहिये । एकान्तवादविहित सिद्धान्त मे ही दोष आते है, अनेकान्तवाद मे दोषो का अवकाश नही है ।। २५ ।।

'अजीवकाया' इस सूत्र मे काय शब्द के ग्रहण करने पर प्रदेशो के अस्तित्वमात्र का ज्ञान होता है, प्रदेशो की इयत्ता (परिमाण) की अवधारणा नही होती इसलिये उनकी सख्या का निर्धारण (निश्चय) करने के लिये सूत्र कहते है—

धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश है ।। ८ ।।

सख्या विशेष से अतीतत्व होने से वे असख्येय है । सख्यान, सख्या और गणना ये एकार्थवाची है । स्वलक्षण से परस्पर विशेष्य विशेष है. सख्या का विशेष सख्याविशेष है और सख्या को अतिक्रान्त असख्येय है, जो गिनती की सीमा को पार कर गये है, जो किसी के द्वारा गिने नही जा सकते है, उनको असख्येय कहते है ।। १ ।।

सीमा को नही जानने से सर्वज्ञत्व का अभाव होगा यह भी कहना उचित नही है क्योकि सर्वज्ञ जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा जानता है । प्रश्न—यदि सख्या किसी के द्वारा नही जानी जाती है तो पदार्थो की अनुपलब्धि होने से असर्वज्ञत्व का प्रसग आएगा । उत्तर—ऐसा नहीं कहना क्योकि जैसे सर्वज्ञ अनन्त को अनन्तरूप से जानता है तो सर्वज्ञत्व नष्ट नही होता उसी तरह वह असख्यात को असख्यातरूप से जानता है इसलिये सर्वज्ञत्व की हानि नहीं होती । सर्वज्ञ प्रभु यथार्थ

---

१ तेनावमितत्वात् मू श्र । २ जानत. ।

न सर्वज्ञत्व हीयते तथा असंख्येयमसख्येयात्मनाऽवबुध्यमानस्य नास्ति सर्वज्ञत्वहानि । न हि अन्यथाऽवस्थितमर्थमन्यथावेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात् । अर्थस्य चाधिगमे त्रिविध मान व्याख्यातं संख्येयमसंख्येयमनन्तमिति । तत्रेहाऽजघन्योत्कृष्टासंख्येय परिगृह्यते ।

प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः । ३ । प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशा । कथ प्रदिश्यन्ते ?

परमाण्ववस्थानपरिच्छेदात् । ४ । वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणु स यावति क्षेत्रेऽवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते । ते धर्माधर्मैकजीवाः तुल्याऽसंख्येयप्रदेशा । तत्र धर्माधर्मौ निष्क्रियौव्याप्य स्थितौ । जीव.तावत्प्रदेशोऽपि संहरणविसर्पणस्वभावत्वात् कर्मनिर्वर्तित शरीरमणु महद्वा[1] अधितिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते । यदा तु लोकपूरण भवति तदा मन्दरस्याधश्चित्रवज्रपटलयोर्मध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशाः व्यवतिष्ठन्ते, इतरे प्रदेशा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च कृत्स्न लोकाकाश व्यश्नुवते ।

एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पनोपचार[2] इति चेत्; न; मुख्यक्षेत्रविभागात् । ५ ।

(जेसा वस्तु का स्वरूप है उसको उसी प्रकार से) जानने वाले होने से अन्य रूप से अवस्थित वस्तु को अन्यथारूप से नही जानते । पदार्थ के परिज्ञान मे सख्या का मान (परिमाण) सख्यात, असख्यात और अनन्त के भेद से तीन प्रकार का है। यहाँ पर अजघन्योत्कृष्ट असख्यात लेना चाहिए।। २ ।।

'प्रदिश्यन्ते' होता है उसको प्रदेश कहते है। 'प्रदिश्यते इति प्रदेश' प्रतिपादन करते हैं, क्षत्र के परिमाण को वताते है वे प्रदेश है। कैसे प्रतिपादन करते हैं ? ।। ३ ।।

परमाणु के अवस्थान का परिच्छेदक प्रदेश है, आगे जिसका लक्षण कहा जाएगा, ऐसा वह द्रव्यपरमाणु जितने क्षेत्र मे रहता है, उसको प्रदेश कहते है। वे धर्म, अधर्म और एकजीव तुल्य असख्यातप्रदेशी है। उनमे धर्म और अधर्म द्रव्य निष्क्रिय है और लोक को व्याप्त करके स्थित है। जीव असख्यातप्रदेशी होने पर भी सकोचविस्तारशील होने से कम के अनुसार प्राप्त छोटे या वडे शरीर मे तत्प्रमाण होकर रहता है। जब समुद्घातकाल मे इसकी लोकपूरण अवस्था होती है तब इसके मध्यवर्ती आठ प्रदेश सुमेरु पर्वत के नीचे चित्र और वज्रपटल के मध्य के आठ प्रदेशो पर स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर नीचे तिरछे चारो ओर लोकाकाश को व्याप्त कर लेते हैं अर्थात् सारे लोकाकाश मे फैल जाते है ।। ४ ।।

एकद्रव्य यद्यपि अविभागी है, वह घटकी तरह सयुक्त द्रव्य नही है फिर भी मुख्य क्षेत्र का

---

१ बृहद्वा-मु., द., ब. । २. -रत इति मु., ब ।

स्यान्मतम्, एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पना उपचारत स्यात्। उपचारश्च मिथ्योक्तिर्न तत्त्वपरीक्षायामधिक्रियते प्रयोजनाभावात्। न हि मृगतृष्णिकया मृषार्थात्मिकया जलकृत्य क्रियते इति, तन्न, कि कारणम्? मुख्यक्षेत्रविभागात्? मुख्य एव क्षेत्र-विभाग, अन्यो हि घटावगाह्य आकाशप्रदेश इतरावगाह्यश्चान्य इति। यदि अन्यत्व न स्यात्, व्याप्तित्व व्याहन्यते।

निरवयवत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; द्रव्यविभागाभावात्।६। स्यादेतत्, यदि मुख्य एव विभागोऽभ्युपगम्यते निरवयवत्व तर्हि नोपपद्यते इति; तन्न, कि कारणम्? द्रव्यविभागाभावात्। यथा घटो द्रव्यतो विभागवान् सावयव, न च तथैषा द्रव्य-विभागोऽस्तीति निरवयवत्व प्रयुज्यते।

भेद्यत्वादात्मनामेकग्रहणम्।७। भेद्या आत्मानो बहव इत्यर्थ, तेन एकग्रहण क्रियते, नानाजीवापेक्षया हि अनन्तप्रदेशत्व स्यात्।

कथञ्चित्प्रदेशभेदोपपत्तेः संबन्धनिर्देशः।८। एकश्चासौ जीवश्च एकजीव,

---

विभाग होने से धर्मादिकद्रव्यो मे प्रदेश वास्तविक है-उपचार से नही है। **प्रश्न**- एक अखण्ड द्रव्य की प्रदेश कल्पना उपचार से होती है और उपचार मिथ्योक्ति (असत्य है)। अत. प्रयोजन का अभाव होने से तत्त्व परीक्षा मे इनका अधिकार नही है क्योकि असत्य अर्थ की प्रतिपादक मृगतृष्णा (मरीचिका) के द्वारा जल का कार्य नही किया जा सकता? **उत्तर**—ऐसा नही कहना चाहिए क्योकि मुख्य क्षेत्र के विभाग से मुख्य ही क्षेत्र का विभाग है क्योकि घटके द्वारा जो आकाश का क्षेत्र अवगाहित किया जाता है वही आकाश अन्य घटादि के द्वारा अवगाहित नही किया जाता, क्योकि दोनो के प्रदेश पृथक्-पृथक् है। यदि प्रदेशभिन्नता न होती तो वह सर्वव्यापी नही हो सकता था। अत: द्रव्य अविभागी होकर भी प्रदेश से शून्य नही है॥ ५॥

द्रव्य के विभाग का अभाव होने से इसके निरवयव की अनुपपत्ति भी नही है। अर्थात् घटादि के समान सावयव भी नही है। **प्रश्न**—यदि द्रव्य से प्रदेशो को मुख्यरूप से पृथक् मानते हो तो द्रव्यो मे निरवयवत्व नही हो सकता? **उत्तर**—ऐसा कहना समुचित नही है क्योकि द्रव्य के विभाग का अभाव है। जैसे–घट द्रव्य से विभागवान् और सावयव है वैसे घटादि की तरह द्रव्य, विभाग वाला और सावयव नही है। अत इसमे निरवयवत्व है॥ ६॥

आत्मा के भेद होने से 'एक' पद ग्रहण किया है। आत्मा के वहुत से भेद है अर्थात् जीव अनत हैं-अत 'एकजीव' के असख्यातप्रदेशित्व वताने के लिए 'एक' पद दिया गया है। नाना जीवो की अपेक्षा तो अनन्त प्रदेश हो सकते है॥ ७॥

कथञ्चित् प्रदेशभेद की उपपत्ति होने से षष्ठी विभक्ति का निर्देश किया है। एक और

धर्मश्चाऽधर्मश्चैकजीवश्च धर्माधर्मैकजीवा· तेषा धर्माधर्मैकजीवानाम् प्रदेशा इति 'सबन्धनिर्देश· क्रियते । कुत ? कथञ्चित्प्रदेशभेदोपपत्ते ।

असंख्येयप्रदेशा इत्यस्तु लघुत्वात् इति चेत्; न; उत्तरार्थत्वात् भेदकरणस्य ।९। स्यान्मतम्–'असख्येयप्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवा.' इत्यस्तु सूत्रम्, कुत ? लघुत्वादिति, तन्न, कि कारणम् ? उत्तरार्थत्वात् भेदकरणस्य । प्रदेशा इति भेदकरणमुत्तरार्थम् । द्रव्यप्रधाने हि निर्देशे सति प्रदेशानामुपसर्जनत्वात् [1]उत्तरत्राभिसबन्धो न स्यात् । तत प्रतिसूत्र [2]प्रदेशग्रहणे क्रियमाणे गौरव स्यात् । कश्चिदाह–

प्रदेशकल्पना निरवयवत्वादौपचारिकी सिंहवत् । १० । धर्मादीना या प्रदेशकल्पना सा औपचारिकी । कुत ? निरवयवत्वात् । कथम् ? सिहवत् । यथा विशिष्ट-पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नामकर्मोदयापादिताविशेषे क्रौर्यशौर्यादिगुणप्रकर्षाधिष्ठाने खरनखोग्रदंष्ट्रा-भासुरकेसरकपिलनयनतारकाद्यवयवविशिष्टे केसरिणि सिहशब्दोऽध्यवसित· माणवके

वह जीव एकजीव, धर्म, अधर्म और एकजीव इस द्वन्द्व समास मे 'धर्माधर्मैकजीव' इस शब्द की व्युत्पत्ति होती है । उनकी 'धर्माधर्मैकजीवाना' इस षष्ठी विभक्ति के द्वारा द्रव्यो से प्रदेशो का कथञ्चित् भेद निर्देश किया है । अर्थात् द्रव्यो से प्रदेशो मे कथञ्चित् भेद है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये इसमे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है ।। ८ ।।

'असख्येयप्रदेशा·' ऐसा लघु निर्देश न करके 'प्रदेशा.' का पृथक् निर्देश इसलिये किया है कि उसका सम्बन्ध आगे के सूत्रो से होता जाय । **प्रश्न**—**'असख्येयप्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवाः'** ऐसा सूत्र करना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से सूत्र मे लघुता आती है । **उत्तर**—ऐसा नही कहना चाहिए क्योकि उत्तर सूत्र के साथ भेद करने का सम्बन्ध है । 'प्रदेशा.' यह शब्द उत्तर सूत्र के साथ सम्बन्ध रखता है । यदि **'असख्येयप्रदेशाः'** ऐसा द्रव्य प्रधान निर्देश करते तो 'प्रदेश' पद गौण हो जाता और आगे के सूत्र के साथ उनका सम्बन्ध नही होता तथा प्रत्येक सूत्र के साथ प्रदेश ग्रहण करने पर सूत्र वडा हो जाता इसलिये 'असख्येया· प्रदेशा' यह पद पृथक् ग्रहण किया है । कोई कहता है कि--।। ९ ।।

प्रदेश कल्पना निरवयव होने से सिंह के समान औपचारिक है । धर्मादिक द्रव्यो मे जो प्रदेशो की कल्पना है वह औपचारिक है क्योकि निरवयव है सिंह के समान । जैसे विशिष्ट पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च नामकर्म से युक्त, क्रूरता, शूरता आदि गुणो की प्रकृष्टता से अधिष्ठित और तीक्ष्ण नख, उग्र दाढ, भासुर केशर और कपिल नयनतारक आदि अवयवो से विशिष्ट सिंह मे सिंह शब्द अध्यवसित है अर्थात् सिंह मे सिंह शब्द का उच्चारण है वह मुख्य है क्योकि उसके गुण उसमे

---

१. उत्तरत्रापि न–श्र. ता । २ असख्येया प्रदेशा इत्यादि ।

अतद्गुणे [1]भक्त्याऽध्यारोप्यते, तथा पुद्गलेषु मुख्य. प्रदेशशब्द धर्मादिषु भक्त्योपचर्यते इति ।

न वाः, प्रत्ययाभेदात् । ११ । न वा औपचारिकी । कुत ? प्रत्ययाभेदात् । इह मुख्यप्रत्ययात्[2] सिहविशेषात् अध्यवसानरूपात् माणवके सिह इति गौणप्रत्ययोऽध्यारोपरूपो भिन्न उपलभ्यते, न च तथा पुद्गलेषु धर्मादिषु च प्रदेशप्रत्ययो भिन्नोऽस्ति, उभयत्रावगाहभेदतुल्यत्वात् । इतश्च,

उभयत्र सोपपदत्वात्[3] । १२ । सिहशब्दो निरुपपदो मुख्य गमयति सोपपदो गौणम्—सिहो माणवक इति, न तथा प्रदेशशब्दे विशेषोऽस्ति पुद्गलेषु धर्मादिषु च सोपपदत्वात्—'घटस्य प्रदेशा. धर्मादीना प्रदेशा' इति । ततो नास्त्यत्र विशेष । इतश्च,

हेत्वपेक्षाभावात् । १३ । सिहे प्रसिद्ध क्रौर्यादिधर्म तदेकदेशसादृश्य माणवके

आरोपित नही है, अतद्गुणी (सिह गुण से रहित) बच्चे मे उपचार से सिह के गुणो का आरोप किया जाता है, उसी प्रकार पुद्गलो मे प्रदेश शब्द मुख्य है और धर्मादि मे उपचार से आरोपित किये जाते हैं ? ।। १० ।।

माणवक मे सिह की तरह धर्मादिद्रव्यो मे प्रदेश कल्पना औपचारिक नही है, क्योकि इसमे प्रत्यय के भेद का अभाव है जैसे—क्रूरता, शूरता आदि गुणवाले पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च मे सिह शब्द मुख्य रूप से अध्यवसान होने से माणवक मे सिह यह गौणरूप प्रत्यय भिन्न रूप से उपलब्ध होता है, उस प्रकार पुद्गलादि मे और धर्मादि मे 'प्रदेशवत्त्व' प्रत्यय भिन्न उपलब्ध नही होते हैं, क्योकि दोनो मे अवगाहभेद तुल्य है ।। ११ ।।

उभयत्र सोपपदत्व होने से भी उपचार कल्पना नही है। जब निरुपपद सिह शब्द (केवल सिह शब्द) प्रयोग होता है, तब मुख्य प्रदेशो का बोध होता है और जब माणवकसिह आदि सोपपद (माणवकसिह की तरह इस अन्यपद से युक्त) प्रयोग होता है तब गौण व्यवहार किया जाता है परन्तु धर्मादि मे और पुद्गल मे सोपपदत्व होने से प्रदेश शब्द मे कोई विशेषता नही है क्योकि जैसे 'घटके प्रदेश' प्रयोग होता है, वैसे ही 'धर्मादिक के प्रदेश' का प्रयोग होता है, दोनो मे ही सोपपद प्रयोग होने से कोई विशेषता नही है ।। १२ ।।

हेतु की अपेक्षा का अभाव है। जैसे सिह मे प्रसिद्ध क्रौर्यादि धर्म हैं उसके एक देश सादृश्य माणवक (बच्चे) मे सिह का व्यवहार गौण रूप से होता है। परन्तु उस प्रकार पुद्गलो मे प्रसिद्ध

---

१ उपचारेण । २ ज्ञानात् । ३ —त् सिहत्वात् सिह—मु , व , द ।

गौणव्यवहारस्य हेतुरस्ति, न तथा पुद्गलेषु प्रसिद्ध हेतुमवेक्ष्य धर्मादिषु प्रदेशोपचार. क्रियते तेषामपि स्वाधीनप्रदेशत्वात् । तस्मादुपचारकल्पना न युक्ता ।

स्वतोऽवधारणाभावात् नाञ्जसा इति चेत्; न; अत्यन्तपरोक्षत्वात् ।१४। स्यान्मतम्, यदि घटादिवत् धर्मादीनाम् आञ्जसा प्रदेशा भवेयुर्ननु घटादिवदेव स्वत· प्रदिश्येरन् । घटादीनां हि प्रदेशा ग्रीवादय आञ्जसा स्वत एव प्रदिश्यन्ते न द्रव्यान्तरत·, न त्वेवं धर्मादीना प्रदेशाः स्वत. प्रदिश्यन्ते परमाण्ववगाहपरिच्छेद्यत्वात्, [1]अतो न मुख्या इति, तन्न, कि कारणम् ? अत्यन्तपरोक्षत्वात् । युज्यते घटादीना प्रत्यक्षत्वात् स्वत एव प्रदेशावधारणम् । अत्यन्तपरोक्षास्तु धर्मादय., तत एषा मुख्या अपि प्रदेशा न शक्याः स्वात्मन्येवावधारयितु न गौणप्रदेशत्वात् ।

अर्हदागमप्रामाण्यात् ।१५। युगपत् सकलपदार्थत्वावभासनज्ञानातिशयेनार्हता आविष्कृत आगमः गणधरैरनुस्मृतवचनरचन, श्रुताख्य·, तच्छिष्यप्रशिष्यप्रज्ञावीचिपरम्परासमुपनीतोऽस्ति । तस्य प्रामाण्याद्धर्मादीना क्षेत्रप्रदेशा मुख्या· इत्येतदभ्युपगन्त-

---

प्रदेश हेतु को देखकर धर्मादि मे प्रदेशो का उपचार नही किया जाता। क्योकि धर्मादि मे भी स्वाधीन मुख्य ही प्रदेश है अत धर्मादि द्रव्यो मे प्रदेशो की उपचार कल्पना ठीक नही है ।। १३ ।।

वस्तु की अवधारणा का अभाव होने से धर्मादिक मे प्रदेशो की कल्पना पारमार्थिक नही है ऐसा कहना भी समुचित नही है, अत्यन्त परोक्ष होने से । **प्रश्न**—यदि घटादि की तरह धर्मादिक मे मुख्य प्रदेश होते तो जैसे घटादि के ग्रीवा पैदा आदि मे प्रदेशो की मुख्य कल्पना होती है उसी तरह स्वत: उनमे भी प्रदेशवान् के समान पारमार्थिक कल्पना होनी चाहिये, द्रव्यान्तर से नही। परन्तु धर्मादिक मे स्वत: प्रदेशकल्पना नही है, परमाणु के अविभागी परिच्छेद से ही उनके प्रदेश जाने जाते है इसलिये धर्मादि मे प्रदेशो की मुख्यता नही है । **उत्तर**—ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि इनके प्रदेश अत्यन्त परोक्ष है । अर्थात् धर्मादि द्रव्य अत्यन्त परोक्ष और अतीन्द्रिय है। प्रत्यक्षत्व होने से घटादि के प्रदेशो की अवधारणा स्वत. हो सकती है परन्तु धर्मादि द्रव्य अत्यन्त परोक्ष होने से उनके मुख्य भी प्रदेशो का स्वत. अवधारित होना (जानना) शक्य नही है। गौण प्रदेश होने से स्वत. नही जाने जाते, ऐसी बात नही है। परोक्ष होने से परमाणु के नाप से उनका व्यवहार किया जाता है ।। १४ ।।

वा आगम प्रमाण से जाना जाता है। युगपत् सकल पदार्थो को जानने वाले ज्ञान से युक्त (केवलज्ञानी) अर्हन्त के द्वारा कथित, गणधर के द्वारा अनुस्मृत वचन से रचित और उन गणधर के शिष्य-प्रतिशिष्यो की प्रज्ञारूपी लहरो की परम्परा से प्राप्त श्रुतनामक आगम है, उस आगम-

---

१. ततो श्च ।

ण्यम् । तद्यथा, एकैकस्मिन्नात्मप्रदेशे अनन्तानन्ता ज्ञानावरणादिकर्मप्रदेशा अवतिष्ठन्ते, एकैकस्मिन् कर्मप्रदेशे अनन्तानन्ता औदारिकादिशरीरप्रदेशा , एकैकस्मिन् शरीरप्रदेशे अनन्तानन्ता वैस्रसोपचयप्रदेशा. क्लिन्नगुडरेण्वाद्युपचयवदवतिष्ठन्ते, तथा धर्मादिप्रदेशेष्वपि । किञ्च,

स्थितास्थितवचनात् । १६ । भावान्तर (भवान्तर) परिणामे सुखदु.खानुभवने क्रोधादिपरिणामे वा जीवप्रदेशानाम् [1]उद्धवनिधवपरिस्पन्दस्याप्रवृत्ति· स्थिति , प्रवृत्तिरस्थितिरित्युच्यते । तत्र **"सर्वकालं जीवाष्टमध्य[2]प्रदेशा निरपवादाः [3]सर्वजीवानां स्थिता एव, केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशाः स्थिता एव, व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानाम् इतरे (ता इतरे) प्रदेशाः अस्थिता एव, शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चाऽस्थिताश्च"** इति वचनान्मुख्या एव प्रदेशा । किञ्च,

इन्द्रियपरिणामवचनात् । १७ । इह वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोप-

---

प्रमाण से धर्म, अधर्म और आकाश के क्षेत्र प्रदेश मुख्य है, ऐसा जानना चाहिये । जैसे आगम मे लिखा है कि एक-एक आत्म-प्रदेश मे अनन्तानन्त ज्ञानावरणादि कर्मो के प्रदेश अवस्थित है । एक-एक कर्मप्रदेश मे अनन्तानन्त औदारिकादि शरीर-प्रदेश अवस्थित है । एक-एक शरीरप्रदेश मे अनन्तानन्त विस्रसोपचय परमाणु गीले गुड मे धूल की तरह लगे हुए है । इसी प्रकार आगम प्रमाण से धर्मादि द्रव्यो मे भी मुख्य प्रदेश जानने चाहिए ।। १५ ।।

स्थिति और अस्थिति वचन से भी धर्मादि मे मुख्य प्रदेश जाने जाते है । भवान्तर परिणमन के समय, सुख-दु:खादि के अनुभव मे तथा क्रोधादि परिणाम दशा मे जीव के प्रदेशो की उथल-पुथल रूप परिस्पन्दन की अप्रवृत्ति को स्थित और जीवप्रदेशो की उथल-पुथल रूप प्रवृत्ति को अस्थित कहते है । उसमे सर्वजीवो के आठ मध्यप्रदेश सदा निरपवाद रूप से स्थित (अचल) ही रहते है तथा अयोग केवली और सिद्धो के सर्वप्रदेश अचल (स्थित) ही रहते है । व्यायाम के समय या दु ख, क्रोध, परिताप के उद्रेक से परिणत होने के समय सर्वजीवो के उपर्युक्त आठ प्रदेशो को छोडकर शेष सर्वप्रदेश अस्थित (चल) होते है । शेष जीवो के प्रदेश चल और अचल दोनो प्रकार के होते है । इस प्रकार आगम कथित प्रमाण से धर्मादि द्रव्यो मे मुख्य ही प्रदेश जानने चाहिए, गौण नही ।। १६ ।।

अथवा, इन्द्रिय परिणाम वचन से भी जीवादि के मुख्य प्रदेशो की सिद्धि होती है । किंच, आगम मे वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय

---

१ उद्धवनिधनप-मु , द , ता , व । २ मध्यमप्र-मु । ३ निर्दोषा स्पन्दरहितत्वात् ।

शमाङ्गोपाङ्गनामलाभोपष्टम्भात् उत्सेधाङ्गुलस्यासख्येयभागप्रमितानां विशुद्धानाम् आत्मप्रदेशाना चक्षुरादीन्द्रियपर्यायपरिणाम उक्तः प्रतिविशिष्टप्रदेशत्वात् परस्परस्थाना-संक्रमेण साक्षाच्च दृश्यते तस्मान्मुख्या एवाऽत्मप्रदेशा.। किञ्च,

द्रव्याणां प्रतिनियतप्रदेशावस्थानात् । १८ । इहान्येषु आकाशप्रदेशेषु पाटलिपुत्र स्थितम्, अन्येषु च [1]मथुरा, अतो नाना आकाशप्रदेशा. यस्यैकान्तेन अप्रदेशमाकाश तस्य यद्देश पाटलिपुत्रं तद्देशभाविन्येव मथुरापि स्यात् । किञ्च,

उभयदोषप्रसङ्गात् । १९ । [2]ससरतोऽप्यस्य पिण्डस्य[3] कर्णशष्कुल्यन्तरे अदृष्टविशेषसस्कृतमाकाश श्रोत्रमिति यदाख्यायते;[4] तत्कृत्स्नं वा आकाश स्यात्, न वा ? यदि कृत्स्नम्, ननूर्ध्वाधस्तिर्यगवस्थितस्पर्शवद्द्रव्याभिघातोत्पन्ना सर्वे शब्दा सदा सर्वै. जीवैरुपलभ्या इत्यासक्तम् । अथैष दोषो मा प्रापत् इति प्रतिनियताकाशप्रदेशा श्रोत्रमितीष्यते; नन्वाकाशप्रदेशाना बहुत्वात् यत्प्रतिज्ञातम्–'न सन्त्याकाशप्रदेशा मुख्या'

मे उत्सेधाङ्गुल के असख्यातवे भागप्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशो मे चक्षु आदि इन्द्रिय पर्याय की प्राप्ति वताई गई है तथा प्रतिविशिष्ट प्रदेशत्व होने से परस्पर स्थान सक्रमण से साक्षात् प्रदेश जाने जाते है। इसलिये आगम-प्रमाण से ज्ञात होता है कि आत्मादिक के मुख्य ही प्रदेश है, गौण नही ।। १७ ।।

द्रव्यो की प्रतिनियत स्थानो मे स्थिति बताई जाने से भी ज्ञात होता है कि आकाश आदि मे मुख्य ही प्रदेश है। यहाँ अन्य आकाशप्रदेशो मे पाटलिपुत्र (पटना) है और मथुरा अन्य प्रदेशो मे है अत आकाशप्रदेश नाना हैं। जिसके सिद्धान्त मे एकान्त से आकाश अप्रदेशी है उसके जिस देश मे पटना है उसी प्रदेश मे मथुरा होने से दोनो (पटना और मथुरा) का एक ही स्थान होगा ।। १८ ।।

उभय दोष का प्रसग आएगा। ससार में भ्रमण करने वाले इस जीव के कर्ण के भीतर स्थित अदृष्टविशेष से सस्कृत आकाश को वंशेषिक श्रोत्र कहते है, वह सम्पूर्ण आकाश मे है कि नही ? यदि श्रोत्र का आकाश सर्वक्षेत्र मे है तो निश्चय से ऊर्ध्व, अध. और तिर्यग् अवस्थित स्पर्श की तरह द्रव्य के अभिघात से उत्पन्न सभी शब्द सर्वजीवो के द्वारा सुनने का प्रसग आएगा। अर्थात् यदि आकाश के प्रदेश नही माने जायेंगे तो सम्पूर्ण आकाश को श्रोत्र कहना होगा। ऐसी दशा मे सभी प्राणियो को सभी शब्द सुनाई पडेगे। यदि यह दोष प्राप्त न हो इसलिये प्रतिनियत आकाशप्रदेश को श्रोत्र इन्द्रिय कहते है तो निश्चय से आकाश के वहुत्वप्रदेश की सिद्धि होने से 'आकाश के मुख्य

---

१. मदुरा आ ना श्र । २ गच्छतोऽपि। ३ शरीरस्य। ४ वैशेषिकै। "श्रोत्र पुन श्रवणविवरसज्ञको नभोदेश. शब्दनिमित्तोपभोगप्रापकधर्माधर्मोपनिवद्ध ।" प्रश भा पृ २९।

इति तद्धीनम् । अथवा, परमाणुराकाशेन कृत्स्नेन वा सयुज्येत, न वा ? यदि कृत्स्नेन; नन्वेवमणुमात्रमाकाशम् आकाशमात्रो वाऽणु प्राप्नोति । अथ एकप्रदेशेन संयुज्यते, ननु निरपवादमेतत् सिद्धं मुख्या एवाऽऽकाशप्रदेशा इति । किञ्च,

कर्माभावप्रसङ्गात् । २० । इहोत्पन्नं कर्म[1] स्वाश्रयम्[2] [3]आश्रयान्तराद्वियोज्य [4]आश्रयान्तरेण सयोजयति इत्येष कर्मण स्वभाव, सत्येव प्रदेशवत्त्वमाकाशस्य सिद्धम्, इतरथा हि कर्माभावप्रसङ्ग प्रदेशान्तरसङ्क्रमाभावात् । किञ्च,

एकानेकप्रदेशत्वं प्रत्यनेकान्तात् पुरुषवत् । २१ । यथा पुस सामान्यपौरुषेयशरीरद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, तस्यैव शिर. पृष्ठोरूदरपाणिपादाङ्गुलिपर्वाद्यङ्गोपाङ्गपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकत्वम् । अथवा, पुरुषद्रव्यार्थादेशात्स्यादेकत्वम्, स्वजात्यपरित्यागेन [5]पावकलावकादिपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकत्वम्, पितृपुत्रभ्रातृभागिनेयभ्रातृव्यमातुलादिपर्यायार्थादेशात् वा स्यादनेकत्वम्, पञ्चेन्द्रियारोग्यमेधाविपटुकुशलसुशी-

---

बहुप्रदेश नही है' इस प्रतिज्ञा को हानि होगी । अथवा, एक परमाणु सम्पूर्ण आकाश से सम्वन्ध को प्राप्त होता है कि नही ? यदि एक परमाणु सम्पूर्ण आकाश से सम्वन्ध को प्राप्त होता है तो या तो आकाश को परमाणु मात्र मानना होगा या फिर परमाणु को आकाश के बराबर । यदि परमाणु आकाश के एक प्रदेश से सम्बन्ध को प्राप्त होता है तो स्पष्टत निर्दोष रूप से सिद्ध होता है कि आकाश के मुख्य प्रदेश है ।। १९ ।।

वैशेषिक मत मे कर्म उत्पन्न होते ही अपने आश्रय को एक आधार से हटाकर दूसरे आधार से सयुक्त कराता है । यह कर्मका स्वभाव है-इससे सिद्ध होता है कि आकाश के प्रदेश भेद हैं अन्यथा किसी से सयोग और किसी से वियोग कैसे बन सकता है ? यदि प्रदेशान्तर सक्रमण नही होगा तो कर्म के अभाव का प्रसग आयेगा ।। २० ।।

अथवा, पुरुष के समान एक अनेक प्रदेशत्व के प्रति अनेकान्त है । जैसे आत्मा के सामान्य पुरुष शरीर की दृष्टि से प्रदेशो मे एकत्व है और उसी पुरुष के ही सिर, पीठ, उदर, हाथ, पैर, अगुलि, अगुलि का पर्व, नाक आदि अग-उपाङ्गरूप पर्याय की दृष्टि से प्रदेशो मे अनेकत्व है । अथवा, पुरुष द्रव्य की दृष्टि से एकत्व होने पर भी अपनी पुरुषत्व जाति का त्याग न करके पावक (पकाने वाला), लावक (काटने वाला) आदि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पुरुष मे अनेकत्व भी है । अथवा, पिता, पुत्र, भाई, भानजा, चाचा, मामा, आदि पर्यायो की दृष्टि से भी अनेकता है । अथवा, पञ्चेन्द्रिय, आरोग्य, मेधावी पटु, कुशल, सुशीलत्वादि व्यवहारो मे कारणभूत पर्यायो की

---

१ व्यापार । २ क्रियाया आश्रयभूत श्येनम् । ३ स्थाणो । ४ वृक्षाद्यन्यतमेन । ५ पूङ् पवने । लूङ् छेदने ।

लत्वादिपर्यायार्थादेशाद्वा स्यादनेकत्वम्, तथा धर्माधर्माकाशजीवानाम् आत्मीयद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकप्रदेशत्व प्रतिनियतप्रदेशपर्यायार्थादेशात् स्यान्नानात्वम् इत्यनेकान्त ।

संसारिणश्च व्यवहारतः सावयवत्वात् । २२ । व्यवहाराद् व्यवहारत· व्यवहारनयार्पणादित्यर्थ. । क पुनर्व्यवहार ? अनादिकर्मबन्धनबद्धत्वम्, अतस्तदावेशात्[1] तदनुविधायित्वे सति सावयवत्वोपपत्ते ससारिणो जीवस्य प्रदेशवत्त्वम् । शुद्धनयादेशात्तूपयोगस्वभावस्याऽऽत्मनोऽप्रदेशत्वम् ।

अथाकाशस्य कति प्रदेशा इति ? अत आह—

आकाशस्यानन्ताः ।। ९ ।।

अनन्ता इत्यन्यपदार्थनिर्देशः । १ । अन्तोऽवसानमित्यर्थ , अविद्यमानोऽन्तो येषा त इमेऽनन्ता· । अन्यपदार्थनिर्देशोऽयम् । के पुनस्ते ? प्रदेशा । कुत· ? प्रत्यासत्तेस्तदभिसंबन्धोपपत्ते ।

दृष्टि से अनेकता है । इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और जीवो के आत्मीय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एकप्रदेशत्व है और प्रतिनियत प्रदेशपर्यायो की अपेक्षा से अनेक प्रदेशत्व है, इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व मे अनेकान्त है ।। २१ ।।

अवयव सहित होने से व्यवहार नय से ससारी कहलाते है । व्यवहार का अर्थ है व्यवहार नय की अपेक्षा । प्रश्न—ससारी मे व्यवहार नय क्या है ? उत्तर—अनादिकाल से ससारी जीव कर्मबन्धन से आबद्ध है । अत उस बधन की अपेक्षा उस बधन का अनुविधायी होने से ससारी जीव अवयव सहित है और ससारी जीव के प्रदेशत्व है । शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो आत्मा उपयोग स्वभावी और अखण्ड है अतः शुद्धनय की अपेक्षा आत्मा मे प्रदेशभेद नही है, व्यवहार नय की अपेक्षा प्रदेशभेद होते हुए भी आत्मा मे निश्चय नय की अपेक्षा भेद नही है ।। २२ ।।

आकाश के कितने प्रदेश है ? ऐसा पूछने पर उत्तर सूत्र कहते है—

आकाश के अनन्त प्रदेश है ।। ९ ।।

'अनन्त' इस शब्द मे वहुव्रीहि समास है । नही है अवसान (अन्त) जिनका वे अनन्त कहलाते हैं । किसका अन्त नही है ? प्रदेशो का । 'असख्येयप्रदेशा· धर्माधर्मैकजीवाना' इस सूत्र की निकटता से 'प्रदेशाः' पद का सम्वन्ध यहाँ हो जाता है ।। १ ।।

---

१ व्यवहाराद्भांकागन ।

असंख्येयानन्तयोरविशेष इति चेत्; न; उक्तत्वात् । २ । स्यान्मतम्– असख्येयानन्तयोर्नास्ति विशेष । कुत ? इयत्तापरिच्छेदाभावतुल्यत्वादिति; तन्न; कि कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तोऽनयोर्भेद **"नृस्थिती परावरे"** [त. सू. ३।३८] इत्यत्र ।

अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति चेत्; न; अतिशयज्ञानदृष्टत्वात् । ३ । स्यादेतत्– सर्वज्ञेनानन्त परिच्छिन्न वा, अपरिच्छिन्न वा ? यदि परिच्छिन्नम्, उपलब्धावसानत्वात् अनन्तत्वमस्य हीयते । अथापरिच्छिन्नम्, तत्स्वरूपानवबोधात् असर्वज्ञत्व स्यादिति । तन्न; कि कारणम् ? अतिशयज्ञानदृष्टत्वात् । यत्तत्केवलिना ज्ञान क्षायिकम् अतिशयवत् अनन्तानन्तपरिमाण तेन तदनन्तमवबुध्यते साक्षात् । तदुपदेशादितरैरनुमानेनेति न सर्वज्ञत्वहानि । न च तेन परिच्छिन्नमित्यत सान्तम् [1]अनन्तेनाऽनन्तमिति ज्ञातत्वात् । किञ्च,

[2]**सर्वेषामविप्रतिपत्तेः** । ४ । नात्र सर्वे प्रवादिनो विप्रतिपद्यन्ते । [3]केचित्तावदाहु

असख्यात और अनन्त मे कोई विशेषता नही है, ऐसा नही कहना क्योकि इनका वर्णन पूर्व मे किया है । प्रश्न—असख्येय और अनन्त मे कोई विशेषता नही है क्योकि अनन्त और असख्यात मे इयत्ता का अपरिच्छेद (सख्या की गणना का अभाव) समान है । उत्तर—अनन्त और असख्यात मे इयत्ता का अपरिच्छेद होने से तुल्यता नही है, क्योकि इनका अन्तर महान् है, इन दोनो मे भेद 'नृस्थितीपरावरे' इस सूत्र मे बता आये है ।। २ ।।

अनन्त होने से अज्ञेय की आशका भी उचित नही है क्योकि वह अतिशय ज्ञानशाली सर्वज्ञ के द्वारा दृष्ट होता है । प्रश्न—सर्वज्ञ भगवान ने अनन्त को जाना है कि नही ? यदि सर्वज्ञ अनन्त को जानते है तो अवसान (अन्त) की उपलब्धता हो जाने से इसके अनन्तत्व नही रह सकता और यदि सर्वज्ञ उसके अन्त को नही जानते है तो उसके स्वरूप का बोध न होने से सर्वज्ञ के असर्वज्ञपना हो जाएगा ? उत्तर—यह प्रश्न उचित नही है क्योकि सर्वज्ञ के अतिशयज्ञान देखा जाता है । सर्वज्ञ भगवान् का अतिशयशाली क्षायिकज्ञान अनन्तानन्त है । उस क्षायिक अतिशयशाली अनन्त ज्ञान के द्वारा अनन्त का अनन्त रूप से ही साक्षात् ज्ञान हो जाता है । अन्य लोग सर्वज्ञ के उपदेश से तथा अनुमान से अनन्त का ज्ञान कर लेते है (अनन्त की सिद्धि कर लेते है) । अत. सर्वज्ञत्व की हानि (अभाव) नही हो सकती । सर्वज्ञ ने अनन्त को अनन्तरूप से ही जाना है अत मात्र सर्वज्ञ के द्वारा ज्ञात होने से उसमे सान्तत्व नही आ सकता ।। ३ ।।

अनन्त की मान्यता मे सभी का अविवाद है, किसी का भी विवाद नही है । सभी मतावलम्बो अनन्त की सख्या मे विवाद नही करते है । प्रायः सभी अनन्त और सर्वज्ञ को मानते है ।

---

१ अनन्तप्रमाणेन । २ सामयिकान् प्रत्युत्तर दत्वेदानी वादिन प्रत्याह । ३ बौद्धा ।

"**अनन्ता लोकधातवः**" इति । [१]अपरे मन्यन्ते दिक्कालात्माकाशाना सर्वगतत्वात् अनन्तत्वमिति । [२]इतरे ब्रुवते–प्रकृतिपुरुषयोरनन्तत्व सर्वगतत्वादिति । न चैतेषामनन्तत्वादपरिज्ञानम्, नापि परिज्ञानत्वमात्रादेव तेषामन्तवत्त्वम् । तस्मात् नैतद्युक्तम् अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति ।

सर्वज्ञाभावप्रसङ्गाच्च । ५ । यस्य अर्थानामानन्त्यमपरिज्ञानकारण तस्य सर्वज्ञाभाव प्रसजति । अनन्तो हि ज्ञेय, तस्यानन्त्यादेव न च कश्चित् [३]परिच्छेत्ताऽस्तीति ।[४] अथान्तवत्त्व स्यात्, संसारो मोक्षश्च नोपपद्यते । कथमिति चेत्; उच्यते–जीवाश्चेत्सान्ता., सर्वेषा हि मोक्षप्राप्तौ ससारोच्छेदः प्राप्नोति । तद्भयात् मुक्ताना पुनरावृत्त्यभ्युपगमे स मोक्ष एव न स्यात् [५]अनात्यन्तिकत्वात् । एकैकस्मिन्नपि जीवे कर्मादिभावेन व्यवस्थिता पुद्गला अनन्ता, तेषामन्तवत्त्वे सति कर्मनोकर्मविषयविकल्पाभावात् संसाराभाव तदभावान्मोक्षश्च न स्यात् । तथा अतीतानागतकालयोरन्तवत्त्वे प्राक् पश्चाच्च कालव्यवहाराभावः स्यात् । न चासौ युक्त., असतः

जैसे--बौद्ध लोकधातुओ को अनन्त कहते है। वैशेषिक सिद्धान्त मे दिशा, काल, आत्मा और आकाश को सर्वगत होने से अनन्त माना गया है। साख्य सिद्धान्त मे सर्वगत होने से प्रकृति और पुरुषके अनन्तता कही गई है, इनके अनन्तत्व होने से अपरिज्ञान (ज्ञान का विषय नही) है, ऐसा नही है और इन सबका परिज्ञान होने मात्र से सान्तता भी नही हो सकती। अत. अनन्तपना होने से अपरिज्ञान का दूषण ठीक नही है ।। ४ ।।

सर्वज्ञ के अभाव का प्रसङ्ग आता है। यदि अनन्त होने से पदार्थ को अज्ञेय कहा जाएगा तो सर्वज्ञ का अभाव हो जाएगा क्योकि ज्ञेय अनन्त है और अनन्त होने से उसका परिछेत्ता (ज्ञाता) कोई नही होगा और सर्वपदार्थ का जानने वाला न होने से सर्वज्ञ का अभाव होगा। यदि जीवो को सान्त (अन्तसहित) माना जाता है तो ससार और मोक्ष दोनो का लोप हो जाता है क्योकि यदि जीवो को सान्त माना जाता है तो जब सब ही मोक्ष चले जाएगे तो ससार का उच्छेद ही हो जाएगा। यदि ससारोच्छेद के भय से मुक्त जीवो का पुन. ससार मे आगमन माना जाएगा तो मोक्ष का भी उच्छेद हो जाएगा क्योकि मोक्ष तो आत्मा की आत्यन्तिक अवस्था है। एक-एक जीव मे कर्मादिभाव से व्यवस्थित अनन्त पुद्गल है; उन कर्म-नोकर्म का अन्त स्वीकार करने पर कर्म-नोकर्म के विषय के विकल्प का अभाव होने से ससार का अभाव हो जाएगा। ससार का अभाव हो जाने से मोक्ष का अभाव तो स्वयमेव हो जाएगा क्योकि ससारपूर्वक ही मोक्ष होता है। इसी प्रकार अतीत और अनागत काल को सान्त माना जाय तो पहले और बाद मे काल व्यवहार का अभाव ही हो जाएगा परन्तु कालव्यवहार का अभाव युक्तिसगत नही है क्योकि असत् के प्रादुर्भाव का अभाव

---

१ वैशेषिका म । २. साख्या -म । ३ ज्ञाता । ४ अथान्तत्वम् अ । ५ आत्यन्तिकत्वाभावात् ।

प्रादुर्भावाभावात् सतश्चात्यन्तविनाशानुपपत्तेरिति। तथा आकाशस्यान्तवत्त्वाभ्युपगमे ततो बहिर्घनत्वप्रसङ्ग.। नास्ति चेद्घनत्वम्, आकाशेनापि [1]भवितव्यमित्यन्तवत्त्वाभाव·।

उक्तममूर्तानां प्रदेशपरिमाणम्, इदानी मूर्ताना पुद्गलाना प्रदेशपरिमाण निर्ज्ञातव्यमित्यत आह---

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

चशब्दोऽनन्तसमुच्चयार्थः।१। अनन्ता· [2]प्रकृतास्तेषा समुच्चयार्थश्चशब्द क्रियते-सख्येया असख्येया अनन्ताश्चेति के। पुनस्ते ? 'प्रदेशा·' इत्यनुवर्तते। कस्यचित्पुद्गलद्रव्यस्य द्व्यणुकादे सख्येया प्रदेशा कस्यचिदसख्येया अनन्ताश्च।

अनन्तानन्तोपसंख्यानमिति चेत्; न; अनन्तसामान्यात्।२। स्यादेतत्—अनन्तानन्तप्रदेशाश्च पुद्गला सन्ति तदुपसग्रहार्थं[3] तदुपसख्यान कर्तव्यमिति, तन्न, कि कारणम् ? अनन्तसामान्यात्। अनन्तप्रमाण त्रिविधमुक्तम्—परीतानन्त युक्तानन्तम्

होने से सत् का अत्यन्त विनाश मानना अयुक्त है। इसी प्रकार आकाश को सान्त मानने पर उससे आगे कोई घन (ठोस) पदार्थ मानने का प्रसग आयेगा। यदि आकाश के आगे ठोस पदार्थ नही है तो आकाश ही आकाश है और आकाश ही आकाश होने से आकाश के सान्तता का अभाव और अनन्तता की सिद्धि स्वयमेव हो ही जाती है ॥ ५ ॥

अमूर्त्तिक धर्म, अधर्म, आकाश और जीवो के प्रदेशो की सख्या का परिमाण कह दिया अब मूर्त्तिक पुद्गलो के प्रदेशो का परिमाण जानने योग्य है। उसके लिये सूत्र कहते है—

पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश है ॥ १० ॥

'च' शब्द अनन्त प्रदेश के समुच्चय के लिये है। अनन्त का प्रकरण है। उनका ग्रहण करने के लिए सूत्र मे 'च' शब्द को ग्रहण किया है। पुद्गल के सख्यात और असख्यात और अनन्त प्रदेश है, ऐसा सम्बन्ध लगाना चाहिये। किसी दो अणु आदि पुद्गल द्रव्य के सख्यात प्रदेश है, किसी के असख्यात प्रदेश है और किसी पुद्गल के अनन्त प्रदेश है ॥ १ ॥

अनन्त सामान्य होने से अनन्तानन्त का ग्रहण नही किया है। **प्रश्न**—अनन्तानन्त प्रदेश पुद्गल के है। उनका उपसग्रह करने के लिये अनन्तानन्त का ग्रहण करना चाहिये ? **उत्तर**—अनन्तानन्त का ग्रहण नही किया है क्योकि अनन्त सामान्य का ग्रहण है। अनन्त का प्रमाण

---

१ -त्यनन्तवत्त्वा-अ, मु, द। २ पुद्गला ते-मु, द। ३ -र्थमुप-ता मु, मू व द।

अनन्तानन्त चेति । तत्सर्वमनन्तसामान्येऽन्तर्भावात् अनन्तग्रहणेन गृह्यत इति नोपसख्यातव्यम् ।

अधिकरणविरोधादानन्त्याभाव इति चेत्; न; सूक्ष्मपरिणामावगाहनसामर्थ्यात् । ३ । स्यान्मतम्–असख्यातप्रदेशो लोक, अनन्तप्रदेशस्य अनन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोध, ततो नानन्त्यमिति, तन्न, कि कारणम् ? सूक्ष्मपरिणामावगाहनसामर्थ्यात् । परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे अनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते । अवगाहनसामर्थ्यमप्येषामव्याहतमस्ति येन एकैकस्मिन्नपि प्रदेशे अनन्ताऽनन्तानामवस्थान न विरुध्यते । किञ्च,

अनेकान्तात् । ४ । नायमेकान्त – [1]अल्पेऽधिकरणे महद्द्रव्य नावतिष्ठते इति । कुत ?

प्रचयविशेषात्[2] । ५ । प्रचयविशेष सघातविशेष इत्यर्थ । पुद्गलाना हि प्रचयविशेषात् अल्पे क्षेत्रे बहूनामवस्थानं दृष्टम् । कथम् ?

तीन प्रकार कहा है परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त । उन सर्व अनन्तो का सामान्य अनन्त मे अन्तर्भाव हो जाता है अत· अनन्त का ग्रहण किया है, अनन्तानन्त का नही ।। २ ।।

अधिकरण का विरोध होने से अनन्त का अभाव होगा, ऐसी आशका भा उचित नही है, क्योकि सूक्ष्म परिणामो के अवगाहन की सामर्थ्य है । **प्रश्न**—लोक (लोकाकाश) असख्यातप्रदेशी है । उस असख्यातप्रदेशी लोकाकाश को अनन्तप्रदेशी और अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्ध का अधिकरण मानना विरोध है अर्थात् असख्यातप्रदेशी लोकाकाश को अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्ध का अधिकरण मानना ठीक नही है अत. पुद्गल स्कन्ध के आनन्त्य (अनन्त परमाणु का स्कध) नही है । **उत्तर**—ऐसी आशका भी उचित नही है-क्योकि सूक्ष्म परिणाम की अवगाहन के सामर्थ्य मे सर्वपदार्थ आकाश मे रह जाते हैं । सूक्ष्मभाव से परिणत परमाणु एक-एक आकाशप्रदेश पर अनन्तानन्त अवस्थित है । इसी प्रकार अवगाहना के सामर्थ्य से सर्वपदार्थो के व्याहतपना (एक-दूसरे का व्याघात) नही है । पुद्गलो के सूक्ष्म परिणमन और आकाश की अवगाहन शक्ति से अनन्तानन्न पुद्गलो का अवगाहन हो जाता है, इसमे कोई विरोध नही है ।। ३ ।।

इसमे भी अनेकान्त है । यह ऐकान्तिक नियम नही है कि अल्प अधिकरण मे महान् द्रव्य नही रह सकता । क्योकि– ।। ४ ।।

प्रचयविशेष होने से अल्प अधिकरण मे महान् द्रव्य रह सकता है । प्रचयविशेष, सघात-

---

१. अल्पाधि-मु , व । २ –षात् सघातविशेष सघातविशेष इत्यर्थं-मु , द , व ।

संहृतविसर्पितचम्पकादि[1] **गन्धादिवत्** । ६ । यथाऽल्पे कुड्मलावस्थे चम्पके सूक्ष्मप्रचयपरिणामात् संहृताश्चम्पकपुष्पगन्धावयवा तद्व्यापिनो बहवोऽवतिष्ठमाना दृष्टा । तस्मिन्नेव विसर्पिते स्थूलप्रचयपरिणामाद्विनिर्गताश्चम्पकगन्धावयवा सर्वदिग्व्यापिनो दृष्टा । यथा वाल्पे करीषपटले दारुपिण्डे च प्रचयविशेषावगाढा सन्त पुद्गला अग्निना दह्यमाना प्रचयविशेषेण धूमभावेन दिङ्मण्डलव्यापिनो दृष्टा, तथाऽल्पेऽपि लोकाकाशे अनन्तानामनन्तानन्ताना च जीवपुद्गलानामवस्थानमिति नास्ति विरोधः ।

पुद्गलानामित्यविशेपवचनात् परमाणोरपि प्रदेशवत्त्व[2]प्रसङ्गे तत्प्रतिषेधार्थमाह—

नाणोः ॥ ११ ॥

अणो प्रदेशा न, सन्तीति वाक्यशेप । कुतो न सन्तीति चेत् ? उच्यते—

विशेष दोनो एकार्थवाची है। पुद्गलो मे विशेष प्रकार का सघन सघात होने से अल्पक्षेत्र मे बहुत द्रव्यो का अवस्थान देखा जाता है। प्रश्न—कैसे देखा जाता है ? ॥ ५ ॥

उत्तर—सहृत विसर्पित शक्ति से युक्त होने से चम्पकादि मे गन्धादि के समान अल्प क्षेत्र मे वडे द्रव्य रह जाते हैं। जैसे कि छोटीसी चम्पा की कली मे सकोच मे सूक्ष्मरूप से बहुत से गन्ध-अवयव रहते है, पर जब वे फैलते है, विस्तरित होते है, स्थूलप्रचय परिणाम से बाहर निकलते है तब सब दिशाओ को व्याप्त कर लेते है, ऐसा देखा जाता है। अथवा जैसे कि अल्प कण्डा या लकडी मे जो प्रचयविशेष अवगाढ है (पुद्गल सूक्ष्मरूप से अल्पक्षेत्र मे अवस्थित है) वे ही पुद्गल अग्नि से जलने पर धूम के रूप मे सारे दिग्मण्डल मे व्याप्त होकर फैल जाते है, ऐसा देखा जाता है। उसी प्रकार सकोच विस्ताररूप परिणमन होने से अल्पलोकाकाश मे भी अनन्तानन्त जीव पुद्गलो का अवस्थान हो जाता है ॥ ६ ॥

'पुद्गलो के' ऐसा अविशेष वचन होने से परमाणु के भी प्रदेशत्व का प्रसङ्ग होने पर, उसका निषेध करने के लिए सूत्र कहते है—

अणु के प्रदेश नहीं है ॥ ११ ॥

अणु के प्रदेश नही है ऐसा वाक्य विशेप जानना चाहिये। परमाणु के प्रदेश क्यो नही है ?

---

१. आदिशब्देन काष्ठादिक गृह्यते । २ -शवन्धप्र-मु, अ, ता, ब, द ।

प्रदेशमात्रत्वात् । १ । यथा आकाशप्रदेशस्यैकस्य प्रदेशभेदाभावात् अप्रदेशवत्त्वम्, एव मणोरपि प्रदेशमात्रत्वात् प्रदेशभेदाभाव । किञ्च,

ततोऽल्पपरिमाणाभावात् । २ । न हि अणोरल्पीयान् अस्ति यतोऽस्य प्रदेशा. भिद्येरन् । अत स्वयमेवाद्यन्तपरिमाणत्वादप्रदेशोऽणु । किञ्च,

अन्वर्थसंज्ञत्वात् । ३ । यथा प्रदीपनात् प्रदीप इत्यन्वर्थसंज्ञा तथाऽणुरितीयमप्यन्वर्थसज्ञा अणुत्वात् सूक्ष्मत्वात् अणुरिति । यदि ह्यणोरपि प्रदेशा स्यु, अणुत्वमस्य न स्यात् प्रदेशप्रचयरूपत्वात्, तत्प्रदेशानामेवाणुत्व प्रसज्येत ।

अप्रदेशत्वादभावः खरविषाणवदिति चेत्; न; उक्तत्वात् । ४ । स्यादेतत्–यथा खरविषाणमप्रदेशत्वान्नास्ति तथाणुरपि भवेदिति; तन्न, कि कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–प्रदेशमात्रोऽणु., न खरविषाणवदप्रदेश इति ।

आदिमध्यान्तव्यपदेशाभावादिति चेत्; न; विज्ञानवत् । ५ । स्यान्मतम्–

अणु प्रदेशमात्र है। जैसे—आकाश का एक प्रदेश अन्य प्रदेश रूप न होने से अप्रदेशी है उसी प्रकार परमाणु के भी प्रदेशमात्र होने से अन्य प्रदेश नही है अर्थात् प्रदेश का अभाव है ।। १ ।।

उससे अल्पपरिमाण का अभाव है। परमाणु से छोटी कोई वस्तु हा नही है जिससे परमाणु के प्रदेशो का भेद किया जावे। अत स्वय मे आदि अन्त परिमाण वाला होने से परमाणु अप्रदेशी है। अर्थात् अणु से छोटा तो कोई भाग होता नही अत स्वय ही आदि और अन्त होने से परमाणु प्रदेशरहित है ।। २ ।।

इसका 'अणु' यह सार्थक नाम भी है। जेसे प्रदीपन करने के कारण प्रदीप की संज्ञा सार्थक है-उसी तरह 'अणु' अर्थात् सूक्ष्म होने से 'अणु' सज्ञा भी सार्थक है। यदि अणु के भी प्रदेश प्रचय होगा तो फिर वह अणु ही नही कहलाएगा, उसके प्रदेश ही अणु कहे जायेगे ।। ३ ।।

अप्रदेशी होने से परमाणु का खरविषाण (गधे के सीग) के समान अभाव नही कहा जा सकता क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि अणु प्रदेशमात्र है। जैसे खरविषाण अप्रदेशी होने से नही है वैसे अप्रदेशी होने मे अणु भी नही है। ऐसी आशका उचित नही है क्योंकि अणु प्रदेशमात्र है, गधे के सीग के समान अप्रदेशी नही है। ऐसा पहले कहा जा चुका है कि परमाणु एक प्रदेशी है न कि सर्वथा प्रदेशशून्य ।। ४ ।।

विज्ञान के समान आदि मध्य और अन्तरहित होते हुए भी इनमे अस्तित्व का अभाव नही है। प्रश्न—परमाणु के आदि, मध्य और अन्त व्यपदेश है कि नही ? यदि परमाणु के आदि,

आदिमध्यान्तव्यपदेश· परमाणोः स्याद्वा, न वा ? यद्यस्ति; प्रदेशवत्त्व प्राप्नोति । अथ नास्ति, खरविषाणवदस्याभावः स्यादिति । तन्न, कि कारणम् ? विज्ञानवत् । यथा विज्ञानमादिमध्यान्तव्यपदेशाभावेऽप्यस्ति तथाऽणुरपि' इति । उत्तरत्र च तस्यास्तित्वं वक्ष्यते ।

एषामवधृतप्रदेशाना धर्मादीनामाधारप्रतिपत्त्यर्थमाह–

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

अनन्तरत्वात् पुद्गलानामवगाहप्रसङ्ग इति चेत्; न; समुदायापेक्षत्वात् । १ । स्यादेतत्–अनन्तराः पुद्गलाः ततस्तेषामेव लोकाकाशेऽवगाहः इत्ययमर्थ आसक्त इति; तन्न; कि कारणम् ? समुदायापेक्षत्वात् । धर्मादीनि द्रव्याणि समुदितान्यत्रापेक्ष्यन्ते, तत्रानन्तरमिद व्यवहितमिदमिति विवेको नास्ति । ततः सर्वद्रव्याणामाधारगतिः सिद्धा भवति ।

आकाशस्यापि अन्याधारकल्पनेति चेत्; न; स्वप्रतिष्ठत्वात् । २ । स्यान्मतम्–यथा धर्मादीना लोकाकाशमाधारः तथा आकाशस्याप्यन्येनाधारेण भवितव्यमिति, तन्न,

---

मध्य और अन्त व्यपदेश है तो परमाणु भी प्रदेशत्व को प्राप्त होता है अर्थात् वह सप्रदेशी है । यदि उसके आदि, मध्य और अन्त व्यपदेश नही है तो उसका गधे के सीग के समान अभाव ही है ? **उत्तर**—ऐसी आशका उचित नही है क्योकि आदि, अन्त और मध्य का अभाव होते हुए भी विज्ञान का अभाव नही है, उसी प्रकार परमाणु के भी आदि, मध्य और अन्त का व्यपदेश न होने पर भी परमाणु का अभाव नही है । परमाणु के अस्तित्व की सिद्धि आगे करेगे ।। ५ ।।

अब अवधृतप्रदेश वाले धर्मादि द्रव्यो के आधार का प्रतिपादन करने के लिये कहते है—

इन सभी द्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह है ।। १२ ।।

अनन्तरत्व होने से पुद्गलो के अवगाहन का प्रसग आता है ऐसी आशका उचित नही है क्योकि समुदाय की अपेक्षा यहाँ वर्णन है । **प्रश्न**—पुद्गलो का वर्णन है इसलिये निकटतम होने से लोकाकाश मे पुद्गलो के अवगाहन का प्रसग आता है ? **उत्तर**—यद्यपि पुद्गलो का प्रकरण है फिर भी यहाँ पर समुदाय की अपेक्षा से वर्णन है अत समुदित धर्मादि सर्वद्रव्यो की अपेक्षा से कथन है इसलिये अनन्तर होने से पुद्गल का ही ग्रहण हो, ऐसा नही है तथा धर्म-अधर्म पुद्गल जीवादि पृथक् क्षेत्र मे भी नही है अत सर्वद्रव्यो का आधार लोकाकाश सिद्ध होता है ।। १ ।।

आकाश के भी अन्य आधार की कल्पना करना समुचित नही है क्योकि आकाश स्वप्रतिष्ठ है । **प्रश्न**—जैसे-धर्मादि का आधार लोकाकाश है वैसे ही लोकाकाश का आधार कोई दूसरा होना

कि कारणम् ? [1]स्वप्रतिष्ठत्वात् । स्वस्मिन् प्रतिष्ठाऽस्येति स्वप्रतिष्ठमाकाशम् । स्वात्मैवास्याधेय-आधारश्चेत्यर्थः । कुतः ?

ततोऽधिकप्रमाणद्रव्यान्तराधाराभावात् । ३ । न हि आकाशादधिकप्रमाण द्रव्यान्तरमस्ति यत्राकाशमाधेय स्यात्, तत सर्वतो विरहितान्तस्यास्याधिकर[2]णान्तरस्याऽभावात् स्वप्रतिष्ठमवमेयम् ।

तथा चानवस्थानिवृत्तिः । ४ । एव च कृत्वा अनवस्थादोपनिवृत्तिर्भवति—यत स्वप्रतिष्ठमाकाश न तस्यान्यदधिकरण द्रव्यान्तरमस्ति । अन्याधिकरणत्वे हि तस्याप्यन्यत् [3]तस्याप्यन्यदित्यनवस्था प्रसज्येत । किञ्च,

परमार्थतया आत्मवृत्तित्वात् । ५ । एवंभूतनयादेशात् सर्वद्रव्याणि परमार्थतया आत्मप्रतिष्ठानीत्याधाराधेयाभावात् कुतोऽनवस्था ?

अन्योन्याधारताव्याघात इति चेत्; न; व्यवहारतस्तत्सिद्धेः । ६ । स्यान्मतम्—

चाहिए ? **उत्तर**—ऐसा कहना उचित नही है । आकाश स्वप्रतिष्ठित है । अपने आप मे इसकी प्रतिष्ठा (अवगाहन) है इसलिये आकाश स्वप्रतिष्ठ कहलाता है । आकाश स्वय ही आधार है और स्वय ही आधेय है, ऐसा समझना चाहिये क्योकि— ।। २ ।।

आकाश द्रव्य से अधिक प्रमाण वाले द्रव्यान्तर के आधार का अभाव है । आकाश द्रव्य से अधिक प्रमाण वाला दूसरा द्रव्य नही है, जिसमे आकाश द्रव्य आधेय होवे । अत. सर्वत· (चारो तरफ से) अन्तरहित इस आकाश के अधिकरणान्तर (अन्य अधिकरण) का अभाव होने से आकाश स्वप्रतिष्ठ है, ऐसा जानना चाहिये ।। ३ ।।

तथा अनवस्था की निवृत्ति हो जाती है । ऐसा मानने पर अनवस्था दोष भी नही आ सकता क्योकि आकाश स्वप्रतिष्ठ है उसके लिए अन्य अधिकरण (आधार) की आवश्यकता नही है । आकाश द्रव्य का अन्य अधिकरण मानने पर ही उसका अन्य आधार, फिर उसका अन्य तथा फिर उसका भी अन्य आधार मानने पर अनवस्था दोष आता है । किञ्च—।। ४ ।।

परमार्थ से आत्मवृत्ति है । एवभूतनय की दृष्टि से देखा जाय तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं, अत. इनमे आधार भाव का अभाव है इसलिये इनमे अनवस्था दोष कैसे आ सकता है ? ।। ५ ।।

इस प्रकार मानने से परस्पर आधार-आधेय भाव के व्याघात की आशका भी नही है, क्योकि व्यवहार से इनकी सिद्धि है । **प्रश्न**—यदि सर्वद्रव्यपरमार्थ से स्वप्रतिष्ठित है तो 'वायु का

---

१ स्वप्रतिष्ठितत्वा–अ । २ –णस्यान्त-अ । ३. तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यदित्य-मु ।

यदि सर्वाणि द्रव्याणि परमार्थतया स्वात्मप्रतिष्ठानि ननु यदुक्तम्—"**वायोराकाशमधिकरणम्, उदकस्य वायुः, पृथिव्या उदकम्, सर्वजीवानां पृथिवी, अजीवा जीवाधाराः, जीवाश्चाऽजीवाधाराः, कर्मणामधिकरणं जीवाः, जीवानां कर्माणि, धर्माधर्मकाला आकाशाधिकरणाः**" इत्येतस्या अन्योन्याधारताया व्याघात इति, तन्न किं कारणम्? व्यवहारतस्तत्सिद्धे। सर्वमिदमुक्तम् अन्योन्याधारत्व व्यवहारनयवक्तव्यबललाभादेशात् सिद्ध्यति। व्यावहारिकमेतत्—आकाशे वातादीनामवगाह इति। आधारान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्ग इति। परमार्थतस्तु आकाशवत् वातादीन्यपि स्वात्माधिष्ठानानि। तत्कथमिति चेत्? उच्यते—

[1]**क्रियाविष्टकर्तृकर्माधारवत्** ।७। क्रिया द्विविधा—कर्तृसमवायिनी कर्मसमवायिनी चेति। तत्र कर्तृसमवायिनी आस्ते गच्छतीति। कर्मसमवायिनी ओदन पचति,-कुशूल भिनत्तीति। तदा विष्टस्य कर्तु कर्मणश्चाधार आसनादि स्थाल्यादिश्च। तत्र व्यवहारनयवशात् क्रियाया द्रव्यमधिकरणम्, [2]तदाविष्टस्य

आकाश अधिकरण है, जल का वायु आधार है, पृथ्वी के लिए जल अधिकरण है, सब जीवो का आधार पृथिवी है, जीवो का अधिकरण अजीव हैं, सर्वजीवो का आधार जीव है, कर्मो का अधिकरण जीव है, जीव का अधिकरण कर्म है तथा धर्म, अधर्म और काल का अधिकरण आकाश है।' इस अन्योऽन्य (परस्पर) आधार-आधेय भाव का व्याघात होगा अर्थात् इस शास्त्र-कथन का लोप होगा। उत्तर—ऐसी आशका उचित नही है क्योकि व्यवहार नय से उसकी सिद्धि होती है। यह सर्व उपर्युक्त अन्योऽन्याधारत्व व्यवहारनय वक्तव्यबल के लाभ से सिद्ध होते हैं। अत. आकाश मे वात (वायु) आदि का आधार (अवगाह) व्यवहार नय से है। क्योकि आधारान्तर (दूसरे आधार की) कल्पना करने पर अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आता है परमार्थ से तो आकाश के समान वायु आदि भी अपने आप मे ही अवस्थित है। प्रश्न—वायु आदि अपने आप मे कैसे अवस्थित है? ॥ ६ ॥

उत्तर—क्रिया से आविष्ट कर्तृकर्म आधार के समान। क्रिया दो प्रकार की होती है—कर्तृसमवायिनी और कर्मसमवायिनी। आस्ते गच्छति-बैठा है, जाता है, इत्यादि क्रिया कर्तृसमवायिनी क्रिया है। ओदन पकाता है, कुशूल भेदता है, कर्मसमवायिनी क्रिया है। जैसे—व्यवहारनय से आस्ते, गच्छति आदि कर्तृसमवायिनी क्रियाओ का कर्त्ता और ओदन को पकाता है, घडे को फोडता है, आदि कर्मसमवायिनी क्रियाओ का आधार कर्म माना जाता है, तथा क्रियाविष्ट (क्रिया से युक्त) कर्त्ता और कर्म का आधार आसनादि और वटलोई (कर्त्ता क्रिया का आधार आसनादि है और कर्म क्रिया का आधार वटलोई है क्योकि कर्त्ता चटाई पर बैठता है, पानी

---

१ क्रियाधिष्ठक—ता, अ द। २ तदाधिष्टस्य ता ३ अ।

द्रव्यस्य द्रव्यान्तरम् । परमार्थतस्तु एवंभूतनयवशात् क्रिया क्रियात्मन्येव, द्रव्यमपि स्वात्मन्येव । तथा लोकाकाशेऽवगाहो धर्मादीनामिति व्यवहारनयादेशादुक्तम्, परमार्थतस्तु सर्वद्रव्याणि स्वात्माधिकरणानि ।

आकाशधर्मादीनामाधाराधेयत्वात् कुण्डबदरवत् प्रसङ्ग इति चेत्; न; अयुतसिद्धेऽपि तद्दर्शनात् शरीरे हस्तवत् । ८ । स्यादेतत्–यथा कुण्डे बदराणि इत्याधार. कुण्डम्, आधेयानि बदराणीति पूर्वापरकालत्व युतसिद्धिश्च तेषाम्, तथा आधारत्वात् पूर्वमाकाशं पश्चाद्धर्मादीन्याधेयत्वादिति [१]युतसिद्धि अतोऽनादित्वव्याघात इति, तन्न; कि कारणम् ? [२]अयुतसिद्धेऽपि तद्दर्शनात् । कथम् ? शरीरे हस्तवत् । यथा हस्तशरीरयोर्युगपदुत्पत्तौ पूर्वापरत्वेऽसति अयुतसिद्धस्य हस्तस्य शरीरमाधार., तथा आकाशधर्मादीनामनादिपारिणामिकयौगपद्यसिद्धौ असति पूर्वापरीभावे भवत्याधाराधेयत्वम् । किञ्च,

---

आदि बटलोई मे रहते हैं । अत. चटाई बटलोई आदि आधार) समझी जाती है उसी प्रकार व्यवहारनय की अपेक्षा क्रिया का अधिकरण (आधार) द्रव्य है और क्रियाविष्ट द्रव्य का अधिकरण द्रव्यान्तर है; परन्तु परमार्थ से एवभूत नय की अपेक्षा से क्रिया का आधार क्रिया ही है अर्थात् क्रिया अपने स्वरूप मे ही है और द्रव्य अपने स्वरूप मे, इसो प्रकार सभी द्रव्य स्वाधार हैं तथा धर्मादि का लोकाकाश मे अवकाश व्यवहार नय से कहा जाता है, निश्चय न ने सर्वद्रव्यो का स्वात्मा ही अधिकरण है ।। ७ ।।

आकाश और धर्मादिक मे आधार-आधेय भावत्व होने से कुण्डे मे बदरी फलके समान प्रसग आयेगा, ऐसा नही है क्योकि शरीर मे हाथ के समान अयुतसिद्ध मे भी आधार-आधेय भाव देखा जाता है । **प्रश्न**—जेसे कुण्डे मे बदरीफल है, उसमे कुण्ड आधार है और बदरीफल आधेय हैं, इनमे पूर्वापरकालता और युतसिद्धि है, आकाश मे धर्मादि का आधारत्व उसी प्रकार का होने से आकाश पूर्व और आधेयत्व होने से धर्मादि पश्चात् होगे । पूर्वापरत्व (ऐसा) होने से धर्मादि द्रव्यो के अनादिपने का व्याघात हो जाता है ? **उत्तर**—जिस प्रकार कुण्डे और बेर मे आधार-आधेयभाव मानने पर पूर्वापरकालता और युतसिद्धि है उस तरह अ काश और धर्मादि मे आधार-आधेयभाव होने पर भी पूर्वापरता और युतसिद्धि नही है क्योकि शरीर मे हाथ के समान अयुतसिद्ध मे भी आधार-आधेयभाव देखा जाता है, जैसे—हाथ और शरीर आदि मे आधार-आधेयभाव होने पर भी न तो इनमे पूर्वापरकाल है और न युतसिद्धि ही है; क्योकि शरीर और हाथ ये दोनो एक साथ उत्पन्न होते हैं और अयुतसिद्ध हैं । इसी प्रकार आकाश और धर्मादि द्रव्य अनादि पारिणामिक हैं तथा एक साथ उत्पन्न है । इनमे कोई पहले का और कोई बाद का नही है अत· पूर्वापरभाव न होने पर भी आधार-आधेयभाव मानने मे कोई विरोध नही है ।। ८ ।।

---

१ भिन्न-आधार आधेय को युतसिद्ध कहते हैं । २ एक आधार-आधेय को अयुतसिद्ध कहते हैं ।

अनेकान्तात् । ६ । नैतदैकान्तिकम्–युतसिद्धस्यैवाधाराधेयत्व नायुतसिद्धस्येति । [1]स्तम्भसारादिषु कुण्डबदरादिषु च दर्शनात् । तस्मादनेकान्तान्नायमुपालम्भ ।

अथ लोकाकाश इत्युच्यते, को लोको नाम ?

यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः । १० । पुण्यपापयो कर्मणो फल सुखदु ख-लक्षण यत्रा (यत्र) लोक्यते स लोक । क पुनरसौ ? आत्मा ।

लोकतीति वा लोकः । ११ । लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोक [2] ।

इतरद्द्रव्याालोकप्रसङ्ग इति चेत्; न; रूढौ [3]क्रियाया व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । १२ । स्यादेतत्–द्विधाप्युक्तेन क्रमेण जीवस्यैव लोकत्व प्राप्तम् इतरेषा द्रव्याणामलोकत्वं ततश्च **"षड्द्रव्यसमूहो लोकः"** इत्यार्षस्य विरोध इति, तन्न, किं कारणम् ? रूढौ क्रियाया व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । यथा गच्छतीति गौरिति

इसमे अनेकान्त है। यह ऐकान्तिक नियम भी नही है कि युतसिद्ध के ही आधार-आधेय भाव होता है, अयुतसिद्ध के नही। क्योकि स्तभ और सार जैसे अयुतसिद्ध और कुण्ड और वदर जैसे युतसिद्ध दोनो पदार्थो मे ही आधार-आधेयभाव देखा जाता है इसलिये यह एकान्त से उलहना (उपालभ) नही है क्योकि इसमे अनेकान्त है अर्थात् युतसिद्ध अयुतसिद्ध पृथग् और अपृथग् दोनो मे ही आधार-आधेयभाव पाया जाता है ।। ६ ।।

शका—'लोकाकाश' कहने पर लोक क्या है ?

उत्तर—जहाँ पुण्य और पाप का फल देखा जाता है, वह लोक है वा जिसमे पुण्य और पापरूप कर्मो का सुख-दु खरूप फल देखा जाता है, वह लोक है। इस व्युत्पत्ति मे लोक का अर्थ हुआ आत्मा ।। १० ।।

अथवा, जो देखता है, वह लोक है। जो 'लोके' अर्थात् देखे जाने वाले पदार्थो को देखता है, जानता है, प्राप्त करता है, वह लोक है ।। ११ ।।

यदि देखे उसको लोक कहेगे तो जीव को छोडकर अन्य द्रव्यो मे अलोकत्व का प्रसग आयेगा, ऐसा नही है क्योकि रूढि मे क्रिया की व्युत्पत्ति निमित्त मात्र होती है। शका—दोनो ही प्रकार से शब्द की व्युत्पत्ति मे क्रम से जीव के ही लोकपने की सज्ञा प्राप्त होती है, इतर (दूसरे) धर्मादि पांच द्रव्यो मे अलोकत्व की। अत छह द्रव्यो का समूह लोक है-इस आर्षवचन के साथ विरोध आयेगा। उत्तर—यद्यपि दोनो प्रकार की व्युत्पत्तियो मे जीव को ही लोक सज्ञा प्राप्त होती है तथापि न तो अन्य द्रव्यो को अलोक कहा जाएगा और न 'छह द्रव्यो का समूह' इस सिद्धान्त का विरोध ही होगा

---

१ स्तम्भे सार इति । २ आत्मा । ३ क्रियाव्यु—ता, अ, मु, द ।

व्युत्पत्तौ स्थितादीना न गोत्वनिवृत्ति., तथा लोकनाल्लोक इति व्युत्पत्तावपि धर्मादीनामपि न लोकत्व हीयते ।

लोक्यत इति वा लोकः । १३ । सर्वज्ञेनाऽनन्ताऽप्रतिहतकेवलदर्शनेन लोक्यते य· स लोक· । तेन धर्मादीनामपि लोकत्व सिद्धम् ।

आत्मनोऽलोकत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; स्वात्मलोकनात् । १४ । यो लोकते आत्मा तस्याऽलोकत्वं प्राप्नोति लोक्यत्वाभावादिति, तन्न, कि कारणम् ? स्वात्मलोकनात् । योऽसौ सर्वज्ञो बाह्य लोकमान स आत्मानमपि लोकते इति लोकत्वमस्य सिद्धम्, इतरथा हि तस्य सर्वदर्शित्वाभाव आत्मानवलोकनात् । आत्मानमनवलोकमानस्य बाह्यलोकनासभवश्च घटादिवत् । यथा घटादिरात्मानमपश्यन्नपरान् न पश्यति ।

अलोकस्यापि लोकत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात् । १५ । स्यान्मतम्—

क्योंकि रूढि मे क्रिया व्युत्पत्ति का निमित्त मात्र होती है, जेसे—'गच्छतीति गौ' ऐसी व्युत्पत्ति करने पर भी न तो सभी चलने वाले गौ बन जाते हैं और न बैठी हुई गाय 'अगौ', गौत्व से रहित हो जाती है। इसी प्रकार 'लोकनात् लोक.' ऐसी लोक शब्द की व्युत्पत्ति करने पर भी धर्म अधर्मादि द्रव्यो का लोकत्व नष्ट नही होता ।। १२ ।।

अथवा, लोक्यते देखा जाता है, वह लोक है, ऐसी व्युत्पत्ति करने पर अप्रतिहत अनन्त केवलदर्शन वाले सर्वज्ञ के द्वारा जो देखा जाता है, वह लोक है, इससे धर्मादि द्रव्यो के भी लोकत्व सिद्ध होता है क्योकि धर्मादिक द्रव्य भी सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा देखे जाते है ।। १३ ।।

स्वात्मा का आलोकन करने वाला होने से आत्मा मे अलोकत्व का प्रसग नही आता । आत्मा जिसको देखता है, वह लोक है; ऐसा कहने पर आत्मा के अलोकत्व प्राप्त होगा, ऐसी आशका नही करनी चाहिये क्योकि आत्मा स्वय अपना अवलोकन करता है अत उसके लोकत्व सिद्ध है, जैसे—सर्वज्ञ भगवान् वाह्य पदार्थो का अवलोकन करते है, वैसे अपने स्वरूप का भी लोकन करते है, यदि सर्वज्ञ अपने स्वरूप का अवलोकन नही करेगे तो स्वस्वरूप का अवलोकन नही करने से वे सर्वज्ञ कैसे वनेगे ? आत्मा को नही जानने वाले वे फिर वाह्य पदार्थो को भी कैसे जान सकते है । जैसे घटादि स्व स्वरूप को नही देखते इसलिये परपदार्थो को भी नही देख सकते, उन्ही घटादि की तरह स्व स्वरूप को नही देखने वाले सर्वज्ञ या आत्मा परपदार्थो को भी नही देख सकते अत उनके सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व का अभाव हो जाएगा ।। १४ ।।

अलोकाकाश के भी लोकत्व का प्रसंग आएगा, ऐसी आशंका करना भी उचित नही है, क्योकि इसका वर्णन पूर्व मे किया है । प्रश्न—'लोक्यते इति लोकः' लोक की ऐसी व्युत्पत्ति करने

यदि लोक्यत इति लोक', अलोकस्यापि लोकत्व प्राप्नोति सर्वदर्शिना लोक्यत्वात् । अथालोक न लोकते, सर्वदर्शित्वमस्य हीयते, [१]न चैतदिष्टम्, तस्माल्लोकत्वप्रसङ्ग: इति; तन्न, कि कारणम् ? उक्तत्वात्–रूढिविशेषबललाभात् विशेषे वृत्तिरिति ।

उभयविशेषणभावाद्वा । १६ । अथवा, उभयविशेषणमिहोपादीयते । यत्रस्थेन सर्वज्ञेन लोक्यते य स लोक इति । न चाऽलोकस्थेनाऽलोको लोक्यते ततो नालोकस्य लोकत्वप्रसङ्ग ।

तस्याऽऽकाशं लोकाकाशं जलाशयवत् । १७ । यथा जलस्य आशय (य) स्थान जलाशय इत्युच्यते, तथा लोकस्याकाश लोकाकाशमिति स्थानापेक्ष सबन्धोऽवसेय ।

धर्माधर्मपुद्गलकालजीवा यत्र लोक्यन्ते स लोक इति वा । १८ । अथवा, धर्माधर्मपुद्गलकालजीवा यत्र लोक्यन्ते स लोक इत्यधिकरणसाधनो घञ् । कि

पर सर्वदर्शी के द्वारा दृष्ट होने से अलोक को भी लोकत्व सज्ञा प्राप्त होगी अर्थात् सर्वज्ञ अलोकाकाश को देखता है, इसलिये अलोकाकाश भी लोकसज्ञा को प्राप्त होगा, यदि सर्वदर्शी अलोकाकाश को नही देखता है तो उसके सर्वदर्शित्व की हानि होगी और सर्वज्ञ के सर्वदर्शित्व की हानि इष्ट नही है अत: अलोकाकाश मे लोकत्व का प्रसग (मानना) उपयुक्त ही है। **उत्तर**—यह आशका उपयुक्त नही है क्योकि ऊपर कह चुके है कि रूढि विशेष बल के लाभ से ही विशेष मे वृत्ति होती है ।। १५ ।।

दोनो ही विशेषणो का सद्भाव है। यहाँ जो देखता है और जहाँ पर रहकर देखता है, उसे लोक कहते है। इन दोनो विशेषणो को यहाँ ग्रहण करना चाहिये। जहाँ बैठकर सर्वज्ञ देखता है, वह लोक है। यह व्युत्पत्ति करने मे कोई दोष नही है क्योकि अलोकाकाश मे बैठकर तो सर्वज्ञ किसी को देखता नही है अत अलोकाकाश मे लोक का प्रसग नही आ सकता ।। १६ ।।

जैसे जल का आशय (स्थान) जलाशय कहलाता है उसी प्रकार लोक का आकाश लोकाकाश कहलाता है। अर्थात् जहाँ जल रहता है, उसको जलाशय कहते है। जिन का आलय जिनालय है उसी प्रकार लोक (छह द्रव्यो का समूह) का आकाश लोकाकाश कहलाता है, इस प्रकार स्थान की अपेक्षा सम्बन्ध जानना चाहिये ।। १७ ।।

धर्म, अधर्म, पुद्गल, काल और जीव जहाँ पर देखे जाते हैं, उसको लोक कहते है। इस अधिकरण साधन मे 'घञ्' प्रत्यय हुआ है। **प्रश्न**—अधिकरण क्या है ? **उत्तर**—आकाश सव

---

१ न चैतद्दृष्ट मु., व ।

पुनरधिकरणम् ? आकाशम् । लोक एवाकाशं लोकाकाशमिति समानाधिकरणलक्षणा वृत्ति, तस्मिन्नवस्थानं धर्मादीनां द्रव्याणाम् । अत आकाशं परप्रत्ययवशात् द्वेधा विभज्यते–लोकाकाशमलोकाकाशं चेति । लोकाकाश धर्माधर्मतुल्याऽसख्येयप्रदेशम् । बहिः समन्तादनन्तमलोकाकाशम् ।

तत्रावध्रियमाणानामवस्थानभेदसंभवात् विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

निरवशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थं कृत्स्नवचनम् । १ । यथा अगारैकदेशे घटस्यावस्थान न तथा धर्माधर्मयो. लोकाकाशेऽवग्राह । कि तर्हि ? तिलेषु तैलवदिति निरवशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थं कृत्स्नवचन क्रियते । धर्माधर्मौ हि लोकाकाशमशेष नैरन्तर्येण व्याप्य स्थितौ । कथमेपा परस्परप्रदेशाविरोध. ?

अमूर्तित्वात् त्रयाणां परस्परप्रदेशाविरोधः । २ । मूर्तिमन्तोऽपि केचित्

द्रव्यो का अधिकरण है, अत लोक ही आकाश है, वह लोकाकाश है। इस प्रकार इसमे समान अधिकरण समास है। उसमे धर्मादि द्रव्यो का अवस्थान है, वह लोकाकाश है। अत आकाश पर-प्रत्ययो के कारण दो भागो मे बँट जाता है-लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश धर्म, अधर्म आदि द्रव्यो के समान असख्यातप्रदेशी है, लोकाकाश के बाहर चारो तरफ अनन्त अलोकाकाश है ॥ १८ ॥

लोकाकाश मे अवध्रियमाण जीवादि पदार्थो के अवस्थान-भेद की सभावना होने से विशेप प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते है—

धर्म और अधर्म द्रव्य तिलों में तैल के समान सारे लोकाकाश में व्याप्त है ॥१३॥

कृत्स्न शब्द निरवशेप-सम्पूर्ण व्याप्ति का सूचक है। जैसे–घर के एकदेश मे घट रहता है वैसे लोकाकाश के एक देश मे धर्म, अधर्म द्रव्य नही रहते अपितु तिलो मे तैल के समान सर्व लोकाकाश को व्याप्त करके रहते है इसलिये निरवशेप व्याप्ति का प्रदर्शन कराने के लिये सूत्र मे कृत्स्न वचन का प्रयोग किया है। क्योकि धर्म और अधर्म द्रव्य निरन्तर सारे लोकाकाश मे व्याप्त होकर रहते है। प्रश्न—धर्म, अधर्म आदि के प्रदेश परस्पर अविरोध रूप से एक स्थान मे कैसे रहते है ? ॥ १ ॥

उत्तर—अमूर्त्तिक होने से धर्म, अधर्म और आकाश के प्रदेशो मे परस्पर विरोध नही है। जब मूर्त्तिमान् जल, भस्म, रेत आदि पदार्थ विना विरोध के एक स्थान में रह सकते है तब इन अमूर्त्तिक द्रव्यो की एकत्र स्थिति मे तो कहना ही क्या ? अर्थात्-जैसे पानी मे भरे हुए घट मे चीनी-रेत-भस्म, लोहे के काँटे आदि प्रवेश कर जाते है वैसे ही परस्पर विरोधरहित जीवादि अनन्त पदार्थ लोकाकाश

जलभस्मसिकतादय एकत्र अविरोधेनाऽवतिष्ठन्ते किमुताऽमूर्तीनि धर्माधर्माकाशानि। तस्मादमूर्तित्वादेषा परस्परप्रदेशाविरोधो वेदितव्य ।

अनादिसंबन्धपरिणामाच्च ।३। भेदसघातगतिपरिणामपूर्वकादिमत्सबन्धाना स्थविष्ठाना स्कन्धाना [1]केषाञ्चित् [2]प्रदेशविरोध. स्यात् न तु धर्मादीना तद्वत् आदिमान् सबन्ध., पारिणामिकाऽनादिसबन्धात्तेषाम्, ततश्च अन्योऽन्यप्रदेशाविरोध सिद्ध. ।

ततो विपरीताना मूर्तिमताम[3]प्रदेशसख्येयाऽनन्तप्रदेशाना पुद्गलानामवगाहन-विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।। १४ ।।

एकप्रदेशादिष्वित्यवयवेनविग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः[4] ।१। एकश्चासौ प्रदेश-श्चैकप्रदेश:, एकप्रदेश आदिर्येषां त इमे एकप्रदेशादय. । के पुनस्ते ? प्रदेशा । कुत एतत् ? तुल्यजातीयत्वात् उपलक्ष्योपलक्षणयो· सोमशर्मादिवत्[5] । प्रदेशग्रहणानुवृत्तेर्वा,

---

मे रह जाते हैं। इसलिये अमूर्त्तिक होने से इन धर्मादि के प्रदेशो का परस्पर एक स्थान मे रहने मे कोई विरोध नही है, ऐसा जानना चाहिए ।।२।।

इनका अनादि सम्बन्ध पारिणामिक स्वरूप होने से भी कोई विरोध नही है। भेद, सघात, गति, परिणाम पूर्वक आदिमान् सम्बन्ध वाले किसी स्थूल स्कन्धो के प्रदेशो मे परस्पर विरोध हो भी सकता है—अर्थात् बहुत से प्रदेशवाले पदार्थ थोडे स्थान मे नही रह सकते, परन्तु भेद-सघात वाले पदार्थो के समान धर्मादि पदार्थो का आकाश प्रदेशो के साथ आदि सम्बन्ध नही है अपितु इनका पारिणामिक सम्बन्ध है अत: इनमे परस्पर प्रदेशो का अविरोध सिद्ध है अर्थात् अमूर्त्तिक पूर्वापरभाव-रहित अनादिसम्बन्धी धर्मादिक का परस्पर विरोध नही है ।। ३ ।।

अब धर्मादि द्रव्यो से विपरीत मूर्त्तिमान् पुद्गलो के सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशो के अवगाहन विशेष का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

पुद्गलों का अवगाह एक प्रदेश आदि असंख्यात प्रदेशों में है ।। १४ ।।

'एकप्रदेशादि मे' ऐसे अवयव से विग्रह करके समुदाय वृत्त्यर्थ है। 'एकप्रदेशादिषु' पद में 'एकश्चासौ प्रदेश' ऐसा अवयव से विग्रह करके 'अखण्ड एक प्रदेश' को—समुदाय को समासार्थ समझना चाहिये अथवा एक प्रदेश है आदि मे जिसके वह एक प्रदेश है तथा सोमशर्मादि की तरह उपलक्ष्य और उपलक्षण मे तुल्य जातीयत्व होने से एक प्रदेश का भी ग्रहण करना चाहिए।

---

१ समुद्रवीच्यादीनाम्। २ शिलादिषु। ३ परमाणु। ४. 'अवयवेन विग्रह समुदाय समासार्थ' पात. महा. २।२।२४। ५ सोमशर्मवत् श्र । सोम इति (इव) शर्म श्रेयो यस्य स तथोक्त ।

ते[1]ष्वेकप्रदेशादिषु इति विग्रहे समुदायो वृत्त्यर्थः सर्वादिवत् । तेनैक[2]प्रदेश उपलक्षण-भूतोऽप्यन्तर्भवति ।

भाज्यो विकल्प्यः । २ । भजनीयो भाज्य पृथक्कर्तव्यः विकल्प्यो विभाज्य[3] इत्यनर्थान्तरम् । कः पुनरसौ ? अवगाह इत्यनुवर्तते । तद्यथा–एकस्य परमाणोरेकत्रैव आकाशप्रदेशेऽवगाह, [4]द्वयोरेकत्रोभयत्र च बद्धयोरबद्धयोश्च, त्रयाणामेकत्र द्वयोस्त्रिषु च बद्धानामबद्धाना च । एव संख्येयासख्येयाऽनन्तप्रदेशाना स्कन्धानामेकसख्येयासख्येय-प्रदेशेषु लोकाकाशे अवस्थान प्रत्येतव्यम् ।

एकप्रदेशे नैकस्यावस्थानमयुक्तमिति चेत्; न; उक्तत्वात् । ३ । स्यान्मतम्–भवतु तावद्धर्मादीना एकप्रदेशेऽवस्थानम् अमूर्तिस्वभावत्वात्, मूर्तिमतां तु पुद्गलानाम् एकप्रदेशेऽवस्थानमयुक्तम् । भवति चेत्, प्रदेशस्य विभागवत्त्वं प्रसक्तम्, अवगाहिना

जैसे 'सोमशर्मादि' मे सोमशर्मा का भी ग्रहण होता है, उसी प्रकार यहाँ एक प्रदेश का भी ग्रहण करना चाहिए। अथवा, प्रदेश शब्द की अनुवृत्ति करके 'सर्वादि' की तरह "एकप्रदेशादिषु" इस समुदाय को समासार्थ समझना चाहिए। इसलिये उपलक्षणभूत एक प्रदेश का भी अन्तर्भाव हो जाता है ॥ १ ॥

भाज्य अर्थात् विकल्प्य है। भजनीय, भाज्य, पृथक् कर्त्तव्य, विकल्प्य और विभाज्य ये एकार्थ-वाची है। इसमे अवगाह शब्द की अनुवृत्ति करनी चाहिए। जैसे—एक परमाणु का एक ही आकाश प्रदेश में अवगाह है। दो परमाणु यदि परस्पर बद्ध है तो एक प्रदेश मे और यदि परस्पर अबद्ध है तो दो प्रदेशो मे उनका अवगाह होता है, उसी प्रकार बद्ध तीन परमाणु की और अबद्ध तीन परमाणु की अवस्था मे एक-दो एव तीन प्रदेशो मे उनका अवगाह होता है, इसी प्रकार बधविशेष के कारण सख्यात, असख्यात और अनन्तप्रदेशी पुद्गल स्कन्धो का लोकाकाश के एक, सख्यात और असख्यात प्रदेशो मे अवस्थान जानना चाहिए ॥ २ ॥

एकप्रदेश मे एक (अमूर्त्तिक द्रव्य) का अवस्थान अयुक्त नही है (मूर्त्तिक का एक स्थान मे अयुक्त ही है) ऐसी आशका नही करनी चाहिये क्योकि इसका वर्णन पूर्व मे किया है। प्रश्न—अमूर्त्तिक स्वभाव होने से धर्मादिक द्रव्यो का एकप्रदेश मे अवस्थान हो सकता है परन्तु मूर्त्तिमान् अनेक पुद्गलद्रव्यो का एक प्रदेश मे अवस्थान कैसे हो सकता है ? यदि एकप्रदेश मे मूर्त्तिमान् पुद्गलो का अवस्थान होगा तो या तो प्रदेश के विभागत्व का प्रसग आयेगा अथवा फिर अवगाही पुद्गलो मे एकत्व मानना पड़ेगा। उत्तर- ऐसा नही है। क्योकि यह पहले कहा जा

---

1 [illegible]। 2 –प्रदेश–श्र । 3 विभाज्य इ–ता, मू श्र । 4 द्वयो परमाण्वोर्बद्धयोरबद्धयोश्च [illegible] प्रदेशयोरवगाह इत्यर्थ ।

चैकत्वमिति, तन्न, किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्[१] प्रचयविशेषा[२]दिभिरै-(रे) कत्रावस्थानमिति । किञ्च,

एकापवरकेऽनेकप्रकाशावस्थानदर्शनादविरोधः । ४ । यथैकस्मिन्नपवरके बहव. प्रकाशा: वर्तन्ते न च क्षेत्रविभाग., नापि एकक्षेत्रावगाहित्वात् तेषा प्रकाशानामेकत्वम्, तथैकस्मिन् प्रदेश अनन्ता अपि स्कन्धा· सूक्ष्मपरिणामात् असङ्करेण व्यवतिष्ठन्त इति नास्ति विरोध. । किञ्च,

द्रव्यस्वभावस्याऽचोदनार्हत्वात् । ५ । द्रव्याणा हि स्वभावा. प्रतिनियता. सन्ति न ते चोदनार्हा –एवं भवतु मैवं भूदिति[३] । यथा अग्न्यादीना दहनादय तृणादीनां च दाह्यत्वादयस्तथा मूर्तिमत्त्वेऽपि अवगाहनस्वभावत्वादेकस्मिन्नपि प्रदेशे बहूना स्कन्धानामवरोधो न विरोधाय[४] कल्प्यते । किञ्च,

आर्षोक्तत्वात् सूक्ष्मनिगोतावस्थानवत् । ६ । सर्वज्ञज्ञानद्योतितार्थसार गणधरानुस्मृतवचनरचन शिष्यप्र[५]शिष्यप्रबन्धा[६]ऽव्युपरमादव्युच्छिन्नसन्तानम् आर्षमवितथमस्ति–

चुका है कि प्रचयविशेष, सूक्ष्मपरिणमन और आकाश की अवगाहन शक्ति के कारण अनेक द्रव्यो का एकत्र अवस्थान हो जाता है ।। ३ ।।

एक कोठे (कमरे) मे अविरोध रूप से अनेक प्रकाशो का अवस्थान देखा जाता है। जैसे एक कमरे मे बहुत से दीपको का प्रकाश रह जाता है, न तो उससे क्षेत्र विभाग (भिन्न-भिन्न क्षेत्र) होता है और न एक प्रदेश मे रहने से उन सब प्रकाशो का एकत्व होता है अर्थात् उनकी पृथक् सत्ता नष्ट नही होती है, उसी प्रकार एक प्रदेश मे अनन्त स्कन्ध अतिसूक्ष्म परिणमन के कारण स्वभाव मे साङ्कर्य हुए बिना ही रह सकते है । इसमें कोई विरोध नही है ।। ४ ।।

अथवा, द्रव्य का स्वभाव तर्कणा के योग्य नही है । क्योकि द्रव्यो के स्वभाव प्रतिनियत होते हैं । उनके स्वभाव मे ऐसा हो, ऐसा न हो, ऐसा तर्क नही चलता । जैसे अग्नि का स्वभाव जलाने, पकाने आदि का है और तृण आदि का स्वभाव जलने पकने आदि का है । इनके स्वभाव मे कोई तर्क नही चलता, उसी प्रकार पुद्गलादि के मूर्त्तिमान्द्रव्य होने पर भी अनेक स्कन्धो का एक आकाशप्रदेश मे अवगाहन स्वभाव के कारण अवस्थान होने मे कोई विरोध नही है। अर्थात् एकप्रदेश मे अनेक स्कध रह सकते हैं ।। ५ ।।

अथवा, आर्षप्रणीत आगम होने से सूक्ष्म निगोदिया जीवो के अवस्थान के समान एकप्रदेश

---

१ सहृतविसर्पितादिवार्त्तिकव्याख्यानावसरे । २ –दिति चैकत्रा-मु, द, व, ता, श्र । ३ लड् लुङ लृङ्घमानाडित्यत्र अमाङिति निषेधान्नाट् । ४ विकल्प्यते–श्र, मू । ५ प्रतिग–मु, द, व । ६. –न्धानुप –मु द व ।

"श्रोगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहि सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहि बादरेहि श्रणंताणंतेहि विविधेहि ।।" [पञ्चास्ति. गा. ६४]

इत्येवमादि । अतस्तत्प्रामाण्यादपि उक्तोऽवगाहोऽवसेय । यथैकनिगोतजीवशरीरेऽनन्ता निगोतजीवाः तिष्ठन्ति साधारणाऽऽहारप्राणापानजीवितमरणत्वात् साधारणा इत्यन्वर्थसंज्ञा इत्येतदागमप्रामाण्यादवसीयते तथैवेदमपीति ।

अथ जीवानामवगाह कथमित्यत इदमुच्यते–

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ।। १५ ।।

असंख्येयभागादिष्विति चोक्तम् । किमुक्तम् ?

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थ इति । १ । असख्येयाना भागानामेको भागोऽसख्येयभागः, असख्येयभाग आदिर्येषा ते असख्येयभागादयः तेषु असख्येयभागादिषु । किं भाज्य ? अवगाह इत्यनुवर्तते । अत्राह–कस्याऽसख्येयभागादिष्विति ?

मे अनेक स्कन्ध रह जाते हैं । सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा जिसके अर्थ का सार प्रकट किया गया है, गणधरो ने जिसके वचनो का अनुस्मरण करके जिसकी रचना की है अर्थात् अङ्गो मे विभक्त किया है तथा आरातीय आचार्यों के शिष्यो-प्रतिशिष्यो के प्रबन्ध से विच्छेद के बिना अविच्छिन्न रूप से जिसकी सन्तान-परम्परा चली आ रही है, उन निर्दोष ग्रन्थो को आर्ष कहते है । उन आर्ष (ऋषिप्रणीत) ग्रन्थो मे लिखा है कि सारा लोक-अनन्तानन्त विविध प्रकार के बादर एव सूक्ष्म पुद्गलकाय के द्वारा ठसा-ठस भरा हुआ है, आदि । अत आर्ष वाक्यो की प्रमाणता से भी उक्त स्कधो का एकादि प्रदेशो मे अवगाह जानना चाहिये । जैसे सर्वज्ञप्रणीत आगम के अनुसार एक निगोद शरीर मे साधारण आहार, जीवन-मरण और श्वासोच्छ्वास होने से साधारण सज्ञा वाले अनन्त निगोदियो का अवस्थान बताया है, इसलिये साधारण यह अन्वर्थ सज्ञा आगम प्रमाण से जानी जाती है, उसी प्रकार आगम मे यह भी बताया है कि 'यह सारा लोकाकाश सर्वत अनन्तानन्त विविध सूक्ष्म और बादर पुद्गलकायो से ठसाठस भरा हुआ है ।' अतः आगम प्रमाण से इनका भी अवस्थान समझना चाहिये ।। ६ ।।

अब जीवो का अवगाह कितने क्षेत्र मे है ? सो कहते है—

जीवों का अवगाह असंख्येय एक भाग आदि में है ।। १५ ।।

प्रश्न—'असख्येयभागादिषु' ऐसा क्यो कहा ?

उत्तर—अवयव से विग्रह समुदाय समास के लिये है । जैसे–असख्येय भागो मे से एक भाग असख्येय भाग है और असंख्येय भाग है आदि मे जिसके उसको असख्येय भागादि कहते है । उन असख्येय भागो मे अवस्थान होने से 'असख्येयभागादिषु' ऐसा कहा है । प्रश्न—भाज्य क्या है ?

लोकाकाशप्रकरणात्तदभिसंबन्धः । २ । लोकाकाश इत्यनुवर्तते, अतस्तदभिसंबन्धोऽत्र वेदितव्यः । ननु च असावधिकरणनिर्देश , सबन्धनिर्देशेन चेहार्थं ।

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः । ३ । यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति गम्यते, एवमसंख्येयभागादिषु इत्यनेनाभिसंबन्धात् लोकाकाश इत्येष निर्देश. । लोकाकाशस्येत्यर्थवशात्[1] विभक्ति. परिणम्यते । तद्यथा—लोकस्य प्रदेशा असख्येया भागाः कृता., तत्रैकस्मिन्नसख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते । तथा द्वित्रिचतुरादिष्वपि असंख्येयभागेषु आ सर्वलोकादवगाह प्रत्येतव्य । नानाजीवाना तु सर्वलोक एव ।

असंख्येयत्वाविशेषादवगाहाविशेष इति चेत्; न; असंख्येयस्याऽसंख्येयविकल्पत्वात् । ४ । स्यान्मतम्—एकस्मिन्नप्यसंख्येयभागे प्रदेशा असंख्येया., द्वित्रिचतुरादिष्वपि असंख्येया एव ततो नास्ति जीवानामवगाहविशेष इति, तन्न किं कारणम् ? असख्येय-

---

उत्तर—अवगाह भाज्य है क्योकि अवगाह का प्रकरण चल रहा है । प्रश्न—किसके असख्येय भागो मे जीव रहता है ? ॥ १ ॥

उत्तर—लोकाकाश का प्रकरण होने से लोकाकाश का सम्बन्ध लगाना चाहिये । 'लोकाकाशेऽवगाहः' सूत्र से लोकाकाश शब्द के प्रकरणवश यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए । प्रश्न—'लोकाकाशेऽवगाह' इस सूत्र मे अधिकरण का निर्देश है और यहाँ सम्बन्धनिर्देशन मे है (उनका सम्बन्ध कैसे है ?) ॥ २ ॥

उत्तर—अर्थाधीन विभक्ति परिणाम होता है । जैसे-'ऊँचे घर देवदत्त के है, उसे निमत्रण दो' इसमे (उसे) का अर्थ देवदत्त जाना जाता है अर्थात् देवदत्त का ज्ञान होता है, उसी प्रकार असख्येयभागादि मे सम्बन्ध से लोकाकाश ऐसा निर्देश होता है अत. 'लोकाकाशस्य' इसका अर्थवशात् विभक्ति परिणाम जाना जाता है । जैसे—लोकाकाश के असख्यात प्रदेश हैं, उसके असख्यात का भाग दिया जाय, उसे लोक का असंख्यातवाँ भाग कहते है । उस आकाश के एक असख्येय भाग मे एक जीव रहता है तथा दो, तीन, चार आदि असख्येय भागो मे और सम्पूर्ण लोक मे जीव का अवगाह समझना चाहिये । नाना जीवो का अवगाह क्षेत्र तो सर्वलोक है ॥ ३ ॥

असख्येयत्व मे अविशेषता होने से अवगाह मे विशेषता नही है ऐसी आशका उचित नही है क्योकि असंख्यात के भी असख्यात विकल्प होते हैं। प्रश्न—जब एक असख्येय भाग मे भी असख्यातप्रदेश है और दो तीन चार आदि भागो मे भी असख्यात प्रदेश है, तव जीवो के अवगाह मे कोई विशेषता नही होनी चाहिये ? उत्तर—यह आशका उचित नही है क्योकि असख्येय के

---

१ –शाद्विपरि-अ । –शाद्विपरि-मू ।

स्यासख्येयविकल्पत्वात् । अजघन्योत्कृष्टासख्येयस्य हि असख्येया विकल्पाः । अतोऽवगाहविकल्पो जीवाना सिद्ध. ।

प्रमाणविरोधादवगाहायुक्तिरिति चेत्; न; जीवद्वैविध्यात् । ५ । स्यादेतत्—यदैकस्मिन् लोकस्यासंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते द्रव्यप्रमाणेनानन्तानन्तो जीवराशि लोकाकाशे प्रमाणविरोधान्न स्थातुमर्हति इति, तन्न, कि कारणम् ? जीवद्वैविध्यात् । द्विविधा जीवा बादराः सूक्ष्माश्चेति । तत्र बादरा सप्रतिघातशरीराः । सूक्ष्मा जीवा सूक्ष्मपरिणामादेव सशरीरत्वेऽपि परस्परेण बादरैश्च न प्रतिहन्यन्त इत्यप्रतिघातशरीराः । ततो यत्रैकसूक्ष्मनिगोतजीवस्तिष्ठति तत्रानन्तानन्ता साधारणशरीरा वसन्ति । बादराणा च मनुष्यादीना शरीरेषु सस्वेदजसमूर्च्छनजादीना जीवाना प्रतिशरीरं बहूनामवस्थानमिति नास्त्यवगाहविरोध । यदि बादरा एव जीवा अभविष्यन्नपि तर्हि अवगाहविरोधोऽजनिष्यत । कथं सशरीरस्यात्मनोऽप्रतिघातत्वमिति चेत् ? दृष्टत्वात् । दृश्यते हि वालाग्रकोटिमात्रछिद्ररहिते घनबहलायसभित्तितले वज्रमयकपाटे

असख्यात विकल्प होने से अजघन्योत्कृष्ट असख्येय के भी असख्यात विकल्प है । अर्थात् एक हजार से लेकर निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे तक हजार के बहुत विकल्प है, उसी प्रकार असख्यात के असख्यात भेद है अत. जीव के अवगाह मे भी भेद सिद्ध हो जाते हैं ।। ४ ।।

प्रमाणविरोध होने से अवगाहना के अयुक्ति कहना भी उचित नही है क्योकि जीव दो प्रकार के होते है । **प्रश्न**—जब लोक के एक असख्येय भाग मे एक जीव रहता है और द्रव्यप्रमाण से जीव राशि अनन्तानन्त है तो वह अनन्तानन्त जीव राशि प्रमाण से विरोध (आकाश प्रदेशो से अधिक) होने से लोकाकाश मे कैसे रह सकती है, कैसे समा सकती है ? **उत्तर**—ऐसी शका करना समुचित नही है क्योकि जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के है । उनमे बादर जीव सप्रतिघात शरीर (दूसरे से रुकने वाले और दूसरो को रोकने वाले शरीर से युक्त) होते है परन्तु सूक्ष्म जीवो का सूक्ष्म परिणमन होने के कारण सशरीरी होने पर भी न तो बादर जीवो के द्वारा उनका प्रतिघात होता है और न वे सूक्ष्म जीव एक दूसरे का व्याघात करते है—अत वे अप्रतिघातशरीर वाले है । इसलिये जहाँ एक सूक्ष्म निगोदिया जीव रहता है वही अनन्तानन्त साधारण सूक्ष्म शरीरी रहते है । बादर मनुष्य आदि के शरीर मे भी सस्वेदज आदि अनेक सम्मूर्च्छन जीव रहते है । अतः प्रति शरीर मे वहुत से जोवो का अवस्थान होने से अवगाह (थोडे प्रदेशो मे वहुत से जीवो के रहने) मे विरोध नही है । यदि सभी जीव वादर ही होते तो अवगाह मे गडवड हो सकती थी, अवगाह मे विरोध आ सकता था । **प्रश्न**—सशरीरी आत्मा अप्रतिघाती कैसे है ? **उत्तर**—सशरीरी आत्मा अप्रतिघाती है यह वात तो अनुभव सिद्ध है—क्योकि वालाग्र कोटि मात्र छिद्ररहित, घनवहल लोह से निर्मित भित्तितल वाले वज्रमय कपाट से युक्त और वाहर चारो तरफ जिसमे वज्र का लेप किया गया है ऐसे मकान मे मृतक देवदत्त का जीव मूर्त्तिमान् ज्ञानावरण आदि कर्म, तैजस कार्माण शरीर

बहिः समन्तात् वज्रलेपलिप्ते अपवरके देवदत्तस्य मृतस्य मूर्तिमज्ज्ञानावरणादिकर्मतैज-सकार्मणशरीरसंबन्धित्वेऽपि गृहमभित्त्वैव निर्गमनम्, तथा सूक्ष्मनिगोतानामप्यप्रतिघातित्व वेदितव्यम् ।

अत्राह–लोकाकाशतुल्यप्रदेशः एको जीव इत्युक्तम्, तस्य कथ लोकस्यासख्येय-भागादिषु वृत्ति ? ननु सर्वलोकव्याप्त्यैव भवितव्यमित्यत्रोच्यते–

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

कार्मणशरीरवशात् उपात्तसूक्ष्मबादरशरीरानुवर्तनं प्रदेशसंहारविसर्पः । १ । अमूर्तस्वभावस्या[१]प्यात्मन अनादिसबन्ध प्रत्येकत्वात् कथञ्चिन्मूर्तता बिभ्रत लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यापि कार्मणशरीरवशात् उपात्तसूक्ष्मशरीरमधितिष्ठत शुष्कचर्मवत् संकोचनं प्रदेशसंहार । बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवत विसर्पण विसर्प ।

ताभ्यामसंख्येयभागादिषु वृत्तिः प्रदीपवत् । २ । यथा निरावरणव्योमप्रदेशावधृ[२]

का सम्बन्ध होने पर भी घर को विना भेदे ही निकल जाता है। अर्थात् मूर्त्तिमान् कार्माण और तैजस शरीर एवं ज्ञानावरणादि कर्मों के पिण्ड सहित यह आत्मा मरण समय मे वज्रमय घर मे से निकल जाता है और उस कमरे मे कही भी छेद या दरार नही पडती, उसी प्रकार सूक्ष्म निगोदिया जीवो का शरीर भी अप्रतिघाती समझना चाहिए ॥ ५ ॥

यदि एक जीव लोकाकाश तुल्य है तो उसका लोकाकाश के असख्यातवे भाग मे अवस्थान कैसे हो सकता है ? उसे भी सारे लोक मे व्याप्त होकर रहना चाहिए, ऐसी आशका होने पर आचार्य उत्तर देते है–

जीव के प्रदेशों का प्रदीप के समान संकोच-विस्तार होता है, अतः संकोच-विस्तार के कारण असंख्येय एक भागादि में भी रह जाता है ॥ १६ ॥

कार्माण शरीर के वश से ग्रहण किये गए सूक्ष्म एव बादर शरीर के अनुसार अनुवर्तन होना सहार और विसर्प है। अमूर्त्त स्वभाव वाला भी आत्मा अनादि सबन्ध के प्रति एकत्व होने से कथञ्चित् मूर्त्तता को धारण किये हुए है और लोकाकाश के वराबर इसके प्रदेश हैं फिर भी जव यह कार्माण शरीर के कारण ग्रहण किये गये सूक्ष्म शरीर मे रहता है तब इसके प्रदेशो का शुष्क चर्म के समान सकोचन होकर प्रदेशो का सहार हो जाता है। जब कार्माण शरीर के कारण वादर शरीर में रहता है तब जल मे तैल के समान प्रदेशो का फैलाव होकर विसर्पण हो जाता है ॥ १ ॥

उस संकोच-विस्तार के कारण प्रदीप के समान लोक के असख्येयादि भागो मे जीव रहता

---

१ स्यात्म—अ । २ निश्चित ।

तत्प्रकाशपरिमाणः[१] प्रदीपः शरावमानिकापवरकाद्यावरणवशात् तत्परिमाणप्रकाश उपलभ्यते, तथा ताभ्यां प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् असख्येयभागादिषु परिच्छिन्ना वृत्तिरात्मनोऽवगन्तव्या ।

तद्वदनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; इष्टत्वात् । ३ । स्यादेतत्–यदि सहार-विसर्पणस्वभाव आत्मा प्रदीपादिवदेवास्यानित्यत्व प्रसजतीति; तन्न; कि कारणम् ? इष्टत्वात् । इष्टमेवैतत्–आत्मन. कार्मणशरीरापादितप्रदेशसंहारविसर्पपर्यायादेशाद-नित्यत्वम् । अथवा इष्टत्वात्, इष्टमेवैतत्, सकोचविकासस्वभावत्वेऽपि[२] रूपिद्रव्यसा-मान्यादेशान्नित्यत्व[३] तथात्मनोऽपीति न बाधाकरो दृष्टान्तः ।

[४]**सावयवत्वात् प्रदेशविशरणप्रसङ्ग इति चेत्; न; अमूर्तस्वभावापरित्यागात् । ४ ।** स्यान्मतम्–प्रदीपादिवत् यदि प्रदेशसहारविसर्पवानात्मा, अत. ससारिणः घटादिवत् छेदभेदादिभिः प्रदेशविशरणप्रसङ्ग., ततश्च शून्यता प्राप्नोति इति; तन्न; किं

है । जैसे निरावरण आकाश प्रदेश मे रखे हुए प्रदीप का प्रकाश बहुदेशव्यापी होने पर भी सिकोरा, मानिका और कमरे आदि आवरण के कारण सिकोरा आदि परिमाण वाला हो जाता है अर्थात् निरावरण आकाशप्रदेश मे बहुत दूर तक व्याप्त होकर रहने वाला भी दीपक का प्रकाश सिकोरा आदि आवरण मे सकुचित होकर जहाँ रखा गया है उसी प्रमाण हो जाता है अर्थात् उतने मे ही सीमित हो जाता है, उसी प्रकार सहार और विसर्प स्वभाव होने के कारण दीपक के समान आत्मा के भी असख्येय एकभागादि मे परिच्छिन्न वृत्ति जाननी चाहिये ।। २ ।।

दीपक के समान आत्मा मे अनित्यत्व प्रसग की आशका भी नही करनी चाहिये क्योकि किसी अपेक्षा आत्मा का अनित्यत्व जैनो को इष्ट है । सहार और विसर्प स्वभाव होने पर आत्मा मे दीपक की तरह अनित्यत्व का प्रसग देना जैनो के लिये दूषण नही है, क्योकि जैनो को यह इष्ट है कि आत्मा कार्माणशरीरजन्य प्रदेश सहार और विसर्पण रूप पर्याय की दृष्टि से अनित्य है ही । अथवा, यह हमको इष्ट भी है कि सकोच-विस्तार स्वभाव वाला भी दीपकरूपी द्रव्य सामान्य की दृष्टि से नित्य है । उसी प्रकार आत्मा भी सामान्य दृष्टि से नित्य है, अत· दीपक का दृष्टात बाधक नही है ।। ३ ।।

अमूर्त्त स्वभाव को नही छोडने से सावयवी होने पर भी प्रदेशों के विशरण (नाश) का प्रसग नही आता । **प्रश्न**—प्रदीपादि के समान प्रदेशो का सकोच-विस्तार होने से ससारी आत्मा के घटादि के समान छेदन-भेदन आदि के द्वारा प्रदेशो के विशरण (पृथक्त्व) होने का प्रसग आयेगा और आत्मप्रदेशो का विशरण होने से आत्मशून्यता का भी प्रसङ्ग आयेगा ? **उत्तर**—यह शका

---

१. परिणाम. ता. अ । २. रूपद्रव्य-अ मु. । ३ यथा वा शिवकछत्रकस्थासकोशकुशूलादिपर्यायेषु मृद्द्रव्यम् ।
४ —वत्वाद्विश-मु , अ., द ।

कारणम् ? अमूर्तस्वभावापरित्यागात् । बन्ध प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वमापद्यमानः नामूर्तस्वभाव जहातीति घटादिवत् न प्रदेशविशरणमस्ति । किञ्च,

अनेकान्तात् । ५ । यो ह्येकान्तेन संहारविसर्पवानेवात्मा सावयवश्चेति वा ब्रूयात् तं प्रत्ययमुपालम्भो घटामुपेयात् । यस्य त्वनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्योपयोगादिद्रव्यार्थादेशात् स्यान्न प्रदेशसहारविसर्पवान्, द्रव्यार्थादेशाच्च स्यान्निरवयव, प्रतिनियतसूक्ष्मबादरशरीरापेक्षनिर्माणनामोदयपर्यायार्थादेशात् स्यात् प्रदेशसहारविसर्पवान्, अनादिकर्मबन्धपर्यायार्थादेशाच्च स्यात् सावयव, त प्रत्यनुपालम्भः । किञ्च,

तत्प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वादणुवत् । ६ । [1]यस्यावयवा. कारणपूर्वका भवन्ति तस्यावयवविशरण भवति, अवयूयन्ते इत्यवयवा । यथा पटादेरनेकतन्त्वादिसंघातकारणत्वात् तन्त्वादिविश्लेषे विशरण भवति न तथा आत्मन अन्यद्रव्यसघातपूर्वका

समुचित नही है क्योकि बन्ध की दृष्टि से कार्माणादि शरीर के साथ आत्मा का एकत्व होने पर भी लक्षणभेद से भिन्नता को प्राप्त आत्मा अपने निजी अमूर्त्त स्वभाव को नही छोडता अत घटादि के समान आत्मप्रदेशो का विशरण नही है ।। ४ ।।

अथवा, अनेकान्त होने से आत्मप्रदेशो का विशरण नही होता । जो एकान्त से आत्मा को सकोच-विस्तार वाला और सावयवी मानते है, उनके प्रति यह उपालम्भ दे सकते है, या वह घटित नही हो सकता है, अनेकान्त मे नही । परन्तु अनादि पारिणामिक चैतन्य जीवद्रव्य उपयोग आदि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से न तो प्रदेशो का सहार होता है और न विस्तार ही होता है और न द्रव्य दृष्टि से आत्मा मे सावयवपना ही है । हाँ, प्रतिनियत सूक्ष्म वादर शरीर को उत्पन्न करने वाले निर्माण नाम कर्म के उदय रूप पर्याय की विवक्षा से कथञ्चित् आत्मा सकोच-विस्तार वाला भी है और इसी प्रकार अनादि कर्म बन्धरूपी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से कथञ्चित् आत्मा सावयवी भी है इसलिये सकोच-विस्तार से आत्मा के अनित्यपना होगा, यह उपालभ जैनो के प्रति नही है ।। ५ ।।

अथवा, अणु के समान आत्मप्रदेशो का सकोच-विस्तार अकारणपूर्वक है । जिसके अवयव कारणो से उत्पन्न होते है उसके अवयवो का विशरण (नाश) होता है क्योकि 'अवयूयन्ते' विशरण होते है-उन्हे अवयव कहते है, जैसे कि अनेक तन्तुओ के सघात से उत्पन्न हुए कपडे के तन्तु आदि का विशरण होने पर विनाश हो जाता है परन्तु आत्मा के प्रदेश अन्य द्रव्य के सघात से उत्पन्न नही हुए हैं, क्योकि वे अकारणपूर्वक है अर्थात् आत्मप्रदेशो का सघात विना कारण है । जिस प्रकार अणु

---

१ घटपटादे ।

प्रदेशाः । कुतः ? तत्प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वात् । यथा अणोः प्रदेश. [1]नान्यद्रव्यसंघातपूर्वक. ततो नासाववयवविश्लेषपूर्वकमनित्यत्वमास्कन्दति किन्तु संघातेनाऽनित्यः, तथा आत्मप्रदेशानामपि नान्यद्रव्यसंघातपूर्वकत्वमतः प्रदेशवत्त्वात् आत्मा सावयवोऽपि नावयवविश्लेषादनित्य', किन्तु गत्यादिपर्यायादेशादनित्यः ।

तत एव प्रतिप्रदेशं गुणविशेषाभावो घटवत् । ७ । कुत एव[2] ? प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वादेव । यथा घटस्य प्रदेशा अन्यद्रव्यसघातपूर्वका इति तेषु प्रतिप्रदेश[3] रूपादिगुणविशेषो दृष्ट', न तथा आत्मप्रदेशा अन्यद्रव्यसघातपूर्वका इति न तेषु प्रतिप्रदेश सुखादिगुणविशेषो भवति । यदि अन्यद्रव्यसघातपूर्वकाः स्युरात्मप्रदेशाः तेषु घटवत् सुखादिविशेषवृत्ति[4] स्यात्, ततश्चात्मनो बहुत्व प्रसज्येत । यथाऽणौ निरवयवे एकजातीयो गुण' शुक्लादिरेककाले भवति एक एव न भिन्नजातीयस्तथा आत्मनि निरवयवे एकजातीयो गुण' सुखादिरेककाले भवति एक एव । अत्र कश्चिदाह–

के प्रदेश अन्य द्रव्यसघातपूर्वक नही है अत. वह अवयव विश्लेष से अनित्यता को प्राप्त नही होता है किन्तु अन्य परमाणु के सयोग से उनमे अनित्यता आती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेश अन्य द्रव्यसघातपूर्वक नही है अत. प्रदेशवान् होने से सावयव होकर भी आत्मा अवयवविश्लेष से अनित्यता को प्राप्त नही होता, केवल गति आदि पर्याय की दृष्टि से ही अनित्य हो सकता है ।। ६ ।।

इसलिये घटादि के समान आत्मा के प्रति प्रदेशो मे गुण विशेष का अभाव है अर्थात् जैसे—घटके प्रत्येक परमाणु में रूपादि गुण पृथक्-पृथक् है वैसे आत्मप्रदेशो मे नही है क्योंकि जैसे घट के प्रदेश अन्य द्रव्यसंघातपूर्वक है वैसे आत्मा के प्रदेश अकारणपूर्वक होने से अन्य द्रव्यसघातपूर्वक नही है अत. जैसे घटादि के प्रदेशो मे रूपादि गुणो की विशेषता (भिन्नता) देखी जाती है, वैसे घट के समान आत्मप्रदेश सघातपूर्वक नही है अत. आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे सुखादि गुणो की विशेषाभिव्यक्ति नही देखी जाती । यदि आत्मा के भी प्रदेश घटादि की भाँति अन्य द्रव्य के सघातपूर्वक होते तो जैसे अन्य द्रव्य के सघात से उत्पन्न हुए घटादि द्रव्यो के प्रत्येक प्रदेश मे रूपादि गुणो की विशेषता देखी जाती है वैसी आतमा के प्रत्येक प्रदेश मे भी सुखादि गुणो की विशेषता देखी जाती । यदि आत्मप्रदेशो मे गुणो की विशेषता रहती यानी आत्मप्रदेशो मे पृथक्-पृथक् गुण होते तो एक ही शरीर मे वहुत आत्माओ का प्रसग प्राप्त होता । जैसे निरवयवी परमाणु मे एक समय मे एक जातीय ही शुक्लादि गुण होते है, उसी तरह निरवयवी आत्मा मे भी एक समय मे एक-जातीय सुखादि गुण हो सकते हैं । अतः यह आशंका भी निर्मूल हो जाती है कि सर्दी और गर्मी का असर चमडे पर पडता है, आकाश पर नही । यदि आत्मा चमडे के समान है तो अनित्य हो जायेगी और आकाश के समान है तो सारी पुण्य-पापादि क्रियायें निष्फल हो जायेगी क्योंकि

१. नान्यद्द्रव्यपूर्वं-मु, द, व । २ एतत् प्र-श्र., मू., ता. । ३. एकस्मिन्नेव घटे एकस्मिन् प्रदेशे श्यामत्वम् अन्यस्मिन् रक्तत्वमिति । ४ एकस्मिन् प्रदेशे सुखमन्यस्मिन् दुःखमित्यादि ।

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलम् ।।" इति ।

अत्रोच्यते–पिष्टपेषणमेतत्, मूर्ताऽमूर्तत्व प्रति नित्यानित्यत्व च प्रत्यनैकान्तिकत्वात् उपालम्भाभाव इति ।

पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु वृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; शरीरप्रमाणानुविधानात् । ८ । स्यान्मतम्–प्रदेशसंहारविस[1]र्पाभ्यामेव पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु जीवस्य वृत्ति. प्राप्नो[2]तीति; तन्न; किं कारणम् ? शरीरप्रमाणानुविधानात् । कार्मणशरीरवशादुपात्त महदल्प वा शरीरमधितिष्ठति ससारी जीव इत्युक्तम् । न चैकप्रदेशादिक शरीरमस्ति [3]जघन्येनाऽङ्गुलस्याऽसख्येयभागप्रमाणत्वात् । अतो नास्यैकप्रदेशादिषु वृत्तिरस्ति ।

मुक्तानां तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; देशोनान्त्यविग्रहप्रमाणावस्थानात् । ९ । स्यादेतत्–यदि शरीरप्रमाणानुविधानात् आत्मनो नैकप्रदेशादिषु वृत्ति., मुक्ताना तर्हि

यह तो पिष्टपेषण (पीसे हुए को पीसना) है। जैन सिद्धान्तवादी आत्मा के मूर्त्तत्व-अमूर्त्तत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व मे अनेकान्तता मानता है अर्थात् प्रत्येक आत्मा परिवर्तन करता है और कर्मो से जकड़ा हुआ है, पकडा जाता है, रोका जाता है अत आत्मा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा मूर्त्तिक और अनित्य है तथा द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से अमूर्त्तिक और नित्य है इसलिये नित्यानित्य मूर्त्तामूर्त्त के प्रति अनेकान्त होने से उपालभ का अभाव है ।। ७ ।।

पुद्गल परमाणु के समान आत्मा मे एकप्रदेश आदि मे अवस्थान के प्रसग की शका भी नही करनी चाहिये क्योकि आत्मा शरीर प्रमाण रहने वाला है। प्रश्न—प्रदेशो के सकोच विस्तार के कारण पुद्गल की तरह जीव के भी एकप्रदेश मे रहने का प्रसग प्राप्त होता है। उत्तर—यह आशका उचित नही है क्योकि ससारी आत्मा कार्माण शरीर के अनुसार छोटे-बडे (स्थूल-सूक्ष्म) शरीर को ग्रहण करके उसी के अनुसार सकुचित एव विस्तृत होकर उसमे रहता है और सब से छोटा शरीर घनाङ्गुल के असख्येय भाग प्रमाण है, एकप्रदेश का शरीर नही हो सकता अत आत्मा का पुद्गल की तरह एकप्रदेश आदि मे अवगाह नही हो सकता ।। ८ ।।

मुक्तात्माओ के एकप्रदेश मे रहने की आशका भी नही करनी चाहिये, क्योकि मुक्तात्मा अन्तिम शरीर से कुछ कम अवगाहन रूप होते हैं। प्रश्न—यद्यपि शरीर प्रमाण अवस्थान होने से संसारी आत्मा का एकप्रदेश मे अवगाहन नही है, परन्तु मुक्तात्मा के तो शरीर नही है अत. उसका तो एकप्रदेश में अवगाहन हो जाना चाहिये ? उत्तर—ऐसा नही है क्योकि यद्यपि मुक्तात्माओ के

---

१ –सर्पणाभ्या-मु, मू. द. ब । २. –प्नोति तन्न श्र । ३. उत्सेध ।

तदभावात्तत्प्रसङ्ग इति, तन्न; किं कारणम् ? देशोनान्त्यविग्रहप्रमाणावस्थानात् । येन शरीरेण मुक्तिमवाप्तवान् जीवस्तत्प्रमाणमेव देशोनमवलम्ब्यावतिष्ठते, न ततो वृद्धिर्नापि हानिः, पुन प्रदेशसंहारविसर्पकारणाभावात् । अत्राह–

न धर्मादीनां नानात्वम्, कुतः ? देशसंस्थानकालदर्शनस्पर्शनावगाहनाद्यभेदात् । १० । देशस्तावदेषामभिन्न –यस्मिन् देशे धर्मोऽवस्थित. तस्मिन्नेवेतरेषामवस्थानात् । सस्थानमप्यभिन्नम्-यदेव धर्मस्य सस्थानमाकार तदेवेतरेषाम् । कालश्चाभिन्न –त्रिषु कालेषु धर्मादीना तुल्यवृत्तित्वात् । दर्शनमप्यविशिष्टम्–येषु[1] (तेषु) यत्रैको धर्म. प्रत्यक्षज्ञानिभिर्दृष्ट तत्रैवेतरेषामपि दर्शनम् । स्पर्शनमप्यविशिष्टम्–धर्मादीनि द्रव्याणि सर्वात्मनाऽन्योन्य स्पृशन्तीति । अवगाहन चाऽभिन्नम्–एषा सर्वगतत्वात् तथा अरूपत्व-द्रव्यत्वज्ञेयत्वादिभिरप्यविशेषोऽवसेयः । अत्रोच्यते–

न; अतस्तत्सिद्धेः । ११ । यत एव धर्मादीना देशादिभि [2]अविशेपस्त्वया

वर्तमान शरीर नही है, तथापि जिस शरीर से आत्मा मुक्ति को प्राप्त होता है, उस शरीर से कुछ कम आकार मे आत्मप्रदेशो की रचना रह जाती है न तो उस अन्तिम शरीर के कुछ कम आकार से घटती है और न बढती है क्योकि मुक्त अवस्था मे सहार और विसर्पण का कारण कर्म नही है । अत मुक्तात्माओ की पुद्गल की तरह एक आदि प्रदेशो मे वृत्ति नही मानी जा सकती ।। ९ ।।

प्रश्न---देश, सस्थान, काल, दर्शन, स्पर्शन, अवगाहन आदि की अपेक्षा परस्पर अभेद (अभिन्नत्व) होने से धर्मादि द्रव्यो मे नानात्व नही है, एकत्व है, देश अभिन्न है क्योकि जिस देश मे धर्मद्रव्य अवस्थित है उसी देश मे इतर अधर्म आकाश पुद्गल जीवादि द्रव्यो का भी अवस्थान है । जो धर्म द्रव्य का आकार है, वही अधर्मादि इतर द्रव्यो का आकार है अत आकार की अपेक्षा भी धर्मादि द्रव्य एक है । तीनो ही काल मे धर्मादि द्रव्यो की तुल्यवृत्ति होने से काल भी अभिन्न है, जिस स्थान मे धर्मादि द्रव्य केवलज्ञानी के द्वारा देखा जाता है, वही पर अधर्मादि अन्य द्रव्य भी दृष्टिगोचर होते है अत. दर्शन भी अभिन्न है । धर्मादिद्रव्य परस्पर सर्वात्म से एक-दूसरे का स्पर्श करते है अत. स्पर्श भी एक है । अवगाहन भी सबका एक है, इसी प्रकार अरूपत्व, द्रव्यत्व और ज्ञेयत्व आदि की दृष्टि मे कोई विशेपता न होने से धर्मादिद्रव्यो को एक ही मानना चाहिए, भिन्न-भिन्न नही । उत्तर कहते है— ।। १० ।।

एकत्व के कथन से उनमे भिन्नता सिद्ध है, अत वे एक नही है । जिस कारण से धर्मादि द्रव्यो के देश, सस्थानादि अभिन्नता होने मे एकत्व का प्रश्न किया है, उसी कारण उनकी भिन्नता

---

1. धर्मादिषु मध्ये एक. । 2 यत एवाभेद आपादित । 3 अभेद ।

चोद्यते अत एव नानात्वसिद्धि., यतो नासति नानात्वेऽविशेष[1]सिद्धिः। न ह्येकस्याविशेषोऽस्ति। किञ्च, यथा रूपरसादीना [2]तुल्यदेशादित्वे नैकत्व तथा धर्मादीनामपि नानात्वमिति।

आह—रूपादीना तुल्यदेशत्वेऽपि चाक्षुषत्वादि[3] विशिष्टलक्षणोपेतत्वात् नानात्व युक्त न तथा धर्मादीना विशेषकर किञ्चिल्लक्षणमुक्तम्। स्यादेतत्, यदि न लक्षणभेदः। अस्ति तु भिन्न लक्षणम्। कि पुनस्तदिति ? अत उत्तर पठति—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

अथवा, अणुस्कन्धभेदात् पुद्गलानाम् असख्येयप्रदेशत्वाच्च आत्मनाम् अवगाहिनाम् एकप्रदेशादिषु पुद्गलानाम् असख्येयभागादिषु च जीवानामवस्थानं युक्तमुक्तम्। तुल्ये पुनरसख्येयप्रदेशत्वे कृत्स्नलोकव्यापित्वमेव धर्माधर्मयो न

स्वयसिद्ध है। जब वे भिन्न-भिन्न है तभी तो उनमे अमुक-अमुक दृष्टियो से एकत्व की सम्भावना की गई है; नानात्व के नही होने पर एकत्व की सिद्धि भी नही होती, क्योकि एक के अविशेषता नही होती अर्थात् एक होने पर सस्थान आदि के एकत्व का प्रश्न भी नही उठता। अथवा, जैसे रूप-रसादि का देशकाल आदि एकत्व होने पर भी नानात्व है, वैसे ही धर्मादि के भी देश-कालादि की अपेक्षा एकत्व होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा नानात्व है। अर्थात् क्षीर-नीर के समान एकस्थान मे रहते हुए भी भिन्न है।

प्रश्न—जिस प्रकार रूप-रसादि के तुल्यदेशत्व आदि के होने पर भी अपने-अपने चाक्षुषत्व (चक्षु, रसना आदि का विषय) आदि विशिष्ट लक्षण से युक्त होने से उन रूप आदि मे नानात्व है, परन्तु उसी प्रकार धर्मादि के किंचित् लक्षण-भेद नही कहा है इसलिये इनमे नानात्व नही है। **उत्तर**—धर्मादि के भी भिन्न लक्षण है। वह भिन्न लक्षण क्या है ? ऐसा पूछने पर उत्तरसूत्र कहते है। अर्थात् आगे के सूत्रो मे उन्ही धर्मादि के लक्षण कहते है—

गति और स्थिति क्रमशः धर्म और अधर्म के उपकार है ॥ १७ ॥

अथवा, **प्रश्न**—पुद्गलो के अणु और स्कन्ध भेद होने से तथा अवगाही आत्मा के असख्येय प्रदेश होने से पुद्गलो के एकप्रदेश आदि मे और जीवो के असख्येय भागादि मे अवस्थान (अवगाह) कहना उपयुक्त (ठीक) है, परन्तु धर्म और अधर्म के जीव के तुल्य असख्यात प्रदेशी होने पर भी इनके सर्वलोकव्यापित्व है, असख्येय भाग मे इनका अवस्थान नही है। यह विना हेतु कैसे समझा जा सकता है ? अर्थात् धर्म और अधर्म सर्वगत क्यो है ? जीव आदि के समान लोक मे असख्येय भाग मे क्यो नही ? **उत्तर**—निसशय समझो; जैसे—जल मछली के तैरने मे उपकारक है, जल के

---

१. यथा सयुक्तयो क्षीरनीरयोरभेद। २. तुल्यदेशाधिष्ठानत्वे मु., द ब.। ३ [illegible]।

पुनरसख्येयभागादिवृत्तिरित्येतत्कथमनपदिष्टहेतुकमवसातु शक्यमिति । अत्र ब्रूम – अवसेयमसंशयम् । यथा मत्स्यगमनस्य जलमुपग्रहकारणमिति नासति जले मत्स्यगमन भवति, तथा जीवपुद्गलाना प्रयोगविस्रसा परिणामनिमित्ताहितप्रकारा गतिस्थितिलक्षणा क्रिया स्वत एवाऽऽरभमाणाना सर्वत्र भावात् तदुपग्रहकारणाभ्यामपि धर्माधर्माभ्या सर्वगताभ्या भवितव्यम्, नासतोस्तयोर्गतिस्थितिवृत्तिरिति व्यापित्वदर्शनार्थमिदमुच्यते ।

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिः । १ । द्रव्यस्य बाह्यान्तरहेतुसन्निधाने सति परिणममानस्य देशान्तरप्राप्तिहेतु. परिणामो गतिरित्युच्यते ।

तद्विपरीता स्थितिः । २ । द्रव्यस्य स्वदेशादप्रच्यवनहेतुर्गतिनिवृत्तिरूपा स्थितिरवगन्तव्या ।

उपग्रहोऽनुग्रहः । ३ । द्रव्याणा शक्त्यन्तराविर्भावे कारणभावोऽनुग्रह उपग्रह[1] इत्याख्यायते ।

गतिस्थित्युपग्रहावित्यनेकविग्रहसंभवादर्थानिश्चयः । ४ । विग्रहपूर्वको हि लोके

अभाव मे मछली का तैरना सभव नही है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलो की स्वाभाविक और प्रायोगिक गति और स्थिति मे धर्म और अधर्म सहायक होते हैं । यद्यपि उनकी गति, स्थिति की आरभशक्ति स्वकी है, तथापि धर्म-अधर्म निमित्त बनते हैं । क्योकि धर्मद्रव्य के बिना जीव और पुद्गलो का गमन तथा अधर्म द्रव्य के बिना उनकी स्थिति नही होती और जीव एव पुद्गल सारे लोकाकाश मे है अतः उनके गमन और स्थिति मे उपकारक, कारण धर्म और अधर्म द्रव्य को भी सर्वगत होना चाहिये क्योकि धर्मद्रव्य और अधर्म नही होगे तो जीव और पुद्गलो की गति-स्थिति नही हो सकेगी, इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य को सर्वव्यापी कहा है ।

द्रव्य के देशान्तर की प्राप्ति का हेतु परिणामगति है । बाह्य और आभ्यन्तर कारणो से परिणमन करने वाले द्रव्यो को देशान्तर मे प्राप्त कराने वाली पर्याय गति कहलाती है ।। १ ।।

उससे विपरीत स्थिति है । द्रव्य को स्वस्थान से अप्रच्युति का कारण गति की निर्वृत्ति रूप स्थिति को जानना चाहिये ।। २ ।।

उपग्रह का अर्थ अनुग्रह है । द्रव्यो की उपादान शक्ति के आविर्भाव मे जो कारण वनता है, सहायक वनता है उसको उपग्रह-अनुग्रह कहते हैं । अर्थात् शक्त्यन्तर के आविर्भाव मे (शक्ति की व्यक्ति मे) जो सहायक होता है, वह उपग्रह कहलाता है ।। ३ ।।

प्रश्न—'गतिस्थित्युपग्रहौ' इस वचन मे अनेक विग्रहो (समास) की संभावना है इसलिये अर्थ

---

१. उपग्रहणमुपग्रह ।

वृत्तिपदस्यार्थनिश्चयो भवति। गतिस्थित्युपग्रहौ इत्यत्र तु अनेकविग्रहसभवात् नास्त्यर्थानिश्चयः। तद्यथा-गतिश्च स्थितिश्च गतिस्थिती, गतिस्थिती उपग्रहौ ययोस्तौ गतिस्थित्युपग्रहौ। गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ। गतिस्थिती एव वा उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ इति ? नैष दोष ।

अन्यपदार्थवृत्त्यभावो गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मावित्यवचनात्। ५। नात्राऽन्य-पदार्था वृत्ति सभवति। कुत ? गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मावित्यवचनात्।

न षष्ठीवृत्तिर्द्विवचननिर्देशात्। ६। नेय षष्ठी वृत्ति—गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति। कुत ? द्विवचननिर्देशात्। यदि हि अत्र षष्ठीवृत्ति स्यात्, उत्तरपदार्थस्य भावस्यैकस्य प्राधान्यात् लघ्वर्थ एकवचननिर्देश क्रियेत, भेदेन च प्रयोजनाभावात्।

परिशेषात् समानाधिकरणा वृत्तिः। ७। परिशेषात् समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिर्वेदितव्यागतिस्थिती एव उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति।

का निश्चय नही है। समास पद के अर्थ का निश्चय लोक मे विग्रह (विश्लेषण) पूर्वक ही होता है। 'गतिस्थित्युपग्रहौ' इसमे अनेक विग्रह सम्भव है, इसलिये इसमे अर्थ का निश्चय नही होता। जैसे—गतिश्च स्थितिश्च 'गतिस्थिति' उनका उपग्रह वह 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यह बहुव्रीहि समास है तथा गतिस्थिति ही है उपग्रह 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यह कर्मधारय समानाधिकरण समास है। इस प्रकार अनेक समास होने से अर्थ का निर्णय नही होता। **उत्तर**—यह दोष नही है। अर्थ का निश्चय नही है, यह बात नही है ॥ ४ ॥

'बहुव्रीहि' समास तो इसमे नही है क्योकि यदि 'बहुव्रीहि' समास करेगे तो 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मौ' ऐसा पद होना चाहिए। धर्माधर्मयो' यह पद बहुव्रीहि समास मे नही वन सकता ॥ ५ ॥

द्विवचन का निर्देश होने से इनमे षष्ठी तत्पुरुष समास नही है। इसमे षष्ठी तत्पुरुष तो इसलिये नही है क्योकि गति-स्थिति का उपग्रह-'गतिस्थित्युपग्रहौ' यह द्विवचन का प्रयोग है। यदि इसमे षष्ठीतत्पुरुष समास किया जाएगा तो भावरूप एकउत्तर पदार्थ की प्रधानता होने से लघु सूत्र के लिये 'गतिस्थित्युपग्रह' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग होना चाहिए था, इसमे भेद मे कोई प्रयोजन नही है ॥ ६ ॥

परिशेष न्याय से समानाधिकरण समास है। 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यहाँ अनेक समासो की संभावना होने पर भी 'गतिस्थिती एव उपग्रहौ' यह समानाधिकरणवृत्ति (समास) समझनी चाहिए ॥ ७ ॥

तथा च द्वित्वोपपत्तिः । ८ । एव च कृत्वा द्वित्वमुपपन्न भवति, गतिस्थित्योर्भेदात् तत्सामानाधिकरण्यात् भेदसिद्धे. । कथ सामानाधिकरण्यम् ? कर्मसाधनत्वात्[१] उपगृह्य ेते इत्युपग्रहौ गतिस्थिती इति ।

धर्माधर्मयोरिति कर्तृ निर्देशः । ९ । धर्माधर्मयोरित्ययं कर्तृ निर्देशो द्रष्टव्य । कथम् ? कर्तरि षष्ठीविधानात् । का क्रियामपेक्ष्य कर्तृ त्व विवक्षितम् ? उपकारः इत्युच्यते–उपकरोति[२] क्रियाया कर्तृ त्वम्[३] उपकार इति । कि साधनोऽय शब्द ? भावसाधन· ।

उपकार इति भावसाधनश्चेत्; पूर्वेण सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरर्थान्तरवृत्तेः ।१०। यद्युपकरणमुपकार इति भावसाधनशब्द, गतिस्थित्युपग्रहावित्यनेन सामानाधिकरण्य नोपपद्यते,[४] धर्माधर्मयोरुपकारो गतिस्थित्युपग्रहाविति । कुत ? अर्थान्तरवृत्ते ।

ऐसा होने पर ही द्विवचन की सार्थकता है । समानाधिकरण समास करने पर ही द्विवचन बन सकता है क्योकि गति-स्थिति के भेद से समानाधिकरण होने से धर्म-अधर्म मे भेद की सिद्धि होती है ।। ८ ।।

प्रश्न—समानाधिकरण समास क्यो है ? **उत्तर—**इसमे कर्मसाधन कृत सामानाधिकरण्य है, जैसे 'उपग्रह्य ेते इति उपग्रहौ' इसके द्वारा उपकार किया जाता है, वह 'उपकार' है । इसकी कर्मसाधन मे निष्पत्ति करनी चाहिये ।। ८ ।।

धर्म और अधर्म का उपकार है, इसमे कर्तृ साधन भी है । अर्थात् उपकार कर्तृ साधन से भी निष्पन्न है । धर्म और अधर्म के कर्तृ साधन से भी निष्पन्न है । **शंका—**कर्तृ साधन से कैसे निष्पन्न है ? **उत्तर—**कर्त्ता मे षष्ठी विभक्ति भी होती है । **प्रश्न—**किस क्रिया की अपेक्षा करके धर्म-अधर्म को कर्त्ता कहा गया है । **उत्तर—**उपकार करता है, इस क्रिया की अपेक्षा करके इनको कर्त्ता कहा गया है, अर्थात् गति और स्थिति मे धर्म और अधर्म द्रव्य सहायक बनते है । अतः धर्म-अधर्म कर्त्ता हैं और उपकार उनकी क्रिया है । 'उपकरोति' क्रिया का कर्त्तृ त्व उपकार है । अर्थात् उपकार क्रिया का कर्त्ता धर्म-अधर्म है । यह उपकार शब्द भावसाधन भी है ।। ९ ।।

यदि उपकार शब्द को 'उपकरणमुपकारः' ऐसा भावसाधन माना जाता है तो पूर्वोक्त समानाधिकरण समास की उत्पत्ति नही होगी । उससे अर्थान्तर की उपलब्धि होगी । यदि 'उपकरण उपकार' इस प्रकार भाव-साधन से उपकार शब्द की निष्पत्ति करते है तो 'धर्माधर्मयोरुपग्रहौ' इस पद से सामानाधिकरण्य भी नही हो सकेगा; कि धर्माधर्म का उपकार

---

१ धर्माधर्माभ्यामुपक्रियेते । २ इति । ३ तदपेक्षोऽय कर्तरि षष्ठीनिर्देश । ४ –ते कुत अर्थान्तरवृत्तेः धर्मा-मु , मू द. ब ।

उपकारो हि धर्माधर्मयोर्वर्तते कर्तृस्थक्रियात्वात् करोते., उपगृह्यमाणे तु गतिस्थिती जीवपुद्गलेष्विति । [1]एवं तर्हि कर्मसाधन· ?

[2]**कर्मसाधनश्चेद्वचनभेदानुपपत्तिः । ११ ।** यदि कर्मसाधन·, वचनभेदो नोपपद्यते, सामानाधिकरण्यात् द्विवचन प्राप्नोति ।

न वा सामान्योपादानात् । १२ । न वैष दोष, कि कारणम् ? सामान्योपादानात् । यथा 'साधोः [3]कार्य तप श्रुते' इति प्राक्सामान्यमपेक्ष्य लब्धैकवचन कार्यशब्द· पश्चाद्विशेषसन्निधानेऽपि नोपात्त वचन जहाति, तदिहापि (तद्वदिहापि) उपकारशब्द उपात्तान्तरङ्गैकवचनो भिन्नवचनपदान्तरापेक्षायामपि न वचनान्तरसक्रमं करोति[4] ।

षष्ठीवृत्तिर्वा भावसाधनत्वोपपत्तेः । १३ । अथवा, गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थि-

---

है और गतिस्थिति उपग्रह है । क्योकि कर्तृसाधन करने पर अर्थान्तर की वृत्ति होगी । कर्तृस्थ क्रिया होने से उपकार धर्म और अधर्म मे ही रहेगा और करोति क्रिया को उपग्रह्यमाण गति-स्थिति (करोति क्रिया से निष्पन्न गति-स्थिति) जीव और पुद्गल मे रहती है अत कर्तृसाधन न होकर कर्मसाधन ही है, ऐसा कोई तटस्थ कहता है ।। १० ।। शका—कार कहता है कि—

यदि कर्मसाधन मानते है तो वचनभेद की उत्पत्ति नही होती । यदि उपकार शब्द को कर्मसाधन मानते हैं तो 'समानाधिकरण होने से द्विवचन है' यह वचनभेद नही होगा । 'उपग्रहौ' के समान 'उपकारौ' ऐसा द्विवचन होगा ? ।। ११ ।।

उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि यहाँ सामान्य का ग्रहण है । जैसे 'साधोः कार्य तप श्रुते' यहाँ पूर्वोक्त सामान्य की अपेक्षा से कार्य शब्द एकवचन उपलब्ध होता है । पीछे विशेष सन्निधान होने पर भी वह अपने उपात्त वचन को नही छोडता है, उसी प्रकार यहाँ पर उपकार शब्द भी सामान्य की अपेक्षा उपात्त एकवचन होने से, विशेष भिन्न वचन पदान्तर की अपेक्षा (गति और स्थिति की अपेक्षा) होने पर भी वचनान्तर मे सक्रमण नही करता है [अपने गृहीत वचन को नही छोडता है] ।। १२ ।।

अथवा, इसमे षष्ठीतत्पुरुष समास और भावसाधन करना चाहिए । 'गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ' इस प्रकार गति और स्थिति का उपग्रह 'गति स्थिति उपग्रह' यह षष्ठीतत्पुरुष समास करना चाहिए । क्योकि इससे भावसाधन की उत्पत्ति होती है, 'उपग्रहणमुपग्रह' [illegible]

---

१ तटस्थ आह । २ आह चोदक । ३ टि तनु । ४ तथा हि धर्माधर्मयो [illegible] गतिस्थित्युपग्रहाविति पश्चाद्विशेषसम्बन्धात् ।

त्युपग्रहाविति षष्ठीवृत्तिरियम् । कुत. ? भावसाधनत्वोपपत्ते, उपग्रहणमुपग्रह इति भावसाधनोऽय शब्द· । तथा उपकारशब्दश्च भावसाधन –उपकरणमुपकार· इति ।

ननु चोक्त भावस्यैकत्वात् द्विवचननिर्देशो नोपपद्यते इति, नैष दोष.;

यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थो द्विवचनप्रयोगः । १४ । धर्माधर्मौ द्वौ गतिस्थित्युपग्रहौ द्वौ, तयो· सामान्यात् यथासंख्य स्यादिति द्विवचनप्रयोग· क्रियते । एकवचने हि सति यथा भूमिरेकैवाऽश्वादीना गतिस्थित्योरुपग्रहे वर्तते, तथा धर्म एक एव जीवपुद्गलाना गतिस्थित्योरुपग्रह कुर्यात्, तथाऽधर्मोऽपि इत्ययमर्थो गम्येत । [1]अन्यतरस्य वैयर्थ्यमिति चेत्, न,[2] अनेकसहायकारणदर्शनात्[3] । तेनैतदुक्त भवति–जीवपुद्गलाना स्वयमेव

भाव साधन है । इसी प्रकार 'उपकृत' उपकार, यह उपकार शब्द भी भावसाधन है । (कर्त्ता-कर्म आदि कारको की अपेक्षा न करके केवल शुद्ध धातु के अर्थमात्र का प्रतिपादन करता है, वह भावसाधन कहलाता है जैसे उपकरणम् उपकार.]

जो शकाकार ने यह कहा था कि भाव मे एकवचन होता हैं, इसलिये भावसाधन करने पर 'उपग्रहौ' इस द्विवचन का निर्देश नही होगा, यह भी ठीक नही है अर्थात् यह कोई दोष नही है ।। १३ ।।

यथासख्या का ज्ञान कराने के लिए द्विवचन का प्रयोग किया गया है । इसमे "उपग्रहौ" यह द्विवचन यथाक्रम की प्रतिपत्ति के लिये है । यदि 'उपग्रह' यह एक वचन होता तो जैसे एक ही पृथ्वी, अश्व आदि की गति और स्थिति इन दोनो मे उपकारक होती है, उसी प्रकार एक धर्म ही गतिपरिणत जीव और पुद्गल के गति और स्थिति इन दोनो कार्यो को करता है और उसी प्रकार अधर्म भी गतिस्थिति ये दोनो कार्य करता है, ऐसा अर्थ निकल जाता । इसलिये यथाक्रम के लिये दोवचन का प्रयोग किया गया है । यदि यथाक्रम का ज्ञान कराने के लिये 'उपग्रहौ' यह दो वचन का प्रयोग किया है तो सूत्रकार के "धर्माधर्मयोः" इनमे किसी एक की व्यर्थता होगी ऐसी आशका भी समुचित नही है, क्योकि एक ही कार्य अनेक कारणो से उत्पन्न हुआ देखा जाता है, जैसे—एक घट की उत्पत्ति मे चक्र, चीवर, कुलाल आदि अनेक सहायक कारण देखे जाते है, वैसे जीव और पुद्गलो की गति एव स्थिति मे अनेक कारण देखे जाते है अत इस अनिष्ट प्रसग का निवारण करने के लिये 'उपग्रहौ' ऐसा द्विवचन दिया गया है । तात्पर्य यह है कि स्वय गतिपरिणत जीव और पुद्गलो के गतिरूप उपग्रह के कारणत्व से धर्मास्तिकाय का अनुमान लगाया जाता है । तथा स्वत. ही स्थिति को प्राप्त होने वाले जीव और पुद्गलो के वाह्य उपग्रह कारण (निमित्त कारण) से

१ तथा सति सूत्रकारस्य धर्माधर्मयोर्मध्ये । २ यथैकस्य घटस्य चक्रचीवर-कुलालाद्यनेकसहायकारण दृष्ट तथा जीवपुद्गलाना गतिस्थित्यो । ३ ता प्रतौ वार्त्तिकचिह्नाङ्कितमिदम् ।

गतिपरिणामिना तदुपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानो धर्मास्तिकाय । [१]तेषामेव स्वत एव स्थितिमास्कन्दता बाह्योपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानोऽधर्मास्तिकाय:[२] । सर्वत्र च तत्प्रयोजनदर्शनात् सर्वगतौ चैताविति ।

उपग्रहावचनमुपकारेण कृतत्वात् । १५ । उपग्रहवचनमनर्थकम् । कुत ? उपकारेण कृतत्वात् । उपग्रह उपकार इत्यनर्थान्तरम् । तेन गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार इत्यस्तु लघुत्वात् ।

[३]तयोः कर्तृत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; उपकारवचनात् यष्ट्यादिवत् । १६ । स्यादेतत्–गतिस्थित्यो धर्माधर्मौ कर्तारौ इत्ययमर्थ प्रसक्त इति, तन्न, कि कारणम् ? उपकारवचनात् । उपकारो बलाधानम् अवलम्बनम् इत्यनर्थान्तरम् । तेन धर्माधर्मयोः गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपोदित[४] भवति । यथा अन्धस्येतरस्य वा स्वजङ्घाबलाद्गच्छत. यष्ट्याद्युपकारक भवति न तु प्रेरक तथा जीवपुद्गलाना स्वशक्त्यैव गच्छता तिष्ठतां च धर्माधर्मौ उपकारकौ न प्रेरकौ इत्युक्त भवति ।

अधर्मास्तिकाय का अनुमान लगाया जाता है अर्थात् जीव और पुद्गल की स्थिति (ठहरने) से ही अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व जाना जाता है । जीव और पुद्गल सारे लोकाकाश मे है, इसलिये इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये इन्हे सर्वगत मानना अत्यावश्यक है ।। १४ ।।

प्रश्न—उपकार शब्द से ही काम चल जाता है अत "उपग्रहों" वचन निरर्थक है । "उपग्रह" वचन निरर्थक है क्योकि उपकार शब्द और उपग्रह ये एकार्थवाची है अत. उपकार शब्द से काम चल जाता है और इससे 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार.' इस प्रकार लघुसूत्र बना देना चाहिये था ।।१५।।

उन दोनो में कर्तृत्व का प्रसग आयेगा, ऐसी आशका भी नही करनी चाहिए क्योकि यष्टि आदि के समान उपकार वचन हैं । तथा उपकार वचन से गति-स्थिति के कर्त्ता धर्म और अधर्म हैं, ऐसे धर्म-अधर्म मे कर्त्तृत्व का प्रसग आयेगा, ऐसा भी नही कहना क्योकि उपकार वचन का ग्रहण है । उपकार, बलाधान, अवलम्बन, ये एकार्थवाची हैं । इसलिये गति और स्थिति की निर्वर्तना मे धर्म और अधर्म के प्रधान कर्तृत्व का खण्डन किया है । जैसे—अपने जघा-बल से चलते हुए अधे वा किसी कमशक्ति वाले पुरुष के चलने मे लाठी उपकारक होती है, प्रेरक नही अर्थात् उसे चलने की प्रेरणा नही करती, उसी प्रकार स्व शक्ति से चलते हुए एव ठहरते हुए जीव और पुद्गलो के चलने एव ठहरने मे धर्म और अधर्म द्रव्य उपकारक-सहायक होते है, प्रेरक नही, ऐसा समझना चाहिए ।। १६ ।।

---

१ तथा जीवपुद्गलाना स्वयमेव स्थितिपरिणामिना तदुपग्र-मु व । २ –य इति म-मु, द, व ।
३ तटस्थाभिप्राय निराकरोति पर । ४ निराकृतम् ।

गतिस्थिती धर्माधर्मकृते इत्यनुपदेशाच्च । १७ । यदि धर्माधर्मौ गतिस्थित्यो.[1]प्रधानकर्तारौ स्याताम् 'गतिस्थिती धर्माधर्मकृते' इत्युच्येत, न त्वेवमुक्तम् । ततश्च मन्यामहे न प्रधानकर्तारौ इति ।

[2]**न वा, यथासंख्यनिवृत्त्यर्थत्वात् । १८ ।** न वैष दोष । कि कारणम् ? यथासंख्यनिवृत्त्यर्थत्वात् । 'गतिस्थितीः धर्माधर्मयोरुपकारः' इत्युच्यमाने आत्मना गतिपरिणामोपकारो धर्मस्य न पुद्गलानाम्, स्थितिपरिणामोपकार इतरस्य नात्मनामिति याथासंख्यं प्रतीयेत, तन्निवृत्त्यर्थमुप[3]ग्रहवचनं क्रियते ।

व्याख्यानादिष्टसंप्रत्यय इति चेत्; न; प्रतिपत्तेर्गौरवात् । १९ । स्यादेतत्, सर्वसन्देहेष्विदमुपतिष्ठते—**"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्"**[4] इति । तत इष्टस्य संप्रत्ययो भवतीति; तन्न, कि कारणम् ? प्रतिपत्तेर्गौरवात् । व्याख्यानादिष्टसंप्रत्यये क्रियमाणे बुद्धिखेदो माभूत्, इत्युपग्रहवचन कृतम् ।

प्रश्न—सूत्र मे 'गतिस्थिती धर्माधर्मकृते' ऐसा वचन नही है । यदि धर्म अधर्म द्रव्य गति-स्थिति के प्रधान कर्त्ता या प्रेरक कर्तृत्व इष्ट होते तो 'गतिस्थिती धर्माधर्मकृते' ऐसा सूत्र आचार्य वना देते परन्तु ऐसा सूत्र नही है इसलिये हम मानते है कि धर्म और अधर्म प्रधान कर्त्ता नही है । अत. उपग्रह वचन निरर्थक है ।। १७ ।।

उत्तर—यथासख्या की निवृत्ति के लिए उपग्रह वचन दिया गया है, अत उपग्रह शव्द निरर्थक नही है । "गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार:" ऐसा कहने पर आत्मा के गति परिणाम मे निमित्त होना धर्म द्रव्य का उपकार है तथा पुद्गलो की स्थिति मे निमित्त होना अधर्म द्रव्य का उपकार है दूसरो का नही अर्थात् पुद्गल के गमन मे धर्म उपकारक नही और जीव की स्थिति मे अधर्म उपकारक नही, ऐसी अनिष्ट यथाक्रम प्रतीति की निवृत्ति के लिए तथा स्पष्ट प्रतीति के लिए 'उपग्रह' शव्द दिया गया है ।। १८ ।।

व्याख्यान से इष्ट का सप्रत्यय हो जायेगा, ऐसी आशका भी नही करनी चाहिये क्योकि इससे अर्थ के ज्ञान मे गौरव होता है । अर्थात् सरलता से अर्थ का ज्ञान नही होता । **प्रश्न**—सर्व सन्देहो मे यह सूत्र उपस्थित होता है कि 'व्याख्यान से विशेप की प्रतिपत्ति होती है' अलक्षण होने से सन्देह से नही । यह व्याकरण सूत्र का नियम है । अत· व्याख्यान से इष्ट का संप्रत्यय (ज्ञान) हो जायेगा उपग्रह वचन से कोई प्रयोजन नही है । **उत्तर**—व्याख्यान से विशेप प्रतिपत्ति करने से अर्थ मे गौरव (विलष्टता) आती है, ज्ञान को विशेष परिश्रम करना पडता है इसलिये सरलता से अर्थ का वोध कराने के लिए "उपग्रहौ" वचन प्रयोग करना उपयुक्त है । सूत्र मे "उपग्रहौ" वचन का ग्रहण सरलता से अर्थज्ञान कराने के लिए है ।। १९ ।।

---

१ प्रेरक । २ पात. महा. पस्पशा सू ६ । ३ अथाचार्यो वदति । ४ अनर्थकानि वचनानि निर्दिष्टानि सूत्रयन्त्याचार्यस्य ।

[1]सौषिर्यादाकाशस्योपग्रह इति चेत्; न; धर्माधर्मकालात्मपुद्गलाधिकरणत्वात् नगरान्तर्गतवेश्मवत् । २० । स्यादेतत्–आकाश सर्वगतमस्ति, तच्च 'सौषिर्यगुणोपेतम्, अत. तस्यैव गतिस्थित्युपग्रहौ युक्त , किमन्याभ्या वृथा कल्पिताभ्यां धर्माधर्माभ्यामिति ? तन्न, किं कारणम् ? धर्माधर्मकालात्मपुद्गलाधिकरणत्वात् नभस. । कथम् ? नगरान्तर्गतवेश्मवत् । यथा नगरान्तर्गताना वेश्मना नगरमधिकरण तथा धर्मादीनां पञ्चानाम् आकाशमधिकरणम् । न चान्यस्य धर्मोऽन्यस्य भवितुमर्हति । यदि स्यात्, अप्तेजोगुणा द्रवदहनादय पृथिव्या एव कल्प्यन्ताम् । किञ्च,

आकाशास्तित्वेऽपि अनुगृहीतृद्रव्यसंबन्धेन सामर्थ्याविर्भावदर्शनात् अनिमिषव्रज्यावत् । २१ । यथा [2]अनिमिषस्य [3]व्रज्या जलोपग्रहाद्भवति, जलाभावे च भुवि न भवति सत्यप्याकाशे । यद्याकाशोपग्रहात् मीनस्य गतिर्भवेत् भुवि अपि भवेत् । तथा गतिस्थितिपरिणामिनाम् आत्मपुद्गलाना धर्माधर्मोपग्रहात् गतिस्थिती भवतो नाकाशोपग्रहात् । यद्याकाशोपग्रहात्[4] गतिस्थिती स्याताम्, अलोकाकाशेऽपि भवेताम् ।

सुषिरता आदि से युक्त होने से आकाश के ही उपग्रह है-ऐसी आशंका नही करनी चाहिए, नगर के अन्तर्गत घरो के समान आकाश, धर्म, अधर्म, काल, आत्मा और पुद्गल का अधिकरण है । **प्रश्न**—आकाश सर्वगत है और सुषिरता गुण से युक्त है अत आकाश को ही गति और स्थिति मे उपकारक मान लेना चाहिए, कल्पित अन्य धर्म और अधर्म द्रव्य के मानने से क्या प्रयोजन है ? **उत्तर**—आकाश को गति एव स्थिति का कारण मानना योग्य नही है क्योंकि आकाश धर्म, अधर्म, काल, आत्मा और पुद्गल द्रव्यो का आधार है । जैसे—नगर के अन्तर्गत घरो का आधार नगर है । वैसे ही धर्म, अधर्म, काल, आत्मा और पुद्गल इन पांचो द्रव्यो का आधार आकाश है । जब आकाश का एक 'अवगाहदान' उपकार निश्चित है तब उस पर अन्य द्रव्य के धर्म का आरोप करना उपयुक्त नही है । यदि अन्य (दूसरे) का धर्म किसी दूसरे द्रव्य मे आरोपित किया जायेगा तो जल की द्रवता और अग्नि की उष्णता पृथ्वी के भी माननी पडेगी ।। २० ।। अथवा—

आकाश का अस्तित्व होने पर भी अनुगृहीत द्रव्य के सम्बन्ध से ही मछलियो के गमन के समान सामर्थ्य का आविर्भाव देखा जाता है । जैसे—मछली का गमन जल के उपग्रह (निमित्त) से ही होता है, आकाश के होने पर भी मछलियो का गमन जमीन पर नहीं होता, उसी प्रकार गति और स्थिति परिणत जीव और पुद्गलो की गति और स्थिति का कारण धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य है, आकाश नही । यदि आकाश के निमित्त से जीव पुद्गलो का गमन एव स्थान होगा तो अलोकाकाश मे भी जीव और पुद्गलो की गति एव स्थिति होनी चाहिए । यदि अलोकाकाश मे जीव और पुद्गलो का गमन और स्थिति होगी तो लोक और अलोक के विभाग का अभाव हो जायेगा । और

---

१. सोखर्या-मु. । सुषिरत्व । २. मत्स्यस्य । ३. गमनम् । ४. -त् स्याता-मु. ।

ततश्च लोकालोकविभागाभाव. स्यात् । लोकव्यतिरिक्तेन चाऽलोकेन भवितव्यं नञ्पदोपहितस्यार्थवत्त्वदर्शनात् अब्राह्मणाभिधानवत् ।

स्वबाह्यकारणभावाऽभावयोस्तद्भावाभावदर्शनात् तदभाव इति चेत्; न; साधारणकारणत्वादाकाशवत् । २२ । स्यान्मतम्—इह गतिमता स्थितिमता च द्रव्याणा प्रतिनियतस्वबाह्यकारणसन्निधाने सति नियतगतिस्थित्योर्भावो दृष्ट, यथा मत्स्यादीना जलादिसद्भावे[1] भाव तदभावे चाभावो दृष्ट । तेषामेव जलाद्यभावे धर्माधर्मयो· सतोरपि गतिस्थित्यभाव·, तस्मात्तदधीने गतिस्थिती इति धर्माधर्मयोरभाव. इति; तन्न; कि कारणम् ? साधारणकारणत्वात् आकाशवत् । यथा सत्यपि भूम्यादावधिकरणे सर्वेषा साधारणमधिकरणमाकाशमिष्यते तथा मत्स्यादीना सत्स्वपि जलादिषु कारणेषु सर्वेषा गतिस्थित्यो साधारणकारणौ धर्माधर्मावभ्युपगन्तव्यौ ।

आकाशमेव पर्याप्तमिति चेत्; न; सर्वतन्त्रविरोधात् । २३ । स्यादेतत्—

से भिन्न अलोक तो होना ही चाहिए, क्योकि 'न ब्राह्मण अब्राह्मण' की तरह नञ्युक्त पद सार्थक देखा जाता है ।। २१ ।।

स्व-बाह्य (निमित्त) कारण के सद्भाव मे कार्य का सद्भाव और उनके अभाव मे कार्य का अभाव देखा जाता है इसलिये उसका अभाव है, ऐसी आशका नही करनी चाहिये क्योकि आकाश की तरह साधारण कारणत्व होने से । **प्रश्न**—इस लोक मे गतिमान् और स्थितिमान् जीव और पुद्गलो के प्रतिनियत स्वबाह्य कारणो के सन्निधान होने पर नियत गति-स्थिति का भाव देखा जाता जैसे—जल के सद्भाव मे ही मछलियो का गमन देखा जाता है, जल के अभाव मे मछलियो का गमन नही देखा जाता । उन मछलियो के धर्म और अधर्म के मोजूद रहने पर भो जलादि के अभाव मे गमन नही होता है । यदि धर्माधर्म के आधीन गति-स्थिति होती तो मछलियो का गमन धर्म के आधीन होना चाहिए, जल के आधीन नही; परन्तु उनका गमन जल के बिना नही होता इसलिये धर्म-अधर्म का अभाव है, क्योकि उनके होने पर भी मछलियो का गमन नही है । **उत्तर**—धर्माधर्म द्रव्य का अभाव नही है क्योकि आकाश के समान धर्म और अधर्म द्रव्य, गति आदि मे साधारण कारण है । जैसे—भूमि आदि आधारो के विद्यमान होने पर सर्वद्रव्यो का साधारण अधिकरण आकाश कहा जाता है, उसी प्रकार मछली आदि के लिए जल आदि वाह्य निमित्त रहने पर भी सर्वद्रव्यो की गति-स्थिति मे साधारण कारण धर्म और अधर्म द्रव्य है, ऐसा जानना चाहिए ।। २२ ।।

आकाश ही सर्वकार्य करने मे समर्थ है ऐसी आशका भी उपयुक्त नही है क्योकि ऐसा करने

---

1. दे तदभावे मू, द, मु, व ।

आकाशमेव विभुत्वात् सर्वद्रव्याणा गतिस्थित्यो साधारणकारणत्वेन पर्याप्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वतन्त्रविरोधात् । आकाशमेव पर्याप्त नान्यदिति नियच्छत· सर्वतन्त्रविरोधो भवति । तद्यथा—[1]केचित्तावदाहु·—आकाशकालदिगात्मानः सर्वगता अपि सन्त· प्रतिनियतस्वलक्षणा इति । तत्र हि दिङ्निमित्तो यो व्यवहार· इत इदमिति, ·कालनिमित्तश्च परोऽयमपरोऽयमिति नासावाकाशादृतेऽस्ति इत्याकाशस्यैवाद सामर्थ्य न दिक्कालयोरिति दिक्कालाभाव प्रसक्त । तथा च सर्वात्मना चैकत्वप्रसङ्ग । यदि व्यापित्वादाकाशस्यैव गतिस्थित्युपग्रह कल्प्यते, ननु यत्प्रत्यर्थनियतबुद्धिसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसस्कारगुणोपपत्ते । **"व्यवस्थातः । शास्त्रसामर्थ्याच्च नाना"**[2] आत्मान इति व्यवस्थित तद्विरुध्यते । [3]अपर आहु —त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमोऽभिधानाः प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नस्वभावा इति ।

पर स्वसिद्धान्त का विरोध आता है । प्रश्न—विभु होने से (सर्वगत होने से) सर्वद्रव्यो की गति और स्थिति मे साधारण कारण आकाश को मानना ही ठीक है । उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि इसमे स्वसिद्धान्त का विरोध आता है । आकाश को ही सर्वकार्य को करने मे समर्थ मानकर अन्य को नही मानने वाले के स्वसिद्धान्त का विरोध होता है । अर्थात् यदि एक द्रव्य का धर्म दूसरे द्रव्य मे मानकर अन्य द्रव्यो का लोप किया जाता है और इसी पद्धति से सर्वव्यापक आकाश को ही गति और स्थिति मे निमित्त मानकर धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव किया जाता है तो सभी मतवादियो के यहाँ सिद्धान्तविरोध दूषण आयेगा क्योकि अनेक द्रव्य व्यापक माने है । जैसे—कोई (वैशेषिक) आकाश, काल, दिशा और आत्मा इन चार द्रव्यो को विभु-व्यापक मानता है, परन्तु वे चारों व्यापक होते हुए भी प्रतिनियत स्वलक्षण वाले है । उनके यहाँ 'यह इससे पूर्व या पश्चिम में है' यह व्यवहार दिशानिमित्तक है और यह इससे ज्येष्ठ (बडा) है यह इससे लघु है' यह व्यवहार कालनिमित्तक है । परन्तु 'यह पूर्व मे है, यह पश्चिम मे है, यह छोटा है, यह बडा है' यह व्यवहार आकाश के बिना नही होगा अत· आकाश ही विभु होने से 'परापर' व्यवहार कराने मे समर्थ है, दिशा और काल के मानने की आवश्यकता नही है । दिशा और काल के अभाव का ही प्रसग आएगा, उसी प्रकार अनेक व्यापक आत्माएँ मानना निरर्थक है, उनका एक ही आत्मा से उपाधि-भेद से सर्वकार्य चल जाएगा । यदि व्यापक होने से आकाश को ही जीवादि के गमन और स्थिति मे कारण मानते हो तो प्रतिनियत बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कारादि गुणो के कारण तथा 'शास्त्रसामर्थ्याच्च नाना' सूत्र से शास्त्र के सामर्थ्य से नाना आत्मा सिद्ध हैं । उन नाना आत्माओ का मानना निरर्थक हो जाएगा । कोई (साख्य) सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण मानते है, सत्त्व गुण का प्रसाद और लाघव, रजो गुण का शोष और ताप तथा तमो गुण का आवरण एव सादन रूप भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं । यदि व्यापित्व होने से आकाश को ही गति एव स्थिति में उपग्रह (निमित्त) मानते है तो व्यापित्व होने से सत्त्व को ही शोपतापादि रजोगुणधर्म

---

१ वैशेषिका —स. । २ वैशे ३।२।२०।२१ । ३ साख्या —स ।

यदि व्यापित्वादाकाशस्यैव [1]गतिस्थित्युपग्रहाविष्टौ, ननु सत्त्वस्य व्यापित्वात् शोषतापादयो रजोधर्मा. सादनावरणादयश्च तमोधर्माः सत्त्वस्यैवेषितव्याः। तथेतरयोरपि प्रतिपक्षधर्मा इति सङ्करप्रसङ्ग.। तथा सर्वक्षेत्रज्ञाना चैकत्वसङ्गः चैतन्यस्वरूपाविशेषात् [2]आद्यन्तभोगाविशेषाच्च। [3]अन्ये मन्यन्ते–रूपणानुभवननिमित्तग्रहणसस्कृताभिसस्करणालम्बनप्रज्ञप्तिस्वभावलक्षणा रूपवेदनासज्ञासस्कारविज्ञानाभिधानाः पञ्च स्कन्धाः इति। तत्र यद्येकस्यैव सर्वधर्माः कल्प्यन्ते; नासति विज्ञानेऽनुभवादयः सभवन्तीत्यनुभवादयो विज्ञानस्यैव कल्प्येरन्। तथा सति शेषस्कन्धनिवृत्तौ स्वनिवृत्तिरपि स्यात्, न चैतत् सर्वमिष्टम्। तस्मादभ्युपगम्यतामाकाशस्य विभुत्वेऽपि न धर्माधर्मयोः प्रयोजन नास्तीति सिद्धौ धर्माधर्मास्तिकायौ।

उभयानुग्रहात् परस्परप्रतिबन्ध इति चेत्; न; स्वतः परिणामसामर्थ्यस्याऽनुग्रहाकाङ्क्षित्वात् कुण्टनयनयष्टिप्रदीपवत्।२४। स्यान्मतम्, यथा तुल्यबलाभ्या

और सादन आवरण आदि तमोधर्म मान लेना चाहिये, रज, तम, गुण मानना निरर्थक है तथा और भी प्रतिपक्षी धर्म है। उनको एक मानने से सङ्कर दोष आयेगा। उसी प्रकार सभी आत्माओ मे एक चेतन्यरूपता और आदान-आभोगता समान है अत. एक ही आत्मा मानना चाहिए, अनन्त नही। अर्थात् आत्मा भी चैतन्य भोक्तृ आदि समान होने से सर्वआत्मा मे एकत्व का प्रसग आयेगा। कोई (बोद्ध) मानते हैं कि रूपण, अनुभवननिमित्तग्रहण, सस्कृताभिसरकरण, आलम्बन, और प्रज्ञप्ति स्वभाव लक्षण रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध है, उन भिन्न लक्षण वाले स्कन्धो मे यदि एक स्कन्ध के ही सर्वधर्मों की कल्पना करते है, यदि विज्ञान के नही होने पर भी अनुभव आदि होते है, विज्ञान के ही अनुभव आदि होते है, अत· एक विज्ञान को ही मानना चाहिए। उसी से ही रूपादि स्कन्धो का रूपण, अनुभवन, शब्दप्रयोग और सस्कारादि कार्य हो जायेगे तो शेष स्कन्धो की निवृत्ति हो जाने पर निरालम्बन विज्ञान की भी स्थिति नही रह सकती अर्थात् विज्ञान की भी निवृत्ति हो जाने से सर्वशून्यता ही हाथ रह जाएगी, परन्तु बौद्धो को पाँच स्कन्धो का अभाव इष्ट नही है और साख्य को सत्त्व, तम और रज का नाश भी इष्ट नही है, उसी प्रकार विभु एव सर्वव्यापी होने पर धर्म और अधर्म के कार्य गति-स्थिति को आकाश नही कर सकना अतः जोव और पुद्गलो के गमन और अवस्थान मे निमित्त कारण धर्म अधर्म द्रव्य सिद्ध होते हैं ॥ २३ ॥

उभय अनुग्रह होने से परस्पर प्रतिवध की आशका भी नही करनी चाहिए क्योकि कुण्ट (लगड़ा) ओर नयन को यष्टि और दोपक के समान स्वत. परिणमन समर्थ का अनुग्रह करते हैं। प्रश्न—जैसे तुल्यवल (शक्ति) वाले दो पक्षियो के द्वारा आकृष्यमाण (खीचाहुआ) मास का टुकडा

---

१. गतिस्थितिरित्युप-मु द। २ आदानभो-मु, द, ब। ३ वौद्धा –स।

शकुन्ताभ्यामाकृष्यमाणो मासपिण्ड यावत्क्षेत्रमेकेनाऽऽकृष्यते तावदितरेण अपकृष्येतेति नास्योत्कर्षापकर्षगतिविधि सभवति, तथा जगद्व्यापित्वात् धर्माधर्मयोर्यदा धर्मोपग्रहाद् आत्मपुद्गलाना गतिस्तदैवाधर्मोपग्रहात् स्थितिरिति गते· प्रतिबन्धः। यदा वा अधर्मानुग्रहात्स्थितिस्तदैव धर्मानुग्रहाद्गतिरिति स्थितेः प्रतिबन्ध.। एव तेषा न गतिर्न स्थितिरित्युभयाभावः इति; तन्न; कि कारणम् ? स्वतः परिणामसामर्थ्यस्य अनुग्रहाकाङ्क्षित्वात्। कथम् ? कुण्टनयनयष्टिप्रदीपवत्। यथा कुण्टस्य गतिपरिणाम[१]समर्थस्य यष्टिरुपग्राहिका न तु सा तस्य गतेः कर्त्री। यद्यसमर्थस्यापि कर्त्री भवेत्, मूर्च्छितसुषुप्तादीनामपि यष्टिसबन्धाद्गतिः स्यात्। यथा वा नयनस्य स्वतो दर्शनसमर्थस्य प्रदीप उपग्राहक न तु प्रदीपो नेत्रस्य दर्शनशक्ते कर्ता। यद्यसमर्थस्यापि कर्ता स्यात्, मूर्च्छितसुषुप्तजात्यन्धानामपि दर्शन कुर्यात्। तथा आत्मपुद्गलानामपि स्वयमेव गतिस्थितिपरिणामिना धर्माधर्मावुपग्राहकौ गतिस्थित्योर्न कर्तारौ। यदि कर्तारौ स्याता स्याद् गतिस्थितिविरोध। अतोऽनुग्राहकत्वान्नास्ति दोषः। किञ्च,

---

जितने क्षेत्र मे एक पक्षी के द्वारा खीचा जाता है उतने क्षेत्र मे दूसरे पक्षी के द्वारा खीचा जाता है। उनके उत्कर्ष-अपकर्ष से गति-विधि नही होती अर्थात् वह मास का पिण्ड परस्पर पक्षियो का विरोध होने से इधर-उधर नही हो सकता, उसी प्रकार धर्म-अधर्म के जगद्व्यापी होने से जब धर्म द्रव्य गतिपरिणत जीव और पुद्गलो के गमन मे सहायक होता है तब अधर्म द्रव्य स्थिति मे निमित्त होने से गति का प्रतिबन्ध करता है। जब अधर्म जीव और पुद्गलो की स्थिति मे उपकार करता है, तब धर्म द्रव्य गति मे निमित्त होने से स्थिति का प्रतिबन्धक हो जाता है अत जीव और पुद्गलो की न गति होगी, न उनकी स्थिति इसलिये इन दोनो का अभाव हो जायेगा। उत्तर—ऐसी शका करना उचित नही है क्योकि ये दोनो द्रव्य स्वत परिणाम सामर्थ्य के ही अनुग्रहाकाक्षी है, जैसे—नयन के लिये दीपक और लगडे के लिये लाठी। जैसे—स्वय गमन करने मे लङ्गडे को चलते समय लाठी सहारा देती है, वह लाठी उस लङ्गडे की गति की कर्त्री नही है, यदि असमर्थ की गति की कर्त्री भी लाठी हो तो, मूर्च्छित सुषुप्तादि के भी लाठी के सम्बन्ध से गमन होगा। जैसे—स्वत.दर्शन (देखने) मे समर्थ नेत्र के लिये दीपक उपग्राहक (देखने का निमित्त कारण) होता है न कि दीपक नेत्र की दर्शन-शक्ति का कर्त्ता, यदि दीपक देखने मे असमर्थ व्यक्ति के भी दर्शन-शक्ति उत्पन्न करता है तो मूर्च्छित, सुषुप्त और जन्मान्ध को भी दर्शन होना चाहिये अर्थात् दीपक के निमित्त से दिखना चाहिये। वैसे ही स्वय गति और स्थिति मे परिणत जीव और पुद्गलो को धर्म और अधर्म गति और स्थिति मे उपकारक होते है, धर्म और अधर्म द्रव्य, जीव और पुद्गलो की गति और स्थिति के कर्त्ता-प्रेरक नही है। यदि ये दोनों द्रव्य कर्त्ता वा प्रेरक होते तो युगपद् गति और स्थिति का

---

१ —मसामर्थ्यस्य मू।

क्वचिदुपग्राहकाभावेऽपि गतिस्थितिदर्शनात् पतत्त्रिवत् । २५ । यथा पतत्त्रिणः प्रकृष्टगतिस्थितिक्रियापरिणामसामर्थ्यात् जलतुल्यबाह्योपग्राहकाभावेऽपि धर्माधर्मद्रव्यसद्भावात् गतिस्थिती दृष्टे, तथेतरेषामपि द्रव्याणा धर्माधर्मोपष्टम्भात् गतिस्थितिसिद्धिरिति तदुपपत्ति ।

तत्राप्याकाशं निमित्तमिति चेदुक्तम् । २६ । यदि तत्रापि पतत्र्यादिषु आकाशमुपग्राहकमस्तीति कल्प्यते; उक्तमेतत्—नाकाश गतिस्थित्युपग्रहकारणम् अवगाहनलक्षणत्वात्तस्येति ।

अनेकान्ताच्च समग्रविकलेन्द्रियवत् । २७ । यथा नायमेकान्त—सर्वश्चक्षुष्मान् बाह्यप्रकाशोपग्रहात् रूप गृह्णातीति । यस्मात् [1]द्वीपिमार्जारादय स्वजातिविशेषोपात्तनयनबलादेव विनापि बाह्यप्रदीपाद्युपग्रहात् रूपग्रहणसमर्था, मनुष्यादयस्तु तथादर्शनशक्त्यभावात् प्रदीपाद्युपग्रहमपेक्ष्यन्त इत्यनेकान्तः । यथा वा, नायमेकान्त—सर्व एव

विरोध होता अत केवल अनुग्राहक होने से गति-स्थिति का परस्पर विरोध नही है और न ये एक-दूसरे के प्रतिबन्धक है ।। २४ ।।

अथवा, पक्षियो के समान कही पर निमित्त कारण के विना भी गति और स्थिति देखी जाती है । जैसे—कही-कही पर प्रकृष्ट गति-स्थिति क्रिया-परिणाम - सामर्थ्य होने से जल जैसे बाह्य कारण के न होने पर भी धर्म और अधर्म द्रव्य के सद्भाव से जीवो की गति देखा जाती है जैसे—पक्षियो का आकाश मे गमन बाह्य कारणो के बिना हो धर्मद्रव्य के कारण से है, उसी प्रकार इतर द्रव्यो की (जीव और पुद्गलो की) धर्म और अधर्म द्रव्य के कारण गति-स्थिति सिद्ध होती है । अत धर्म और अधर्म द्रव्य का अस्तित्व है ।। २५ ।।

पक्षियो के भी आकाश निमित्त है, इसका तो पूर्व मे वर्णन किया है । पक्षियो के गमन मे आकाश को निमित्त मानना उचित नही है, क्योकि पूर्व मे कह चुके है कि आकाश गति-स्थिति का निमित्त कारण नही है, आकाश का कार्य तो अवगाहदान है ।। २६ ।।

समग्र और विकलेन्द्रिय की तरह यह अनेकान्त है । यह कोई ऐकान्तिक नियम नही है कि सभी आँख वाले बाह्य प्रकाश के निमित्त से ही रूप ग्रहण करते है क्योकि सिंह, मार्जार (बिल्ली) आदि अपनी जातिविशेष से गृहीत नयनशक्ति के बल से बाह्य प्रदीपादि के निमित्त कारणो के विना ही रूपादि को ग्रहण करने मे समर्थ होते है परन्तु मनुष्यादि में स्वतः वैसी शक्ति नही अतः वाह्य आलोक (प्रकाश) अपेक्षित होता है, इसलिये अनेकान्त है । जैसे—यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है कि सभी चलने वाले लाठी का सहारा लेकर ही गमन करते हो, क्योकि जिनकी इन्द्रियाँ

---

१. व्याघ्र ।

गतिमन्तो यष्ट्याद्युपग्रहात् गतिमारभन्ते नवेति, यस्मात् समग्रपञ्चेन्द्रियो बाह्ययष्ट्या-द्युपग्रहात् विनापि धर्मोपग्रहाद्गतिमारभते नैवं चक्षुर्विकल, स तु समविषमादिभूप्रदेशा-दर्शनात् तद्विशेषाविष्करणसमर्थां यष्टिमवष्टभ्य गतिमारभते इत्यनेकान्त। तथा नायमेकान्त:—सर्वेषाम् आत्मपुद्गलानां सर्वे बाह्योपग्रहहेतव सन्तीति, किन्तु केषाञ्चित् पतत्त्रिप्रभृतीना धर्माधर्माविव, अपरेषा जलादयोऽपीत्यनेकान्तः।

अनुपलब्धेरभाव इति चेत्; न; स्वतीर्थकराद्यभावप्रसङ्गात् । २८ । स्यान्मतम्, न च धर्माधर्मौ स्तः अनुपलब्धे खरविषाणवत् । सता हि यष्टयादीनाम् उपलब्धिरस्ति, तदुपकारश्च निम्नोन्नतादिभूप्रदेशे भेददर्शनं दृष्टम् । न च तथा धर्माधर्मावुपलभ्येते नापि तदुपकार इत्यसत्त्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वतीर्थकराद्यभावप्रसङ्गात् । न वयमेवंप्रतिज्ञा:[१] यो यो नोपलभ्य स सोऽसन्निति। यस्तु एववादी[२] तस्य स्वतीर्थकराद्यभावप्रसङ्गः खरविषाणवत् । यथा खरविषाणम् अनुपलब्धेरसत् तथा

परिपूर्ण है वे मानव बाह्य लाठी की सहायता के बिना भी धर्म द्रव्य के निमित्त से गमन करते है और नही भी करते हैं अर्थात् ठहर भी जाते है। जिनकी चक्षु विकल है अर्थात् जिनको नही दिखता है, वे सम-विषम भूमि के नही दिखने से उस भूमि के सम-विषम आविष्करण (प्रगटकरने) मे समर्थ लाठी का सहारा लेकर चलते है। उसी प्रकार यह भी ऐकान्तिक नियम नही है कि सभी जीव और पुद्गलो के सर्वबाह्य निमित्त कारण होते ही है। परन्तु किसी-किसी पक्षी आदि को धर्म और अधर्म द्रव्य ही कारण होते है। सर्वजीवो को जलादि निमित्त कारण नही है, इसलिये इसमे भी अनेकान्त है। किन्ही को गमन और स्थिति मे मात्र धर्म और अधर्म द्रव्य कारण होते हैं और किन्ही को धर्माधर्मादि के साथ अन्य बाह्य कारणो की भी अपेक्षा होती है ।। २७ ।।

अनुपलब्ध होने से धर्मादि द्रव्य का अभाव है, ऐसी आशका करना भी उचित नही है, क्योकि ऐसा मानने पर स्वतीर्थंकरादि के अभाव का प्रसग आयेगा। शका—धर्म, अधर्म द्रव्य नही है क्योकि अनुपलब्ध होने से गधे के सीग के समान। सत्रूप लाठी की ही उपलब्धि होती है, इस का ही निम्न एव उन्नत भूमिप्रदेश मे भेद देखने से उपकार पाया जाता है। अर्थात् लाठी की उपलब्धि होने पर वह गमन मे सहायक बनती है, परन्तु धर्म और अधर्म द्रव्य उपलब्ध नही है इसलिये वे जीव और पुद्गलो की गमन-स्थिति मे उपकारक नही है क्योकि उनका अस्तित्व नही है। उत्तर—ऐसा कहने वालो के स्वतीर्थकर आदि के अभाव का प्रसग आयेगा। जो उपलब्ध नही है-वह नही है, ऐसी हमारी प्रतिज्ञा नही है क्योकि जो ऐसा मानते है कि जो उपलब्ध नही है, उसका अस्तित्व नही है, जैसे—गधे के सीग अनुपलब्ध है, वे असत् है। इस प्रकार मानने से अपने तीर्थंकर, पुण्य-पाप, परलोकादि के नाश का प्रसग आयेगा। परन्तु यह किसी को इष्ट नही है अत अनुपलब्ध हेतु व्यभिचारी है। अर्थात् धर्म और अधर्म द्रव्य की अनुपलब्धि होने से खरविषाण के

१ वस (बहुव्रीहिसमास इत्यर्थ। २ एव वदतीति।

स्वतीर्थकरपुण्यापुण्यपरलोकादीनामप्यसत्त्वमासक्तम्, न चाऽसत्त्वमिष्ट ततो हेतोर्व्यभिचार: । किञ्च,

अनुपलब्ध्यसिद्धेः । २९ । भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रत्यक्षज्ञानगोचरत्वात् तत्प्रणीतपरमागमप्रमाणगम्यत्वात् तदनुसारिस्वकार्यदर्शनाद्यनुमानविषयत्वाच्च धर्माधर्मयोरुपलब्धेरनुपलब्धिलक्षणो हेतुरस्मान् प्रत्यसिद्ध.। न च हेतु: स्वयमसिद्ध: साध्यमर्थं साधयितुमलम् ।

अत एव विवादात् । ३० । यत एव यष्ट्यादिवत् न प्रत्यक्षौ धर्माधर्मावित एव विवाद –किमनुपलब्धे: खरविषाणवदभावोऽनयो., उत अण्वाकाशमूलोदकादिवत् अभाव इति ? न हि यत एव विवाद तत एव निर्णयो भवितुमर्हति । किञ्च,

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः । ३१ । इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्य दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्ति प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्य बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्ष घटपर्यायेणाऽविर्भवति, नैक एव

समान अभाव नही किया जा सकता अन्यथा अपने तीर्थंकर, पुण्य, पाप, परलोक आदि सभी पदार्थों का अभाव हो जाएगा ।। २८ ।।

अथवा, अनुपलब्धि असिद्ध भी है, क्योकि भगवान् अरिहंत सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने से, उन सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा प्रणीत आगम से, आगम अनुसार कार्य की उपलब्धि से तथा अनुमान ज्ञान के द्वारा गति और स्थिति मे कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्य की उपलब्धि होती है अत. अनुपलब्ध होने से धर्म-अधर्म द्रव्य नही है, यह हेतु जैनो के प्रति असिद्ध है और असिद्ध हेतु साध्य अर्थ को सिद्ध करने मे समर्थ नही होता ।। २९ ।।

इसलिये विवाद है । लाठी आदि के समान धर्म और अधर्म द्रव्य प्रत्यक्ष नही है, इसलिये विवाद है । धर्म, अधर्म अतीन्द्रिय होने से अप्रत्यक्ष है इसलिये विवाद है कि इनकी खरविषाण की तरह असत्त्व होने से अनुपलब्धि है । अथवा परमाणु, आकाश का मूल, उदक आदि के समान अतीन्द्रिय होने से धर्म-अधर्म द्रव्य का अभाव है ? जिस कारण से विवाद है, उसी कारण से अभाव का निर्णय नही हो सकता । किञ्च—।। ३० ।।

कार्य के अनेक उपकरणो से साध्यत्व होने से धर्म-अधर्म द्रव्य की सिद्धि होती है । इस लोक में कार्य अनेक उपकरणो (कारणो) से सिद्ध हुआ देखा जाता है, जैसे—घटकार्यपर्यायप्राप्तिप्रति गृहीत आम्यन्तर सामर्थ्य वाला भी मिट्टी का पिण्ड वाह्य कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवर, पानी, काल, आकाश आदि अनेक कारणो से अपेक्षित होकर ही घटपर्याय से उत्पन्न होता है । बाह्य कुम्भकार आदि साधनो के सन्निधान के विना अकेले मृत्पिड से घडा उत्पन्न हो नही सकता, स्वय

मृत्पिण्ड. कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितु समर्थ, तथा पतत्त्रिप्रभृतिद्रव्यं, गतिस्थितिपरिणामप्राप्ति प्रत्यभिमुख नान्तरेण बाह्यानेककारणसन्निधि गति स्थिति चावाप्तुमलमिति तदुपग्रहकारणधर्माऽधर्मास्तिकायसिद्धि । तत किम् ? अनुमानविरोधो वेदितव्य. ।

संसर्ग एव हेतुरिति चेत्; न; कारणनियमाभावप्रसङ्गात् । ३२ । स्यान्मतम्—नानेककारणसाध्यं कार्यम् । कि तर्हि ? संसर्ग एव हेतु कार्यात्मलाभस्य, विवक्तानां तन्त्वादीना कार्यारम्भसामर्थ्याभावात् इति; तन्न; कि कारणम् ? कारणनियमाभावप्रसङ्गात्—यस्मात्कस्माच्चित्कारणसंसर्गात् पटनिष्पत्तिरस्तु । नो चेदेवं प्रतिविशिष्टतन्त्वादिकारणविषयसंसर्गापेक्षत्वादनेककारणत्वसिद्धि । किञ्च,

एकस्य कारणस्य संसर्गाभावात् । ३३ । अनेककारणसाध्यत्वात् ससर्गस्य ।

उपादान के सामर्थ्य से बाह्य निमित्त कारणो के बिना मिट्टी घटरूप होने मे समर्थ नही है, उसी प्रकार गति-स्थिति पर्याय की प्राप्ति के प्रति सन्मुख पक्षी आदि द्रव्य बाह्य अनेक कारणो के सन्निधान के बिना, गति-स्थिति को प्राप्त करने मे समर्थ नही है अर्थात् पक्षी आदि की गति और स्थिति भी अनेक बाह्य कारणो की अपेक्षा करती है। इनमे सबकी गति और स्थिति के लिए साधारण कारण धर्म और अधर्म द्रव्य होते है अत. धर्म और अधर्म द्रव्य की प्रसिद्धि है। इसलिये अनुमान से विरोध नही है ।। ३१ ।।

कारणो के नियमो के अभाव का प्रसग होने से पदार्थो का ससर्ग ही हेतु है, ऐसा भी नही कहना चाहिए। **प्रश्न**—अनेक कारणो से कार्य सिद्ध नही होता अपितु पदार्थो के संसर्ग से कार्य उत्पन्न होता है, अतः पदार्थो का ससर्ग ही कार्य की उत्पत्ति का कारण है, क्योकि पृथक्-पृथक् तन्तुओं के पटादि कार्यारभ के सामर्थ्य का अभाव है ? **उत्तर**—पदार्थो को कार्य की उत्पत्ति मे कारण न मानने पर कारणनियमो के अभाव का प्रसग आयेगा तथा जिस किसी भी कारण के ससर्ग से पटकी निष्पत्ति हो जायेगी। परन्तु जिन किन्ही कारणो से पट की निष्पत्ति नही हो सकती अपितु प्रतिविशिष्ट तन्तु आदि कारणविशेष के ससर्ग की अपेक्षा से ही पट की निष्पत्ति होती है। कारणों का ससर्ग ही कार्योत्पादक होता है न कि किन्ही पदार्थो का ससर्ग। अत. प्रतिविशिष्ट तन्तु, जुलाहा, तुरी, वेम, शलाका आदि कारणो से पट की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार गति और स्थिति के साधारण कारण-धर्म और अधर्म के साथ ही अन्य कारणो का ससर्ग कार्यकारी हो सकता है अतः कार्य की उत्पत्ति मे अनेक कारणो की सिद्धि है ।। ३२ ।।

अथवा एक कारण के ससर्ग का अभाव है। ससर्ग भी अनेक कारणो से सिद्ध होता है, एक से नही और ससर्ग को कारण मान लेने पर 'कारणो से कार्य नही होता' इस प्रतिज्ञा की हानि होती है। कारणो का सयोगविशेष ससर्ग है, वह अनेक कारणो का सयोग विशेष ससर्ग भी कारणभेद

संसर्गकारणत्वे प्रतिज्ञाहानि । अपि च, ससर्गकारणानां संयोगविशेष:[1] [2]संयोगिना बहुत्वादनेक: [3]तत्साध्यत्वात् कार्यस्य अनेककारणत्वसिद्धि. । किञ्च,

स्वसमयविरोधात् । ३४ । न च वयमेवपक्षा –यन्नोपलभ्यते प्रत्यक्षेण तन्नास्तीति । यस्य तु वादिन एषोऽभिप्रायस्तस्य स्वसमयविरोधः । तद्यथा–सर्वे हि वादिनः प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षार्थवादिन. । [4]केचित्तावदाहु –प्रत्येक रूपपरमाणवोऽतीन्द्रिया-स्तत्समुदायोऽनेकपरमाणुक [5]इन्द्रियग्राह्यो नाम [6]चित्तचैतसिकविकल्पमतीन्द्रियमिति । [7]अपर आहु:–व्यक्तस्य पृथिव्यादे प्रधानपरिणामस्य प्रत्यक्षत्वं सत्त्वादीनां गुणाना परमात्मना चाऽप्रत्यक्षमिति। [8]अन्ये तु मन्यन्ते–'**महत्यनेकद्रव्यत्वात् रूपाच्चोप[9]लब्धिः**''[10] इत्येवमादिना[11] अनेकपरमाणुसमुदयभावेन निष्पन्ना. पृथिव्यादयस्तद्विषयाश्च रूपादयस्त-त्समवायिन सख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागादयश्च प्रत्यक्षा, अण्वाकाशादयोऽप्रत्यक्षा इति । यदि यष्ट्याादिवदनुपलब्धे. धर्माधर्मयोरभावः प्रतिज्ञायेत; ननु विज्ञानादीना

से भिन्न-भिन्न ही है। अत· अनेक कारणो से कार्य की उत्पत्ति होती है, यह पक्ष स्थिर रहता है ।। ३३ ।।

स्वसमय का विरोध भी है। जैन धर्मावलम्बियो का यह पक्ष नही है कि जो प्रत्यक्ष उपलब्ध नही है-वह वस्तु नही है अपितु जिस वादी का यह अभिप्राय है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष उपलब्ध नही है, उसके ही स्व-सिद्धान्त का विरोध आता है क्योकि सभी वादी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थो को स्वीकार करते ही है। कोई (बौद्ध) कहते है कि प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है, अनेक परमाणुओ का समुदाय इन्द्रियग्राह्य होता है। चित्त और चैतसिक विकल्प अतीन्द्रिय है। कोई (साख्य) मानता है कि कार्यरूप व्यक्त प्रधान के विकार पृथ्वी आदि प्रत्यक्ष है, परन्तु सत्त्व, रज और तम ये कारणभूत गुण तथा परमात्मा अप्रत्यक्ष है। कोई (वैशेषिक) मानते है कि 'महान् मे अनेक द्रव्यत्व और रूपत्व होने से ही उपलब्धि होती है' इत्यादि अनेक वादियो के द्वारा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष पदार्थ माने गये है। जैसे—अनेक परमाणुओ के द्वारा निष्पन्न स्थूल, पृथ्वी आदि और उसी मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाले उसके विषयभूत रूपादि सख्या, परिमाण, सयोग, विभाग आदि गुण प्रत्यक्ष होते हैं तथा परमाणु आकाश आदि अप्रत्यक्ष है। लाठी आदि कारणो के समान धर्म और अधर्म की उपलब्धि न होने से यदि इन दोनो का अभाव माना जाता है तो अप्रत्यक्ष होने से विज्ञान आदि, सत्त्वादि और परमाणु आदि का भी अभाव मानना पडेगा। अत: सभी मतवादियो के स्वसिद्धान्त का विरोध होगा। यदि परमाणु आदि का कार्य देखने से उनके अस्तित्व का अनुमान किया जाता

---

१. यथा कुलालस्य दण्डेन समर्ग, दण्डस्य च चक्रेण, मृत्पिण्डस्य कुलालहस्तेन, चीवरेण चेत्यादि । २ कुलालादीनाम् । ३. अनेकसयोग । ४ बौद्धा –स । ५ स्कन्ध । ६. ज्ञान-ज्ञानजसुख-दु खादि । ७ साख्या –म । ८ वैशेषिका –म । ९ द्रव्यत्वम् । १० वैशेषिक ४।१।६ । ११ सूत्रेण ।

सत्त्वादीनाम् अण्वादीनां चाऽप्रत्यक्षत्वादभाव. स्यादिति स्वसमयविरोध.। अथैषां कार्यदर्शनात् अस्तित्वमनुमीयते, धर्माधर्मयो. को मत्सर. ? किञ्च,

त्वदीयजीवितमरणादिवत्तत्सिद्धिः । ३५ । यथा त्वदीयजीवितमरणसुखदु.ख-लाभालाभादीनां मनुष्यमात्राप्रत्यक्षाणाम् अतिशयज्ञानिभिरुपलभ्यमानस्वरूपाणाम् अस्तित्वम्, तथा तावकीनप्रमाणगोचरातीतयोरपि परमर्षिसर्वज्ञदृष्टयो धर्माधर्मयोरस्तित्वमिति को विरोध. ? किञ्च,

ज्ञानादिवदिति चेत्; न; उक्तत्वात् । ३६ । स्यादेतत्–यथा ज्ञानादीनामात्मपरिणामाना, पुद्गलपरिणामाना च [1]दध्यादिद्रव्यादीना निर्वृत्ति· परस्पराश्रया न धर्माधर्मास्तिकायस्थानीयद्रव्यान्तराश्रया, तथा जीवपुद्गलेषु गतिस्थितिपरिणामा अपि अन्योन्याश्रया इति धर्माधर्माभाव इति। तन्न, कि कारणम् ? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–पतत्त्रिप्रभृतीनां गतिस्थितिकारणेन साधारणेन बाह्येन भवितव्यमिति।

है तो धर्म और अधर्म द्रव्य का भी अनुमान से अस्तित्व मानने मे क्या विरोध है? किञ्च—।। ३४ ।।

तुम्हारे जीवित-मरणादि के समान धर्म-अधर्म द्रव्य की सिद्धि है, अतीन्द्रिय होने से मनुष्य मात्र के अप्रत्यक्ष और अतिशयज्ञानी सर्वज्ञ के द्वारा उपलभ्यमान स्वरूप वाले तुम्हारे जीवन-मरण, सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ आदि का जैसे अस्तित्व सिद्ध है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रमाण के गोचरातीत और परम ऋषि सर्वज्ञज्ञान के द्वारा दृष्ट धर्म-अधर्म द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार करने मे क्या विरोध है ? ।। ३५ ।।

ज्ञानादि के समान परस्पराश्रय का भी पूर्व मे खण्डन किया है। प्रश्न—जैसे—ज्ञानादि आत्मपरिणाम और दधि आदि पुद्गल परिणामो की निष्पत्ति (उत्पत्ति) परस्पराश्रित है, उसमे किसी धर्म और अधर्म द्रव्य जैसे अन्य अतीन्द्रिय द्रव्यान्तर की आवश्यकता नही है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल के गति-स्थिति परिणाम भी अन्योन्याश्रित है इसलिये जीव और पुद्गलो की गति-स्थिति के लिये धर्म और अधर्म द्रव्य को आवश्यकता नही है इसलिये निष्प्रयोजन होने से धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव है ? उत्तर—ऐसी आशका समुचित नही है क्योकि इसका पूर्व मे वर्णन किया है कि पक्षी-आदियो के गमन और स्थिति मे बाह्य साधारण कारण अवश्य होने चाहिए। अथवा, ज्ञानादि जीव के परिणामो का तथा दधि आदि पुद्गलो के विकारो की उत्पत्ति का बाह्य कारण काल को स्वीकार किया है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलो की गति एव स्थिति के लिये

---

१ दध्यादीना मू, मु। द्रव्यादीना द।

किञ्च, ज्ञानादिदध्यादिविकाराणामपि निर्वृत्तौ कालो हेतुः बाह्योऽस्तीत्यभ्युपगमादसमस्समाधि[1]।

अदृष्टहेतुके गतिस्थिती इति चेत्; न; पुद्गलेष्वभावात् । ३७ । स्यान्मतम्–अदृष्टो नामात्मगुणोऽस्ति यद्धेतुकं सुखदुःखविपाकं [2]तत्साधनसन्निधानं च । एवं च कृत्वोक्तम्–"**अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोश्चतिर्यक्पवनम्**[3] **अणुमनसोश्चाद्यं** [4]**कर्मेत्येतान्यदृष्टकारितानि, उपसर्पणमपसर्पणमसितपीतसंयोगाः कायान्तरसंयोगश्चेति अदृष्टकारितानि**"* इत्यादि, तद्धेतुके गतिस्थिती इति, तन्न, किं कारणम् ? पुद्गलेष्वभावात् । अचेतनत्वात् पुद्गलानां पुण्यापुण्यकरणा[5]भावात् तत्कृतगतिस्थित्यभावदोषः ।

यस्योपकारस्तादर्थ्यात् क्रियाप्रवृत्तिरिति चेत्; न; अन्यधर्मस्याऽन्यत्र क्रियारम्भे सामर्थ्याभावात् । ३८ । स्यादेतत्–यस्य घटादय उपकरिष्यन्ति तस्य पुंसोऽदृष्टाद् घटादिषु गतिस्थिती भवत इति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यधर्मस्याऽन्यत्र क्रियारम्भे

साधारण बाह्य कारण धर्म और अधर्म द्रव्य को स्वीकार करना चाहिए, क्योकि वे दोनो समान है ।। ३६ ।।

अदृष्टहेतुक गति, स्थिति है, ऐसी आशका नही करनी चाहिये, क्योकि पुद्गल मे नही है। **प्रश्न**—अदृष्ट (पुण्य-पाप) आत्मा का गुण है, इसी के निमित्त से सुख-दु.ख रूप फल तथा सुख-दु.ख के साधन जुटते है। इस प्रकार वैशेषिक सूत्र मे कहा भी है कि अग्नि का ऊपर की ओर जलना, वायु का तिरछा बहना, परमाणु और मन की आद्य-क्रिया ये सब अदृष्ट (पुण्य-पाप) के द्वारा की जाती है। उपसर्पण, अपसर्पण, वातपित्त वा काले पीले का सयोग तथा शरीरान्तर (एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे जाना) का सयोग आदि सभी अदृष्टकृत है। इसी अदृष्ट से जीव और पुद्गलो की गति और स्थिति हो जाएगी, धर्म-अधर्म द्रव्य को मानने से क्या प्रयोजन है ? **उत्तर**—पुद्गल द्रव्यो मे अचेतन होने से अदृष्ट नही पाया जाता है, अतः पुण्य-पाप रूप कारणो (अदृष्ट) का अभाव होने से उन पुद्गलो मे पुण्य-पापकृत गति-स्थिति भी नही हो सकेगी ।। ३७ ।।

यह समाधान भी उचित नही है कि जिसका उपकार करेगे उसी के अदृष्ट से इनकी क्रिया हो जाएगी क्योकि अन्य का धर्म अन्य की क्रिया मे समर्थ नही है। ऐसा नही है कि जो घटादि पुद्गल जिस आत्मा का उपकार करेगे, उस आत्मा के अदृष्ट से पुद्गलो मे गति और स्थिति हो जाएगी, क्योकि अन्य द्रव्य का धर्म अन्य द्रव्य मे क्रिया नही करा सकता है। जो अपने आश्रय मे

---

१. परिहारः । * वैशे ५।२।१३, १७ । २ स्रग्वनिताऽहिलतादि । ३. तिर्यक्प्लवनं भा २ ।
४. कर्मेत्याद्य-मू । ५ कारण–मु, द ।

सामर्थ्याभावात् । न हि स्वाश्रये क्रियामनारभमाण अन्यत्र क्रियाहेतुरस्तीत्युक्त पुरस्तात् । किञ्च,

पुण्यापुण्यात्ययेऽपि गतिस्थितिदर्शनात् । ३९ । विनिर्मुक्तपुण्यापुण्यबन्धाना सिद्धाना गतिस्थिती इष्येते । ततो नादृष्टहेतुके गतिस्थिती ।

अमूर्तत्वाद्गतिस्थितिनिमित्तत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; दृष्टान्ताभावात् । ४० । स्यान्मतम्—रूपादिगुणविरहितत्वात् अमूर्तौ धर्माधर्मावभ्युपगम्येते, ततस्तयोर्गतिस्थिति-हेतुत्व नोपपद्यते इति, तन्न, कि कारणम् ? दृष्टान्ताभावात् । न हि दृष्टान्तोऽस्ति येनामूर्तत्वात् गतिस्थितिहेतुत्व व्यावर्तेत । किञ्च,

आकाशप्रधानविज्ञानादिवत्तत्सिद्धेः । ४१ । यथा आकाशममूर्तमपि सत् सर्व-पदार्थानामवगाहनप्रयोजनमुपपादयति । यथा वा, [1]प्रधानममूर्तमपि पुरुषार्थप्रवृत्त्या महदादिविकारमापद्यमान पुरुषस्योपकरोति । यथा वा, [2]विज्ञानममूर्तमपि

क्रिया का आरम्भ नही कर सकता, वह अन्यत्र क्रिया का हेतु नही हो सकता, इसका विशेष वर्णन पहले किया है ।। ३८ ।।

पुण्य-पाप के अभाव मे भी गति और स्थिति देखी जाती है । पुण्य और पापकर्म से रहित सिद्धो के भी गति और स्थिति (गमन और अवस्थान) देखी जाती है, मानी गयी है । कर्मरहित जोव ऊर्ध्वगमन करके एक समय मे लोकाकाश तक जाकर स्थिर हो जाते है । अत गति और स्थिति पुण्य-पाप हेतुक नही हैं ।। ३९ ।।

अमूर्त्तत्व होने से धर्म और अधर्म गति और स्थिति मे निमित्त नही हो सकते, ऐसी आशका नही करनी चाहिए, क्योकि इस प्रकार के दृष्टात का अभाव है । शका—रूपादि रहित होने से धर्म और अधर्म द्रव्य को अमूर्त्त माना गया है, अत. उन दोनो मे गति-स्थिति का हेतुत्व नही हो सकता । उत्तर—अमूर्त्त होने से धर्म और अधर्म द्रव्य मे गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्व का अभाव नही किया जा सकता, क्योकि अमूर्त्त के कार्यहेतुत्व नही होने का कोई दृष्टात नही मिलता, जिससे अमूर्त्त होने से धर्म और अधर्म के गति-स्थिति हेतुत्व का निराकरण किया जाय ।। ४० ।।

आकाश प्रधान और विज्ञान के समान अमूर्त्त, धर्म, अधर्म द्रव्य मे कार्यहेतुत्व की सिद्धि होती है । अर्थात् आकाश आदि अमूर्त्त पदार्थ कार्य करते देखे जाते है, जैसे—अमूर्त्त होकर भी आकाश सभी द्रव्यो को अवगाहन देने रूप कार्य को उत्पन्न करता है (अवगाहन देने मे निमित्त होता है) । अमूर्त्त भी प्रधान पुरुषार्थ प्रवृत्ति से महान् अहकार आदि विकार रूप से परिणत होकर

---

१ साख्याभिमतम्-स । २ बौद्धसम्मत-स. ।

सन्नामरूपोत्पत्तौ निमित्त **"विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्"** इति वचनात्। यथा वा, अपूर्वाख्यो[1] धर्म क्रियया अभिव्यक्तः सन्नमूर्तोऽपि पुरुषस्योपकारी वर्तते, तथा धर्माधर्मयोरपि गतिस्थित्युपग्रहोऽवसेय.।

अत्राह–यद्यतीन्द्रिययोर्धर्माधर्मयोरुपकारसंबन्धेनास्तित्वमवध्रियते तदनन्तर-मुद्दिष्टस्य नभसोऽतीन्द्रियस्याधिगमे क उपकार इति ? अत्रोच्यते–

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

आकाशशब्दो व्याख्यातार्थ ।

अवगाहशब्दो भावसाधनः । १ । अवगाहनमवगाह इति भावसाधनोऽवगाहशब्दो वेदितव्य । अवगाहोऽनुप्रवेश इत्यर्थः ।

धर्माधर्मयोरवगाहं प्रति कर्तृत्वादनादिसंबन्धनिवृत्तिरिति चेत्; न; औपचारिक-

---

पुरुष का उपकार करता है (पुरुष के भोग निमित्त होता है) और अमूर्त्त भी विज्ञान रूप की उत्पत्ति का कारण होता है 'नामरूप विज्ञान निमित्तक है' (यह किन्ही बौद्धो का) सिद्धान्त है। अथवा, (मीमासक) का मत है कि अपूर्व नामक धर्म (पुण्य–पाप) क्रिया से अभिव्यक्त होकर अमूर्त्त होते हुए भी पुरुष (आत्मा) का उपकारी है अर्थात् पुरुष के उपभोग साधनो मे निमित्त होता ही है, उसी प्रकार अमूर्त्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलो की गति और स्थिति मे उपकारक (निमित्तकारण) समझना चाहिये ।। ४१ ।।

यदि अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म का अस्तित्व जीव और पुद्गलो की गति और स्थिति के उपकार से जाना जाता है तो धर्म और अधर्म द्रव्य के बाद उद्दिष्ट (कथित) अतीन्द्रिय आकाश के अधिगम मे क्या उपकार है ? ऐसा पूछने पर आचार्य सूत्र कहते है—

(सब द्रव्यों को) अवगाह देना आकाश का उपकार है ।। १८ ।।

आकाश शब्द का अर्थ पूर्व मे कह दिया है ।

अवगाह शब्द भावसाधन है। 'अवगाहन अवगाह' इस प्रकार अवगाह शब्द भावसाधन है, ऐसा जानना चाहिए। अवगाह या अनुप्रवेश दोनो एकार्थवाची है ।। १ ।।

धर्म और अधर्म द्रव्य को आकाश मे अवगाहक मान लेने पर धर्म और अधर्म द्रव्य के अनादि सम्बन्ध की निवृत्ति हो जायेगी, ऐसी आशका भी उचित नही है क्योकि इनका औपचारिक प्रयोग है।

---

१ मीमामकाभिमतम्-म ।

त्वात् व्याप्तिसद्भावात् । २ । स्यान्मतम्—यथा जलमवगाहते हस इति न जलहसयोर-नादिसबन्धः, तथा आकाश धर्माधर्मावेवगाहेते इत्यभ्युपगमात् अनादिसबन्धो निवर्तत इति; तन्न, किं कारणम् ? औपचारिकत्वात् । औपचारिकोऽयमवगाहः । कुतः ? क्रियाऽभावात् । कुतस्तर्हि उपचार ? व्याप्तिसद्भावात् । यथा गमनाभावेऽपि सर्वगतमाकाशमित्युच्यते व्याप्तिसद्भावात्, तथा मुख्यावगाहक्रियाऽभावेपि लोकाकाशेऽपि सर्वत्र व्याप्तिदर्शनात् व्यवह्रियते—धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाह इति ।

अयुतसिद्धानामाधाराधेयत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; तत्रापि दर्शनात् पाणिरेखावत् । ३ । स्यादेतत्—युतसिद्धानां लोके दृष्ट आधाराधेयभाव यथा कुण्डबदरादीनाम् । अयुतसिद्धाश्चैते आकाशधर्माधर्माः अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यभावात्, तत आधाराधेयभावो नोपपद्यत इति, तन्न, किं कारणम् ? तत्रापि दर्शनात् । यथा युतसिद्धयभावे पाणौ रेखेति आधाराधेयभावो दृष्ट. तथा लोकाकाशे धर्माधर्मावित्याधेयाधारभाव सिद्ध ।

दृष्टत्वादीश्वरैश्वर्यवत् । ४ । यथेश्वरस्यैश्वर्यस्य वाऽयुतसिद्धेऽपि ईश्वरे ऐश्वर्यमिति, व्यवहारो दृष्टस्तथा लोकाकाशे धर्माधर्माविति व्यपदेशो युक्त ।

प्रश्न—जैसे 'हस जल मे अवगाहन करता है' इसमे जल और हस का अनादि सम्बन्ध नही है, वैसे ही आकाश मे धर्म और अधर्म रहते है, अत धर्म और अधर्म का अनादि सम्बन्ध नही है ? उत्तर—धर्म और अधर्म आकाश मे रहते है, यह औपचारिक प्रयोग है । 'यह हस जल को अवगाहन करता है' इसकी तरह मुख्य प्रयोग नही है क्योंकि सारे लोकाकाश मे धर्म और अधर्म की व्याप्ति का सद्भाव होने से इनमे क्रिया का अभाव है । मुख्य आधार-आधेय भाव मे ही पौर्वापर्य होता है और यह पहले है, इस प्रकार सादित्व होता है । जैसे गमनक्रिया के अभाव मे भी सर्वत्र व्याप्ति होने के कारण आकाश को सर्वगत कहते है, उसी प्रकार मुख्य अवगाह क्रिया का अभाव होने पर भी लोकाकाश मे सर्वत्र व्याप्ति होने के कारण धर्म और अधर्म का लोकाकाश मे अवगाह है. ऐसा व्यवहार किया जाता है ॥ २ ॥

अयुतसिद्ध पदार्थो मे आधार-आधेय भाव नही है, ऐसी आशका उचित नही है क्योकि हाथ मे रेखा के समान अयुतसिद्धो मे भी आधार-आधेयत्व देखा जाता है । प्रश्न—लोक मे कुण्ड और वेर आदि पृथक् सिद्ध पदार्थो मे ही आधार-आधेय भाव देखा जाता है, जैसे—कुण्ड और वेर युतसिद्ध (पृथक्सिद्ध) है, परन्तु धर्म अधर्म आकाश आदि तो अयुतसिद्ध (पृथक्सिद्ध) नही है क्योकि इनमे अप्राप्तिपूर्वक प्राप्तिका अभाव है अत. इनमे आधार-आधेय भाव नही है ? उत्तर—अयुतसिद्ध पदार्थो मे भो आधार-आधेय भाव देखा जाता है । जंसे युतसिद्ध के अभाव मे भी 'हाथ मे रेखा' यह आधार-आधेय भाव है । उसो प्रकार 'लोकाकाश मे धर्म और अधर्म द्रव्य है' इस प्रकार आधार-आधेय भाव को सिद्धि होती है ॥ ३ ॥

अथवा 'ईश्वर मे ऐश्वर्य' के समान अयुतसिद्ध मे आधार-आधेय भाव बनता है जैसे—'ईश्वर

अनेकान्ताच्च तत्सिद्धिः । ५ । नायमेकान्त·–अनादिसबन्धौ धर्माधर्मौ अयुतसिद्धौ चेति । कि तर्हि ? स्यादनादिसम्बन्धौ स्यान्नाऽनादिसम्बन्धौ, स्यादयुतसिद्धौ स्यान्नाऽयुतसिद्धावित्यादि । तद्यथा–पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् व्ययोदयाभावात् स्यादनादिसंबन्धौ अयुतसिद्धौ च । द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् पर्यायाणा व्ययोत्पादसद्भावात् स्यान्नाऽनादिसंबन्धौ नायुतसिद्धौ चेत्यादि योज्यम् । तत किम् ? कथञ्चित् अवगाह· आधाराधेयभावश्च सिद्धो भवति ।

जीवपुद्गलानां मुख्योऽवगाहः क्रियापरिणामात् । ६ । जीवाना पुद्गलाना च मुख्योऽवगाहो वेदितव्य । कुतः ? क्रियापरिणामात् । यथा हंसो जलमवगाहते इति मुख्यो व्यपदेशः तथा जीवपुद्गला आकाशमवगाहन्ते क्रियापरिणामात् इति मुख्यो व्यपदेशोऽवसेयः ।

आकाशस्यावकाशदानसामर्थ्यात् परस्परप्रतिघाताभाव इति चेत्; न; स्थूला-

---

मे ऐश्वर्य है' यहाँ अयुतसिद्ध मे भी आधार-आधेय भाव व्यवहार देखा जाता है, वैसे ही लोकाकाश मे धर्म-अधर्म द्रव्य है, यह व्यवहार होना उपयुक्त है ।। ४ ।।

अनेकान्त से इनके आधार-आधेय भाव की सिद्धि होती है । यह ऐकान्तिक नियम नही है कि अनादिसम्बन्ध वाले धर्म और अधर्म द्रव्य का आकाश के साथ सम्बन्ध अयुतसिद्ध है। **प्रश्न**—कैसा सम्बन्ध है इनका ? **उत्तर**—कथञ्चित् सादि और कथञ्चित् अनादि सम्बन्ध है। कथञ्चित् युतसिद्ध और कथञ्चित् अयुतसिद्ध सम्बन्ध है, इस प्रकार अनेकान्त है। जैसे—पर्यायार्थिक नय की गौणता और द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता होने पर व्यय और उत्पाद नही होता है अत. इनका स्यात् अयुतसिद्ध और अनादि सम्बन्ध है तथा पर्यायार्थिक नय की मुख्यता और द्रव्यार्थिक नय की गौणता करके वर्णन किया जाय तो धर्म और अधर्म द्रव्य मे भी उत्पाद और व्यय होता है अत धर्म और अधर्म का आकाश से सम्बन्ध अनादि और अयुतसिद्ध नही है, अर्थात् सादि और युतसिद्ध है। इसी प्रकार सर्व पदार्थों मे लगा लेना चाहिए। अत. कथञ्चित् अवगाह और आधार-आधेय भाव आकाश और अधर्म धर्मद्रव्य मे सिद्ध होता ही है ।। ५ ।।

क्रियापरिणाम होने से जीव और पुद्गलो के ही मुख्य अवगाह है। जैसे—हस जल का अवगाहन करता है, यद्यपि और भी जीव जल मे अवगाहन करते है, परन्तु हस जल मे अवगाहन करता है—यह मुख्य व्यपदेश है उसी प्रकार यद्यपि आकाश मे जीवादि छहो द्रव्य रहते है तथापि जीव और पुद्गल मुख्य रूप से आकाश मे अवगाहन करते हैं क्योकि ये दोनो द्रव्य क्रियाशील है (क्षेत्र मे क्षेत्रान्तर होते है) ।। ६ ।।

आकाश के अवकाशदान के सामर्थ्य से द्रव्यो के परस्पर प्रतिघात का अभाव होना चाहिये; ऐसी आशंका ठीक नही है—क्योकि स्थूल पदार्थो का परस्पर प्रतिघात होता है। **प्रश्न**—यदि

नामन्योन्यप्रतिघातात् ।७। स्यान्मतम्—यद्यवकाशदानसमर्थमाकाश तस्य च सर्वत्र सन्निधानात्, मूर्ताना परस्परप्रतिघातो न स्यात्। दृश्यते च वज्रादिभिर्लोष्टादीना भित्त्यादिभिश्च गवादीनाम्, ततोऽस्याऽवकाशदानसामर्थ्य हीयत इति; तन्न, कि कारणम् ? स्थूलानामन्योन्यप्रतिघातात्। स्थूला हि परस्परत प्रतिहन्यन्ते न सूक्ष्मास्तेषामन्योन्यप्रवेशशक्तियोगात्, न तस्य तावता अवकाशदानसामर्थ्य हीयते ।

असाधारणलक्षणत्वानुपपत्तेरिति चेत्; न; सर्वावगाहविशेषलक्षणोपपत्तेः ।८। स्यादेतत्—यदि सूक्ष्मभावात् इतरेऽपि पदार्था. अन्योन्यावकाशदान कुर्वन्ति नाकाशस्येदमसाधारणलक्षणम्। असाधारणेन हि लक्षणेन अस्तित्वमनुमीयते, अतस्तदभावादाकाशाभाव इति, तन्न, कि कारणम् ? [1]सर्वावगाहविशेपलक्षणोपपत्ते । यथा भूम्यादिषु अश्वादिगतिस्थित्युपग्रहदर्शनेऽपि सर्वद्रव्यगतिस्थित्युपग्रहरूपेणासाधारण-

---

आकाश द्रव्य मे जीवादि पदार्थो को अवकाश देने की शक्ति है तो आकाश का सर्वत्र सन्निधान होने से मूर्तिक पदार्थो का परस्पर प्रतिघात नही होना चाहिए, परन्तु वज्र आदि के द्वारा पत्थर आदि का, भीत्ति (दीवाल) आदि के द्वारा गाय, मनुष्य आदि का परस्पर प्रतिघात होता है, वे एक दूसरे से टकरा जाते है ऐसा देखा जाता है अत आकाश के अवकाशदान का सामर्थ्य हीन हो जाता है ? उत्तर—यद्यपि आकाश मे अवकाशदान की शक्ति होने पर भी स्थूल पदार्थ परस्पर टकरा जाते हैं, एक-दूसरे का प्रतिघात करते है तथापि वज्र, पत्थर, दीवाल आदि स्थूल पदार्थो मे प्रतिघात होने से आकाश के अवकाशदान मे कोई कमी नही आती है क्योकि स्थूल पदार्थ परस्पर प्रतिघात करते है, सूक्ष्म नही, परस्पर एक-दूसरे मे प्रवेश करने की शक्ति का योग होने से सूक्ष्म पदार्थो का प्रतिघात नही होता ॥ ७ ॥

अवकाश देना आकाश का असाधारण लक्षण नही है, ऐसी आशका ठीक नही है, क्योकि सर्व पदार्थो को अवगाह विशेष से आकाश के लक्षण की उत्पत्ति होती है। प्रश्न—यदि सूक्ष्म होने से आकाश के सिवाय अन्य पदार्थ भी परस्पर अवकाशदान करते है तो अवकाश देना आकाश का असाधारण लक्षण नही रहेगा और असाधारण लक्षण से पदार्थो के अस्तित्व का अनुमान लगाया जाता है, जाना जाता है, अत· अवकाश देना आकाश का असाधारण गुण न होने से आकाश का ही अभाव है ? उत्तर—सूक्ष्म पदार्थो के परस्पर अवकाश देने पर भी आकाश के अवगाहदान लक्षण मे कोई कमी नही आती, क्योकि सर्व-पदार्थो को अवगाह देना रूप विशेष लक्षण आकाश मे ही घटित होता है। जैसे भूमि आदि मे अश्व आदि की गति-स्थिति का उपकार दृष्टिगोचर होने पर भी सर्वजीव और पुद्गलो की गति-स्थिति रूप उपकार रूप असाधारण लक्षण से धर्म और अधर्म

---

१ विशेषोपपत्ते ब, द, मु ।

लक्षणेनानुमीयते (येते) धर्माधर्मौ, तथा सर्वद्रव्यावगाहनविशेषलक्षणोपपत्तेराकाशस्यास्तित्वमनुमीयते ।

अलोकाकाशे तदभावादभाव इति चेत्; न; स्वभावापरित्यागात् । ९ । स्यान्मतम्—यद्यवकाशदानलक्षणमाकाशम् अलोकाकाशेऽवगाहिनामभावात् तल्लक्षणाभावात् लक्ष्यानवधारणप्रसङ्ग इति, तन्न; कि कारणम् ? स्वभावापरित्यागात् । यथा हंसस्यावगाहकस्याभावेऽप्यवगाह्यत्वं जलस्य न हीयते, तथा अवगाहिन्नभावेऽपि नाऽलोकाकाशस्य अवकाशदानसामर्थ्यहानि ।

[१]**अजातत्वादभाव इति चेत्; न; असिद्धेः । १० ।** स्यादेतत्—नास्त्याकाशमजातत्वात् खरविषाणवत् इति, तन्न; कि कारणम् ? [२]असिद्धे । द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् स्वप्रत्ययाऽगुरुलघुगुणवृद्धिहानिविकल्पापेक्षया अवगाहकजीवपुद्गलपरप्रत्ययावगाहभेदविवक्षया च आकाशस्य जातत्वोपपत्ते हेतोरसिद्धि । अथवा,

---

द्रव्य का अनुमान लगाया जाता है अर्थात् धर्म-अधर्म द्रव्य जाने जाते है, वैसे ही सर्वद्रव्यो के अवगाहनदान रूप विशेष लक्षण से आकाश द्रव्य का अस्तित्व जाना जाता है ।। ८ ।।

अलोकाकाश मे अवगाहन न होने से आकाश का अभाव होगा, ऐसी आशका नही करनी चाहिए क्योकि स्वभाव का परित्याग नही होता । **प्रश्न**—यदि अवकाशदान देना आकाश का लक्षण है तो अलोकाकाश मे अवगाही पदार्थो का अभाव होने से आकाश लक्षण का अभाव है अतः लक्षण के अभाव मे लक्ष्य रूप आकाश के भी अभाव का प्रसग आयेगा । **उत्तर**—यद्यपि अलोकाकाश मे अवगाही पदार्थ नही हैं, तथापि आकाश के "अवगाहदान" स्वभाव का नाश नही होता, आकाश का स्वभाव अलोकाकाश मे मौजूद है । जैसे-जल मे अवगाहन करने वाले हस आदि के अभाव मे भी अवगाहदेने रूप जल का स्वभाव नष्ट नही होता, उसी प्रकार अवगाही पदार्थ के अभाव मे भी अलोकाकाशसामर्थ्य की हानि नही होती ।। ९ ।।

उत्पन्न नही होने से आकाश का अभाव है, ऐसा भी कथन करना असिद्ध है । **प्रश्न**—आकाश का खरविषाण के समान अभाव है, क्योकि यह उत्पन्न नही हुआ है, अजात है । **उत्तर**—आकाश को अनुत्पन्न कहना असिद्ध है, क्योकि द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की मुख्यता होने पर स्व-प्रत्यय अगुरुलघुगुणो की हानि-वृद्धि के निमित्त से आकाश मे प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय होता रहता है और अवगाहक जीव और पुद्गलो के परिणमन के अनुसार परप्रत्यय रूप उत्पाद और व्यय आकाश मे होते रहते है । अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आकाश मे उत्पाद व्यय देखा ही जाता है । जैसे—चरम समय (अन्तिम समय) मे असर्वज्ञता का विनाश होकर

---

१ अज्ञान-मु । आह बौद्ध.-जात वा आकाशमजात वा ? यद्यजात, तर्हि नास्तीति । २ असिद्धोऽय हेतु ।

व्युत्पादौ आकाशस्य दृश्येते। यथा चरमसमयस्याऽसर्वज्ञस्य सर्वज्ञत्वेनोत्पादस्तथोपलब्धे, असर्वज्ञत्वेन व्ययस्तथाऽनुपलब्धेः, एव चरमसमयस्याऽसर्वज्ञस्य साक्षादनुपलभ्यमाकाशं सर्वज्ञत्वोपपत्तौ उपलभ्यत इति उपलभ्यत्वेनोत्पन्नमनुपलभ्यत्वेन च विनष्टम्। यदि तेनाऽविनष्टमनुत्पन्न च स्यात्; सर्वज्ञत्वमेवास्य न स्यात्। अतो व्ययोत्पाददर्शनात् असिद्धो हेतु। बुद्धिशब्दलक्षणस्य खरविषाणस्य स्वकारणसन्निधाने सति जन्मवत्त्वात् अस्तित्वाच्च साध्यसाधनधर्मासिद्धता दृष्टान्तस्य–खरो मृत. गौर्जात स एव जीव इत्येकजीवविवक्षाया खरव्यपदेशभाजो जीवस्य गोजातिसक्रमे विपाणोपलब्धे, [1]अर्थखरविषाणस्यापि [2]जात्यस्तित्वसद्भावात् उभयधर्मासिद्धता। निरन्वयविनश्वरत्वे तु [3]स्मृत्यभावात् लोकसव्यवहारलोप· स्यात्।

[4]अनावृतिराकाशमिति चेत्; न; नामवत् तत्सिद्धेः। ११। स्यादेतत्[5]–नाकाश नाम किञ्चिद्वस्त्वस्ति, आवरणाभावमात्रं हि तदिति, तन्न, किं कारणम्?

सर्वज्ञता रूप से उत्पाद है तो जो आकाश पहले अनुपलम्य था वही सर्वज्ञ को पीछे उपलभ्य हो गया अत आकाश भी अनुपलभ्यत्व से विनष्ट होकर उपलभ्यत्व से उत्पन्न हुआ है, यदि आकाश असर्वज्ञत्व से विनष्ट और सर्वज्ञत्व से उत्पन्न नही होगा तो मनुष्य के सर्वज्ञत्व ही नही होगा। परप्रत्यय के कारण आकाश मे उत्पाद-व्यय होते ही रहते हैं अत आकाश के प्रति अनुत्पन्न हेतु असिद्ध है। अथवा, बुद्धिशब्दलक्षण खर (गधे के) विषाण को भी स्वकारण सन्निधान होने पर उत्पत्ति और अस्तित्व होने से दृष्टात के साध्य-साधन धर्म की असिद्धता है। अर्थात् खरविपाण भी ज्ञान और शब्द रूप से उत्पन्न होता है तथा उसका अस्तित्व भी है अत खरविपाण का दृष्टात साध्य-साधन उभय धर्म से शून्य है। अथवा किसी अपेक्षा गधे के भी सीग हैं। जैसे—कोई जीव पहले गधा था, मरकर गौ पर्याय मे उत्पन्न हुआ और उसके सीग निकल आए, जीव वही है अत. एक जीव की विवक्षा मे खर व्यपदेश भागी जीव के गौ जाति मे सक्रमण करने पर खरविपाण की उपलब्धि होती है, जाति के अस्तित्व का सद्भाव होने से अर्थ खरविपाण की उपलब्धि होती है अत दृष्टात मे उभय धर्म असिद्धता है। निरन्वय वस्तु का नाश मान लेने पर तो स्मृति का अभाव हो जाने से लेनदेन, लोक-सव्यवहार का भी लोप हो जायेगा। अत आकाश का अभाव नही किया जा सकता ॥ १० ॥

आकाश आवरण का अभाव मात्र है, ऐसा कहना उपयुक्त नही है क्योकि नाम के समान आकाश की सिद्धि है। प्रश्न—आकाश नाम की कोई वस्तु नही है, केवल आवरण का अभाव मात्र है? उत्तर—आकाश आवरण का अभाव मात्र नही है, अपितु वस्तुभूत है क्योकि नाम के समान

---

१ अथ खर-मु, द, ब, ता श्र। २ उत्पत्ति। ३ दत्तग्रहादि। ४ 'तत्राकाशमनावृति.'-अभिध १।५। ५. बौद्ध –स।

नामवत्तत्सिद्धे । यथा नामवेदनादि अमूर्तत्वात् अनावृत्यपि सदस्तीत्यभ्युपगम्यते, तथा आकाशमपि वस्तुभूतमित्यवसेयम् ।

[1]**शब्दलिङ्गत्वादिति चेत्; न; पौद्गलिकत्वात् ।१२।** स्यान्मतम्—नावगाहेन आकाशमनुमीयते । कुतस्तर्हि ? शब्दलिङ्गत्वात् । शब्दो ह्याकाशगुण वाताभिघात-बाह्यनिमित्तवशात् सर्वत्रोत्पद्यमान इन्द्रियप्रत्यक्ष· अन्यद्रव्यासभवी गुणिनमाकाशं सर्वगतं गमयति, गुणानामाधारपरतन्त्रत्वादिति· तन्न, कि कारणम् ? पौद्गलिकत्वात् । पुद्गलद्रव्यविकारो हि शब्द , नाकाशगुण· । तस्योपरिष्टात् युक्तिर्वक्ष्यते ।

प्रधानविकार आकाशमिति चेत्; न; तत्परिणामाभावात् आत्मवत् ।१३। स्यान्मतम्[2]—प्रधान नाम सत्त्वरजस्तमसा साम्यरूपमस्ति प्रसवस्वभावकम्, तद्विकारा महदादयस्तद्विकारविशेष· कश्चित् आकाशमिति; तन्न, कि कारणम् ? तत्परिणामा-भावात् आत्मवत् । यथा परमात्मना नित्यत्वात् निष्क्रियत्वात् अनन्तत्वाद्यविशेषात्

उसकी सिद्धि है, जैसे नाम और वेदना आदि अमूर्त्त होने से अनावरण रूप होकर भी 'सत्' है, ऐसा जाना जाता है, उसी प्रकार अमूर्त्त होने से अनावरण रूप होकर भी आकाश वस्तुभूत है, ऐसा जाना जाता है ।। ११ ।।

शब्द का लिग होने से आकाश जाना जाता है, यह बात नही है क्योकि शब्द तो पौद्गलिक है । शब्द पौद्गलिक है, आकाश का गुण नही है, अत शब्दगुण के द्वारा गुणीभूत आकाश का अनुमान करना उचित नही है किन्तु अवगाह के द्वारा ही आकाश अनुमित होता है । अत· "शब्द आकाश का गुण है, वह वायु के अभिघात आदि बाह्य कारणो से उत्पन्न होता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, गुण है, अन्य द्रव्यो मे नही पाया जाता, निराधार गुण नही रह सकते अत· शब्द अपने आधारभूत गुणी आकाश का अनुमान कराता है ।" ऐसा कहना भी युक्तिसगत नही है । क्योकि पौद्गलिक होने से पुद्गल का विकार ही शब्द है, आकाश का गुण नही है, इसकी सिद्धि के लिए युक्ति कहते है ।। १२ ।।

(साख्य का) आकाश को प्रधान का विकार मानना भी ठीक नही है क्योकि आत्मा की तरह प्रधान के भी विकार रूप परिणमन नही हो सकता । **प्रश्न**—'सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणो की साम्य' अवस्था ही प्रधान है, उस प्रधान मे उत्पादक स्वभावता है । उस प्रधान के विकार महान् अहकार आदि है तथा आकाश भी प्रधान का एक विकार है । **उत्तर**—यह कथन भी अयुक्त है, क्योकि प्रधान परमात्मा के समान नित्य, निष्क्रिय और अनन्त है । अत: उसमे परिणमन का अभाव है । जैसे—नित्य, निष्क्रिय, अनन्त आदि अविशेषपने से परमात्मा का आविर्भाव (उत्पत्ति)

---

१ आह नैयायिक शब्दलिगमाकाशमिति । २ साख्यस्य-स ।

आविर्भावतिरोभावाऽभावात् परिणामाभाव., तथा प्रधानस्यापि नित्यत्वनिष्क्रियत्वानन्तत्वाद्यविशेषान्न स्यात्परिणाम:, तदभावात् प्रधानविकाराकाशकल्पनाव्याघात । किञ्च, यथा घटस्य प्रधानविकार[1]स्याऽनित्यत्व मूर्तत्वमसर्वगतत्व च तथा आकाशस्यापि स्यात् विपर्ययो वा ।

उपकारप्रकरणाभिसबन्धेनेदमुच्यते–

शरीरवाङ्मन:प्राणापाना: पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

शरीरे सत्युत्तरेषां प्रवृत्तिदर्शनात् आदौ तद्वचनम् । १ । सति शरीरेऽधिष्ठानभूते उत्तरेषां वागादीनामाधेयाना प्रवृत्तिरिति कृत्वा शरीर प्रधानमतस्तस्यादौ ग्रहण क्रियते ।

तदनन्तरं वागुपादानं पुरुषहितावाप्तिमूलत्वात् । २ । तदनन्तर वागुपादान क्रियते । कुत· ? पुरुषहितावाप्तिमूलत्वात् । पुरुषस्य हि वाक् हिते प्रवर्तिका श्रोत्रेन्द्रियद्वारेण ।

और तिरोभाव (नाश) नही होने से उसमे परिणमन का (विकार का) अभाव है, उसी प्रकार आत्मा के समान अविशेष रूप से नित्य, निष्क्रिय और अनन्त होने से प्रधान के भी विकार का अभाव है और प्रधान के विकार का अभाव होने से 'प्रधान का विकार आकाश है' इस कल्पना का व्याघात होता है । अथवा, जैसे प्रधान के विकार घट के अनित्यत्व, मूर्त्तत्व और असर्वगतत्व है, उसी प्रधान का विकार होने से आकाश के भी अनित्यत्व, अमूर्त्तत्व और असर्वगतत्व होना चाहिए या फिर आकाश की तरह घट के भी नित्यत्व, अमूर्त्तत्व और सर्वगतत्व होना चाहिए, क्योकि एक कारण से दो परस्पर अत्यन्त विरोधी विकार नही हो सकते ।। १३ ।।

अब आचार्य उपकार के प्रकरण से अभिसम्बन्धित सूत्र कहते है—

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास पुद्गल के उपकार है ।। १९ ।।

शरीर के होने पर ही वचन आदि की प्रवृत्ति देखी जाती है अत सर्वप्रथम शरीर को ग्रहण किया है । शरीर ही वचन आदि का अधिष्ठानभूत है, अत. शरीर के होने पर ही आधेयभूत वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि की प्रवृत्ति होती है, अत· शरीर सब में प्रधान है, ऐसा मानकर सर्वप्रथम शरीर को ग्रहण किया है ।। १ ।।

पुरुष (आत्मा) के हित की प्राप्ति का मूल कारण होने से शरीर के वाद वचन शव्द का

---

१ अथ आकाशस्य प्रधानविकारस्य नित्यत्वममूर्त्तत्व सर्वगतत्व च तथा घटस्यापि स्यात् कारणसमानत्वात् ।

अन्येन्द्रियोपसंख्यानमिति चेत्; न; चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् ।३। स्यान्मतम्–चक्षुरादीन्यपीन्द्रियाणि पुरुषस्योपकारकाणि सन्ति, तेषामुपसख्यान कर्तव्यमिति, तन्न, किं कारणम् ? चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् । उत्तरसूत्रे वक्ष्यते चशब्दः, स इष्ट-समुच्चयार्थो भवति ।

[१]**आत्मप्रदेशाच्चक्षुराद्यग्रहणमिति चेत्; न; द्रव्येन्द्रियस्य पौद्गलिकत्वात् । ४ ।** स्यादेतत्–उत्सेधाङ्गुलासख्येयभागप्रमिता आत्मप्रदेशा ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमनिमित्ताश्चक्षुरादिव्यपदेशभाजो न पौद्गलिका इत्यनुपसंख्यानमिति; तन्न, किं कारणम् ? द्रव्येन्द्रियस्य पौद्गलिकत्वात् । अङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्ता हि द्रव्येन्द्रिय-परिणामा पौद्गलिका. आत्मनामुपकारे वर्तन्ते ।

मनोऽग्रहणप्रसङ्गाच्च । ५ । यदि ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमनिमित्तत्वाच्-चक्षुराद्यग्रहण न्याय्यं मन्यते मनसोऽप्यग्रहणं प्राप्नोति । मनोऽपि हि नोइन्द्रियावरण-क्षयोपशमापेक्षम् ।

प्रयोग किया है । शरीर के बाद वचन का ग्रहण किया है क्योकि वचन ही पुरुष को हित मे प्रवृत्ति कराते है । श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा वचन पुरुष को हित मे प्रवृत्ति कराते है ।। २ ।।

प्रश्न—चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी आत्मा की उपकारक है अत· उन इन्द्रियों का भी इस सूत्र मे ग्रहण करना चाहिए था । उत्तर—ऐसा नही कहना क्योकि आगे के सूत्र मे दिए गए 'च' शब्द से सभी इष्ट का समुच्चय हो जाएगा । वह 'च' शब्द इष्ट समुच्चय के लिए है ।। ३ ।।

आत्मप्रदेश रूप होने से चक्षु आदि का ग्रहण नही है, ऐसा भी नही है क्योकि द्रव्येन्द्रिय के ही पुद्गलपना है । प्रश्न—उत्सेधाङ्गुल के असख्यातवे भागप्रमाण आत्मप्रदेश ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से चक्षु इन्द्रिय आदि नाम वाले होते है, उन्ही भावेन्द्रियो का यहाँ ग्रहण है पौद्गलिक इन्द्रियो का यहाँ ग्रहण नही किया गया है । उत्तर—चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मप्रदेश रूप है अत· उनका यहाँ ग्रहण नही किया है; यह बात नही है क्योकि अगोपाङ्ग नामकर्म के उदय से रची गई द्रव्येन्द्रियाँ पौद्गलिक है, वे आत्मा का उपकार करती है, इसलिये 'च' शब्द से उनका ग्रहण किया गया है ।। ४ ।।

मन के भी अग्रहण का प्रसग आता है । यदि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के कारण चेतनात्मक होने से चक्षु आदि इन्द्रियो का यहाँ ग्रहण नही किया होता तो मन भी चेतन है, अतः उसका ग्रहण नही होना चाहिए था, क्योकि मन भी नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा मे होता है ।। ५ ।।

---

१ आत्मप्रदेशत्वाच्चक्षुरादिभावेन्द्रियाणां पुद्गलप्रकरणे तदग्रहणं युक्तं सूत्रकारस्येति चोदकमाह ।

अनवस्थितत्वात् मनोग्रहणमिति चेत्; न; अनवस्थानेऽपि तन्निमित्तत्वात् । ६ । स्यान्मतम्—यथा चक्षुरादिव्यपदेशभाज, आत्मप्रदेशा अवस्थिता नियतदेशत्वात्[१] न तथा मनोऽवस्थितमस्ति, अत एव तदनिन्द्रियमित्युच्यते, ततोऽस्य न पृथग्ग्रहणमिति, तन्न; किं कारणम् अनवस्थानेऽपि तन्निमित्तत्वात् । यत्र[२] यत्र प्रणिधानं तत्र तत्र आत्मप्रदेशा अङ्गुलासख्येयभागप्रमिता मनोव्यपदेशभाज ।

वागग्रहणप्रसङ्गाच्च । ७ । यदि आत्मपरिणामाच्चक्षुराद्यग्रहण कल्प्यते वाचोऽप्यग्रहणम्, [३]वागपि ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमोपष्टम्भजनितवृत्ति ।

बहिर्विनिःसृतानामात्मपरिणामाभावात्तद्ग्रहणमिति चेत्; न; उक्तत्वात् । ८ । स्यादेतत् —बहिर्विनि सृता वाक्पुद्गला आत्मपरिणामा न भवन्ति, तदर्थ प्रथग्ग्रहण-

---

'अनवस्थित होने से मन को ग्रहण नही किया है', यह तर्क भी उचित नही है, क्योकि अनवस्थित होने पर भी वह क्षयोपशम निमित्तक तो है ही । प्रश्न—जैसे चक्षु आदि इन्द्रियो के आत्मप्रदेश नियत देश मे होने से अपने नियत प्रदेशो मे अवस्थित है, उस प्रकार मन के आत्मप्रदेश नियत देश मे अवस्थित नही है, अत मन को अनिन्द्रिय कहते है और इसलिये उस मन को पृथक् रूप से ग्रहण करना ठीक नही है ? अर्थात् जैसे ज्ञानावरण एव वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न इन्द्रियाँ उन आत्मप्रदेशो मे अवस्थित और नियत है, उसी प्रकार मन अवस्थित और नियत नही है, अत. मन अनिन्द्रिय है, उसको पुद्गलकृत उपकार मानना ठीक नही है तथा उस मन को पृथक् ग्रहण करना भी उपयुक्त नही है ? उत्तर—अनवस्थित होने से मन को पृथक् ग्रहण करना उपयुक्त नही है । यह तर्क भी उचित नही है, क्योकि अनवस्थित होने पर भी मन क्षायोपशमिक निमित्तक तो है ही अर्थात् नेत्रादि के समान निश्चल नही होने पर भी पुद्गलद्रव्यकृत होने से उसका उपकार मानना उचित ही है तथा यह नियम है कि जहाँ-जहाँ उपयोग होता है वहाँ-वहाँ के अङ्गुल के असख्यातवे भाग प्रमाण आत्मप्रदेश मन के रूप से परिणत हो जाते है ।। ६ ।।

इसी प्रकार यदि आत्मपरिणाम होने से चक्षु आदि इन्द्रियो को यहाँ ग्रहण नही किया है तो वचन को भी ग्रहण नही करना चाहिए, क्योकि वचन भी ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं ।। ७ ।।

"आत्मपरिणामो का अभाव होने से बाहर निकले हुए द्रव्य वचनो का ग्रहण है", ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि इनका वर्णन पूर्व मे किया है । यदि कहो कि बाहर निकले हुए द्रव्यवचन पौद्गलिक है, वे आत्मपरिणाम (चेतन) नही होते है अतः उन द्रव्य वचनो का प्रतिपादन करने के लिए वचन का पृथक् ग्रहण किया गया है, तो हम ऐसा भी कह सकते है कि चक्षु आदि द्रव्येन्द्रियाँ

---

१ नियतोद्देश-मु, मू ता, द, ब । २ हस्तपादादिप्रदेशे परिणाम । ३ अन्तर्जल्परूपा ।

मिति; तन्न, किं कारणम् ? उक्तत्वात्[1]। उक्तमेतत् तदुत्पत्तद्भि (तदुत्तरद्भि) रेवाऽस्माभि –चक्षुरादीनि द्रव्येन्द्रियाणि पौद्गलिकानीति। तस्मात् सूक्तं चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वादिति।

ततो मनोग्रहणं तद्वतस्तत्सिद्धेः। ९। तत. पश्चात् मनोग्रहणं क्रियते। कुत ? तद्वतस्तत्सिद्धे। यस्यात्मन शरीरमस्ति वाङ्निर्वर्तनसामर्थ्य च, तस्य हि तद्भवतीति।

अन्ते प्राणापानोपादानं सर्वसंसारिकार्यत्वात्। १०। [2]अन्ते प्राणापानोपादान क्रियते। कुतः ? सर्वससारिकार्यत्वात्। सर्वेषा हि ससारिणा जीवाना प्राणापानलक्षण कार्यमस्ति।

पुद्गलद्रव्यलक्षणार्थमिति चेत्; न; वक्ष्यमाणत्वात्। ११। स्यान्मतम्–शरीरवाङ्मन प्राणापानग्रहणमिद पुद्गलद्रव्यस्य लक्षणार्थ नोपकारप्रतिपादनार्थमिति, तन्न, कि कारणम् ? वक्ष्यमाणत्वात्। वक्ष्यते हि उत्तरत्र पुद्गललक्षणं व्यापि, इद तु आत्मोपकारकत्वादुपग्रहप्रकरणे उच्यते।

पौद्गलिक है, वे चेतन के परिणाम (पर्याय) नही है, उनका सग्रह 'च' शब्द से करना चाहिए। इसलिये 'च' शब्द इष्ट समुच्चय अर्थ के लिए है, ऐसा कहना ठीक ही है ॥ ८ ॥

वचन वाले के ही मन होता है, अतः वचन के पश्चात् मन को ग्रहण किया है। जिस आत्मा के शरीर और वचन होता है, उसी के मन हो सकता है, जिसके शरीर नही है और वचन वर्गणाओ को वचन रूप परिणमन कराने का सामर्थ्य नही है, उसके मन नही हो सकता अतः शरीर और वचन के बाद मन को स्थान दिया है, या मन शब्द का प्रयोग किया है ॥ ९ ॥

सर्व ससारो जीवो का कार्य होने से अन्त मे श्वासोच्छ्वास को ग्रहण किया है, क्योकि सभी ससारी जीवों का श्वासोच्छ्वास लक्षण कार्य है ॥ १० ॥

पुद्गल के लक्षण के लिए शरीर आदि का ग्रहण नही है—क्योकि पुद्गल का लक्षण आगे कहेगे। **प्रश्न**—शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास का ग्रहण पुद्गल का लक्षण बताने के लिए है, जोव के उपकार का प्रतिपादन करने के लिए नही है। **उत्तर**—यहाँ पर सूत्र मे शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास का ग्रहण पुद्गल के लक्षण का प्रतिपादन करने के लिए नही है। आत्मा के उपकारक होने से उसके उपकार-प्रतिपादन के लिए है—क्योकि पुद्गल का लक्षण तो आगे के सूत्र मे कहेगे। "पुद्गल का लक्षण तो व्यापी है, सारे पुद्गलो मे पाया जायेगा परन्तु शरीर, वचन, मन

---

१. वादस्याभिमुखं सद्भिरेव। २ अन्ते तु प्रा –मु, द., व।

प्रत्यक्षत्वादनुपदेशः इति चेत्; न; केषाञ्चिदप्रत्यक्षत्वात् । १२ । स्यादेतत्–धर्मादीना गत्युपग्रहादिप्रयोजनमुक्त युक्त तेषामप्रत्यक्षाणामधिगमहेतुत्वात् । शरीराद्युपग्रहाभिधान तु पुद्गलानामयुक्त प्रत्यक्षत्वात् । यो हि ब्रूयात्[१]–पुरस्तात् आदित्य उदेति पश्चादस्त गच्छति, मधुरो गुड , कटुक शृङ्गिवेरमिति, कि तेन कृत स्यादिति ? तन्न; किं कारणम् ? केषाञ्चित् अप्रत्यक्षत्वात्, औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीराणि[२] सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षाणि, तदुदयापादितवृत्तीन्युपचयशरीराणि कानिचित्[३] प्रत्यक्षाणि कानिचिदप्रत्यक्षाणि[४] । मनोऽप्रत्यक्षमेव । वाक्प्राणापाना [५]केचित् प्रत्यक्षा , [६]केचिदप्रत्यक्षा इन्द्रियगोचरातीतत्वात् । अत· पुद्गलोपकारस्फुटीकरणार्थं. शरीराद्युपदेश. क्रियते ।

शरीराण्युक्तानि । १३ । शरीराण्यौदारिकादीनि व्याख्यातानि पौद्गलिकानि ।

आदि सर्व पुद्गलो से निर्मित नही है, मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और आहार वर्गणाओ से निर्मित है—इसलिये ये पुद्गल का लक्षण नही बन सकते ।। ११ ।।

किसी-(सर्वज्ञादि) के प्रत्यक्ष होने से इनका ग्रहण किया गया है, इनका उपदेश दिया गया है। **प्रश्न**—धर्मादि के गमन निमित्त उपग्रहादि प्रयोजन का कथन करना तो उचित है क्योकि अप्रत्यक्ष धर्मादिके अधिगम मे गति आदि हेतु है, परन्तु पुद्गल तो प्रत्यक्ष है, उसके उपकार का वर्णन करना अयुक्त है अर्थात् उसके उपकार के वर्णन से क्या लाभ है ? क्योकि जैसे कोई कहे कि सूर्य पूर्व मे उदित होता है, पश्चिम मे डूबता है, गुड मधुर है—शृ गवेर (सू ठ) कटु है इत्यादि के वर्णन से क्या लाभ है ? उनका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, उसी प्रकार पुद्गल का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है—उसके उपकार का वर्णन करने से कोई प्रयोजन नही है । **उत्तर**—यह तर्क उचित नही है कि प्रत्यक्ष होने से पुद्गल के उपकार का वर्णन नही करना चाहिए—क्योकि किन्ही के पुद्गल अप्रत्यक्ष भी है । जैसे—औदारिक वैक्रियिक आहारक, तैजस और कार्माण । ये शरीरकर्म मूलत. सूक्ष्म होने से अप्रत्यक्ष है, उनके उदय से निर्मित औदारिक आदि कुछ स्थूल शरीर प्रत्यक्ष है और कुछ अप्रत्यक्ष हैं, मन अप्रत्यक्ष ही है । वचन और श्वासोच्छ्वास कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष है—क्योकि ये इन्द्रियो के विषय नही है अतः इन्द्रियो से अतीत हैं । इसलिए पुद्गल के उपकार को स्पष्ट करने के लिए शरीरादि का उपदेश किया गया है ।। १२ ।।

औदारिक आदि शरीर पौद्गलिक है, उन शरीरो का वर्णन पूर्व मे किया जा चुका है ।। १३ ।।

---

१. किमिति । २ शरीरनामकर्माणि इत्यर्थ । ३ कानिचित् प्रत्यक्षाणि च मु द व. । ४ तैजसादीनि । ५. मनुष्याणाम् । ६. सूक्ष्मजीवानाम् ।

कार्मणमपौद्गलिकमिति चेत्; न; तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात् । १४ । स्यादेतत्–कार्मणं पौद्गलिकं न भवति । कुतः [१]अनाकारत्वात् । आकारवता हि औदारिकादीनां पौद्गलिकत्वं युक्त कार्मणं तु अनाकारमिति; तन्न; किं कारणम् ? तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात् । यथा व्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसंबन्धप्रापित-पाकानां पौद्गलिकत्व दृष्ट तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात् पौद्गलिकमित्यवसेयम् । न हि अमूर्त किञ्चिन्मूर्तिमत्संबन्धे सति विपच्यमानं दृष्टमिति ।

वाग् द्विधा अपि पौद्गलिकी तन्निमित्तत्वात् । १५ । द्विधा वाक्–भाववाक् द्रव्यवागिति । सोभयी पौद्गलिकी । कुत ? तन्निमित्तत्वात् पुद्गलकार्यत्वादित्यर्थ । भाववाक् तावद्वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी, तदभावे तद्वृत्त्यभावात् । तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणा पुद्गला

कार्मण शरीर पौद्गलिक नही है, ऐसा नही है, क्योकि उसका विपाक मूर्तिमान् (पुद्गल) के सम्बन्ध के निमित्त से ही होता है । **शका**—अनाकार (आकार रहित) होने से कार्माण शरीर पौद्गलिक नही है क्योकि आकार वाले औदारिक आदि शरीर ही पौद्गलिक है, परन्तु कार्माण शरीर आकार रहित है अतः इसे पौद्गलिक कहना उचित नही है ? **उत्तर**—यद्यपि कार्माण शरीर आकार रहित है तथापि मूर्त्तिमान् पुद्गलो के सम्बन्ध से अपना फल देता है, जैसे व्रीहि (चावल) आदि धान्य, पानी, धूप आदि मूर्त्तिमान् पुद्गलो के सम्वन्ध से पकता है इसलिये पौद्गलिक है, उसी प्रकार कार्माण शरीर भी गुड, कण्टक आदि मूर्त्तिमान् पुद्गल द्रव्यो के सम्वन्ध से पकता है, अर्थात् इष्टानिष्ट वाह्य सामग्री के निमित्त से कार्माण शरीर अपना फल देता है, अत कार्माण शरीर पौद्गलिक है, क्योकि कोई भी अमूर्त्त पदार्थ मूर्त्तिमान् पदार्थ के सम्वन्ध से नही पकता तथा अमूर्त्त पदार्थ मूर्त्तिमान् पदार्थ मे विपच्यमान दृष्टिगोचर नही होता ।। १४ ।।

पुद्गल के निमित्त मे होने से दोनो प्रकार के वचन पौद्गलिक है । वचन दो प्रकार के है—द्रव्यवचन और भाव वचन । दोनो ही पौद्गलिक है क्योकि दोनो ही पुद्गल के कार्य है अर्थात् पुद्गल के निमित्त मे ही होते है । भाववचन, वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय के निमित्त से होते है, अतः भावमन पुद्गल का कार्य होने से पौद्गलिक है, यदि वीर्यान्तराय और मति-श्रुत-ज्ञानावरण रूप पौद्गलिक कर्मो का क्षयोपशम नहीं हो तो भाववचन हो ही नही सकता । भाववचन के सामर्थ्य वाले आत्मा के द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल वचनरूप मे परिणत होते हैं अर्थात् आत्मा के द्वारा तालु आदि क्रिया मे जो पुद्गल वर्गणाएँ वचनरूप परिणत होती है, उन्हे द्रव्यवचन कहते हैं । श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने से द्रव्यवचन भी

---

१ अङ्गोपाङ्गनिमित्तादित्यर्थः ।

वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी श्रोत्रेन्द्रियविषयत्वात् । [1]पुन कुतो न गृह्यते इति चेत् ? उच्यते–

पुनरग्रहणं तडिद्द्रव्यवदसंहतत्वात् ।१६। यथा तडिद्द्रव्य चक्षुपोपलब्धं विष्वग्विशीर्णत्वात् पुनर्न दृश्यते तथा श्रोत्रेण उपलब्धा वाक् विष्वग्विशीर्णा पुनर्न श्रूयते । अथ कथ चक्षुरादिभिरसौ न गृह्यते ?

चक्षुरादिग्रहणाभावो घ्राणग्राह्ये रसाद्यनुपलब्धिवत् ।१७। यथा घ्राणग्राह्ये गन्धद्रव्ये तदविनाभाविन सन्तोऽपि रसादयो नोपलभ्यन्ते, तथा श्रोत्रेन्द्रियविषयोऽपि[2] शेषेन्द्रियैर्न गृह्यते सूक्ष्मत्वात् ।

अमूर्तिरिति चेत्; न; मूर्तिमद्ग्रहणप्रेरणावरोधदर्शनात् ।१८। स्यादेतत्–अमूर्त शब्दः अमूर्तगुणत्वादिति, तन्न, कि कारणम् ? मूर्तिमद्ग्रहणप्रेरणावरोध-

---

पौद्गलिक हैं । प्रश्न—यदि शब्द पौद्गलिक है तो एक वार ग्रहण होने के बाद उनका पुन ग्रहण क्यो नही होता ? अर्थात् एक वार उच्चारण करने के बाद वही शब्द पुन सुनाई क्यो नही देता ? ॥ १५ ॥

उत्तर—विजली के समान असहतत्व होने से पुनः गृहीत नही होते है । जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध विजली द्रव्य एक वार चमक कर फिर शीघ्र ही विशीर्ण (नष्ट) हो जाता है अत. पुन. आँखो से दिखाई नही देता है, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा एक वार उपलब्ध (सुने गये) वचन सम्पूर्ण से शीघ्र ही विशीर्ण हो जाने से पुन. दुवारा नही सुनाई देते । प्रश्न—यदि शब्द पौद्गलिक है तो चक्षु आदि के द्वारा शब्दो का ग्रहण क्यो नही होता ? ॥ १६ ॥

उत्तर—घ्राण के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने पर गन्धद्रव्य रसादि को अनुपलब्धि के समान चक्षु आदि के द्वारा गृहीत नही होते है । जैसे घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गन्धद्रव्य के साथ अविनाभावी रूप, रस, स्पर्श आदि विद्यमान रहकर के भी सूक्ष्म होने से घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध नही होते अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नही होते है, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत शब्द सूक्ष्म होने से चक्षु आदि शेष इन्द्रियो के द्वारा गृहीत नही होते ॥ १७ ॥

शब्द को अमूर्त्तिक कहना उचित नही है क्योकि शब्द का मूर्त्तिमान् पदार्थ के द्वारा ग्रहण, प्रेरणा और अवरोध देखा जाता है । शब्द अमूर्त्तिक है 'अमूर्त आकाश का गुण होने से' यह कथन भी ठीक नही है क्योंकि मूर्त्तिमान्, पौद्गलिक पदार्थो के द्वारा ग्रहण होता है । कर्णेन्द्रिय का विषय होने से मूर्त्तिमान् श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण होता है । जो अमूर्त होता है वह किसी मूर्त्तिमान् इन्द्रिय

---

१ एकवारमुच्चरित· शब्द स एव । २ शब्द ।

दर्शनात् । मूर्तिमता इन्द्रियेण शब्दो गृह्यते । न चामूर्त. कश्चिदिन्द्रियग्राह्योऽस्ति । प्रेर्यते च मूर्तिमता पवनेन अर्कतूलराशिवत्[1] दिगन्तरस्थेन ग्राह्यत्वात् । न चाऽमूर्तस्य मूर्तिमता प्रेरण प्रयुज्यते । अवरुध्यते च शब्द नलविलादिभि· [2]कुल्याजलवत् । नचाऽमूर्त किञ्चिन्मूर्तिमता अवरुध्यमान दृष्टमिति ।

[3]अत्राह–नैते हेतव । यस्तावदुच्यते–इन्द्रियग्राह्यत्वादिति, श्रोत्रमाकाशमयममूर्त्तममूर्त्तस्य ग्राहकमिति को विरोध· ? यश्चोच्यते–प्रेरणादिति; नासौ प्रेर्यते गुणस्य गमनाभावात् । देशान्तरस्थेन कथ गृह्यते इति चेत् ? [4]**"संयोगाद्विभागात्[5] शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः"**[6] इति शब्दान्तरारम्भाद् ग्रहणम् । [7]वेगवद्द्रव्याभिघातात् तदनारम्भेऽग्रहण न प्रेरणमिति । योऽप्युच्यते–अवरोधादिति, स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव दिगन्तरे शब्दान्तरानारम्भात्, [8]एकदिक्कारम्भे सति अवरोध इव लक्ष्यते न तु मुख्योऽस्तीति ।

के द्वारा ग्राह्य नही होता । वायु के द्वारा प्रेरित रुई की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेरित किया जाता है क्योकि विरुद्ध दिशा मे स्थित व्यक्ति को वह शब्द सुनाई देता है, अर्थात् जिस तरफ की वायु होती है उधर ही सुनाई देता है, वायु के प्रतिकूल होने से समीपस्थ को भी सुनाई नही देता । इससे अनुमान होता है कि शब्द प्रेरित है और यत्र के द्वारा प्रेरित कर दूसरे देशों मे भिजवाया भी जाता है। अमूर्त्त पदार्थ मूर्त्तिमान् पदार्थो के द्वारा प्रेरित नही होता । नल, बिल, रिकार्ड आदि मे नदी के जल की तरह शब्द रोका भी जाता है, परन्तु अमूर्त्तिक पदार्थ मूर्त्तिमान् किसी पदार्थ के द्वारा अवरुद्ध हुआ नही देखा जाता है । यहाँ कोई (वैशेषिक) कहता है कि ग्रहण, प्रेरणा और अवरोध इन हेतुओ से शब्द मूर्त्तिक नही हो सकता । श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य जो हेतु दिया है शब्द को मूर्त्तिक सिद्ध करने के लिये, वह उपयुक्त नही है क्योकि श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) आकाश रूप है, अत: अमूर्त्त आकाश रूप श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा अमूर्त्त आकाश के गुणरूप शब्द को ग्रहण करने मे क्या विरोध है ? अमूर्त्त श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण हो जाता है । 'वायु के द्वारा शब्द प्रेरित होता है' ऐसा जो कहा है वह भी ठीक नही है, क्योकि वायु के द्वारा शब्द प्रेरित नही होता क्योकि शब्द गुण है और गुण मे क्रिया नही होती । यदि कहो कि **प्रश्न**--शब्द मे देशान्तर मे जाने रूप क्रिया नही होती है तो देशान्तरस्थ पुरुष के द्वारा कैसे ग्राह्य होता है ? **उत्तर**—'सयोग, विभाग और शब्द से शब्द की निष्पत्ति होती है' ऐसा कथन है, अत· नये-नये शब्द उत्पन्न होते है और उनका देशान्तरस्थ पुरुष के द्वारा ग्रहण होता है । जैसे—दण्ड और भेरी के सयोग से उत्पन्न हुआ शब्द देशान्तर मे सुनाई देता है । वेगवद् (वायु) द्रव्य के अभिघात से नए शब्द की उत्पत्ति नही होने पर शब्दो का ग्रहण नही होता अत वायु शब्द को प्रेरक नही है अर्थात् शब्द मूर्तिमान् पदार्थो के द्वारा प्रेरित नही है। शब्द का अवरोध भी नही है क्योकि जो शब्द का अवरोध जैसा प्रतीत होता है, वस्तुत· वह अवरोध नही है

---

१. अभिमुखीभूत देवदत्त प्रति प्रेर्यमाण शब्द अन्यदिक्स्थितेन पुरुषेण । २ कृत्रिमसरित् । ३ वैशेषिक -स । ४ भेरीदण्डयो । ५ वशस्य । ६ वैशे. २।२।३१ । ७ वायु । ८ शब्दाच्च शब्दनिष्पक्षे ।

अत्रोच्यते–नैते दोषाः। श्रोत्र 'तावदाकाशमयम्' इति नोपपद्यते, आकाशस्यामूर्तस्य कार्यान्तरारम्भशक्तिविरहात्। अदृष्टवशादिति चेत्, [1]चिन्त्यमेतत्–किमसावदृष्ट आकाश सस्करोति, उतात्मानम्, आहोस्वित् शरीरैकदेशमिति ? न तावदाकाशे सस्कारो युज्यते, अमूर्तित्वात् अन्यगुणत्वादसवन्धाच्च। आत्मन्यपि शरीरादत्यन्तमन्यत्वेन कल्पिते नित्ये निरवयवे सस्काराधान न युज्यते, तदुपार्जनफलादानाऽसभवात्। नापि शरीरैकदेशे युज्यते, अन्यगुणत्वात् अनभिसवन्धाच्च। किञ्च, मूर्तिमत्सबन्धजनितवि[2]पत्सपत्तिदर्शनात् श्रोत्र मूर्त्तमेवेत्यवसेयम्। यदप्युच्यते–स्पर्शवद्द्रव्याभिघातात् शब्दान्तरानारम्भ इति, खात्पतिता नो रत्नवृष्टि, स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव मूर्त्तत्वमस्य सिद्धम्। न हि अमूर्त कश्चित् मूर्तिमता विहन्यते। तत एव च मुख्यावरोधसिद्धि· स्पर्शवदभिघाताभ्युपगमात्।

अभिभवादिदर्शनाच्च मूर्तः शब्दः इत्यवगन्तव्यम्। १९। यथा तारकादयो

अपितु स्पर्शवान् द्रव्य के अभिघात से दिशान्तर मे शब्दान्तर का अनारभ होने से और एक दिशा मे ही शब्द के उत्पन्न होने मे अवरोध जैसा प्रतीत होता है, परन्तु मुख्य अवरोध नही है इसलिये शब्द अमूर्त्त है। इस प्रकार शब्द को अमूर्त्तिक सिद्ध करने वाले का आचार्य खण्डन करते है, क्योकि श्रोत्र आकाशरूप नही है क्योकि अमूर्त्त आकाश कार्यान्तिर को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित है। 'अदृष्ट के कारण (सहायता) से कार्य करता है' अमूर्त्त आकाश, यह विचारणीय विषय है कि यह अदृष्ट, आकाश को सस्कारित करता है कि आत्मा को ? अथवा शरीर के एकदेश को ? वह अदृष्ट आकाश मे तो सस्कार कर नही सकता क्योकि वह अमूर्त्त है, अन्य द्रव्य का गुण है और आकाश से उसका कोई सम्बन्ध नही है, शरीर मे अत्यन्त भिन्न रूप से कल्पित, नित्य और निरश आत्मा मे सस्कार उत्पन्न नही किया जा सकता क्योकि आत्मा मे सस्कार से उत्पन्न फलदान की असभवता है और शरीर के एकदेश मे भी अदृष्ट से सस्कार नही आ सकते, क्योकि अदृष्ट अन्य द्रव्य का गुण हैं और शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नही है। अथवा, मूर्त्तिमान् तैल आदि से श्रोत्र मे अतिशय देखा जाता है तथा मूर्त्तिमान् कील आदि से उसका विनाश देखा जाता है अत मूर्त्तिमान् पदार्थो के सम्बन्ध मे जनित सम्पत्ति और विपत्ति के दर्शन से श्रोत्रेन्द्रिय को मूर्त्तिमान् ही समझना चाहिए। स्पर्शवान् द्रव्य के अभिघात से शब्दान्तर का उत्पन्न न होना ही हमारे लिए आकाश से रत्नो की वृष्टि होना है, क्योकि इससे सिद्ध होता है कि शब्द मूर्तिमान् है, स्पर्शवान् द्रव्य के अभिघात से शब्द के मूर्तिपना आ जाता है क्योकि किसी भी अमूर्त्त पदार्थ का मूर्त्तिमान् पदार्थो के द्वारा अभिघात नही हो सकता। अत मुख्य रूप से शब्द का अवरोध बन जाता है।। १८ ।।

मूर्त्तिमान् पदार्थो के द्वारा अभिभूत—तिरस्कृत होने से भी शब्द को मूर्त्तिमान् जानना

---

१ विचार्यम्। २ तृणादि, तत्प्रतिकारतैलादि।

भास्करप्रभाभिवान्मूर्तिमन्तः, तथा सिंहगजभेर्यादिशब्दैर्बृहद्भिः [1]शकुनिरुतादयोऽभिभूयन्ते । तथा कंसादिषु पतिता ध्वन्यन्तरारम्भे हेतवो भवन्ति । गिरिगह्वरादिषु च प्रतिहताः [2]प्रतिश्रुद्भावमास्कन्दन्ति । अत्राह–अमूर्तेरप्यभिभवा दृश्यन्ते–यथा विज्ञानस्य सुरादिभिः मूर्तिमद्भिस्ततो नायं निश्चयहेतुरिति; उच्यते–नायं व्यभिचारः, विज्ञानस्य क्षायोपशमिकस्य पौद्गलिकत्वाभ्युपगमात् । इतरथा हि आकाशवन्नाभिभूयते (भूयेत) ।

मनश्च द्वितयं पौद्गलिकं तन्मयत्वात् । २० । द्विप्रकारं मनो भावमनो द्रव्यमनश्चेति । तदुभयमपि पौद्गलिकम् । कुतः ? तन्मयत्वात् । भावमनस्तावत् लब्ध्युपयोगलक्षणं पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गलिकम् । द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्ययाः गुणदोषविचारस्मरणादि–प्रणिधानाभिमुख[3]स्याऽऽत्मनोऽ-

---

चाहिये । जैसे सूर्य के प्रकाश से अभिभूत (तिरोभूत) होने वाले होने से तारा आदि मूर्तिक है, उसी प्रकार सिंह की दहाड, हाथी की चिघाड और भेरी का घोष आदि महान् शब्द के द्वारा शकुनि (पक्षियो) के मन्द शब्द तिरोभूत होते है तथा कासी आदि के वर्तन गिरने पर उत्पन्न ध्वनि, ध्वनि-अन्तर के आरभ मे हेतु होती है । अथवा गिरि-गह्वर-कूप आदि मे शब्द करने पर प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है । पर्वत की गुफाओ आदि मे टकराकर प्रतिध्वनि होती है । अत. शब्द मूर्तिक है । **प्रश्न**—अमूर्तिक पदार्थों का भी मूर्तिमान् पदार्थो के द्वारा तिरोभाव देखा जाता है, जैसे मूर्तिमान् मदिरा के द्वारा अमूर्तिक विज्ञान (इन्द्रियज्ञान) का तिरोभाव देखा जाता है इसलिये मूर्तिमान् पदार्थो मे मूर्तिमान् पदार्थो का ही अभिभव होता है, यह निश्चय हेतु नही है । **उत्तर**—मूर्तिक मदिरा के द्वारा इन्द्रियज्ञान का जो अभिभव देखा जाता है वह भी मूर्त से मूर्तिक का ही अभिभव है, क्योकि क्षायोपशमिक ज्ञान इन्द्रियादि पुद्गलो के आधीन होने से पौद्गलिक है, अन्यथा (यदि विज्ञान पौद्गलिक नही है तो) आकाश के समान विज्ञान का भी मदिरा आदि के द्वारा अभिभव नही हो सकता था । अत. उपर्युक्त हेतुओ से शब्द पौद्गलिक पर्याय सिद्ध होता है ।। १९ ।।

तन्मय होने से दोनो ही मन पौद्गलिक है । मन दो प्रकार का है—एक भावमन और दूसरा द्रव्यमन । ये दोनो ही मन पौद्गलिक है, क्योकि दोनो ही मन पुद्गल से सम्बन्धित है । लब्धि और उपयोग रूप भावमन है, वह पुद्गल निमित्तक और पुद्गल का अवलम्बन लेने वाला होने से पौद्गलिक है । अर्थात् भावमन मे भी ज्ञानावरणादि कर्म के क्षयोपशम रूप पुद्गल का अवलम्बन रहता है । गुण-दोष विचार और स्मरणादिरूप व्यापार मे तत्पर आत्मा के अनुग्राहक ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के लाभ के कारण, वीर्य विशेष के सचय करने मे समर्थ जो पुद्गल वर्गणाएँ मन रूप मे परिणत होती है, उनको द्रव्य मन कहते है, पुद्गल के

---

१ -कुनरुता, अ. मु । २ प्रतिध्वनि । ३. मुख्यस्या-मु., ता, अ ।

नुग्राहका पुद्गला वीर्यविशेषावर्जनसमर्था मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्गलिकं नाकाशमयम् ।

अर्थान्तरमिति चेत्; न; अनेकान्तात् इन्द्रियवत् । २१ । स्यादेतत्–अर्थान्तरम् आत्मनो मन इति, तन्न; कि कारणम् ? अनेकान्तात् इन्द्रियवत् । यथा वीर्यान्तराय-ज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन एवेन्द्रियपरिणामादेशा[1]दात्मनो नानन्यदिन्द्रियम्, इन्द्रियनिवृत्तावपि[2] आत्मनोऽवस्थानात् स्यादन्यत् । तथाऽऽत्मन एव तत्क्षयोपशमापेक्षस्य मन परिणामादेशात् स्यादनन्यत्, मनोनिवृत्तावात्मनोऽवस्थानात् स्यादन्यत् ।

अवस्थायीति चेत्; न; अनन्तरसमयप्रच्युतेः । २२ । स्यादेतत्–अवस्थायि मन, न तस्य निवृत्तिरिति, तन्न, कि कारणम् ? अनन्तरसमयप्रच्युते । मनस्त्वेन हि परिणता. पुद्गला गुणदोषविचारस्मरणादि कार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते ।

निमित्त और अवलम्बन से रचित होने से द्रव्य मन तो पौद्गलिक ही है, आकाश का गुण नही है ।। २० ।।

इन्द्रिय के समान अनेकान्त होने से मन अर्थान्तर नही है । मन आत्मा से भिन्न अर्थान्तरभूत है, ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि जैसे इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, उसी प्रकार मन मे भी अनेकान्त है। अर्थात् मन भी आत्मा से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है । जैसे वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा आत्मा के ही प्रदेश चक्षु आदि इन्द्रियरूप से परिणमन करते है, अत आत्मा से इन्द्रियाँ भिन्न नही हैं और इन्द्रियो के नष्ट हो जाने पर आत्मा का नाश नही होता अत इन्द्रियाँ आत्मा से कथञ्चित् भिन्न भी है इसलिए यह ऐकान्तिक नियम नही है कि इन्द्रियाँ आत्मा से सर्वथा भिन्न या अभिन्न हैं, स्याद्वाद है, कथञ्चित् भिन्न है, कथञ्चित् अभिन्न है, उसी प्रकार आत्मा ही ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के कारण ही मनरूप से परिणमन होने के कारण मन आत्मा मे अभिन्न हैं और मन की निवृत्ति होने पर भी आत्मा का अवस्थान रहता है, नाश नही होता इसलिये आत्मा से मन भिन्न है, अर्थान्तरभूत है ।। २१ ।।

मन अवस्थायी (स्थिर रहने वाला) है, ऐसी आशका भी उचित नही है क्योकि अनन्तर समय मे मन का नाश हो जाता है । प्रश्न—मन अवस्थायी है अतः इसकी निवृत्ति नही होती ? उत्तर—ऐसा कहना उचित नही है क्योकि अन्तर समय मे ही इसका नाश हो जाता है, क्योंकि मन रूप से परिणत पुद्गल गुणदोषविचार और स्मरणादि कार्य करके उसके अन्तर समय मे ही मन रूप से नष्ट हो जाते है, आगे वे मन रूप से नही रहते ।। २२ ।।

---

१. –शात् स्यादनन्यदि-मु । २ पञ्चेन्द्रियस्य चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियादिजन्मनि ।

आदेशवचनाच्च ।२३। नायमेकान्तः–अवस्थाय्येव मन इति । कुतः ? आदेशवचनात्–द्रव्यार्थादेशान्मनः स्यादवस्थायि, पर्यायादेशात् स्यादनवस्थायि ।

एकद्रव्यमिति चेत्; न; असामर्थ्यात् ।२४। स्यादेतत्–एकद्रव्यं मनः प्रत्यात्मं वर्तते इति । [1]उक्तं [2]च–[3]**प्रयत्नायौगपद्यात् ज्ञानायौगपद्याच्चैकं मनः**"[4] इति; तन्न; किं कारणम् ? असामर्थ्यात् । कथमसामर्थ्यम् ? परमाणुमात्रत्वात् । परमाणुमात्रं हि मनः तदात्मनेन्द्रियेण च युक्तं सत् स्वप्रयोजनं प्रति व्याप्रियते इत्यभिमतम् । तत्रेदं विचार्यते–तत् आत्मेन्द्रियाभ्यां सर्वात्मना वा संबन्ध्येत, तदेकदेशेन वा ? यदि सर्वात्मना, तयोरात्मेन्द्रिययोरर्थान्तरभावात् व्यतिरिक्तयोरन्यतरेण सर्वात्मना संबन्धः स्यात् अणोर्मनसः नोभाभ्यां युगपत्, विरोधात् । अथान्येन देशेन आत्मना संबध्यते अन्येन देशेनेन्द्रियेण; एवं सति प्रदेशवत्त्वं मनसः प्रसक्तम् । तच्चानिष्टम्, अणुमात्रत्वात् मनसः । किञ्च, यद्यात्मा मनसा सर्वात्मना संबध्यते, मनसोऽणुत्वात् आत्मनोऽप्यणुत्वम्, आत्मनो विभुत्वात् मनसो वा विभुत्वं प्रसज्यते । अथैकदेशेनाऽऽत्मा

आदेश वचन से । यह ऐकान्तिक नियम नही है कि मन अवस्थायी है कि अनवस्थायी ? द्रव्यदृष्टि से मन स्थायी है और पर्यायदृष्टि से अस्थायी भी । अत मन न सर्वथा अवस्थित है और न सर्वथा अनवस्थित ।। २३ ।।

असामर्थ्य होने से मन को एक द्रव्य कहना भी उचित नही है । कोई कहता है (वैशेषिक का सिद्धान्त है) कि मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है । वह अणु रूप है और प्रत्येक आत्मा से एक-एक सम्बद्ध है। कहा भी है कि 'एक साथ आत्मा के अनेक प्रयत्न नही होते और न एक साथ सभी इन्द्रियज्ञानो की उत्पत्ति ही देखी जाती है अत. क्रम का नियामक एक मन है' यह सिद्धान्त ठीक नही है क्योकि मन परमाणु मात्र है और परमाणु मात्र होने से मन के इन्द्रियो के क्रमप्रवृत्ति के नियामक सामर्थ्य का अभाव है । 'परमाणु मात्र भी मन, आत्मा और इन्द्रियो से युक्त होकर स्व-प्रयोजन के प्रति व्यापार करता है' इस कथन पर आचार्य विचार करते है कि परमाणु मात्र मन जब आत्मा और इन्द्रियो से सम्बद्ध होकर ज्ञानादि की उत्पत्ति मे व्यापार करता है, तब वह आत्मा और इन्द्रिय से सर्वात्मा से सम्बद्ध होता है या एकदेश से ? सर्वात्मा से तो सम्बद्ध हो नही सकता क्योकि आत्मा और इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं अत. या तो अणुरूप मन इन्द्रियो से सर्वात्मना सम्बद्ध हो सकता है या फिर आत्मा से ही, आत्मा और इन्द्रिय दोनो से एकसाथ सम्बद्ध होने मे विरोध आता है, यदि कहो कि एकदेश आत्मा से सम्बद्ध है और एकदेश इन्द्रियो से सम्बद्ध है तो मन के प्रदेशभेद का प्रसङ्ग आएगा परन्तु मन को अणुमात्र माना गया है इसलिये मन के प्रदेश मानना वैशेषिक को अनिष्ट है। अथवा, यदि आत्मा मन से सर्वात्मना सम्बन्ध करता है तो या तो मन अणुरूप होने से आत्मा को

१. स्वमताभिप्रायं दर्शयति । २ किमिति । ३ रूपालोकनप्रयत्नेन शेषविशेषप्रयत्न । ४ वैशे ३।२।३ ।

मनसा सयुज्यते, ननु प्रदेशवत्त्वमात्मन प्रसक्तम्। ततश्चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षजज्ञान-सुखदु:खादीना प्रदेशवृत्तित्वात् आत्मन कश्चित् प्रदेशो ज्ञानादियुक्त कश्चित् प्रदेशो ज्ञानादिविरहित इति। यत्र ज्ञानादिविरहित तत्रात्मलिङ्गाभावात् तदभाव इति सर्वगतत्वाभाव. स्यात्। तथेन्द्रियेण मनो यदि सर्वात्मना सयुज्यते, इन्द्रियस्याणुमात्रत्व मनसो वेन्द्रियमात्रत्वान्नाणुत्वम्। अथैकदेशेन मन इन्द्रियेण सयुज्यते, न तर्हि अणु तत्। किञ्च, गुणगुणिनोरन्यत्वान्नित्यत्वाच्च मनस सयोगविभागपरिणामाभावात् नास्यात्मना न चेन्द्रियै. संयोगविभागौ स्तः। अथ सयोगविभागाभ्या मनः परिणमते; न तर्हि नित्यम्। न च गुणगुणिनोरन्यत्वम्। अचेतनत्वाच्च मनस [1]अनेनैव इन्द्रियेणाऽनेनैव[2] चात्मना सयोक्तव्यं नेन्द्रियान्तरैर्न चात्मान्तरैरिति विशेषज्ञाना-

---

अणुरूप मानना होगा या आत्मा व्यापक होने से मन को भी आत्मा की तरह व्यापक मानना होगा। यदि आत्मा एकदेश से मन के साथ सम्वन्ध करता है (सयुक्त होता है) तो आत्मा के प्रदेश मानने होगे। ऐसी दशा मे आत्मा, मन, इन्द्रिय, पदार्थ इन चार का आत्मा, मन और पदार्थ इन तीन का तथा आत्मा और मन इन दो के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान, सुख-दु ख आदि के प्रदेशवृत्तित्व होने से आत्मा के कुछ प्रदेश ज्ञानादि से युक्त होगे तथा कुछ प्रदेश ज्ञानादि से रहित होगे, जिन प्रदेशो मे ज्ञानी के सुख आदि नही होगे, उन प्रदेशो मे आत्मलिग (चिह्न वा आत्मस्वरूप) का अभाव होने से (वा आत्मा का निश्चय न होने के कारण) आत्मा का अभाव या आत्मा के सर्वगतत्व का अभाव होगा तथा इन्द्रियो के साथ यदि मन को सर्वात्मना सम्बद्ध मानते है तो या तो मन के समान इन्द्रियाँ अणुरूप हो जायेगी या फिर इन्द्रियों के समान मन अणुरूपता को छोडकर बडा हो जाएगा तो फिर आत्मा अणुरूप नही रहेगा। अर्थात् आत्मा या इन्द्रियो के साथ मन को एकदेश सम्बद्ध मान लेने पर मन परमाणु रूप नही रह पायेगा, उसके अनेक प्रदेश हो जायेगे तथा वैशेषिक सिद्धान्त मे गुण और गुणी मे भेद स्वीकार किया गया है और मन को नित्य माना गया है अत जब उसका सयोग और विभाग रूप परिणमन ही नही हो सकता, तब न तो मन का आत्मा के साथ सयोग हो सकेगा और न इन्द्रियो के साथ ही। यदि मन का सयोग-विभागरूप परिणमन होता है, तो मन नित्य नही रहेगा और गुण-गुणी भिन्न भी नही है। जब मन अचेतन है तो उसे (मन को) 'इस आत्मा या इन्द्रिय से सयुक्त हाना चाहिए, इन्द्रियान्तर का आत्मान्तर के द्वारा इससे सम्वद्ध नही होना चाहिए' इस प्रकार के विवेक का अभाव होने से प्रतिनियत आत्मा और इन्द्रियो के सयोग का अभाव होगा। अर्थात् जब मन अचेतन है तो उसको इस प्रकार ज्ञान कैसे होगा कि आत्मा के वा इन्द्रियो के साथ सम्बन्ध करे तथा अन्य के साथ नही करे। **शका**—जैसे कर्म अचेतन होते हुए भी जीव के साथ सम्बद्ध होते है और जीव के सुख-दु.खादि का कारण बनते है, उसी प्रकार अचेतन मन भी आत्मा और इन्द्रियो के साथ सम्बन्ध कर लेगा। **उत्तर**—यह कर्म का दृष्टात उचित नही है, क्योकि कर्म पुरुष के परिणामो से अनुरजित होने के कारण कथञ्चित् चेतन हैं और पुद्गल द्रव्य की

---

१. आत्मना वा इन्द्रियेण वा। २ आत्मना व्यापित्वादेकस्मिन् शरीरे अनन्तात्मना सद्भावात्।

भावात् प्रतिनियतात्मेन्द्रियसयोगाभाव । [1]कर्मवदिति चेत्; न, पौरुषेयपरिणामानुरञ्जित्वात् कर्मणः स्याच्चैतन्यम्, पुद्गलद्रव्यादेशाच्च स्यादचेतनत्वमिति विषमो दृष्टान्त । [2]सौक्ष्म्याच्च मनसश्चक्षुरादीना रूपादिग्रहणयोग्यत्वाभावः अणुना मनसा चक्षुरादेः कृत्स्नस्याऽनधिष्ठितत्वात् । यावान् देशश्चक्षुरादीनामणुना मनसाऽधिष्ठितस्तावता एव रूपादिग्रहणसामर्थ्यं भवेत् न कृत्स्नस्य । दृष्ट च कृत्स्नग्रहण तस्मात् नाणु ।

आशुसंचारीति चेत्; न; अचेतनत्वात् ।२५। स्यान्मतम्–अणुमात्रमपि सन्मनः आशुसचारित्वात् कृत्स्नग्रहणहेतुरिति; तन्न, कि कारणम् ? अचेतनत्वात् । न हि अचेतनस्य मनस बुद्धिपूर्विका सर्वत्र व्यापृतिर्युक्ता ।

अदृष्टवशादिति चेत्; न; क्रियापरिणामाभावात् ।२६। स्यादेतत्–यथा पुरुषेण प्रेर्यमाणमलातचक्रमाशुसचरणात् सर्वत्रोपलभ्यते, तथाऽदृष्टवशान्मनसो भ्रमणमिति, तन्न; कि कारणम् ? क्रियापरिणामाभावात् । क्रियावता हि पुरुषेण

दृष्टि से कर्म कथञ्चित् अचेतन है । अत यह कर्म का दृष्टान्त विषम है । मन के सूक्ष्म होने से चक्षुरादि के रूपग्रहणत्व की योग्यता का अभाव है, क्योकि अणुरूप मन के द्वारा चक्षु आदि के सम्पूर्ण रूप से अनधिष्ठत्व (स्पर्श नही होता) है । अत चक्षु आदि के जितने प्रदेश से अणु मन रूप सयुक्त होगा उतने-उतने प्रदेश मे ही रूपादि का ग्रहण होगा अर्थात् अणुमन से सयुक्त चक्षुरादि से अर्थ का अवबोध हो सकेगा, सर्वप्रदेशो से नही । परन्तु चक्षुरादि के द्वारा सर्वप्रदेशो से रूपादि का ग्रहण देखा जाता है इसलिए मन परमाणु रूप नही है ।। २४ ।।

अचेतन होने से अणुमन आशुसचारी भी नही है । **शंका**—अणुमात्र भी मन आशुसचारी है अत. सम्पूर्ण रूप से चक्षु आदि के साथ सम्बन्ध हो जायेगा । **उत्तर**—अणुरूप मन को आशुसचारी (शीघ्र सचार करने वाला) मानकर पूरी चक्षु आदि से सम्बन्ध मानना उचित नही है क्योकि अचेतन मन के बुद्धिपूर्वक क्रिया नही हो सकती ।। २५ ।।

क्रियापरिणाम का अभाव होने से और अदृष्ट के कारण भी मन आशुसचारी नही हो सकता । **प्रश्न**—जैसे पुरुष के द्वारा प्रेरित होकर अलातचक्र आशुसचरण के कारण सर्वत्र उपलब्ध होता है, उसी प्रकार अदृष्ट के कारण अणुमन का भी सर्वत्र भ्रमण हो जायेगा । **उत्तर**—अदृष्ट की प्रेरणा से भी मन का इष्ट देश मे आशुभ्रमण मानना ठीक नही है, क्योकि इसमे क्रिया-परिणाम का अभाव है, क्रियावान् पुरुष से प्रेरित होकर ही अलातचक्र आदि शीघ्र गति से सर्वत्र गोलाकार रूप

---

१ यथा भवन्मते कर्मण अचेतनत्वेऽपि आत्मन सुख-दु खादिकार्यहेतुत्व तद्वन्मनस इत्याह पर कर्मवदिति ।
२. तावताऽपरितुष्ट मन् दूषणान्तरमप्यापादयति ।

प्रेर्यमाणमलातचक्रं सर्वत्रोपलभ्यते इत्येतद्युक्तम्, अदृष्टः पुनरात्मगुणः स्वयमक्रियोऽन्यत्र क्रियाहेतुरित्येतदयुक्तमित्युक्तं पुरस्तात् ।

[1]अनादिसंबन्धमिति चेत्; न; संयोगित्वात् । २७ । स्यादेतत्–अनादिसंबन्धमात्मना मनः स्वभावत एवेति, तन्न, किं कारणम् ? सयोगित्वात् । [2]अप्राप्तिपूर्विका हि प्राप्तिः सयोग. इत्यणुमनोवादिनाऽभ्युपगम्यते इति न मनोद्रव्यस्याऽऽत्मनाऽनादिसबन्धः । [3]क्षायोपशमिकत्वाच्च नार्हतस्य आत्मनाऽनादिसवन्ध मन इति सिद्धमस्ति ।

तत्परित्यागविरोधाच्च । २८ । यदि अनादिसबन्धं मनो भवेत्, अतोऽस्य परित्यागविरोधः स्यात् । [4]अस्ति च परित्याग. । अतो नानादिसबन्धं मन ।

कर्मवदिति चेत्; न; अनेकान्तात् । २९ । स्यादेतत्–यथा जीवकर्मणोरनादि-

---

मे उपलब्ध होते है, परन्तु आत्मा का गुण अदृष्ट तो स्वय क्रियारहित है, वह दूसरो की क्रिया का हेतु होता है, यह अयुक्त है, इसका पूर्व मे खण्डन किया है ।। २६ ।।

सयोग सम्बन्ध होने से आत्मा और मन का अनादि सम्बन्ध मानना भी उचित नही है । आत्मा और मन का स्वाभाविक अनादि सम्बन्ध मानना भी उचित नही है, क्योकि मन और आत्मा का सयोग सम्बन्ध है और मन को अणु मानने वालो के सिद्धान्त मे तो-अप्राप्तिपूवक प्राप्ति को सयोग कहा है, अत. मन का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध नही हो सकता है । अर्हत की (जैन धर्म की) दृष्टि से तो मन क्षायोपशमिक है अत आत्मा के साथ मन का अनादि सम्बन्ध सिद्ध नही हो सकता है ।। २७ ।।

उसके परित्याग का विरोध है । यदि मन का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध है तो इस मन के परित्याग का विरोध होगा, अनादि सम्बन्ध होने से आत्मा से मन का सम्बन्ध नही छूटेगा । परन्तु एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय के मन नही रहता है अत मन का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध नही है ।। २८ ।।

अनेकान्त होने से कर्म का दृष्टान्त भी उपयुक्त नही है । **प्रश्न**—जैसे जीव और कर्मो का अनादि सम्बन्ध होने पर भी कर्म का परित्याग (नाश) होता है, उसमे कोई विरोध नही है, उसी प्रकार आत्मा के साथ मन का अनादि सम्बन्ध होने पर भी मन का परित्याग (नाश) होने मे कोई

---

१. तरुणनैयायिकवत् सृष्टिसहारमतमनङ्गीकृत्य आत्ममनइन्द्रियाणामनादिसम्बन्ध एव सयोग-इत्याह-जरन्नैयायिकः, तमाचार्यो निराकरोति । २. 'अप्राप्तयो. प्राप्ति. सयोग.' –प्रश. भा. पृ. ६२ । ३ तर्हि भवता कथमिति चेदाह । ४ एकाक्षविकलाक्षादिषु ।

सबन्धेऽपि कर्मपरित्यागाविरोध· तथा मनसोऽपीति; तन्न, कि कारणम् ? अनेकान्तात् । नायमेकान्त –जीवकर्मणोरनादिसबन्ध इति । कि तर्हि ? [1]कर्मवन्धसन्तत्यपेक्षया स्यादनादिसबन्ध., मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययापादितबन्धभेदापेक्षया स्यादादिमान् । अतोऽस्य तत्प्रत्यनीकभावनाप्रकर्षसन्निधौ परित्याग इति नास्ति विरोध ।

इन्द्रियसहकारिवेदनावगमादिति चेत्; न; चेतनास्वभावत्वात् । ३० । स्यादेतत्–इन्द्रियाणा सहकारिकारण मन· । कुत ? चक्षुरादिभिरिष्टानिष्टरूपरसादिविपयोपलब्धौ तत्सन्निधाने सुखदु खवेदनावगमात् नान्योऽस्य व्यापारोऽस्ति इति; तन्न, कि कारणम् ? चेतनास्वभावत्वात्[2] । निष्टप्ताय पिण्डवत् इन्द्रियपरिणामात् आत्मैव इन्द्रियम्, अतश्चेतनास्वाभाव्यात् इन्द्रियाण्येव वेदनावगम कुर्वन्ति । अतश्चैतदेव यदि मनोऽन्तरेण इन्द्रियाणा वेदनावगमो न स्यात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामसज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा च वेदनावगमो न स्यात् ।

पृथगुपकारानुपलम्भात् तदभाव इति चेत्; न; गुणदोषविचारादिदर्शनात् । ३१ ।

दोष नही है । **उत्तर**—कर्म का दृष्टान्त उचित नही है क्योकि कर्म-व्यवस्था मे अनेकात है । यह ऐकान्तिक नियम नही है कि जीव और कर्मो का सम्बन्ध अनादि ही है, क्योकि कर्मबन्ध-सतति की अपेक्षा कर्म का बन्ध अनादि होकर भी मिथ्यादर्शन आदि कारणो के कारण समय-समय मे कर्म बँधते रहते है अत कर्मबन्ध सादि भी है । इसलिए मिथ्यादर्शनादि के प्रत्यनीक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप कारणो के प्रकर्ष सन्निधान होने पर उनका बन्ध छूट जाता है, इसमे कोई विरोध नही है पर मन मे इस प्रकार अनेकान्त नही है ।। २९ ।।

चेतन स्वभावत्व होने से इन्द्रियाँ मन की सहायता से सुख-दु ख का अनुभव नही करती । **प्रश्न**—मन इन्द्रियो का सहकारी कारण है, क्योकि जब इन्द्रियाँ इष्ट-अनिष्ट विषयो मे प्रवृत्त होती है तव मन के सन्निधान से ही वे सुख-दु खादि का अनुभव करती है अत· इन्द्रियो के सहकारित्व के सिवाय मन का दूसरा व्यापार नही है । **उत्तर**—मन को इन्द्रियो का सहकारी मानना भी उचित नही है, क्योकि इन्द्रियाँ चेतना स्वभाव वाली है । वस्तुत. गरम लौह पिण्ड के समान आत्मा का ही इन्द्रिय रूप से परिणमन हुआ है, अत. चेतनरूप होने से इन्द्रियाँ स्वय सुख-दु.खादि का अनुभव करती है । यदि मन के बिना इन्द्रियाँ स्वय सुख-दु:ख का अनुभव नही करती है तो एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय को भी सुख-दु ख का अनुभव नही होगा, क्योकि उनके मन का अभाव है ।। ३० ।।

पृथक् उपकार क अनुपलभ होने से मन का अभाव है, ऐसी आशका भी उचित नही है,

---

१ कर्मसम्बन्ध-मु., द. । २. इन्द्रियाणाम् ।

स्यान्मतम्–नास्ति मन पृथगुपकारानुपलम्भात् इति, तन्न, कि कारणम् ? गुणदोष-विचारादिदर्शनात् मनस । मनोलब्धिमता आत्मना मनस्त्वेन [1]परिणामिता पुद्गलाः तिमिरान्धकारादिबाह्याभ्यन्तरेन्द्रियप्रतिघातहेतुसन्निधानेऽपि गुणदोषविचारस्मरणादि-व्यापारे साचिव्यमनुभवन्ति, अतोऽस्त्यन्त करण मन ।

विज्ञानमिति चेत्; न; तत्सामर्थ्याभावात् । ३२ । स्यान्मतम्[2]–न मनो नामाऽन्यदस्ति । कि तर्हि ? विज्ञानमेव किञ्चिन्मन इति व्यपदिश्यते । उक्त च–[3]"**षण्णामनन्तरातीतं**[4] **विज्ञानं यद्धि तन्मनः**"[5] इति, तन्न, कि कारणम् ? तत्सामर्थ्या-भावात् । वर्तमानमेव विज्ञान बाह्यमर्थ नावबोद्धुमल किमङ्ग पुनरतीतम् ? वर्तमान तावद्विज्ञान क्षणिक पूर्वोत्तरविज्ञानसबन्धनिरुत्सुक कथ गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्य कुर्यात् ? अनुस्मरण हीद स्वयमनुभूतस्यार्थस्य दृष्टं नानुभूतस्य (नाननुभूतस्य) नान्यानुभूतस्य । न च क्षणिकैकान्ते तत्सभवति । एकसन्तानपतितत्वात् तदुपपत्तिरिति

क्योकि मन का गुण-दोष-विचार पृथक् उपकार देखा जाता है। प्रश्न—मन का पृथक् उपकार उपलब्ध नही होता है अत मन नामक कोई वस्तु नही है ? उत्तर—यह प्रश्न उचित नही है, क्योकि गुण-दोष विचार आदि मन के स्वतन्त्र कार्य दृष्टिगोचर होते है। मनोलब्धि वाले आत्मा के जो पुद्गल मनरूप से परिणत हुए है वे अन्धकार तिमिरादि बाह्य इन्द्रियो के उपघातक कारणो के सन्निधान होने पर भी गुण-दोष-विचार और स्मरणादि व्यापार मे सहायक होते ही है अत अन्त.करण (अन्तरगइन्द्रिय) मन का स्वतन्त्र अस्तित्व है ।। ३१ ।।

विज्ञान मे सामर्थ्य का अभाव होने से मन विज्ञान नही है। शका–विज्ञान के सिवाय मन नामक अन्य वस्तु नही है। विज्ञान को ही किञ्चित् मन है ऐसा व्यपदेश (कथन) करते है। सो ही कहते है "छहो ज्ञानो की उत्पत्ति का जो समनन्तर अतीत अर्थात् उपादानभूत लक्षण है वह मन है अर्थात् छहो ज्ञान के पूर्वज्ञान को मन कहते है" (यह बौद्ध सिद्धान्त है)। उत्तर—मन का पृथक् अस्तित्व न मानकर विज्ञान को मन कहना ठीक नही है क्योकि पूर्व ज्ञान को जानने का उसमे सामर्थ्य नही है। जो विज्ञान वर्तमान को जानने मे समर्थ नही है, वह अतीतज्ञान का कारण कैसे बन सकता है, उसकी तो बात ही क्या करनी। क्षणिक वर्तमान विज्ञान पूर्व और उत्तर विज्ञानो से जब कोई सम्बन्ध नही रखता तब वह गुणदोषविचार और स्मरणादि व्यापार मे सहायक कैसे बन सकता है ? क्योकि यह स्मरण स्वय अनुभूत पदार्थो का उसी को होता है 'जिसने अनुभव किया', अननुभूत अन्य के द्वारा अनुभूत पदार्थो का स्मरण नही हो सकता। क्षणिक एकान्त मे स्मरण आदि का क्रम सम्भव नही है। सन्तान अवस्तुभूत है अत. उसकी अपेक्षा स्मरणादि की सगति बैठाना भी

---

१ परिणमिता मु, ता, द । २. बौद्धस्य । ३ षण्णामिन्द्रियाणां मनोविज्ञानस्य च [illegible] । ४ [illegible] ।
५ अभिध –१।१७।

चेत्, न, तदवस्तुत्वात् [1]तदतीतमत्यन्तमसत् कथमिव गुणदोषविचारस्मरणादौ सहायि भवेत् ? [2]आलयविज्ञानं [3]बीजशक्तिरूप सदवस्थितमालम्बनं भवतीति चेत्, [4]तस्य एकस्य कालान्तरावस्थायित्वाभ्युपगमे क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानि। न चेत्, तदालम्बनाभाव ।

प्रधानविकार इति चेत्; न; अचेतनत्वात् । ३३ । स्यादेतत्[5] —न पौद्गलिकं मन । कि तर्हि ? प्रधानविकार । प्रधानस्य महदहङ्कारादिभावेन परिणामिन कश्चिद्विकारविशेषो मन. इत्याख्यायते इति; तन्न, कि कारणम् ? अचेतनत्वात् । प्रधानमचेतन तद्विकाराश्च तदात्मका इति घटवदचेतनस्य तस्य गुणदोषविचारस्मरणादि-व्यापारे साचिव्याभावः । किञ्च, मन. [6]करण विचारादे, कर्ता पुरुषः, प्रधानं वा स्यात् ? न तावत् पुरुष , निर्गुणत्वात्, [7]सात्त्विका हि गुणदोषविचारादय । न च

उचित नही है क्योकि पूर्वज्ञान रूप मन जब वर्तमान काल मे अत्यन्त असत् हो जाना है तब वह गुण-दोषविचार, स्मरण आदि मे सहायक कैसे बन सकता है । यदि बीजशक्ति रूप आलयविज्ञान को सद्अवस्थित मानते है और उसका अवलम्बन गुणदोषविचार स्मरणादि मे सहायक होता है, ऐसा कहते है तो उस एक ही मन को कालान्तर अवस्थायी स्वीकार कर लेने पर क्षणिकत्व पक्ष का लोप हो जाता है अर्थात् 'सर्व वस्तु क्षणिक है' इस प्रतिज्ञा की हानि हो जाती है, यदि बोज रूप आलय-विज्ञान क्षणिक है, तो वह भी स्मरणादिका आलम्बन नही हो सकता । (बौद्ध मत के अनुसार मन की व्यवस्था नही बन सकती ।) ।। ३२ ।।

अचेतनत्व होने से प्रधान का विकार भी मन नही है । साख्य कहता है—मन पौद्गलिक नही है अपितु प्रधान का विकार है । महान् अहकार आदि भावो से परिणत प्रधान का कोई विकार विशेष मन है, ऐसा कहा जाता है । **उत्तर**—मन को प्रधान का विकार मानना उचित नही है क्योकि जब प्रधान स्वय अचेतन है तो उसका विकार भी तदात्मक होने से अचेतन ही होगा । जब प्रधान का विकार मन अचेतन है तब घट आदि अचेतन पदार्थ के समान गुणदोषविचार, स्मरण आदि व्यापार मे अचेतन मन सहायक नही हो सकता । अथवा, जब मन विचार आदि का करण है तो उसका कर्त्ता कौन है, प्रधान है कि पुरुष है ? पुरुष तो मन का कर्त्ता हो नही सकता, क्योकि पुरुष निर्गुण होने से सात्त्विक गुण दोष विचार का कर्त्ता हो नही सकता । प्रधान भी मन का कर्त्ता नही है क्योकि प्रधान अचेतन है और लोक मे कोई भी अचेतन गुणदोषविचार आदि का कर्त्ता

१ एकमन्तानपतितोऽपि अतीतो देवदत्त वर्तमानस्य प्रपौत्रादेरुपकरोति किम् । न चैव, तद्वत् । २ अतीत-विज्ञानम् । ३ यथा उप्तो व्रीहि स्वयमतीतोऽपि भविष्यत्फलादेरालम्बन भवति तथा । ४ आलम्बनविज्ञानस्य । ५ साख्य । ६. साधकतमम् । ७ निर्गुणत्वात् कर्त्ता न भवति किमित्याशङ्कायामाह । सत्त्वगुणमया इत्यर्थं —म ।

प्रधानम्, तस्याऽचेतनत्वात् । न हि लोके किञ्चिदचेतनं गुणदोषविचारादे. कर्तृ दृष्टम् । किञ्च,

तदव्यतिरेकात्तदभावः । ३४ । प्रधानात् सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्थारूपात् महदहङ्कारादय परिणामा वैषम्यरूपा.[१] [२]व्यतिरिक्ता वा स्यु, अव्यतिरिक्ता वा यदि व्यतिरिक्ता ; [३]कार्यकारणैकत्वैकान्तप्रतिज्ञाहानि । अथाव्यतिरिक्ता . प्रधानमेव न परिणामा नाम केचन सन्तीति मनसो निवृत्ति ।

[४]**कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राणः । ३५ ।** वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षिणा आत्मना उदस्यमान कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षण प्रार इत्युच्यते ।

बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणोऽपानः । ३६ । तेनैव आत्मना बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो, निःश्वासलक्षणोऽपान इत्याख्यायते । एतावप्यात्मानुग्राहिणौ जीवितहेतुत्वात् ।

देखा नही गया है । अर्थात् अचेतन प्रधान मे गुणदोषविचार, स्मरण आदि चेतन व्यापार नहीं हो सकते ।।३३ ।।

अथवा, उससे अव्यतिरेक होने से विचार आदि का अभाव है । सत्त्व, रज और तम की साम्य अवस्थारूप प्रधान से महान् अहकार आदि विषमावस्था रूप विकार भिन्न है या अभिन्न । यदि सत्त्व, रज और तम की साम्य अवस्था रूप प्रधान से महान् अहकारादि भिन्न उत्पन्न होते हैं तो कार्य और कारण के अभेद मानने का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है । अथवा उस प्रधान से अहकारादि अभिन्न उत्पन्न होते हैं तो केवल प्रधान ही अवशिष्ट रह जाता है, उससे भिन्न कोई परिणाम नहीं बनता । अत मन की निवृत्ति हो जायेगी ।। ३४ ।।

कोष्ठ (उदर) की वायु को उच्छ्वासलक्षण प्राण कहते हैं । वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा शरीर-कोष्ठ से जो वायु बाहर निकाली जाती है, उसको उच्छ्वास लक्षण प्राण कहते हैं ।। ३५ ।।

बाह्य वायु को अभ्यन्तर करना अपान है । वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जो बाह्य वायु भीतर ली जाती

---

१. न्यूनाधिका इत्यर्थ । २ प्रधानात् । ३ [illegible] । [illegible] करणात् कारणाभावाच्च सत्कार्यमिति मृत्पिण्डे घटोऽस्ति घटे मृत्पिण्डोऽस्ति [illegible] । ४ [illegible] कोष्ठम् ।

तन्मूर्तिमत्त्वं प्रतिघातादिदर्शनात् । ३७ । तयो प्राणापानयोः तेषा वाङ्मन प्राणापानाना[1] वामूर्तिमत्त्वमवगन्तव्यम् । कुत ? प्रतिघातादिदर्शनात् । प्रतिभय-हेतुभिरशनिशब्दादिभिर्मनस प्रतिघातो दृश्यते, सुरादिभिश्चाऽभिभवः । हस्तपुटादि-भिरास्यसवरणात् प्राणापानयो प्रतिघात उपलभ्यते, श्लेष्मणा चाभिभव । नचाऽमूर्तस्य मूर्तिमद्भिरभिघातादय स्यु ।

अत आत्मास्तित्वसिद्धिः प्राणापानादिकर्मणः तत्कार्यत्वात् । ३८ । अत आत्मनोऽस्तित्व प्रासिधत् । कुत ? प्राणापानादिकर्मण तत्कार्यत्वात् । यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टित प्रयोक्तुरस्तित्व गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मान साधयति, असति तस्मिन्नप्रवृत्ते । नाकस्मात्, नियमदर्शनात् । न विज्ञानादिकृतम्, तेषाममूर्तत्वे प्रेरणशक्तिविरहात् । न रूपस्कन्धकृतम्, तस्याचेतनत्वात् । सर्वेषा निरीहकत्वात्[2] [3]कर्माभाव इति चेत्; न; देशान्तरप्राप्त्यभावप्रसङ्गात् । वायुधातुविशेषात्

है—उस नि श्वास को अपान कहते है । ये श्वासोच्छ्वास (प्राणापान) आत्मा के जीवन मे कारण होते है अत. इनके द्वारा पुद्गल आत्मा का उपकार करता है ।। ३६ ।।

इन सब का प्रतिघात देखा जाता है अत. ये सब मूर्तिक है । उन प्राणापान और वाङ् (वचन), मन, श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात आदि होने से इन को मूर्तिमान् (पौद्गलिक) समझना चाहिए । जैसे—भय के कारणो से तथा वज्रपात आदि के शब्दो के द्वारा मन का प्रतिघात और मदिरा आदि के द्वारा मन का अभिभव देखा जाता है । हाथ से मुख और नाक को वन्द कर देने पर श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात और कण्ठ मे कफ आदि के आ जाने से श्वासोच्छ्वास का अभिभव देखा जाता है अत. मन और श्वासोच्छ्वास पौद्गलिक है क्योकि मूर्तिक पदार्थो के द्वारा अमूर्तिक पदार्थ के अभिघात और अभिभव (रुकावट) नही हो सकते ।। ३७ ।।

श्वासोच्छ्वास रूपी कार्य से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । इनके द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है, क्योकि प्राणापानादि कर्म आत्मा के कार्य हैं अत. आत्मा रूपी कारण के बिना श्वासोच्छ्वास रूपो कार्य नही हो सकता, जैसे किसो यन्त्रमूर्ति को चेष्टाएँ उसके प्रयोक्ता का अस्तित्व बताती हैं उसी प्रकार प्राणापानादि क्रियाएँ क्रियावान् आत्मा की सिद्धि करती है । ये क्रियाएँ उस प्रवर्त्तक के नही होने पर अकस्मात् नही होती क्योकि ये क्रियाएँ नियमपूर्वक देखी जाती है । विज्ञान आदि के द्वारा भी ये क्रियाएँ नही हो सकती, क्योकि विज्ञान आदि अमूर्त्तिक है अत. उनमे प्रेरणाशक्ति नही हो सकती । अचेतन होने के कारण रूपस्कध कृत भी ये क्रियाएँ नही हैं । सभी पदार्थों को निरीहक मानकर सुख-दु ख प्राणापानादि क्रियाओ का लोप किया जाता है तो फिर पदार्थों के देशान्तर आदि के अभाव का प्रसग आयेगा । अर्थात् पदार्थों मे क्रिया ही नही हो

---

१ –ना मू ता श्र । २. कुत । ३ 'यो यत्रैव' इत्यादिना निर्व्यापारत्वात् ।

देशान्तरे प्रादुर्भाव. क्रियेत्युपचर्यते न मुख्या क्रियाऽस्ति[1] [2]"भूतिर्येषां क्रिया सैव" इति वचनात् इति चेत्; न, वायुधातुविशेषाऽसामर्थ्यात् । वायुधातुरपि नि क्रियः स कथमिव देशान्तरप्रादुर्भूतिहेतु स्यात् । [3]क्षणिकत्वाभ्युपगमादनवस्थिताना कर्माभाव इति चेत्, न, असिद्धत्वात्, अयुक्तेश्च ।

प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावप्रसङ्ग इति चेत्; न; अङ्गाङ्गिद्वन्द्वे तदभावात् । ३९ । स्यान्मतम्–शरीर च वाक् च मनश्च प्राणश्चाऽपानश्च शरीरवाङ्मनः प्राणापाना इति द्वन्द्वे कृते एकवद्भाव. प्राप्नोति । कुत. ? प्राण्यङ्गत्वात् इति; तन्न; कि कारणम् ? अङ्गाङ्गिद्वन्द्वे तदभावात् प्राण्यङ्गानामेव यो द्वन्द्व तस्यैकवद्भाव उक्त. । अङ्गमवयव एकदेश इत्यनर्थान्तरम् । शरीरमत्राङ्गि चास्तीत्येकवद्भावो न भवति । अथवा, वागादीनि नाङ्गानि दन्तादिवदनवस्थितत्वात् । अथवा, द्वन्द्वैकवद्भाव सर्वः समाहारविषय । समाहारश्चैकप्राणिविषयाणा युक्त । नानाप्राणिस्थाश्चैते विवक्षिताः, ततो नास्त्येकवद्भाव ।

सकेगी । **प्रश्न**—वायुधातु से देशान्तर मे उत्पन्न ही क्रिया है, यह उपचार है, मुख्य क्रिया नही है । 'पदार्थों की उत्पत्ति को ही क्रिया कहते है' यह सिद्धान्त है ? **उत्तर**—यह कथन ठीक नही है क्योकि जब वायुधातु भी निष्क्रिय है तो वह असमर्थ होने से अन्य पदार्थो के देशान्तर की उत्पत्ति कैसे करा सकेगी अर्थात् पदार्थो के देशान्तर की प्राप्ति मे कारण कैसे बनेगी ? क्षणिक होने से पदार्थ अनवस्थित है अत उनमे क्रिया नही होती, ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि आत्मा का क्षणिकत्व मानना अयुक्त है ।। ३८ ।।

प्राणी का अङ्ग होने से द्वन्द्व समास करने पर एकवचन होना चाहिये यह आशका भी उचित नही है क्योकि अङ्ग-अङ्गी द्वद्व समास मे भी एकवचन का अभाव पाया जाता है । **प्रश्न**—'शरीर वाङ्मन. प्राणापाना' यहाँ शरीर आदि को प्राणी का अङ्ग होने से द्वद्व समास मे एकवचन होना चाहिए । **उत्तर**—शरीर आदि प्राणी का अग होने से द्वद्व समास एकवचन होने की शका करना ठीक नही है क्योकि जहाँ प्राणी का अग होता है वहाँ पर ही द्वद्वसमास मे एकवचन होता है परन्तु जहाँ अग-अगीभाव होता है वहाँ द्वद्वसमास मे एकवचन नही होता, क्योकि यहाँ शरीर अगी है और वचनादि अङ्ग है, अङ्ग, अवयव और एकदेश ये एकार्थवाची है अत. एकवचन का अभाव है । यहाँ शरीर मात्र अङ्ग है इसलिए द्वन्द्वसमास मे एकवचन नही है । अथवा, वचन आदि अङ्ग भी नही है, क्योकि दाँत आदि की तरह वचन आदि अवस्थित नही है, अर्थात् अनवस्थित है । अतः अग-अगि-समास भी नही है । अथवा, सर्वसमाहारविषयक द्वन्द्वसमास मे एकवद्भाव (एकवचन) होता है और समाहार द्वन्द्व एक प्राणी के अङ्ग मे होता है किन्तु यहाँ शरीर, वचन मन, आदि नाना

---

१. व्यापार । २. उत्पत्ति । भूतिर्येषा मु श्र द. ता । ३ क्षीणत्वाभ्यु-ता, श्र, द ।

पुद्गलशब्दो निर्दिष्टार्थः । ४० । पुद्गलशब्दस्यार्थो निर्दिष्ट.–पु गिलनात् पूरणगलनाद्वा पुद्गल इति ।

उपग्रहप्रकरणात्कर्तरि षष्ठी । ४१ । उपग्रहशब्द प्रकृत:, स च [1]भावसाधन· तेन कर्तुरनुक्तत्वात् पुद्गलानामिति कर्तरि षष्ठी द्रष्टव्या । तेन शरीरादिपरिणामैरात्मना पुद्गला उपग्रहीतार इत्युक्त भवति । ते चात्मानः सक्रिया कर्ममलीमसा सन्तः शरीरादिकृतमुपकारं तद्बन्धपूर्वकमनुभवन्तीत्येतदुक्तम् । एकान्तनिष्क्रियत्वे अत्यन्तशुद्धत्वे[2] च शरीरादिभिः बन्धाभावात् तत्कृतोपकाराभाव, तत्क्रियाहेतुत्वाभावश्चेति ससाराभाव ; तदभावात् कुतो मोक्षः ?

यथा [3]चैतच्चतुष्टय गमनव्याहरणचिन्तनप्राणनादिभावेन परिणामविशेषाहितमनुग्राहकं पौद्गलिकत्वात् तथाऽयमपि तत्कृत एवोपकार इति प्रदर्शयन्नाह–

प्राणियो के विवक्षित है इसलिये यहाँ सूत्र मे 'शरीर वाङ्मन. प्राणापाना:' यह बहुवचन है, एकवचन नही हो सकता ।। ३९ ।।

पुद्गल शब्द का अर्थ पूर्व मे कह चुके है। पुद्गल शब्द का अर्थ है पूरण गलन वाला पदार्थ या जो पुरुष (आत्मा) के द्वारा कर्म और नोकर्म रूप से ग्रहण किया जाता है। इसका विशेष वर्णन पूर्व मे किया है ।। ४० ।।

उपग्रह का प्रकरण होने से यहाँ कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति है। प्रकरण मे आया हुआ उपग्रह शब्द भावसाधन है, अतः अनुक्त कर्त्ता मे 'पुद्गलाना' यहाँ पर कर्त्ता अर्थ मे षष्ठी विभक्ति जाननी चाहिए। इसलिए शरीर आदि परिणामो (पर्यायो) के द्वारा पुद्गल आत्मा के उपकार का है, ऐसा अर्थ स्वयमेव हो जाता है। यह कर्म से मलीमस आत्मा सक्रिय है, अत. वे शरीरादिकृत उपकार को वन्धपूर्वक स्वीकार करते हैं, उनका अनुभव करते है, ऐसा कहा है। यदि आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय एव अत्यन्त शुद्ध आत्मा माना जाय तो शरीरादि के द्वारा बन्ध का अभाव हो जाने से शरीरकृत उपकार का भी अनुभव नही होगा तथा क्रिया के हेतु शरीरकृत उपकार के अनुभव का अभाव होने से ससार का भी अभाव होगा और ससार के अभाव मे मोक्ष कैसे होगा अर्थात् मोक्ष का सद्भाव भी नही हो सकेगा।

परिणामविशेष से गृहीत पुद्गल जैसे—शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास चतुष्टय गमन, व्यवहरण, चिन्तवन और श्वासोच्छ्वास रूप से जीव का उपकार करते है, वैसे सुख आदि भी पुद्गलकृत उपकार है, उसको वताने के लिए सूत्र कहते है—

---

१ कर्ममाधन मु., द., व । २ प्रकृतिर्वध्यते प्रकृतिर्मुच्यत इति साख्यमते । ३ चतुष्टय कथमित्युक्तं शरीरवाङ्मन प्राणापाना पुद्गलानामिति सूत्रं मनसि कृत्याह । शरीरस्य गमनमित्यादि वाच्यम् ।

सुखदु:खजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

बाह्यप्रत्ययवशात् सद्वेद्योदयादात्मनः प्रसादः सुखम् । १ । यदात्मस्थं सद्वेद्यं कर्म द्रव्यादिबाह्यप्रत्ययवशात् परिपाकमुपयाति तदात्मन प्रसाद· प्रीतिरूप· सुखमित्याख्यायते ।

तथा असद्वेद्योदयात् आत्मपरिणामः संक्लेशप्रायो दुःखम् । २ । तथा तेन प्रकारेण बाह्यप्रत्ययवशेनेत्यर्थः; असद्वेद्योदयादात्मपरिणामो य सक्लेशप्रायः स दुःख-मिति कथ्यते ।

भवस्थितिनिमित्तायुर्द्रव्यसंबन्धिनो जीवस्य प्राणापानलक्षणक्रियाविशेषाव्युपरमो-जीवितम् । ३ । भवधारणकारणमायुराख्य कर्म, तदुदयापादिता भवस्थितिमादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तस्य प्राणापानलक्षणस्य क्रियाविशेषस्याविच्छेदो जीवितमिति प्रत्येतव्यम् ।

तदुच्छेदो मरणम् । ४ । तस्य जीवितस्योच्छेदो जीवस्य मरणमित्यवसेयम् ।

सुख, दुःख, जीवित और मरण भी पुद्गल का उपकार है ॥ २० ॥

बाह्य कारणो के कारण और साता वेदनीय के उदय से जो प्रसन्नता होती है, उसे सुख कहते हैं। जब आत्मा से बद्ध साता वेदनीय कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि बाह्य कारणो से परिपाक को प्राप्त होता है तब आत्मा को जो प्रीति या प्रसन्नता होती है उसे सुख कहते है ॥ १ ॥

तथा असाता वेदनीय कर्म के उदय से आत्म-परिणामो मे सक्लेश होता है वह दु ख है। जब आत्मा से बद्ध असाता वेदनीय कर्म द्रव्य, क्षेत्रादि वाह्य कारणो मे परिपाक को प्राप्त होते हैं, तब आत्मा के जो सक्लेश परिणाम होते है, वह दु ख कहा जाता है। अर्थात् सातावेदनीय के उदय मे सुख और असाता वेदनीय के उदय को दु.ख कहते हैं ॥ २ ॥

भवस्थिति मे कारणभूत आयुकर्म द्रव्य से सम्वन्धित जीव के प्राणापान लक्षण क्रिया का उपरम नही होना हो जोवित है। भवधारण मे कारण आयु नाम का कर्म है। उस आयु कर्म के उदय से प्राप्त भवस्थिति को धारण करने वाले जोव के पूर्वोक्त प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) क्रिया का चालू रहना उसका उच्छेद नही होना ही जोवित है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३ ॥

उस श्वासोच्छ्वास का उच्छेद ही मरण है। जोव के जोवित मे कारणभूत श्वासोच्छ्वास का उच्छेद ही जोव का मरण है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ४ ॥

सुखग्रहणमादौ तदर्थत्वात्परिस्पन्दस्य । ५ । सर्वेषां प्राणिनां परिस्पन्दः सुखप्राप्त्यर्थः, ततोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते ।

तदनन्तरं दुःखवचनं तत्प्रतिपक्षत्वात् । ६ । सुखस्य हि प्रतिपक्षभूत दु.खम्, अप्रीतिहेतुत्वात् । ततोऽस्य वचन तदनन्तर क्रियते ।

जीवतस्तदुभयदर्शनात् तदनन्तरं जीवितग्रहणम् । ७ । यत. तदुभय सुखदु ख जीवतो भवति, तत. तदनन्तर जीवितग्रहण क्रियते ।

अन्ते प्राप्यत्वान्मरणस्यान्ते वचनम् । ८ । आयु.क्षयनिमित्तं मरणमन्ते प्राणिभिरवाप्यत इति तदुपादानमन्ते क्रियते । सुखं च दुःखं च जीवितं च मरण च सुखदु खजीवितमरणानि तान्येवोपग्रह सुखदु.खजीवितमरणोपग्रहः । केषाम् ? पुद्गलानामिति प्रकृतमभिसंबध्यते ।

प्रकृतत्वादुपग्रहावचनमिति चेत्; न; स्वोपग्रहप्रदर्शनार्थत्वात् । ९ । स्यान्मतम्—प्रकृतमुपग्रहवचनमस्ति तेन शरीरवाङ्मन.प्राणापानैः सुखदु.खजीवितमरणैश्च पुद्गला

सारे प्रयत्न सुख के लिए है अत· आदि में सुख को ग्रहण किया है । सर्वप्राणियो के प्रयत्न सुख के लिए होते है अत· सुख का ग्रहण सर्वप्रथम किया है ।। ५ ।।

सुख का प्रतिपक्षी होने से सुख के बाद दु ख का ग्रहण किया है । अप्रीति का कारण होने से सुख का प्रतिपक्षीभूत दु ख है, अत· सुख के बाद दु ख का कथन किया है ।। ६ ।।

जीवन मे सुख-दु.ख दोनो होते हैं अतः सुख-दु ख के अनन्तर जीवन कहा है । जीवित प्राणी के ही सुख और दु ख होते है अत. सुख और दुःख के आधारभूत जीवित को ग्रहण किया है ।। ७ ।।

अन्त मे प्राप्य होने से मरण को अन्त मे कहा है । आयुक्षय के निमित्त से होने वाला मरण प्राणियो के द्वारा अन्त मे प्राप्त होता है अत· उसको अन्त मे कहा है । सुख-दु ख-जीवन-मरण रूप उपकार पुद्गलकृत है अर्थात् पुद्गल के सयोग से उत्पन्न कर्म के उदय से जीवन-मरण, सुख-दु.ख होता है; कर्मरहित मुक्तात्मा का न मरण है, न जीवन है; न साता-असाता वेदनीयजन्य सुख दु·ख है, पुद्गल के निमित्त से होने के कारण वे पौद्गलिक कहलाते हैं ।। ८ ।।

स्व-उपग्रह को दिखाने के लिए उपग्रह का प्रकरण होने पर भी उपग्रह वचन को पुनः ग्रहण किया है । **प्रश्न**—यहाँ उपग्रह का प्रकरण है कि शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास, सुख-दु ख, जीवन और मरण के द्वारा पुद्गल, जीवो का उपकार करते है । अतः पुनः इस सूत्र मे उपग्रह शब्द का प्रयोग करना निरर्थक है । **उत्तर**—यहाँ उपग्रह शब्द निरर्थक नही है । यद्यपि

जीवान् उपगृह्णन्ति इत्यस्मिन्नर्थे प्रतिपादिते पुनरुपग्रहवचनमनर्थकमिति; तन्न, किं कारणम् ? स्वोपग्रहप्रदर्शनार्थत्वात् । यथा धर्माधर्माकाशानि परेषामेवोपग्रह कुर्वन्ति न तथा पुद्गला , स्वोपग्रहश्चैषामस्तीति प्रदर्शनार्थं पुनरुपग्रहवचनं क्रियते । तद्यथा—कसादीनां भस्मादीनि जलादीना कतकादीनि [1]अय. प्रभृतीनामुदकादीनि उपकार कुर्वन्ति ।

मरणमात्मोपग्रहो नेति चेत्; न; निर्विण्णस्य तत्प्रियत्वात् । १० । स्यादेतत्—मरणमात्मोपग्रहो नोपपद्यते । कुतः ? अनिष्टत्वात् । न हि कस्यचित् मरणमीप्सितमिति; तन्न; कि कारणम् ? निर्विण्णस्य तत्प्रियत्वात् । व्याधिपीडाशोकादिभिर्जीवितान्निवृत्तादरस्य निर्विण्णस्य हि जनस्य मरण प्रिय लोके दृश्यते ।

प्रयोजनप्रतिपादनार्थत्वाच्च दुःखवत् । ११ । यथा दु खमनिष्टमपि जीवाना पुद्गलं प्रतिपाद्य [2]प्रयोजनमिति गृह्यते तथा[3] मरणमपीति नास्ति दोष ।

यहाँ उपग्रह का प्रकरण है फिर भी इस सूत्र मे उपग्रह का ग्रहण पुद्गलो के स्वोपकार की सूचना करने के लिए है । जैसे धर्म, अधर्म और आकाश अन्य जीव और पुद्गलो का उपग्रह मात्र करते है वेसे पुद्गल उपकार नही करते । पुद्गलो का स्व-उपकार भी है अर्थात् पुद्गल परस्पर पुद्गल का उपकार भी करते है, इसलिए सूत्र मे पुन. 'उपग्रह' शब्द का ग्रहण किया गया है, जैसे—कासी आदि का भस्म, जलादि का कतकादि और लोहे आदि का जलादि उपकार करते है । अर्थात् कासे का भस्म से स्वच्छ किया जाता है, पानी मे कतकफल डाल देने से पानी स्वच्छ हो जाता है, तलवार को धार करने के लिए या वस्त्र को, जमीन को स्वच्छ करने के लिए जल का प्रयोग किया जाता है, शरीर मे पौद्गलिक कर्मो के उदय का उपशमन करने के लिए पौद्गलिक औषधि खाई जाता है, उससे रोग दूर होता है अत पुद्गल पुद्गल का उपकार करता है ।। ९ ।।

मरण आत्मा का उपकार नही है, ऐसी आशका नही करनी चाहिए क्योकि दु खी प्राणी को मरण भी प्रिय होता है । शंका—अनिष्ट होने से मरण किसी को भी प्रिय नही है इसलिए मरण आत्मा का उपकार नही हो सकता ? उत्तर—यद्यपि साधारणतया मरण किसी को भी प्रिय नही परन्तु व्याधि-पीडा शोकादि से व्याकुल प्राणी 'जिसको जीवन से घृणा हो चुकी है' उसको लोक में मरण भी प्रिय होता है । अत· मरण को भी उपकार श्रेणी मे ले लिया है ।। १० ।।

दु.ख के समान प्रयोजन प्रतिपादन करने का हेतु होने से मरण को भी उपकार कहा गया है । अथवा, यहाँ उपकार शब्द से इष्ट पदार्थ नही लिया गया है किन्तु पुद्गलो के द्वारा होने वाले समस्त कार्य लिये गये है । पुद्गल के सयोग से आत्मा मे जो-जो विकृति होती है, उसके लिये उपकार शब्द का प्रयोग है, इष्ट पदार्थ के लिये नही, जैसे—दु ख भी अनिष्ट है परन्तु पुद्गलकृत

---

१ असिधारादे निशितकरणादिरूपम् । २ कार्यमित्यर्थ. । ३ अनिष्टमपि पुद्गलस्य कार्यमित्यर्थं ।

लघ्वर्थमेकसूत्रीकरणमिति चेत्; न; आशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । १२ । स्यान्मतम्–'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च पुद्गलानाम्' इत्येकमेव सूत्र कर्तव्यं लघ्वर्थमिति, तन्न; कि कारणम् ? आशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । शरीरवाङ्मन-प्राणापाना [1]हेतवश्चत्वार· सुखदु खजीवितमरणानि च फलानि[2] चत्वारि, तेषा [3]याथासंख्यमनिष्टमाशङ्क्येत, तन्निवृत्त्यर्थ नानायोगकरणम् । उत्तरसूत्रे[4] सुखादि-संबन्धनार्थ च[5] ।

तदनुपपत्तिर्नित्यानित्यपक्षयोर्विकारावस्थानाभावात् । १३ । तेषा सुखादीनाम् अनुपपत्ति । क्व ? नित्यपक्षेऽनित्यपक्षे च । कुत ? विकारावस्थानाभावात् । तद्यथा–नित्यपक्षे तावत् आत्मना पूर्वापरकालतुल्यत्वात् परिणामान्तरसक्रान्तिलक्षणस्य विकारस्याभावात् सुखादिककल्पनमयुक्तम् । अनित्यपक्षे चावस्थानाभावात् सुखादि-

---

प्रयोजन होने से दु ख का निर्देश किया है, वेसे हो पुद्गल का प्रयोजन बताने के लिए मरण को उपकार माना है इसमे कोई दोष नही है ।। ११ ।।

लाघव के लिए दोनो सूत्रो का एक सूत्र वनाने की आशका भी नही करनी चाहिये क्योंकि सन्देह की निवृत्ति के लिए पृथक्-पृथक् सूत्र की रचना की गई है । शका—'शरीरवाङ्मन प्राणापाना. सुख-दु खजीवितमरणोपग्रहाश्च पुद्गलाना' इन दोनो का एकसूत्र करने से सूत्र मे लघुता आती है इसलिये इन दोनो का एकसूत्र करना चाहिए । उत्तर—'शरीरवाङ्मन' तथा 'सुख-दु ख' इन दोनो का यदि एकसूत्र बनाते तो यह सन्देह होता कि शरीरादि चार के क्रमश· सुख-दु·ख आदि चार फल है, उस अनिष्ट आशका की निवृत्ति के लिए पृथक् सूत्र को रचना की है तथा सुख-दु·ख, जीवित-मरण आदि का सम्वन्घ उत्तरसूत्र मे कथित जीवोपकारो से भी जुडता है, अत पृथक-पृथक् सूत्र ही बनाया गया है ।। १२ ।।

ऐकान्तिक नित्य वा अनित्य पक्ष मे विकार और अवस्थान का अभाव होने से सुख-दु.खादि नही हो सकते । कथञ्चित् नित्यानित्य आत्मा के ही सुख-दु खादि हो सकते है सर्वथा नित्य वा सर्वथा अनित्य आत्मा के सुख-दुःखादि नही हो सकते क्योकि नित्य पक्ष मे विकार परिणमन नही और अनित्य पक्ष में अवस्थान नही । जैसे—नित्य पक्ष मे आत्मा पूर्व और उत्तर काल मे सर्वथा एक जैसी वनी रहती है, अत. परिणामान्तर सक्रान्ति लक्षण विकार का अभाव होने से सुख-दु.खादि की कल्पना ही नही हो सकती । आत्मा को सर्वथा अनित्य मानने वालो की आत्मा के अवस्थान का अभाव है अतः पूर्व—उत्तर काल न होने से अनित्य पक्ष मे आत्मा के सुख-दु.खादि उत्पन्न नही हो सकते । क्योंकि अवस्थित आत्मा के ही इष्ट-अनिष्ट स्पर्श आदि का

---

१ कारणानि । २ कार्याणि । ३. ममवचने याथासख्य शैलीयमाचार्यस्येति न्यायात् । ४ परस्परोपग्रहो जीवानामित्यत्र । ५ एकयोगकरणे शरीरादिरपि प्रसज्येत ।

सबन्धोऽनुपपन्न.। अवस्थितस्य हि इष्टानिष्टशब्दस्पर्शादिसन्निपाते सति सुखादिप्रभव[1] स्यात्। स चाकस्मान्न भवति। कि तर्हि? कुशलाकुशलभावनापूर्वक[2]। कुशलाकुशलभावना[3] च स्मृत्यभिसबन्धिचेष्टाभिनिर्वृत्तिलक्षणा। [4]स्मृत्यादयश्चानवस्थितस्य न सभवन्तीत्यतो नित्यानित्यात्मकस्यात्मन सुखादिनिरूपण निरवद्यम्।

आह–अजीवद्रव्यचतुष्टयस्य यथा परानुग्रह सान्ततिक किमेवमात्मनामपि, उतान्यो विधिरस्तीति? अत्रोच्यते–

परस्परोपग्रहो जीवानाम्॥ २१॥

कर्मव्यतिहारविषयः परस्परशब्दः।१। कर्मव्यतिहार क्रियाव्यतिहार इत्यर्थ.। तद्विषयोऽय परस्परशब्द। परस्परस्योपग्रह. परस्परोपग्रह। क पुनरसौ?

स्वामिभृत्यादिभावेन[5] वृत्तिः परस्परोपग्रहः।२। स्वामी भृत्य आचार्य

सन्निपात होने पर सुख-दु खादि उत्पन्न हो सकते है। वे सुख-दु खादि अकस्मात् नही होते। अर्थात् ये क्रियाये बिना कारण नही होती। सुख-दु खादि कुशलाकुशल भावनापूर्वक ही होते है। कुशल और अकुशल भावनाएँ, पूर्वानुभूत की स्मृति और तत्पूर्वक (स्मृतिपूर्वक) चेष्टाओ से सम्बन्ध रखती है और स्मृति आदि अनवस्थित (क्षणिक) आत्मा के हो नही सकती अर्थात् जिसके सिद्धांत मे आत्मा का निरन्वय नाश माना है उसके पूर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति नही हो सकती क्योकि अनुभव करने वाले आत्मा का ही सर्वथा नाश हो जाने पर स्मरण किसको होगा, अनुभूत का ही स्मरण होता है, अननुभूत तथा दूसरे के द्वारा अनुभूत का स्मरण नही हो सकता। अत. नित्यानित्यात्मक आत्मा के ही सुख-दु खादि का निरूपण करना निर्दोष है, अर्थात् युक्तिसगत है॥ १३॥

चारो अजीव द्रव्यो का दूसरे का उपग्रह जैसे सान्ततिक है, क्या इसी प्रकार आत्मा के भी पर का उपकारत्व है अथवा कोई दूसरी विधि है, ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते है—

जीव भी परस्पर (एक दूसरे का) उपकार करते है॥ २१॥

परस्पर शब्द कर्म व्यतिहार अर्थात् क्रिया के आदान-प्रदान को कहते है। कर्मव्यतिहार, क्रियाव्यतिहार ये एकार्थवाची है। अर्थात् कर्मव्यतिहार, आदान-प्रदान क्रियाव्यतिहार अर्थ मे है और उस आदान-प्रदान क्रिया का विषय परस्पर शब्द है, एक-दूसरे का परस्पर उपकार करना परस्परोपग्रह कहलाता है। **प्रश्न**—यह परस्पर उपकार क्या है? ॥ १॥

उत्तर—स्वामिसेवक आदि भाव से वृत्ति (व्यापार) को परस्परोपग्रह कहते है। स्वामी,

---

१ उत्पत्ति। २ शुभाशुभरूपसभावनापूर्वक। ३ सभावना सकल्प। ४ अनुभूतस्य स्मरण नाननुभूतस्य नान्यानुभूतस्य च। ५ अ प्रतौ वार्तिक चिह्न नास्ति, मुद्रिते च।

शिष्य इत्येवमादिभावेन वृत्ति: परस्परोपग्रह इत्युच्यते । स्वामी तावत् वित्तत्यागादिना भृत्यादीनामुपग्रहे वर्तते, भृत्याश्च हितप्रतिपादनेन अहितप्रतिषेधेन च । आचार्य: उभयलोकफलप्रदोपदेशदर्शनेन [1]तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते । शिष्या अपि [2]तदानुकूल्यवृत्त्या ।

प्रकृतत्वादुपग्रहावचनमिति चेत्; न; अनन्तरचतुष्टयप्रतिनिर्देशार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्–प्रकृतमुपग्रहवचनमस्ति तदभिसम्बन्धात् पुनरुपग्रहवचनमनर्थकमिति, तन्न; किं कारणम् ? अनन्तरचतुष्टयप्रतिनिर्देशार्थत्वात् । नाऽपूर्वं कश्चित् परस्परोपग्रहो जीवानामस्ति, अनन्तरसूत्रे निर्दिष्ट: सुखादिचतुष्टयोपग्रह एवेति प्रदर्शनार्थं पुनरुपग्रहवचनम् ।

स्त्रीपुंसरतिवदनियमप्रदर्शनार्थं च ।४। यथा स्त्रीपुंसौ यौगपद्येन रतिक्रियाया परस्परस्योपकुरुत न तथा सुखाद्युपग्रहे नियम इति प्रदर्शनार्थं च पुनरुपग्रहवचनं[3]

नौकर, आचार्य (गुरु) शिष्य आदि भाव से जो वृत्ति होती है, उसको परस्पर उपग्रह कहते हैं, जैसे—स्वामी अपने धन का त्याग करके (रुपयादि प्रदान करके) सेवक का उपकार करता है और सेवक स्वामी के हितप्रतिपादन और अहित के प्रतिषेध द्वारा उसका उपकार करता है । आचार्य (गुरु) उभय लोक का हितकारी मार्ग दिखाकर तथा हितकारी क्रिया का अनुष्ठान कराकर शिष्यो का उपकार करते है और शिष्य गुरु के अनुकूल वृत्ति से उपकार करते है ।। २ ।।

प्रकरण होने से उपग्रह वचन को ग्रहण नही करना चाहिए; ऐसा कहना उचित नही है, क्योंकि प्रथम सूत्र मे निर्दिष्ट चार का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र मे पुन उपग्रह वचन का निर्देश किया है । प्रकरण मे उपग्रह होने से इस सूत्र मे उपग्रह शब्द का प्रयोग करना निरर्थक है, ऐसी आशंका नही करनी चाहिए क्योकि यद्यपि 'उपग्रह' का प्रकरण है, फिर भी इस सूत्र मे 'उपग्रह' शब्द के द्वारा पूर्व सूत्र मे निर्दिष्ट सुख-दु.ख, जीवित और मरण इन चारो का ही प्रतिनिर्देश किया है । इन चारो के सिवाय जीवो का अन्य कोई परस्पर उपग्रह नही है अर्थात् उपग्रह शब्द सूचित करता है कि अन्य कोई नया उपकार नही है, किन्तु पूर्व सूत्र मे निर्दिष्ट ही उपकार है ।। ३ ।।

स्त्री-पुरुष की रति के समान परस्पर उपकार का अनियम प्रदर्शित करने के लिए पुन. उपग्रह शब्द का प्रयोग किया है । जैसे—रतिक्रिया मे स्त्री और पुरुष परस्पर उपकार करते हैं, उसी प्रकार सुखादि मे सर्वथा नियम परस्परोपकार का नहीं है, यह बताने के लिए पुनः उपग्रह वचन का प्रयोग किया है, क्योंकि कोई जीव अपने लिए सुख उत्पन्न करता हुआ कदाचित् दूसरे एक जीव को वा दो जीवो को या बहुत से जीवो को सुखी करता है और कोई जीव अपने को दु.खी करता हुआ एक

---

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिद्विशिष्टं सूचयन्त्यानार्थम् ।

क्रियते । [1]जीवो हि कश्चित् स्वस्य सुखं कुर्वन् परस्यैकस्य सुख करोति कश्चिद् द्वयो. कश्चिद्बहूनाम् । कश्चिद् दु खमात्मन· कुर्वन् परस्यैकस्य द्वयो बहूना वा (दु·ख) करोति। कदाचिद् द्वौ बह्वो वाऽऽत्मान सुख दु.खं (वा) कुर्वन्त· परस्यैकस्य द्वयोर्बहूना वा [2]सुख दुख (वा) उत्पादयन्ति । एवमितरत्रापि योज्यम् ।

आह–यदि अवश्य सतोपकारिणा भवितव्यम्, सश्च कालोऽभिमत स किमुपकार. इति ? अत्रोच्यते–तस्य खलु वक्ष्यमाणस्वतत्त्वस्याऽमूर्तं –

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

अथवा, यथा धर्मादीनामस्तित्वस्याऽऽविर्भावक उपकार उक्तो गत्यादि., तथा कालस्यापि प्रतिनियत उपकारोऽस्तित्वससूचकोऽस्ति, उत नास्ति ? अस्त्युपकार । यद्येव स उच्यतामिति ? अत आह[3]–वर्तनादीनि[4] ।

[5]**करणाधिकरणयोर्वर्त्तनेति चेत्; युटि सति ङीप्रसङ्गः । १ ।** स्यादेतत्–वर्ततेऽनया

जीव को, दो जीवो को या बहुत से जीवो को दु खी करता है अथवा कभी एक, दो, बहुत जीवो तथा अपने आपके लिए सुख या दु ख करता हुआ दूसरे एक वा दो वा बहुत से जीवो के लिए सुख-दु ख उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। स्वय दु खी भी दूसरे को सुखी और स्वय सुखी भी दूसरे को दु खी कर सकता है। अत कोई निश्चित नियम नही है कि सुखी सुखी और दु खी दु.खी ही करे ।। ४ ।।

यदि सत् (द्रव्य) अवश्य उपकारी ही होना चाहिये तो काल को भी 'सत्' द्रव्य माना है, उसका क्या उपकार है ? ऐसा पूछने पर आगे कहे जाने वाले स्वतत्त्व अमूर्त्तिक काल द्रव्य का उपकार बताने के लिए सूत्र कहते है—

वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व व्यवहार ये काल द्रव्य के उपकार है ।। २२ ।।

अथवा, जैसे धर्माधर्म आदि द्रव्यो के अस्तित्व का आविर्भावक गमन सहायक आदि उपकार कहा है, उसी प्रकार काल के अस्तित्व का सूचक प्रतिनियत उपकार है कि नही ? यदि काल के अस्तित्व का सूचक उपकार है तो क्या है, उसका वर्णन करना चाहिए ? ऐसा पूछने पर आचार्य ने वर्तना आदि काल के उपकार वताए है।

'वर्तते अनया अस्या' वा ऐसे करण और अधिकरण मे वर्त्तना शब्द मे युट् प्रत्यय मे टित्

---

१ उक्तार्थमेव विवृणोति । २ सुखमु –ता श्र मू । ३ अनेन पातनिकाभिप्रायेण कालस्य माध्यत्वमुक्त भवति। ४ –दीनीति-मु , द , ब -श्र । ५ तटस्थ आचार्यमत परिपृच्छति आचार्य ।

अस्या वेति विगृह्य वर्तनाशब्दो निष्पाद्यत इति । एवं[1] सति परत्वाद्युटि सति टित्त्वात् ङी प्राप्नोति[2] कथं तर्हि सिद्धि ?

णिजन्ताद्युचि वर्तना ।२। स्त्रीलिङ्गे कर्मणि भावे वा णिजन्ताद्युचि सति वर्तनेति भवति । वर्त्यते[3] वर्तनमात्रं वा वर्तनेति ।

अनुदात्तेत्त्वात्ताच्छीलिको वा ।३। अथवा, [4]वृतिरयमनुदात्तेत्, ततस्ताच्छीलिको युच् वर्तनशीला वर्तनेति । का पुनर्वर्तना ?

प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ।४। द्रव्यस्य पर्यायो द्रव्यपर्याय , द्रव्यपर्याय द्रव्यपर्याय प्रति प्रतिद्रव्यपर्यायम्, अन्तर्नीत एकः समयोऽनया सा अन्तर्नीतैकसमया, का पुनरसौ ? स्वसत्तानुभूति , उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यवृत्ति सत्ता, न ततोऽन्या काचिदस्ति । स्वा सत्ता स्वसत्ता, प्रतिनियता असाधारणीत्यर्थ,

---

होने से ङीप् प्रत्यय का प्रसग आता है। कोई (तटस्थ आचार्य, आचार्य के मत को) पूछता है कि 'वर्त्तते अनया अस्या वा' ऐसा करण और अधिकरण मे विग्रह करके यदि वर्त्तना शब्द की सिद्धि की जाती है तो ऐसा (करण-अधिकरण मे) परत्वादि मे 'युट् प्रत्यय मे टित् होने से ङीप्' प्रत्यय होगा, यह व्याकरण का नियम है अत: वर्त्तना शब्द न बनकर वर्त्तनी बनेगा, वर्त्तना शब्द की सिद्धि कैसे हो सकती है ? ।। १ ।।

णिजन्त से युच् प्रत्यय करके वर्त्तना शब्द की निष्पत्ति हुई है। भाव और कर्मवाची प्रयोग मे णिजन्त क्रिया मे 'युच्' प्रत्यय करने पर स्त्रीलिंग मे वर्त्तना शब्द होता है अत: 'वर्त्यते वर्त्तनमात्र वा वर्त्तना' यह णिजन्त से युच् प्रत्यय करके बनाया जाता है ।। २ ।।

अनुदात्तत्व मे तच्छील अर्थ मे युच् प्रत्यय किया जाता है। अथवा, यह अनुदात्त मे 'वर्त्तनाशीला वर्त्तना' ऐसा तच्छील अर्थ मे 'युच्' करके वर्त्तना शब्द बन जाता है। **प्रश्न**—वर्त्तना क्या है ? किसको कहते है वर्त्तना ? ।। ३ ।।

प्रत्येक द्रव्यपर्याय मे अन्तर्नीत एक समय वाली स्वसत्ता की अनुभूति वर्त्तना है। द्रव्य की जो पर्याय वह द्रव्यपर्याय है। द्रव्यपर्याय द्रव्यपर्याय की, प्रतिद्रव्यपर्याय है, 'अन्तर्नीत है एक समय इसके द्वारा' वह अन्तर्नीतएकसमया कहलाती है। अन्तर्नीतएकसमया क्या है ? स्वसत्ता अनुभूति, उत्पादव्ययध्रौव्यैकवृत्ति सत्ता, उस सत्ता से अन्य कोई वस्तु नही है। स्व की सत्ता स्वसत्ता प्रतिनियत असाधारण बुद्धि के अभिधान अनुप्रवृत्ति लिङ्ग से अनुमीयमाना सादृश्य उपचार से एक होते हुए भी जीव-अजीव आदि भेद-प्रभेदो के द्वारा सम्बन्ध को प्राप्त की विशिष्ट शक्ति के द्वारा

---

[1] स्यादेवेति चेन् । [2] न प्राप्नोतीत्युक्ते तटस्थ आह । [3] प्रयोक्त्रा अनेन । [4] अस्येत् अनुदात्तसज्ञात [?]

बुद्धयभिधाना[1]नुप्रवृत्तिलिङ्गेनानुमीयमाना [2]सादृश्योपचारादेकापि सती[3] जीवाजीव-तद्भेदप्रभेदैः सबन्धमापद्यमाना विशिष्टशक्तिभिरेव सबध्यते। तस्या अनुभूति स्वसत्तानुभूतिर्वर्तनेत्युच्यते। एकस्मिन्नविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि [4]स्वपर्यायैरादिमदनादिमद्भिरुत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैर्वर्तन्त इति कृत्वा तद्विषया वर्तना।

सा आनुमानिकी व्यावहारिकदर्शनात् पाकवत्। ५। यथा व्यावहारिकस्य पाकस्य तण्डुलविक्लेदनलक्षणस्यौदनपरिणामस्य दर्शनादनुमीयते—अस्ति प्रथमसमया-दारभ्य सूक्ष्मपाकाभिनिर्वृत्तिः प्रतिसमयमिति। यदि हि प्रथमसमये अग्न्युदकसन्निधाने कश्चित् पाकविशेषो न स्यात्, एव द्वितीये तृतीये च न स्यादिति पाकाभाव एव स्यात्। तथा सर्वेषामपि द्रव्याणा स्वपर्यायाभिनिर्वृत्तौ प्रतिसमय दुरधिगमा[5] निष्पत्तिरभ्यु-पगन्तव्या।

सम्बन्ध किया जाता है। उस सत्ताकी अनुभूति, स्वसत्ता-अनुभूति वर्त्तना कही जाती है। एक अविभागी समय मे धर्मादि छहो द्रव्य आदिमान् और अनादिमान् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य के विकल्प रूप अपनी-अपनी पर्यायो के द्वारा वर्त्तना करते है, उस विषय को वर्त्तना कहते है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक सत्ता का प्रतिक्षण अनुभव करता है। धर्मादि द्रव्य अपनी द्रव्यार्थिक दृष्टि से अनादि और पर्यायार्थिक दृष्टि से सादिमान् पर्यायो मे प्रतिक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप से परिणत होते रहते है, यही स्वसत्ता-अनुभूति वर्त्तना है। सादृश्योपचार से प्रतिक्षण 'वर्त्तना वर्त्तना' ऐसा अनुगत व्यवहार होने से यद्यपि वह वर्त्तना एक कही जाती है तथापि वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य की अपनी-अपनी वर्त्तना पृथक्-पृथक् है ।। ४ ।।

वह वर्त्तना पाक के समान व्यावहारिक दर्शन से अनुमानिकी सिद्ध होती है। जैसे--व्यावहारिक तन्दुल (चावल) का विक्लेदन (गीला होना) रूप लक्षण ओदन के परिणाम-स्वरूप पाक को देखने से निश्चय काल का अनुमान लगाया जाता है। अर्थात् वर्त्तना प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य मे होती रहती है, यह अनुमान से इस प्रकार सिद्ध है। जैसे पकने के लिये वर्त्तन मे चावल डाले और वे आधा घण्टे मे पके तो यह नही समझना चाहिए कि उन्तीस मिनट तक वह ज्यो का त्यो रखा रहा और अन्तिम क्षण मे पक कर भात बन गया हो, उसमे तो प्रथम समय से लेकर सूक्ष्म पाक की निष्पत्ति प्रति समय मे होती ही रही। क्योकि यदि अग्नि एव पानी का सन्निधान होने पर प्रथम समय मे चावल मे कुछ भी पाकविशेष नही हुआ तो दूसरे, तीसरे आदि क्षणो मे भी पाक सभव नही है—अतः पाक का ही अभाव हो जायेगा। तथा सर्व पदार्थो की स्वपर्याय की अभिनिर्वृत्ति हो जाने पर प्रतिसमय मे पर्यायो की निष्पत्ति (उत्पत्ति) भी दुरधिगम (जानने के लिए अशक्य) हो जायेगी, ऐसा जानना चाहिए ।। ५ ।।

---

१. सत्यप्यश्वादिव्यतिकरे गोजात्यविनाभाविसत्ताज्ञान गौरिय गौरियमिति शब्दाना। २ जीवादिषु वर्तमान-सत्तासामान्योपचारात्। ३ सत्ता। ४ अगुरुलघुत्वाद्यसख्यातप्रदेशत्वादि। ५ ज्ञातुमशक्या।

तल्लक्षणः कालः । ६ । सा वर्तना लक्षणं यस्य स काल इत्यवसेय । समयादीनां[1] क्रियाविशेषाणा समयादिनिर्वृत्यानां च पर्यायाणां पाकादीना स्वात्मसद्भावानुभवनेन स्वत एव वर्तमानानां निर्वृत्तेर्बहिरङ्गो हेतु. समय । पाक इत्येवमादिस्वसज्ञारूढिसद्भावे काल इत्ययं व्यवहारोऽकस्मान्न भवतीति तद्व्यवहारहेतुना अन्येन भवितव्यमित्यनुमेयः ।

आदित्यगतेरिति चेत्; न; तद्गतावपि तत्सद्भावात् । ७ । स्यादेतत्–आदित्यगतिनिमित्ता द्रव्याणा वर्तनेति, तन्न; कि कारणम् ? तद्गतावपि तत्सद्भावात् । सवितुरपि व्रज्याया [2]भूतादिव्यवहारविषयभूताया क्रियेत्येव रूढाया वर्तनादर्शनात् तद्धेतुना अन्येन कालेन भवितव्यम् ।

आकाशप्रदेशनिमित्तेति चेत्; न; तां प्रत्यधिकरणभावाद्भाजनवत् । ८ । स्यादेतत्–आकाशप्रदेशनिमित्ता वर्तना नान्यस्तद्धेतुः कालोऽस्तीति, तन्न, कि कारणम् ?

काल का लक्षण वर्त्तना है । वह वर्त्तना जिसका लक्षण है उसे काल समझना चाहिए । समय आदि क्रियाविशेषो को तथा समय से निष्पन्न पाकादि पर्याये जो कि स्वसत्ता का अनुभव करके स्वत ही वर्त्तमान है, उनकी उत्पत्ति का बाह्य कारण काल है, उनमे पाक, समय आदि स्वसज्ञा रूढि से सद्भाव होने पर भी काल यह व्यवहार अकस्मात् (निर्हेतुक) नही होता । अत उस काल के व्यवहार का हेतु कोई अन्य अवश्य होना चाहिए । उस काल के व्यवहार के कारण से काल अनुमेय होता है ।। ६ ।।

आदित्य (सूर्य) की गति से वर्त्तना होती है, ऐसी भी आशका ठीक नही है क्योकि सूर्य की गति मे भी काल का सद्भाव है । द्रव्यो की वर्त्तना मे सूर्य की गति भी कारण नही है, क्योकि सूर्य की गति मे भी भूत, वर्तमान, भविष्यत् आदि कालिक व्यवहार देखे जाते है । भूतादि व्यवहार की विषयभूत सूर्य के गमन मे रूढ क्रिया मे वर्त्तना देखी जाती है, उसका हेतु अन्य काल अवश्य होना चाहिए । अर्थात् सूर्य के गमन मे भी काल हेतु है, क्योकि सूर्य का गमन भी एक क्रिया है उसकी वर्त्तना मे भी किसी अन्य को हेतु मानना चाहिए । जो उसकी वर्त्तना मे हेतु है, वही काल है ।। ७ ।।

भाजन क समान वर्त्तना के प्रति अधिकरण का सद्भाव होने से आकाशप्रदेश वर्त्तना का निमित्त नही है । प्रश्न—आकाशप्रदेशो के निमित्त से द्रव्यो की वर्त्तना हो जाएगी अत काल नामक पदार्थ वर्त्तना का हेतु मानना समुचित नही है ? उत्तर—आकाशप्रदेशो को द्रव्यो की वर्त्तना मे कारण मानना ठीक नही है क्योकि आकाश तो भाजन (वर्त्तन) के समान वर्त्तना का

---

१ [illegible]निर्दिष्टानाम् । २ अतीतानागतवर्तमान ।

ता प्रत्यधिकरणाभावात् भाजनवत् । यथा भाजनं तण्डुलानामधिकरण न तु तदेव पचति, तेजसो हि स व्यापार·, तथा आकाशमप्यादित्यगत्यादिवर्तनायामधिकरणं न तु तदेव निर्वर्तयति । कालस्य हि स व्यापारः ।

सत्तात इति चेत्; न; तस्या अप्यनुग्रहात् । ६ । स्यान्मतम्–सन्ना नाम सर्वपदार्थाना साधारण्यस्ति तद्धेतुका वर्तनेति; तन्न; कि कारणम् ? तस्या अप्यनुग्रहात् । कालानुगृहीतवर्तना हि सत्तेति ततोऽप्यन्येन कालेन भवितव्यम् ।

द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः । १० । द्रव्यस्य चेतनस्येतरस्य वा द्रव्यार्थिकनयस्य अविवक्षातो न्यग्भूता स्वा द्रव्यजातिमजहत. पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्य बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भाव· पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकार. प्रयोगविस्रसालक्षणः परिणाम इति प्रतिपत्तव्य । तत्र प्रयोग. पुद्गलविकार·, तदनपेक्षा विक्रिया विस्रसा । तत्र परिणामो द्विविध –अनादिरादिमाश्च ।

अधिकरण है, जैसे—बर्त्तन चावलो का अधिकरण है, चावलो को वह वर्त्तन पकाता नही है, उनके पाक के लिए तो अग्नि का व्यापार चाहिए, उसी प्रकार आकाश भी सूर्य की गति आदि वर्त्तना वाले द्रव्यो का अधिकरण (आधार) तो हो सकता है, वह वर्त्तना की उत्पत्ति मे सहकारी नही हो सकता अर्थात् आकाश द्रव्यो की वर्त्तना नही करा सकता, वर्त्तना तो काल का ही व्यापार है ।। ८ ।।

सत्ता से ही वर्त्तना हो जाएगी, ऐसी आशका नही करनी चाहिए, क्योकि उसका भी अनुग्राहक होता है । **प्रश्न**—सत्ता सर्वपदार्थो मे रहती है, साधारण होती है, उसके कारण वर्त्तना होती है । **उत्तर**—सत्ता यद्यपि सर्वपदार्थो मे रहती है, साधारण है परन्तु वर्त्तना सत्ताहेतुक नही हो सकती, क्योकि वर्त्तना सत्ता का भी उपकार करती है । काल से अनुगृहीत वर्त्तना ही सत्ता कहलाती है अत: काल नामका पदार्थ सत्ता से भी पृथक् ही होना चाहिए ।। ६ ।।

द्रव्य के स्वजाति का परित्याग न करके स्वाभाविक और प्रायोगिक लक्षण विकार को परिणाम कहते है । या परिवर्तन को परिणाम कहते है । चेतन और अचेतन द्रव्यत्वजाति द्रव्य से यद्यपि भिन्न नही है तथापि द्रव्यार्थिक नय की अविवक्षा से द्रव्य अपनी स्व-जाति को नही छोड़ते हुए भी पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से किसी पर्याय से उत्पन्न होता है और किसी पूर्व पर्याय से नष्ट होता है, यही विकार है । **भावार्थ**—द्रव्य से अभिन्न भी जाति का द्रव्यार्थिक की अविवक्षा और पर्यायार्थिक की प्रधानता से उसका पृथक् व्यवहार हो जाता है । तात्पर्य यह है कि द्रव्य अपनी मौलिक सत्ता को न छोड़ते हुए पूर्व पर्याय की निवृत्तिपूर्वक जो उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती है, वही परिणाम है, वही विकार है, वही प्रयोग और विस्रस लक्षण परिणाम जानना चाहिए । प्रयोग अर्थात् पुद्गल विकार है, प्रयोग के विना जो विक्रिया होती है वह विस्रसा कहलाती है और पुरुष के प्रयोग से जो होती है वह प्रायोगिक कहलाती है । परिणाम दो प्रकार का है—एक अनादि और

अनादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादि: । आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च । तत्र चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमिकादिर्भाव. कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वात् वैस्रसिक इत्युच्यते । ज्ञानशील-भावनादिलक्षण: आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगज । अचेतनस्य च मृदादे घटसंस्थानादिपरिणाम: कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगज. । इन्द्रधनुरादि-नानापरिणामो वैस्रसिक. । तथा धर्मादेरपि परिणामो योज्य: ।

परिणामाभाव: सत्त्वासत्त्वयोर्दोषोपपत्तेरिति चेत्; न; पक्षान्तरत्वात् ।११। स्यान्मतम्—नास्ति परिणाम: । कुत ? सत्त्वासत्त्वयो दोषोपपत्ते । बीजमङ्कुरे स्याद्वा, न वा ? यदि सदङ्कुरे बीजम् अङ्कुराभावो बीजवत् । अथासत्, न बीजमङ्कुरत्वेन परिणतम् अङ्कुरे तत्स्वभावाभावात् । अत. परिणामाभाव: इति; तन्न; किं कारणम् ? पक्षान्तरत्वात् । यथा सत्पक्षदोषो नाऽसत्पक्षं स्पृशति पक्षान्तरत्वात्, असत्पक्षदोषोऽपि सत्पक्षं तत एव । तथा सदसदेकान्तपक्षदोषावप्यनेकान्तपक्ष न स्पृशत: पक्षान्तरत्वादेव, इतरथा हि पक्षसङ्करप्रसङ्ग: । उभयदोषप्रसङ्ग इति चेत्, न;

दूसरा आदिमान् । लोक की रचना सुमेरु पर्वत आदि का आकार अनादि परिणाम है तथा विस्रसा है । आदिमान् परिणाम दो प्रकार के हैं—प्रयोगजन्य और दूसरे स्वाभाविक । उसमे चैतन्य द्रव्य के जो औपशमिकादि भाव है, जो मात्र कर्मो के उपशम आदि की अपेक्षा से होते है, पुरुष प्रयत्न को जिसमे अपेक्षा नही होती है, आवश्यकता नही होती है, वे वैस्रसिक परिणाम कहलाते है । गुरु, आचार्य आदि पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होने वाले ज्ञान, शील, भावना आदि लक्षण चेतनद्रव्य के परिणाम प्रयोगज है । अचेतन मिट्टी आदि का कुम्हार आदि के प्रयोग से होने वाला घट आदि परिणमन प्रयोगज है और इन्द्रधनुष मेघादि से पुद्गल का परिणमन वैस्रसिक है । इसी प्रकार धर्मादि द्रव्यो मे समझना चाहिए । अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश आदि का जो पुरुषकृत घर आदि आकार बनता है, वह प्रयोगजन्य परिणाम है और अनादिकालीन जो पुरुषाकार है वह वैस्रसिक परिणाम है ।। १० ।।

सत्त्व और असत्त्व दोनो पक्षो मे दूषण आने से परिणाम का अभाव है, यह कथन भी उचित नही है क्योकि पक्षान्तर का सद्भाव है । प्रश्न—बीज अङ्कुर मे है या नही ? यदि है तो वह अङ्कुर नही कहा जा सकता बीज की तरह । यदि अकुर मे बीज नही है तो कहना होगा कि बीज अकुर रूप से परिणत नही हुआ है क्योकि उसमे बीज-स्वभावता नही है । इस प्रकार सत् और असत् दोनो पक्ष मे दूषण आते है, अत परिणाम (पदार्थ मे विकार) हो नही सकता ? उत्तर—परिणाम का अभाव मानना उचित नही है क्योकि पक्षान्तर अर्थात् कथञ्चित् सद्-असद्वाद मे सर्वथा असत् पक्ष के और सर्वथा सत् पक्ष के दोष नही आते । अर्थात् सत्पक्ष के दोष असत्पक्ष का स्पर्श नही करते और न असत्पक्ष मे दिये गये सत्पक्ष का स्पर्श करते हैं क्योकि सद्-असद् एकान्त पक्ष मे दोष आ सकते है, अनेकान्त पक्ष मे नही; अन्यथा पक्षसङ्करता का प्रसग आएगा । उभय पक्ष के

जात्यन्तरत्वान्नरसिंहरूपवत् । शालिबीजादिद्रव्यार्थादेशात् अङ्कुरे स्याद्बीजमस्ति। [1]यद्यन्वयोच्छेद स्यात्; फलविशेषाभाव प्रसज्येत । शालिबीजादिपर्यायार्थादेशात् स्यादङ्कुरे नास्ति बीजम् । यद्यविपरिणाम [2] [3]अन्यथावृत्तिदर्शनमयुक्त स्यात् ।

प्रतिषेधाभावाच्च । १२ । [4]इदमसि त्वं प्रष्टव्य. ? परिणाम सन्वा प्रतिषिध्येत, असन्वेति ? उभयथा च प्रतिषेधाभाव ? यदि [5]सन्, सत्त्वादेव न [6]प्रतिषिध्येत । अथ सन्नपि प्रतिषिध्येत; ननु परिणामप्रतिषेधोऽपि[7] सत्त्वात् प्रतिषिध्यत इति प्रतिषेधाभावः । तदभावादप्रतिषिद्धः[8] परिणामः । अथ प्रतिषेध' सत्त्वादप्रतिषिद्ध , ननु परिणामोऽपि सत्त्वात् अप्रतिषिद्धः । अथाऽसन् परिणाम , असत्त्वादेव खरविषाणवत् न प्रतिषिध्यते इति प्रतिषेधाभाव । अथवा, यस्य परिणामो नास्ति स वक्तृत्वेनापरिणतः

दोष का प्रसग आयेगा, यह आशका भी उचित नही है क्योकि कथञ्चित् स्याद्वाद 'नरसिंह' की तरह जात्यन्तर रूप है । अर्थात् न सर्वथा सत् रूप ही है और न सर्वथा असत् रूप ही है, जात्यन्तर (स्याद्वाद) रूप है इसलिये उभय पक्ष के दोष का प्रसग नही आता । जैसे—द्रव्यार्थिक दृष्टि से शालि बीजादि अकुर मे है । यदि शालि बीज का निरन्वय विनाश हो गया होता तो वह 'शालि का अकुर' क्यो कहलाता है ? अर्थात् फल विशेष का अभाव हो जाएगा ? शालिबीज और शालि अकुर रूप पर्यायार्थिक दृष्टि मे विचार करने पर अकुर मे बीज नही है क्योकि यदि बीज का परिणमन नही हुआ होना तो अकुर कहाँ से आता ? अत अनेकान्तवाद मे कोई दूषण नही आता ।। ११ ।।

प्रतिषेध का अभाव है । हम यह पूछते है कि जिस परिणाम का तुम निषेध करते हो वह विद्यमान है या नही ? दोनो ही पक्ष मे प्रतिषेध नही किया जा सकता क्योकि यदि परिणाम विद्यमान है, तब उसका निषेध कैसा, यदि विद्यमान का निषेध करते हो, तो परिणाम का प्रतिषेध भी विद्यमान है अत उसका भी प्रतिषेध हो जाएगा । ऐसी दशा मे परिणाम (विकार) का अस्तित्व ही सिद्ध होगा । यदि प्रतिषेध सत्त्वरूप होने से प्रतिषिद्ध नही है तो परिणाम (द्रव्य का विकार) भी सत्त्वरूप होने से प्रतिषिद्ध नही है अर्थात् सत्त्व का निषेध नही कर सकते है । यदि द्रव्य का परिणाम असत् स्वरूप (सत्स्वरूप नही) है तो खरविषाण के समान उसका निषेध नही किया जा सकता अर्थात् जो वस्तु प्रमेय ही नही है उसका निषेध कैसे किया जा सकता है । अथवा, जो परिणाम का प्रतिषेध कर रहा है (अर्थात् जिसके सिद्धान्त मे द्रव्य का परिणमन नही है) उसका 'वक्ता' के रूप मे, वचनो का 'वाचक शब्द' के रूप मे तथा अभिधेय का 'वाच्य अर्थ' के रूप मे

---

१ यद्यनन्वयोच्छे-ता , श्र , मू. । २ बीजस्य विविधपरिणामाभाव । ३ अकुररूप । ४ इदमस्ति त्व मु , द , ब । ५ प्रतिषिध्यते । ६ प्रतिषिध्यते ता , श्र मू. । ७ वागादि । ८ द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति न्यायात् ।

वाच्यस्याप्यर्थस्याभिधेयत्वेनापरिणाम· अभिधानस्य[1] च वाचकत्वेनापरिणाम इति वक्तृवाच्यवचनानामभावात् प्रतिषेधाभावः, तदभावादप्रतिषिद्ध· परिणाम· स्थितः।

अन्यानन्यत्वदोषादिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।१३। स्यान्मतम्–नास्ति परिणामः। कुतः? अन्यानन्यत्वयोर्दोषात्। बीजादङ्कुरोऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा? यदि अन्यो बीजादङ्कुरः, न तर्हि बीजपरिणामोऽङ्कुर·। अथानन्यो बीजादङ्कुर·, न तर्हि अङ्कुरोऽस्ति बीजादनन्यत्वात्। उक्तं च–

"स्याच्चेद्बीजं परिणतं नान्यो बीजाच्च सोऽङ्कुरः।
तच्च[2] नैवं यदि ह्यन्यो न [3]तत्तच्चेन्न सोऽङ्कुरः ॥"

तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–पक्षान्तरत्वात् दोषाभाव इति। स्याद्बीजादङ्कुरोऽन्य· स्यादनन्य·। यस्मात् प्रागङ्कुरोत्पादात् बीजेऽङ्कुरपर्यायो नासीत् पश्चाच्च जातः तस्मात् बीजादङ्कुर· पर्यायार्थदिशात् स्यादन्य। यस्माच्च

परिणमन भी जब नही होगा तब प्रतिषेध कैसे होगा? तात्पर्य यह है कि वक्ता, वाच्य और वचनो के अभाव मे परिणाम का प्रतिषेध (अभाव) सिद्ध नही हो सकता अर्थात् परिणाम का अस्तित्व ही सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

अन्यानन्यत्व दोष भी नही है क्योकि उसका वर्णन पूर्व मे कर चुके है। **शंका**—द्रव्य का परिणाम नही है, क्योकि इसमें अन्यानन्यत्व दोष आता है। जैसे—बीज से अङ्कुर भिन्न है, या अभिन्न? यदि बीज से अङ्कुर भिन्न है तो वह बोज का परिणाम नही कहा जा सकेगा। यदि बोज से अङ्कुर अभिन्न है (अनन्य है) तो उसे अङ्कुर नही कह सकते, क्योकि वह बीज के समान बोज से अभिन्न है, एक रूप है। कहा भी है—"यदि बीज स्वय अङ्कुर रूप परिणत हुआ है तो अङ्कुर बीज से भिन्न नही हो सकता। पर ऐसा है नही क्योकि बीज से अङ्कुर भिन्न है। यदि वीज से अङ्कुर भिन्न है अर्थात् बीज अङ्कुर रूप नही है तो उसे उस बोज का अङ्कुर नही कह सकते" इत्यादि अन्यानन्यत्वादि अनेक दूषण आते है अत. परिणाम (द्रव्यो का परिणमन-विकार) सिद्ध नही हो सकते। **उत्तर**—इस प्रकार के कथन या अन्यानन्य दोष का कथन करके परिणाम का निषेध करना ठोक नही है क्योकि हम इसका उत्तर पहले दे चुके है, पक्षान्तरत्व मानते है अर्थात् जैन सिद्धान्त मे एकान्तवाद नही है, अनेकान्तवाद है अत कथञ्चित् बीज से अङ्कुर भिन्न है और कथञ्चित् वीज से अङ्कुर अभिन्न है। क्योकि अङ्कुर की उत्पत्ति के पहले बीज मे अङ्कुर पर्याय नही थी पीछे उत्पन्न हुई है अत पर्याय की दृष्टि से अङ्कुर बीज से भिन्न है। तथा शालि बीज जाति

---

१ –नस्य वा च –ता। –नस्य च वाचकत्वापरिणा–ता। २ अङ्कुराद्भिन्न न। ३ तस्माच्चेन्न मु।

शालिबीजजातिविशिष्टोऽन्योऽङ्कुरोऽसन्,[१] तस्माच्छालिबीजजात्यात्मकद्रव्यार्थादेशात् बीजादङ्कुरः स्यादनन्यः ।

व्यवस्थिताव्यवस्थितदोषादिति चेत्; न; अनेकान्तात् ।१४। स्यान्मतम्—बीजेऽङ्कुरत्वेन परिणते अङ्कुरे बीज व्यवस्थित वा स्यात्, अव्यवस्थितं वा ? यदि व्यवस्थितम्, बीजस्य व्यवस्थानात् विरोधात् अङ्कुराभाव । अथाव्यवस्थितम्, न तर्हि बीजमङ्कुरत्वेन परिणतम् । तस्मादुभयत्र दोषान्नास्ति परिणाम इति ? तन्न, किं कारणम् ? अनेकान्तात् । यथा मनुष्यायुर्नामकर्मोदयादङ्गोपाङ्गपर्यायानास्कन्दन् निष्टप्तायःपिण्डवत् अङ्गुल्युपाङ्गपरिणामात् अङ्गुलिरात्मा, अतो वीर्यान्तरायक्षयोपशमापेक्षोऽङ्गुल्यात्मा संकोचनप्रसारणपर्यायावास्कदन् अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात् सन्, पौद्गलिकपरिवृत्तावस्थिताङ्गुल्युपाङ्गपर्यायार्थादेशाच्च[२] स्यात् सन्, अत एव स्यादनन्य. स्यादवस्थित । सकोचनप्रसारणपर्यायार्थादेशात् स्यादसन् अत एव स्यादन्यः स्यादनवस्थित । तथैकेन्द्रियवनस्पतिनामायुरुदयाविष्कृत. आत्मैव बीजपर्याय-

---

विशिष्ट ही अङ्कुर उत्पन्न हुआ है, अन्य जाति का नही है अत शालिबीजविशिष्ट द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से विचार करने पर बीज से अङ्कुर अनन्य (अभिन्न) है ।। १३ ।।

अनेकान्त पक्ष मे व्यवस्थित और अव्यवस्थित दोष भी नही आते है । प्रश्न—'बीज जब अङ्कुर रूप से परिणत हो जाता है, तब उसमे बीज व्यवस्थित है कि अव्यवस्थित ? बीज के अङ्कुर रूप परिणत हो जाने पर भी यदि उसमे बीज व्यवस्थित है तो अङ्कुर का होना विरुद्ध ही है अर्थात् बीज और अङ्कुर दोनो एक साथ नही रह सकते । यदि अङ्कुर मे बीज व्यवस्थित नही है तो कहना होगा कि बीज अङ्कुर रूप से परिणत नही हुआ है, ऐसा जानना चाहिए । अत अङ्कुर पर्याय मे बीज के रहने पर और नही रहने पर दोनो मे ही दोप आने से परिणाम (द्रव्य की परिणति) नही बन सकते ? **उत्तर**—यह आशका उचित नही है क्योकि इस सम्बन्ध मे जैन सिद्धान्त ने अनेकान्त को स्वोकार किया है । जैसे मनुष्यायु और नाम कर्म के उदय से अङ्ग-उपाङ्ग पर्याय को प्राप्त करता हुआ आत्मा सतप्त लोहे के गोले के समान अगुलि-उपाङ्ग रूप परिणमन की दृष्टि से अगुलि-आत्मा कहा जाता है । वह अङ्गुलि-आत्मा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम की अपेक्षा सकुचित और प्रसारित अवस्था को प्राप्त है, उस समय वह आत्मा अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्य की दृष्टि से 'सत्' है और पुद्गल रूप से परिणत अवस्थित अगुलि उपाङ्ग पर्याय की दृष्टि से 'सत्' है अत वह आत्मा से अभिन्न और अवस्थित है । सकोचन-प्रसारणरूप पर्यायार्थिक दृष्टि से वह अङ्गुलि असत् आत्मा से भिन्न और अनवस्थित है । उसी प्रकार एकेन्द्रिय वनस्पति नाम और आयु कर्म के उदय से आविष्कृत (प्रादुर्भूत) आत्मा ही बीज पर्याय को प्राप्त हुआ तप्तायमान लोहपिण्ड (जैसे अग्नि मे सन्तप्त

---

१. अपितु स एव सन् । २. –देशान्न स्यात् सन् मु द । –देशाच्च न स्यात्-मू , ना ।

मास्कन्दन् निष्टप्तायःपिण्डवत् बीजपरिणामात् बीजव्यपदेशभाक्। अत. किम्? अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात् सन्, पौद्गलिकशालिजात्येकेन्द्रियरूपरस-शब्दस्पर्शपर्यायार्थादेशाच्च स्यात् सन्, अत एव स्यादनन्यः स्यादवस्थितः। पौद्गलिक-शालिबीजपर्यायार्थादेशात् स्यादसन्, अत एव स्यादन्यः स्यादनवस्थितः। इत्येवमनेकान्ता-श्रयणादेकान्तपक्षदोषानुषङ्गाभावः।

वृद्धयभावप्रसङ्ग इति चेत्; न; अन्यहेतुत्वात्।१५। स्यादेतत्–नास्ति परिणामः। कुत? वृद्धयभावप्रसङ्गात्। यदि बीजमङ्कुरत्वेन परिणमेत; बीजमात्र एवाङ्कुर. स्यात् पयःपरिणामदधिवत्, ततो वृद्धयभाव। उक्त च–

"[1]किञ्चान्यद्यदि तद्बीजं गच्छेदङ्कुरतामिह।
[2]विवृद्धिरङ्कुरस्य स्यात् कथं बीजादपुष्कलात्॥"

[3]भौमौदकरससंबन्धाद्वृद्धिरिति चेत्, न; बीजपरिणामाभावप्रसङ्गात्। उक्त च–

लोहा अग्निरूप हो जाता है उसी के समान) के समान बीज रूप परिणमन होने से "बीज" इस नाम का भागी बनता है। अतः वह आत्मा अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्य की दृष्टि से 'सत्' है और पौद्गलिक शालिजातीय एकेन्द्रिय रूप रस स्पर्श शब्दादि पर्याय की दृष्टि से भी 'सत्' है, अभिन्न है और अवस्थित है तथा पौद्गलिक शालिबीज रूप पर्याय की दृष्टि से वह असत्, भिन्न और अनवस्थित है। अत. इस प्रकार अनेकान्तवाद का आश्रय लेने पर एकान्त पक्ष मे दिये गये दोषो का प्रसग नही आता है अर्थात् जो सर्वथा एकान्त मानते है, उनके ही ये दोप आते है॥ १४॥

अन्य हेतुत्व होने से वृद्धि के अभाव का प्रसग भी नही आता। **प्रश्न**—द्रव्य का परिणाम (द्रव्य का परिणति रूप विकार) नही हो सकता क्योकि द्रव्य का परिणमन होने पर वृद्धि के अभाव का प्रसग आता है। क्योकि यदि बीज अङ्कुर रूप से परिणत होता है तो दूध के परिणाम दही की तरह अङ्कुर को बीज मात्र ही होना चाहिए, बडा नही। कहा भी है कि यदि बीज ही अङ्कुर रूप परिणत होता है तो छोटे बीज से बडा अङ्कुर कैसे हो सकता है? यदि पार्थिव और जलीय रस के सम्बन्ध मे अङ्कुर बीज से बडा होता है या अङ्कुर वृद्धि होती है, ऐसा मानते हो तो कहना होगा कि बीज का परिणमन अङ्कुर नही है (अपितु जल और पृथ्वी के रस से अङ्कुर उत्पन्न हुआ है)। कहा भी है—"यदि यह इष्ट है कि अङ्कुर पार्थिव और जलीय रस से बढता है तो फिर उसे बीज का परिणाम नही कहना होगा।" पार्थिव, जलीय तथा अन्य द्रव्यो के सचय से अङ्कुर की वृद्धि की कल्पना करना भी उचित नही है क्योकि द्रव्यान्तर के सयोग से वृद्धि का अभाव है। लाख के सयोग से जैसे लकड़ी मे वृद्धि नही होती, उसी तरह रसादि के सचय से वृद्धि नही होती। यदि पार्थिव,

---

१. दूषणान्तरमप्यस्ति। २. विशिष्टा वृद्धि। ३ बीजमात्रमङ्कुरो भवतु वृद्धिस्तु।

"अथेष्टं तै-र्रसै-भौमैरौदकैश्च विवर्धते ।
नन्वेवं सति बीजस्य परिणामो न युज्यते ।।"

भौमौदकरसद्रव्यान्तरसचयात् वृद्धिरिति चेत्; न; द्रव्यान्तरसयोगेऽपि वृद्ध्यभावात् । यदि भौमौदकरसद्रव्यान्तराणि सयोगवृद्धया वर्तन्ते; ननु वृद्धयभाव. जतुसयोगे काष्ठ-वृद्धयभाववत् । उक्त च–

"आलिप्तं जतुना काष्ठं यथा स्थूलत्वमृच्छति ।
[1]ननु काष्ठं तथैवास्ते जतु चात्र विवर्धते ।।
तथैव यदि तद्बीजमास्ते येनात्मना स्थितम् ।
रसाश्च वृद्धि कुर्वन्ति बीजं तत्र करोति किम् ।।" इति

तन्न, कि कारणम् ? अन्यहेतुत्वात् । 'बीजमात्र. अङ्कुरो भवेत्' इति ब्रुवता त्वयैवाभ्युपगत परिणामः । यस्तु भवता दोष उपन्यस्त वृद्धयभावप्रसङ्ग इति, नासौ युक्त ; कुत ? अन्यहेतुत्वात् । यथा मनुष्यायुर्नामोदयाभ्या जातो बाल बाह्यसावित्र-किरणादिसबन्धापेक्षस्तन्यनवनीताद्याहारमनुभवन् अभ्यन्तरवीर्यान्तरायक्षयोपशमावि-र्भाविताहारजरणसामर्थ्यकायाग्नि[2] बलोपेत. उपयुक्ताहाररसादिपरिणामान्निर्माणनाम-

---

जलीय आदि द्रव्यान्तरो के सयोग से वृद्धि होती है तो जतु-सयोग से काष्ठ आदि की वृद्धि भी होनी चाहिए परन्तु जनु के सयोग से काठ की वृद्धि नही होती अत. द्रव्य के सयोग से अङ्कुर की वृद्धि नही होती । कहा भी है—जैसे लाख से लपेटने पर काठ मोटा तो हो जाता है पर बढता नही, लाख ही बढती है, उसी तरह यदि बीज जैसा का तैसा रहता है और रस बढते है तो फिर बीज क्या करता है ? ऐसा कहना उपयुक्त नही है, क्योकि इसमे अन्य ही हेतु है । क्योकि 'बीज मात्र अङ्कुर होगा' यह कहकर परिणाम तो आपने स्वीकार कर ही लिया है । जो आपने वृद्धि का अभाव कहा है, वह दोष जैन सिद्धान्त मे लागू नही पडता क्योकि इसमे हेतु दूसरा है । जैसे मनुष्यायु और नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ बालक बाह्य सूर्य की किरण, माता के दूध आदि का अनुभवन करता हुआ (भोगता हुआ) और अन्तरग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आहार को पचाने का सामर्थ्य शारीरिक अग्नि के बल से युक्त उपयुक्त आहार रस आदि परिणाम से परिणमन करता हुआ नाम-कर्म के उदय आदि की अपेक्षा बढता है । अर्थात् बाह्य सूर्य का प्रकाश, माँ का दूध आदि अपनी भीतरी पाचनशक्ति से पचाता हुआ आहार आदि के द्वारा क्रमश· वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार वनस्पति विशेष आयु और नाम कर्म के उदय की अपेक्षा बीजाश्रित जीव अङ्कुर रूप से उत्पन्न होकर पार्थिव और जलीय रस भाग को लोहे के गर्म गोले के समान आत्मसात् करता हुआ बाह्य सूर्य

---

१. तनु-मु । २ बलापेक्ष मु द ब ।

कर्मोदयापेक्षो वर्धते, तथा वनस्पतिविशेषायुर्नामोदयापेक्षो बीजाधिष्ठानो जीवोऽङ्कुरो जातः भौमौदकरसाहार तप्तायःपिण्डवत् आत्मसात्कुर्वन् बाह्यसावित्रकिरणसतापाभ्यन्तर-वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भाविताङ्कुरकायाग्निबलात् भौमौदकरसान् जरयन् स्वानुरूप-निर्माणकर्मोदयापेक्षो वर्धते। अय तु वृद्ध्यभावदोष एकान्तवादिनामेव भवति। नित्यत्वैकान्ते [1]तावद्विपरिणामाभावात् वृद्ध्यभाव । क्षणिकैकान्तवादेऽपि [2]प्रतीत्य-समुत्पादाभ्युपगमात् तावतोऽधिगमे तावत एवोपगमाद् वृद्ध्यभावः। किञ्च सर्वेषा क्षणिकत्वात् अङ्कुरस्य तत्कारणाभिमतानां च भौमौदकरसादीनां युगपद्वा विनाश. स्यात्, पौर्वापर्येण वा ? यदि युगपत्, नास्ति तत्कृता वृद्धि । न हि वृद्धिहेतवो विनश्यन्तोऽन्यस्य विनश्यतोऽर्थस्य वृद्धि कुर्वन्तो दृष्टा । अथ पौर्वापर्येण; विनष्टस्याङ्कुरस्य भौमादय कि कुर्वन्ति, विनष्टा वा कि कुर्यु ? अनेकान्तवादिना तु अङ्कुरो भौमादयश्च द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नित्या. पर्यायार्थादेशाच्च स्यात्क्षणिका इति वृद्ध्युपपत्ति.।

[3]क्षणिकत्वे प्रबन्धभेदाभ्युपगमात् वृद्धिरिति चेत्; न; तदभावात् ।१६।

को किरणों का सताप और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न पाचनशक्ति के अनुसार पार्थिव और जलीय रस को जीर्ण करता हुआ अपने अनुरूप निर्माण नाम कर्म के उदय की अपेक्षा बढता है। अत वृद्धि बीजाश्रित नही है किन्तु अन्य कारणा के आधीन है। यह वृद्धि के अभाव का दोष तो एकान्तवादियो के ही हो सकता है, जो वस्तु को सर्वथा नित्य मानते है उनके यहाँ तो परिणमन हो नही होता, वृद्धि कहाँ से होगी ? क्षणिक एकान्तवाद मे भी प्रतीत्य समुत्पाद को स्वीकार करने से उसकी प्रक्रिया मे जितना कारण होगा, उतना कार्य होगा अतः उनके भी वृद्धि नही होगी। किंच, सर्व के क्षणिक होने से अङ्कुर का और उसके अभिमत कारण भौम रस, उदकरस आदि का युगपत् विनाश होगा या पौर्वापर्य (क्रम) से यदि कार्य और कारणो का युगपत् नाश होता है, तो उनके द्वारा वृद्धि क्या होगी ? क्योकि वृद्धि के कारण जब स्वय नष्ट हो रहे है तब वे अन्य विनश्यमान् पदार्थ की क्या वृद्धि करेगे ? अर्थात् विनश्यमान् पदार्थ अन्य विनश्यमान् पदार्थ की वृद्धि करते हुए लोक मे देखे नही जाते। यदि कार्य-कारण क्रमश नष्ट होते है तब भी नष्ट अङ्कुर का भौमरस, उदकरस आदि क्या करते है ? अथवा विनष्ट रसादि अङ्कुर का क्या कर सकेगे ? अनेकान्तवाद मे तो अङ्कुर या भोमरसादि सभी पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य है और पर्यायार्थिक दृष्टि से सभी क्षणिक है, अत. वृद्धि हो सकती है ।। १५ ।।

क्षणिकवाद मे भी प्रबन्ध का भेद स्वीकार करने से वृद्धि हो जाएगी, यह स्थापना भी

---

१. तावत्परिणा-श्र । २ रसादिकमालक्ष्य । ३. अथ नित्यत्वैकान्तवादिमतनिरासपुरस्सरमालम्बनस्य बौद्धस्य पुनरपि दोप प्रतिपादयन्नाह ।

स्यान्मतम्—भावाना क्षणिकत्वेऽपि वृद्धिर्युज्यते। कुत.? प्रबन्धभेदाभ्युपगमात्। त्रिविधो हि प्रबन्ध—सभागरूप, क्रमापेक्ष., अनियतश्चेति। तत्र प्रदीपात् १प्रदीप एक: प्रबध्यते स्रोतस स्रोत एवेति (इवेति), सादृश्यात् सभागरूप. प्रबन्ध.। स (स्व) सन्ततिपरिणामक्रमोपलम्भात् बालकुमारबीजाङ्कुराद्यविच्छेद क्रमापेक्ष। २कृकलासानेक-वर्णप्रबन्धानियमो मेघेन्द्रधनुरादिष्वनियत:। ततोऽस्ति वृद्धिरिति; तन्न; किं; कारणम्? तदभावात्। इदमिह संप्रधार्यम्—सतोर्वा प्रबन्ध. स्यात्, सदसतो, असतोर्वा? न तावदसतो. प्रबन्ध. वन्ध्यासुताकाशकुसुमयो:। नापि सदसतो. खरखरविषाणयो। परिशेषात् सतोरेव। क्षणिकवादे तु पूर्वोत्तरस्कन्धयोर्नैकस्मिन् क्षणेऽस्तित्वमिति प्रबन्धाभाव.। अस्तित्वे च क्षणिकप्रतिज्ञाहानि। आह—क्षणिकत्वेऽपि तुलान्तनामोन्नामवत् युगपदुत्पादविनाशभावात् अर्थप्रबन्ध इत्यस्ति वृद्धिरिति; उच्यते—यदि युगपदुत्पाद-विनाशयो. वृत्ति.; कार्यकारणभावाभाव. सव्येतरगोविषाणवत्।

उचित नही है क्योकि क्षणिक मे वृद्धि का अभाव है। शका—पदार्थो के क्षणिकत्व मे भी वृद्धि हो सकती है क्योकि प्रबन्ध के भेदो को स्वीकार किया है। वह प्रबन्ध तीन प्रकार का है—सभाग रूप, क्रमापेक्ष और अनियत। प्रदीप से प्रदीप की सन्तान परम्परा चलना एक प्रवन्ध है। यह प्रवाह से प्रवाह के समान सादृश्य होने से सभागरूप प्रबन्ध कहलाता है। अपने सन्तति-परिणाम-क्रम से उपलब्ध होने वाला दूसरा प्रबन्ध है। जैसे—बालक, कुमार आदि बीज, अकुर आदि अवस्थाओ का अविच्छेद होना क्रमापेक्ष प्रबन्ध है। अर्थात् बालक से युवा, वृद्ध, बीज से अकुर आदि अवस्था क्रम से होती है, अत यह क्रमापेक्ष प्रबन्ध है। गिरगिट (सरट) के अनेक वर्णो का परिवर्तन तथा मेघ, इन्द्रधनुष आदि की रचना अनियत प्रबन्ध है क्योकि इनमे किस समय कौनसे वर्ण (रग) का परिवर्तन होगा, यह नियत नही है। इन तीन प्रकार के प्रबन्ध से वृद्धि होती है। **उत्तर**—प्रबन्ध से वृद्धि कहना उपयुक्त नही है। क्योकि प्रबन्ध से वृद्धि का अभाव है। इस प्रबन्ध मे एक विचारणीय बात है कि प्रबन्ध सत्रूप (विद्यमान) दो पदार्थो का होता है या असत्रूप (अविद्यमान) दो पदार्थो का होता है कि एक सत् और एक असत् का? दो अविद्यमान पदार्थो का तो बन्ध्या के पुत्र और आकाश के पुष्प के समान प्रबन्ध हो नही सकता। इसी प्रकार खर और खरविषाण के समान एक विद्यमान और एक अविद्यमान का प्रबन्ध नही हो सकेगा और न असत् का प्रबन्ध होगा। परिशेष न्याय से (अन्त मे) सत् (विद्यमान) पदार्थ का ही प्रबन्ध होता है। परन्तु क्षणिकवाद (बौद्धमत) मे पूर्व और उत्तर स्कन्ध की एक क्षण मे सत्ता तो हो ही नही सकती अत: प्रबन्ध कैसा? यदि पूर्व और उत्तर स्कन्ध की एक समय मे सत्ता मानते हो तो क्षणिकवाद का लोप हो जाएगा। **प्रश्न**—क्षणिकत्व पक्ष मे भी तराजू के पलडो मे एक का ऊपर उठना और दूसरे का नीचे झुकना जैसे एक साथ होता है, उसी प्रकार एक साथ उत्पाद और विनाश हो जाता है, अत. वृद्धि अर्थप्रबन्ध से होती है। **उत्तर**—यह पक्ष भी ठीक नही है क्योकि यदि युगपत्,

---

१ प्रदीपकश्च प्रबुध्य-मु व। प्रदीपक प्रबुध्य ता, द। २ सरट कृकलास स्यात्।

[1]**ध्रौव्यैकान्ते परिणामाभावोऽनेकदोषप्रसङ्गात् । १७ ।** ध्रौव्यैकान्ते य उक्तः परिणामः **"व्यवस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरोपजनने च परिणामः ।" [योगभा. ३/१३]** अवस्थितस्य हि ध्रौव्यादिलक्षणस्य द्रव्यस्य क्षीरधर्ममात्रनिवृत्तौ दधिधर्ममात्रोत्पत्तौ परिणाम इति; स नोपपद्यते; कुतः ? अनेकदोषप्रसङ्गात् । न हि तस्य[2] [3]द्रव्यमवस्थितमस्ति[4] यस्य परिणामो भवेत् । अथास्ति समुदायव्यतिरिक्तं द्रव्यम्; ननु गुणसमुदायमात्रद्रव्यप्रतिज्ञाहानिः । किञ्च,

उभयदोषप्रसङ्गात् । १८ । इदमिह मीमास्यम्–यन्निवर्तते यच्चोत्पद्यते यच्च व्यवतिष्ठते तदेतत् त्रितय गुणसमुदायमात्रं वा स्यात्, ततोऽन्यद्वेति ? यदि गुणसमुदायमात्रम्; ननु स एवासौ प्राक् पश्चाच्च गुणसमुदाय· कोऽत्र कस्य वा परिणामः ? अन्येन नाम निवृत्तेन अन्येनावस्थितेनाऽन्येन चोत्पन्नेन भवितव्यमिति न्याय्यम् । अथान्यदिति गृह्यते; एवमपि गुणसमुदायमात्रद्रव्यप्रतिज्ञाहानि·[5] । किञ्च, ध्रौव्यैकान्तविरोधः, एकश्चेद्धर्मो निवर्तते एकश्चेदुत्पद्यते अनित्यताप्राप्तेरिति ।

उत्पाद और विनाश माना जाता है तो दाये और बाये सीग के समान परस्पर कार्य-कारणभाव नही हो सकेगा ।। १६ ।।

ध्रौव्य एकान्त मे परिणमन का अभाव है अत. अनेक दोषो का प्रसग आता है। ध्रौव्य एकान्त मे जो परिणाम कहा है कि 'अवस्थित द्रव्य के एक धर्म की निवृत्ति होने पर अन्य धर्म की उत्पत्ति होना परिणाम है' अवस्थित ध्रौव्यादि लक्षण वाले द्रव्य के क्षीर धर्म की निवृत्तिपूर्वक दधि धर्म मात्र की उत्पत्ति हो परिणाम कहा जाता है। यह परिणाम का लक्षण भी उचित नही है। इसमे अनेक दोषो का प्रसग आता है क्योकि जिस (बौद्ध) के द्रव्य अवस्थित नही है उसके परिणाम कैसे हो सकते है ? यदि गुणसमुदाय से भिन्न कोई द्रव्य स्थिर रहना है तो 'गुणसमुदाय मात्र द्रव्य' इस प्रतिज्ञा को हानि हो जातो है अर्थात् गुणसमुदाय हो द्रव्य है, इस कथन का खण्डन हो जाता है ।।१७।।

इसमें उभय दोष का प्रसग आता है। यहाँ यह विचारणीय विषय है कि जो नष्ट होता है, जो उत्पन्न होता है तथा जो स्थिर रहता है ये तीनो गुणसमुदाय रूप है या गुणसमुदाय मात्र से कोई भिन्न वस्तु है ? यदि तीनो अवस्था मे गुणसमुदाय मात्र ही है तो जब वही गुण समुदाय पूर्व मे था, वही गुणसमुदाय पश्चात् है तो इनमे कौन किसका परिणाम होगा ? निवृत्त होने वाला, उत्पन्न होने वाला और स्थिर रहने वाला तो भिन्न ही होना चाहिए, यह न्याय है। निवृत्त होने वाला, उत्पन्न होने वाला और स्थिर रहने वाला यदि भिन्न है तो गुणसमुदाय मात्र ही द्रव्य है, इस प्रतिज्ञा की हानि होती है। अथवा एक धर्म नष्ट होता है तथा अन्य धर्म उत्पन्न होता है तो फिर नित्यैकान्त पक्ष समाप्न हो जाता है और अनित्यता की प्राप्ति होती है।

---

१ नित्यैकान्ते। २ बौद्धादे.। ३ तत्। ४ क्षणिकत्वात्। ५. अनेन सहभाविद्रव्यनिराकरण कृतम्।

किञ्च, समुदाय गुणेभ्योऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा ? यद्यनन्य , गुणा एवेति समुदायकल्पनाव्याघात., तदभावाच्च तदविनाभाविना गुणानामप्यभाव । अथान्य: समुदाय , पुनरत्र प्रतिज्ञाविरोध. परस्पराविनाभाविनो. स्वरूपशून्यत्व च स्यात्, कुत: परिणामकल्पना ?

यच्चोक्तम्—पूर्वभावस्यान्यभावाप्ति: परिणाम इति तदयुक्तम्, कस्मात् ? उभयदोषप्रसङ्गात् । शब्दादीना[1] सुखादिसमन्वयभावानुपपत्ति शब्दादिभावनिवृत्तिर्वेति । यदि पूर्वभावस्य अन्यभावापत्ति परिणाम.; सुखदु खमोहाना शब्दादिभावापत्ते· शब्दादिषु[2] सुखादिसमन्वयभावानुपपत्ति· । कि कारणम् ? पूर्वभावस्यान्यभावापत्ति: परिणाम· इति प्रतिज्ञानात् । अथ पूर्वभावस्य नान्यभावापत्ति सुखादिसमन्वयात्, कथ तर्हि पूर्वभावस्यान्यभावापत्ति परिणाम: ? तथैव सुखाद्यवस्थानात् शब्दादिभावानुपपत्ति: प्रसजति, सा चानिष्टा, तस्मान्न पूर्वभावस्यान्यभावापत्ति परिणाम ।

किञ्च, अभावस्यापरिणामात् । [3]यद्येनात्मना[4] नास्ति न तस्य तद्भावापत्ति·

अथवा, समुदाय गुणो से भिन्न है या अभिन्न ? यदि समुदाय गुणो से अभिन्न है तो गुण मात्र ही द्रव्य रह जायेंगे और समुदाय कल्पना का व्याघात हो जायेगा। समुदाय कल्पना का व्याघात (अभाव) होने से समुदाय के अविनाभावी गुणो का भी अभाव हो जाएगा। यदि समुदाय को गुणो से भिन्न माना जाएगा तो 'गुण समुदाय मात्रद्रव्य है' इस प्रतिज्ञा का विरोध होगा तथा परस्पर अविनाभावी गुण और समुदाय दोनो का अभाव हो जाएगा तथा गुण समुदाय का अभाव हो जाने से स्वरूप शून्यता होती है, पुन. परिणाम कल्पना कैसे हो सकती है ?

जो वादी ने यह कहा था कि पूर्वभाव की अन्यभाव रूप प्राप्ति परिणाम है यह भी कथन ठीक नही है इसमे उभय दोष का प्रसग आता है । क्योकि यदि पूर्व भाव के अन्य भाव रूप होने को परिणाम कहते है तो शब्दादि का सुख-दु ख के साथ समन्वयभाव नही रहेगा या शब्दादि भाव की निवृत्ति हो जाएगी । अर्थात् सुख-दु ख और मोह शब्दादि या घटादि रूप हो जाएगे, ऐसी हालत मे शब्दादि के घटादि मे सुखादि के समन्वय की बात नही रहती, क्योकि पूर्व का अन्यभाव रूप होना यह तुम्हारी प्रतिज्ञा है । यदि सुखादि के साथ समन्वय होने से पूर्वभाव को अन्यभाव रूप नही माना जाता है तो 'पूर्वभाव का अन्य भाव रूप होना परिणाम है' परिणाम का यह लक्षण कैसे बनेगा ? अर्थात् नही बन सकता । उसी प्रकार सुखादि का अवस्थान होने से शब्दादि भाव नही रह सकते और सुख के समय सुखोत्पादक शब्दो का नही रहना तो अनिष्ट है अत पूर्वभाव का सर्वथा अन्यरूप परिणमन हो जाने का नाम परिणाम नही है ।

अथवा, अभाव का परिणमन ही नही हो सकता क्योकि जो जिस रूप मे नहीं है, उसमे वह

१ तदेवाह । २ उत्तरभावेषु । ३ रूपादि । ४. स्वरूपेण ।

विद्यते । यथा अभावस्य भावात्मनाऽभावान्न [1]तद्भावापत्तिः, एव गुणाना स्थूलत्वेन अभावात् तद्भावापत्तिरयुक्ता । अथास्ति [2]तद्भाव ; ततः परिणामानुपपत्तिः तद्भावात् । येनात्मना यद्विद्यते तस्य न पुनस्तद्भावापत्तिः । नह्यभाव अभावात्मकत्वात् पुनरभावो भवति एवमेकान्ते कारणस्योभयथा परिणामानुपपत्ते· अनेकान्त आश्रयणीयः पर्यायार्थादेशात् स्यादन्यभावापत्ति , द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नान्यभावापत्तिः परिणाम इति । तथा द्रव्यार्थादेशात् स्यादवस्थितस्य द्रव्यस्य परिणामः, पर्यायार्थादेशात् स्यादनवस्थित-स्येति । अथ का क्रियेति ? अत्रोच्यते–

क्रिया परिस्पन्दात्मिका द्विविधा । १६ । द्रव्यस्य द्वितयनिमित्तवशात् उत्पद्यमाना परिस्पन्दात्मिका क्रियेत्यवसीयते । सा द्विविधा पूर्ववत् प्रयोगविस्रसानिमित्ता । प्रायोगिकी शकटादीनाम् । विस्रसानिमित्ता मेघादीनाम् ।

रूप आ नही सकता । यह साधारण नियम है, जैसे कि अभाव भावरूप नही है तो उसमे भावरूपता नही आ सकती; उसी प्रकार गुणो मे यदि स्थूलरूपता नही है तो उसमे स्थूलरूपता नही आ सकती अर्थात् जो जेसा है वैसा ही रहता है, पर-रूप नही हो सकता । यदि गुणो मे तद्भाव (स्थूलरूपता) है तो वह उसी रूप होने से उसमे परिणमन कैसा अर्थात् परिणमन नही हो सकता, क्योकि जिसमे जो रूप विद्यमान है, उसमे फिर से वह रूप तो हो नही सकता, क्योकि जो अभावात्मक है उसका पुन. अभाव नही हो सकता, अर्थात् जो अभाव अभावात्मक है तो वह फिर से अभावात्मक क्या होगा ? अत एकान्तवाद मे दोनो प्रकार से परिणाम बन नही पाता अतः अनेकान्तवाद को स्वीकार करना चाहिए । अनेकान्तवाद मे पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अन्यभावरूप परिणमन हो सकता है और द्रव्यार्थिक दृष्टि से द्रव्य स्थिर रहता है । अर्थात् जैसे मनुष्य पर्याय से अन्यभावरूप नारकी पर्याय है, दूध से अन्यथा परिणमन दही है, क्योकि मनुष्य पर्याय से नारकी पर्याय भिन्न है और दूध से दही भिन्न है परन्तु आत्मद्रव्य रूप दृष्टि से विचार करते है तो जो आत्मा मनुष्य पर्याय मे थी, वही आत्मा नारकी हुई है, गोरस दृष्टि के विचार से दूध मे भी गोरस था और दही मे भी है अतः अनेकान्त मे कोई दोष नही है । **प्रश्न**—क्रिया किसको कहते है ।। १८ ।।

उत्तर—परिस्पन्दात्मक क्रिया है, वह दो प्रकार की है । बाह्य और आभ्यन्तर कारणो के निमित्तो से होने वाला परिस्पन्दात्मक परिणमन क्रिया है । पूर्व के समान वह क्रिया प्रायोगिक और वैस्रसिक (स्वाभाविक) के भेद से दो प्रकार की है, बैलगाड़ी आदि मे प्रायोगिकी और मेघ आदि की क्रिया स्वाभाविकी होती है ।। १६ ।।

---

१. तस्याभावापत्ति -मु , द , ब । २ स्थूलत्व ।

स्थितिग्रहणमिति चेत्; न; परिणामावरोधात् ।२०। स्यादेतत्–यदि परिस्पन्दात्मिका क्रिया इत्युच्यते स्थितेर्ग्रहणं प्राप्नोति । गतिनिवृत्तिर्हि स्थितिरिति, तन्न; कि कारणम् ? परिणामावरोधात् । स्थितिर्हि परिणामेऽन्तर्भवति ।

परिणामग्रहण[1]मेवास्तु इति चेत्; न; भावद्वैविध्यख्यापनार्थत्वात् ।२१। स्यान्मतम्–यथा स्थिति परिणामेऽन्तर्भवति तथा क्रियापि तत्रैवावरुध्यते इति परिणामग्रहणमेवैकमस्तु इति; तन्न, कि कारणम् ? भावद्वैविध्यख्यापनार्थत्वात् । द्रव्यस्य हि भावो द्विविध.–परिस्पन्दात्मक., अपरिस्पन्दात्मकश्च । तत्र परिस्पन्दात्मक क्रियेत्याख्यायते, इतर· परिणाम , इत्येतत् ख्यापनार्थ पृथग्ग्रहणम् ।

क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्तात् परत्वापरत्वानवधारणमिति चेत्; न; कालोपकारप्रकरणात् ।२२। स्यान्मतम्–क्षेत्रप्रशसाकालनिमित्ते परत्वापरत्वे । तत्र क्षेत्रनिमित्ते[2]

परिणाम का अवरोध होने से स्थितिग्रहण नही करना चाहिए । प्रश्न—यदि परिस्पन्दात्मक क्रिया कही जाती है तो स्थिति के ग्रहण का भी प्रसग आयेगा क्योकि गति की निर्वृत्ति ही स्थिति है । अत स्थिति भी क्रिया हो जायेगी । उत्तर—स्थिति को क्रिया कहना उचित नही है क्योकि स्थिति परिणाम का अवरोध है, अत स्थिति का परिणाम मे अन्तर्भाव हो जाता है ।। २० ।।

परिणाम ही ग्रहण करना चाहिये, यह आशका भी उचित नही है क्योकि परिस्पन्द और अपरिस्पन्द दोनो भावो को बताने के लिए, इसका पृथक् ग्रहण किया गया है । प्रश्न—जैसे स्थिति-ठहरने रूप क्रिया का परिणाम मे अन्तर्भाव हो जाता है वैसे ही क्रिया का परिणाम मे ही अन्तर्भाव हो सकता है अतः ऐसी स्थिति मे केवल परिणाम का ही निर्देश करना चाहिए ? उत्तर—केवल परिणाम कहना उपयुक्त नही है क्योकि भावो के द्वैविध्य का ख्यापन करने के लिए क्रिया का पृथक् निर्देश किया है । द्रव्य के दो प्रकार होते है—परिस्पन्दात्मक और अपरिस्पन्दात्मक । उसमे परिस्पन्दात्मक भाव को क्रिया कहते है, अर्थात् क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होना परिस्पन्दात्मक क्रिया है । जो द्रव्यो मे परिणमन होता है, प्रतिक्षण उत्पाद व्यय होता है, वह अपरिस्पन्दात्मक क्रिया है । इसमे परिस्पन्दात्मक को क्रिया कहते है और अपरिस्पन्दात्मक को भाव या परिणाम कहते है । इन दोनो भावो मे काल निमित्त है । इस बात की सूचना के लिए क्रिया का पृथक् ग्रहण करना आवश्यक है ।। २१ ।।

क्षेत्र, प्रशसा और काल निमित्तक परत्वापरत्व होने से 'यह परत्वापरत्व कालकृत ही है' यह अवधारणा (निश्चय) नही हो सकेगी, ऐसी आशका भी उपयुक्त नही है क्योकि यहाँ काल का प्रकरण होने से कालकृत का ग्रहण होता है । प्रश्न—क्षेत्रकृत, कालकृत, प्रशसाकृत आदि के भेद

---

१ –णमेकमेवास्ति-मु , द., व । २ –त्ते परत्वापरत्वे ताव-मु , ता ।

तावदाकाशप्रदेशाल्पबहुत्वापेक्षे। एकस्या दिशि बहूनाकाशप्रदेशानतीत्य स्थितः परः, ततः अल्पानतीत्य स्थितोऽपरः। प्रशंसाकृते अहिंसादिप्रशस्तगुणयोगात् परो धर्म, तद्विपरीतोऽधर्मोऽपरः इति। कालहेतुके शतवर्षः परः, षोडशवर्षोऽपर इति। अतोऽर्थभेदात् परत्वापरत्वयोरनवधारणमिति,[१] तन्न, किं कारणम्? कालोपकार-प्रकरणात् कालकृतेऽत्र परत्वापरत्वे गृह्येते, दूरासन्नदेशावस्थायिनोः कुमारस्थविरयोः, तपस्विचाण्डालयोः सन्निकृष्टदेशे [२]चाण्डाले पर इति व्यवहारो दृश्यते, विप्रकृष्टे च [३]तपस्विनि अपर इति। ते एते परत्वापरत्वे कालकृते इह[४] गृह्येते।

वर्तनाद्युपकारलिङ्गः कालः। २३। उक्ता वर्तनादयः उपकारा यस्यार्थस्य [५]लिङ्गं स काल इत्यनुमीयते। तथा चोक्तम्—**"येन मूर्तानामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते स कालः"** इति।

वर्तनाग्रहणमेवास्त्विति चेत्; न; कालद्वैविध्यप्रदर्शनार्थत्वात् प्रपञ्चस्य। २४।

से 'परत्वापरत्व' बहुत प्रकार का है। जैसे—क्षेत्रकृत आकाशप्रदेश के अल्पबहुत्व की अपेक्षा मे दूरवर्ती 'पर' और समीपवर्ती 'अपर' कहा जाता है। अर्थात् एक दिशा मे बहुत से प्रदेशो का उल्लघन करके स्थित 'पर' और अल्पप्रदेशो का उल्लघन करके स्थित 'अपर' कहलाता है। प्रशसाकृत परत्वापरत्व मे अहिसा आदि प्रशस्त गुणो के कारण धर्म 'पर' कहलाता है और उससे विपरीत हिसा आदि अप्रशस्त कारणो के कारण अधर्म 'अपर' कहलाता है। कालकृत परत्वापरत्व मे सौ वर्ष वाला वृद्ध 'पर' और सोलह वर्ष का कुमार 'अपर' कहलाता है। अत. क्षेत्रकृत, गुणकृत और कालकृत परत्वापरत्व मे यहाँ कौनसा परत्वापरत्व है, इसकी अवधारणा नही हो सकती। **उत्तर**—क्षेत्रकृत, गुणकृत और कालकृत परत्वापरत्व मे यहाँ काल के उपकार का प्रकरण होने से कालकृत परत्वापरत्व ग्रहण करना चाहिए। दूरदेशवर्ती कुमार और तपस्वी की अपेक्षा समीपवर्ती तपस्वी एव चाण्डाल मे काल की अपेक्षा 'पर' व्यवहार देखा जाता है और विप्रकृष्ट दूरदेशवर्ती तपस्वी मे 'अपर' व्यवहार देखा जाता है। यहाँ ये कालकृत परत्वापरत्व ग्रहण करने चाहिए ॥ २२ ॥

वर्त्तनादि उपकार भी काल का चिह्न है। उपर्युक्त वर्त्तनादि उपकार जिस द्रव्य का लक्षण है, वह काल है। अर्थात् वर्त्तना, परिणाम, क्रिया आदि उपकार रूप लिंगो के द्वारा कालद्रव्य का अनुमान लगाया जाता है। कहा भी है—'जिससे मूर्त्त द्रव्यो का उपचय और अपचय लक्षित होता है वह कालद्रव्य है' ॥ २३ ॥

वर्त्तना के ग्रहणमात्र से काल का अस्तित्व जाना जाता है, यह कहना उचित नही है, काल

---

१ सूत्रे इदमेवेत्यनिश्चय। २ स्थविरचाण्डाले। ३. कुमारे। ४. वर्तनादिसूत्रे। ५ ज्ञापकम्।

स्यान्मतम्– वर्तनाग्रहणमेवास्तु कालास्तित्वख्यापनं तद्विकल्पत्वात् परिणामादीनामिति, तन्न; किं कारणम् ? कालद्वैविध्यप्रदर्शनार्थत्वात् प्रपञ्चस्य। द्विविध. काल.– परमार्थकाल: व्यवहाररूपश्चेति। तत्र परमार्थकाल वर्तनालिङ्ग: गत्यादीना धर्मादिवत् वर्तनाया उपकारक:। स किंस्वरूप इति चेत् ? उच्यते–यावन्तो लोकाकाशे प्रदेशास्तावन्त: कालाणव परस्पर प्रत्यबन्धा. एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकव्यापिन. मुख्योपचारप्रदेशकल्पनाऽभावान्निरवयवा। मुख्यप्रदेशकल्पना हि धर्माधर्म-जीवाकाशेषु पुद्गलेषु च द्व्यणुकादिषु स्कन्धेषु। परमाणुषूपचारप्रदेशकल्पना, १प्रचयशक्तियोगात्। उभयथा च कालाणूना प्रदेशकल्पनाऽभावात् धर्मास्तिकायादिवत् कायत्वाभाव:। अत एव विनाशहेतुत्वाभावात् नित्या:। परप्रत्ययोत्पादविनाश-सद्भावादनित्या:। सूचीसूत्रमार्गाकाशच्छिद्रवत् परिच्छिन्नमूर्तित्वेऽपि रूपादियोगाभावात् अमूर्ता:। निष्क्रियाश्च प्रदेशान्तरसंक्रमाभावात्। व्यवहारकाल परिणामादिलक्षण:२।

के दो प्रकार के प्रपञ्च को सूचित करने के लिए परिणाम आदि को काल का उपकार कहा गया है। **प्रश्न**—काल के अस्तित्व की सिद्धि के लिए वर्त्तना का ग्रहण करना ही पर्याप्त है क्योकि परिणाम क्रिया आदि वर्त्तना के ही विकल्प विशेष है। **उत्तर**—दो प्रकार के काल के अस्तित्व को बताने के लिए परिणाम आदि को ग्रहण किया है। परमार्थ काल और व्यवहार काल के भेद से काल दो प्रकार का है। जैसे—धर्म, अधर्म द्रव्य आदि गति-स्थिति मे उपकारक है, उसी प्रकार वर्त्तना मे मुख्य काल द्रव्य उपकारक है। **प्रश्न**—काल का स्वरूप क्या है? **उत्तर**—जितने लोकाकाश मे प्रदेश है उतने ही कालाणु है। इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नही है। एक-एक आकाशप्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। सारे लोकाकाश मे भिन्न होने से इनमे मुख्य और प्रदेश कल्पना नही है क्योकि ये निरवयवो है। क्योकि मुख्यप्रदेश कल्पना, धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और द्व्यणुक पुद्गल स्कन्धो मे है तथा परमाणु मे प्रचयशक्ति के कारण उपचार से प्रदेश-कल्पना है, परन्तु कालाणु मे धर्मास्तिकाय आदि के समान न तो मुख्य-प्रदेशप्रचयकल्पना है और न परमाणु के समान उपचार प्रदेश प्रचयकल्पना है, अत· कालाणु मे कायत्व का अभाव है अर्थात् कालाणु अस्तिकाय नही है क्योकि दोनों प्रकार के प्रदेशप्रचयो का इसमे अभाव है। विनाश का कारण न होने से कालाणु नित्य है। कालाणु मे परप्रत्यय (कारण) से उत्पाद-विनाश होता रहता है, इसलिए कालाणु कथञ्चित् अनित्य भी है। सुई मे धागा जाने के आकाश माग के छिद्र के समान परिछिन्न मूर्त्ति होने पर भी रूप-रसादि से रहित होने के कारण अमूर्त्त है। अर्थात् जैसे सुई का धागा जाने से मार्ग परिछिन्न होता है, अमूर्त्त होते हुए भी सुई के छिद्र का आकाश सुई के नोक बराबर मूर्त्त हो जाता है, उतने स्थान का कालाणु भी परिछिन्न हो जाने से मूर्त्तसा दीखता है परन्तु रूप आदि नही होने से, वास्तव में अमूर्त्त है। प्रदेशान्तर-क्षेत्र से क्षेत्रान्तर के सक्रमण का अभाव होने से कालाणु निष्क्रिय है। व्यवहारकाल परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व के द्वारा लक्षित

---

१. कुत। २. लक्ष्य. मु. द.।

१कालवर्तनया लब्धकालव्यपदेशः,२ कुतश्चित्३ परिच्छिन्नः अपरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतुः ।

कालत्रैविध्यसिद्धिः परस्परापेक्षत्वात् ।२५। भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति त्रिविधः काल सिद्ध । कुतः ? परस्परापेक्षत्वात् । यथा वृक्षपङ्क्तिमनुसरतो देवदत्तस्य एकैकतरु प्रति प्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् ४व्यपदेशस्तथा तान् कालाणूननुसरतां द्रव्याणां क्रमेण वर्तनापर्यायमनुभवतां भूतवर्तमानभविष्यद्व्यवहारसद्भाव । तत्र परमार्थकाले भूतादिव्यवहारो गौण, व्यवहारकाले मुख्य । परस्परापेक्षश्चासौ—यद्द्रव्यं क्रियापरिणतं कालपरमाणु प्राप्नोति तद्द्रव्य तेन५ कालेन वर्तमानसमयस्थिति-सबन्धवर्तनया वर्तमानः काल, ६कालाणुरपि वर्तयस्तद्द्रव्यमनतिक्रान्तसबन्धवर्तनात्तदाख्यो भवति । ७तदेव कालवशात् अनुभूतवर्तनासबन्ध भूतम्, कालाणुरपि भूत । तदेव वर्त्स्यत्स्थितिसबन्धवर्तनापेक्षं भविष्यदिति व्यपदिश्यते, कालाणुश्च भविष्यन्निति । एवं८ सवितुरनुसमयगतिप्रचयापेक्षया आवलिकोच्छ्वासप्राणस्तोकलवनालिकामुहूर्ताऽहोरात्र-

---

होता है। कालकृत वर्त्तना का आधार होने से यह भी काल कहलाता है। यह स्वय किसी के द्वारा परिछिन्न होकर अन्य पदार्थो के परिच्छेद मे कारण होता है ।। २४ ।।

परस्पर अपेक्षा से काल तीन प्रकार का सिद्ध है। भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् ये तीनो काल परस्परापेक्ष सिद्ध होते है। जैसे वृक्ष-पक्ति के अनुसार चलने वाले देवदत्त के एक-एक वृक्ष प्राप्त होने से कुछ वृक्ष प्राप्त हो चुके, कुछ प्राप्त हो रहे है और कुछ आगे प्राप्त होगे, ऐसा व्यपदेश होता है, उसी प्रकार उन कालाणुओ की क्रमिक पर्यायो का अनुसरण करने वाले द्रव्यो मे क्रमशः वर्त्तमान का अनुभवन होने से भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् काल का सद्व्यवहार होता है। उनमे परमार्थ (मुख्य) काल मे भूत वर्त्तमानादि का व्यवहार गौण है तथा व्यवहार काल मे मुख्य है। अतः यह भूतादि व्यवहार काल एक-दूसरे की अपेक्षा रखता है। जो क्रियापरिणत द्रव्य कालपरमाणु को प्राप्त होता है वह द्रव्य उस काल के द्वारा वर्त्तमान समय सम्बन्धी वर्त्तना के कारण वर्त्तमान काल कहलाता है। कालाणु भी उस वर्त्तमान द्रव्य की स्वसम्बन्धी वर्त्तना के कारण वर्त्तमान कहा जाता है, वही द्रव्य जब कालवश वर्त्तना के सम्बन्ध का अनुभव कर चुकता है तब भूत कहा जाता है और कालाणु भी भूतकाल सम्बन्धी द्रव्य की वर्त्तना मे कारण होने से भूत कहलाता है। वही द्रव्य आगे होने वाली वर्त्तना की अपेक्षा भविष्यत् कहा जाता है और कालाणु भी भविष्यत्काल सम्बन्धी द्रव्य की वर्त्तना के कारण भविष्यत् कहलाता है। इस प्रकार सूर्य की प्रतिक्षण गति की अपेक्षा आवलिका, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक,

---

१. निश्चय । २. आवलिकोच्छ्वासादि । ३ घटिकादित । ४. इति । ५ समयरूपेण । ६ निश्चय-काल । ७. क्रियावद्द्रव्यमेव । ८ अनेन प्रकारेण, सर्वद्रव्यमेव काल इति प्रतिपादितद्वारेणेत्यर्थ ।

पक्षमासर्त्वयनादिसवितृगतिपरिवर्तनकालवर्तनया व्यवहारकालो मनुष्यक्षेत्रे सभवति इत्युच्यते, तत्र ज्योतिषा गतिपरिणामात्, न बहि निवृत्तगतिव्यापारत्वात् ज्योतिषाम् । मनुष्यक्षेत्रसमुत्थेन ज्योतिर्गतिसमयावलिकादिना परिच्छिन्नेन[1] क्रियाकलापेन[2] कालवर्तनया कालाख्येन ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च प्राणिना सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तानन्तकाल-गणनाप्रभेदेन कर्मभवकायस्थितिपरिच्छेद सर्वत्र जघन्यमध्यमोत्कृष्टावस्थः क्रियते ।

[3]**क्रियामात्रमेवकालस्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धिरिति चेत्; न; तद्भावे कालाभिधानलोपप्रसङ्गात् । २६ ।** स्यान्मतम्—क्रियामात्रमेव काल । कुत ? तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धे । सर्वोऽय कालव्यवहारः क्रियाकृत । क्रिया[4] हि [5]क्रियान्तरपरिच्छिन्ना [6]अन्यक्रियापरिच्छेदे वर्तमाना कालाख्या भवति । योऽपि समयो नाम भवद्भिरुच्यते स परमाणुपरिवर्तनक्रियासमय एव [7]कालसामानाधिकरण्यात् । न समयपरिमाण-परिच्छेदकोऽन्य तत सूक्ष्मतर कश्चिदस्ति कालः । तत्समयक्रियाकलाप आवलिका,

---

लव, नालिका, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि सूर्यगतिनिमित्तक परिवर्तन काल-वर्त्तना के कारण व्यवहार काल मनुष्य क्षेत्र मे होता है, ऐसा कहा जाता है, क्योकि मनुष्य लोक मे ही ज्योतिर्देव गतिशील होते हैं। मनुष्यक्षेत्र से बाहर के ज्योतिर्देव अवस्थित है, गमन नही करते अर्थात् वे गतिव्यापार से रहित है। मनुष्यक्षेत्र मे उत्पन्न ज्योतिपी देवो की गति के कारण समुत्थ समय आवलि आदि के द्वारा परिछिन्न क्रियाकलाप रूप वर्त्तना नामक काल से ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् लोकरूप तीनो लोको के प्राणियो की सख्यात, असख्यात, अनन्तानन्त काल गणना के प्रभेद से कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति आदि का परिच्छेद (ज्ञान) होता है। इसमे सख्यात, असख्यात, अनन्त आदि की गिनती की जाती है और इस व्यवहार काल से ही सर्वत्र, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अवस्था की जाती है ।। २५ ।।

क्रियामात्र ही काल है, क्रिया से भिन्न काल की उपलब्धि नही होती है, यह कथन भी उचित नही है क्योकि क्रिया के सद्भाव मे भी कालाभिधान के लोप का प्रसग आता है। प्रश्न—क्रियामात्र ही काल है, क्रिया से भिन्न काल उपलब्ध नही है अत सर्व ही यह कालकृत व्यवहार क्रियाकृत ही है। क्रिया स्वय क्रियान्तर के द्वारा परिछिन्न होकर अन्य द्रव्यो की क्रिया के परिच्छेद मे कारण होती है, अत. वही काल नामक द्रव्य है। आपके द्वारा जो समय कहा जाता है, वह परमाणु की परिवर्तन क्रिया का समय ही (समय) कहा जाता है काल का समानाधिकरण होने से। क्योकि समय के परिमाण को मापने वाला कोई दूसरा सूक्ष्मतर काल नही है। 'समय क्रिया का समुदाय आवलिका, आवलिका का समुदाय उच्छ्वास' इत्यादि मे समय क्रियाकलाप (समुदाय) मे

---

१ निश्चितेन । २ सूर्यस्य । ३. अथ लब्धावकाश तथागत प्रत्यवतिष्ठते । ४ आवलिकादि ।
५ समयादि । ६ सासादनकालादि । ७. कालसामान्यमासाना-मु द. व ।

तत्प्रचय उच्छ्वास इत्यादि समयक्रियाकलापपरिच्छिन्ना आवलिका उच्छ्वासपरिच्छेदे वर्तमाना कालाख्या[१]। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। लोकेऽपि तथैव गोदोहेन्धनपाकादिरन्योन्यपरिच्छेदे वर्तमानः कालाख्यः इति क्रियैव काल इति; तन्न; किं कारणम्? तदभावे कालाभिधानलोपप्रसगात्। सत्यम्, क्रियाकृत एवायं व्यवहारः सर्वः–उच्छ्वासमात्रेण कृतं मुहूर्तेन कृतमिति, किन्तु समय उच्छ्वासो निश्वासो मुहूर्त इति स्वसंज्ञाभिर्निरूढाना काल इत्यभिधानमकस्मान्न भवति। यथा देवदत्तसंज्ञया निरूढे पिण्डे दण्डयभिधानमकस्मान्न भवतीति दण्डसंबन्धसिद्धिः, तथा कालसिद्धिरपि। इतरथा कालव्यवहाराभावप्रसङ्गः स्यात्।

वर्तमानाभावप्रसङ्गाच्च। २७। यस्य क्रियामात्रमेव कालो नान्यः कश्चिदस्ति वर्तनालक्षणः, तस्य वर्तमानकालाभावः प्रसक्तः। कथम्? ऊयते पट इति यः प्रक्षिप्तस्तन्तुः सोऽतिक्रान्तः, यः प्रक्षेप्स्यते सोऽनागतः, न च तयोरन्तरे काचिदन्या अनतिक्रान्ताऽ-

---

परिच्छिन्न आवलिका हो उच्छ्वास के परिच्छेद मे वर्तमान काल कहलाती है अर्थात् आवलिका का मापक समयक्रिया का काल है, उच्छ्वास का माप आवलिका का क्रियाकाल है और आवलिका मे परमाणु क्रियारूप समयकाल है, इस प्रकार आगे भी समझना चाहिये। लोक व्यवहार मे भी 'गादोहन काल, रसोई का समय' आदिकाल व्यवहार क्रियामूलक ही है। एक क्रिया से दूसरो क्रिया परिच्छिन्न होती हुई कालसज्ञा को प्राप्त करती है। इसलिये परमाणु क्रियारूप काल सब का मापक होने से क्रिया ही काल है। **उत्तर**—यह कथन ठीक नही है क्योकि क्रिया के अभाव मे काल के भी अभाव का प्रसग आयेगा। यद्यपि क्रियाकृत ही यह सर्वव्यवहार होता है कि 'उच्छ्वास मात्र मे यह काम किया, मुहूर्त मे यह काम किया' इत्यादि परन्तु उच्छ्वास, निश्वास, मुहूर्त आदि सज्ञाओ को 'काल' यह व्यपदेश (सज्ञा) बिना कारण नही हो सकती। जैसे—देवदत्त सज्ञा से निरूढ पिण्ड मे (देवदत्त मे) दण्डी यह अभिधान (नाम) बिना कारण नही होता अपितु दण्ड के सयोग से देवदत्त दण्डी कहलाता है, उसी प्रकार कालद्रव्य के सयोग से हो आवलिका, उच्छ्वास, मुहूर्त आदि काल कहलाते है, इससे काल की सिद्धि होती है। इसलिये इनके व्यवहारो मे 'काल' व्यपदेश के लिए कालद्रव्य मानना आवश्यक है, अन्यथा मुहूर्त आदि मे काल व्यवहार के अभाव का प्रसग आयेगा ॥ २६ ॥

क्रियामात्र को काल मानने से वर्तमान का अभाव हो जाता है। जिसके सिद्धान्त मे क्रियामात्र ही काल है, अन्य कोई वर्त्तना लक्षण कालद्रव्य नही है, उनके सिद्धान्त मे वर्तमान काल का अभाव हो जाएगा। क्योकि पट (कपड़ा) बुनते समय जो तन्तु बुना गया है वह तो (अतीत) हो गया तथा जो बुना जायेगा वह (अनागत) होगा। उन दोनो के बीच मे कोई अनतिक्रात और

---

१ कालाख्यापि ए. अ।

नागामिनी क्रिया अस्ति या वर्तमानत्वेन परिगृह्येत। वर्तमानापेक्षौ च पुनरतीतानागताविष्येते [1]तदभावे तयोरप्यभाव स्यात्।

यदप्युक्तम्—आरम्भादिरपवर्गान्तः क्रियाकलापो वर्तमान इति।[2]

"आरम्भाय प्रसृता[3] यस्मिन् काले भवन्ति कर्तारः।
कार्यस्यानिष्ठातः तन्मध्यम[4] - कालमिच्छन्ति॥" इति;

तदप्ययुक्त, कुतः? अभ्युपगमविरोधात्। पूर्व क्रियाकाल इत्युक्त पश्चात् क्रियासमूह इति। क्षणिकाना क्रियावयवाना समूहाभावाच्च। [5]यस्य पुनरन्यो वर्तनालक्षण काल:, तस्य प्रथमसमयक्रियावर्तनया आरम्भमुपादाय द्वितीयादिसमयक्रियाविशेषाणा द्रव्यार्थतयाऽवस्थानमनुभवता समुदायमुपचर्य तत्समूहसाध्यस्य घटादेरापरिसमाप्तेर्वर्तते घटादिक्रियेति वर्तमानकालसिद्धि कल्प्यते। यदि [6]व्यतिरेकेणानुपलब्धे. कालो नास्तीत्युच्यते; ननु क्रियाया क्रियासमूहस्य चाभाव। कारकाणा हि प्रवृत्तिविशेष

अनागामिनी क्रिया है ही नही जिसे वर्तमान कहा जाय (जो क्रिया वर्तमान रूप से ग्रहण की जाय)। अतीत और अनागत व्यवहार भी वर्तमान काल की अपेक्षा से होता है अत. वर्तमान के अभाव मे भूत और भविष्यत् काल का भी अभाव हो जाएगा। 'प्रारम्भ से लेकर कार्य-समाप्ति तक के क्रियाकलाप को वर्तमान कहते है' सो कहा भी है कि—'जिस काल मे कर्त्ता क्रिया करने मे तत्पर होता है उस समय से लेकर जब तक वह कार्य समाप्त नही होता है, उसके मध्य के क्रियासमूह को 'वर्तमान' काल कहते हैं' यह पक्ष भी ठीक नही है। क्योकि इसमे प्रतिज्ञाविरोध आता है अर्थात् इसमे आपके मत का खण्डन होता है, आपने ऐसा स्वीकार नही किया है। पहले आपने क्रिया को काल कहा था और अब 'क्रिया के समूह' को काल कहते हो तथा क्षणिक-क्रियाओ के अवयवो के समूह का भी अभाव है अर्थात् क्षणिक-क्रियाओ का समूह भी नही वन सकता। जिसके सिद्धान्त मे वर्त्तनालक्षण काल भिन्न है, उसके सिद्धान्त मे प्रथम समय वाली क्रिया की वर्त्तना से प्रारम्भ करके द्वितीयादि समयवर्ती क्रियाविशेषो की द्रव्यदृष्टि से स्थिति मानकर उपचार से समूह की कल्पना की जाती है और उस क्रियासमूह से साध्य (बनने वाले) घट आदि की परिसमाप्ति तक 'घटक्रिया हो रही है'। यह वर्तमानकालिक प्रयोग कर दिया जाता है अर्थात् वर्तमान काल की सिद्धि की जाती है। अथवा यदि भिन्न रूप से उपलब्ध न होने के कारण काल का अभाव किया जाता है तो क्रिया और क्रियाओ के समूह इन दोनो का ही अभाव हो जाएगा। क्योकि कारको की प्रवृत्तिविशेष को क्रिया कहते हैं और प्रवृत्तिविशेष भी कारको से भिन्न उपलब्ध नही हाता, जैसे सर्प का आत्मलाभ ही कौटिल्य है, सर्प से भिन्न टेढापन उपलब्ध नही है, उसी प्रकार क्रिया के

---

१ वर्त्तमानाभावे। २. अस्माकमपि वर्तमानकालोऽस्तीति वदन्त साध्य प्रत्याह। ३ उद्यता। ४ वर्तमानमित्यर्थ। ५. स्याद्वादिन। ६ परिणामादे।

क्रिया, न तेभ्यः प्रवृत्तिर्व्यतिरिक्ता उपलभ्यते । यथा सर्पात्मलाभ एव कौटिल्यं न[1] तत्तस्माद् व्यतिरिक्तमुपलभ्यते एवं क्रियापीति । तथा क्रियावयवेभ्यो व्यतिरिक्तो न तत्समूह उपलभ्यते तदात्मकत्वात्, अतस्तयोरभावप्रसङ्गः स्यात् । किञ्च, क्रिया क्रियान्तरस्य परिच्छेदिका कालव्यपदेशभागित्यनुपपन्नम् अनवस्थानात् । स्थितो हि लोके प्रस्थादिः [2]परिमाणविशेष· व्रीह्यादेरवस्थितस्य परिच्छेदको दृष्टः । न च तथा क्रियाऽवस्थिता अस्तिक्षणमात्रावलम्बनाभ्युपगमात् । न हि स्वयमनवस्थितः कश्चिदनवस्थितस्य परिच्छेदको दृष्टः । प्रदीपपरिस्पन्दवत् इति चेत्; यथा प्रदीपोऽनवस्थितः[3] परिस्पन्दस्यानवस्थितस्यैव परिच्छेदे वर्तते तथा क्रियापीति; एतच्चायुक्तम्; असिद्धत्वात् । प्रदीप· परिस्पन्दश्च क्षणिक इति नास्माभिरभ्युपगम्यते स्वकार्यस्य प्रकाशनादेरनेकक्षणसाध्यत्वात् । समूहस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावादिति चेत्, न; क्षणिकाना समूहाभावात् शब्दवदिति[4] चेत्; न; यथा क्षणिकाना वर्णध्वनीना समुदायः पदवाक्यरूप तथा क्रियावयवानामिति; [5]एतदप्यसाम्प्रतम् असिद्धत्वादेव । न हि वर्णध्वनयः क्षणिका.;

अवयवो से भिन्न क्रियाओ का समूह उपलब्ध नही है, क्योकि क्रियाओ का समूह क्रियात्मक ही है। अत: क्रिया और क्रियासमूह इन दोनो के अभाव का प्रसग आयेगा । अथवा, क्रिया-क्रियान्तर की परिच्छेदिका है उससे काल का व्यपदेश हो जायेगा, ऐसा भी कहना उपयुक्त नही है क्योकि अवस्थान का अभाव है। लोक मे स्थिर प्रस्थादि परिणामविशेष ही स्थित व्रीही आदि का परिच्छेदक देखा जाता है। परन्तु क्रिया व्रीही (गेहूँ-चावल) आदि के समान अवस्थित नही है क्योंकि आपने सत्त्व के क्षणमात्र अवलम्बन स्वीकार किया है, क्रिया अस्ति है, सत्त्व रूप है अत. क्षणिक है और जो स्वय अनवस्थित है वह दूसरे अनवस्थित का परिच्छेदक हो नही सकता। प्रदीप अनवस्थित होकर जैसे अनवस्थित परिस्पन्द का परिच्छेदक होता है तभी तो 'प्रदीपवत् परिस्पन्द' यह प्रयोग होता है, उसी प्रकार अनवस्थित क्रिया भी अनवस्थित पदार्थ की परिच्छेदक हो जाएगी' यह कहना भी उचित नही है असिद्ध होने से। जैनसिद्धान्त मे प्रदीप या परिस्पन्द को सर्वथा क्षणिक नही मानते क्योकि दीपक के प्रकाशन आदि स्वकार्य अनेक क्षणसाध्य होते है। **प्रश्न**—समूह मे परिच्छेद्य और परिच्छेदक भाव हो जाएगा ? **उत्तर**—समूह मे परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव भी नही बनता, क्योकि क्षणिको का समूह ही नही बन सकता। शब्द के समान समूह बन जाएगा, ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि शब्द सर्वथा क्षणिक नही है। **प्रश्न**—जैसे क्षणिक वर्णध्वनियो का समुदाय पद और वाक्य बन जाता है उसी प्रकार क्षणिक क्रियाओ का समूह भी बन जायेगा। **उत्तर**—ऐसा कहना भी उचित नही है, क्योकि वर्णध्वनियो का क्षणिकत्व ही असिद्ध है। वर्णध्वनियाँ क्षणिक नही है क्योकि वे देशान्तरवर्ती श्रोताओ के कर्ण इन्द्रिय का विषय होती है अर्थात् दूरदेशस्थ प्राणियो को

---

१. न तु तत्त-मु, द. ब.। २. वशादे । ३ शिखारूपेण क्षणप्रतिक्षण गलत्सद्भावात् । ४ चेत् क्षणि-श्र । ५ तदसा-श्र. ।

देशान्तरस्थश्रोतृविषयभावापत्तिदर्शनात् । [1]शब्दान्तरारम्भात् तत्प्रतिसिद्धिरिति चेत्; न; क्षणिकस्यारम्भशक्तिविरहात् । यस्मिन् क्षणे स्वयमात्मलाभमापद्यते न तदाऽन्य-मुत्पादयति असत्त्वात्, उत्तरक्षणे च नारभते उत्पत्त्यनन्तरापवर्गित्वात् । आसन्न-सदवस्थाको[2] हि क्षण उत्पत्तिकाल इति व्यपदिश्यते, उत्तरकालमस्य सत्त्व नास्ति इत्युत्पत्तिव्यवहार एव न स्यात् ।

[3]पूर्वविज्ञानाहितसस्कारबीजाधारभूताया बुद्धौ समुदायकल्पनेति चेत्, न, तस्या अपि तादात्म्यात् । यस्य तु द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नित्या क्रिया पर्यायार्थादेशाच्च स्यादनित्या बुद्धिरपि, तस्य वस्तुनि बुद्धौ च क्रियावयवसमूहस्य शक्तिव्यक्तिस्वरूपेण व्यवस्थितस्य कालवर्तनया प्रतिलब्धकालव्यपदेशस्य परिच्छिन्नस्यान्यपरिच्छेदे वृत्तिरुपपद्यते इति व्यवहारकालसिद्धि । तत्प्रसिद्धौ च मुख्यकालसिद्धि इत्युक्तम् । अथ किमर्थ परत्वा-परत्वयो. पृथग्ग्रहणम्, वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वानीत्येव वक्तव्यम् ?

सुनाई देती है । शब्दान्तर की उत्पत्ति के द्वारा देशान्तरस्थ श्रोताओ को वर्णध्वनियाँ सुनाई देती है, यह पक्ष भी ठीक नही है क्योकि क्षणिक वस्तु के अन्य वस्तु उत्पन्न करने की शक्ति नही होती । जिस क्षण मे ध्वनि उत्पन्न होती है (स्वकीय आत्मलाभ को प्राप्त करती है) उसी क्षण मे तो अन्य ध्वनि को उत्पन्न नही कर सकती क्योकि उस समय मे वह असत्त्व है । उत्तर क्षण मे भी वह ध्वनि अन्य ध्वनि को उत्पन्न नही कर सकती क्योकि उत्पत्ति के उत्तरक्षण मे ही पूर्व ध्वनि नष्ट हो जाती है । जिसकी सदवस्था निकट है उस क्षण को उत्पत्ति काल कहते है, परन्तु जिसका उत्तर काल मे सत्त्व ही नही है, उसमे 'उत्पत्ति' यह व्यवहार नही हो सकता ।

पूर्व-पूर्व विज्ञानो से आहित (प्राप्त) सस्कारो की आधारभूत बुद्धि मे समुदाय की कल्पना करना भी उचित नही है क्योकि विज्ञान के साथ बुद्धि का तादात्म्य होने से बुद्धि भी क्षणिक है । जिसके सिद्धान्त मे द्रव्यदृष्टि से क्रिया नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है, उसी के सिद्धान्त मे वस्तुस्वरूप बुद्धि भी नित्यानित्यात्मक होकर ही सस्कारो का आधार हो सकती है और ऐसी बुद्धि मे ही शक्ति और व्यक्ति रूप से व्यवस्थित क्रिया (के अवयवो के) समूह द्वारा, जिसमे कि कालकृत वर्त्तना से 'काल' व्यपदेश प्राप्त हो गया है, अन्य परिच्छेद को वृत्ति की जा सकती है इस प्रकार व्यवहार-काल सिद्ध हो जाता है और व्यवहार काल के सिद्ध हो जाने पर मुख्य काल भी सिद्ध हो जाता है (क्योकि दोनो परस्पर सापेक्ष है) प्रश्न—परत्वापरत्व को पृथक् ग्रहण क्यो किया है ? 'वर्त्तना-परिणामक्रियापरत्वापरत्वानि' ऐसा सूत्र क्यो नही बनाया गया ? ऐसा ही सूत्र कहना चाहिये ।। २७ ।।

---

१ न्यायवादिमतमाश्रित्याह बौद्ध । २ पर्याप्तिक. । ३ नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । आवृत्ति-परिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽवभासते ।। वाक्यप १।८५ ।

परत्वापरत्वयोः पृथग्ग्रहणं परस्परापेक्षत्वात् । २८ । परत्वापरत्वे पृथग्गृह्येते । कुतः ? परस्परापेक्षत्वात् । परत्वं ह्यपेक्ष्यापरत्व भवति, अपरत्वं चापेक्ष्य परत्वमिति ।

अथ किमर्थं वर्तनाग्रहणमादौ क्रियते ?

वर्तनाग्रहणमादौ अभ्यर्हितत्वात् । २९ । वर्तनाग्रहणमादौ क्रियते । कुत ? अभ्यर्हितत्वात् । कथमभ्यर्हितत्वम् ? वर्तनापूर्वकत्वात् परमार्थकालप्रतिपत्तेः । तन्निमित्तत्वात् व्यवहारकाललिङ्गस्याप्राधान्यम् ।

अत्राह—उक्तं भवता शरीरादीनि पुद्गलानामुपकार इति, [1]तन्त्रान्तरीया जीव परिभाषन्ते, तत्कथमिति ? अत्रोच्यते—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।। २३ ।।

स्पर्शग्रहणमादौ विषयबलदर्शनात् । १ । स्पर्शग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ?

उत्तर—परस्पर अपेक्षा के कारण परत्वापरत्व को पृथक् ग्रहण किया है। परत्व की अपेक्षा अपरत्व और अपरत्व की अपेक्षा परत्व होता है अत इनमे परस्पर अपेक्षा को सूचित करने के लिये परत्वापरत्व को सूत्र मे पृथक् ग्रहण किया गया है ।। २८ ।।

अथ—वर्त्तना को सर्वप्रथम ग्रहण करने का क्या कारण है ?

अभ्यर्हित (पूज्य) होने से वर्त्तना को सर्वप्रथम ग्रहण किया है। क्रिया, परिणाम आदि की अपेक्षा वर्त्तना अभ्यर्हित है और व्याकरण के नियम से अभ्यर्हित को पूर्व मे ग्रहण किया जाता है इसलिये 'वर्त्तना' का ग्रहण सर्वप्रथम है। **प्रश्न**—'वर्त्तना' अभ्यर्हित क्यो है ? **उत्तर**—परमार्थ काल की प्रतिपत्ति वर्त्तनापूर्वक (वर्त्तना से) ही होती है अत. वर्त्तना अभ्यर्हित है, वर्त्तना के निमित्त से होने वाले परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व आदि व्यवहारकाल के चिह्न हैं, अत परिणाम क्रिया आदि अप्रधान होने से वर्त्तना के समान पूज्य नही है ।। २९ ।।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आपने (जैनसिद्धान्त मे) शरीरादि को पुद्गल का उपकार माना है परन्तु चार्वाकादि शरीर को जीव कहते है, वह कैसे है ? आचार्य इसका उत्तरसूत्र कहते हैं अर्थात् चार्वाकादि जोव को पुद्गल शब्द से कहते है, अत पुद्गल की परिभाषा करते हैं—

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल हैं ।। २३ ।।

सभी में सवल होने से स्पर्श को आदि मे ग्रहण किया है। पाँचों इन्द्रियों के सभी विषयों मे

---

१ चार्वाकादय ।

विषयबलदर्शनात् । सर्वेषु हि विषयेषु स्पर्शस्य बलं दृश्यते । स्पृष्टग्राहिष्विन्द्रियेषु स्पर्शस्यादौ ग्रहणव्यक्ति., सर्वससारिजीवग्रहणयोग्यत्वाच्च ।

रसप्रसङ्ग इति चेत्; न; स्पर्शे सति तद्भावात् । २ । स्यान्मतम्—यदि विषयबलात् आदौ स्पर्शोऽधीत ननु विषयबलत्वात् आदौ रस एवाध्येय । स्पर्शसुखनिरुत्सुकेष्वपि[1] रसव्यापारदर्शनादिति, तन्न, किं कारणम् ? स्पर्शे सति [2]तद्भावात्, तत्रापि सति स्पर्शे रसव्यापार इति स्पर्शग्रहणमेवादौ न्याय । तत एवानन्तर रसवचनं स्पर्शग्रहणानन्तरभावितत्वात् (भावित्वात्) रसग्रहणस्य, तदनन्तरं तद्ग्रहणं क्रियते ।

वायौ तदभावात् व्यभिचार इति चेत्; न; तत्राप्यभ्युपगमात् । ३ । स्यादेतत्—वायु: स्पर्शवान् इति तदनन्तर रसग्रहणाभावात् व्यभिचार इति; तन्न, कि कारणम् ? तत्राप्यभ्युपगमात् । रूपादयो हि स्पर्शाविनाभाविन घटादिष्विव वायावप्यभ्युपगम्यन्ते ।

भो स्पर्श सवल है क्योकि स्पष्टग्राही इन्द्रियो मे स्पर्श की शीघ्र अभिव्यक्ति होती है वा सर्वप्रथम स्पर्श का हो ग्रहण होता है तथा सभो ससारी जीवो के यह ग्रहण योग्य होता है । इसलिए स्पर्श का ग्रहण सर्वप्रथम किया है ।। १ ।।

रस के प्रथम ग्रहण का प्रसग नही आ सकता क्योकि स्पर्श होने पर ही रस होता है । **प्रश्न**—यदि विषय की वलवत्ता होने से सर्वप्रथम स्पर्श को ग्रहण किया गया है तो विषयबलवत्ता रस मे इससे भी अधिक है क्योकि स्पर्शसुख मे निरुत्सुक जीवो मे रसव्यापार की प्रचुरता देखो जाती है इसलिए रस को सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिए । **उत्तर**—यद्यपि स्पर्श-सुख से निरुत्सुक जीवो मे कही-कही रसव्यापार को प्रचुरता देखी जाती है; फिर भी स्पर्श के होने पर ही उनके रस का व्यापार होता है, अत स्पर्श का प्रथम ग्रहण करना न्यायसगत है । स्पर्श के बाद रस का ग्रहण होता है इसलिये स्पर्श के वाद रस का ग्रहण किया गया है क्योकि स्पर्शपूर्वक ही रस का ग्रहण होता है ।। २ ।।

वायु मे भी रसरूपादि है इसलिये व्यभिचार नही आता । **प्रश्न**—वायु स्पर्शवान् है । उसमे रस का अभाव है इसलिये स्पर्श के बाद रस ग्रहण करने का अभाव है । **उत्तर**—यह आशका उचित नही है क्योकि वायु मे भी रस-रूपादि को स्वोकार किया है, क्योकि जैसे घटादि मे स्पर्श का अविनाभावो रूपादि है, उसो प्रकार वायु मे भी स्पर्श के अविनाभावी रसआदि का अस्तित्व है । **प्रश्न**—यदि वायु मे स्पर्श के रसरूपादि का अस्तित्व है तो वह दिखता क्यो नही वा उसके रसादि का रसना इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण क्यो नही होता ? **उत्तर**—जिस प्रकार घ्राण-इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गन्धद्रव्य मे रूपादि विद्यमान रहने पर भी अनुद्भूत या सूक्ष्म होने के कारण तथा चक्षुरादि

---

१ यतिपु । २. सद्भावात्-ता श्र ।

स्पर्शवत्तत्र सता रूपादीनामपि ग्रहण कस्मान्नेति चेत् ? स्थूलविषयग्राहित्वाच्चक्षुरादीना घ्राणेन्द्रियविषयवत् वायौ सतामपि रूपादीनामग्रहणम् ।

रूपात् प्राग् गन्धवचनम् अचाक्षुषत्वात् । ४ । रूपात् प्राक् गन्धवचन क्रियते । कि कारणम् ? अचाक्षुषत्वात् ।

अन्ते वर्णग्रहणं स्थौल्ये सति तदुपलब्धेः । ५ । सर्वेषामन्ते वर्णग्रहण क्रियते । कुतः ? स्थौल्ये सति तदुपलब्धे ।

नित्ययोगे मतुविधानम् । ६ । स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्ते येषा सन्ति ते स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त. इति नित्ययोगे मतुविधान द्रष्टव्यम् । यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति क्षीरेण नित्ययोगात् मत्वर्थीयविधानम्, तथा अनादिपारिणामिकस्पर्शादि-गुणसामान्यनित्ययोगे मतुरिति । स्पर्शादीनामनन्तपर्यायत्वेऽपि मौलभेदप्रसिद्ध्यर्थमितः क्रियते ।

मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शभेदाः । ७ । एते मृद्वादयोऽष्टौ स्पर्शस्य मूलभेदा द्रष्टव्या ।

इन्द्रियो के स्थूल विषय ग्राहक होने से उपलब्ध नही होते, उसी प्रकार वायु मे रूपादि विद्यमान रहते हुए भी सूक्ष्म होने से चक्षु आदि के द्वारा ग्राह्य नही होते ।। ३ ।।

चक्षु का विषय न होने से रूप के पूर्व गन्ध को ग्रहण किया है । रूप से पहले गन्ध को ग्रहण किया है, क्योकि वह अचाक्षुष है ।। ४ ।।

स्थूल होने पर हो उसको उपलब्धि होतो है अतः अन्त मे वर्ण का ग्रहण किया गया है । पुद्गल के सर्वगुणो के अन्त मे वर्ण को ग्रहण किया है क्योकि स्थूल पुद्गलो मे ही वर्ण का ग्रहण हाता है, सूक्ष्म मे नही ।। ५ ।।

यहाँ नित्य योग मे 'मतुप्' प्रत्यय का विधान है । स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण जिनके है वे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले कहलाते है । जैसे—स्पर्शवान्, गधवान् इत्यादि । वान् को 'मतु' प्रत्यय कहते है । यहाँ नित्य योग अर्थ मे मत्वर्थीय प्रत्यय किया गया है । जैसे—'क्षीरिणोन्यग्रोधा' यहाँ क्षीर के साथ न्यग्रोध का नित्य सम्बन्ध होने से नित्य योग अर्थ मे मत्वर्थीय प्रत्यय किया गया है, उसो प्रकार अनादि पारिणामिक स्पर्शादि गुणो के सामान्य नित्य योग मे 'मतु' प्रत्यय है । स्पर्शादि के अनन्त पर्यायत्व होने पर भी मौलिक भेद की प्रसिद्धि के लिए स्पर्श आदि पाँच गुण कहे हैं ।। ६ ।।

मृदु (कोमल), कठोर, गुरु लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, स्पर्श के ये मूल आठ भेद है ।। ७ ।।

तिक्तकटुकाम्लमधुरकषाया रसप्रकाराः । ८ । तिक्तादय पञ्च रसप्रकाराः वेदितव्या ।

गन्धः सुरभिरसुरभिश्च । ९ । गन्धो द्विविध.–सुरभिरसुरभिश्चेति ।

वर्णाः पञ्चधा नीलपीतशुक्लकृष्णलोहितभेदात् । १० । नीलादिभि. पञ्चभिः प्रकारै. वर्णा भिद्यन्ते । एषा च स्पर्शनादीनामेकैकस्य एकद्वित्रिचतु सख्येयाऽसख्येयानन्तगुणपरिणामोऽवसेय ।

सकलरूपादिद्रव्यधर्मनिर्देशात् अवशिष्टविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

शब्दादीनामभिहितनिर्वचनानां परिप्राप्तद्वन्द्वानां मतुना अभिसंबन्धः । १ । शब्दादीना निर्वचनेन प्रतिलब्धार्थाना परस्परापेक्षाया सत्या द्वन्द्व कृत्वा मतुना सबन्धो योजयितव्य· । तद्यथा–शपत्यर्थमाह्वयति [१]प्रत्याययति, शप्यते येन, शपनमात्र वा शब्दः ।

तिक्त (चरपरा), कटु, अम्ल, मधुर और कषाय ये पाँच रस के भेद हैं ॥ ८ ॥

सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध के भेद है ॥ ९ ॥

नील, पीत (पीला), शुक्ल, कृष्ण और लोहित (रक्त) के भेद से रूप पाँच प्रकार का है । इन स्पर्शादि के उत्तरभेद एक, दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात और अनन्त गुण-परिणाम (पर्याये) होते है । अर्थात् जैसे श्वेत रग की वस्तु अनेक प्रकार की है, किसी मे विशेष उज्ज्वलता रहती है । लाल रग के भी गुलाबी, मोतिया आदि अनेक भेद है, उसी प्रकार रस-गन्धादि मे भी उत्तरभेद सख्यात, असख्यात और अनन्त हैं ॥ १० ॥

सम्पूर्ण रूपादि द्रव्यो के धर्म के निर्देश से शेष बचे गुणो या पर्यायो का निर्देश करते है—

शब्द, बंध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये पुद्गल की पर्यायें है अर्थात् ये सब पुद्गल है ॥ २४ ॥

अभिहित निर्वचन वाले शब्दादि मे द्वन्द्वसमास करके पुन. 'मतु' प्रत्यय का सम्बन्ध करना चाहिए । अपने शब्दार्थ से जिन्होने अर्थ को सूचित किया है, ऐसे शब्द आदि मे परस्पर अपेक्षा मे द्वन्द्वसमास करके 'मतु' प्रत्यय का सम्बन्ध करना चाहिए । जैसे—जो अर्थ को शपति अर्थात् कहता है, जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है वा कहना (शपन) मात्र जिसका अर्थ है, वह शब्द है,

---

१. ज्ञापयति ।

बध्नाति, बध्यतेऽसौ, बध्यतेऽनेन, बन्धनमात्रं वा बन्धः। लिङ्गेन आत्मानं सूचयति, सूच्यतेऽसौ, सूच्यतेऽनेन, सूचनमात्रं वा सूक्ष्मः, सूक्ष्मस्य भाव. कर्म वा सौक्ष्म्यम्। स्थूलयते परिवृंहयति, स्थूल्यतेऽसौ, स्थूल्यतेऽनेन, स्थूलनमात्र वा स्थूलः। स्थूलस्य भावः कर्म वा स्थौल्यम्। संतिष्ठते, संस्थीयतेऽनेनेति, सस्थितिर्वा सस्थानम्। भिनत्ति, भिद्यते, भेदनमात्रं वा भेदः। पूर्वोपात्ताशुभकर्मोदयात् ताम्यति आत्मा, तम्यतेऽनेन, तमनमात्र वा तम। पृथिव्यादि[1]घनपरिणाम्युपश्लेषात् देहादिप्रकाशावरण–तुल्याकारेण छिद्यते, छिनत्त्यात्मानमिति वा छाया। असद्वेद्योदयात् आतपत्यात्मानम्, आतप्यतेऽनेन, आतपनमात्रं वा आतप। निरावरणमुद्योतयति, उद्योत्यतेऽनेन, उद्योतनमात्रं वा उद्योत। शब्दश्च बन्धश्च सौक्ष्म्य च स्थौल्यं च संस्थानं च भेदश्च तमश्च छाया च आतपश्च उद्योतश्च शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योता, ते येषा सन्ति ते शब्दबन्धसौक्ष्म्य-स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्त।

इत्यादि कर्तृ, करण और भाव साधनो मे शब्द आदि का निर्वचन करके, परस्परापेक्षार्थक द्वन्द्वसमास करके पुन. 'मतुप्' प्रत्यय करना चाहिए। उसी प्रकार जो बाँधता है, जिसके द्वारा बाधा जाता है वा बधनमात्र को बध कहते है। जो लिङ्ग के द्वारा अपने स्वरूप को सूचित करता है या जिसके द्वारा अपना स्वरूप सूचित किया जाता है या सूचनमात्र है, वह सूक्ष्म है। सूक्ष्म के भाव या कर्म को सौक्ष्म्य कहते है। जो स्थूल होता है, बढता है या जिसके द्वारा स्थूलन होता है या स्थूलमात्र को स्थूल कहते है। स्थूल का भाव या कर्म स्थौल्य है। जो सस्थित होता है या जिसके द्वारा सस्थित किया जाता है या सस्थिति मात्र है, उसको सस्थान कहते है। जो भेदन करता है, जिसके द्वारा भेदन किया जाता है या भेदनमात्र है उसको भेद कहते है। पूर्वोपात्त अशुभ कर्म के उदय से जो आत्मस्वरूप को अन्धकारावृत करता है या जिसके द्वारा आत्मा अन्धकारयुक्त किया जाता है या तमनमात्र को तम कहते है। पृथिवी आदि सघन द्रव्यो के सम्बन्ध से शरीरादि तुल्य आकार मे जो प्रकाश का आवरण करे या अपने स्वरूप का छेदन करे, वह छाया है। असाता वेदनीय के उदय से अपने स्वरूप को तपता है अर्थात् आत्मा को तपाता है, जिसके द्वारा आत्मस्वरूप तपाया जाता है या आतपनमात्र को आतप कहते है। जो निरावरण को द्योतित (प्रकाशित) करता है, या जिसके द्वारा द्योतित किया जाता है वा उद्योतनमात्र है उसको उद्योत कहते है। इस प्रकार शब्द, बध आदि शब्दो का कर्तृसाधन, करणसाधन और भावसाधन के द्वारा निर्वचन करके परस्परापेक्षार्थक द्वन्द्वसमास करना चाहिये। पुन शब्द, बध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत जिसके हैं वे शब्द, बध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत वाले कहलाते है, मत्वर्थीय प्रत्यय का प्रयोग करना चाहिये ॥ १ ॥

---

१. –दिपरि-अ ।

शब्दो द्वेधा भाषालक्षणविपरीतत्वात् । २ । शब्दो द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुत. ? भाषालक्षणविपरीतत्वात्–भाषालक्षणो विपरीतश्चेति ।

भाषात्मक उभयथा अक्षरीकृतेतरविकल्पात् । ३ । तत्र भाषात्मक शब्द: उभयथा कल्प्यते । कुत: ? अक्षरीकृतेतरविकल्पात् । अक्षरीकृत. शास्त्राभिव्यञ्जक: संस्कृतविपरीतभेदात् आर्यम्लेच्छव्यवहारहेतु: । अवर्णात्मको द्वीन्द्रियादीनाम्, अतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुश्च । स एव सर्व. प्रायोगिक: ।

अभाषात्मको द्वेधा प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात् । ४ । अभाषात्मक. शब्दो द्वेधा विभज्यते । कुत ? प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात् । तत्र वैस्रसिको वलाहकादिप्रभव. ।

प्रयोगश्चतुर्धा ततविततघनसौषिरभेदात् । ५ । प्रयोगज शब्द चतुर्धा भिद्यते । कुत ? ततविततघनसौषिरभेदात् । तत्र चर्मतननात्तत पुष्करभेरीदर्दु रादिप्रभव: । वितत: तन्त्रीकृतो वीणासुघोषादिसमुद्भव. । घनस्तालघण्टालालनाद्यभिघातज: ।

शब्द दो प्रकार के है—एक भाषात्मक और दूसरे उनसे विपरीत अर्थात् अभाषात्मक ।। २ ।।

अक्षर और अनक्षर के भेद से भाषात्मक शब्द दो प्रकार का है । अक्षर-अनक्षर के भेद से भाषात्मक शब्द के दो विकल्प है । अक्षरात्मक शब्दो से शास्त्र की अभिव्यक्ति होती है । ये अक्षरात्मक शब्द सस्कृत और असस्कृत के भेद से दो प्रकार के है । सस्कृत भाषा को आर्य भाषा कहते हैं और असस्कृत भाषा को म्लेच्छ भाषा कहते है अत. आर्य म्लेच्छ का व्यवहार भाषा से ही होता है । अनक्षरात्मक शब्द दो-इन्द्रिय आदि जीवो के होते है तथा अतिशयज्ञान (केवलज्ञान) के द्वारा स्वरूप प्रतिपादन मे कारणभूत अर्हत्प्रभु की भाषा अनक्षरात्मक ही होती है, ये सब प्रायोगिक है ।। ३ ।।

अभाषात्मक शब्द प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार के है, उनमे मेघ आदि की गर्जना वैस्रसिक है क्योकि उसमे किसी सचेतन प्राणी के पुरुषार्थ का प्रयोग नही है, स्वयमेव पुद्गल वर्गणाये परस्पर टकराकर ध्वनि उत्पन्न करती है ।। ४ ।।

प्रायोगिक शब्द तत, वितत, घन और सौषिर के भेद से चार प्रकार के है । पुष्कर, भेरी आदि मे चमडे के तनाव से जो शब्द उत्पन्न होता है वह शब्द 'तत' कहलाता है । तन्त्रीकृत (तार के तनाव के कारण) वीणा, सुघोष आदि से समुत्पन्न शब्द वितत कहलाता है । ताल घण्टा आदि के अभिघात से समुद्भव शब्द घन कहलाते है और बाँसुरी, शख आदि से निकलने वाला शब्द सौषिर कहलाता है । किन्ही का सिद्धान्त है कि शब्द आकाश का गुण है परन्तु शब्द आकाश का गुण नही है । 'शब्द आकाश का गुण है' इस स्थापना का खण्डन पूर्व मे विस्तारपूर्वक

सौषिरौ वंशशङ्खादिनिमित्त । स शब्द. आकाशगुण: इति [१]केषाञ्चित् दर्शनम्, तदयुक्तमित्युक्तं पुरस्तात् । [२]अपरे मन्यन्ते[३] — ध्वनय: क्षणिका. क्रमजन्मान स्वरूपप्रतिपादनादेवोपक्षीणशक्तिका नार्थान्तरमवबोधयितुमलम् । यदि समर्था: स्यु ; पदेभ्य: इव पदार्थेषु [४]प्रतिवर्ण वर्णार्थेषु प्रत्यय स्यात् । एकेन चार्थे कृते वर्णान्तरोपादानमनर्थकं स्यात् । नापि क्रम[५]जन्मना सहभाव सघातोऽस्ति[६] योऽर्थेन युज्यते । अतस्तेभ्योऽर्थप्रतिपादने समर्थ. शब्दात्मा अमूर्तो नित्योऽतीन्द्रियो निरवयवो निष्क्रियो[७] ध्वनिभिरभिव्यङ्ग्य[८] इत्यभ्युपगन्तव्य इति, एतच्चानुपपन्नम्, कुत ? व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावानुपपत्ते । व्यङ्ग्यस्तावत् शब्दात्मा स्वेन स्वरूपेणावस्थितो वा व्यज्येत, अनवस्थितो वा ? यदि स्वरूपेणावस्थितो व्यज्येत, तत्रापि द्वैत[९] भवति ध्वनिसन्निधे प्राक् पश्चाच्चानुपलब्धे सौक्ष्म्य वा हेतु स्यात्, प्रतिबन्धक[१०] वा किञ्चित् ? यदि

किया है । कोई (स्फोटवादी मीमासक) मानते है कि ध्वनियाँ क्षणिक है, वे क्रम से उत्पन्न होती है और अनन्तर क्षण मे विनष्ट हो जाती हैं । वे जब अनन्तर क्षण मे नष्ट हो जाती है तब तो वे अपने स्वरूप का बोध कराने मे भी क्षीण शक्ति वाली है अत अर्थान्तर का ज्ञान कराने मे वे समर्थ नही है । यदि ध्वनियाँ अर्थान्तर का ज्ञान कराने मे समर्थ होती तो पदो से पदार्थो के समान (जैसे पदो से पदार्थो का ज्ञान होता है वैसा पदार्थो का ज्ञान) प्रतिवर्ण से अर्थ का ज्ञान होना चाहिए और एक वर्ण के द्वारा अर्थबोध होने पर वर्णान्तर का उपादान निरर्थक होगा । क्रम से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों का सहभावरूप सघात भी सभव नही है, जिससे अर्थबोध हो सके । अत उन ध्वनियो से अभिव्यक्त होने वाला, अर्थ के प्रतिपादन मे समर्थ, अमूर्त्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए । उनका यह मत ठीक नही है अर्थात् शब्द को क्षणिक, अमूर्त्त, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट मानना उचित नही है, क्योकि ध्वनि और स्फोट मे व्यग्यव्यजकभाव नही है । जैसे—जिस शब्द-स्फोट को व्यग्य मानते है, वह स्वरूप मे स्थित है या अस्थित ? यदि स्वरूप से स्थित होकर शब्दस्फोट व्यग्यभाव का व्यञ्जक होता है तो उसमे द्वैत दो विकल्प होते है कि ध्वनियो से पहले और बाद मे उनके अनुपलब्ध होने का क्या कारण है, सूक्ष्मता है या किसी प्रतिबन्धक का सद्भाव है ? यदि पहले और पश्चात् ध्वनियों की अनुपलब्धि मे सूक्ष्मता कारण है तो आकाश की तरह सदा अर्थात् ध्वनिकाल मे भी अनुपलब्ध रहना चाहिए । अथवा, ध्वनिकाल मे ध्वनियो के सन्निधान मे उसकी

१. वैशेषिकाणाम्-स । २ मीमासका । ३ "वर्णाना प्रत्येक वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात् । आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात् । अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात् । एकस्मृत्युपारूढाना वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्त स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचक ।" —महाभा प्र पृ १६ । न्यायकुमु पृ ७४५ टि. ९, १०।३ घकारटकारेत्यादि । ५. घकारादिवर्णानाम् । ६. क्षणिकत्वात् । ७ वर्णपदवाक्यात्मको लोकव्यापी । ८ स्फोट इत्यर्थ । ९. द्वौ विकल्पौ भवत । १० आवरणम् ।

सौक्ष्म्यान्नोपलभ्येत; सर्वकालमस्याग्रहणमेव स्यात् आकाशादिवत्। अथ ध्वनिसन्निधाने स्थौल्यमस्य[1] स्यात्, विकारप्राप्तेः[2] नित्यता हीयते।[3] नापि किञ्चित् प्रतिबन्धकमस्ति घटोपलब्धौ तमोवत्। प्रभाभावस्तमो न वस्त्वन्तरमिति चेत्; न, अतिशयवत्त्वात्[4] [5]सम्पन्नरूपवत्त्वाच्च नीलादिवर्णवत्। स्वरूपेणानवस्थितश्चेत्; नासौ व्यङ्ग्य [6]कार्यं स्यात् ध्वनिसन्निधाने स्वरूपप्राप्ते। तत एवैषा ध्वनीना व्यञ्जकत्वमयुक्तम्।

किञ्च, आद्यो वर्णध्वनि. [7]शब्दात्मन सकलस्य वा व्यञ्जक स्यात्, एकदेशस्य वा? यदि सकलस्य, इतरेषा ध्वनीनाम् आनर्थक्य स्यात्। अथैकदेशस्य, निरवयवत्वमस्य हीयते। किञ्च, स ध्वनिर्व्यञ्जक. स्फोटस्य[8] वा उपकार कुर्यात्, श्रोत्रस्य, उभयस्य वा? न तावत् पृथिवीगन्धस्य जलसेकवत् स्फोटस्योपग्रहे वर्तते, तस्य नित्यत्वात्[9] विकारप्राप्त्यनभ्युपगमात्। न चामूर्तस्याभिव्यङ्ग्यस्य विक्रियोपपद्यते।

सूक्ष्मता नष्ट होकर यदि उसमे स्थूलता आ जाती है तो वह विकार को प्राप्त होने से नित्य नही रहेगा अर्थात् परिवर्तन हो जाने से नित्य न रहकर अनित्य हो जाएगा। घट की उपलब्धि के लिए प्रतिबन्धकभूत अन्धकार की तरह यहाँ कोई प्रतिबन्धक भी नही है। **प्रश्न**—प्रकाश का अभाव हो अन्धकार है, अत अन्धकार अभावात्मक है, वस्तु अन्तर नही है। **उत्तर**—अन्धकार केवल अभावात्मक नही है अपितु नीलादि वर्ण के समान अतिशय वाला और सम्पन्न रूपवाला (वृद्धि-हानि वाला) होने से वह वस्तुभूत है। यदि स्फोट स्वरूप से अनवस्थित है तो वह स्फोट व्यग्य नही हो सकता और न ध्वनियाँ स्फोट की व्यञ्जक हो सकती है अपितु ध्वनि के सन्निधान से स्वरूप-प्राप्ति का कार्य व्यग्य को मानना पडेगा। अत उन ध्वनियो को व्यञ्जकत्व कहना अयुक्त है। अथवा, प्रथम वर्णध्वनि सम्पूर्ण शब्दात्मक स्फोट की व्यञ्जक है कि एकदेश स्फोट की व्यञ्जक है? यदि प्रथम ध्वनि शब्दस्फोट को पूर्ण रूप से प्रकट कर देती है तो दूसरी-तीसरी आदि ध्वनियाँ निरर्थक हो जायेगी। यदि प्रथम ध्वनि शब्दस्फोट के एकदेश को प्रकट करती है, तो वह निरवयव नही सावयव हो जाएगी। अथवा, वह ध्वनि स्फोट की व्यञ्जक (प्रकट करने वाली) है कि उपकारक है या श्रोत्र को उपकारक है या दोनो की? वे ध्वनियाँ स्फोट की उपकारक तो नही हैं क्योकि जिस प्रकार जल के सींचने से पृथ्वी की गन्ध प्रकट होती है, उस प्रकार ध्वनियाँ स्फोट का उपकार नही कर सकती, क्योकि वह नित्य है, अत. उसमे विकार या किसी के द्वारा किया गया कोई अतिशय नही आ सकता। अमूर्त्त, नित्य और अभिव्यग्य स्फोट मे कोई विकार हो नही सकता। जैसे—अञ्जन चक्षु का उपकारक है, उस प्रकार ध्वनियाँ श्रोत्रेन्द्रिय का उपकार नही कर सकती,

---

१ सूक्ष्मस्वरूपस्य वर्णादे। २ नित्यत्व ही-मु, द., ब ता। ३ नहि कि-आ मु ब। ४ दृष्टा हि तमोवृद्धि सन्ध्याकालादारभ्य आयामादे, ततोऽतिशयवत्त्वाद् वस्त्वन्तरमेव। ५ सपल्लवत्वाच्च-मू द भा। सम्पन्नवत्त्वाच्च-मु. श्र। तमालच्छायादिवत् स्निग्धनीलतम नीलतरत्वादिना। ६ कार्यस्यात् मु। व्यञ्जकस्य। ७. शब्दात्मा स-मु., द, ब। ८ वर्णादिव्यग्यस्य। ९ नित्यत्वमस्य कथमिति चेदाह।

नापि चक्षुषोऽञ्जनवत् श्रोत्रस्योपकारे वर्तते; वधिरस्य गुणान्तरोत्पादनशक्त्यभावात्। युज्यते नेत्रस्याञ्जनमुपकारकमिति तिमिरादिदोषहननदर्शनात्, न तथोपहतश्रवणस्य ध्वनिकृतमुपकार[१] किञ्चिदप्युपलभामहे। अथ [२]कल्पेन्द्रियस्य उपग्रहे वर्तते; न तत्रार्थावबोधनादुपग्रहोऽन्योऽस्ति। तदभ्युपगमे तेनैव कृतकृत्यत्वात् स्फोटकल्पना[३] अनर्थिका। नाप्युभयस्योपग्रहो[४] युक्तः, प्रत्येकमयुक्तत्वादेव।

किञ्च[५], न ध्वनयः स्फोटाभिव्यक्तिहेतवो भवन्ति उत्पत्तिक्षणादूर्ध्वमनवस्थानात् उत्पत्तिक्षणे चाऽसत्त्वात्। अथ क्षणिका अपि सन्तः अभिव्यक्तिहेतवः, कश्चेदानी भवतो मत्सरः? अर्थप्रत्यायने तदभ्युपगमे च स्फोटकल्पना व्यर्था। प्रदीपवदिति चेत्; न; तस्यासिद्धत्वात्। नोत्पत्त्यनन्तरापवर्गी प्रदीपः आत्मलाभे देशान्तरसबन्धनिमित्तक्रिया-परिणामविप्रकृष्टदेशस्थघटादिप्रकाशनदर्शनात्। [६]कर्मवदिति चेत्; असिद्धत्वादेव,

---

क्योकि बधिर-बहरे की इन्द्रिय मे तो उपकार हो ही नही सकता क्योकि बधिर पुरुष के श्रोत्र मे शब्द, गुणान्तर को उत्पादन शक्ति से रहित है। तिमिरादि दोष का नाशक होने से अञ्जन चक्षु का उपकारक हो सकता है परन्तु बधिर कर्णेन्द्रिय के बधिरपने का नाश करके शब्द, कर्ण का उपकार करता हुआ दृष्टिगोचर नही होता। यदि स्वस्थ कर्णेन्द्रिय का उपकार है तो अर्थज्ञान के सिवाय दूसरा उपकार नही है, अर्थात् स्वस्थ कर्णेन्द्रिय का तो शब्द यही उपकार कर सकता है कि उसके द्वारा शब्द का बोध हो जाय। शब्दबोध का यह कार्य तो जब वर्णध्वनियो से ही हो जाता है तो फिर स्फोट की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है अत श्रोत्रेन्द्रिय का उपकारक स्फोट नही है। दोनो की (ध्वनिस्फोट की व्यञ्जना और श्रोत्रेन्द्रिय की उपकारक) उपकारक भी ध्वनि नही हो सकती क्योकि एक-एक की अयुक्तता होने से दोनो की ही अयुक्तता है अर्थात् न तो शब्दस्फोट की उत्पादक है और न श्रोत्रेन्द्रिय की उपकारक।

अथवा, जब ध्वनियाँ (शब्द) उत्पत्ति क्षण के बाद ही नष्ट हो जाती है, उत्पत्ति-क्षण मे भी ध्वनियो का अस्तित्व नही है तब वे ध्वनियाँ स्फोट की अभिव्यक्ति का कारण कैसे बन सकती है? यदि क्षणिक होकर भी वर्णध्वनियाँ (शब्द) स्फोट की अभिव्यक्ति कर सकती है तो सीधा अर्थबोध कराने मे आपका मत्सर भाव क्यो है, शब्द सीधा ज्ञान करा दे, इसमे क्या बाधा है जिससे एक निरर्थक स्फोट न माना जाय? प्रश्न—जैसे दीपक क्षणिक होकर भी पदार्थो के प्रकाशन मे समर्थ है, उसी प्रकार क्षणिक भी वर्णध्वनियाँ स्फोट को उत्पन्न करने और ज्ञान कराने मे समर्थ है। उत्तर—दीपक के क्षणिकपना असिद्ध है अत दीपक सर्वथा क्षणिक नही है क्योकि उत्पत्ति के बाद उसी क्षण मे दीपक का नाश नही होता, क्योकि उसके आत्मलाभ मे (उत्पत्ति मे) देशान्तर सम्बन्ध निमित्तक्रियापरिणाम के कारण देशान्तरवर्त्ती विप्रकृष्ट देश मे स्थित घटादि पदार्थो का

---

१. –रक किञ्च मु, द। २ कर्णेन्द्रियस्य-मु., द, ब.। अदृष्टेन, अदृष्टेन्द्रियस्येत्यर्थ। ३. ध्वनिना।
४. –होऽपि यु-मु, द., ब। ५ किञ्च ने ध्वनयो न स्फोटा, श्र., मू, मु, आ, द, ज। ६ वचनादिव्यापारवत्।

कर्मव्यक्तय:[१] क्षणिका: सत्य. कर्मत्वजातिमभिव्यञ्जयन्तीत्यसिद्धमस्मान् प्रति, द्रव्यगुण-कर्मविषयसामान्यविशेष[२]स्यार्थान्तर[३]भूतस्यानभ्युपगमात्[४] [५]कर्मणोऽपि द्रव्यादपृथग्भूतस्य द्रव्यार्थावस्थानाभ्युपगमात् ।

किञ्च, अभिव्यञ्जकाभिव्यङ्ग्यवैधर्म्यात् । यथा मूर्त क्रियावान् प्रदीपोऽभि-व्यञ्जक तद्वयङ्ग्याश्च घटादय. क्रियावन्तो मूर्तिमन्तो दृष्टा, न च तथा ध्वनिर्मूर्त्त क्रियावाश्च, तद्वयङ्ग्य. स्फोटोऽपि न [६]तद्धर्म ततोऽभिव्यक्त्यभाव ।

किञ्च, स्फोट. ध्वनेरन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा ? यद्यनन्य , तादात्म्य प्राप्नोति, व्यङ्ग्यत्वाभावश्च भेदाभावात् । अथान्य; तस्य श्रोत्रोपलभ्यत्वाभाव ।

किञ्च, व्यङ्ग्यत्वे सति अनित्यत्व स्यात् स्फोटस्य घटादिवत् विज्ञानेन व्यङ्ग्यत्वात् । आकाशादेर्व्यभिचार इति चेत्, न, मूर्तिमता[७] व्यङ्ग्यत्वादिति

प्रकाशन देखा जाता है । 'कर्मव्यक्तियाँ क्षणिक होकर भी कर्मत्व जाति की अभिव्यक्ति करती हैं' यह पक्ष भी ठीक नही है, ऐसा कहना जैनसिद्धान्त के प्रति असिद्ध है क्योकि जैनसिद्धान्त मे द्रव्य, गुण और कर्म मे रहने वाला भिन्न सामान्य पदार्थ नही मानते । कर्म भी द्रव्य से भिन्न पदार्थ नही है और वह कर्म द्रव्यदृष्टि से स्थिर है, क्षणिक नही ।

अथवा, अभिव्यञ्जक और अभिव्यग्यो से विलक्षण होने के कारण भी शब्द से स्फोट की अभिव्यक्ति की कल्पना करना व्यर्थ है । जैसे—मूर्त्तिक और क्रियावान् दीपक के द्वारा मूर्त्त और सक्रिय घटादि पदार्थ अभिव्यक्त होते है, उस प्रकार ध्वनियाँ न तो मूर्त्तिक है और न क्रियाशील हैं और न स्फोट है । अत अभिव्यक्ति की कल्पना उचित नही है ।

अथवा, स्फोट ध्वनि से पृथक् (भिन्न) है कि अभिन्न है ? यदि ध्वनि से स्फोट अभिन्न है तो स्फोट का ध्वनि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त होगा अत दोनो मे अभेद होने से (भेद का अभाव होने से) व्यग्यत्व का भी अभाव होगा । अर्थात् दोनो एक हो जाने से वह व्यग्य नही रह सकेगा । यदि स्फोट शब्द (ध्वनियो) से भिन्न है तो श्रोत्रेन्द्रिय से उपलब्ध नही हो सकेगा ।

अथवा, यदि स्फोट को व्यग्य मानते है तो उसमे घटादि के समान अनित्यता भी आ जाएगी, विज्ञान के द्वारा व्यग्यत्व होने से । प्रश्न—यदि विज्ञान के द्वारा वह प्रकट होता है तो आकाश के साथ व्यभिचार भी आयेगा । अर्थात् ज्ञान के द्वारा अभिव्यग्य (प्रकट) आकाश होता है और वह नित्य है अत: यह हेतु व्यभिचारी है । उत्तर—यह कहना ठोक नही है क्योकि वह स्फोट 'मूर्त्तिमान्

---

१ काष्ठसचयनाग्निसन्धुक्षणादि । २ सत्तासामान्यस्य । ३ त्वत्कल्पितस्य । ४ अस्माकम् ।
५ व्यापारस्यापि । ६ मूर्तादिधर्मा न भवति । ७ -ता व्य-ता श्र ।

विशेष्यवचनात् । किञ्च, यस्य व्यङ्ग्यत्वं तस्य कार्यत्वमपि दृष्टं यथा घटादे.[1] । न तथा स्फोटस्य कार्यत्वमस्ति नित्यत्वाभ्युपगमादिति व्यङ्ग्यत्वाभावः । महदादिवदिति चेत्, साध्यसमत्वात्, यथा महदादि व्यङ्ग्यमेव न कार्य तथा स्फोटोऽपीति; तन्न, साध्यसमत्वात् । यथेदं स्फोटस्य व्यङ्ग्यत्व साध्य तथा महदादेरपीति ।

किञ्च, दृष्टान्ताभावात् । न चामूर्तः कश्चिन्नित्यो निरवयवो मूर्तिमताऽनित्येन सावयवेन व्यङ्ग्यो दृष्टः तदभावात् साध्यसिद्ध्यभावः । तस्मात् ध्वनिरूप एव शब्दो द्विशक्तिरभ्युपगन्तव्य. । स च पुद्गलद्रव्यार्थदिशात्ततोऽनन्यत्वात् स्यान्नित्यः श्रोत्रोपलभ्य-पर्यायसामान्यस्थित्यपेक्षया कालान्तरस्थायी, प्रतिसमयस्थितिभेदा[2]पेक्षया क्षणिक इति च जैनेश्वरदर्शनमनवद्यम् ।

बन्धोऽपि द्विधा विस्रसाप्रयोगभेदात् । ६ । बन्धश्च[3] द्वैविध्यमश्नुते । कुतः ? विस्रसा-प्रयोगभेदात् । वैस्रसिक प्रायोगिकश्चेति ।

द्रव्य के द्वारा ही व्यग्य (प्रकट) होता है' ऐसा विशेष वचन है (हेतु है) किच, जिसके व्यग्यत्व (प्रगटत्व) है (जो प्रगट है) उसका कार्य भी देखा जाता है, जैसे—घटादि, परन्तु घट के समान स्फोट के कार्यत्व नही हो सकता अर्थात् स्फोट कार्य नही बन सकता क्योकि स्फोट को सर्वथा नित्य माना गया है । अत स्फोट व्यग्य से विलक्षण होने के कारण व्यग्य नही बन सकता । अर्थात् व्यग्य का अभाव ही है । 'महान् अहकारादि' साख्य के द्वारा माने गए तत्त्वो का दृष्टान्त देना ठीक नही है, क्योकि अहकार आदि का दृष्टात साध्यसम है, अर्थात् जैसे साध्य स्फोट की व्यग्यता असिद्ध है उसी प्रकार महान् अहकारादि तत्त्व भी असिद्ध है । जैसे—'अहकार महान् आदि व्यग्य है कार्य नही है, वैसे स्फोट भी व्यग्य है, कार्य नही' ऐसा कहना भी ठीक नही है क्योकि जैसे स्फोट का व्यग्य साध्य है, सिद्ध नही है वैसे महदादि भी साध्य कोटि मे है, सिद्ध नही है ।

अथवा, जो अमूर्त्त, नित्य और निरवयव है, वह अनित्य मूर्त्तिमान् और सावयव से व्यग्य होता हो, ऐसा कोई दृष्टान्त भी नही मिलता है और दृष्टान्त का अभाव होने से साध्य की सिद्धि का भी अभाव है । अत. शब्द ध्वनिरूप ही है और वह दो शक्तिरूप (नित्यानित्यात्मक) है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए । वह शब्द पुद्गल द्रव्य से अभिन्न होने से पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से कथञ्चित् नित्य है और श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा सुनने योग्य पर्याय सामान्य की दृष्टि से कालान्तर स्थायी है तथा प्रतिसमय की पर्याय की अपेक्षा से क्षणिक है । इस प्रकार जिनेश्वर का दर्शन ही निर्दोष है ।। ५ ।।

वन्ध भी वैस्रसिक और प्रायोगिक के भेद से दो प्रकार का है ।। ६ ।।

---

१. दीपादिकरणस्य घटादेर्दृश्यत्वादि कार्यम् । २ क्षय । ३ बधोऽपि द्वि-मु ।

आद्यो द्वेधा आदिमदनादिविकल्पात् । ७ । आद्यो वैस्रसिको बन्धो द्विधा भिद्यते । कुत ? आदिमदनादिविकल्पात् । तत्रादिमान् स्निग्धरूक्षगुणनिमित्त विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषय । अनादिरपि वैस्रसिकबन्धो धर्माधर्माकाशानामेकशः त्रैविध्यान्नवविधः । धर्मास्तिकायबध धर्मास्तिकायदेशबन्धः धर्मास्तिकायप्रदेशबन्ध । अधर्मास्तिकायबन्ध अधर्मास्तिकायदेशबन्ध अधर्मास्तिकायप्रदेशबन्ध । आकाशास्तिकायबन्ध आकाशास्तिकायदेशबन्ध आकाशास्तिकायप्रदेशबन्धश्चेति । कृत्स्नो धर्मास्तिकाय, तदर्ध देश, अर्धार्ध प्रदेश । एवमधर्माकाशयोरपि । कालाणूनामपि सतत परस्परविश्लेपाभावात् अनादिः । एकजीवप्रदेशाना च सहरणविसर्पणस्वभावत्वेऽपि परस्परवियोगाभावात् अनादिर्बन्ध । धर्माधर्मकालाकाशाना परस्परवियोगाभावात् अनादिर्बन्ध । नानाजीवानामपि सामान्यापेक्षया इतरद्रव्यैः सह सम्बन्धोऽनादिः । पुद्‌गलद्रव्येष्वपि महास्कन्धादीना सामान्यादनादिर्बन्ध । एव सर्वद्रव्यविषये बन्धे सति पुद्‌गलप्रकरणात् तद्विषयो बन्ध परिगृह्यते ।

विस्रसा विधिविपर्यये निपातः । ८ । पौरुषेयपरिणामापेक्षो विधि, तद्विपर्यये विस्रसाशब्दो निपातो द्रष्टव्य । विस्रसा प्रयोजनो वैस्रसिको बन्ध. ।

आदि (वैस्रसिक) वन्ध आदि और अनादि के विकल्प से दो प्रकार का है। वैस्रसिक बन्ध भी आदिमान् और अनादिमान् के भेद से दो प्रकार का है। स्निग्ध रूक्ष गुणो के निमित्त बिजली, उल्का, जलधारा, अग्नि, इन्द्रधनुष आदि रूप पुद्‌गल का बन्ध है वह आदिमान् वैस्रसिक वन्ध है। अनादि वैस्रसिक बध धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनो का परस्पर सम्बन्ध करने से नव प्रकार का होता है। जैसे—धर्मास्तिकाय बन्ध, धर्मास्तिकाय देशवन्ध, धर्मास्तिकाय प्रदेश बन्ध, अधर्मास्तिकाय बन्ध, अधर्मास्तिकाय देशबन्ध, अधर्मास्तिकाय प्रदेशवन्ध, आकाशास्तिकाय बन्ध, आकाशास्तिकाय देशबन्ध और आकाशास्तिकाय प्रदेश बन्ध। सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय है, उसका आधा देश और आधे का आधा प्रदेश कहलाता है। अत धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकायदेश ओर धर्मास्तिकाय प्रदेश बन्ध के तीन भेद है, इसी प्रकार सब मे लगाना चाहिये। कालाणुओ का कभी परस्पर विश्लेष नही होता अत कालाणुओ का भी वैस्रसिक बन्ध अनादि है [परन्तु कालाणुओ मे प्रदेशो के समूहो का अभाव होने से उनमे प्रदेशवन्ध, देशवन्ध आदि भेद नही है।] एक, जीव के प्रदेशो का सहरण ओर विसर्पण स्वभाव होने पर भी परस्पर विश्लेष (वियोग) नही होता है अत उनका अनादिबन्ध है। धर्म, अधर्म और आकाश काल का कभी परस्पर वियोग नही होता अत इनका भी परस्पर अनादिबध है। नाना जीवो का भी सामान्य दृष्टि से अन्य द्रव्यो के साथ अनादि सम्बन्ध है। पुद्‌गल द्रव्यो मे भी महास्कन्ध आदि का सामान्य रूप से अनादिवन्ध है। इस प्रकार सब द्रव्यो मे बन्ध की सभावना है परन्तु यहाँ पर पुद्‌गल का प्रकरण होने से पुद्‌गल का ही बन्ध लेना चाहिए ।। ७ ।।

विधि से विपरीत विस्रस कहलाता है। पुरुषार्थ की अपेक्षा 'विधि' होती है अर्थात् करके

प्रयोगः पुरुषकायवाङ्मनः संयोगलक्षणः । ९ । पुरुषस्य कायवाङ्मनःसंयोगः प्रयोग इत्युच्यते । [१]प्रयोगप्रयोजनो बन्धः प्रायोगिकः । स द्वेधा अजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति । तत्रा जीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणः । जीवाजीवविषय कर्मनोकर्मबन्धः । कर्मबन्धो ज्ञानावरणादिरष्टतयो[२] वक्ष्यमाणः । नोकर्मबन्ध. औदारिकादिविषयः । स पुनः पञ्चविधः—आलपनाऽऽले[३]पनसश्लेषशरीरशरीरिभेदात् । रथशकटादीना लोहरज्जुवरत्रादिभिरालपनादाकर्षणात् बन्धः आलपनबन्धः । अनेकार्थत्वात् धातूना लपि· आकर्षणक्रियो ज्ञेयः कुडचप्रासादादीना मृत्पिण्डेष्टकादिभिः प्रलेपदानेन अन्योन्या[४]लेपनात् अर्पणात् [५]आलेपनबन्ध· । धातूनामनेकार्थत्वात् आङ्पूर्वस्य [६]लिपः अर्पणक्रियस्य ग्रहणम् । जतुकाष्ठादिसश्लेषणात् सश्लेषबन्धः । शरीरबन्धः पञ्चधा—औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धभेदात् । स प्रत्येकं चतुश्चतुश्चतुर्द्विरेकभङ्गभेदात् पञ्चदशधा । तत्रौदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशानामौदारिक-

---

जो किया जाता है वह विधि है। विधि से उलटा 'विस्रसा' शब्द है अर्थात् स्वाभाविक विस्रसा कहलाता है और किया जाता है वह विधि है। स्वभाव जिसका प्रयोजन है वह बन्ध वैस्रसिक कहलाता है ।। ८ ।।

पुरुष के काय, वचन और मन के सयोग को प्रयोग कहते है। प्रयोग जिसका प्रयोजन है, वह वन्ध प्रायोगिक कहलाता है। वह प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार का है—एक अजोवविषयक और दूसरा जोवाजीव विषयक। लाख और काठ का बध अजीव विषयक बन्ध है। कर्म और नोकर्म का वन्ध जोवाजीवविषयक वध है। (अजीव विषयक बन्ध में लाख और काठ दोनो अजीवो का वध है और जोव-अजीव विषय मे आत्मा जीव और पुद्गल अजीव इन दोनो के सम्बन्ध से बन्ध है, एक-एक के नही)। ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म का बन्ध आगे आठवे अध्याय मे कहेगे वह कर्मवन्ध है। नोकर्म वन्ध औदारिक आदि शरीर-विषयक है तथा आलपन, आलेपन (आलयन), सश्लेष, शरीर और शरीरी के भेद से वन्ध पाँच प्रकार का है। रथ, गाड़ी आदि का लोहे की सांकल, रस्सो आदि से खोचकर बांधना आलपन वन्ध है। धातुओ के अनेक अर्थ होते हैं उसमे 'लपि' धातु आकर्षण और क्रिया अर्थ मे है। यहाँ 'लपि' धातु का अर्थ खीचना जानना चाहिये। दीवाल, महल आदि का मिट्टी का गारा ईंट आदि के द्वारा परस्पर चिनना, लेपन देना अर्पण करना, आलेपन (आलयन) वन्ध है। धातुओ के अनेक अर्थ होने से यहाँ 'आङ्' उपसर्ग-पूर्वक 'लिप्' धातु का अर्थ अर्पण क्रिया मे लेना चाहिए। जतु (लाख) काठ आदि के सयोग से सश्लेपण वन्ध होता है, उसे सश्लेष वन्ध कहते हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर नोकर्म वन्ध के भेद से शरीरवध पाँच प्रकार का है। यह शरोरवध प्रत्येक के

---

१. प्रयोग प्रयो-ना अ.। २. -ष्टधा व-मु, द व.। ३. -नालयनम-ना., अ., मू। ४ -न्यालयना-ना. अ. मू.। ५. आलयनब-ना. अ मू। ६. लिह ता अ मू द.। लिह-ता अ मु,।

शरीरनोकर्मप्रदेशैरन्योन्यानुप्रवेशात् औदारिकौदारिकशरीरनोकर्मबन्धः प्रथम । औदारिकतैजसशरीरनोकर्मप्रदेशानाम् अन्योन्यानुप्रवेशाद् औदारिकतेजसशरीरनोकर्मबन्धो द्वितीयः। औदारिककार्मणशरीरनोकर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेश औदारिककार्मणशरीर-नोकर्मबन्धस्तृतीय. । औदारिकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेश. औदारिकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धश्चतुर्थ । अनेन विधिना वैक्रियिकवैक्रियिकशरीर-नोकर्मबन्धः वैक्रियिकतैजसशरीरनोकर्मबन्ध· वैक्रियिककार्मणशरीरनोकर्मबन्धः वैक्रियिक-तैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्ध । आहारकाहारकशरीरनोकर्मबन्धः आहारकतैजसशरीरनो-कर्मबन्धः आहारककार्मणशरीरनोकर्मबन्धः आहारकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धः। तैजसतैजसशरीरनोकर्मबन्ध. तैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धः। कार्मणकार्मणशरीरनो-कर्मबन्धश्च योज्यः। शरीरिबन्धो द्वेधा—अनादिरादिमाश्च। अष्टजीवमध्यप्रदेशाना-मुपर्यधश्चतुर्णा रुचकवदवस्थिताना सर्वकालमन्योन्यापरित्यागात् अनादि[1]बन्ध । इतरेषा प्रदेशानां कर्मनिमित्तसहरणविसर्पणस्वभावत्वादादिमान्। अथवा, यथा क्रोधपरिणत आत्मैव क्रोधः तथा तप्तायः पिण्डवत् शरीरेण [2]सह बन्ध प्रत्यात्मन. एकत्वादात्मैव

सयोगज चार, चार, चार, दो और एक भग भेद से पन्द्रह प्रकार का भी है। औदारिक शरीर नोकर्म के प्रदेशो का अन्य औदारिक नोकर्म प्रदेशो के साथ परस्पर सम्बन्ध होने पर औदारिक औदारिक शरीर नोकर्म बन्ध प्रथम भेद होता है। औदारिक और तेजस शरीर नोकर्म प्रदेशो के परस्पर सम्बन्ध से जो बन्ध होता है वह औदारिक तैजस शरीर नोकर्म वन्ध यह द्वितीय भेद है। औदारिक और कार्माण शरीर नोकर्म प्रदेशो के परस्पर अनुप्रवेश से तीसरा औदारिक कार्माण शरीर नोकर्म बन्ध है। औदारिक तैजस और कार्माण शरीर नोकर्म प्रदेशो के परस्पर सम्बन्ध से चतुर्थ औदारिक तैजस कार्माण शरीर नोकर्म बन्ध है। इसी प्रकार वैक्रियिक वैक्रियिक शरीर नोकर्मबन्ध, वैक्रियिक तैजस शरीर नोकर्मबन्ध, वैक्रियिककार्माणशरीरनोकर्मबन्ध, वैक्रियिक तजस कार्माण शरीरनोकर्मबन्ध, आहारक आहारक शरीर नोकर्मबध, आहारक तेजस शरीर नोकर्मवन्ध, आहारक कार्माण शरीर नोकर्मवन्ध, आहारक तैजस कार्माण शरीर नोकर्मवन्ध, तैजस-तंजस शरीर नोकर्मबन्ध, तैजस कार्माण शरीर नोकर्मवन्ध और कार्माण-कार्माण शरीर नोकर्मबन्ध जानना चाहिए। शरीरबन्ध दो प्रकार है—अनादिमान् और आदिमान्। जीव के आठ मध्यप्रदेशो का, जो ऊपर-नीचे चार-चार रूप से स्थित है, वे सदा वैसे ही रहते है, रुचक के समान अवस्थित है, सर्वकाल मे एक-दूसरे को नही छोड़ते है, यह अनादिमान् शरीरबध है। अन्य प्रदेशो मे कर्मनिमित्तक सकोच-विस्तार होता रहता है अत. उनका बध आदिमान् है। अथवा जेसे क्रोधपरिणत आत्मा को क्रोध कहते है, उसी प्रकार गरम लोहे के पिण्ड के समान शरीर के साथ बन्ध की अपेक्षा एकत्व को प्राप्त हुआ शरीरपरिणत आत्मा ही शरीर है अत. शरीर वन्ध के पूर्वोक्त

---

१ –दिसम्बन्ध मु., द । २ सह सम्बन्ध प्र-अ.। सह वन्धे सत्या-द ।

शरीरमिति व्यपदेशात्[१] पूर्वोक्ताः पञ्चदश विकल्पाः [२]शरीरिविषयत्वेन योज्याः। औदारिकादिशरीरभेदार्पणात् प्रागुक्ता विकल्पाः।

अत्राह–कर्मनोकर्मणोः कः प्रतिविशेष इति ? उच्यते–आत्मपरिणामेन योगभावलक्षणेन क्रियत इति [३]कर्म। तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम्। तदुदयापादितः पुद्गलपरिणाम आत्मनः सुखदुःखबलाधानहेतुः औदारिकशरीरादिः ईषत्कर्म नोकर्मेत्युच्यते। किञ्च, स्थितिभेदाद्भेदः। कर्मणां स्थितिरुत्तरत्र वक्ष्यते। नोकर्मणां स्थितिरुच्यते–औदारिकवैक्रियिकशरीरयोः स्वायुःप्रमाणस्थितिर्निषेकः। तत्रौदारिकशरीरस्य त्रिपल्योपमा स्थितिः, यस्मादेकसमयादारभ्य आत्रिपल्योपमसमाप्तेरवस्थानम्। वैक्रियिकशरीरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा स्थितिः, यस्मादेकसमयनिषेकादारभ्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्त्यसमयावस्थानम्। आहारकशरीरस्य अन्तर्मुहूर्तपरिमाणा स्थितिः। तैजसशरीरस्य षट्षष्टिसागरोपमा स्थितिः। कार्मणशरीरस्य कर्मस्थितिः ज्ञानावरणाद्यनेककर्मस्थितिसंभवेऽप्यात्मीयैव कर्मस्थितिर्ग्राह्या। औदारिकवैक्रियिकतैजसकार्मणशरीरकर्मणामेकैकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः स्थितिः। आहारकशरीरकर्मणोऽन्तःकोटीकोट्यः स्थितिः।

औदारिक आदि पन्द्रह भेद (विकल्प) शरीरी मे भी लगा लेने चाहिए। औदारिक आदि की विवक्षा से पन्द्रह विकल्प ऊपर कहे है।

प्रश्न—कर्म और नोकर्म मे क्या विशेषता है ? **उत्तर**— आत्मा के योग परिणामो के द्वारा जो किया जाता है उसे कर्म कहते है। यह कर्म ही आत्मा को परतन्त्र बनाने का मूल कारण है। कर्म के उदय से होने वाला वह औदारिक शरीर आदि रूप पुद्गल परिणाम जो आत्मा के सुख दुःख मे सहायक होता है वह ईषत् कर्म-नोकर्म कहलाता है। अथवा स्थिति के भेद से भी कर्म और नोकर्म मे भेद होता है। ज्ञानावरणादि कर्मो की स्थिति आगे कहेगे। नोकर्म की स्थिति का वर्णन करते है—औदारिक और वैक्रियिक शरीर मे अपनी आयु के प्रमाण निषेक होते है। औदारिक शरीर की तीन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है अतः एक समय से लेकर तीन पल्य की समाप्ति तक औदारिक शरीर का अवस्थान है। वैक्रियिक शरीर की तैतीस सागर की उत्कृष्ट स्थिति है। अतः एक समय से लेकर तैतीस सागर की समाप्ति तक अर्थात् तैतीससागर के अन्तिम समय तक वैक्रियिक शरीर का अवस्थान रहता है। आहारक शरीर की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। तैजस शरीर की उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागर प्रमाण है। ज्ञानावरणादि कर्मो के समूह रूप कार्मण शरीर की स्थिति ज्ञानावरणादि अनेक कर्मो की स्थिति के समान होने पर भी अपनी-अपनी स्थिति लेनी चाहिये अतः नामकर्मरूप औदारिक वैक्रियिक तैजस और कार्मण शरीर मे एक-एक की

---

१ शरीरिवन्ध। २ शरीरवि-मू. ता. श्र. द.। ३ अष्टविधम्।

सौक्ष्म्यं द्विविधम् अन्त्यमापेक्षिकं च । १० । सौक्ष्म्य द्विविध वेदितव्यम् । कुत ? अन्त्यम् आपेक्षिक चेति । तत्राऽन्त्य परमाणूनाम् । आपेक्षिक बिल्वामलक-बदरादीनाम् ।

तथा स्थौल्यम् । ११ । तेनैव प्रकारेणान्त्यम् आपेक्षिक चेति द्विविधं स्थौल्यमवगन्तव्यम् । तत्रान्त्य स्थौल्य जगद्व्यापिनि महास्कन्धे । आपेक्षिक बदरामलकबिल्वतालादिषु ।

संस्थानं द्वेधा-इत्थंलक्षणम् अनित्थंलक्षणं च । १२ । सस्थानमाकृतिर्द्वेधा भिद्यते—इत्थलक्षणम्, अनित्थलक्षण चेति ।

वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतपरिमण्डलादि इत्थमतोऽन्यदनित्थम् । १३ । वृत्त त्र्यस्रं चतुरस्रमायत परिमण्डलमित्येवमादि सस्थानमित्थलक्षणम् । अतोऽन्यन्मेघादीना सस्थानम् अनेकविधम् इत्थमिदमिति निरूपणाभावात् अनित्थलक्षणम् ।

उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडा-कोडी सागर की है, आहारक शरीर कर्म की स्थिति अन्त-कोडाकोडी है ।। ९ ।।

सौक्ष्म्य दो प्रकार का है—एक अन्त्य और दूसरा आपेक्षिक । उसमे अन्त का सौक्ष्म्य परमाणुओ मे है क्योकि परमाणु से सूक्ष्म कोई भी वस्तु नही है और आपेक्षिक सौक्ष्म्य बेर, आँवला विल्व आदि को अपेक्षा है अर्थात् विल्व (बेल फल) से आँवला सूक्ष्म है और आँवला से बेर सूक्ष्म है ।। १० ।।

उसी प्रकार स्थौल्य भी दो प्रकार का है—एक अन्त्य और दूसरा आपेक्षिक । अन्त्यस्थौल्य जगद्व्यापो महास्कन्ध मे है और आपेक्षिक बेर, आँवला, विल्व और ताडफल आदि मे है अर्थात् वैर को अपेक्षा आँवला स्थूल है और आँवले की अपेक्षा बिल्व स्थूल है ।। ११ ।।

सस्थान दो प्रकार का है—इत्थभूत और अनित्थभूत लक्षण की अपेक्षा । सस्थान का अर्थ आकृति है, वह आकृति इत्थभूत और अनित्थभूत की अपेक्षा दो प्रकार की है ।। १२ ।।

गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, लम्बा, चौडा आदि रूप से जिसका वर्णन किया जा सके, वह इत्थभूत सस्थान है । जैसे—पाटा, क्षेत्र, घर आदि । यह ऐसा लम्बा चोडा है, इत्यादि रूप से जिसका वर्णन नही किया जा सके, वह अनित्थभूतसम्थान है । जैसे—विजली, मेघ आदि अनेक आकार है । अर्थात्—जिसमे गोल आदि के निरूपण करने का अभाव है, वह सव अनित्थभूत सस्थान है ।। १३ ।।

भेदः षोढोत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात् । १४ । भेद षोढा भिद्यते । कुतः ? उत्करादिविकल्पात् । तत्रोत्करः काष्ठादीना करपत्रादिभिरुत्करणम् । चूर्णो यवगोधूमादीनां सक्तुकणिकादि । खण्डो घटादीना कपालशर्करादि । चूर्णिका माषमुद्गादीनाम् । प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम् । अणुचटन तप्तायःपिण्डादिष्वयोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गम ।

तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणम् । १५ । दृष्टे प्रतिबन्धक वस्तु तम इति व्यपदिश्यते । यदपहरन् प्रदीप प्रकाशको भवति ।

छाया प्रकाशावरणनिमित्ता । १६ । प्रकाशावरण शरीरादि यस्या निमित्त भवति सा छाया ।

सा द्वेधा तद्वर्णादिविकार-[1]प्रतिबिम्बमात्रग्रहणविकल्पात् । १७ । सा छाया द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुत ? तद्वर्णादिविकारात् [2]प्रतिबिम्बमात्रग्रहणाच्च । आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणता[3] उपलभ्यते । इतरत्र [4]प्रतिबिम्बमात्रमेव ।

भेद छह प्रकार का है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन के भेद से। लकड़ी आदि को करोत आदि से चीरना उत्कर है। गेहूँ चना जौ आदि का सत्तू, चून आदि वनाना चूर्ण है। घड़े आदि के खप्पर, टुकडे आदि हो जाना खण्ड है। मूग, उडद चना आदि की दाल वनाना चूर्णिका है। अभ्रक आदि के पटल प्रतर है। अग्नि से सतप्त लोहे आदि को घन आदि से कूटने पर जो स्फुलिगे निकलते है, उन्हे अणुचटन कहते है ।। १४ ।।

दृष्टिका प्रतिवन्धक कारण तम है। जो पुद्गल की पर्याय रूप वस्तु दृष्टि की प्रतिवन्धक है, जिसके होने पर चक्षु वाह्य वस्तु को देखने मे असमर्थ हो जाती है, उसे तम (अन्धकार) कहते है। उस अन्धकार को हटाने के कारण दीपक प्रकाशक कहा जाता है ।। १५ ।।

प्रकाश के आवरण के निमित्त को छाया कहते है। प्रकाश के आवरणभूत शरीरादि जिसके निमित्त है, वह छाया है ।। १६ ।।

वह छाया दो प्रकार की है—वर्णविकारपरिणता और प्रतिविम्वमात्र के विकल्प से। दर्पण के वर्णविकार मे और प्रतिविम्व ग्रहण मात्र से छाया दो प्रकार की है—दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थ मे दर्पण के वर्ण के समान मुख आदि का दिखना तद्वर्णपरिणता छाया है तथा अन्यत्र धूप आदि में शरीरादि छाया है, वह प्रतिविम्वमात्र छाया है।

---

१. प्रतिबिम्बमा-अ, मु, द । २ प्रतिवन्धमा-द., अ । ३ देवदत्तमुखस्य श्यामत्वादि। ४. प्रतिबिम्बमा अ ।

अत्राह–विपरीत[१]ग्रहण कुत, प्राङ्मुखस्य प्रत्यङ्मुखा छाया दृश्यते इति ? प्रसन्नद्रव्यपरिणामविशेषाद्भवति । अत्र [२]चोद्यते–नादर्शतलादिच्छायासद्भाव । किं तर्हि ?[३] 'नयननिर्गतेन रश्मिना [४]घनद्रव्यात् प्रतिहतनिवृत्तेन स्वमुखस्यैव ग्रहणम्' इति, तदयुक्तम्, विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गात्, कुड्यादिषु अतिप्रसङ्गात्, ग्रहणशक्त्यभावाच्च । विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गस्तावत् यदि प्रतिनिवृत्तेन नयनरश्मिना स्वशरीरस्यैव ग्रहण प्राङ्मुखस्य [५]प्राङ्मुखमित्येव ग्रहण स्यात्, विपर्यासहेत्वभावात् । कुड्यादिषु चातिप्रसङ्ग स्यात्, नयनरश्मे प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावात् । नाप्यसौ नयनरश्मिः शरीरान्निष्क्रान्त मनसाऽनधिष्ठितो ग्रहीतुं शक्नोति ।

आतप उष्णप्रकाशलक्षणः । १८ । आतप आदित्यनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षणः पुद्गलपरिणाम ।

प्रश्न—पूर्वमुख की छाया पश्चिममुखी देखी जाती है, यह विपरीतता क्यो है ? **उत्तर**—प्रसन्न (स्वच्छ) द्रव्य के परिणमन विशेष से पूर्वमुख पदार्थ की पश्चिममुखी छाया पडती है। यहाँ कोई (मीमासक) आशका करता है कि दर्पण आदि मे छाया का सद्भाव नही है, अर्थात् दर्पण आदि मे छाया नही पडती अपितु नेत्र से निकली हुई किरणे दर्पणादि घन द्रव्य से टकराकर वापस लौटती हैं और अपने मुख को ही देखती है। **उत्तर**—नयन से निकली हुई किरणे घनद्रव्य से टकराकर वापिस लौटती है ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि इसमे विपरीत (पूर्वमुख की पश्चिममुखी) ग्रहण का अभाव, दीवाल आदि से टकराने का प्रसग और ग्रहणशक्ति के ग्रहण के अभाव का प्रसग आयेगा। अर्थात् जब नेत्र की किरणे वापिस लौट कर आती है तो पूर्व दिशा की तरफ जो मुख है वह पूर्वाभिमुख ही दिखाई देना चाहिए, पश्चिमाभिमुख नही, अत विपरीत छाया के ग्रहण का अभाव होगा। नेत्र की किरणे जैसे दर्पण से टकराकर लौटती है और अपने मुख को देखती है तो उसी प्रकार दीवाल आदि से टकरा करके भी अपने मुख को देखना चाहिए क्योकि नेत्र की किरणो के प्रतिघात द्रव्य का वहाँ पर भी सद्भाव रहता है तथा शरीर से निकली हुई नेत्र की किरणे मन के अधिष्ठान के बिना पदार्थ को ग्रहण करने मे समर्थ भी नही हो सकती ।। १७ ।।

उष्ण और प्रकाश लक्षण वाला आतप है। सूर्य आदि के निमित्त से होने वाला उष्ण प्रकाश (जिसमे उष्णता और प्रकाश दोनो होते है ऐसा) रूप पुद्गल का परिणमन आतप कहलाता है ।। १८ ।।

---

१ –रीत अ-श्र । २ अत्र प्रतिवाक्यमुच्यते । ३. "अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौर्येण तेजसा । स्फुरता चाक्षुष तेज प्रतिस्रोत प्रवर्तितम् । स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकधा । भिन्नमूर्त्ति यथापात्र तदास्यानेकता कुत ।" मी श्लो शब्दनि श्लो १८०-१८१ । ४ आदर्शादि । ५ प्राङ्मुखमेव अ-मु द ।

उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिविषयः । १९ । चन्द्रमणिखद्योतादीना[1] प्रकाश उद्योतः उद्यते[2] ।

क्रियोपसंख्यानं पुद्गलपरिणामादिति चेत्; न; धर्माधर्माकाशानां क्रियाप्रतिषेधासंबन्धेनोक्तत्वात् । २० । स्यादेतत्–क्रिया उपसख्यातव्या। कुत.? पुद्गलपरिणामादिति; तन्न, कि कारणम्? धर्माधर्माकाशाना क्रियाप्रतिषेधसबन्धेनोक्तत्वात् ।

कालस्यापि क्रियावत्त्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; पूर्वत्रानभिधानात् । २१ । स्यान्मतम्–यदि धर्माधर्माकाशाना क्रियापरिणामप्रतिषेधात् सामर्थ्यात् पुद्गलाना क्रियावत्त्वमवसीयते,[3] ननु कालस्यापि क्रियावत्त्व प्रसज्यत इति, तन्न, कि कारणम्? पूर्वत्र अनभिधानात् "[4]**अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः**"[5] इत्यत्र। तत्र हि पाठे "**आ आकाशादेकद्रव्याणि, निष्क्रियाणि**"[6] इत्यत कालस्य बहिर्भावात् पुद्गलवत् क्रियावत्त्व भवेत्। अथवा, पूर्वत्रानभिधानात्। क्व? द्रव्याणि जीवा· कालश्चेति। यदि

चन्द्र, मणि, खद्योत आदि का प्रकाश उद्योत है। अर्थात् चन्द्रमा, माणिक्य, जुगनू आदि का जो प्रकाश होता है वह उद्योत कहलाता है ।। १९ ।।

पुद्गल का परिणमन होने से क्रिया का भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए ऐसी आशका नही करनी चाहिए क्योकि धर्म, अधर्म और आकाश के क्रिया का निषेध करने से क्रिया का ग्रहण हो ही जाता है। **प्रश्न**--पुद्गल की पर्याय होने से क्रिया को भी ग्रहण करना चाहिए? **उत्तर**—ऐसा नही कहना चाहिए, क्योकि धर्म, अधर्म, आकाश को पूर्वसूत्र मे निष्क्रिय कहा है अत क्रिया पुद्गल की पर्याय है, इसका बिना कहे ही ग्रहण हो जाता है ।। २० ।।

पूर्वत्र अस्तिकायो मे काल का ग्रहण नही होने से काल के क्रियावत्त्व का प्रसग नही आता। **शंका**—यदि धर्म, अधर्म और आकाश के क्रिया परिणाम के निषेध के सामर्थ्य से पुद्गल के क्रियावत्त्व सिद्ध होता है तो काल के भी क्रिया होनी चाहिए क्योकि काल के क्रियावत्त्व का निषेध नही किया गया है? **उत्तर**—'काल' द्रव्य मे पुद्गल की तरह क्रियावत्त्व का प्रसग नही आता क्योकि '**अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः**' इस सूत्र मे अस्तिकायो के निर्देश मे 'काल' द्रव्य का ग्रहण नही किया गया है। यदि अस्तिकाय के सूत्र मे 'काल' द्रव्य का ग्रहण होता तब तो '**आआकाशादेकद्रव्याणि, निष्क्रियाणि**' इन सूत्रो से काल के बाह्य होने के कारण काल के भी पुद्गल की तरह क्रियावत्त्व (देशान्तर प्राप्ति रूप क्रिया) का प्रसग आता अथवा यदि काल को

---

१ –ताना-श्र। २. उच्यते-मु, मू ता द। वद् व्यक्तायां वाचि। ३ –वत्त्वमनुमीयते मु।
४ क्वेत्याशङ्कायामाह। ५ त. सू ५।१। ६ त सू ५।६-७।

कालस्य क्रियावत्त्वमिष्टं भवेत् तत्र पठ्येत, तथा सति "जीवाश्च" [त.सू.५।३] इति च शब्दाकरणात् लघुसूत्रं स्यात्, पुन 'कालश्च' इत्यवचनाच्च। अनन्तसमयार्थं पुन: 'कालश्च' इति कर्तव्यमिति चेत्, न; आकाशस्यानन्ता[१] कालस्य[२] चेति सिद्धत्वात्। एव लघीयसा न्यायेन सिद्धे यदुत्तरत्र विदेशे[३] "कालश्च" [त.सू. ५।३९] इति वचनं तेन ज्ञायते नास्ति कालस्य क्रियावत्त्वमिति। तच्च निष्क्रियत्व परिस्पन्दात्मिका क्रिया प्रत्यवसेयम्, न चास्त्यादिक्रिया प्रति। तस्मादनादिपारिणामिकास्त्यादिक्रिया द्रव्यार्थादेशात् स्यात् क्रियावान् काल। देशान्तरप्रापणसमर्थपरिस्पन्दक्रियाविशेष-परिणामाभावादेशाच्च स्यान्निष्क्रिय।

सा दशप्रकारा प्रयोगबन्धाभावच्छेदाभिघातावगाहन[४] गुरुलघुसंचारसंयोगस्वभाव-निमित्तभेदात्। २२। सैषा क्रिया दशप्रकारा वेदितव्या। कुत. प्रयोगादिनिमित्तभेदात्, तद्यथा इष्वेरण्डबीजमृदङ्गशब्दजतुगोलकनौद्रव्यपाषाणालाबू–मुराजलदमारुतादीनाम्। इषुचक्रकणयादीना प्रयोगगति। [५]एरण्डतिन्दुकबीजाना बन्धाभावगति। मृदङ्गभेरी-

सक्रिय मानना इष्ट होता तो **'द्रव्याणि जीवाः कालश्च'** ऐसा पूर्व निर्देश किया होता। परन्तु 'द्रव्याणि जीवा कालश्च' ऐसा सूत्र नही है और ऐसा करने पर 'जीवा कालश्च' 'जीवाश्च' इस सूत्र मे 'च' शब्द का प्रयोग नही करना पडता तो सूत्र लघु हो जाता और 'कालश्च' इस सूत्र का पृथक् निर्माण भी नही करना पडता। अनन्त समयो की सूचना के लिए 'कालश्च' इस सूत्र की सार्थकता है? ऐसा भी कहना उचित नही है, क्योकि ऐसा मानने पर तो 'आकाशस्यानन्ताकालश्च' इस प्रकार सूत्र का निर्माण करने से प्रयोजन सिद्ध हो सकता था। इस प्रकार लघु न्याय से सर्वकार्य सिद्ध हो जाने पर भी जो आगे 'कालश्च' ऐसा पृथक् सूत्र बनाया गया है, उससे ज्ञात होता है कि काल के क्रियावत्त्व इष्ट नही है। यह धर्मादि की निष्क्रियता परिस्पन्द रूप क्रिया की अपेक्षा से जानना चाहिये, अस्ति आदि भावात्मक क्रियाओ की अपेक्षा से नही। अत अनादि पारिणामिक अस्ति आदि क्रियादृष्टि से काल द्रव्य क्रियावान् है परन्तु देशान्तर-प्राप्ति कराने मे समर्थ परिस्पन्द क्रियाविशेष परिणाम का अभाव होने से काल निष्क्रिय है ।। २१ ।।

प्रयोग, बन्धाभावच्छेद, अभिघात, अवगाहन, गुरु, लघु, सचार, सयोग, स्वभाव और निमित्त के भेद से क्रिया दस प्रकार की है। वह क्रिया प्रयोगादि के निमित्त से दस प्रकार की है। जैसे—बाण, एरण्डबीज, मृदङ्ग, शब्द, जतु, गोलक, नौका, द्रव्य, पाषाण, तूम्बी, सुरा, जलधर (मेघ) वायु आदि की गति, प्रयोगादि निमित्त से होने वाली क्रिया है। उनका पृथक्-पृथक् निर्देश करते है, जैसे —बाण, चक्र, कणय आदि की प्रयोग गति है क्योकि बाण, चक्र आदि पुरुष के प्रयोग से

१ प्रदेशा। २ कालस्य चेति तत्रैवोक्ते अनन्ता समया इति गम्यते। ३ निर्देशे मु। अग्रवृत्ते गुणपर्ययवद् द्रव्यमित्यत्र। ४ –हगु-ता, श्र मू। ५ तुम्बुरस्तिन्दुक स्फूर्जक कालस्कन्दश्च शितिमारके।

शङ्खादिशब्दपुद्गलाना छिन्नाना गति छेदगति.। जतुगोलककन्दुदारुपिण्डादीनाम् अभिघातगतिः। नौद्रव्यपोतकादीनाम् अवगाहनगति॰। पाषाणायःस्फालाना गुरुगति.। अलाबूद्रुतार्कतूलादीना लघुगतिः। सुरासौवीरकादीना सचारगतिः। [१]जलदरथमुशलादीनां वायुवाजिहस्त्यादीना सयोगनिमित्ता सयोगगति। मारुतपावकपरमाणुसिद्ध-ज्योतिष्कादीना स्वभावगति। वायो. केवलस्य तिर्यग्गति.। भस्त्रादियोगादनियता गतिः। अग्नेरूर्ध्वगति. कारणवशाद्दिगन्तरगतिः। परमाणोरनियता। सिद्ध्यतामूर्ध्वगतिरेव। ज्योतिष्णा नित्यभ्रमण नृलोके।

मत्वर्थीयप्रयोगादन्यत्वं शब्दादीनां दण्डवदिति चेत्; न; अनेकान्तात्। २३। स्यान्मतम्–यथा अन्यत्वे सति संबन्धे मत्वर्थीयो दृश्यते दण्डी देवदत्त इति, तथा अत्रापि मत्वर्थीयदर्शनात् शब्दादीनामन्यत्व तद्वद्भ्योऽनुमीयत इति; तन्न, कि कारणम्?

देशान्तर मे जाते है। एरण्ड और तिन्दुक के बीज आदि की बधाभाव गति है क्योकि इनके बन्ध का अभाव होने से ऊर्ध्वगमन क्रिया होती है। मृदग, भेरी, शखादि शब्दरूप पुद्गलो की जो दूर तक जाते है, यह पुद्गलो की छेद गति है। जतु (लाख), गोलक, कन्दु, दारु, पिण्ड आदि की अभिघात गति है। नौका आदि द्रव्यो की अवगाहनगति है। पाषाण, लोहा आदि के स्फालन से नीचे की ओर गुरुत्व गति है। तुम्बड़ी, अर्क, रुई आदि की लघु गति है। सुरा, सिरका आदि की सचार गति है। मेघ, रथ, मुशल आदि की क्रमशः वायु, घोड़ा, हाथी आदि के सयोग के निमित्त से होने वाली सयोग गति है। बादलो की गति (गमन) वायु के सयोग से होती है। रथ की गति घोड़ा-हाथी के सयोग से है और मुशल की हलन-चलन गति हाथ के सयोग से होती है। वायु, अग्नि, परमाणु, सिद्ध और ज्योतिषी देवो आदि की गति स्वाभाविक होने से स्वभाव गति है। अकेली वायु की तिर्यक्गति है, वायु तिरछी चलती है। भस्त्रादि के योग के कारण वायु की अनियत गति होती है। अग्नि की स्वाभाविक ऊर्ध्व गति है। वायु आदि के कारण अग्नि की अन्य दिशाओ मे भी गति होती है। परमाणु की अनियत गति है। मुक्त होने वाले जीवो की ऊर्ध्व गति है अर्थात् १४ वे गुणस्थान के नाश हो जाने पर स्वाभाविक ऊर्ध्व गति के कारण यह जीव एक समय मे लोकाकाश पर्यन्त जाकर स्थिर हो जाता है। ज्योतिषियो का नृलोक मे नित्य भ्रमण होता है।। २२।।

शब्द, बन्ध आदि के 'मतु' अर्थीय प्रत्यय का प्रयोग होने से दण्ड के समान यह पुद्गल से भिन्न है, ऐसा नही कहना चाहिये; क्योकि पर्याय-पर्यायी मे भेदाभेद के प्रति अनेकान्त है। **प्रश्न**—भिन्न-भिन्न देवदत्त और दड का सम्बन्ध होने पर जैसे दडी मे 'मतु' प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है कि 'दंडी देवदत्त' उसी प्रकार यहाँ 'मत्त्वर्थीय' प्रत्यय का प्रयोग होने से शब्दादि का पुद्गल से भिन्न

---

१ जलधरमु-मु. द व।

अनेकान्तात् । अनन्यत्वेऽपि लोके मत्वर्थीयो दृश्यते—सारवान् स्तम्भ आत्मवान् पुरुषः इति ।

कथञ्चित् अन्यत्वोपपत्तेश्च । २४ । शब्दादीना पुद्गलेभ्य भेदार्थादेशात् स्यादन्यत्वम् । शब्दादिपरिणामे च तप्ताय पिण्डवत् तादात्म्यादेशात् स्यादनन्यत्वम् ।

अत्राह—यदि स्पर्शादयश्च शब्दादयश्च पुद्गलपरिणामा किमर्थमेषा पृथग्ग्रहण ननु एक एव योग. कर्तव्य इति ? अत्रोच्यते—

पृथग्ग्रहणं केषाञ्चिदुभयपर्यायज्ञा[1]पनार्थम् । २५ । स्पर्शादयः परमाणूना स्कन्धाना च भवन्ति शब्दादयस्तु स्कन्धानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति सौक्ष्म्यवर्ज्या इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थ पृथग्योगकरणम् । सौक्ष्म्य तु अन्त्यमणुष्वेव, आपेक्षिक स्कन्धेषु । यद्येवं सौक्ष्म्यग्रहण पूर्वसूत्र एव कर्तव्यम् ? इह करण स्थौल्यप्रतिपक्षप्रतिपत्त्यर्थम् ।

अनुमान लगाया जाता है । **उत्तर**—ऐसी आशका उपयुक्त नही है, क्योकि इनमे भेदाभेद के प्रति अनेकान्त है क्योकि लोक मे अन्यत्व (अपृथक्) पदार्थ मे भी मत्वर्थीय प्रत्यय देखा जाता है, जैसे-- 'सारवान् स्तम्भ ' और 'आत्मवान् पुरुष' ।' ॥ २३ ॥

कथञ्चित् शब्दादि मे पुद्गल से पृथक्त्व है । फिर शब्दादि भी पर्याय दृष्टि से पुद्गल से भिन्न है और गर्म लोहे के समान पुद्गल का ही शब्दादि रूप से परिणमन होता है अतः कथञ्चित् द्रव्यार्थिक दृष्टि से अभिन्नत्व भी है। **प्रश्न**—यदि स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य आदि पुद्गल के ही परिणाम है तो इनका पृथक्-पृथक् ग्रहण क्यो किया, स्पर्श आदि का और शब्दादि का एक ही योग (एक ही सूत्र) करना चाहिए ? इसका **उत्तर** देते है—॥ २४ ॥

किसी के उभय पर्याय का ज्ञापन करने के लिए इनका पृथक् ग्रहण किया है । स्पर्शादि परमाणुओ के भी होते है और स्कन्धो के भी होते है परन्तु सौक्ष्म्य को छोडकर शब्दादि व्यक्तरूप से स्कन्धो के ही होते है, अर्थात् शब्दादि परमाणुओ से नही होते, इस विशेषता का ज्ञान कराने के लिए पृथक् सूत्र बनाया गया है । आत्यन्तिक सूक्ष्मता तो परमाणु मे ही है और आपेक्षिक सूक्ष्मता स्कन्धो मे भी है । **शका**—यदि सूक्ष्मता परमाणु मे ही है तो सूक्ष्मता का ग्रहण, स्पर्श, रस आदि जो पूर्वसूत्र, उसमे करना चाहिए । **समाधान**—सौक्ष्म्य का इस सूत्र मे निर्देश स्थौल्य का प्रतिपक्ष सूचित करने के लिए विशेष रूप से किया गया है ॥ २५ ॥

---

१ ज्ञानार्थम्-मू , श्र , द , व ।

स्पर्शादीनामेकजातीयपरिणामख्यापनार्थं च ।२६। स्पर्शादीना गुणाना परिणाम एकजातीय इत्येतस्यार्थस्य ख्यापनार्थं च क्रियते पृथक्ग्रहणम् । तद्यथा–स्पर्श एको गुण काठिन्यलक्षण स्वजात्यपरित्यागेन पूर्वोत्तरस्वगतभेदनिरोधोपजननसन्तत्या-वर्तनात्, द्वित्रिचतु सख्येयाऽसख्येयानन्तगुणकठिनस्पर्शपर्यायैरेव परिणमते न मृदुगुरु-लघ्वादिस्पर्शै । एवं मृद्वादयोऽपि योज्याः। रसश्च तिक्त एक एव गुण रसजाति-मजहन् पूर्ववन्नाशोत्पादावनुभवन् द्वित्रिचतु सख्येयाऽसख्येयानन्तगुणतिक्तरसैरेव परिणमते न कटुकादिरसै । एव कटुकादयो वेदितव्या । गन्धश्च सुरभिरेको गुण स्वजातिमजहन्पूर्ववद्द्व्यादिगुणसुरभिगन्धपर्यायैरेव परिणमते नासुरभिगन्धै । एवमसुरभिगन्धो वाच्य । वर्णश्च शुक्ल एको गुण. स्वजात्यपरित्यागेन पूर्ववद्द्व्यादि-शुक्लवर्णैरेव परिणमते न नीलादिभि । एव नीलादयोऽपि च नेतव्या. । अथ यदा कठिनस्पर्शो मृदुस्पर्शेन, गुरुर्लघुना, स्निग्धो रूक्षेण, शीत उष्णेन परिणमते, तिक्तश्च कटुकादिभि , सुरभिश्चेतरेण, शुक्लश्च कृष्णादिभि., इतरे चैतरै. संयोगे च गुणान्तरैस्तदा

स्पर्शनादि गुणो के एकजातीय परिणाम का कथन करने के लिए पृथक् सूत्र वनाया है। स्पर्श आदि गुणो का एकजातीय परिणमन होता है। इसकी सूचना करनेके लिए पृथक् सूत्र की रचना की गई है। जैसे–काठिन्य लक्षण एक स्पर्श गुण अपनी जाति को न छोडकर पूर्व और उत्तर स्वगत भेदो के उत्पाद-विनाश को करता हुआ दो, तीन, चार, सख्यान, असख्यात और अनन्त गुण कठिन स्पर्शपर्यायो से ही परिणत होता है, मृदु, गुरु, लघु आदि स्पर्शो से नही। इसी प्रकार मृदु आदि मे भी समझना चाहिये। तिक्त एक रस गुण है वह अपनी जाति को नही छोडकर उत्पाद-विनाश को प्राप्त होकर भी दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात और अनन्त गुण रूप तिक्त रस से ही परिणमन करेगा, कटुक रसादि से परिणमन नही कर सकता। इस प्रकार कटुक आदिक रसो का भी वर्णन जानना चाहिए। सुरभि-गन्ध पुद्गल का एक गुण है। वह अपनी जाति को नही छोड़ता हुआ पूर्व और उत्तर स्वगत भेदो के उत्पाद-विनाश को करता हुआ दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात, अनन्तगुण सुरभिगन्ध पर्यायो से परिणत होता है, दुर्गन्धरूप पर्यायो से परिणत नही होता। इसी प्रकार असुरभिगन्ध (दुर्गन्ध) दुर्गन्धरूप से ही परिणत होगा, सुगन्ध रूप से नही। शुक्लवर्ण एक गुण है, वह अपनी जाति का त्याग न करके पूर्व और उत्तर मे होने वाले स्वगत भेदो के उत्पाद-विनाश को करता हुआ दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात, अनन्त गुण, शुक्लवर्ण रूप पर्यायो से ही परिणत होता है नीलादि रूप से नही, उसी प्रकार नीलादि नील रूप से ही परिणत होता है, शुक्लादि रूप से नही। **प्रश्न**––जब कठिन स्पर्श, मृदु रूप स्पर्श मे, गुरु लघु रूप मे, स्निग्ध रूक्ष रूप मे, शीत उष्ण रूप मे परिणमन करता है तथा तिक्त कटु आदि रूप मे, सुरभि दुर्गन्ध रूप मे, शुक्ल कृष्ण रूप मे इतर गुणो के साथ परस्पर सयोग होने पर गुणान्तर रूप मे परिणमन करते है तब यह एकजातीय परिणमन का नियम कैसे रहेगा ? **उत्तर**––ऐसे स्थानो मे कठिन स्पर्श अपनी स्पर्श जाति को नही छोडता हुआ ही मृदु स्पर्श से विनाश-उत्पाद का अनुभव करता हुआ परिणमन करता है, रस रूप से नही अर्थात् स्पर्श गुण स्पर्श गुण रूप से ही परिणमन करता है, रस, गध

कथम् ? तत्रापि कठिनस्पर्श स्पर्शजातिमजहन् मृदुस्पर्शेनैव विनाशोत्पादौ अनुभवन् परिणमते नेतरै:, एवमितरत्रापि योज्यम् ।

नोदनाभिघाताद्युपसंख्यानमिति चेत्; न; चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् । २७ । स्यान्मतम्–नोदनाभिघातादय पुद्गलपरिणामा सन्ति तेषामत्रोपसंख्यान कर्तव्यमिति, तन्न, कि कारणम् ? चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् । ये पुद्गलपरिणामा आगमे इष्टा तेषामिह चशब्देन समुच्चय क्रियते ।

अत्राह–यद्येवमर्थ पृथग्योगकरणम्, उच्यता के स्पर्शादिपरिणामा पुद्गला, के वा तदुभयभाज इति ? अत्रोच्यते–

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्ते इत्यणवः । १ । प्रदेशमात्रभाविभिः स्पर्शादिभि गुणैस्सतत परिणमन्त इत्येव अण्यन्ते शब्द्यन्ते ये ते अणवः । सौक्ष्म्यादात्मादय[1] आत्ममध्या आत्मान्ताश्च । उक्त च–

आदि रूप से नही । उसी प्रकार रसादि गुण अपने स्वजातीय गुण रूप से ही परिणमन करते है अन्य रूप से नही, ऐसा जानना चाहिए ॥ २६ ॥

'च' शब्द से सर्वसमुच्चय का ग्रहण हो जाने से नोदन, अभिघात आदि का पृथक् ग्रहण करने की आवश्यकता नही है । **प्रश्न**—नोदन, उपघात आदि भी पुद्गल की पर्याये है इसलिये इनका भी सूत्र मे उल्लेख होना चाहिये ? **उत्तर**—सूत्र मे 'च' शब्द इष्ट समुच्चय के लिए है अत नोदन, अभिघात आदि जितने भी पुद्गल के परिणाम आगम मे इष्ट हो सकते हैं उन सबका समुच्चय 'च' शब्द से हो जाता है ॥ २७ ॥

यदि पुद्गल के भेदो को बताने के लिए पृथक् सूत्र किया है तो वे स्पर्शादि परिणाम कौनसे है, पुद्गल कौन है और उभय कौन है, उनका ज्ञान कराने के लिए कहते है—

(पुद्गल दो प्रकार के है) अणु और स्कन्ध ॥ २५ ॥

प्रदेशमात्र भावी स्पर्श आदि पर्याय के द्वारा उत्पन्न होने के सामर्थ्य से जो परिणमन करते हैं, शब्द के विषय होते हैं, वे अणु हैं । जो प्रदेशमात्र है और भावी स्पर्शादि गुणो से निरन्तर परिणमन करते है तथा जो शब्द के विषय होते है वे अणु है । ये अणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं इनका आदि,

---

१ कारणमेव तदन्त्यमित्यादिवक्ष्यमाणसग्रहश्लोकाभिप्राय मनसिकृत्य एकान्तमत निराकरोति ।

"अन्तादि अन्तमज्झं अन्तन्तं णेव इंदिए गेज्झं[1] ।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विजाणीहि ।।"

स्थौल्याद्ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारास्कन्द(न्ध)नात्स्कन्धाः ।२। स्थौल्यभावेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारास्कन्द(न्ध)नात् स्कन्धा इति सञ्ज्ञायन्ते। रूढौ क्रिया क्वचित् सती उपलक्षणत्वेनाश्रिता इति ग्रहणादिव्यापाराऽयोग्येष्वपि द्वयणुकादिषु स्कन्धाख्या वर्तते ।

उभयत्र जात्यपेक्षं बहुवचनम् ।३। अनन्तभेदा अपि पुद्गला अणुजात्या स्कन्धजात्या च द्वैविध्यमापद्यमाना सर्वे गृह्यन्त इति तज्जात्याधारानन्तभेदसंसूचनार्थं वहुवचन क्रियते ।

अणुस्कन्धा इत्यस्तु लघुत्वादिति चेत्; न; उभयसूत्रसंबन्धार्थत्वात् भेदकरणस्य ।४। स्यान्मतम्–'अणव. स्कन्धा अणुस्कन्धा' इति वृत्तिकरणमिह युक्तं लघुत्वादिति, तन्न, किं कारणम् ? उभयसूत्रसबन्धार्थत्वात् भेदकरणस्य–स्पर्शरसगन्ध-

---

मध्य और अन्त एक है, वही अणु का स्वरूप है। सो ही कहा है—एक ही स्वरूप जिसका आदि, मध्य और अन्त है, जो इन्द्रियग्राह्य नही है, उस अविभागी द्रव्य को परमाणु कहते है ।। १ ।।

स्थूल होने के कारण जो ग्रहण किये जाते है, निक्षेपण ग्रहण आदि व्यापार के योग्य होते हैं वे स्कन्ध कहलाते है। रूढ शब्दो मे क्रिया कही होती है और कही नही भी होती, उपलक्षण से मान ली जाती है अत ग्रहण-निक्षेप आदि व्यापार के अयोग्य भी द्वयणुक आदि स्कन्धो मे स्कन्ध सज्ञा बन जाती है ।। २ ।।

उभयत्र जाति की अपेक्षा बहुवचन है। दोनो शब्दो मे वहुवचन अणुत्व जाति और स्कन्ध जाति से सगृहीत होने वाले अनन्त भेदो की सूचना के लिए है। अर्थात् अणुओ के और स्कन्धो के अनन्त भेद हैं, उनका सग्रह करने के लिए अणु और स्कन्ध मे वहुवचन का प्रयोग किया गया हैं ।। ३ ।।

'अणुस्कन्धा.' इस प्रकार लघु सूत्र वनाना चाहिये, यह कथन ठीक नही है क्योकि उपर्युक्त दोनो सूत्रो के सम्बन्ध का भेद करने के लिए 'अणव. स्कन्धाश्च' ऐसे सूत्र का निर्माण किया गया है। प्रश्न—'अणव स्कन्धा अणुस्कन्धा.' इस प्रकार समास करके लघु सूत्र वनाना ही उपयुक्त है। 'अणव स्कन्धा' इस प्रकार पदच्छेद करके दीर्घसूत्र वनाने से क्या प्रयोजन है। उत्तर—यद्यपि 'अणुस्कन्धा·' यह सूत्र वन सकता था, परन्तु पृथक् निर्देश पूर्वोक्त दो सूत्रो से पृथक्-पृथक् सम्वन्ध

---

1 ग्राह्यम्।

वर्णवन्तोऽणव., शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थान–भेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च स्कन्धा इति। वृत्तौ पुनः सत्या समुदायस्यार्थवत्त्वात् अवयवार्थाभावात् भेदेनाभिसबन्धः कर्तु न शक्यः।

कारणमेव तदन्त्यमित्यसमीक्षिताभिधानम्; कथञ्चित् कार्यत्वात्।५। **"कारणमेव तदन्त्यम्"** इति केचित्[1] कथयन्ति परमाणुम्; तदसमीक्षिताभिधानम्; कुतः? कथञ्चित् कार्यत्वात्। परमाणुर्हि केनचित् प्रकारेण कार्य **"भेदादणुः"** [५।२७] इति वक्ष्यमाणत्वात्।

अविरोध इति चेत्; न; एवशब्देनाऽवधारणात्।६। स्यादेतत्–कथञ्चित् कार्यत्वोपपत्तौ कारणत्वस्य अप्रतिषेधात् अविरोध इति, तन्न, किं कारणम्? एवशब्देनावधारणात्। यत एवकारकरणं ततोऽन्यत्रावधारणमिति कारणमेव परमाणुर्न कार्यमिति कार्यत्वनिषेधात्[2]।

बनाने के लिए है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले अणु है ओर शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत आदि पर्याय वाले स्कन्ध है। 'अणुस्कन्धा.' यह समास कर लेने पर समुदाय से अर्थत्व की मुख्यता हो जाने से और अवयवी अर्थ का अभाव होने से, भेदपूर्वक उपर्युक्त सूत्रों के साथ सम्बन्ध लगाना शक्य नही होता अत 'अणुस्कन्धा·' यह समास न करके 'अणव स्कन्धा' यह भेद रूप से वर्णन किया है॥ ४॥

अन्त्य का परमाणु कारण ही है, ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि कथञ्चित् परमाणु कार्य भी है। कोई सिद्धान्तवादी कहते हैं कि परमाणु कारण ही है परन्तु परमाणु को सर्वथा कारण मानकर चलना उपयुक्त नही है क्योकि परमाणु कथञ्चित् कार्य भी है। 'भेदादणु.' इस आगे कहे जाने वाले सूत्र के कारण परमाणु किसी प्रकार से कार्य भी है। अर्थात् कोई वादी परमाणु के इस लक्षण से एकान्त का समर्थन करते है कि 'अन्त्य परमाणु कारण ही है' सूक्ष्म है, नित्य है, उसमे एक रस, एक गन्ध और एक वर्ण है, अविरोधी दो स्पर्श हैं तथा कार्यलिग के द्वारा वह परमाणु अनुमेय है, परन्तु उनका यह कथन युक्तियुक्त नही है क्योकि वह स्कन्धो का भेदक होने से कार्य भी है॥ ५॥

इसमे विरोध नही है, ऐसा भी नही कहना क्योकि 'एव' शब्द से ही अवधारणा होती है। प्रश्न—परमाणु कथञ्चित् कार्य है ऐसा मानने पर भी परमाणु के कारणत्व का निषेध तो नही होता है अतः परमाणु को कारण मानने मे विरोध नही है? उत्तर—कारण ही है, यह अवधारणा ठीक नही है, क्योकि वह स्कन्धो के भेदपूर्वक उत्पन्न होता है अत कार्य भी है, 'कारणमेव' कहने से

---

१. 'उक्त च-कारणमेव तदन्त्य'-त भा ५।२५। "अतादिमज्झहीण अपदेस इदिएहिं ण हु गेज्झ। ज दव्व अविभत्त त परमाणु कहति जिणा॥ –ति प १।९८। २ विरोध एव।

नित्य इति चायुक्तं स्नेहादिभावेनानित्यत्वात् । ७ । नित्य परमाणु. इति एतच्च वचनमयुक्तम् । कुत ? स्नेहादिभावेन अनित्यत्वात् । स्नेहादयो हि गुणाः परमाणौ प्रादुर्भवन्ति वियन्ति च्च, ततस्तत्पूर्वकमस्यानित्यत्वमिति ।

अनादिपरमाण्ववस्थमिति चेत्; न; तत्कार्याभावात् । ८ । स्यान्मतम्—अनाद्यणुत्वावस्थ परमाणुरस्ति स द्व्यणुकादिकार्यहेतुत्वात् कारणमेव न कार्यम् । न हि असौ भेदादुत्पद्यत इति, तन्न, किं कारणम् ? तत्कार्याभावात् । न हि तस्यानादिपारिणामिकाण्ववस्थस्य कार्यमस्ति, तत्स्वभावाविनिवृत्ते[१] । सति च कार्ये तद्भेदादणुरिति कार्यत्वसिद्धि । तत कार्यस्याभावात् कारणमिति व्यपदेशश्च नोपपद्यते । नहि असति पुत्रे अस्ति पितृव्यपदेश इति ।

छायादि तत्कार्यमिति चेत्; न; स्कन्धनिमित्तत्वात् । ९ । यदि छायादिकार्यमनादिपरमाणोरिति कल्प्यते, तदपि नोपपद्यते, कुत. ? स्कन्धनिमित्तत्वात् । अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धारब्धं छायादि नानादिपरमाणुकार्यम् ।

(एवकार का प्रयोग करने से) उसके कार्यत्व का निषेध हो जाता है। जब 'कारणमपि' कहा जाता है तभी कार्यत्व का अनिषेध रहता है ।। ६ ।।

स्नेहादि गुण से परिणमन करने से परमाणु को नित्य कहना भी ठीक नही है। परमाणु स्नेहादि गुणो के कारण नित्य परिणमन करता रहता है वा परमाणु मे स्निग्धादि गुण उत्पन्न होते है और नष्ट होते है अत. स्नेहादि के परिणमन के कारण परमाणु मे कथञ्चित् अनित्यत्व है, सर्वथा नित्यपना नही है ।। ७ ।।

परमाणु अनादि होने से कारण ही है ऐसा नही कहना चाहिए क्योकि ऐसा कहने से परमाणु के कार्य का अभाव हो जाता है। 'परमाणु अनादिकाल से अणु रहता है और वह द्व्यणुक आदि स्कन्धो का कारण है अत. इस अपेक्षा से अणु कारण ही है' ऐसा कहना भी युक्त नही है, क्योंकि यदि अणु अपने अणुत्व को नही छोड़ता तो उससे कार्य भी उत्पन्न नही हो सकता है क्योकि उसके स्वभाव का त्याग नही हुआ। यदि अणुत्व का भेद हुआ तो वह स्वय कार्य हो ही जायेगा। अर्थात् भेद होने से अणु के कार्यत्व की सिद्ध हो जाती है। जब तक उससे अणुत्व के भेदपूर्वक कार्य उत्पन्न नही हो जाता तब तक उसे कारण भी नही कह सकते। जैसे—पुत्र के अभाव मे 'पिता' यह व्यपदेश नही हो सकता ।। ८ ।।

अनादि परमाणु की छाया आदि कार्य है, ऐसा भी नही कह सकते क्योकि अणु के छाया उत्पन्न हो नही सकती। अनादि परमाणु की छाया ही नही पड़ती, छाया तो अनन्तानन्त परमाणु

---

१ अप्रनिबन्धत्वात् ।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेत्; न; चाक्षुषत्वात् । १० । अथ मतम्–प्रतिज्ञामात्रमेतत् स्कन्धकार्य छायादि नाणुकार्यमिति; तच्चायुक्तम्, कुत ? चाक्षुषत्वात् । चाक्षुष हि छायादि अचाक्षुषमणु (षाणु) कार्य न भवितुमर्हति । न चानादिपरमाणुर्नाम कश्चिदस्ति "**भेदादणुः ।**" [५।२७] इति वचनात् ।

नित्यवचनं तदर्थमिति चेत्; न; तस्यापि स्नेहादिविपरिणामाभ्युपगमात् । ११ । स्यान्मतम्–नित्यवचनमनादिपरमाण्वर्थमिति, तन्न, कि कारणम् ? तस्यापि स्नेहादि-विपरिणामाभ्युपगमात् । [1]न हि निष्परिणाम कश्चिदर्थोऽस्ति ।

नयापेक्षमिति चेत्; युक्तम् । १२ । अथ मतम्–"**कारणमेव तदन्त्यं नित्यः**" इति वचन नयापेक्षम् । द्व्यणुकादिवत् [2]संघातकार्याभावात् कारणमेव, द्रव्यार्थतया

के स्कन्धो से उत्पन्न होती है, अनादि परमाणु का कार्य छायादि नही है अत छायादि रूप कार्य की अपेक्षा से भी परमाणु कारण नही कहा जा सकता ॥ ९ ॥

यह तो केवल प्रतिज्ञामात्र है, ऐसा भी नही कहना चाक्षुष होने से । **प्रश्न**—छायादि अणु का कार्य नही है, स्कन्ध का कार्य है यह तो तुम्हारी प्रतिज्ञामात्र है (तुम्हारी इच्छानुसार कथन है) **उत्तर**—ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि छायादि चाक्षुष है । चाक्षुष छायादि अचाक्षुष अणु का कार्य नही हो सकती अर्थात् अचाक्षुष का कार्य अचाक्षुष ही होगा, चाक्षुष नही । अथवा, कोई भी परमाणु अनादिकालीन नही है, अनादिकाल से परमाणु की अवस्था मे रहने वाला कोई परमाणु ही नही है क्योकि 'भेदादणु.' इस सूत्र मे स्कन्ध के भेदपूर्वक परमाणुओ की उत्पत्ति बताई है ॥ १० ॥

परमाणु नित्य है इसलिये अनादि है, यह कथन भी ठीक नही है क्योकि परमाणु मे भी स्नेहादि गुणों के द्वारा परिणमन होता रहता है । **प्रश्न**—नित्यवचन अनादि परमाणु के लिए है । **उत्तर**—अनादि परमाणु की अपेक्षा परमाणु को नित्य कहना भी समीचीन नही है क्योकि परमाणु मे भी स्नेह (स्निग्ध) आदि गुणो का प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है कोई भी पदार्थ परिणाम (परिणमन से) शून्य (रहित) नही है ॥ ११ ॥

नयापेक्ष (नय की अपेक्षा) यदि परमाणु को कारण या कार्य कहा जाय तो ठीक ही है । अन्त्य परमाणु कारण ही है और नित्य है, यह नय अपेक्षा से वर्णन है । दो अणु आदि की तरह सघात से परमाणु कभी उत्पन्न नही होता अत कारण ही है और द्रव्यदृष्टि से व्यय और उत्पाद नही

---

१ परमाणौ एकद्वित्रिचतु सख्येयासख्येयादिस्नेहादिगुणहानिवृद्धिरूपविविधपरिणामाङ्गीकारात् । २ कार्यं द्विविध सघातकार्यं भेदकार्यञ्चेति, तयोर्मध्ये ।

व्ययोदयाभावात् नित्य , इत्येवं सति युक्तम्, [1]हेतुविशेषसामर्थ्यार्पणे अवधारणाऽविरोधात् द्रव्यार्थतयाऽवस्थानाच्च ।

एकरसवर्णगन्धोऽणुः निरवयवत्वात् । १३ । एकरस एकगन्धश्च परमाणुर्वेदितव्यः । कुत । निरवयवत्वात् । सावयवाना हि [2]मातुलिङ्गादीनाम् अनेकरसत्व दृश्यते, अनेकवर्णत्व च मयूरादीनाम्, अनेकगन्धत्व चानुलेपनादीना च । निरवयवश्चाणुरतः एकरसवर्णगन्ध ।

द्विस्पर्शो विरोधाभावात् । १४ । द्विस्पर्शोऽणुरवगन्तव्य. । कुतः ? विरोधाभावात् । कौ पुन. द्वौ स्पर्शौ ? शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतरः स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च, एकप्रदेशत्वात् विरोधिनो युगपदनवस्थानम् । गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शाना परमाणुष्वभावः, स्कन्धविषयत्वात् । कथ पुनस्तेषामणूनामत्यन्तपरोक्षाणाम् अस्तित्वमवसीयत इति चेत् ? उच्यते–

तदस्तित्वं कार्यलिङ्गत्वात् । १५ । तेषामणूनामस्तित्व कार्यलिङ्गत्वाद-

---

होता अत परमाणु नित्य है। इस प्रकार विशेष विवक्षा मे 'कारणमेव' मे एवकार का भी विरोध नही है ।। १२ ।।

परमाणु निरवयव है अत. उसमे एक रस, एक गन्ध और एक वर्ण है। सावयव ही मातुलिग आदि मे अनेक रसत्व देखा जाता है, मयूर आदि मे अनेक वर्णत्व और अनुलेपन आदि मे अनेक गन्धत्व पाया जाता है परन्तु परमाणु निरवयव है अत एक रस, एक गन्ध और एक वर्ण वाला है ।। १३ ।।

विरोध का अभाव होने से दो स्पर्श है। परमाणु मे अविरोधी दो स्पर्श रहते है। वे दो स्पर्श कौन से है ? शीत और उष्ण मे से कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष मे से कोई एक, इस प्रकार अविरोधी दो स्पर्श होते है। विरोधी दो स्पर्श एक साथ नही रह सकते। गुरु-लघु, मृदु और कठिन स्पर्श परमाणु मे नही है क्योकि वे स्कन्धगत है। **प्रश्न**—अत्यन्त परोक्ष परमाणुओ का अस्तित्व कैसे जाना जा सकता है ।। १४ ।।

उत्तर—कार्यलिङ्गत्व से परमाणु का अस्तित्व जाना जाता है। उन परमाणुओ का अस्तित्व उसके कार्य से जानना चाहिये, क्योकि कार्यलिग ही कारण होता है। परमाणुओ के अभाव मे शरीर इन्द्रिय और महाभूत आदि लक्षण कार्य का प्रादुर्भाव नही हो सकता अतः

---

१ द्व्यणुकादिस्कन्धकार्यापेक्षया कारणमिति । २ मातुलुङ्गा-श्र ।

वगन्तव्यम् । [1]कार्यलिङ्ग हि कारणम् । नाऽसत्सु परमाणुषु शरीरेन्द्रियमहाभूतादि-लक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भाव इति ।

अनेकान्तः कारणत्वादिविकल्पः । १६ । अणो कारणत्वादिविकल्पोऽनेकान्तो योज्यः—स्यात्कारण स्यात्कार्यमित्यादि । द्वचणुकादिकार्यप्रादुर्भावनिमित्तत्वात् स्यात्कारणमणु, भेदादुपजायत इति स्यात्कार्यम्, स्निग्धरूक्षत्वादिकार्यगुणाधिकरणाद्वा । तत पुनर्भेदाभावात् स्यादन्त्य, प्रदेशभेदाभावेऽपि पुनरपि गुणभेदसद्भावात् स्यान्नान्त्य । सूक्ष्मपरिणामसद्भावत्वात्[2] स्यात्सूक्ष्म स्थूलकार्यप्रभवयोनित्वात्[3] स्यात्स्थूल । द्रव्यताऽपरित्यागात् स्यान्नित्य, बन्धभेदपर्यायादेशात् गुणान्तरसङ्क्रान्तिदर्शनाच्च स्यादनित्यः । निष्प्रदेशत्वपर्यायार्पणात् स्यादेकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शश्च, अनेकप्रदेश-स्कन्धपरिणामशक्तियोगात् स्यादनेकरसादिः । कार्यलिङ्गेनानुमीयमानसद्भावादेशात् स्यात्कार्यलिङ्ग, प्रत्यक्षज्ञानगोचरत्वपर्यायादेशात् स्यान्न कार्यलिङ्ग । उक्त च—

"कारणमेवं तदन्त्यं[4] सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ।।"

शरीरादि स्कन्ध रूप कार्यो से परमाणु का अस्तित्व सिद्ध होता है । अर्थात् कार्यलिग से कारण का अनुमान किया जाना सर्वसम्मत नियम है ।। १५ ।।

कारणत्वादि के प्रति अनेकान्त है । परमाणु के कारणत्वादि विकल्पो के प्रति अनेकान्त है कि कथञ्चित् कारण है और कथञ्चित् कार्य है । द्वयणुक आदि स्कन्ध कार्यो का उत्पादक होने से कथञ्चित् परमाणु कारण है, स्कन्ध के भेद से उत्पन्न होता है और स्निग्ध रूक्षादि कार्यरूप गुणो का अधिकरण होने से परमाणु कथञ्चित् कार्य भी है । उससे छोटा कोई भेद नही है अत. वह स्यात् अन्त्य है, प्रदेशभेद न होने पर भी गुणभेद होने के कारण वह अन्त्य नही भी है । सूक्ष्म परिणमन होने से परमाणु स्यात्सूक्ष्म है और स्थूल कार्य की उत्पत्ति की योग्यता रखने से स्यात् स्थूल भी है । वह परमाणु द्रव्यता को नही छोडता अत. स्यात् नित्य है, स्कन्ध पर्यायो को प्राप्त होता है और उसके स्निग्धादि गुणो का निरतर परिणमन होता रहता है अत परमाणु कथञ्चित् अनित्य है । वा बध भेद पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तथा गुण सक्रान्ति की अपेक्षा परमाणु अनित्य भी है । निष्प्रदेशत्व पर्याय की विवक्षा से एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है, अनेकप्रदेशी स्कन्धरूप परिणमन करने की शक्ति के कारण अनेक रस, अनेक वर्ण आदि वाला भी है । कार्य-लिग से अनुमेय होने के कारण स्यात् कार्यलिग[5] है और प्रत्यक्षज्ञान गोचरत्व पर्याय की अपेक्षा कार्य-लिग नही भी है । कहा भी है—

---

१. "कार्यलिङ्ग हि कारण"-आप्तमी श्लो ६८ । २ सद्भाववत्वात् मु । —सद्भावात् अ ता । ३ योगित्वात् मु. द ता व । ४ तदन्त्य—मु. । ५ कार्य को देखकर जिसका अनुमान लगाया जाता है उसको कार्यलिग कहते हैं ।

के पुन. स्कन्धा· ?

परिप्राप्तबन्धपरिणामाः स्कन्धाः । १७ । बन्धो वक्ष्यते, तं परिप्राप्ताः येऽणवः ते स्कन्धा इति व्यपदेशमर्हन्ति । ते त्रिविधा·—स्कन्धा स्कन्धदेशा· स्कन्धप्रदेशाश्चेति अनन्तानन्तपरमाणुबन्धविशेष स्कन्ध· । तदर्ध देश· । अर्धार्ध प्रदेशः । तद्भेदाः पृथिव्यप्तेजोवायव स्पर्शादिशब्दादिपर्याया । पृथिवी तावत् घटादिलक्षणा स्पर्शादि-शब्दाद्यात्मिका सिद्धा । अम्भोऽपि तद्विकारत्वात् तदात्मकम्, साक्षात् गन्धोपलब्धेश्च । तत्संयोगिना पार्थिवद्रव्याणा गन्ध तद्गुण इवोपलभ्यत इति चेत्, न; साध्यत्वात् । [1]तद्वियोगकालादर्शनात् तदविनाभावाच्च तद्गुण एवेति निश्चय कर्तव्य·—गन्धवदम्भ. रसवत्त्वात् आम्रफलवत् । तथा तेजोऽपि स्पर्शादिशब्दादिस्वभावक [2]तद्वत्कार्यत्वात् घटवत् । स्पर्शादिमता हि काष्ठादीना कार्य तेजः । किञ्च, तत्परिणामात् । उपयुक्तस्य हि [3]आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणाम· । [4]पित्तं च जठराग्नि,

---

"परमाणु कारण, अन्त्य, सूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण, दो स्पर्श वाला और कार्यलिग (कार्य के द्वारा अनुमेय) है ।

स्कन्ध किसे कहते है ? ।। १६ ।।

जिन परमाणुओ ने परस्पर बन्ध कर लिया है वे स्कन्ध कहलाते है । वे स्कन्ध तीन प्रकार के है—स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश । अनन्तानन्त परमाणुओ का बध विशेष स्कन्ध है, उस स्कन्ध के आधे को देश कहते है और आधे के भी आधे को प्रदेश । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, स्कन्ध के ही भेद है तथा स्पर्श-रस शब्द आदि स्कन्ध की पर्यायें है । घट-पटादि लक्षण वाले स्पर्शादि और शब्दादि आत्मक पदार्थ पृथ्वी है । जल भी पुद्गल का विकार होने से पुद्गलात्मक है । जल मे तदात्मक होने से गध को साक्षात् उपलब्धि होती है । 'जल मे सयुक्त पार्थिव द्रव्यो की गन्ध जल मे आती है, जल स्वय निर्गन्ध है पृथ्वी के गुण जल मे उपलब्ध होते है ऐसा नही है क्योकि यह पक्ष असिद्ध है साध्यत्व होने से । क्योकि कभी भी गन्ध रहित जल उपलब्ध नही होता है, गन्ध बिना जल दृष्टिगोचर नही होता है और न पार्थिव द्रव्यो के सयोग से वह रहित ही है । गन्ध स्पर्श का, अविनाभावी है—अर्थात् पुद्गल का अविनाभावी है अत वह जल का ही गुण है, अनुमानसिद्ध है । जल गन्ध वाला है, रसवाला होने से जैसे आम्रफल । अग्नि भी स्पर्शादि रसादि और शब्दादि स्वभावक है—क्योकि वह पृथिवीत्व वाली होने से पृथ्वी कार्य है जैसे 'घट' स्पर्श वाली लकडी आदि मे अग्नि उत्पन्न होती है, यह सर्वजनो के प्रत्यक्ष है । किच, अग्नि पुद्गल का ही परिणमन है क्योकि प्राणो के द्वारा खाये गये स्पर्शादि गुण वाले पुद्गल रूप आहार का वात पित्त और कफ रूप से परिणमन होता है और पित्त जठराग्नि है अत· अग्नि को स्पर्शादि गुण वाली मानना चाहिये ।

---

१. गन्ध । २ पृथिवीत्व । ३ पार्थिवद्रव्यस्य । ४ पित्त जठ श्र ।

तस्मात्[१] स्पर्शादिमत्तेज.। तथा स्पर्शादिशब्दादिपरिणामो वायु. स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। किञ्च, तत्परिणामात्।[२] उपयुक्तस्य हि आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणाम। वातश्च प्राणादि। ततो वायुरपि स्पर्शादिमान् इत्यवसेय·। एतेन 'चतुस्त्रिद्व्येकगुणा पृथिव्यादय पार्थिवादिजातिभिन्ना' इति दर्शनं[३] प्रत्युक्तम्।

आह–किमेषा अणुस्कन्धलक्षण परिणामोऽनादि, उत आदिमान् इति? उच्यते– खलूत्पन्निमत्त्वादादिमान् प्रतिज्ञायते। यद्येवमभिधीयताम्–कस्मान्निमित्तादुत्पद्यन्त[४] इति। तत्र स्कन्धाना तावदुत्पत्तिहेतुप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते–

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

संहतानां द्वितयनिमित्तवशात् विदारणं भेदः । १ । बाह्याभ्यन्तरविपरिणामकारणसन्निधाने सति सहताना स्कन्धाना विदारण नानात्व भेद इत्युच्यते।

तथा वायु भी स्पर्शादि, शब्दादि पर्यायवाली है क्योकि उसमे भी घटादि के समान स्पर्श गुण पाया जाता है। अथवा वायु पुद्गल का ही परिणमन है, आत्मा के द्वारा उपभुक्त स्पर्शादि गुण वाले भोजन का ही वात, पित्त और कफ रूप से परिणमन होता है—प्राणादि (श्वासोच्छ्वास आदि) वायु है अत वायु को स्पर्शादि गुण वाली मानना चाहिये। अत वादी (नैयायिक) का यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है कि—"पृथ्वी मे चार गुण, जल मे गन्ध रहित तीन गुण, अग्नि मे गन्ध और रस रहित दो गुण तथा वायु मे केवल स्पर्श गुण है।" ये सब पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियो के भिन्न-भिन्न है।

प्रश्न—अणु और स्कन्ध रूप लक्षण वाली पुद्गल को पर्याये अनादि है कि सादि? **उत्तर**—वह अणु और स्कन्ध रूप पुद्गल की पर्याय उत्पन्न होती है अत सादि जानी जाती है। **प्रश्न**—यदि पुद्गल की परमाणु और स्कन्ध रूप पर्याये उत्पन्न होने से सादिमान् है तो बताइये—वे पर्याये किसके निमित्त से उत्पन्न होती है? अत: स्कन्धो की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने के लिए आचार्य सूत्र कहते है—॥ १७ ॥

भेद, संघात और भेदसंघात से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है ॥ २६ ॥

सहतो (मिले हुए पदार्थो) का दो कारणो से विदारण होना भेद है। बाह्य (निमित्त) अभ्यन्तर (उपादान) कारणो के कारण सघटित स्कन्धो का विदारण करना पृथक्-पृथक् करना भेद कहा जाता है॥ १ ॥

---

१. पार्थिवद्रव्यकार्यत्वात्। २ पार्थिवपरिणामत्वात्। ३ नैयायिकादीनां। "कथ तर्हीमे गुणा विनियोक्तव्या इति? एकैकश्येन उत्तरोत्तर-गुण-सद्भावादुत्तराणा तदनुपलब्धि" न्यायसूत्र ३।१।६८। ४ –द्यते इति मु।

विविक्तानाम् एकीभावः संघातः । २ । पृथग्भूतानाम् एकत्वापत्ति· सघात इति कथ्यते ।

द्वित्वाद् द्विवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात् । ३ । स्यादेतत्–भेदसघातयोर्द्वित्वात् द्विवचनेन भवितव्यमिति, तन्न, कि कारणम्? [1]बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात् । अतो भेदेन सघात भेदसघात· इत्यस्याप्यवरोधः कृतो भवति ।

उत्पूर्वः पदिर्जात्यर्थः । ४ । उत्पूर्व. पदिर्जात्यर्थो द्रष्टव्य –उत्पद्यन्ते जायन्ते इति यावत् ।

तदपेक्षो हेतुनिर्देशः । ५ । भेदसघातेभ्य इत्यय हेतुनिर्देशः तदपेक्षो वेदितव्य । [2]"**निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां [3]प्रायःदर्शनात्**"[4] इति भेदसघातेभ्य· कारणेभ्यः उत्पद्यन्ते इति हेत्वर्थगते. । तद्यथा–द्वयो परमाण्वो सघाताद् द्विप्रदेशस्कन्ध उत्पद्यते ।

विविक्त स्कन्धो को सघटित करना सघात है । पृथक्-पृथक् पदार्थो का बध होकर एक हो जाना सघात कहलाता है ।। २ ।।

दो होने से दो वचन होना चाहिए, यह आशका नही करनी चाहिए—बहुवचन के अर्थ विशेष का ज्ञापन कराने के लिए बहुवचन का प्रयोग है । **प्रश्न**—भेद और सघात ये दो होने से इस सूत्र मे (भेदसघाताभ्या) दो वचन होना चाहिए, बहुवचन नही? **उत्तर**—ऐसा कहना उपयुक्त नही है—क्योकि सूत्र मे बहुवचन देने से ज्ञात होता है कि भेदपूर्वक सघात अर्थात् 'भेद-सघात' भी स्कन्ध की उत्पत्ति का स्वतत्र कारण है, इसलिए बहुवचन से भेद के साथ सघात का ग्रहण होना है ।। ३ ।।

उत् उपसर्गपूर्वक पदि धातु उत्पत्ति अर्थ मे, जन्म अर्थ मे होती है । उत् पूर्वक पदि धातु को जन्म अर्थ मे लेना चाहिए । जैसे उत्पद्यन्ते, जायन्ते, उत्पन्न होते है—जन्म लेते है ।

उसकी अपेक्षा यहाँ हेतु का निर्देश किया है । 'भेदसघातेभ्यः' यहाँ पचमी विभक्ति हेतु अर्थ मे है अर्थात् उत्पत्ति अर्थ मे पचमी विभक्ति होती है । इसलिये सूत्र मे पचमी विभक्ति है । 'निमित्त कारण और हेतु मे प्राय. सभी विभक्तियाँ होती है ।' यह व्याकरण सूत्र है । अतः भेदसघात रूप कारणो मे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं । यह अर्थ फलित हो जाता है । जैसे दो परमाणुओं के सघात से दो प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न हो जाता है । द्विप्रदेशी स्कन्ध तथा एक परमाणु के सघात से

---

१ भेदात्-सघातात् भेदसंघाताभ्यां च स्कन्धा उत्पद्यन्ते इत्यर्थः । २ हेतौ हेत्वर्थे· सर्वा प्राय इति । ३ प्रदर्शनात्–मु द । ४ पात महा २।३।२३ ।

द्विप्रदेशस्य अरणोश्च त्रयाणा वा अणूना संघातात्त्रिप्रदेश । द्वयो. द्विप्रदेशयो त्रिप्रदेशस्यारणोश्चतुर्णा वा अणूना सघाताच्चतुष्प्रदेश । एव सख्येयानाम् असंख्येयानामनन्ताना च सघातात्तावत्प्रदेश. । एषामेव भेदात् द्विप्रदेशपर्यन्तात् स्कन्धा उत्पद्यन्ते । एव भेदसघाताभ्याम् एकसामयिकाभ्या द्विप्रदेशादय स्कन्धा उत्पद्यन्ते अन्यतो भेदेन, अन्यस्य सघातेनेति ।

एवमुक्तानामणुस्कन्धानामविशेषेण भेदादिहेतुकोत्पत्तिप्रसङ्गे विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–

भेदादणुः ॥ २७ ॥

सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरेवकारावचनं अब्भक्षवत् । १ । यथा न कश्चित् अपो न भक्षयति इत्यब्भक्षणासिद्धे अब्भक्षवचनात् अप एव भक्षयतीत्यवधारण गम्यते, एवं

या तीनो परमाणुओ के सघात से त्रिप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो द्विप्रदेशी, एक त्रिप्रदेशी और एक अणु, या चार अणुओ के सम्बन्ध से एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार सख्येय, असख्येय और अनन्तप्रदेशो के सघात से सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते है। जिस प्रकार दो आदि प्रदेशो के सघात से स्कन्ध उत्पन्न होते है, उसी प्रकार भेद से भी स्कन्ध उत्पन्न होते हैं—जैसे तीन प्रदेश वाले स्कन्ध से एक अणु निकल जाने पर दो प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है, पाँच प्रदेशी या चार प्रदेशी स्कन्ध से दो प्रदेश या एक अणुका भेद हो जाने से तीन प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार एक ही समय मे भेद और सघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, जैसे चार प्रदेशी मे से दो प्रदेश का भेद हो गया और उसी समय एक परमाणु का सघात हो गया तो त्रिप्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार किसी के भेद और किसी के सघात से स्कन्ध उत्पन्न होते है ॥ ५ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त अणु और स्कन्धो के भेद-सघात ही उत्पत्ति के कारण होने पर विशेष का ज्ञान कराने के लिए सूत्र कहते हैं—

अणु की उत्पत्ति भेद से होती है ॥ २७ ॥

'भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते' इस सूत्र के सामर्थ्य से स्कन्ध को उत्पत्ति सूचित होने से यह ज्ञात हो जाता है कि अणु भेद से उत्पन्न होता है, फिर भी इस सूत्र (भेदादणु) की रचना मे यह अवधारण किया जाता है कि अणु भेद से ही उत्पन्न होता है, जैसे कि 'अपो भक्षयति' मे एवकार का अर्थ अवधारण आ जाता है क्योकि ऐसा कोई प्राणी नही है, जो पानी नही पीता हो परन्तु 'पानी पीता है', ऐसा कहने पर यह अवधारण हो जाता है कि यह पानी ही पीता है और कुछ नही खाता। उसी प्रकार भेद, सघात और भेद-सघात से स्कन्ध उत्पन्न होता है, ऐसा कहने पर अणु भेद से

भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते इत्यनेनैवाणोर्भेदादुत्पत्तौ सिद्धाया पुनर्वचनमवधारणार्थ भवति— भेदादेवाणु. न संघातात् नापि भेदसघाताभ्यामिति ।

अत्राह—सघातादेव स्कन्धानामात्मलाभसिद्धेर्भेदसघातग्रहणमनर्थकमिति तद्ग्रहण-प्रयोजनप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ।। २८ ।।

अनन्तानन्तपरमाणुसमुदयनिष्पाद्योऽपि कश्चिच्चाक्षुष·[१] कश्चिच्चाऽचाक्षुष[२] । तत्र योऽचाक्षुष स कथ चाक्षुषो भवतीति चेत् ? उच्यते—भेदसघाताभ्या चाक्षुष न भेदादिति । काऽत्रोपपत्तिरिति चेत् ? ब्रूम—सूक्ष्मपरिणामस्य स्कन्धस्य भेदे सौक्ष्म्यापरित्यागात् अचाक्षुषत्वमेव । सूक्ष्मपरिणत पुनरपर सत्यपि तद्भेदेऽन्य-संघातान्तरसयोगात् सौक्ष्म्यपरिणामोपरमे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति ।

उत्पन्न होता है, यह सिद्ध हो जाता है तथापि पुन 'भेदादणु' यह इस अवधारणा के लिए बनाया गया है कि अणु की उत्पत्ति भेद मे ही होती है, न सघात से होती है और न भेद-सघात से ।। १ ।।

सघात से ही स्कन्धो की उत्पत्ति की सिद्धि हो जाने पर भेदसघात का ग्रहण करना निष्प्रयोजन है, ऐसा कहने पर भेदसघात के ग्रहण के प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

भेद और संघात से स्कन्ध चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है ।। २८ ।।

अनन्तानन्त परमाणुओ से उत्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है तथा कोई अचाक्षुष । **प्रश्न**—जो उनमे अचाक्षुष (चक्षु-इन्द्रिय का विषय नही) है वह स्कन्ध चाक्षुष (चक्षु-इन्द्रिय का विषय) कैसे हो सकता है । **उत्तर**—भेद और सघात से अचाक्षुष स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय का विषय बनता है, केवल भेद से स्कन्ध चाक्षुष नही बनता । **प्रश्न**—इसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? **उत्तर**- सूक्ष्म स्कन्ध से कुछ अश का भेद होने पर भी यदि उसने सूक्ष्मता का परित्याग नही किया है तो वह स्कन्ध अचाक्षुष का अचाक्षुष ही बना रहता है । सूक्ष्म परिणत पुन दूसरा स्कन्ध उसका भेद होने पर भी अन्य के सघात से सूक्ष्मता का परित्याग करके स्थूलता को प्राप्त हो जाता है तव चाक्षुष हो जाता है अर्थात् आँखो से दिखने लग जाता है । **प्रश्न**—गति, स्थिति, अवगाहन, वर्तना, शरीरादि और परस्परोपकारादि के द्वारा जिन धर्म, अधर्म आदि द्रव्यो का अनुमान लगाया जाता है, वा पूर्व मे उनका अनुमान से लक्षण किया गया है, उन्हे पहले द्रव्य कहा है । उन्हे द्रव्य

---

१ औदारिकादि । २ कार्मणादिः ।

अत्राह–गतिस्थित्यवगाहनवर्तनाशरीरादिपरस्परोपकाराद्यनुमितास्तित्व धर्मादि पुरस्ताद्द्रव्यमित्याख्यातम्, [1]तत्कथ द्रव्यमित्यवध्रियते[2] ?

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

सत्त्वात्, यत्सत्तद् द्रव्यम् ।

यद्येव प्राप्तमिद सत कि लक्षणमिति ? उच्यते–यदिन्द्रियग्राह्यमतीन्द्रियमपि बाह्याध्यात्मिकनिमित्तापेक्षम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्तत् 'वेदितव्यम्' इति वाक्यशेष. ।

अथवा, धर्मादि सत्त्वात् द्रव्यमित्यवधृतम् । तस्मात् अभिधीयता कि तत्सत् इति ? तत इदमुपादिक्षत–

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[3] ॥ ३० ॥

अथवा, यद्युपकारसद्भावात् धर्मादिद्रव्य सद्विवक्षित यदा तर्हि नोपकरोति तदा

क्यो कहते है ? उत्तर—उन्हे 'सत्' होने से द्रव्य कहते है। इस बात की सूचना के लिये सूत्र कहते है—

द्रव्य का लक्षण सत् है। जो सत् है वह द्रव्य है ॥ २९ ॥

प्रश्न—यदि 'सत्' द्रव्य का लक्षण है, तो सत् का लक्षण क्या है अर्थात् 'सत्' किसे कहते हैं? **उत्तर**—जो इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है या अतीन्द्रिय है, ऐसा पदार्थ बाह्य और आन्तर (आध्यात्मिक) निमित्त की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को प्राप्त होता है, वह सत् है। यहाँ 'वेदितव्यम्' इस पद का अध्याहार कर लेना चाहिये।

अथवा धर्मादि को 'सत्' होने से द्रव्य समझ लिया था। अत बताइए कि वह 'सत्' क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह सूत्र बनाया है—

जिसमें सतत उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है वह सत् है ॥ ३० ॥

अथवा, यदि उपकार करने के कारण धर्मादि द्रव्य 'सत्' है तो जब ये उपकार नही करते है तब इन्हे 'असत्' कहना चाहिये ? इस शका का समाधान करते हैं कि उपकार विशेष न होने

---

१ तत्कथ सद्द्रव्यलक्षण धर्मादिद्रव्यमित्य-मु व । २ –ते सत्त्वात् ता , श्र , मु , मू व । ३ सत् सद्द्रव्य-लक्षण ॥ ३० ॥ भा १ । ४ सत्तद्द्रव्य मु ।

तदसत्त्वप्रसङ्ग इति, उच्यते–असत्यपि उपकारविशेषे यस्मात् सामान्ये द्रव्यलक्षणत्रये सन्निहिते उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सद्द्रव्यं भविष्यतीत्यर्थः ।

स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः ।१। चेतनस्य अचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वजातिमजहतः निमित्तवशात् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पाद इत्युच्यते मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत् ।

तथा पूर्वभावविगमो व्ययनं व्ययः ।२। तेन प्रकारेण तथा स्वजात्यपरित्यागेन इत्यर्थः, पूर्वभावविगमो व्ययन व्यय इति कथ्यते यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृते ।

[1]ध्रुवेः स्थैर्यकर्मणो ध्रुवतीति ध्रुवः ।३। अनादि[2]पारिणामिकस्वभावत्वेन, व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवति इति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्, यथा पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयात् ।

पर भी 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व' इस सामान्य द्रव्य लक्षणत्रय के रहने से 'सत्' होगे ही । अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनो का सदा सद्भाव रहता है इसलिए उपकार नही करने पर भी वे सत्स्वरूप ही रहते है ।

स्वजाति को न छोडते हुए भावान्तर (पर्यायान्तर) का प्राप्ति उत्पाद है। चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वजाति को न छोडते हुए भी जो पर्यायान्तर की प्राप्ति, उत्पादन है, वह उत्पाद है। जैसे मृत्पिण्ड मे घट पर्याय। अर्थात् मिट्टी जैसे अपने मिट्टी स्वभाव को न छोडकर घट पर्याय से उत्पन्न होती है, वह घट उसका उत्पाद है, उसी प्रकार जीव या पुद्गलादि अजीव पदार्थ अपने स्वभाव को न छोडकर पर्यायान्तर से परिणमन करते है, वह उत्पाद है ।। १ ।।

उसी प्रकार पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते है। स्वजाति को न छोडते हुए चेतन वा अचेतन पदार्थ की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है, वह व्यय है। जैसे कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है ।। २ ।।

ध्रुवस्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद का अभाव है अर्थात् अनादि पारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य का उत्पाद व्यय नही होता है, द्रव्य ध्रुव रहता है, स्थिर रहता है, उसको ध्रुव कहते है और ध्रुव का जो भाव या कर्म है, वह ध्रौव्य कहलाता है: जैसे कि पिण्ड और घट दोनो अवस्थाओ मे मृद्रूपता का अन्वय रहता है ।। ३ ।।

---

१ ध्रुवेर्स्थै-मु ता, श्र द. । २ पारिणामस्व-श्र. ।

अन्येनान्यस्य योगे[1] दण्डिवदिति चेत्; न; अन्त[2]र्णीतसत्ताक्रियस्य युजेराश्रितत्वात् ।४। स्यान्मतम्–उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्य च उत्पादव्ययध्रौव्याणि । उत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्तम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमिति निर्देशो नोपपद्यते । कुत ? अन्येनान्यस्य योगात् दण्डिवदिति, तन्न; कि कारणम् ? अन्तर्णीतसत्ताक्रियस्य युजेराश्रितत्वात् । कथ पुन युजे सत्ताक्रियत्वमिति चेत् ? उच्यते–सर्वे धातवो भाववचना । भावश्च सत्ता क्रिया इत्यनर्थान्तरम् । तामेव सर्वे शब्दा: स्वार्थोपनिधानेनावच्छिद्यावच्छिद्य[3] विषयीकुर्वन्ति । उत्पादव्ययध्रौव्य सदिति यावत् तावदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमिति । सर्वधातूना सत्तार्थत्वे एधादीना वृद्ध्यादिप्रतिनियतार्थत्वाभाव इति चेत्; न; सत्तार्थत्वे सत्येधादीना वृद्ध्याद्यर्थप्रवृत्ते नाऽसता खरविषाणादीनां वृद्ध्यादिरर्थोऽस्ति ।

उत्पादव्ययध्रौव्यवदिति न्यायमिति चेत्; न; उपालम्भपरिहारतुल्यत्वात् । ५ ।

दण्डी के समान अन्य के साथ अन्य का सयोग होने पर युक्त होता है, ऐसी शका नही करनी क्योंकि अन्तर्नीत सत्ता क्रिया के 'युजि' धातु मे आश्रयपना है। प्रश्न—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समूह उत्पादव्ययध्रौव्य है और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मे युक्त को उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त कहते हैं, यह निर्देश नही वन सकता क्योकि युक्त शब्द का प्रयोग भिन्न पदार्थ मे किसी अन्य का संयोग होने पर होना है जैसे कि दण्ड के सयोग से 'दण्डी' का प्रयोग। उत्तर—यह शका उचित नही है क्योकि यहाँ 'युजि' धातु के अर्थ मे सत्ता का अर्थ समाया हुआ है। प्रश्न—युजि धातु मे सत्ता क्रियावत्त्व कैसे आ सकता है ? उत्तर—सभी धातुएँ भाववाची है। भाव, सत्ता और क्रिया ये सब एकार्थवाची है, अर्थान्तर नही है। इसी सामान्य भाव सत्ता को वे विशेष धातुएँ स्वार्थ से विशिष्ट करके (विशेष्य करके) विषय करती है, चाहे उत्पादव्ययध्रौव्य को 'सत्' कहो, चाहे 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त को सत् कहो, बात एक ही है, अर्थान्तरभूत नही है। प्रश्न—सर्व धातुओ के सत्तार्थत्व स्वीकार मे 'एध्' आदि धातुओ के वृद्धि आदि प्रतिनियत अर्थत्व का अभाव होगा ? उत्तर—ऐसा नही है क्योकि सत्तार्थक मान लेने पर एध् आदि धातुओं के भी वृद्धि आदि विशेष अर्थ वन ही जाते है क्योकि असत् खर-विषाण आदि पदार्थ के वृद्धि नही होती है। अर्थात् 'असत्' पदार्थ मे वृद्धि-ह्रास नही हो सकता ।। ४ ।।

ऐसी स्थिति मे 'उत्पादव्यय और ध्रौव्यवान्' द्रव्य है, ऐसा पाठ ठीक हो सकता था, ऐसी

---

१ –नान्यमयोगे मु, द । ननु सर्वथा भेदे सति युक्तशब्दो लोके प्रयुज्यमानो दृष्ट मत्वर्थीयवत् यथा दण्डयुक्तो देवदत्त इति । तथा च सति भवत्पक्षे उत्पादादिधर्माणा त्रयाणा निराश्रयत्वात् द्रव्यस्य च नि स्वरूपत्वादभाव प्राप्नोति इति परमतमाशङ्क्य परिहरति । २ अन्तर्नीत-मु द श्र ता । ३ यजनादिक्रियाँ विशेष्य विशेष्य ।

स्यादेतत्—यद्यन्त[1]र्णीतसत्ताक्रियो युजि परिगृह्यते उत्पादव्ययध्रौव्यवदित्येतदेव न्याय्यमिति, तन्न, किं कारणम्? उपालम्भपरिहारतुल्यत्वात्। यथा गोभ्योऽन्यत्वे देवदत्तस्य गोमानिति व्यपदेशो भवति न तथा उत्पादव्ययध्रौव्येभ्योऽन्यत् द्रव्यमिति 'मत्वर्थीयो नोपपद्यते' इति उपालम्भो न निवर्तते। 'अनन्यत्वेऽपि लोके मत्वर्थीयो दृश्यते—'आत्मवान् आत्मा, सारवान् स्तम्भः' इति परिहारश्च तुल्यः।

समाधिवचनत्वाद्वा । ६ । अथवा समाधिवचनोऽयं युजिः[2] परिगृह्यते। युक्तः समाहित इत्यर्थः। समाधानं च तात्पर्यं तादात्म्यमिति यावत्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमित्यर्थः।

कथञ्चिदन्यत्वोपपत्तेर्वा । ७ । यथा वा पर्यायेभ्यः पर्यायिणः कथञ्चिदन्यत्वोपपत्तेः [3]योगवचन एव वा युक्तशब्दो न्याय्यः। यदि हि सर्वथा अनन्यत्वं स्यात् उभयाभावप्रसङ्गः स्यात्।

आशंका नही करनी चाहिए क्योंकि उपालम्भ (उलाहना वा) परिहार तुल्य ही है। अर्थात् इसमे भी दूषण और परिहार समान है। **प्रश्न**—यदि अन्तर्नीत सत्ता क्रिया वाली युजि धातु का ग्रहण किया जाता है तो 'उत्पादव्ययध्रौव्यवत्' ऐसा सूत्र होना चाहिए, 'युक्त' नही है? **उत्तर**—'उत्पादव्ययध्रौव्यवत्' यह प्रयोग उचित नही है क्योंकि इसमे भी दूषण और उसका परिहार समान है। जैसे— देवदत्त और गो भिन्न-भिन्न है तब 'गोमान्' यह व्यवहार होता है, वैसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से भिन्न द्रव्य नही है, अतः मत्वर्थीय नही हो सकता। यह दूषण बना ही रहता है, इसका परिहार नही हो सकता क्योंकि लोक मे अभिन्न अर्थ मे भी मत्वर्थीय प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है जैसे कि आत्मवान् आत्मा, सारवान् स्तंभ इत्यादि। अतः इसका परिहार भी समान है ॥ ५ ॥

अथवा युक्त शब्द समाधि वचन मे है। यहाँ इस सूत्र मे 'युजि' धातु का अर्थ समाधि-समाहित-समाधान मान लेना चाहिये जिसका तात्पर्य (अर्थ) है तादात्म्य। अर्थात् सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक होता है, उत्पादादि के साथ तन्मय होता है ॥ ६ ॥

अथवा, कथञ्चित् इनमे भिन्नता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप द्रव्य की पर्याये पर्यायी द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न होती है, अतः योग अर्थ मे भी युक्त शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि यदि पर्याय और पर्यायी मे सर्वथा अभेद माना जायेगा तो दोनो का ही अभाव हो जायेगा, अतः पर्याय और पर्यायी मे कथञ्चित् भेद है और कथञ्चित् अभेद है अर्थात् संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेद है और प्रदेश की अपेक्षा अभेद है ॥ ७ ॥

---

१ –न्तर्नीत-मु द श्र ता। २ युजिः समाधौ। ३ युजृल् योगे।

सच्छब्दस्य प्रशंसाद्यनेकार्थसंभवे विवक्षातोऽस्तित्वसंप्रत्ययः ।८। सच्छब्द प्रशसादिषु बह्वर्थेषु दृष्टप्रयोग. । प्रशसाया तावत्–सत्पुरुष प्रशस्त पुरुष इत्यर्थ । क्वचिदादरे–सत्करोति आदर करोतीत्यर्थ । क्वचिदस्तित्वे–सद्भूतमयमाह[१] विद्यमानमाहेत्यर्थ । क्वचित् प्रज्ञायमाने–प्रव्रजित सन् कथमनृत ब्रूयात् ? प्रव्रजित इति प्रज्ञायमान इत्यर्थः । तत्रेह विवक्षात अस्तित्ववचनो वेदितव्य ।

व्ययोत्पादाव्यतिरेकाद् द्रव्यस्य ध्रौव्यानुत्पत्तिरिति चेत्; न; अभिहितानवबोधात् ।९। स्यादेतत्–व्ययोत्पादाभ्यामव्यतिरेकात् द्रव्यस्य व्ययोत्पादात्मकत्वात् ध्रुवत्व नोपपद्यते इति, तन्न, कि कारणम् ? अभिहितानवबोधात् । द्रव्यार्थावस्थानात् ध्रौव्यमभिहितम्, न व्ययोत्पादाभ्या व्यतिरेकात् । यदि च व्ययोत्पादाभ्या व्यतिरेकात् ध्रौव्यमभिहित स्यात् तदव्यतिरेकात् अध्रौव्य भवेत् । यदि वा [२]व्ययोदयाभ्यां व्यतिरेकात् द्रव्य ध्रुवम्, द्रव्यादपि व्यतिरेकात् [३]व्ययोदययोर्ध्रौव्य प्रसज्येत ।

अथवा, अभिहितानवबोधात् । नैकान्तेन व्ययोदयाभ्यामव्यतिरेको द्रव्यस्या-

---

'सत्' शब्द के प्रशसादि अनेक अर्थ को सभवता होने पर भी यहाँ विवक्षा से अस्तित्व समझना चाहिये । जैसे—'सत्पुरुष' मे प्रशसा है अर्थात् प्रशसनीय पुरुष है । कही पर 'सत्' शब्द आदर मे आता है जैसे 'सत्करोति' आदर करता है, सत्कार करता है, यह अर्थ होता है । कही अस्तित्व मे 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है जैसे 'सद्भूतमय' यहाँ सद्भूत का अर्थ अस्तित्व है, विद्यमान है । कही प्रज्ञायमान (व्रत) अर्थ मे 'सत्' शब्द है, जैसे—'प्रव्रजित सन् कथमनृतं ब्रूयात्' आप दीक्षित होकर भी असत्य क्यो बोलते है । यहाँ 'प्रव्रजित' शब्द के साथ 'सत्' शब्द प्रतिज्ञा अर्थ मे है । यहाँ 'सत्' का अर्थ अस्तित्व विवक्षित है, ऐसा जानना चाहिये ।। ८ ।।

उत्पाद और व्यय से अभिन्न होने से द्रव्य के ध्रुवत्व नही हो सकता, ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि ऐसा कहने वाले ने वस्तु-स्वरूप को नही समझा । प्रश्न—व्यय और उत्पाद से द्रव्य अभिन्न है अत. व्यय और उत्पादात्मक होने मे द्रव्य मे ध्रौव्य नही हो सकता । उत्तर—ऐसा नही है, क्योकि ऐसा कहने वाले ने हमारे अभिप्राय को नही समझा । व्यय और उत्पाद से भिन्न होने के कारण द्रव्य को ध्रौव्य नही कहा जाता अपितु द्रव्यरूप से अवस्थान होने के कारण ध्रौव्य कहा जाता है । यदि व्यय और उत्पाद से पृथक् होने के कारण द्रव्य को ध्रुव कहा जाता है और उनसे अभिन्न होने के कारण अध्रौव्य होता है वा व्यय उत्पाद से भिन्न होने के कारण द्रव्य ध्रौव्य कहा जायेगा तो द्रव्य से भिन्न होने के कारण उत्पाद और व्यय मे भी ध्रौव्य आना चाहिए । अर्थात् उत्पाद और व्यय मे भी ध्रुवत्व का प्रसग आयेगा ।

---

१ पुरुष । २. व्ययोत्पादाभ्या मु, द । ३ व्ययोत्पादयो-मु ।

भिहित । यदि स्यात्,[1] तदत्यन्ताव्यतिरेकात् तद्भावापत्तेर्ध्रौव्याभावः स्यात् । यतस्तु केनचित् प्रकारेण व्ययोत्पादाभ्या व्यतिरेकः केनचिदव्यतिरेक[2] । व्ययोत्पादकाले द्रव्यार्थावस्थानात् स्याद् व्यतिरेक । द्रव्यजात्यपरित्यागात् स्यादव्यतिरेक । तत एकान्तपक्षोपालम्भाभाव. । एकान्तव्यतिरेके हि द्रव्यं [3]प्रत्याख्याय अन्यत्र व्ययादयावुपलभ्येयाताम् । ऐकान्तिकाऽव्यतिरेके च एकलक्षणत्वात् [4]अन्यतराभावे अवशिष्टस्याप्यभाव स्यात् ।

स्ववचनविरोधाच्च । १० । यदि व्ययोत्पादाव्यतिरेकान्न द्रव्यस्य ध्रौव्यम् यस्तेन स्वपक्षसिद्धये हेतुर्व्यपदिश्यते स साधकत्वादव्यतिरिक्त इति परपक्षस्यापि साधकः स्यात् । परपक्षस्य वा यो दूषक इति ततोऽव्यतिरेकात् स्वपक्षस्यापि दूषक इति वचनविरोध । ततश्च न युक्तमुक्त व्ययोत्पादाऽव्यतिरेकात् ध्रौव्यानुपपत्तिरिति ।

उत्पादादीनां द्रव्यस्य चोभयथा लक्ष्यलक्षणभावानुपपत्तिरिति चेत्; न; अन्यत्वान-

---

अथवा, तुमने हमारे अभिप्राय को ही नही समझा । जैनसिद्धान्त में उत्पाद और व्यय द्रव्य से सर्वथा अभिन्न अभिहित नही है, (सर्वथा अभिन्न नही मानते) यदि उत्पाद और व्यय को द्रव्य से सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो ध्रौव्य का लोप हो जायेगा, उत्पाद व्यय ही रहेगा। अत. कथञ्चित् उत्पाद, व्यय, द्रव्य से भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है। क्योकि व्यय और उत्पाद काल मे भी द्रव्य स्थिर रहता है अत उत्पाद-व्यय, द्रव्य से भिन्न है, उत्पाद और व्यय भी द्रव्य जाति का त्याग नही करते अतः उत्पाद-व्यय द्रव्य से अभिन्न है अर्थात् द्रव्य के ही है। अत एकान्त पक्ष मे दिये गये उपालम्भ (दोष) स्याद्वाद मे घटित नही होते । यदि उत्पाद-व्यय द्रव्य से सर्वथा भिन्न होते तो द्रव्य के बिना भी उनकी उपलब्धि होती या द्रव्य से पृथक् मिलते और सर्वथा अभेद मानने पर एक लक्षण होने से एक के अभाव मे शेष के अभाव का प्रसग आयेगा ।। ९ ।।

इस प्रकार की शका में स्ववचनविरोध भी आता है। यदि व्यय और उत्पाद से अभिन्न होने से द्रव्य का ध्रौव्य नही है, उसके द्वारा जो अपने पक्ष की सिद्धि के लिए जिस हेतु का व्यपदेश (प्रयोग) किया गया है वह हेतु साधकत्व से यदि सर्वथा अभिन्न है तो स्वपक्ष के समान परपक्ष का भी साधक होगा । अथवा जो परपक्ष का दूषक है अत. उससे अभिन्न होने से स्वपक्ष का भी दूषक होगा। इस प्रकार स्ववचन मे विरोध आता है। अत. व्यय उत्पाद से अभिन्न होने से द्रव्य के 'ध्रौव्य' नही है, यह कथन युक्त नही है ।। १० ।।

द्रव्य के उत्पादादि के दोनो प्रकार से लक्ष्य-लक्षण भाव नही है, ऐसी आशका उचित नही है

---

१. उत्पादव्ययस्वरूपमद्भावात् । २ कथमित्युक्ते तदेव विवृणोति । पर्यायार्थनयादेशादुत्पादव्यययुक्त द्रव्य, द्रव्यार्थनयादेशात् ध्रौव्ययुक्तमिति विभागकथनस्याविरोधात् एकस्मिन्नपि समये द्रव्यस्य त्रयात्मकत्व न विरुध्यते । ३. परित्यज्य । ४. अन्यतराभावे-श्र. ।

न्यत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तेः । ११ । स्यान्मतम्–उत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यादर्थान्तरभूतानि वा स्युः, अनर्थान्तरभूतानि वा ? यद्यर्थान्तरभाव. [1]कल्प्येत, तानि [2]व सत्ता, ततोऽन्यत्वात् द्रव्यस्याभाव स्यात् । तदभावे च निराधारत्वात् उत्पादादीनामभाव इति लक्ष्यलक्षणभावो नोपपद्यते । नहि असता वन्ध्यापुत्राकाशकुसुमादीना लक्ष्यलक्षणभावोऽस्ति । अथानर्थान्तरत्वमिष्येत, लक्ष्यमेव लक्षणमिति दृष्टविरोधः स्यादिति, तन्न, कि कारणम् ? अन्यत्वानन्यत्व प्रत्यनेकान्तोपपत्ते । पर्यायिण पर्यायाणा च स्यादन्यत्व स्यादनन्यत्वम् । यथैकस्य मनुष्यस्य जातिकुलरूपादिभि अविशिष्टस्य अनेकसबन्ध्यन्तराविर्भूतपिता[3]पुत्रभ्रातृभागिनेयादयो धर्मा परस्परतो विशिष्टा उपलभ्यन्ते न तेषा भेदात्तस्य भेद, नापि तस्याऽभेदात्तेषामभेद, तत पितृत्वादिशक्त्यपेक्षया नाना मनुष्यत्वापेक्षया न पृथक्, तथा द्रव्यस्यापि बाह्याभ्यन्तरहेतुविशेषापादिता पर्याया. कथञ्चिद्भिन्ना द्रव्यार्पणात् कथञ्चिदभिन्ना इति नासत्त्व न लक्ष्यलक्षणभावाभाव । तस्मादुत्पादादित्रयैक्यवृत्ति सत्ता, तद्युक्त द्रव्यमित्यवसेयम् ।

क्योकि उत्पादादि के भिन्न और अभिन्न के प्रति अनेकान्त है। **प्रश्न**—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य से अर्थान्तरभूत (भिन्न) है कि अनर्थान्तर (अभिन्न) है ? यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य से भिन्न है तो तुम्हारी सत्ता द्रव्य से भिन्न होने से द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा और द्रव्य का अभाव हो जाने पर निराधार होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का भी अभाव हो जायेगा तथा ऐसा होने पर लक्ष्य-लक्षण भाव भी नही हो सकता। क्योकि असत् स्वरूप वन्ध्या पुत्र और आकाश फूल का लक्ष्य-लक्षण भाव नही होता है। यदि द्रव्य से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को अभिन्न मानते हैं तो लक्ष्य और लक्षण मे एकत्व हो जाने से लक्ष्य-लक्षण भाव भी नही होगा अर्थात् लक्ष्य ही लक्षण होने से प्रत्यक्ष विरोध होगा। **उत्तर**—यह आशका ठीक नही है क्योकि इनके अन्यत्व और अनन्यत्व के प्रति अनेकान्त है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप पर्याये तथा पर्यायी द्रव्य मे कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। जैसे—जाति कुल रूपादि के द्वारा अन्वयधर्मी मनुष्य के अनेक सम्बन्धियो की दृष्टि से उत्पन्न पिता-पुत्र, भ्राता-भानजा आदि परस्पर विलक्षण धर्म उपलब्ध होते है तथापि विशिष्ट धर्मो के भेद से उनमे भेद नही है और न उनमे मनुष्य जाति की अपेक्षा अभेद होने से सर्वथा अभेद है। अत पिता, पुत्र, भानजा आदि शक्ति की अपेक्षा मनुष्य होने पर भी भिन्न है और मनुष्य सामान्यत्व की अपेक्षा भिन्न नही है। मामा, पिता, भानजा आदि मे मनुष्यत्व का अभाव नही है, उसी प्रकार बाह्याभ्यन्तर कारणो से उत्पन्न होने वाली द्रव्य की पर्याये द्रव्य से कथञ्चित् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भिन्न है और द्रव्य दृष्टि से अवस्थान होने से कथञ्चित् अभिन्न है अत न तो असत्त्व है और न लक्ष्य-लक्षण भाव का अभाव ही है, इसलिये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनो की ऐक्यवृत्ति (एकता) ही सत्ता है और वही द्रव्य है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ११ ॥

---

१ कल्पेत मू, द., अ । २ युष्माकम् । ३ पितृपुत्र-मु ।

अत्राह–यथा द्रव्यस्यात्मभूतोऽन्वयो धर्मः तथा पर्यायोऽप्यात्मभूतो द्रव्यस्येति तन्निवृत्तिवद् द्रव्यनिवृत्तिकल्पनायामुच्छेदप्रसङ्ग इति, अत्र ब्रूमहे–स्यादेतदेवं यदि क्रमेण पिण्डघटकपालादिवद्रूप[1] द्रव्याजीवानुपयोगत्वादिलक्षण परिणाम· कादाचित्क· स्यात्। यत सत्यपि व्ययोत्पादवत्त्वे पर्यायाणाम्–

तद्भावाव्ययं नित्यम् ।। ३१ ।।

किम् अध्यवस्याम· ? द्रव्यमिति वाक्यशेष । तद्भाव इत्युच्यते । कस्तद्भाव· ?

प्रत्यभिज्ञानहेतुता तद्भावः । १ । [2]तदेवेदमिति स्मरण प्रत्यभिज्ञानम्, तदकस्मान्न भवति इति योऽस्य हेतु स तद्भाव । भवनं भावः, तस्य[3] भावस्तद्भाव, येनात्मना प्राग्दृष्ट वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात् तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। यद्यत्यन्तनिरोधाभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव स्यात्, स्मरणानुपपत्ते तदधीनो लोकसव्यवहारो विरुध्येत । तत तद्भावेनाव्यय तद्भावाव्ययम् नित्यमिति निश्चीयते ।[4]

प्रश्न—जैसे अन्वय द्रव्य का आत्मभूत धर्म है उसी तरह पर्याये भी द्रव्य का आत्मभूत धर्म है तो जैसे पर्यायो को निवृत्ति होती है वैसे द्रव्य की भी निवृत्ति हो जाएगी तो द्रव्य के उच्छेद का प्रसग आयेगा (द्रव्य की शून्यता आ जायेगो) । **उत्तर**—यह आशका तब ठीक होती जब पिण्ड घट-कपालादि पर्यायो की तरह रूपित्व, द्रव्यत्व, अजीवत्व, अचेतनत्व, द्रव्याश भी कादाचित्क होते परन्तु पर्यायो का व्यय और उत्पाद होने पर भी द्रव्य को नित्य ही माना गया है । अब उसी का निरूपण करते है—

तद्भाव से च्युत नहीं होने को नित्य कहते है ।। ३१ ।।

हम इसमे क्या अध्यवसाय करे ? 'द्रव्य' ऐसा हाता है इस वाक्यविशेष का सम्बन्ध करना चाहिए । तस्य भाव. तद्भाव , तस्य कस्य ? द्रव्यस्य । अर्थात् द्रव्य का भाव तद्भाव कहलाता है ।

प्रत्यभिज्ञान (यह वही है) का हेतु तद्भाव कहलाता है । यह वही है इस प्रकार का स्मरण प्रत्यभिज्ञान है । यह प्रत्यभिज्ञान निर्विषय और निर्हेतुक नही होता है अत. इस प्रत्यभिज्ञान मे जो कारण है वह तद्भाव है । भवन को भाव कहते है । उसका भाव 'तद्भाव' कहलाता है । जिस स्वरूप मे वस्तु को पहले देखा था, उसी रूप मे पुन दृष्ट होने पर 'तदेवेदम्' यह वही है, ऐसा ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञान है । यदि पूर्व पदार्थ का सर्वथा नाश होकर उत्तर पदार्थ सर्वथा नूतन उत्पन्न होना है तो स्मरण और स्मरणाधीन होने वाले सर्वलोकव्यवहार समाप्त हो जायेगे । अत. द्रव्य के स्वरूप का नाश नही होना हो 'तद्भावाव्यय' है, इससे द्रव्य की नित्यता का निश्चय होता है ।। १ ।।

---

१ –विद्रूप-मु । २ वस्तु । ३ वस्तुन । ४ सामर्थ्यात् उत्पादव्ययभागात्तदनित्यमित्यप्यवगम्यते ।

विरोध इति चेत्; धर्मान्तराश्रयणात् । २ । स्यान्मतम्–वियदेव न व्येति, उत्पद्यमान एव नोत्पद्यते इति विरोधः, ततो न युक्तमिति, तन्न; किं कारणम् ? धर्मान्तराश्रयणात् । यदि येन रूपेण व्ययोदयकल्पना तेनैव रूपेण नित्यता प्रतिज्ञायेत स्याद्विरोध, [1]जनकत्वापेक्षयैव पितापुत्रव्यपदेशवत्, [2]नन्तु धर्मान्तरसश्रयणात् ।

पुनरपि मिथ्यादर्शनाकुलितचेता निरूपितमपि त्रितयात्मकत्वमप्रतिपद्यमान आह–यद् व्येति उत्पद्यते च तत्सन्नित्य चेत्यतिसाहसमेतत् दुरुपपादत्वात् कथ श्रद्धीयत इति ? अत्रोच्यते–श्रद्धेहि व्ययोत्पादवत्सु पर्यायेषु अव्यभिचारिणी सन्नित्यत्वे स्त इति । कुत ? यस्माद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकसभवे [3]अन्यतरविवक्षावशात् यथोक्ते उभे अपि–

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

धर्मान्तरविवक्षाप्रापितप्राधान्यमर्पितम् । १ । अनेकात्मकस्य वस्तुन प्रयोजनवशात्

धर्मान्तरो का आश्रय होने से इनमे विरोध भी नही है। प्रश्न—जो नष्ट होता है, वह नष्ट नही होता और जो उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न नही होता, यह कथन परस्पर विरोधी है ? अतः एक ही पदार्थ का एक समय मे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य कहना समीचीन नही है। उत्तर—परस्पर विरोध प्रतीत होते हुए भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनो के युगपत् होने मे कोई विरोध नही है क्योकि जिस दृष्टि मे उत्पाद और व्यय की कल्पना करते है, यदि उसी दृष्टि से ध्रौव्य-नित्य कहा जाता है तो अवश्य विरोध आता है जैसे कि एक ही अपेक्षा किसी पुरुष को पिता और पुत्र कहने मे। परन्तु धर्मान्तर का आश्रय लेकर कहने मे कोई विरोध नही है। जैसे एक ही पुरुष को पिता की अपेक्षा पुत्र और पुत्र की अपेक्षा पिता कहा जाय तो कोई विरोध नही है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य को अनित्य कहने मे कोई विरोध नही है। अत दोनो नयो की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनो एक साथ घटित हो जाते है। पुन मिथ्यादर्शन से आकुलित चित्त वाला, सुष्ठुरीति से निरूपित उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक वस्तु को नही स्वीकार करने वाला वादी कहता है कि 'जो उत्पन्न होता है, वही नष्ट होता है और वही ध्रौव्य रहता है।' यह कहना दुस्साहस है क्योकि ये परस्पर विरोधी धर्म एक साथ नही रहते, इसका श्रद्धान कैसे किया जा सकता है ? आचार्य कहते है–उत्पाद और व्यय वाली पर्यायो मे अव्यभिचारी रूप से रहने वाले ध्रौव्य (नित्यत्व) का श्रद्धान करना चाहिये, क्योकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय मे किसी एक की विवक्षा के वश से नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनो एक साथ रह सकते है, उसी का वर्णन करते है—

गौण और मुख्य की विवक्षा से एक ही वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्वधर्म सिद्ध हैं ।३२।

---

१ जनकत्वापेक्षयैव पिता पुत्रश्चेत्युक्ते विरोध । २ ननु मु द ता । ३ द्रव्यार्थिक ।

यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया[1] प्रापितप्राधान्यम् अर्थरूपमर्पितमुपनीतमिति यावत् ।

तद्विपरीतमनर्पितम् ।२। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवति इत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते । अर्पित चानर्पित च अर्पितानर्पिते ताभ्यां सिद्धे सन्नित्यत्वे अर्पितानर्पितसिद्धे । तद्यथा—मृत्पिण्ड. रूपिद्रव्यमित्यर्पित. स्यान्नित्यः तदर्थापरित्यागात् । अनेकधर्मपरिणामिनोऽर्थस्य धर्मान्तरविवक्षाव्यापारात् रूपिद्रव्यात्मनाऽर्पणात् मृत्पिण्ड इत्येवमर्पित पुद्गलद्रव्य स्यादनित्यं तस्य पर्यायस्याध्रुवत्वात् । तत्र यदि द्रव्यार्थिकनयविषयमात्रपरिग्रह , स्यात्[2] व्यवहारलोप तदात्मकवस्त्वभावात् । यदि च पर्यायार्थिकनयगोचरमात्राभ्युपगम स्यात्, लोकयात्रा न सिद्ध्यति तथाविधस्य वस्तुनोऽसद्भावात् । तावेकत्रोपसंहृतौ लोकयात्रासमर्थौ भवतः तदुभयात्मकस्य वस्तुन. प्रसिद्धे । इत्येवमर्पितानर्पितव्यवहारसिद्धे सन्नित्यत्वे ।

आह—सतोऽनेकनयव्यवहारतन्त्रत्वात् उपपन्ना भेदसघातेभ्य. सता स्कन्धात्म-

---

धर्मान्तर की विवक्षा से प्राप्त प्राधान्य अर्पित कहलाता है । अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रयोजनवश जिस धर्म की विवक्षा की जाती है वा विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है, उस अर्थरूप को अर्पित कहते है ।

अर्पित से विपरीत अनर्पित है । प्रयोजन का (वक्ता की इच्छा का) अभाव होने से सत् (विद्यमान) पदार्थ की भी अविवक्षा हो जाती है, अत उपसर्जनीभूत (गौण) पदार्थ अनर्पित (अविवक्षित) कहलाता है । अर्पित और अनर्पित अर्पितानर्पित है, अर्थात् अनर्पित के द्वारा वस्तु की सिद्धि होती है अत सत् पदार्थ का नित्यत्व अर्पित-अनर्पित से सिद्ध है । जैसे—जब मृत्पिण्ड 'रूपी द्रव्य' के रूप मे अर्पित (विवक्षित) होता है तब वह नित्य है क्योकि वह मृत्पिण्ड कभी भी रूपित्व वा द्रव्यत्व को नही छोडता है । जब वही अनेक धर्म रूप से परिणमन करने वाले इस मृत्पिण्ड का धर्मान्तर की विवक्षा मे मृत्पिण्ड के रूपित्व और द्रव्यत्व को गौण करके केवल 'मृत्पिण्ड' रूप पर्याय की विवक्षा करते है तो वह मिट्टी का पिण्डरूप पुद्गल द्रव्य अनित्य है क्योकि उसकी वह पर्याय (पिण्ड पर्याय) अध्रुव है, अनित्य है । यदि केवल द्रव्यार्थिक नय की विषयभूत वस्तु मानी जाय तो व्यवहार का लोप हो जाएगा क्योकि पर्यायशून्य केवल द्रव्यरूप वस्तु का अभाव है । यदि वस्तु केवल पर्यायार्थिक नय के गोचर ही मानी जाती है तो लोकयात्रा सिद्ध नही हो सकती क्योकि द्रव्य से रहित पर्यायमात्र वस्तु का अभाव है, उभयात्मक वस्तु ही लोकयात्रा कराने मे समर्थ है अत. उभयात्मक वस्तु की प्रसिद्धि है । इस प्रकार अर्पित और अनर्पित मे व्यवहार के सिद्ध होने पर 'सत् द्रव्य नित्य है (और अनित्य भी है) ।

शंका—अनेक नयविवक्षा से व्यवहार के कारणभूत सत्ता द्रव्य के भेद और सघात से स्कन्ध

---

१ [illegible] । २ [illegible] ।

नोत्पत्तिः । इद तु सन्दिह्य –किं सघात सयोगादेव द्वयणुकादिलक्षणो भवति, उत क्वचिद्विशेषोऽवध्रियते इति ? उच्यते–सति सयोगे बन्धादेकत्वपरिणामकात् सघातो निष्पद्यते । यद्येवमिदमुच्यता कुतो न खलु पुद्गलजात्यपरित्यागे संयोगे च भवति केषाञ्चित् बन्धोऽन्येषा च नेति ? उच्यते–यस्मात्तेषां पुद्गलात्माऽविशेषेऽपि अनन्त-पर्यायाणा परस्परविलक्षणपरिणामाहितसामर्थ्याद्[1] भवन् प्रतीत –

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध. ॥ ३३ ॥

स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः । १ । बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्ध ।

रूक्षणाद् रूक्षः । २ । द्वितयनिमित्तवशात् रूक्षणात् रूक्ष इति व्यपदिश्यते । स्निग्धश्च रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ तयोर्भाव· स्निग्धरूक्षत्वम् । स्निग्धत्व चिक्कणत्वलक्षण पर्यायः । तद्विपरीत· परिणामो रूक्षत्वम् । स्निग्धरूक्षत्वादिति हेतुर्निर्देश ।

उत्पन्न होता है, उसमे यह शका उत्पन्न होती है कि क्या सयोग से ही दो अणु आदि लक्षण वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है अथवा इस दो अणु आदि स्कन्ध की उत्पत्ति मे और कोई विशेपता है ? यदि परमाणु के परस्पर सयोग होने पर बन्ध से एकत्व परिणत रूप स्कन्ध उत्पन्न होता है तो यहाँ यह बताइए कि पुद्गल जाति समान होने पर वा पुद्गल जाति को नही छोडने पर भी और सयोग होने पर भी किन्ही परमाणुओ का बन्ध होता है और किन्ही अन्य का नही, ऐसा क्यो है ? इस शका का **समाधान** है कि उन परमाणुओ मे पुद्गलपने की अपेक्षा अविशेपता होने पर भी अनन्त पर्यायो की अपेक्षा परस्पर विलक्षणता होने से परिणमन और परिणामक की योग्यता होने पर ही बन्ध होता है, अन्य का नही । बन्ध की योग्यता वताने के लिए सूत्र कहते है—

स्निग्धता और रूक्षता से बंध होता है ॥ ३३ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर कारणो के कारण स्नेह पर्याय की प्रकटता से जो चिकनापना है, वह स्नेह है ॥ १ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर कारणों के कारण रूक्ष पर्याय की प्रकटता से जो रूक्षपना है वह रूक्ष है । स्निग्ध और रूक्ष का जो भाव है वह स्निग्धरूक्षत्व कहलाता है, स्निग्धत्व का अर्थ है— चिकनेपन की पर्याय और चिकनेपन से विपरीत रूक्षत्व गुण है । इस सूत्र मे पचमी विभक्ति हेतु अर्थ मे निर्दिष्ट है ।

---

१ –द्वन्ध प्र-मु , द ।

तत्कृतो बन्धो द्व्यणुकादिपरिणाम । द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वो परस्पराश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुकः स्कन्धो भवति । एवं संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशस्कन्धो योज्य ।

एकगुणादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पः स्नेहः । ३ । अविभागपरिच्छेदैकगुण. स्नेह. प्रथम. । एव द्वित्रिचतु.सख्येयाऽसख्येयानन्तगुण स्नेहविकल्प । एवंगुणाः परमाणव सन्ति ।

तथा रूक्षः । ४ । यथा स्नेह उक्तस्तथा रूक्षोऽपि सख्येयाऽसख्येयानन्तविकल्पो वेदितव्य ।

तोयाजागोमहिष्युष्ट्रीक्षीरघृतेषु पांशुकणिकाशर्करादिषु च प्रकर्षाप्रकर्षदर्शनात्तदनुमानम् । ५ । यथा तोयादजाक्षीरघृते प्रकृष्टस्नेहे तत प्रकृष्टस्नेहे गोक्षीरघृते ततश्चाधिकस्नेहे महिषीक्षीरघृते ततोऽप्युत्कृष्टस्नेहे उष्ट्रीक्षीरघृते । पाशुभ्य. प्रकृष्टरूक्ष-

---

इन स्निग्ध और रूक्षत्व के कारण द्विअणुक आदि की पर्याय (बध) होती है। अर्थात् स्निग्धत्व और रूक्षत्व के कारण द्वयणुक आदि स्कन्धरूप बध होता है। दो स्निग्ध रूक्ष परमाणुओ मे परस्पर बन्ध होने पर द्वयणुक स्कन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश रूप स्कन्ध मे भी घटित करना चाहिये। अर्थात् सर्व जघन्य दो अणुप्रदेश के स्कन्ध से लेकर महास्कन्ध तक स्कन्ध के अनेक भेद है ।। २ ।।

एक गुण को आदि लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्त विकल्प स्निग्ध गुण के है। अविभागी परिच्छेद एक गुण वाला स्नेह सर्वजघन्य है, प्रथम है। इस प्रकार दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात और अनन्त गुण स्नेह के विकल्प है, इस गुण वाले परमाणु हैं ।। ३ ।।

उसी प्रकार से रूक्ष गुण के विकल्प है। जैसे स्निग्ध गुण के विकल्प कहे है, उसी प्रकार रूक्षगुण के भी एक, दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात और अनन्त विकल्प (अविभागी) परिच्छेद जानने चाहिये ।। ४ ।।

जल, बकरी, गाय, भैस, ऊँट आदि के दूध मे, घृत मे स्नेह गुण की तथा धूलिकी कणिका, शर्करादि मे रूक्ष गुण की प्रकर्षता-अप्रकर्षता के देखने से स्नेह और रूक्ष गुणो के विकल्पो का अनुमान लगाया जाता है। जैसे—जल की अपेक्षा बकरी के दूध और घी मे प्रकृष्ट स्निग्धता है, उससे भी अधिक स्निग्धता गाय के दूध और घी मे है, उससे भी अधिकतर स्नेह गुण भैस के दूध और घी मे है, उससे भी अधिकतम स्निग्धता ऊँटनी के दूध और घी मे है। वैसे ही क्रमश. धूलि से प्रकृष्ट रूखापन तुपखण्ड मे और उससे भी प्रकृष्ट रूक्षता रेत मे पायी जाती है, अत. इस प्रकार पदार्थो में स्निग्धता और रूक्षता के प्रकर्षापकर्ष के दृष्टिगोचर होने से परमाणु मे भी स्निग्धता और

गुणा तुपकरिणकादयः ततोऽपि प्रकृष्टरूक्षाः शर्कराः । तथा परमाणुष्वपि प्रकर्षाप्रकर्षवृत्त्या स्निग्धरूक्षगुणा सन्तीत्यनुमान क्रियते ।

स्निग्धरूक्षगुणनिमित्ते बन्धे अविशेषेण प्रसक्ते अनिष्टगुणनिवृत्त्यर्थमाह—

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

शाखादित्वाद्देहाङ्गत्वाद्वा जघन्यशब्दसिद्धिः । १ । जघनमिव जघन्यमिति शाखादित्वात् सिद्ध्यति । क उपमार्थ ? यथा शरीरावयवेषु जघनं निकृष्ट तथाऽन्योपि निकृष्टो जघन्य इत्युच्यते । अथवा देहाङ्गत्वात्सिद्धि । जघने भव जघन्य । जघन्य इव जघन्यः । यथा जघने भवो निकृष्टस्तथाऽन्योऽपि निकृष्टो जघन्य इति व्यपदिश्यते ।

गुणशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षावशाद्भागग्रहणम् । २ । गुणशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोग. । कश्चिद्रूपादिषु वर्तते—रूपादयो गुणा इति । क्वचिद्भागे वर्तते—द्विगुणा यवास्त्रिगुणा यवा इति । क्वचिदुपकारे वर्तते—गुणज्ञः साधु उपकारज्ञ इति यावत् ।

रुक्षता के प्रकर्ष और अप्रकर्ष का अनुमान लगाया जाता है। अर्थात् परमाणुओ मे भी प्रदेश की अपेक्षा अविभागी परिच्छेद होने पर भी उनमे स्निग्ध और रुक्ष गुण के अनेक विकल्प है, यह सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

स्निग्ध और रुक्ष गुण के कारण बन्ध होने पर अविशेष से बन्ध होने का प्रसग आता है, उसको निवृत्ति के लिये सूत्र कहते हैं—

सर्व जघन्य गुण वाले परमाणुओं में बंध नहीं होता ॥ ३४ ॥

शाखादित्व और देहागत्व के समान जघन्य शब्द की सिद्धि होती है। जघन के समान जघन्य है। जैसे—शरीर मे जघन-जाघ सबसे निकृष्ट है उसी प्रकार अन्य वस्तु निकृष्ट है, ऐसा कहा जाता है। अथवा, देह के अङ्गत्व मे जघन (जाघ) मे होने वाला जघन्य कहलाता है, उस जघन्य के समान जघन्य है, उसी प्रकार जघन की तरह निकृष्ट अवयव को निकृष्ट या जघन्य कहते है ॥ १ ॥

गुण शब्द अनेक अर्थ मे होते हुए भी यहाँ विवक्षावश भाग (अश) ग्रहण करना चाहिये। गुण शब्द का अनेक अर्थों मे प्रयोग होता है। जैसे—(रूपादि गुण) मे गुण का अर्थ रूपादि है। कही गुण, भाग अर्थ मे है जैसे—(दो गुना जौ है, तीन गुना जौ है) यहाँ गुण शब्द का अर्थ भाग है। क्वचित् गुण शब्द उपकार अर्थ मे होता है जैसे—गुणज्ञ साधु, उपकार को मानने वाला साधु है। यहाँ गुण का अर्थ उपकार है। कही द्रव्य अर्थ मे गुण शब्द का प्रयोग होता है जैसे—यह देश

क्वचिद्द्रव्ये वर्तते–गुणवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन् गाव· शस्यानि च निष्पद्यन्ते। क्वचित्समेष्ववयवेषु–द्विगुणा रज्जु त्रिगुणा रज्जुरिति। क्वचिदुपसर्जने–गुणभूता वयमस्मिन् ग्रामे उपसर्जनभूता इत्यर्थ.। तत्रेह भागे वर्तमानः परिगृह्यते। जघन्यो गुणो येषा ते जघन्यगुणास्तेषा जघन्यगुणाना नास्ति बन्ध·। एतदुक्त भवति–एकगुणस्निग्धस्य एकगुणस्निग्धेन द्वितीयादिसख्येयाऽसख्येयानन्तगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्ध.। तस्यैवैकगुणस्निग्धस्य एकगुणरूक्षेण द्व्यादिसख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणरूक्षेण वा नास्ति बन्धः। तथा एकगुणरूक्षस्यापि योज्यमिति।

एतौ जघन्यगुणस्निग्धरूक्षौ वर्जयित्वा अन्येषा स्निग्धरूक्षाणा परस्परेण सबन्धो भवतीति [1]अविशेषप्रसङ्गे तत्रापि प्रतिषेध[2]विषयख्यापनार्थमाह—

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

गुणवान् है—ऐसा कहने पर जिस देश मे गाय-भैंस, धान्य आदि अधिक उत्पन्न होते है, उसको गुणवान् देश कहते है। कही समान अवयव अर्थ मे गुण शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—'द्विगुणा रज्जु' 'त्रिगुणा रज्जु'। इसमे गुण शब्द का अर्थ समान अवयव है। कही पर उपसर्जन (गौण) अर्थ मे गुण शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे—इस देश (ग्राम) मे हम लोग गुणभूत है। यहाँ गुण शब्द गौण (अप्रधान) अर्थ मे है। इस प्रकार गुण शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी यहाँ पर गुण शब्द 'भाग' अर्थ मे विवक्षित है, जघन्य गुण जिस परमाणु मे है वह जघन्य गुण कहलाता है। उन जघन्य भाग वाले परमाणुओ का परस्पर बन्ध नही होता है। तात्पर्य यह है कि एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु का अन्य एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नही होता है तथा एक गुण स्निग्ध परमाणु का अन्य दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात और अनन्त स्निग्ध गुण वाले परमाणुओ के साथ भी बन्ध नही होता है। उसी एक स्निग्ध गुण वाले परमाणु का, एक गुण रुक्ष तथा दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात और अनन्त गुण रुक्ष वाले परमाणुओ के साथ भी बन्ध नही होता। इसी प्रकार एक गुण रुक्ष का अन्य एक गुण रुक्ष या एक गुण स्निग्ध या दो, तीन, चार सख्यात और अनन्तगुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणुओ के साथ वन्ध नही होता ॥ २ ॥

इन जघन्य स्निग्ध और रुक्ष गुणो को छोडकर शेष स्निग्ध और रुक्ष गुणो का परस्पर सम्बन्ध हो जायेगा, इस प्रकार अविशेषता से परस्पर परमाणुओ के बन्ध का प्रसग आने पर उनके निषेध विषय का प्रख्यापन करने के लिये आचार्य सूत्र कहते है—

गुणों की समानता रहने पर सदृश गुण वालों का भी बंध नहीं होता है ॥ ३५ ॥

---

१ अविशेषेण प्र-मु। २ –धज्ञाप-मु.।

सदृशग्रहणं तुल्यजातीयसंप्रत्ययार्थम् ।१। स्निग्धजात्या रूक्षजात्या च तुल्याना सप्रत्यय कथ स्यादिति सदृशग्रहण क्रियते ।

गुणसाम्यग्रहणं तुल्यभागसंग्रहार्थम् ।२। तुल्यभागा ये तेषा ग्रहणार्थ गुण-साम्यग्रहण क्रियते ।

सदृशग्रहणमनर्थकं गुणसाम्यवचनादिति चेत्; न; समानगुणकारयोः स्निग्ध-रूक्षयोः प्रतिषेधप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्–सदृशग्रहणमनर्थकम् । कुत ? गुण-साम्यवचनात्सिद्धेरिति, तन्न[1], कि कारणम् ? समानगुणकारयो स्निग्धरूक्षयो. प्रतिषेधप्रसङ्गात् । सदृशग्रहणे ह्यसति द्विगुणस्निग्धाना द्विगुणरूक्षै त्रिगुणस्निग्धाना त्रिगुणरूक्षैर्गु णाकारसाम्याद्बन्ध प्रतिषिध्येत । सदृशग्रहणे पुन सति द्विगुणस्निग्धाना द्विगुणस्निग्धैर्द्विगुणरूक्षाणा द्विगुणरूक्षैरित्येवमा[2]दिषु बन्धप्रतिषेध कृतो भवति ।

नवेष्टत्वात् ।४। न वा एतत्प्रयोजनमस्ति । कि कारणम् ? इष्टत्वात् । इष्यते द्विगुणस्निग्धानामपि द्विगुणरूक्षैर्बन्धप्रतिषेध । किमर्थ तर्हि सदृशग्रहणम् ?

इस सूत्र मे सदृश का ग्रहण, तुल्यजातीय परमाणुओ के ज्ञान के लिये है। स्निग्ध जाति और रुक्ष जाति से तुल्य परमाणुओ का ज्ञान कैसे होता है? इसलिये सदृश का ग्रहण किया गया है ॥ १ ॥

गुणसाम्य का ग्रहण तुल्य भाग के सग्रह के लिये है। जिनके स्निग्ध और रुक्ष गुणो के अविभाग परिच्छेद समान है, उनका ग्रहण करने के लिये 'गुणसाम्य' यह पद ग्रहण किया है ॥ २ ॥

गुणसाम्य पद से सदृश ग्रहण निरर्थक है, ऐसी आशका नही करनी चाहिए, क्योकि सदृश पद के नही ग्रहण करने से समान गुण वाले, स्निग्ध-रुक्ष गुण वाले परमाणुओ का भी बन्ध हो जायेगा। शंका—सूत्र मे सदृश शब्द का ग्रहण निरर्थक है क्योकि 'गुणसाम्य' वचन से ही अर्थ की सिद्धि हो जाती है। समाधान—'गुणसाम्य पद के ग्रहण से सदृश का ग्रहण निरर्थक नही होता, क्योकि यदि सदृश ग्रहण नही करते तो द्विगुण स्निग्धो का द्विगुण रुक्षो के साथ, त्रिगुण स्निग्धो का त्रिगुण रुक्षो से गुणाकार साम्य होने के कारण बन्ध का निषेध हो जाता। अर्थात् त्रिगुण रुक्ष और तीन स्निग्ध या रुक्ष गुण साम्य होने पर भी उनका बन्ध नही होता, पुन. सदृश ग्रहण करने से द्विगुण स्निग्ध का द्विगुण स्निग्ध के साथ और द्विगुण रुक्ष का द्विगुण रुक्षो के साथ बन्ध निषेध हो जाता है ॥ ३ ॥

इष्ट होने से यह प्रयोजन नही है। यह प्रयोजन नही है, क्योकि द्विगुण स्निग्धो का द्विगुण रुक्षो के साथ बन्ध का निषेध इष्ट है। प्रश्न—सदृश शब्द का ग्रहण सूत्र मे किसलिए है? ॥ ४ ॥

---

१ चेन्न मु । २ –दिसम्बन्ध कृतो मु, द ।

गुणवैषम्ये बन्धप्रतिपत्त्यर्थम् । ५ । गुणवैषम्ये सदृशाना बन्धो भवतीत्येतस्यार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थ सदृशग्रहण क्रियते ।

अतो विषमगुणानां तुल्यजातीयाना चाविशेषेण प्रसक्ताविष्टार्थसंप्रत्ययार्थमिदमुच्यते–

द्व्यधिकादिगुणानां तु ।। ३६ ।।

द्व्यधिकश्चतुर्गुणः । १ । द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिको द्व्यधिकः । कः पुनरसौ ? चतुर्गुण. ?

आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् पञ्चगुणादिसंप्रत्ययः । २ । द्व्यधिकादीत्ययमादिशब्दः प्रकारार्थः । क. पुनरसौ प्रकार. ? द्वाभ्यामधिकता । तेन पञ्चगुणादीना सप्रत्ययो भवति । 'अवयवेन विग्रह. समुदायो वृत्त्यर्थ' इति चतुर्गुणस्यापि ग्रहणं भवति । तेन द्व्यधिकादिगुणाना तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयाना च बन्ध उक्तो भवति, नेतरेषाम् । तद्यथा–द्विगुणस्निग्धस्य परमाणो एकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा नास्ति

गुणो की विषमता होने पर सदृशो (स्निग्ध-स्निग्ध या रुक्ष-रुक्षो) का बन्ध हो सकता है इस बात को बताने के लिये सदृश शब्द का ग्रहण किया गया है। अर्थात् सदृश ग्रहण का यह प्रयोजन है कि गुणवैषम्य होने पर विसदृशो का बन्ध तो होता ही है पर सदृशो का भी बन्ध होता है ।। ५ ।।

इस प्रकार विषम गुण वालो का और तुल्यजातीयो का सामान्य रूप से बन्ध का प्रसग होने पर इष्ट व्यवस्था के प्रतिपादन के लिए सूत्र कहते है—

दो अधिक अर्थात् चार गुण आदि का बन्ध होता है ।। ३६ ।।

द्वि अधिक अर्थात् चार गुण है । दो गुण अधिक द्वि अधिक है अर्थात् चतुर्गुण हैं ।। १ ।।

आदि शब्द प्रकारार्थक है अत उसमे पच गुणादि का सप्रत्यय होता है, दो अधिक गुण आदि मे, आदि शब्द प्रकार अर्थ मे है । प्रकार क्या है ? दो से अधिकता—इससे पञ्च आदि गुणो का सप्रत्यय (ज्ञान) होता है, अवयव से विग्रह और समुदाय वृत्ति का अर्थ है । अर्थात् एक अश से समुदाय का ज्ञान हो जाता है, दो अधिक आदि कहने से चार गुण का भी ग्रहण हो जाता है अत तुल्य जाति हो वा अतुल्य जाति हो, दो अधिक (चार आदि दो अधिक) गुण वाले पुद्गल का ही परस्पर वध होता है अन्य गुण वालो का नही । जैसे दो स्निग्ध गुण वाले परमाणु का एक स्निग्ध, दो स्निग्ध और तीन स्निग्ध गुण वाले परमाणु के साथ वध नही होगा । चार स्निग्ध गुण वाले परमाणु के साथ ही दो स्निग्ध गुण वाले का वध होगा । इसी प्रकार दो गुण स्निग्ध परमाणु का

बन्धः, चतुर्गुणस्निग्धेन पुनरस्ति बन्ध । तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन षट्सप्ताष्टनवदशसख्येयाऽसख्येयानन्तगुणस्निग्धेन बन्धो न विद्यते । एव त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धोऽस्ति, शेषैः पूर्वोत्तरैर्न भवति । चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्ध', शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति । एव शेषेष्वपि योज्य । तथा द्विगुणरूक्षस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्ध, चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्ध । तस्यैव द्विगुणरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षादिभिरुत्तरैर्नास्ति बन्ध. । एव त्रिगुणरूक्षादीनामपि द्विगुणाधिकैर्बन्धो योज्य । एव भिन्नजातीयेष्वपि द्विगुणस्निग्धस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्ध., चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः, उत्तरै पञ्चगुणरूक्षादिभिर्नास्ति । एव त्रिगुणस्निग्धादीनां पञ्चगुणरूक्षादिभिरस्ति, शेषै पूर्वोत्तरैर्नास्ति बन्ध इति योज्य । उक्त च–

"णिद्धस्स णिद्धेण [1]दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण ।
णिद्धस्य लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ।।"[2]

एवमुक्तेन विधिना बन्धे सत्यणूना द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तप्रदेशावसानस्कन्धोत्पत्तिर्वेदितव्या ।

पाँच, छह, सात, आठ, नव, दस, सख्यात, असख्यात और अनन्त गुण वाले स्निग्ध के साथ बध नही होता है । इसी प्रकार तीन गुण स्निग्ध वाले का पाँच गुण वाले स्निग्ध के वा रुक्ष के साथ बध होगा, छह, सात, आठ आदि उत्तर वाले के साथ और एक दो आदि पूर्व गुण वालो के साथ बध नही होगा अर्थात् तीन गुण वाले का न तो दो एक के साथ बध होगा और न छह, सात आदि गुण वाले के साथ बध होगा अपितु तीन गुण वाले का पाँच गुण वाले के साथ ही बध होगा । इसी प्रकार चार गुण स्निग्ध वाले का छह गुण स्निग्ध वाले के साथ बध होगा, तीन सात आदि आगे पीछे गुण वालो से नही । इसी प्रकार दो गुण रुक्ष वाले का एक, दो, तीन गुण वाले और पाँच, छह रुक्ष वा स्निग्ध गुण वालो के साथ बध नही होगा अपितु चार गुण वाले रुक्ष या स्निग्ध गुण वाले के साथ ही बध होगा । इस प्रकार तीन गुण रुक्ष आदि मे भी दो गुण अधिक का ही बध लेना चाहिये न्यूनाधिक से नही । इस प्रकार भिन्न जातीयो मे भी दो गुण स्निग्ध का एक दो तीन गुण रुक्ष से बध नही होता है तथा उत्तर वाले पाँच छह आदि रुक्ष गुण से बध नही है परन्तु चतुर्गुण रुक्ष वाले से ही बँधता है । इसी प्रकार तीन गुण रुक्ष वाले का पाँच गुण रुक्ष या पाँच गुण स्निग्ध से ही बध होता है चार या छह आदि आगे पीछे के गुण वालो से नही । कहा भी है—

"स्नेह का दो गुण अधिक वाले स्नेह से या रुक्ष से, रुक्ष का दो अधिक गुण वाले रुक्ष या स्निग्ध से बध होता है । जघन्य गुण वाले का किसी भी तरह बध नही हो सकता । दो गुण अधिक वाले सम (दो, चार, चार, छह आदि का) और विषम गुण वाले (तीन, पाँच, पाँच, सात आदि) का बध होता है ।"

---

१ द्व्यधिकादिकेन चतुर्गुणेनेत्यर्थः । २ गो जी गा ६१४ । छक्ख वग्ग ५।६।३६ ।

तुशब्दो व्यावृत्तिविशेषप्रतिपत्त्यर्थः । ३ । तुशब्द क्रियमाण[1]प्रतिषेधं व्यावर्त्तयति वन्ध च विशेषयति ।

अत्राह–किमर्थ संयोगजातीय पुद्गलाना बन्धो नाम धर्म कल्प्यते ? ननु[2] प्राप्त्याद्यात्मकत्वादनेनैव सर्वसामूहिकव्यवहारसिद्धिरिति ? उच्यते–सयोगेऽपि सति प्राप्तिमात्रेण कृतार्थत्वात् परस्परानुप्रवेशनिरुत्सुकौ स्निग्धरूक्षगुणौ स्कन्धौ[3] परमाणूना सयोगमात्रत्वात् पारिणामिकौ न स्याताम् शुक्लकृष्णतन्तुसयोगावस्थानवत्, ततोऽयमारम्भः–

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ[4] ॥ ३७ ॥

प्रकृतत्वाद् गुणसंप्रत्ययः । १ । प्रकृत गुणग्रहणम्, तदभिसबन्धाद् गुणसप्रत्ययो भवतीत्यधिकगुणाविति ।

इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से बध होने पर द्वचणुक आदि अनन्त परमाणु स्कन्धो की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

'तु' शब्द व्यावृत्ति विशेष की प्रतिपत्ति के लिये है। सूत्र मे 'तु' शब्द का प्रयोग बध प्रतिपेध के प्रकरण को व्यावृत्त करता (हटाता/दूर करता) है और बध विशेष की इष्ट व्यवस्था को सूचित करता है।

प्रश्न—पुद्गलो का सयोग जातीयबधरूप धर्म क्यो माना जाता है ? प्राप्ति आदि आत्मकत्व होने से परस्पर समुदाय से ही सर्व सामूहिक व्यवहार सिद्ध हो सकते है ? उत्तर—सयोग होने पर भी प्राप्ति मात्र से (समुदाय मात्र से) कृतार्थत्व हो जाने से परस्पर अनुप्रवेश मे निरुत्सुक स्निग्ध रुक्ष गुण स्कन्ध परमाणुओ का सयोग मात्र होने से वे पारिणामिक नही हो सकते। स्निग्ध रुक्ष गुण की शुक्ल और कृष्ण तन्तु के समान यदि मात्र प्राप्ति ही है, उनमे एक-दूसरे की पारिणामिकता नही है तो वह बध नही कहा जा सकता, अत उस पारिणामिकता का नियम बताने के लिये आचार्य सूत्र कहते है—

बंध होने पर अधिक गुण वाला न्यून गुण वाले को अपने रूप परिणमन करा लेता है ॥ ३७ ॥

प्रकरण होने मे गुणो का ज्ञान होता है। यहाँ गुणो का प्रकरण है अत 'अधिकौ' का अर्थ अधिक गुण वाले परमाणु होता है ॥ १ ॥

---

१ –न जघन्यत्वम नजम्। २ न प्रा – मु, द.। ३ स्कन्धप –ता, श्र। ४ –कौ च मु.।

भावान्तरापादनं परिणामकत्वं क्लिन्नगुडवत् । २ । यथा क्लिन्नगु[१]डोऽधिक-मधुररस पतितानां रेण्वादीना स्वगुणापादनात् परिणामक., तथा अन्योऽपि अधिकगुण· अल्पीयस· परिणामक इति कृत्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धरूक्ष: परिणामको भवतीति तत· पूर्वावस्थाप्रच्यवपूर्वक तातीयिकमवस्थान्तर[२] प्रादुर्भवतीत्येक-स्कन्धत्वमुपपद्यते, इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत्संयोगे सत्यप्यपरिणामकत्वात् सर्व विविक्तरूपेणैवावतिष्ठेत । दृश्यते हि श्लेषे सति [३]वर्णगन्धरसस्पर्शानामवस्थान्तरभाव· शुक्लपीतादिसयोगे शुक्लपत्रवर्णादिप्रादुर्भाववत् ।

समाधिकावित्यपरेषां पाठः । ३ । **"बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ"**[४] इत्यपरे सूत्र पठन्ति, द्विगुणस्निग्धस्य द्विगुणरूक्षोऽपि परिणामक इति ।

तदनुपपत्तिरार्षविरोधात् । ४ । स पाठो नोपपद्यते । कुत ? आर्षविरोधात् ।

गोले गुड की तरह अवस्थान्तर उत्पन्न करना परिणामकत्व है। जैसे अधिक मधुर रस वाला गोला गुड अपने मे गिरी हुई धूलि आदि को मधुर रस वाला बनाने के कारण धूलि का परिणामक है, उसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाला परमाणु न्यून गुण वाले परमाणुओ का परिणामक होता है। अर्थात् दो गुण स्निग्ध वा रुक्ष वाले परमाणुओ को चार गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष गुण वाले परमाणु परिणामक होते हैं (अपने स्वरूप करने वाले होते है) अत· पूर्व अवस्था के नाशपूर्वक एक तृतीय अवस्थान्तर की उत्पत्ति होती है तब एक स्कन्ध उत्पन्न होता है। अर्थात् दो गुण वाली और चार गुण वाली जो दो अवस्थाएँ थी उनका व्यय होकर तीसरी छह गुण अवस्था वाला स्कन्ध उत्पन्न हो जाता है। अन्यथा श्वेत और कृष्ण धागे का सयोग होने पर अपरिणामकता होने से जैसे वे धागे जुदे-जुदे रहते है, वैसे परमाणु पृथक्-पृथक् रखे रहेगे। परन्तु जहाँ पारिणामिकता है वहाँ परस्पर सश्लेप होने पर स्पर्श, रस, गध, वर्णादि मे परिवर्तन हो जाता है, अवस्थान्तर भाव हो जाता है। जैसे—शुक्ल और पीत रग के मिलने पर हरे रग के पत्रादि उत्पन्न होते है ।। २ ।।

किसी के 'समाधिको'[५] यह पाठ भी है। (वधे समाधिकौ पारिणामिकौ) ऐसा सूत्र भी कोई पढते है। इसका तात्पर्य है कि द्विगुण स्निग्ध का द्विगुण रुक्ष भी पारिणामक (परिणमन कराने वाला) है ।। ३ ।।

आर्ष मे विरोध होने मे यह पाठ उपयुक्त नही है। ऐसा मानने पर सैद्धान्तिक विरोध आता है, क्योकि वर्गणा मे वन्ध विधान के नो आगम द्रव्य वध विकल्प-सादि वैस्रसिक वध निर्देश मे कहा

---

१. –डो हि मधु–मु व । २ पर्याय इति । ३ वर्णरसगन्धस्य –मु । ४ तत्त्वार्थाधि. ५।३६ । ५. यह 'समाधिकौ' पाठ तत्त्वार्थाधिगम भाष्य मे है।

एवं ह्युक्तमार्षे वर्गणाया[१] बन्धविधाने—नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्धनिर्देशे प्रोक्त (क्तम्–) 'विषमस्निग्धतायाम् विषमरूक्षताया च बन्ध, समस्निग्धताया समरूक्षताया च भेद:' इति । तदनुसारेण च सूत्रमुक्तम् **"गुणसाम्ये सदृशानाम्"** [५।३४] समगुणाना बन्धप्रतिषेधात् बन्धे सम· परिणामक इत्यार्षविरोधिवचो न विद्वद्ग्राह्यम् ।

विषमे समे वास्ति बन्धः इति वचनान्न विरोध इति चेत्; न; [२]आर्षार्थाज्ञानात् ।५। स्यान्मतम्—'जघन्यवर्जे विषमे समे वास्ति' इति वचनात् समगुणस्यापि बन्ध इत्यभ्युपगमान्नास्ति विरोधः इति, तन्न, किं कारणम् ? आर्षार्थाज्ञानात् । नायमस्यार्थ·–समगुणस्य बन्ध इति । कस्तर्हि ? समस्तुल्यजातीय:, विषमोऽतुल्य-जातीय· । समस्य चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्ध· विषमस्य चतुर्गुणरूक्षस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्ध इत्ययमार्षार्थ· । तत्रैतत् स्यात्—किमर्थोऽयमारम्भ इति ? उच्यते—पौद्गलिक कर्मात्मस्थानन्तानन्तप्रदेश कायवाङ्मनोयोगनिमित्त विस्रसोप-चितानन्तप्रदेशस्निग्धरूक्षपरिणत बन्धमायातमात्मन ज्ञानावरणादिभावेन त्रिंशत्सा-

है कि "विषम स्निग्धता और विषम रुक्षता मे बन्ध और समस्निग्धता और समरुक्षता मे भेद होता है।" इसके अनुसार ही 'गुणसाम्ये सदृशाना' यह सूत्र कहा गया है । इस सूत्र से जब सम गुण वालो के बन्ध का प्रतिषेध (निषेध) कर दिया है तब बन्ध मे 'सम' भी पारिणामक होता है, यह कथन आर्ष विरोधी है अत विद्वानो के द्वारा ग्राह्य नही है ।। ४ ।।

सम और विषम मे बन्ध होता है । इस कथन से 'सम' के बन्ध मे विरोध नही है, ऐसा कथन भी उपयुक्त नही, ऐसा कहने वाले को आर्ष का ज्ञान नही है । **प्रश्न**—'जघन्य वर्जित सम और विषम म बन्ध होता है', इस कथन से सम गुण वालो का भी बन्ध स्वीकार किया गया है, अतः सम के बन्ध मे आर्षविरोध नही है । **उत्तर**—ऐसा कहने वाला आर्ष अर्थ के ज्ञान से शून्य है, क्योकि 'समे विषमे' इस वाक्य मे 'सम' का अर्थ समान गुण वाला नही है । **प्रश्न**—'सम' का अर्थ यहाँ क्या है ? **उत्तर**—'जघन्यवर्जे विषमे वा' का तात्पर्य यह है कि सम अर्थात् तुल्यजातीय और विषम अर्थात् अतुल्यजातीय । अत: सम-चतुर्गुण स्निग्ध का षड्गुण स्निग्ध के साथ और विषम चतुर्गुण रुक्ष का षड्गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है, यह आर्ष ग्रन्थ का अर्थ है । **प्रश्न**—यहाँ बन्ध की चर्चा का प्रारम्भ किसलिये किया गया है ? **उत्तर**—यहाँ बन्ध की चर्चा करने का प्रयोजन यह है कि आत्मा के योग व्यापार के निमित्त से आत्मा के प्रदेशो मे विस्रसोपचित अनन्तानन्त प्रदेशी स्निग्ध और रुक्ष से परिणत पौद्गलिक कर्म बन्ध को प्राप्त हो जाते है । उस परिणामक से अपादित

१. 'वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बधो ।।३२।। समणिद्धदा समलुक्खदा भेदो ।।३३।। छक्ख वग्ग पृ-३० ।
२ आर्षाज्ञा –मु., मू व , आ ज ।

गरोपमकोटिकोटयाद्यवस्थानभाक् तत्परिणामकापादितपरिणामात्[1] घनादिवन्न विष्वग्भवतीति ।

अत्राह–उक्त भवता "द्रव्याणि, जीवाश्चेति"[2] इति, तत्र किमुद्देशत एव द्रव्याणा प्रसिद्धिराहोस्विल्लक्षणतोऽपीति ? अत्रोच्यते–लक्षणतोऽपि प्रसिद्धि । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

[3]गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ।। ३८ ।।

गुणाश्च ते पर्ययाश्च [4]गुणपर्ययास्ते यस्य सन्तीति तद् गुणपर्यय[5]वदिति । मतुर्नोपपद्यते अनर्थान्तरभावात्,[6] अर्थान्तरभावे चाऽभावप्रसङ्ग, इत उत्तर पठति ।

अनन्यत्वेऽपि लोके सुवर्णाङ्गुलीयकवद् व्यपदेशदर्शनात् मत्वर्थीयसिद्धिः[7] । १ । अनन्यत्वेऽपि लोके व्यपदेशो दृश्यते, यथा सुवर्णस्याङ्गुलीयक सुवर्णाङ्गुलीयकमिति ।

परिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्म भाव से परिणत पौद्गलिक कर्म तीस कोटा-कोटि सागर आदि तक की स्थिति तक घनपरिणामी बन्ध को प्राप्त रहते है, विघटित नही होते ।। ५ ।।

प्रश्न—आपने 'द्रव्याणि' जीवाश्च' इन दो सूत्रो मे 'द्रव्य' का नाम निर्देश तो किया है तो उन द्रव्यो की प्रसिद्धि निर्देश मात्र से है कि लक्षण से ? **उत्तर**—द्रव्यो की प्रसिद्धि लक्षण से भी है । लक्षण से प्रसिद्धि कैसे है ? ऐसी पृच्छा होने पर आचार्य उत्तर सूत्र कहते है—

गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है ।। ३८ ।।

गुण और पर्यायें जिसके होती है वह गुण पर्याय वाला कहलाता है । **प्रश्न**—गुण पर्याय मे 'मतु ' प्रत्यय नही हो सकता (क्योकि 'मतु ' प्रत्यय भिन्न-भिन्न पदार्थो के सयोग मे होता है, जैसे दड और पुरुष इन दो भिन्न पदार्थो का सयोग होने पर 'दडवाला' शब्द निष्पन्न होता है) परन्तु गुण पर्याय और द्रव्य मे अर्थान्तर भाव (भिन्नत्व) नही है । क्योकि गुणपर्याय को द्रव्य से भिन्न मान लेने पर पदार्थ के अभाव का प्रसग आता है अर्थात् लक्षण के अभाव मे लक्ष्य का भी अभाव हो जाता है ।

उत्तर—सोने की अगूठी के समान अभिन्न पदार्थो मे भी लोक मे 'मतु ' प्रत्यय देखा जाता है अत यहाँ 'मतुः' प्रत्यय की सिद्धि है । यद्यपि गुण और पर्याय द्रव्य से अभिन्न है, फिर भी 'गुण-पर्ययवत्' यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय हो जाता है । जैसे कि 'सोने की अगूठी' मे सोना और अगूठी मे अभेद होने पर भी भेदप्रयोग देखा जाता है तथा लक्षण की अपेक्षा कथञ्चित् भेद की उत्पत्ति होने से

---

१ स्निग्धरूक्ष । २ तत्त्वार्थसूत्र ५।२,३ । ३ पर्ययिव–मू । ४. पर्याया–श्र । ५ –पर्याय श्र ।
६ गुणपर्यायाणाम् । ७ –सिद्धे मु ।

तथा [1]लक्षणात. कथञ्चिद्भेदोपपत्ते. गुणपर्ययेभ्योऽनन्यत्वे कथञ्चिद्भेदसिद्धे. मत्वर्थीयमुपपद्यते ।

गुणाभावादयुक्तिरिति चेत्; न; अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात् ।२। गुण इति सज्ञा तन्त्रान्तराणाम्, आर्हताना तु द्रव्य पर्यायश्चेति द्वितयमेव तत्त्वम् । अतश्च द्वितयमेव नयद्वयोपदेशात्, द्रव्यार्थिक. पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ । यदि गुणोऽपि कश्चित्स्यात्, तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम् । न चास्त्यसाविति, अतो गुणाभावात् गुणपर्ययवदिति निर्देशो न युज्यते; तन्न, कि कारणम् ? अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात् । उक्त हि अर्हत्प्रवचने–**"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" [त.सू. ५।४०]** इति । अन्यत्र चोक्तम्–

गुण इति दव्वविधाणं[2] दव्ववियारो[3] य पज्जयो भणिदो ।
तेहि अणूणं दव्वं [4]अजुदवसिद्धं हवदि णिच्चं ।।[5] इति ।

यदि गुणोऽपि विद्यते, ननु चोक्तम्–तद्विषयस्तृतायो मूलनयः प्राप्नोतीति, नैष

गुणपर्यायो से द्रव्य के अभिन्न होने पर भी कथञ्चित् भेद की सिद्धि है. अत मत्वर्थीय प्रयोग बन जाता है ।। १ ।।

गुणो का अभाव होने से गुणो का कथन करना अयुक्त नही है, क्योकि अर्हत्प्रवचनहृदयादि मे गुणो का उपदेश है । **प्रश्न**—'गुण' यह सज्ञा जैनमत की नही है, यह तो अन्य मतावलम्बियो की है । जैन-सिद्धान्त मे तो द्रव्य और पर्याय ये दो ही तत्त्व प्रसिद्ध है । इसलिये दो प्रकार नयो का उपदेश है । अर्थात् द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो मूल नयो का उपदेश होने से ज्ञात होता है कि द्रव्य और पर्याय दो ही है, गुण नही । यदि गुण होता तो उसका विषय करने वाला तीसरा गुणार्थिक नय भी होना चाहिये था । परन्तु गुणार्थिक नय नही है अत. गुणो का अभाव होने से 'गुणपर्ययवद् द्रव्य' यह निर्देश नही हो सकता अर्थात् यह लक्षण ठीक नही है ? **उत्तर**—गुणो का अभाव करना उपयुक्त नही है क्योकि अर्हत्प्रवचन आदि मे 'गुण' का उपदेश है । अर्हत्प्रवचन मे कहा है कि 'द्रव्याश्रित और स्वय निर्गुण गुण कहलाते है' इसमे गुण का निर्देश है । अन्य आर्ष-ग्रन्थो मे भी कहा है—

'गुण' यह द्रव्य का विधान-अन्वय अश है । द्रव्य के विकार को पर्याय कहते है । इन गुण और पर्यायो से सहित और नित्य 'अयुतसिद्ध' द्रव्य कहलाता है । **प्रश्न**—यदि गुण है तो

---

१ तल्लक्षण–मू , अ । २ असाधारणलक्षणम् । ३ विकार । ४ अयुतप्रसिद्धम् । ५. उद्धृतेयम् –स सि ५।३८ ।

दोष., द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्य विशेषश्चेति । तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वय· गुण इत्यनर्थान्तरम् । विशेषो भेद पर्याय इति पर्यायशब्द. । तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिक. । विशेषविषय पर्यायार्थिक. । तदुभय समुदितमयुतसिद्धरूप द्रव्यमित्युच्यते, न तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति, विकलादेशत्वान्नयानाम् । तत्समुदयोऽपि प्रमाणगोचरः सकलादेशत्वात् प्रमाणस्य ।

गुणा एव पर्याया इति वा निर्देशः । ३ । अथवा, उत्पादव्ययध्रौव्याणि पर्याया, न तेभ्योऽन्ये गुणा सन्ति, ततो गुणा एव पर्याया इति सति सामानाधिकरण्ये मतौ सति गुणपर्यायवदिति निर्देशो युज्यते ।

विशेषणानुपपत्तिरर्थभेदादिति चेत्; न; मतान्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् । ४ । स्यादेतत्– यदि गुणा एव पर्याया., विशेषणमपार्थकम्, कुत ? अर्थभेदात् । ततो गुणवदिति वा पर्यायवदिति वा वक्तव्यमिति, तन्न, कि कारणम् ? मतान्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् । [1]मतान्तरे हि द्रव्यादन्ये गुणा परिकल्पिता, न ते सन्ति ? अर्थान्तरभावे सत्यनुपलब्धि-

---

उसका विषय करने वाला तीसरा मूल नय प्राप्त होता है ? उत्तर—यह कोई दोष नही है क्योकि द्रव्य के सामान्य विशेषात्मक ये दो स्वरूप है । दो स्वभाव है । उसमे सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एकार्थवाची शब्द हैं । विशेष, भेद और पर्याय ये पर्यायार्थिक शब्द है । सामान्य का विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और विशेष का विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है । द्रव्य और पर्याय इन दोनो का समुदाय अयुतसिद्ध रूप द्रव्य है । अत गुण जब द्रव्य का ही सामान्य रूप है तब उसके ग्रहण के लिए द्रव्यार्थिक नय से पृथक् गुणार्थिक नय की कोई आवश्यकता नही है क्योकि नयो का विषय विकलादेशी है । गुण–पर्यायो का समुदाय रूप द्रव्य प्रमाण के गोचर है, क्योकि प्रमाण सकलादेशी है ।। २ ।।

अथवा, 'गुणा एव पर्याया.' (गुण ही पर्याय हैं) ऐसा समानाधिकरण रूप से निर्देश करना चाहिये । अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही पर्याय है, पर्यायो से भिन्न अन्य गुण नही है, अत गुण ही पर्याय है, इस समानाधिकरणता मे 'मतुप्' प्रत्यय होने पर गुणपर्ययवत् (गुणपर्याय वाला) द्रव्य है, यह निर्देश बन जाता है ।। ३ ।।

अर्थभेद होने से विशेषण की अनुपपत्ति है, ऐसी शका नही करनी चाहिये, मतान्तर की निवृत्ति होने से । **प्रश्न**—यदि गुण ही पर्याय है तो अर्थ का अभेद होने से 'गुणपर्ययवत्' यह विशेषण निरर्थक हो जाता है अत गुण वाला या पर्याय वाला द्रव्य कहना चाहिये । 'गुणपर्ययवत्' यह विशेषण नही होना चाहिये । **उत्तर**—'गुणपर्ययवद् द्रव्य' यह अन्य मतान्तरो की निवृत्ति के

---

१ वैशेषिकमते –स ।

प्रसङ्गात् । [१]अतो द्रव्यस्य [२]परिणामन परिवर्तन पर्यायः । तद्भेदा एव गुणाः न भिन्नजातीया इति मतान्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् विशेषणमर्थवत् ।

उक्ताना द्रव्याणा लक्षणनिर्देशात्तद्विषय एव द्रव्यव्यवसायप्रसक्ते अनुक्तद्रव्य-संसूचनार्थमिदमाह–

कालश्च ॥ ३९ ॥

यथोक्तद्रव्यलक्षणोपेतत्वाद् द्रव्यम् ।१। यथोक्त द्रव्यलक्षणम्–"**उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्, गुणपर्ययवद् द्रव्यम्**" [त.सू., ५।३०,३८] इति च; तेन लक्षणेनोपेतत्वात् कालश्च द्रव्यमित्यवगम्यते । कथं लक्षणोपेतत्वमिति चेत् ? उच्यते–

आकाशादिवत्तत्सिद्धिः ।२। यथा आकाशादीना द्रव्यलक्षण तथा कालस्यापि सिद्ध्यति । ध्रौव्य तावत् कालस्य स्वप्रत्यय स्वभावव्यवस्थानात्, व्ययोदयौ परप्रत्ययौ, अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षया स्वप्रत्ययौ च । तथा गुणा अपि कालस्य साधारणा-

---

लिये है, क्योकि मतान्तर (वैशेषिक आदि) द्रव्य से भिन्न गुणो की परिकल्पना करते है, अर्थात् द्रव्य से भिन्न गुण मानते है, परन्तु द्रव्य से भिन्न कोई गुण पदार्थ नही है, क्योकि द्रव्य से भिन्न गुण उपलब्ध नही है अत द्रव्य का ही परिणमन-परिवर्तन पर्याय कहलाता है और उसका ही भेद गुण है, द्रव्य से भिन्न अन्य जातीय गुण नही है । अत मतान्तर की निवृत्ति के लिये पृथक् 'गुण' यह विशेषण देना उचित ही है ।

उक्त द्रव्यो के लक्षण-निर्देश से उनका विषय ही द्रव्य का ज्ञान करा देता है परन्तु जिस द्रव्य का कथन नहो किया है, उसकी सूचना के लिए सूत्र कहते है—

काल भी द्रव्य है ॥ ३९ ॥

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' और 'गुणपर्ययवद् द्रव्य' इन कथित लक्षणो से युक्त होने के कारण काल भी द्रव्य है । **प्रश्न**—काल इन लक्षणो से युक्त कैसे है ? ॥ १ ॥

उत्तर—जैसे आकाशादि, द्रव्य के लक्षणो से युक्त होने से द्रव्य है उसी प्रकार काल मे भी द्रव्य का लक्षण घटित होता है अतः काल के भी द्रव्यत्व सिद्ध होता है । काल मे ध्रौव्य तो स्वप्रत्यय ही है क्योकि वह स्वभाव मे सदा व्यवस्थित रहता है । काल का उत्पाद और व्यय स्व-पर प्रत्यय (कारण) से होता है । अगुरुलघुगुण की हानिवृद्धि की अपेक्षा उत्पाद व्यय स्वप्रत्यय (स्वकारण) से होता है तथा परद्रव्यो मे वर्त्तना का कारण होने से काल मे

---

१. यतो श्र. । २. परिगमन मू ।

साधारणरूपा सन्ति । तत्रासाधारण. वर्तनाहेतुत्वम्, साधारणाश्च अचेतनत्वामूर्तत्व-सूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वादय. । पर्यायाश्च व्ययोत्पादलक्षणा योज्या । तस्यास्तित्वलिङ्ग सन्निवेशक्रमश्च व्याख्यात. ।

आह–द्रव्यत्वे सति किमसौ काल आकाशवदेक उत सख्येयोऽसख्येयोऽनन्तो वेति ? अत्रोच्यते–

सोऽनन्तसमय: ।। ४० ।।

व्यवहारकालप्रमाणावधारणार्थं वचनम् । १ । मुख्या परमार्थकालाणव. धर्मास्तिकायप्रदेशतुल्या असख्येया व्याख्याता । इद तु वचन व्यवहारकालप्रमाणावधारणार्थं क्रियते । [१]साम्प्रतिकस्यैकसमयिकत्वेऽप्यतीतानागताश्च समया अन्तातीता इति कृत्वा अनन्ता इति व्यपदिश्यन्ते ।

मुख्यस्यैव वानन्तपर्यायवर्तनाहेतुत्वात् । २ । अथवा, मुख्यस्यैव कालस्य

उत्पाद और व्यय परप्रत्यय से भी होता है। गुण भी काल मे साधारण और असाधारण की अपेक्षा दो प्रकार के है—वर्त्तनाहेतुत्व काल का असाधारण गुण है क्योकि काल को छोडकर अन्य द्रव्यो मे नही पाया जाता है। अचेतनत्व, अमूर्त्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण है क्योकि ये गुण पुद्गलादि अन्य द्रव्यो मे भी पाये जाते है। व्यय और उत्पाद रूप पर्याये भी काल मे निरन्तर होती रहती है, अत. काल द्रव्य है। काल के अस्तित्व के लक्षण और सन्निवेश के क्रम का व्याख्यान किया है ।। २ ।।

द्रव्यत्व होने पर यह काल क्या आकाश के समान एक अखण्ड है अथवा भिन्न-भिन्न है, ऐसी आशका होने पर उत्तर कहते है—

वह काल अनन्त समय वाला है ।। ४० ।।

व्यवहारकाल के प्रमाण की अवधारणा के लिए 'अनन्त' इस वचन का प्रयोग किया है। मुख्य परमार्थ कालाणु धर्मास्तिकाय के प्रदेश के समान असख्यात है, ऐसा कहा है। परन्तु यहाँ अनन्त समय का निर्देश व्यवहारकाल के प्रमाण की अवधारणा के लिए है। वर्तमानकाल एक समय का होने पर भी अतीत, अनागत समय अन्त से अतीत (रहित) है अत: सूत्र मे 'अनन्ता' इस सख्या का निर्देश दिया गया है ।। १ ।।

अथवा, अनन्त पर्यायो की वर्त्तना मे कारण होने से मुख्य काल को अनन्त कहा है। अथवा

---

१ वर्त्तमानकालस्य ।

प्रमाणावधारणार्थमुच्यते । अनन्तपर्यायवर्तनाहेतुत्वादेकोऽपि कालाणुरनन्त इत्युपचर्यते । समय पुन. परमनिरुद्ध कालाशः । तत्प्रचयविशेष आवलिकादिर्व्याख्यातः ।

आह–"**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**" इत्युक्तम्, तत्र के गुणा. इति ? अत्रोच्यते–

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा ॥ ४१ ॥

आश्रयशब्दोऽधिकरणसाधनः कर्मसाधनो वा । १ । अयमाश्रयशब्द अधिकरण-साधन. गुणा यत्राश्रयन्ते स आश्रय इति पुल्लिङ्गे घ.[१] । अथवा कर्मसाधन. गुणैराश्रियत इत्याश्रय । द्रव्यशब्द उक्तार्थ , द्रव्यमाश्रयो येषा ते द्रव्याश्रयाः ।

निर्गुणा इति विशेषणं द्व्यणुकादिनिवृत्त्यर्थम् । २ । द्रव्याश्रया गुणा इत्युच्यमाने द्व्यणुकादिष्वपि गुणसप्रत्ययः स्यात्– [२]कारणद्रव्याश्रयाणि कार्यद्रव्याणीति, ततस्तन्नि-वृत्त्यर्थ निर्गुणा इति विशेषणमुपादीयते । द्व्यणुकादीना हि रूपादयो गुणा सन्तीति तन्निवृत्ति कृता भवति ।

मुख्य (परमार्थ) काल के प्रमाण की अवधारणा के लिये अनन्त कहा है, क्योकि अनन्त पर्यायो के वर्त्तना का हेतु होने से एक भी कालाणु उपचार से अनन्त कहा जाता है अर्थात् एक कालाणु मे भी अनन्त का उपचार किया जाता है । अति सूक्ष्म अविभागी कालाश समय कहलाता है । समय के प्रचयविशेष (समुदाय) आवली आदि का वर्णन पूर्व मे किया गया है ॥ २ ॥

गुण और पर्याय से युक्त हो, उसे द्रव्य कहते है तो गुणो का लक्षण क्या है, ऐसी पृच्छा करने पर आचार्य उत्तर देते है—

जो द्रव्य के आश्रय से रहते हों और स्वयं निर्गुण हों उन्हें गुण कहते है ॥ ४१ ॥

आश्रय शब्द अधिकरण साधन वा कर्मसाधन से निष्पन्न है । अधिकरण साधन—जिसमे गुण आश्रय लेते है अर्थात् जिसमे गुण रहते है, वह आश्रय है । इसमे पुल्लिग मे 'घ' प्रत्यय लगाने से 'आश्रयः' शब्द बना है । अथवा कर्मसाधन गुणो के द्वारा जिसका आश्रय लिया जाता है, वह आश्रय है । द्रव्य शब्द का अर्थ पूर्व मे कह चुके है अतः द्रव्य है आश्रय जिनका वा जिनके द्वारा आश्रय लिया जाता है, वे द्रव्याश्रय कहलाते है ॥ १ ॥

'निर्गुणा' यह विशेषण द्वि अणु आदि की निवृत्ति के लिये है । यदि 'द्रव्याश्रया. गुणा.' इतना ही सूत्र बनाते तो द्व्यणुकादि मे भी गुणत्व का प्रसग आता क्योकि दो अणु आदि कार्य भी परमाणु रूप कारण द्रव्य के आश्रय से रहता है, अतः उसकी निवृत्ति के लिए (उनमे गुणत्व की

---

१ पुन्नाम्नि घ प्रायः । २. परमाणवः कारणद्रव्याणि, द्व्यणुकादीनि कार्यद्रव्याणि ।

पर्यायाणां गुणत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; द्रव्याश्रया इति विशेषणात्तन्निवृत्तेः । ३ । स्यान्मतम्–यदि गुणा द्रव्याश्रया इत्येतत्तावल्लक्षण गुणानाम्, पर्यायाणामपि घट-संस्थानादीना तदुभयमस्तीति गुणत्वं प्राप्नोतीति, तन्न, कि कारणम् ? द्रव्याश्रया इति विशेषणात्तन्निवृत्तेः । ननु द्रव्याश्रया इति विशेषण तदाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थ तदन्तरेणापि सिद्ध्यति । कुत ? सामर्थ्यात् निराश्रयगुणाभावात् आश्रयान्तराभावाच्च, ततस्तदनर्थक पर्यायनिवृत्त्यर्थ भवति । कि शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यमिति पर्यायनिवृत्तिर्गृह्यते ? न, इत्याह–

मत्वर्थे वा वृत्तिविधानात् इति । ४ । मत्वर्थेऽन्यपदार्थे वृत्ति , मत्वर्थश्च नित्ययोगे विद्यत इति नित्ययोगोऽत्र वेदितव्य. । नित्य द्रव्यमाश्रित्य ये वर्तन्ते ते गुणा इति । पर्यायाः पुन. कादाचित्का इति न तेषा ग्रहणम् । तेनान्वयिनो धर्मा गुणा इत्युक्त

निवृत्ति के लिए) 'निर्गुणा ' यह विशेषण दिया गया है । क्योकि द्व्यणुकादि मे रूपादि गुणो का सद्भाव है । 'निर्गुण' शब्द से उनकी निवृत्ति हो जाती है ।। २ ।।

पर्यायो के भी गुणत्व का प्रसग आयेगा, ऐसी आशका नही करनी चाहिए, क्योकि 'द्रव्याश्रया ' यह विशेषण पर्यायो की निवृत्ति के लिए है । **प्रश्न**—'द्रव्याश्रयाः गुणा ' इतना ही लक्षण गुणो का किया जाता तो घटसस्थान आदि पर्याये भी द्रव्याश्रित और निर्गुण होने से गुण बन जायेगी । **उत्तर**—'द्रव्याश्रया.' इस विशेषण से पर्यायो मे गुणत्व के प्रसग का कारण हो जाता है । 'द्रव्याश्रया.' यह विशेषण आश्रय की प्रतीति के लिए है, यह कहना ठीक नही है क्योकि उनके आश्रय की प्रतिपत्ति तो 'द्रव्याश्रया.' इस शब्द के विना सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाती है कि गुणो को कोई न कोई आश्रय चाहिए, गुण आश्रय के विना नही रह सकते और द्रव्य को छोडकर अन्य आधार हो नही सकता । अत 'द्रव्याश्रया ' यह पद निरर्थक होकर पर्याय निवृत्ति का ज्ञापक हो जाता है । **प्रश्न**—अधिक शब्द होने से अर्थ भी अधिक होता है, अत क्या उससे पर्याय की निवृत्ति का प्रयोजन साधना उचित है ? **उत्तर**—नही ।। ३ ।।

'द्रव्याश्रया ' यह अन्य पदार्थक (बहुव्रीहि) समास मत्वर्थ मे है 'मतु' अर्थ मे बहुव्रीहि समास नित्ययोग मे होता है । यहाँ यह मत्वर्थ नित्ययोग का सूचन करता है कि जो नित्य द्रव्य के आश्रय से रहता है वह गुण है । यद्यपि पर्याये भी द्रव्य मे रहती है, परन्तु पर्याये कादाचित्क है अत 'द्रव्याश्रया.' इस पद से पर्यायो का ग्रहण नही होता है । अतः 'द्रव्याश्रया.' इस पद मे अन्वयी धर्म गुण है ऐसा सिद्ध होता है, जैसे कि जीव के अस्तित्वादि और ज्ञान दर्शन आदि गुण है और पुद्गल के अचेतनत्व आदि रूप-रसादि गुण है । घटज्ञानादि जीव की पर्याये है और कपालादि विकार पुद्गल की पर्याये है । अर्थात् ज्ञान ज्ञेयाकार होता है, अत घट के ज्ञान को घट कह दिया जाता है घटज्ञान से मतिज्ञान और आदि से श्रुतज्ञान अवधिज्ञान चक्षुदर्शनादि ज्ञान-दर्शन की पर्याय रूप अर्थ पर्याय और नर-नारकादि जीव की व्यजन पर्याय ग्रहण करना चाहिये तथा घट, घट का टुकड़ा

भवति । तद्यथा जीवस्यास्तित्वादयः ज्ञानदर्शनादयश्च । पुद्गलस्याचेतनत्वादय· रूपादयश्चेति । पर्याया पुनः घटज्ञानादय. कपालादिविकाराश्च ।

अत्राह–उक्त· परिणामशब्दः असकृन्न तु तस्यार्थो वर्णितः, तस्मादुच्यता क· परिणाम इति ?

तद्भावः परिणामः ।। ४२ ।।

अथवा, गुणा द्रव्यादर्थान्तरभूता इति [1]केषाञ्चिद्दर्शनम्, तत्कि भवत सम्मतम् ? नेत्याह–यद्यपि कथञ्चिद् व्यपदेशादिभेदहेत्वपेक्षया द्रव्यादन्ये तथापि तदव्यतिरेकात्तत्परिणामाच्चानन्ये । यद्येवं स उच्यता क परिणाम इति ? तन्निश्चयार्थमिदमुच्यते–तद्भावः परिणाम· ।

धर्मादीनां येनात्मना भवनं सः तद्भावः परिणामः । १ । धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भाव तत्त्व परिणाम इत्याख्यायते ।

जितनी भी वस्तुये दृष्टि गोचर होती है वे पुद्गल का विकार होने से पुद्गल की पर्याये है। वे कादाचित्क है, इसलिये गुण नही है ।। ४ ।।

प्रश्न—परिणाम शब्द का तो बहुत बार वर्णन किया है. इस समय तो उसके स्वरूप का वर्णन करना चाहिए और कहना चाहिये कि धर्मादि द्रव्यो का परिणाम क्या है ? या परिणाम का लक्षण क्या है ?

धर्मादि द्रव्यों का अपने निज स्वभाव में रहना ही परिणाम है ।। ४२ ।।

अथवा, कोई वादी (वैशेषिक) गुणो को द्रव्य से सर्वथा पृथक् मानते है। क्या वह जैन-सिद्धान्त मे मान्य है ? वैशेपिक द्रव्य मे गुणो को भिन्न मानते है, यह पक्ष जैन-सिद्धान्त मे मान्य नही है क्योकि यद्यपि सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन, हेतु आदि की अपेक्षा गुण द्रव्य से भिन्न है तथापि गुण द्रव्य से भिन्न उपलब्ध नही होते अत द्रव्य के ही परिणाम होने से द्रव्य से अभिन्न है। **प्रश्न**—परिणाम किसे कहते है ? परिणाम का स्वरूप क्या है ? **उत्तर**—द्रव्य के परिणाम का निश्चय करने के लिये 'तद्भावः परिणामः' यह सूत्र वनाया गया है।

धर्मादि का अपने निज स्वभाव रूप से होना परिणाम है। धर्मादि द्रव्यो का जो निज स्वरूप है, वह उसका भाव तद्भाव कहलाता है, द्रव्यो के उस भाव को (स्वरूप को) परिणाम कहते है ।। १ ।।

---

१ वैशेपिकाणा –म ।

तत्स्वरूपं व्याख्यातम् । २ । तस्य परिणामस्य स्वरूप व्याख्यातम् । क्व ? **"वर्तनापरिणामक्रियाः" [त.सू. ५।२२]** इत्यत्र ।

स द्विविधोऽनादिरादिमांश्च । ३ । स एष परिणामो द्विधा भिद्यते । अनादिरादिमाश्चेति । [1]तत्रानादिर्धर्मादीना गत्युपग्रहादि । न ह्येतदस्ति धर्मादीनि द्रव्याणि प्राक्, पश्चाद्गत्युपग्रहादि, प्राग्वा गत्युपग्रहादि पश्चाद्धर्मादीनि इति । कि तर्हि ? अनादिरेषा सबन्धः । आदिमाश्च बाह्यप्रत्ययापादितोत्पाद ।

अत्रान्ये[2] धर्माधर्मकालाकाशेषु अनादि परिणाम, आदिमान् जीवपुद्गलेषु इति वदन्ति, तदयुक्तम्, कुत ? सर्वद्रव्याणा द्वयात्मकत्वे सत्त्वम्, अन्यथा[3] नित्याभावप्रसङ्गात् । कथ तर्हि ग्राह्यम् ?

नयद्वयवशात् सर्वत्र तदुभयसिद्धिः । ४ । द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयविवक्षावशात्

द्रव्यो का परिणाम पहले बता चुके है। 'वर्त्तना परिणाम क्रिया', इस सूत्र मे प्रत्येक द्रव्य के लक्षण का वा परिणाम का कथन कर दिया है ।। २ ।।

वह परिणाम सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है। धर्मादि द्रव्यो के गति उपग्रह, स्थिति उपग्रह, अवकाशदान, वर्त्तना आदि परिणाम अनादि है, क्योकि जब से धर्मादि द्रव्य है तभी से इनके परिणाम है। धर्मादि द्रव्य पहले हो और गतिउपग्रह, स्थितिउपग्रह बाद मे किसी समय मे हुए हो, ऐसा नही है। क्योकि धर्मादि के साथ इनका सम्बन्ध अनादि है। धर्मादि अनादि है अत गति उपग्रह आदि परिणाम अनादि है। बाह्य कारणो/निमित्त से जो उत्पाद होता है, जो द्रव्यो के परिणाम (पर्यायें) उत्पन्न होते है, वे परिणाम आदिमान् (सादि) है।

कोई धर्म, अधर्म, आकाश और काल मे अनादि परिणाम और जीव तथा पुद्गल मे सादि परिणाम कहते है। उनका कथन ठीक नही है, क्योकि सभी द्रव्यो को द्वयात्मक मानने से ही उनमे सत्त्व हो सकता है, अन्यथा द्रव्यो मे नित्य अभाव का प्रसग आता है। इनको कैसे ग्रहण करना चाहिये ? ।। ३ ।।

दोनो नयो के कारण सब द्रव्यो मे सादि एव अनादि दोनो परिणामो की सिद्धि होती है। अर्थात् पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से सर्व धर्मादि द्रव्यो मे परिणाम सादि है और द्रव्यार्थिक नय

---

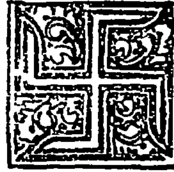
१ गतिसामान्येन । २ "तत्रानादिररूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्विति । रूपादिष्वादिमान् । [५-४३] रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविध स्पर्शपरिणामादि । योगोपयोगौ जीवेषु [५-४५] जीवेष्वरूपिष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामौ आदिमन्तौ भवत." —तत्त्वार्थाधि भा । ३ सत्त्वाभावे ।

सर्वेषु धर्मादिद्रव्येषु स उभय. परिणामोऽवसेय । अय तु विशेषः धर्मादिषु चतुर्षु द्रव्येष्वत्यन्तपरोक्षेष्वनादिरादिमाश्च परिणामः आगमगम्य, जीवपुद्गलेषु कथञ्चित्प्रत्यक्षगम्योऽपि[1] इति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे पञ्चमोध्यायः ॥

की विवक्षा से सभी द्रव्यो के परिणाम अनादि हैं । यह विशेपता है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्यो का आदि और अनादिमान् परिणाम आगम से जाना जात। है और जीव तथा पुद्गलो का परिणाम कथ.चित् प्रत्यक्षगम्य भी होता है ।। ४ ।।

इस प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक के व्याख्यानालकार मे पाँचवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।।



---

१ अपिशब्दादागमगम्यश्च ।

षष्ठोऽध्यायः

आह—अजीवपदार्थो व्याख्यातः। इदानी तदनन्तरोद्देशभाग् आस्रवपदार्थो व्याख्येय इति ततस्तत्प्रसिद्धयर्थमिदमुच्यते—

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥ १ ॥

कायादीनामितरे[1]तरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । १ । कायश्च वाक् च मनश्च कायवाङ्मनसि इतीतरेतरयोगे द्वन्द्व ।

वाङ्मनस [मिति] प्रसङ्ग इति चेत्; न; बहुषु तदभावात् । २ । स्यादेतत्—वाङ्मनसमिति प्राप्नोतीति, तन्न, कि कारणम् ? बहुषु तदभावात् । द्वयो हि [2]सविधिः, तेन बहुषु न भवति । कायवाङ्मनसा कर्म कायवाङ्मनस्कर्मेति । **"कृकमिकं सः"**[3] इति सत्वम् । कायादय. शब्दा व्याख्यातार्थाः ।

अजीव पदार्थ का व्याख्यान कर चुके है। अब अजीव पदार्थ के अन्तर-व्याख्येय आस्रव पदार्थ है अत. उस आस्रव की प्रसिद्धि के लिये सूत्र कहते है—

काय, वचन और मन के परिस्पन्द को योग कहते हैं ॥ १ ॥

कायादि शब्दो मे इतरेतर योग लक्षण द्वन्द्व समास है। काय, वचन और मन इन शब्दो मे इतरेतर योगार्थक द्वन्द्व है ॥ १ ॥

यहाँ "वाङ्मनस" ऐसा समास नही हो सकता। बहुवचन मे उस विधि का अभाव है। **प्रश्न**—यहाँ "वाङ्मनस" ऐसा पाठ करना चाहिये ? उत्तर—यहाँ "वाङ्मनस" ऐसा एकवचन नही हो सकता, क्योकि एकवचन का विधान दो के समास मे होता है, बहुत के समास मे नही। अत. जो दो के समास की विधि है, वह बहुवचन मे नही हो सकती। मन, वचन, काय का कर्म। अर्थात् काय-वचन और मन की चेष्टा, काय-वचन और मन का कार्य कर्म कहलाता है। कायादि शब्द का अर्थ पूर्व मे कह चुके है। व्याकरण शास्त्र मे **"कृकमिकं सः"** इस सूत्र से कर्म शब्द निष्पन्न हुआ है। काय-वचन और मन का लक्षण पूर्व मे बता दिया है ॥ २ ॥

---

१. आविर्भूतावयवभेद । २. स इति स्वमते समाससज्ञा, समासविधिरित्यर्थ । ३ जैनेन्द्र ५।४।३८ ।

कर्मशब्दस्यानेकार्थत्वे क्रियावाचिनो ग्रहणम्, इहान्यस्यासंभवात् ।३। कर्मशब्दोऽनेकार्थः । [1]क्वचित्कर्तुरीप्सिततमे वर्तते–यथा घटं करोतीति । क्वचित्पुण्यापुण्यवचन.–यथा **"कुशलाऽकुशलं कर्म"**[2] इति । क्वचिच्च क्रियावचन.–यथा **"उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि"**[3] इति । तत्रेह क्रियावाचिनो ग्रहणम् । कुतः ? अन्यस्यासभवात् । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

न कर्तुरीप्सिततमम्, अन्यतरस्योभयस्य च विवक्षाऽसंभवात् ।४। कर्तु· क्रियया आप्तुमिष्टतमं कर्म ।[4] तत्त्रिविध निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति । तत् त्रितयमपि कर्तुरन्यत् । तत्र यदि कायादीना कर्तृत्वम्, कर्मान्यद्वाच्यम् । न चातोऽन्यत् सूत्रे गृहीतमस्ति । अथ कर्मत्वं कायादीनाम्, कर्ताऽन्यो वाच्यः । न चासौ सगृहीतोऽस्ति । अथ युगपत्कर्तृत्व कर्मत्वञ्चेष्टम्, तच्चासंभवात् असत् । तस्मात् कर्तुरीप्सिततम नेह परिगृहीतम् ।

कर्म शब्द के अनेक अर्थ होते है अत· क्रियावाची अर्थ ग्रहण करना चाहिये, क्योकि अन्य अर्थो की यहाँ असम्भवता है । कही पर कर्त्ता को इष्ट हो वा कर्त्ता जिसको करता हो उसे कर्म कहते है । जैसे—**"घट करोतीति"** घट को करता है, यहाँ कर्म शब्द का अर्थ कर्मकारक है । कही पुण्य-पाप अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग होता है । जैसे—**"कुशलाकुशल कर्म"** यहाँ कर्म शब्द का अर्थ पुण्य एव पाप है । कही क्रिया अथ मे कर्म शब्द का प्रयोग होता है । जैसे—'उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन' ये 'कर्म' है । यहाँ कर्म शब्द क्रिया अर्थ मे विवक्षित है । कर्म शब्द के इन अर्थो मे से यहाँ पर 'कर्म' शब्द का अर्थ क्रियावाची ग्रहण करना चाहिये । क्योकि अन्य अर्थो के ग्रहण की यहाँ असम्भवता है । **प्रश्न**—अन्य अर्थ असम्भव क्यो है ? **उत्तर**—।। ३ ।।

'कर्त्तुरीप्सितं कर्म' कर्मकारक का कर्म तो यहाँ विवक्षित नही है, क्योकि किसी अन्यतर और उभय इन दोनो की यहाँ विवक्षा नही है । कर्त्ता के द्वारा जो प्राप्त करने योग्य इष्ट होता है, उसे कर्म कहते है । वह कर्मकारक निर्वृत्य, विकार्य और प्राप्य के भेद से तीन प्रकार का है । ये तीनो ही कर्म कर्त्ता से अत्यन्त भिन्न होते है । अतः कर्त्ता (आत्मा) इनसे अत्यन्त भिन्न होने से 'कर्मकारक' कर्म यहाँ गृहीत नही है । यदि काय (शरीर) आदि को कर्म का कर्त्ता बनाते है, तो कर्मो से कर्त्ता भिन्न मानना पडेगा । परन्तु यहाँ पर भिन्न कर्त्ता और कर्म विवक्षित नही है । यहाँ पर कर्त्ता और कर्म युगपत् इष्ट है । एक ही वस्तु मे कर्त्ता कर्म इष्ट है तथा कायादि मे एक साथ कर्तृत्व और कर्मत्व धर्म बन नही सकते अत. यहाँ कर्म शब्द से कर्मकारक विवक्षित नही है ।। ४ ।।

---

१. व्याकरणशास्त्रे–म । "कर्त्तुरीप्सिततम कर्म"–इति पाणिनि १।४।४९ । २ आप्तमी. श्लोक ८ । ३. वैशे १।१।७ । ४. पात. महा. ।

नापि पुण्यापुण्यलक्षणम्; उत्तरसूत्रस्य सामर्थ्यात् । ५ । नापीह पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म गृह्यते । कुतः ? उत्तरसूत्रसामर्थ्यात् । यदि पुण्यापुण्यलक्षणमिह गृह्यते, **"स आस्रवः शुभः पुण्यस्य"**[1] इत्युत्तरसूत्रारम्भोऽनर्थक. स्यात् ।

कर्तुरीप्सिततमं वा आत्मनः कर्तृत्वात् । ६ । अथवा सामर्थ्यसन्निहित इहात्मा[2] कर्ता, तस्य कर्तुरीप्सिततमत्वात् पारिभाषिक कर्म गृह्यते ।

कर्त्रादिसाधनेष्विच्छातो विशेषाध्यवसायः[3] । ७ । कर्मशब्दस्य कर्त्रादिषु साधनेषु संभवत्सु इच्छातो विशेषोऽध्यवसेय. । वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणामः पुद्गलेन च स्वपरिणामः व्यत्ययेन च निश्चयव्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म ।[4] करणप्रशसाविवक्षाया कर्तृधर्माध्यारोपे सति स परिणामः कुशलमकुशल वा द्रव्यभावरूप करोतीति कर्म । आत्मन प्राधान्यविवक्षाया कर्तृत्वे

उत्तर सूत्र के सामर्थ्य से यहाँ पुण्य-पाप लक्षण कर्म भी विवक्षित नही है । यदि यहाँ कर्म शब्द से पुण्य-पाप लक्षण कर्म ग्रहण किया जाता है तो **'स आस्रवः शुभः पुण्यस्य'** यह आस्रव है, शुभ पुण्यास्रव का कारण है । इस सूत्र का प्रारम्भ निरर्थक हो जायेगा । अत पुण्य और पाप रूप कर्म भी यहाँ विवक्षित नही है ।। ५ ।।

अथवा, आत्मा कर्त्ता होने से उसका ईप्सिततम कर्म यहाँ इष्ट है । अथवा, सामर्थ्ययुक्त आत्मा यहाँ कर्त्ता रूप से विवक्षित है, उस कर्त्ता को ईप्सित होने से कर्मकारक भी कर्म शब्द का अर्थ हो सकता है ।। ६ ।।

कर्तृ आदि साधनो मे इच्छा से विशेष अध्यवसाय करना चाहिये । कर्म शब्द कर्त्ता, कर्म और भाव तीनो साधनो मे निष्पन्न होता है । विवक्षानुसार तीनो यहाँ परिगृहीत है । अर्थात् कर्म शब्द कर्तृ आदि तीनो साधनो के होने पर इच्छा से विशेष अध्यवसाय करना चाहिये । वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा निश्चय नय आत्मपरिणाम और पुद्गल के द्वारा पुद्गल परिणाम तथा व्यवहारनयापेक्षया आत्मा के द्वारा पुद्गल परिणाम और पुद्गल के द्वारा आत्मपरिणाम किये जाते है, इसलिये यहाँ कर्म प्रधान है । करणभूत परिणामो की प्रशसा की विवक्षा मे कर्तृधर्म का अध्यारोप करने पर वह परिणाम स्वय द्रव्य और भाव रूप शुभाशुभ कर्मो को करता है अत आत्मपरिणाम कर्त्ता और शुभाशुभ चेष्टा उसका कर्म है । अर्थ वा आत्मा की प्रधानता मे वह आत्मा कर्त्ता होता है और परिणाम करण तब **'क्रियतेऽनेन'** जिनके द्वारा किया जाय वह कर्म यह विग्रह भी होता है । जव साध्य साधन भाव की विवक्षा न करके स्वरूपावस्थित तत्त्व मात्र का कथन किया जाता है, तव कृति (क्रियामात्र) को

---

१ त सू ६।२,३। २ जीव । ३ –षोऽध्यवसेय मु । ४ प्रधानकर्म ।

सति परिणामस्य करणत्वोपपत्तेः बहुलापेक्षया क्रियतेऽनेन कर्मेत्यपि भवति । साध्यसाधनभावानभिधित्साया स्वरूपावस्थिततत्त्वकथनात् कृतिः कर्मेत्यपि भवति । एव शेषकारकोपपत्तिश्च योज्या ।

योगशब्दस्यापि तथैव । ८ । तेनैव प्रकारेण योगशब्दस्यापि कर्त्रादिसाधनसभवो योज्य· ।

त्रैविध्यानुपपत्तिरात्मपरिणामाविशेषादिति चेत्; न; पर्यायविवक्षाव्यापाराद्रूपादिवत् । ९ । स्यान्मतम्—योगस्य त्रैविध्यं नोपपद्यते । कुत ? आत्मपरिणामाविशेषात् । आत्मा हि निरवयवद्रव्यम्, तत्परिणामो योग , सोऽविशिष्ट इति, तन्न, कि कारणम् ? पर्यायविवक्षाव्यापाराद्रूपादिवत् । यथा घटस्यैकत्वमजहतश्चक्षुरादिकरणसबन्धवशाद्रूपादिपरिणामभेद·, तथा आत्मनः एकत्वेऽपि पर्यायभेदात् योगस्य भेदो ज्ञेय· ।

चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वाद् रूपाध्यवसायस्येति चेत्; न; आत्माभेदेऽपि कायादीनां

भी कर्म कह दिया जाता है । इसी प्रकार अन्य कारको की उत्पत्ति भी लगानी चाहिये । अर्थात् **'करोति इति कर्म'** कर्त्ता जिसको करता है, वह कर्म है । परतन्त्र विवक्षा मे कर्त्ता के द्वारा किया जाता है, वह कर्म है । कर्त्ता जिसके लिये करता है, वह कर्म है, इत्यादि षट्कारक का इसमे प्रयोग करना चाहिये ।। ७ ।।

उसी प्रकार योग शब्द को भी कर्मवाचक, कर्तृवाचक और भाववाचक समझना चाहिये । अर्थात् योग शब्द भी कर्त्ता आदि कारको से निष्पन्न है ।। ८ ।।

आत्मा के परिणाम की अविशेषता होने से योग तीन प्रकार का नही हो सकता, यह आशका नही करनी चाहिये, क्योकि यहाँ पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से वर्णन किया गया है । शंका—आत्मपरिणामो की अविशेषता होने से योग के तीन प्रकारता नही हो सकती है क्योकि आत्मा निरवयव (अखण्ड) द्रव्य है, उस आत्मा का परिणाम योग है, वे तीनो योग तो अविशिष्ट आत्मपरिणाम ही है । उत्तर—यद्यपि आत्मा अखण्ड द्रव्य है और तीनो योग आत्मपरिणाम स्वरूप ही है तथापि पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से रूपादि के समान इनका व्यापार भिन्न-भिन्न है । जैसे—एकता को नही छोडते हुए घट की चक्षु आदि इन्द्रियो के सम्बन्ध से रूपादि परिणाम (पर्याये) भिन्न-भिन्न है, अर्थात् जैसे एक ही घट चक्षु आदि इन्द्रियो के सम्बन्ध से रस-रूपादि पर्यायो के द्वारा पृथक्-पृथक् गृहीत होता है । उसी प्रकार आत्मा के साथ एकत्व होने पर भी पर्याय के भेद से योग मे भेद जानना चाहिये अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा और योग मे भेद है ।। ९ ।।

चक्षुरादि के ग्रहण के निमित्त से रूपादि का भेद है, ऐसा नही कहना चाहिये । क्योकि आत्मा

पूर्वकृतकर्मापादितसामर्थ्योपलम्भात् । १० । स्यादेतत्—युज्यते घटस्य रूपादिभेदाध्यवसाय. । कुत ? चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वात् । [१]ग्रहणभेदाद्धि लोके ग्राह्यभेदो दृष्ट., न तथा आत्मन इति, तन्न, किं कारणम् ? आत्माऽभेदेऽपि कायादीना पूर्वकृतकर्मापादितसामर्थ्योपलम्भात् । तद्यथा पुद्गलविपाकिन शरीरनामकर्मण उदयापादिते कायवाङ्मनोवर्गणान्यतमालम्बने[२] सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्या-[३]वरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुख्यस्यात्मन प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योग । अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने पूर्वोक्तबाह्यनिमित्तालम्बने च सति मन परिणामाभिमुख्यस्यात्मन. प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोग । वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्षात्मप्रदेशपरिस्पन्द काययोग । यदि क्षयोपशमलब्धिरभ्यन्तरहेतु

मे अभेद होने पर भी काय (शरीर) आदि के पूर्वकृत कर्म से प्राप्त सामर्थ्य उपलब्ध होने से भेद है । **प्रश्न**—चक्षुरादि इन्द्रियो के निमित्त से घट मे रूप रसादि पर्याय का भेद मानना उपयुक्त है, क्योकि लोक मे ग्रहण के भेद से ग्राह्यभेद देखा जाता है, परन्तु आत्मा मे उस प्रकार ग्रहण के भेद से ग्राह्यभेद नही है, अत: आत्मा के तीन प्रकार के योग नही हो सकते ? उत्तर—आत्मा मे योगो का भेद नही मानना उचित नही है, क्योकि जैसे—चक्षुरादि इन्द्रियो के ग्रहण के निमित्त से घट मे रूपादि पर्यायो मे भेद है उसी प्रकार आत्मा मे अभेद (अखण्डपना) होने पर भी पूर्वकृत कर्मो के निमित्त से सामर्थ्य उपलब्ध होने से काय आदि योगो मे भेद होता है । अर्थात् कर्मोदय के निमित्त से आत्मा मे शक्तिभेद है और वही योग हैं । जैसे—पुद्गल विपाकी शरीरनामकर्म के उदय से प्राप्त कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाओ मे से किसी एक का बाह्य आलम्बन लेकर वीर्यान्तराय, मति अक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से आभ्यन्तर वाग्लब्धि के सान्निध्य मे वचन परिणाम के अभिमुख आत्मा के जो प्रदेशो का हलन-चलन होता है, वह वचन योग है । अभ्यन्तर वीर्यान्तराय कर्म और नो इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम आत्मिक (स्वरूप) मनोलब्धि के सन्निधान मे तथा पूर्वोक्त शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त मनोवर्गणाओ को बाह्य आलम्बन होने पर मन परिणाम के अभिमुख आत्मा के जो प्रदेशो का परिस्पन्द होता है । (आत्मप्रदेशो मे कम्पन रूप हलन-चलन क्रिया होती है) उसे मनोयोग कहते है ।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम का सद्भाव होने पर औदारिक आदि (औदारिक औदारिक मिश्र, वैक्रियिक वैक्रियिक मिश्र, आहारक आहारक मिश्र और कार्मण) सप्त प्रकार की कायवर्गणाओ मे से किसी एक वर्गणा के अवलम्बन की अपेक्षा से जो आत्मप्रदेशो मे परिस्पन्दन होता है वह काययोग है । **प्रश्न**--यदि योगो मे वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशमलब्धि

१. यदा दूरे वृक्षसामान्यावलोकनात् समीप गत्वा आम्रोऽय पनसोऽयमित्यादि ग्राह्यभेदो दृष्टः । २ बाह्ये ।
३ पदवाक्यादि ।

क्षये कथम् ? क्षयेऽपि हि सयोगकेवलिन' त्रिविधो योग इष्यते । अथ क्षयनिमित्तोऽपि योग: कल्प्यते, अयोगकेवलिना सिद्धाना च योग' प्राप्नोति; नैष दोष:; क्रियापरिणामिन आत्मनस्त्रिविधवर्गणालम्बनापेक्ष' प्रदेशपरिस्पन्द: सयोगकेवलिनो [१]योगविधिर्विधीयते, तदालम्बनाभावात् उत्तरेषा योगविधिर्नास्ति ।

अनेकान्ताच्च [२]लावकादिवत् । ११ । यथा देवदत्तस्य जातिकुलरूपसज्ञालक्षण-सम्बन्धाद्यविशेषादेकत्वमजहत: बाह्योपकरणसबन्धोपनीतभेदलावकपावकादिपर्यायाना-स्कन्दत स्यादेकत्व स्यादनेकत्वमित्यनेकान्त' तथा प्रतिनियतक्षायोपशमिकशरीरादि-पर्यायार्थादेशात् स्यात्त्रैविध्य योगस्य, अनादिपारिणामिकात्मद्रव्यार्थादेशात् स्यादैक-विध्यमित्यनेकान्त: । ततो नायमुपालम्भ: ।

ध्यानं योग इति चेत्; न; तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । १२ । स्यादेतत्—ध्यान योगशब्दार्थ: न कायवाङ्मनस्कर्मेति; तन्न; कि कारणम् ? तस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

अभ्यन्तर कारण है तो वीर्यान्तरायादि के क्षय से होने वाले सयोग केवली के योग कैसे होते है ? सयोग केवली के तीन प्रकार के योग होते है, यदि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय को योग मे कारण माना जाता है तो अयोगी केवली और सिद्धो के भी योग होना चाहिये ? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि क्रियापरिणामी आत्मा के काय-वचन और मनोवर्गणा के अवलम्बन से होने वाला आत्मप्रदेशो का परिस्पन्द केवली के होता है अत: सयोग केवली के तीन प्रकार का योग कहा जाता है और अयोग केवली एव सिद्धो के काय, वचन और मनोवर्गणाओ के आलम्बन का अभाव है अत. उनके योगविधि नही है ।। १० ।।

लावकादि के समान इसमे अनेकान्त है । जैसे—जाति, कुल, रूप, सज्ञा और लक्षण आदि की दृष्टि से अभिन्न भी देवदत्त बाह्य उपकरण के सम्बन्ध से (क्रियाओ की अपेक्षा) लावक (काटने वाला), पावक (पकाने वाला) आदि पर्यायो के भेद को प्राप्त करता है । अर्थात् काटने वाला और पकाने वाला कहलाता है । अत: वह देवदत्त एक और अनेक होने से अनेकान्त है । उसी प्रकार प्रतिनियत क्षायोपशमिक शरीर आदि पर्याय की दृष्टि से कथञ्चित् योग के त्रैविध्य (तीन प्रकारता) है और अनादि पारिणामिक द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से कथञ्चित् योग एक प्रकार का ही है अत' अनेकान्त दृष्टि से वस्तु का विचार करने वाले जैनसिद्धान्त मे अखण्ड आत्मा मे तीन प्रकार के योग कैसे हो सकते है । वह उलाहना नही आ सकता ।। ११ ।।

योग का अर्थ ध्यान है, ऐसी आशका नही करना, क्योकि ध्यान का वर्णन आगे करेंगे । **प्रश्न**—योग का शब्दार्थ ध्यान है । काय, वचन और मन के द्वारा होने वाले आत्मप्रदेशो का कम्पन योग नही है ? **उत्तर**—यहाँ योग का शब्दार्थ ध्यान नही है क्योकि यद्यपि 'युज्' धातु समाधि अर्थ

---

१ योगो विधी –ता, अ मू ज. । योगोविधिर्विद्यते मु । २ लुनाति पुनातीति ।

[1]युजे. समाधिवचनस्य योग. समाधि· ध्यानमित्यनर्थान्तरम्, स तु वक्ष्यते । इहास्रव-प्रतिपादनार्थत्वात् त्रिविधक्रिया योग इत्युच्यते ।

समुदाये योगव्यपदेशप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेः । १३ । स्यान्मतम्—यथा गर्गा· शत दण्ड्यन्तामिति अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं[2] दण्डयन्ति । कुत ? समुदाये वाक्यपरिसमाप्ते, तथा कायवाङ्मनस्कर्म-समुदाये योगव्यपदेश· प्रसक्त इति चेत्, न, कि कारणम् ? प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्तेः । यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति भुजि· प्रत्येक परिसमाप्यते, तथा योगव्यप-देशोऽपि प्रत्येक त्रिषु कर्मसु वेदितव्यः ।

अत्राह—अभ्युपेम· आहितत्रैविध्या क्रिया योग इति । प्रकृत इदानी निर्दिश्यताम् कि लक्षण आस्रव इति ? अत्रोच्यते—योऽय योगशब्दाभिधेय ससारिण पुरुषस्य प्रयोगस्त्रिविध –

मे है । युज् धातु से योग शब्द निष्पन्न होता है अत योग, समाधि और ध्यान ये एकार्थवाची है, अत योग का शब्दार्थ ध्यान भी है—यह आगे कहा जाएगा । यहाँ उसकी विवक्षा नही है, यहाँ आस्रव का प्रकरण होने से तीन प्रकार का मन, वचन और काय रूप क्रियाओ को योग रूप से ग्रहण किया गया है अर्थात् क्रिया को योग कहा है ।। १२ ।।

प्रत्येक मे वाक्य की परिसमाप्ति होने से समुदाय मे योग व्यपदेश का प्रसग नही है । **प्रश्न**—जैसे 'गर्गो पर सौ रुपया जुर्माना करो', इस प्रकार दण्ड अर्थी राजा लोग दण्ड के द्रव्य सुवर्ण से प्रयोजन रखते है, प्रत्येक गर्ग को पृथक्-पृथक् दण्ड नही दिया जाता है । समुदाय मे ही वाक्य की परिसमाप्ति हो जाती है, उसी प्रकार काय, वचन और मन इन तीनो की सामुदायिक क्रिया को योग कहना चाहिये ? अर्थात् इन तीनो की सामुदायिक क्रिया मे योग का व्यपदेश होना चाहिये । **उत्तर**—गर्गो पर १०० रु जुर्माना करो के समान काय, वचन और मन इन तीनो की सामुदायिक क्रिया को योग नही कहते अपितु प्रत्येक के साथ कर्म लगाकर वाक्य की परिसमाप्ति करते है । जैसे कि 'देवदत्त, जिनदत्त और गुरुदत्त को भोजन कराओ' इस वाक्य मे प्रत्येक के साथ भोजन का सम्बन्ध विवक्षित है । अर्थात् देवदत्त को भोजन कराओ, जिनदत्त को भोजन कराओ इत्यादि । उसी प्रकार योग व्यपदेश भी प्रत्येक तीनो कर्मो मे जानना चाहिये । अर्थात् कर्म और योग शब्द का अन्वय काय कर्म योग, वाक् कर्म योग और मनस्कर्म योग तीनो मे पृथक्-पृथक् कर लेना चाहिये ।। १३ ।।

पर्यायार्थिक नय से प्राप्त तीन प्रकार की मन, वचन और काय की क्रिया को हम योग स्वीकार कर लेते है । यहाँ आस्रव का प्रकरण होने से अब बताइये कि आस्रव का लक्षण क्या है ? **उत्तर**—योग शब्द से कथित ससारी आत्मा के जो तीन प्रकार का योग है—

---

१ युजि समाधौ इति धातोः । २ एकैकगर्गम् ।

स आस्रवः ॥ २ ॥

'कायवाङ्मनस्कर्मास्रवः' इत्यस्तु लघुत्वादिति चेत्; न; योगाप्रख्यानात् ।१। स्यान्मतम्–कायवाङ्मनस्कर्मास्रव इत्यस्तु सूत्रम्, कुतः? लघुत्वादिति; तन्न, किं कारणम्? [1]योगाप्रख्यानात् । योगशब्दो हि आगमे प्रसिद्धः, तस्यार्थोऽप्रख्यातः[2] स्यात् ।

कायवाङ्मनस्कर्म योग आस्रव इति चेत्; न; सर्वयोगास्रवप्रसङ्गात् ।२। अथ मतमेतत्–'कायवाङ्मनस्कर्म योग आस्रवः' इत्येकयोगः कर्तव्यस्तथा सति तच्छब्दस्यावचनात्, योगविभागस्य चाऽकरणात्, निर्देशश्च लघुर्भवति, योगशब्दार्थश्च[3] प्रख्यातो भवति इति, तन्न, किं कारणम्? सर्वयोगास्रवप्रसङ्गात् । केवलिसमुद्घातकाले हि दण्डकपाटप्रतरलोकपूर्णयोगस्याप्यास्रवत्वं प्रसज्येत । अस्त्वास्रवत्वं को दोषः? सूक्ष्मयोगत्वं तत्रेष्यते, तन्निमित्तश्च बन्धोऽल्पः, तद्विपरीतता प्राप्नोति । अपि च,

---

वह योग ही आस्रव है ॥ २ ॥

'कायवाङ्मनस्कर्मास्रवः' इतना सूत्र बनाने से लघुता होती थी, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करने से योग का कथन नहीं होता । **शंका**—'कायवाङ्मनस्कर्मास्रव' ऐसा सूत्र बनाने से अक्षर का सौष्ठव होता है, सुन्दर भी प्रतीत होता है अतः दो सूत्र न बनाकर ऐसा एक सूत्र ही बनाना चाहिये । **उत्तर**—'कायवाङ्मनस्कर्मास्रवः' ऐसा लघु सूत्र बनाने से आगम प्रसिद्ध योग शब्द का अर्थ तो अव्याख्यात (अप्रसिद्ध) ही रह जाता ॥ १ ॥

सर्व योग मे आस्रव का प्रसंग आता है अतः 'कायवाङ्मनस्कर्मयोग आस्रवः' ऐसा सूत्र भी नहीं बनाना चाहिये । **शंका**—'कायवाङ्मनस्कर्मयोग आस्रव' ऐसा एक सूत्र बनाना चाहिये क्योंकि ऐसा एक सूत्र बनाने से तत् शब्द (स) का प्रयोग नहीं करना पडेगा और योग विभाग न होने से अर्थात् एक योग होने से सूत्र भी लघु (छोटा) हो जाएगा तथा आगमप्रसिद्ध योग शब्द भी प्रख्यात हो जाएगा? **उत्तर**—'कायवाङ्मनस्कर्मयोग आस्रव' ऐसा सूत्र बनाने से यद्यपि 'सः' शब्द को ग्रहण नहीं करना पडता और एक योग होने से सूत्र छोटा भी बन जाता है तथा योग भी प्रख्यात हो जाता है, परन्तु इससे सभी योगों मे आस्रवत्व का प्रसंग प्राप्त होता है–केवलिसमुद्घात के समय मे होने वाले दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण योग भी आस्रव हो जायेंगे । **प्रश्न**—दंडादि योग मे आस्रवत्व मानने मे क्या दोष है? **उत्तर**—यद्यपि केवलिसमुद्घात अवस्था मे सूक्ष्म योग मानकर तन्निमित्तक अल्पबंध माना जाता है परन्तु एक सूत्र बनाने से तो केवलिसमुद्घात में साधारण योगत्व और बहुबन्ध का प्रसंग आने से विपरीतता आती है । वस्तुतः तो वर्गणानिमित्तक आत्मप्रदेश-परिस्पन्दन रूप मुख्य योग ही आस्रव कहा जाता है, परन्तु केवलिसमुद्घात

---

१ –गाप्रत्याख्या–मु द, ब । २ अकथित । ३ –श्चाप्रत्याख्यातो मु ।

वर्गणालम्बननिमित्तो योग आस्रव इष्यते, न च दण्डादियोगस्तदालम्बनहेतुक, तस्मादस्यास्रवत्व नेष्यते। यद्येवं दण्डादिव्यापारकालेऽनास्रवत्वादबन्धकत्व प्राप्नोति, इष्यते च बन्ध ? नैष दोष, न दण्डादियोगनिमित्तो बन्ध। कि तर्हि ? कायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दोऽस्ति, तन्निमिन्नस्तत्र बन्ध।

एकयोगेऽपि तत्प्रयोजनाकरणात्तदप्रसङ्ग इति चेत्; न; योगविभागकरण-सामर्थ्यात्तत्प्रतीतेः। ३। यथा केवलिन सत्स्वपीन्द्रियेषु तदव्यापारात् इन्द्रियजकर्म-बन्धाभाव तथा दण्डादियोगे सत्यपि तत्पूर्वकबन्धाभावात् आस्रवत्वमस्य योगविभाग-वदेकयोगेऽपि व्यावर्तते इति, तन्न, कि कारणम् ? योगविभागकरणसामर्थ्यात्तत्प्रतीते। सति हि योगविभागे य उद्दिष्टो योग स आस्रवो भवति नान्य इत्ययमर्थोऽवगन्तु शक्यते तेनान्योऽपि योगोऽस्तीति सूच्यते। एकयोगे पुन सति तस्यार्थस्याप्रतीते सर्वस्य योगस्यास्रवत्व प्रसज्यत एव। अथास्रवाभिधान कुतो भवति ?

अवस्था मे होने वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण योग वर्गणा अवलम्बन रूप नही है, अत इससे आस्रव नही होता है अर्थात् दण्डादि योग मे आस्रव नही माना है। **प्रश्न**—यदि वर्गणालम्बन रूप योग नही होने से दण्डादि व्यापार काल मे अनास्रव होने से दण्डादि योगनिमित्त बन्ध नही होना चाहिये परन्तु केवलिसमुद्घात अवस्था मे वन्ध तो माना है ? **उत्तर**—यद्यपि केवलिसमुद्घात वर्गणा अवलम्बन न होने से दण्डादि योगनिमित्तक बन्ध नही है तथापि काय-वर्गणा निमित्तक आत्मप्रदेशो मे परिस्पन्दन है अत सूक्ष्म काययोगनिमित्तक बध केवलिसमुद्घात अवस्था मे भी बन्ध है।। २ ।।

प्रश्न—एकसूत्र बनाने पर भी दण्डादियोग आस्रव रूप प्रयोजन के अकरण होने से दण्डादि मे आस्रव का प्रसग नही आयेगा ? **उत्तर**—योग विभाग के सामर्थ्य से ही अर्थात् भिन्न सूत्र की रचना से ही यह स्पष्ट अर्थ निकल आता है कि काय, वचन, मनोवर्गणालम्बन के निमित्त जो आत्म-प्रदेश परिस्पन्द है वही योग और आस्रव है, अन्य नही। **प्रश्न**—जैसे केवली के इन्द्रियाँ विद्यमान रहती है परन्तु तत्पूर्वक व्यापार नही होने से इन्द्रियजन्य कर्मबन्ध नही होता है उसी प्रकार योग विभाग (पृथक् सूत्र) के समान एक योग (एक सूत्र) बना लेने पर भी केवलिसमुद्घात के समय दण्डादियोग आस्रव के कारण नही होगे ? अर्थात् दण्डयोग मे आस्रव नही होगा। **उत्तर**—पृथक् सूत्र के सामर्थ्य से ही यह प्रतीत होता है कि उपरिकथित (वर्गणाओ का अवलम्बनभूत) योग ही आस्रव है अन्य योग आस्रव नही। अर्थात् पृथक् सूत्र के आधार पर ही यह जाना जा सकता है कि योग सामान्य होने पर भी दण्डादि योग आस्रव नही है, ऐसा भी योग है जो आस्रव रूप नही होता, इसकी सूचना पृथक् सूत्र करता है। 'कायवाङ्मनस्कर्मास्रव' ऐसा एक सूत्र करने पर दण्डादि योग आस्रव के कारण नही है, इसकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) नही होती अत. सर्व योगो के आस्रवत्व का प्रसग आयेगा। **प्रश्न**—आस्रव किसको कहते है ? ।। ३ ।।

तत्प्रणालिकया कर्मास्रवणादास्रवाभिधानं सलिलवाहिद्वारवत् ।४। यथा सरःसलिलवाहिद्वारं तदास्रवणकारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते, तथा योगप्रणालिकया-आत्मनः कर्म आस्रवतीति योगः आस्रव इति व्यपदेशमर्हति ।

कषायक्लिन्नस्य तदुपश्लेष आर्द्रवस्त्ररेणुवत् । ५ । यथा आर्द्रवास. समन्ताद्वातानीतं रेणुमुपादत्ते, तथा कषायतोयार्द्र[१] आत्मा योगानीत कर्म सर्वप्रदेशैर्गृह्णाति । यथा वा, निष्टप्तायःपिण्डोऽम्भसि प्रक्षिप्तोऽम्भः समन्तादात्मसात्करोति, तथा [२]कषायोष्णो जीवो योगानीतं कर्म समन्तादादत्ते ।

आह–कर्म द्विविधं, पुण्य पापं चेति, तस्य किमविशेषेण योगः आस्रवणहेतु-राहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते–

शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य ।। ३ ।।

प्राणातिपातानृतभाषणवधचिन्तनादिरशुभः । १ । प्राणातिपातादत्तादानमैथुन-

---

जैसे तालाब के जलागमन द्वार से पानी आता है वह जलागमन द्वार जल के आने का कारण होने से आस्रव कहलाता है, उसी प्रकार योग-प्रणाली से आत्मा मे कर्म आते है, अत. योग को ही आस्रव कहते है । अर्थात् योग ही 'आस्रव' इस नाम के योग्य होते है ।। ४ ।।

गीले वस्त्र मे आने वाली रेणु के समान कषाय से आर्द्र आत्मा मे कर्मो का सश्लेष होता है । आर्द्र वस्त्र जैसे वायु के झकोरो से लाई गई धूलि को चारो ओर से चिपटा लेता है, वैसे ही कषाय रूपी जल से आर्द्र (गीला) आत्मा योग के निमित्त से आई हुई कर्मरज को सर्व आत्मप्रदेशो से ग्रहण करता है । अथवा जैसे अग्नि से सतप्त लोह-पिण्ड को यदि पानी मे डाला जाय तो वह चारो तरफ से जल को आत्मसात् करता (खीचता है) उसी प्रकार कषाय रूपी अग्नि से सतप्त हुआ यह ससारी आत्मा योग रूपी वायु के द्वारा लाई गई कार्माण वर्गणाओ को चारो तरफ से खीचता है, आत्मसात् करता है, ग्रहण करता है ।

पुण्य-पाप रूप कर्म दो प्रकार के है । उन कर्मो के आने का हेतु योग अविशेष रूप से एक ही है कि इसमे कुछ विशेषता है ? ऐसा पूछने पर आचार्य सूत्र कहते है—

शुभ योग पुण्य और अशुभ योग पापास्रव का कारण है ।। ३ ।।

हिंसा, असत्य भाषण, वध आदि की चिन्ता रूप अपध्यान अशुभ योग है । हिंसा, दूसरे की विना दी हुई वस्तु का ग्रहण (चोरी), मैथुन-प्रयोग आदि अशुभ काययोग है । असत्य भाषण,

---

१. कषायतार्द्र मु. द । २. सकषायो जीव मु । कषायोम्भो जीव द ।

प्रयोगादिरशुभ: काययोग । अनृतभाषणपरुषासत्यवचनादिरशुभो वाग्योग । वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोग: ।

ततोऽनन्तविकल्पादन्य: शुभ: । २ । तस्मादनन्तविकल्पादशुभयोगादन्य शुभयोग इत्युच्यते । तद्यथा अहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादि शुभ काययोग । सत्यहितमितभाषणादि शुभो वाग्योग । अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादि शुभो मनोयोग. । आह–असख्येयलोकत्वादध्यवसायावस्थानाना कथमनन्तविकल्पत्वमिति ? उच्यते–अनन्तानन्तपुद्गलप्रदेशप्रचितज्ञानावरणवीर्यान्तरायदेशसर्वघातिद्विविधस्पर्धकक्षयोपशमादेशात् योगत्रयस्यानन्त्यम् । अनन्तानन्तप्रदेशकर्मादानकारणत्वाद्वा अनन्त , अनन्तानन्तनानाजीवविषयभेदाद्वाऽनन्त । कथ योगस्य शुभाशुभत्वम् ?

शुभाशुभपरिणामनिर्वृत्तत्वाच्छुभाशुभव्यपदेश: । ३ । शुभपरिणामनिर्वृत्तो योग शुभ., अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ इति कथ्यते, न शुभाशुभकर्मकारणत्वेन । यद्येवमुच्येत; शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात् ।

कठोर मर्मभेदी वचन बोलना आदि अशुभ वचनयोग है । हिसक परिणाम, ईर्ष्या, असूया आदि रूप मानसिक परिणाम अशुभ मनोयोग है ।। १ ।।

अशुभ योग से भिन्न अनन्त विकल्प वाला शुभ योग है । जैसे—अहिसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्यपालन आदि शुभ काययोग है । सत्य, हित-मित वचन बोलना शुभ वाग्योग है । अर्हन्त भक्ति, तप की रुचि, श्रुत का विनय आदि विचार शुभ मनायोग हे । प्रश्न—असख्येयलोकप्रमाण, अध्यवसायस्थानो के अनन्तविकल्पत्व कैसे हो सकता है ? उत्तर—यद्यपि अध्यवसायस्थान असख्येयलोकप्रमाण है फिर भी अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेश रूप से बँधे हुए ज्ञानावरण वीर्यान्तराय के देशघाती और सर्वघाती स्पर्धको के क्षयोपशम के भेद से, अनन्तानन्त प्रदेश वाले कर्मो के ग्रहण का कारण होने से तथा अनन्तानन्त नाना जीवो की दृष्टि से योगो के भी अनन्त विकल्प हो जाते हैं । योगो मे शुभाशुभत्व कैसे होता है ? ।। २ ।।

शुभ-अशुभ परिणामो से निवृत्त होने से योगो मे शुभाशुभत्व हो जाता है । शुभ परिणामपूर्वक होने वाला योग शुभ योग है और अशुभ परिणामो से होने वाला योग अशुभ योग कहलाता है । शुभाशुभ कर्म के आगमन के कारण से योग शुभाशुभ नही है, शुभाशुभ कर्म के आगमन के कारण से तो शुभ योग बन ही नही सकता, क्योंकि शुभ योग को भी ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मो के बन्धन मे कारण स्वीकार किया गया है । अर्थात् ज्ञानावरण आदि ध्रुवबन्धी प्रकृतियो का बन्ध निरन्तर होता रहता है, चाहे शुभ परिणाम हो, चाहे अशुभ परिणाम हो । अत योगो मे [illegible] परिणामो की अपेक्षा शुभाशुभत्व है, कर्मबन्ध की अपेक्षा से नही ।। ३ ।।

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् । ४ । कर्मण: स्वातन्त्र्यविवक्षाया पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम् । पारतन्त्र्यविवक्षायां करणत्वोपपत्तेः पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्वेद्याद्युत्तरत्र वक्ष्यते ।

तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापम् । ५ । तस्य पुण्यस्य प्रतिद्वन्द्विरूप पापमिति विज्ञायते । पाति रक्षत्यात्मानम्[1] अस्माच्छुभपरिणामादिति पापाभिधानम् । तदसद्वेद्याद्युत्तरत्र वक्ष्यते ।

उभयमपि पारतन्त्र्यहेतुत्वादविशिष्टमिति चेत्; न; इष्टानिष्टनिमित्तभेदा[2]त्तद्भेदसिद्धेः । ६ । स्यान्मतम्–यथा निगलस्य कनकमयस्यायसस्य चाऽस्वतन्त्रीकरण फल तुल्यमित्यविशेष., तथा पुण्य पाप चात्मन: पारतन्त्र्यनिमित्तमविशिष्टमिति नात्र संकल्पभेदो युक्त इति; तन्न; कि कारणम् ? इष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्भेदसिद्धेः । यदिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तकं तत्पुण्यम् । अनिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रिय-

---

जो आत्मा को पवित्र करे वा जिससे आत्मा पवित्र की जाती है, वह पुण्य कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुखसाता का अनुभव करे, वह सातावेदनीय आदि कर्म पुण्य है । स्वतन्त्र विवक्षा मे जो आत्मा को पवित्र करता है, प्रसन्न करता है वह पुण्य है एव कर्तृवाच्य से निष्पन्न पुण्य शब्द है । पारतन्त्र्य विवक्षा मे करण साधन से पुण्य शब्द निष्पन्न होता है, जैसे—जिसके द्वारा आत्मा पवित्र एव प्रसन्न किया जाता है, वह पुण्य है ।। ४ ।।

पुण्य का प्रतिद्वन्द्वी (विपरीत) पाप है । जो आत्मा को शुभ से रक्षा करे अर्थात् आत्मा मे शुभ परिणाम न होने दे वह पाप कहलाता है, वह असाता वेदनीय आदि पापकर्म है, जिसका वर्णन आगे करेगे ।। ५ ।।

पुण्य-पाप दोनो ही आत्मा की परतन्त्रता मे कारण है, इसलिये इन दोनो मे काई भेद नही, ऐसा कहना उपयुक्त नही है, क्योकि इष्टानिष्ट फल के निमित्त से इन दोनो मे भेद है । **प्रश्न**—जैसे सोने की बेडी और लोहे की बेडी दोनो ही का अविशेपता से तुल्य (समान) फल है प्राणी को परतन्त्र करना, वैसे ही पुण्य-पाप दोनो ही आत्मा को परतन्त्र करने में निमित्त कारण है, इन पुण्य और पाप मे कोई भेद नही है, यह पुण्य (शुभ) है, यह अशुभ है, पाप है; यह तो केवल सकल्प मात्र भेद है ? **उत्तर**—पुण्य-पाप को सर्वथा एक रूप कहना उपयुक्त नही है, क्योकि सोने या लोहे की बेडी की तरह दोनो ही आत्मा की परतन्त्रता मे कारण है तथापि इष्ट फल और अनिष्ट फल के निमित्त से पुण्य और पाप मे भेद है । जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय-विषय आदि का निर्वर्त्तक (हेतु) है, वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रियो के विषय आदि का कारण है वह पाप

---

१ –नं यस्मा –मु. व । २. –त्तत्सि –मु , ता , श्र , द , व , ज , मू. ।

विषयादिनिर्वर्तक यत्तत्पापमित्यनयोरय भेद.। तत्र शुभो योग. पुण्यस्यास्रव, अशुभ पापस्य।

शुभपरिणामस्य घातिकर्मनिमित्तत्वात्तदनिर्देश इति चेत्; न; [1]इतरपुण्यपापापेक्षत्वात्।७। स्यादेतत्–शुभ. पुण्यस्येत्यनिर्देश, [2]अगमको निर्देश· अनिर्देश.। कुतः? घातिकर्मबन्धस्य शुभपरिणामहेतुत्वादिति, तन्न, कि कारणम्? इतरपुण्यपापापेक्षत्वात्, अघातिकर्मसु पुण्य पाप चापेक्ष्येदमुच्यते। कुतः? घातिकर्मवन्धस्य स्वविषये निमित्तत्वात्। अथवा, नैवमवधारण क्रियते–शुभ पुण्यस्यैवेति। कथ तर्हि? शुभ एव पुण्यस्येति। तेन शुभ. पापस्यापि हेतुरित्यविरोधः। यद्येव शुभ पापस्यापि [हेतु·] भवति, अशुभः पुण्यस्यापि भवतीत्यभ्युपगम. कर्तव्य, सर्वोत्कृष्टस्थितीनाम् उत्कृष्ट [स] क्लेशहेतुकत्वात्। उक्त च–

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सगो दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जघण्णो आउगतिगवज्जसेसाण।।[3] इति,

है। इस प्रकार पुण्यकर्म और पापकर्म मे भेद है। इनमे शुभ योग पुण्यास्रव का कारण है और अशुभ योग पापास्रव का कारण है।। ६।।

शुभ परिणाम घातिया कर्म के आस्रव का निमित्त होने से उपरिकथित निर्देश घटित नही होता, ऐसो आशका नही करनी चाहिये, क्योकि यहाँ इतर कर्मा की अपेक्षा वर्णन है। **प्रश्न**–शुभ योग पुण्य आस्रव का कारण है, यह अनिर्देश है, अज्ञापक निर्देश को अनिर्देश कहने है। क्योकि घातिकर्मबन्ध का हेतु शुभ परिणाम है। अर्थात् जब घातिया कर्मो का वन्ध भी शुभ परिणामो मे होता है तो **'शुभ· पुण्यस्य'** शुभ परिणाम पुण्य आस्रव के कारण हैं, यह निर्देश व्यर्थ हो जाता है? **उत्तर**—ऐसा नही है, क्योकि इतर पुण्य-पाप को अपेक्षा से यहाँ वर्णन है। अर्थात् अघातिया कर्मो मे जो पुण्य-पाप है, उनकी अपेक्षा पुण्य-पाप हेतु का निर्देश है, क्योकि घातिकर्मवन्ध का स्वविपय मे निमित्तत्व है। अथवा यह अवधारण भी नही है कि शुभ योग पुण्य का हो कारण है, परन्तु पुण्य-बन्ध का कारण शुभ योग ही है, यह अवधारण किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि शुभ योग पापास्रव का भी हेतु हो सकता है, इसमे कोई विरोध नही है। **प्रश्न**—यदि शुभ पाप का कारण होता है तो अशुभ पुण्य का भो कारण होता है, ऐसा स्वोकार करना चाहिये। क्योकि सर्व कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम ही कारण पडता है। कहा भी है—"आयु और गति को छोडकर शेष कर्मो की उत्कृष्ट स्थितियो का वन्ध उत्कृष्ट सक्लेश परिणामो से होता है और जघन्यस्थितिबन्ध मन्द सक्लेश परिणामो से होता है।" अतः ये दोनो सूत्र निरर्थक हो

---

१. अघाति। २ अज्ञापको। ३. पचस. ४।४१९, गो सा कर्मकाण्ड १३४ गा।

ततः सूत्रद्वयमनर्थकमिति; नानर्थकम्; अनुभागबन्धं प्रत्येतदुक्तम् । अनुभागबन्धो हि प्रधानभूत. तन्निमित्तत्वात् सुखदुःखविपाकस्य । तत्रोत्कृष्टविशुद्धपरिणामनिमित्तः सर्वशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः । उत्कृष्टसक्लेशपरिणामनिमित्तः सर्वाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः । उत्कृष्टः शुभपरिणामः अशुभजघन्यानुभागबन्धहेतुत्वेऽपि भूयस. शुभस्य हेतुरिति शुभः पुण्यस्येत्युच्यते, यथा अल्पापकारहेतुरपि बहूपकारसद्भावादुपकार इत्युच्यते । एवमशुभः पापस्येत्यपि । उक्तं च–

शुभपगदीण विसोधिए तिव्वमसुहाण संकिलेसेण ।
विपरीदे दु जहण्णो अणुभागो सव्वपगदीणं ।।१

आह–किमयमास्रवः सर्वससारिसमानफलारम्भहेतुराहोस्वित् कश्चिदस्ति विशेष इति ? अत्रोच्यते–

सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।। ४ ।।

जाते है । **उत्तर**—ये दोनो सूत्र व्यर्थ नही है क्योकि यह कथन अनुभाग बन्ध की अपेक्षा किया गया है, अनुभाग वन्ध प्रधानभूत है, वही सुख-दु ख रूप फल का निमित्त होता है । सर्व शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामो से और समस्त अशुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध उत्कृष्ट सक्लेश परिणामो से हाता है । यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभ कर्मप्रकृतियो के भी वन्ध के कारण होते है तथापि बहुत शुभ के कारण **शुभः पुण्यस्य** यह सूत्र सार्थक है, जैसे कि थोडा अपकार करने पर भी वहुत उपकार करने वाला उपकारक ही माना जाता है, इसी प्रकार '**अशुभः पापस्य**' सूत्र मे भी समझ लेना चाहिए । कहा भी है—परिणामो की विशुद्धि से शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध होता है तथा सक्लेश परिणामो से अशुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध होता है । सर्व कर्म प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग वन्ध का क्रम इससे उलटा है, अर्थात् परिणामो की विशुद्धि से अशुभ कर्म प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वन्ध होना है और सक्लिष्ट परिणामो से शुभ कर्म प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वन्ध होता है ।। ७ ।।

क्या यह आस्रव सर्व ससारी प्राणियो के समान फल के आरम्भ मे कारण होता है कि आस्रव मे कोई विशेषता या भेद है ? ऐसी पृच्छा होने पर आचार्य विशेषता लाने के लिये सूत्र कहते हैं—

सकषाय (कषायसहित) जीवों के साम्परायिक और अकषाय (कषायरहित) जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है ।। ४ ।।

---

१ पचस ४।४८५ ।

आस्रवस्योभयस्वामिकत्वाद् द्वयीप्रसिद्धिः । १ । उभौ आस्रवस्य स्वामिनौ–सकषायोऽकषायश्चेति । तस्यास्रवस्यानन्त्येऽपि स्वामिनो द्वैविध्यकल्पनया द्वयी प्रसिद्धिरवसेया । कोऽत्र कषायः ?

कषत्यात्मानमिति कषायः । २ । क्रोधादिपरिणाम कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः ।

कषायवद्वा[1] श्लेषहेतुत्वात् । ३ । अथवा, यथा कषायो नैयग्रोधादि श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते । सह कषायेण वर्तते इति सकषाय । न विद्यते कषायोऽस्येत्यकषाय । सकषायश्चाकषायश्च सकषायाकषायौ तयो. सकषायाकषाययोः ।

समन्तात्पराभव आत्मनः सम्परायः । ४ । कर्मभि समन्तादात्मन पराभवोऽभिभव सम्पराय इत्युच्यते ।

दो प्रकार के स्वामियो की अपेक्षा आस्रव की भी दो प्रकार की प्रसिद्धि है । सकषाय और अकषाय ये आस्रव के दो स्वामी है, अतः आस्रव के अनन्त भेद होने पर भी सकषाय और अकषाय इन दो स्वामियो की अपेक्षा आस्रव के भी दो प्रकार जानने चाहिये । कषाय किसे कहते है ? ॥ १ ॥

जो आत्मा को कसै, दु ख दे, वह कषाय है । क्रोधादि परिणाम कषाय है क्योकि ये क्रोधादि परिणाम आत्मा को दुर्गति मे ले जाने के कारण होने से आत्मा को कसते है, आत्मा के स्वरूप की हिसा करते है, अत. ये कषाय है ॥ २ ॥

अथवा, कषायले पदार्थ के समान कर्मरज के सश्लेष मे कारण होने से क्रोधादि परिणाम कषाय है । जैसे—वटवृक्ष आदि का चेप चिपकने मे कारण होता है, वैसे ही आत्मा के क्रोधादि परिणाम भी कर्मबन्धन के कारण होने से कषाय कहे जाते है । जो जीव कषायसहित है, वह सकषाय है और जो कषायरहित जीव है वह अकषाय कहलाता है । सकषाय और अकषाय परिणामो को सकषायाकषाय परिणाम कहते है ॥ ३ ॥

चारो तरफ से आत्मा का पराभव करने वाला सम्पराय है । कर्मो के द्वारा चारो ओर से आत्मा का (आत्मा के स्वरूप का) अभिभव-पराभव, तिरस्कार होना सम्पराय कहलाता है ॥ ४ ॥

---

१. –द्वाऽऽश्ले –अ. ।

तत्प्रयोजनं साम्परायिकम् । ५ । तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकमित्युच्यते यथा [१]ऐन्द्रमहिकमिति ।

ईरणमीर्या योगगतिः । ६ । ईरेर्गत्यर्थाद्भावे ण्यः, ईरणमीर्या योगगतिरिति यावत् ।

तद्द्वारकमीर्यापथम् । ७ । सा ईर्या द्वार पन्था यस्य तदीर्यापथ कर्म । साम्परायिकं च ईर्यापथ च साम्परायिकेर्यापथे तयो· साम्परायिकेर्यापथयो· यथासंख्यमभिसबन्धो भवति । सकषायस्यात्मन· साम्परायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति, अकषायस्य ईर्यापथस्येति । तद्यथा–सम्पराय· कषाय इत्यर्थ· । मिथ्यादृष्टचादीना सूक्ष्मसाम्परायान्ताना [२]कषायोदयपिच्छिलपरिणामाना योगवशादानीत कर्म भावेनोपश्लिष्यमाण आर्द्रचर्माश्रितरेणुवत् स्थितिमापद्यमानं साम्परायिकमित्युच्यते । उपशान्तक्षीणकषाययोः योगिनश्च योगवशादुपात्त कर्म कषायाभावाद् बन्धाभावे शुष्ककुडच·पतितलोष्टवद् अनन्तरसमये निवर्तमानमीर्यापथमित्युच्यते ।

सम्पराय (ससार) जिसका प्रयोजन है, वह साम्परायिक है । जैसे—इन्द्रमह पूजा ही जिसका प्रयोजन हो, ऐसी जो पूजा ऐन्द्रमहिक होती है, उसी प्रकार सम्पराय के लिये जो आस्रव होता है, वह साम्परायिक आस्रव है ।। ५ ।।

ईरण को ईर्या कहते है । ईर्या योग और गति अर्थ मे है । ईरि धातु गति अर्थ मे है । उसमे भाव अर्थ मे 'ण्य' प्रत्यय होने से ईर्या शब्द सिद्ध होता है, उसका अर्थ योगो की गति होता है । अर्थात् योग मात्र ही जिसमे गति (कारण) है ।। ६ ।।

ईर्या जिसका द्वार है वह ईर्यापथ है । ईर्या (योग) है पन्था (द्वार) जिसका वह ईर्या पथ कहलाता है, अर्थात् जो कर्म मात्र योग से ही आते है, आना मात्र ही जिनका कार्य है, वे ईर्यापथास्रव कहलाते है । सकषाय आत्मा के साम्परायिक कर्मो का आस्रव होता है और अकषाय आत्मा के ईर्यापथ आस्रव होता है, ऐसा यथासख्या लगाना चाहिये । जैसे—साम्पराय कषाय का वाची है । मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान तक कषाय के उदय से आर्द्र परिणाम वाले जीवो के योग के द्वारा आये हुए कर्म भाव से उपश्लिष्यमाण वर्गणाये गीले चमडे पर आश्रित धूलि की तरह चिपक जाती है, उनमे स्थितिबध हो जाता है, वह साम्परायिक आस्रव कहलाता है । उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के योगक्रिया से आये हुए कर्म कषाय का चेप न होने से (कषाय के अभाव मे, बध का अभाव होने से) सूखी दीवाल पर पडी हुई धूलि के समान द्वितीय क्षण मे ही झड जाते है, बन्धस्थान को प्राप्त नही होते है, यह ईर्यापथ आस्रव है ।। ७ ।।

---

१. इन्द्रमह प्रयोजनम् । २ कषायोदयेऽपि तच्छीलप –मु, द ।

"अजाद्यत्" इत्युभयत्र पूर्वनिपातप्रसङ्ग इति चेत्; न; अतिबहुवक्तव्यतया तयोरभ्यर्हितत्वात् । ८ । स्यादेतत्–अकषायशब्दस्येर्यापथशब्दस्य च "अजाद्यत्"[१] इति पूर्वनिपातः प्राप्नोति, तन्न, किं कारणम् ? अतिबहुवक्तव्यतया तयोरभ्यर्हितत्वात् सकषायशब्दस्य साम्परायिकशब्दस्य चाभ्यर्हितत्वमिति पूर्वनिपातो भवति ।

यदि साम्परायिकास्रवो बहुवक्तव्य, तस्य के भेदा इति ? अत्रोच्यते–

इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

इन्द्रियादय उक्तलक्षणा द्वन्द्वविषयाः । १ । इन्द्रियादीनामुक्तलक्षणाना द्वन्द्वो वेदितव्य. । इन्द्रियाणि च कषायाश्च अव्रतानि च क्रियाश्च इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया इति । स चाय द्वन्द्व इतरेतरयोगलक्षण इति बहुवचन भवति ।

पञ्चादीनां संख्याशब्दानां संख्यया वृत्तिः । २ । पञ्चादीना संख्याशब्दानां

'अजाद्यत्' सूत्र के अनुसार दोनो के ही पूर्वनिपात का प्रसग है, ऐसा नही है, क्योकि दोनो मे बहुवक्तव्य होने से इन दोनो को अभ्यर्हित मान लिया है । **प्रश्न**—'अजाद्यत्' यह व्याकरण का सूत्र है जिसका अर्थ है कि जिसमे अल्प अक्षर है और जो अभ्यर्हित है, द्वन्द्व समास मे उसका पूर्व निपात करना अर्थात् प्रथम अल्पाच् और पूज्य का उल्लेख करना चाहिये । अतः इस सूत्र के अनुसार अभ्यर्हित और अल्पाच् (अल्पाक्षर) होने से अकषाय और ईर्यापथ शब्दो का पूर्व निपात होना चाहिये ? **उत्तर**—यद्यपि 'अजाद्यत्' सूत्र के अनुसार ईर्यापथ और अकषाय शब्दो का पूर्व मे प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु साम्परायिक और सकषाय के सम्बन्ध मे बहुत वर्णन करना है अत इसी दृष्टि से इन्हे अभ्यर्हित मानकर सकषाय और साम्पराय का पूर्व मे निपात किया है ॥ ८ ॥

यदि साम्परायिक आस्रव का बहुत वर्णन है तो उसके कितने भेद है ? ऐसा पूछने पर साम्परायिक आस्रव के भेद कहते है—

पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रिया, ये साम्परायिक आस्रव के भेद है ॥ ५ ॥

इन्द्रिय आदि मे पूर्वोक्त लक्षण इतरेतर योग द्वन्द्व समास है । इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया मे द्वन्द्व समास करने पर इतरेतर योग मे बहुवचन होता है ॥ १ ॥

पचादि सख्यावाची शब्दो का सख्या शब्द के साथ समास है । जैसे—पञ्च अधिक विंशति

---

१ जैनेन्द्र १।३।९९ ।

संख्याशब्देन सह वृत्तिर्द्रष्टव्या पञ्चाधिका विंशतिः पञ्चविंशतिः । पञ्च च चत्वारश्च पञ्च च पञ्चविंशतिश्च पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिः, सा सख्या येषा ते पञ्चचतुः पञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः ।

पूर्वशब्दो व्यवस्थावचनः । ३ । अयं पूर्वशब्दो व्यवस्थावचनः–अतीतसूत्रे यः प्राङ् निर्दिष्टस्तस्येति ।

भिद्यन्ते इति भेदाः । ४ । परस्परतो भिद्यन्ते विशिष्यन्ते इति भेदाः प्रकाराः इत्यर्थः ।

यथासंख्यमभिसंबन्धो व्याख्यानतः । ५ । यथासंख्यमभिसबन्धोऽत्र द्रष्टव्यः । कुतः ? व्याख्यानतः । पञ्चेन्द्रियाणि, चत्वारः कषाया', पञ्चाऽव्रतानि, पञ्चविंशतिः क्रिया इति ।

इन्द्रियादीनामात्मनोऽनन्यत्वान्यत्वं प्रत्यनेकान्तः । ६ । इन्द्रियादीनामात्मनः अनन्यत्वान्यत्वं प्रत्यनेकान्तो वेदितव्यः । तद्यथा, अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्था- देशादिन्द्रियादीनां भेदाभावादनन्यत्वम् । कर्मोदयक्षयोपशमनिमित्तपर्यायार्थादेशाद्भे-

---

पञ्चविंशति । पाँच, चार, पाँच और पच्चीस है सख्या जिनकी वे पाँच, चार, पाँच और पच्चीस सख्या है ।। २ ।।

पूर्व शब्द व्यवस्था वाचक है, अतीत यानी पूर्व कथित सूत्र मे जिसका प्रथम निर्देश किया है, उसका ज्ञापक पूर्व शब्द है ।। ३ ।।

भेद किया जाता है वह भेद है । परस्पर भेद किया जाय, विशेष किया जाय, वह भेद या प्रकार है ।। ४ ।।

पाँच आदि सख्याओ का सम्बन्ध व्याख्यानतः (शास्त्रानुसार) यथाक्रम से लगाना चाहिए । अर्थात् पञ्च आदि सख्या शब्दो का द्वन्द्व समास करके उनका यथाक्रम अन्वय करना चाहिए । जैसे—पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रियाये; ये पहले (साम्परायिक) आस्रव के भेद है, ऐसा समझना चाहिये ।। ५ ।।

इन्द्रियादि आत्मा से भिन्न है कि अभिन्न है, इसमे अनेकान्त है । अर्थात् इन्द्रियादि आत्मा से कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है । जैसे—अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से आत्मा से इन्द्रियो के भेद का अभाव होने से इन्द्रियाँ आत्मा से अभिन्न हैं और कर्मोदय, क्षयोपशम निमित्तिक पर्यायार्थिक नय की विवक्षा (मुख्यता) से इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न (पृथक्) है । इन्द्रियादि (इन्द्रिय कषाय अव्रतादि) की निवृत्ति होने पर भी आत्मद्रव्य स्थिर रहता

दोपपत्ते स्यादन्यत्वम् । इन्द्रियादिनिवृत्तौ द्रव्यावस्थानाच्च स्यादन्यत्वम् । तत एव पर्यायभेदात् पञ्चादिसख्यानिर्देश उपपन्नो भवति । तत्र पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शा (र्शना) दीन्युक्तानि । क्रोधादय कषाया अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पा वक्ष्यन्ते । हिसादीन्यव्रतानि **"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा"** [त.सू. ७।१३] इत्येवमादिलक्षणानि वक्ष्यन्ते । पञ्चविशतिः क्रिया उच्यन्ते—

सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथक्रियाः पञ्च । ७ । तत्र चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया । गमनागमनप्रवर्तन कायादिभि प्रयोगक्रिया, वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गोपष्टम्भादात्मन कायवाङ्मनोयोगनिर्वृ त्तिसमर्थपुद्गलग्रहण वा । सयतस्य सत अविरति प्रत्याभिमुख(ख्य)-समादानक्रिया । ईर्यापथकर्मनिमित्ता ईर्यापथक्रिया । एता पञ्च क्रिया. ।

प्रदोषकायाधिकरणपरितापप्राणातिपातक्रियाः पञ्च ।८। क्रोधावेशात् प्रादोषिकी-

---

है, अत इन्द्रिय कषाय अव्रतादि आत्मा से भिन्न (पृथक्) है, अतएव पर्याय के भेद से पॉच आदि सख्या निर्देश उत्पन्न होता है, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियो का वर्णन पहले कर चुके है, क्रोध आदि कषायो के अनन्तानुबन्धी विकल्पो का तथा हिसा आदि अव्रतो का 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिसा' प्रमत्त योग से जीवो का घात करना हिसा है, इत्यादि वर्णन आगे के अध्यायो मे करेंगे ।। ६ ।। यहाँ पर पच्चीस क्रियाओ का वर्णन करते है—

सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, प्रयोग, समादान और ईर्यापथ ये पॉच क्रियाये है । चैत्य[1] (जिन-प्रतिमा), गुरु, शास्त्र की पूजा-स्तवन आदि सम्यक्त्व को बढाने वाली क्रियाये **सम्यक्त्व क्रिया** (१) है । अन्य रागीद्वेषी देवताओ के स्तवन-पूजन आदि मिथ्यात्व हेतु प्रवृत्ति **मिथ्यात्व क्रिया** (२) है । शरीर आदि के द्वारा गमन-आगमन आदि प्रवृत्ति करना **प्रयोग क्रिया** (३) है । अथवा वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर तथा अङ्गोपाग नामकर्म के उदय से काय, वचन और मनोयोग की रचना मे समर्थ पुद्गलो का ग्रहण करना प्रयोग क्रिया है । सयम धारण करने पर भी अविरति को तरफ झुकना **समादान क्रिया** (४) है । ईर्यापथ आस्रव मे कारणभूत क्रिया **ईर्यापथ क्रिया** (५) है । ये पाँच क्रियाये है ।। ७ ।।

प्रदोष, काय, अधिकरण, परिताप, प्राणातिपात ये पॉच क्रियाएँ है । क्रोध के आवेश के कारण **प्रादोषिकी क्रिया** (६) होती है । **प्रश्न**—प्रादोषिकी क्रिया क्रोध स्वाभाविका है, क्रोध के

---

१ चित् का अर्थ आत्मा है, व्याकरण से चित् का भाव चैत्य कहलाता है अर्थात् जिम विम्ब मे आत्मा की शुद्ध अर्थ और व्यञ्जन पर्याय अकित है, उसको चैत्य कहते है ।

क्रिया। सा क्रोधस्वभाविकेति क्रोधग्रहणेनैव गृहीते. पौनरुक्त्यमिति चेत्; न; क्रोधनिमित्तत्वात्[1]। क्रोधो हि प्रदोषहेतुः, अतः कार्यकारणभेदादपौनरुक्त्यम्। नैमित्तिक(काऽ) निमित्त[2]भेदाच्च–इष्टदारवित्तहरणादेर्निमित्ताद्विनापि पिशुनः स्वभावत एव क्रुध्यति, तथा दृष्टिविषादयश्च। उक्त च–

अणिमित्तमेव कोई कम्मस्स वसंगदो कसायाणं।
उदयं उवेदि जीवो [3]चंद इव महग्गहं पव्वे ॥ तथा–

मृगलोहितताम्र[4]लोलजिह्वैः हरिशार्दूलवृकैर्निसर्गहिस्रैः।
भुजगैश्च सवैरजातरोषैः समरूपाण्यसतां[5] विचेष्टितानि ॥

इत्यनिमित्तः क्रोधः, निमित्तवान् प्रदोषः। प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया। हिंसोपकरणादानादाधिकरणिकी क्रिया। दुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात् पारितापिकी क्रिया। आयुरिन्द्रियबलप्राणाना वियोगकरणात् प्राणातिपातिकी[6]। एताः पञ्च क्रियाः।

ग्रहण से उसका ग्रहण हो ही जाता है, अत प्रादोषिकी क्रिया को पुनः ग्रहण करना पुनरुक्ति दोष है? **उत्तर**—इसमे पुनरुक्ति दोष नही है क्योकि क्रोध कषाय तो प्रदोष मे निमित्त कारण होता है अत. कार्य-कारण के भेद से क्रोध कषाय और प्रादोषिकी क्रिया मे भेद होने से पुनरुक्ति दोष नही है। अथवा, क्रोध अनिमित्तक भी हो सकता है, परन्तु प्रादोषिकी क्रिया क्रोध रूप निमित्त से ही होती है। क्योंकि पिशुन स्वभाव वाला व्यक्ति इष्ट दाराहरण, धननाश आदि निमित्तो के विना स्वभाव से ही क्रोध करता है तथा किसी की दृष्टि मे ही विष होता है, सर्पादि विना कारण ही क्रोध करते है। कहा भी है—

"जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा का विना किसी निमित्त के स्वभाव से ही उदय होता है, उसी प्रकार कर्म परवश आत्मा के विना निमित्त के ही क्रोधादि कषायो का उदय होता है" तथा "दुर्जन पुरुषो की चेष्टाएँ, जिनकी चचल जिह्वा मृगो के रक्त से लिप्त होने से लाल हो रही है ऐसे सिंह, शार्दूल, भेडिया, सर्प आदि निसर्ग हिंसक प्राणी जिनको जन्म से रोष उत्पन्न है, उनके समान वैर और रोषपूर्ण होती है।" अतः क्रोध अनिमित्तक है और प्रदोष क्रोध निमित्तिक है, इसलिये नैमित्तिक और अनैमित्तिक के भेद से भी प्रादोषिकी क्रिया मे तथा क्रोध मे भेद है। प्रदोष के बाद प्रयत्न करना **कायिकी क्रिया** (७) है। हिंसा के उपकरणो को ग्रहण करना **आधिकरणकी क्रिया** (८) है। दूसरो को दुःख उत्पन्न करने वाली **पारितापिकी क्रिया** (९) है। स्व अथवा दूसरो के

---

१. वग.। बहुग्राहिममाम इत्यर्थ.। २. निमित्तनैमित्तिकभे मु। ३ चन्द्रे। ४ -तोग्रलो -मु। ५ दुर्जनानाम्। ६ -की क्रिया ए -मु, व।

दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपाताऽनाभोगक्रियाः पञ्च । ९ । रागार्द्रीकृतत्वात् प्रमादिन· रमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया । प्रमादवशात् स्पृष्टव्यसञ्चेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया । ननु इन्द्रियग्रहणादेव सिद्धेर्दर्शनस्पर्शनग्रहणमनर्थकमिति, नैष दोष·; पूर्वत्रेन्द्रियविज्ञानग्रहणम्, इह तत्पूर्वपरिस्पन्दग्रहणम् । अपूर्वाधिकरणोत्पादनात् प्रात्यायिकी क्रिया । स्त्रीपुरुषपशुसपातिदेशे अन्तर्मलोत्सर्गकरण समन्तानुपातक्रिया । अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया । ता एता पञ्च क्रिया ।

स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनानाकाङ्क्षाः क्रियाः पञ्च । १० । या परेण निर्वर्त्या क्रिया स्वय करोति सा स्वहस्तक्रिया । पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया । आलस्याद्वा प्रशस्तक्रियाणामकरण पराचरितसावद्यादिप्रकाशन विदारण-क्रिया । यथोक्तामाज्ञामावश्यकादिषु चारित्रमोहोदयात् कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणात्

आयु, इन्द्रिय, वल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणो का वियोग करना, प्राणो का घात करना **प्राणातिपातिकी क्रिया** (१०) है । (ये पाँच क्रियाएँ है) ।। ८ ।।

दर्शन, स्पर्शन, प्रत्यय, समन्तानुपात, अनाभोग स्वरूप पाँच कियाएँ है । रागाविष्ट होकर प्रमादी पुरुष का स्त्रियो के रमणीय रूप को देखने का अभिप्राय वा स्त्रियो के सौन्दर्य का निरीक्षण करने की प्रवृत्ति **दर्शन क्रिया** (११) है । प्रमाद के वश होकर स्त्री-पुरुष के परस्पर स्पर्श करने की अभिलाषा वा स्पर्श करने की प्रवृत्ति **स्पर्शन क्रिया** (१२) है । **प्रश्न**—इन्द्रियो के ग्रहण से ही दर्शन और स्पर्शन क्रिया का ग्रहण हो जाता है, पुन· स्पर्शन और दर्शन क्रिया का ग्रहण करना निरर्थक है ? **उत्तर**—ऐसी शंका करना ठीक नही है क्योकि चक्षुरिन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय मे इन इन्द्रियो के द्वारा होने वाले ज्ञान का ग्रहण है और यहाँ (क्रियाओ मे) ज्ञानपूर्वक होने वाले परिस्पन्दात्मक हलन-चलन का ग्रहण है । अत. इन्द्रियो के ग्रहण से क्रियाओ का ग्रहण नही होता । नये-नये अधिकरणो को उत्पन्न करना **प्रात्यायिकी क्रिया** (१३) है । स्त्री-पुरुष, पशु आदि से व्याप्त स्थान मे मलोत्सर्ग करना, **समन्तानुपातन क्रिया** (१४) है । विना देखी और विना शोधी भूमि पर शरीर एव उपकरण आदि का निक्षेपण करना **अनाभोग क्रिया** (१५) है । ये पाँच क्रियाएँ हुई ।। ९ ।।

स्वहस्त, निसर्ग, विदारण, आज्ञाव्यापादन और अनाकाक्षा ये पाँच क्रियाएँ है । दूसरे के द्वारा करने योग्य क्रिया को (कार्य को) स्वय करना **स्वहस्त क्रिया** (१६) है । पापादान आदि को स्वीकार करना **निसर्ग क्रिया** (१७) है । आलस्यादि के कारण प्रशस्त क्रियाओ को न करना और दूसरो के पापादि का प्रकाशन करना **विदारण क्रिया** (१८) है । चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से आवश्यक आदि क्रियाओ के करने मे असमर्थ होने पर शास्त्राज्ञा का अन्यथा ही निरूपण करना **आज्ञाव्यापादिका**

आज्ञाव्यापादिका क्रिया। शाठ्यालस्याभ्या [1]प्रवचनापदिष्टविधिकर्तव्यतानादरः अनाकाङ्क्षक्रिया[2]। ता एताः पञ्च क्रिया.।

आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रियाः पञ्च ।११। छेदनभेदन [3]विस्रंसनादिक्रियापरत्वम्, अन्येन चारम्भे क्रियमाणे प्रहर्ष आरम्भक्रिया। परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी। ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चन मायाक्रिया। अन्य मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशसादिभिर्द्रढयति यथा साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया। संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया।

इन्द्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावानतिवृत्तेः क्रियावचनेनैव गतत्वात् प्रपञ्चमात्र-प्रसङ्ग इति चेत्; न; अनेकान्तात् ।१२। [4]स्यान्मतम्—इन्द्रियकषायाव्रतान्यपि क्रिया-स्वभावानि ततस्तेषा क्रियाग्रहणेन ग्रहणादनर्थकमुपादानम्, सति चोपादाने प्रपञ्चमात्रत्व प्राप्नोतीति; तन्न; कि कारणम् ? अनेकान्तात्। नायमेकान्तः इन्द्रियकषायाव्रतानि

क्रिया (१६) है। मूर्खता और आलस्य के कारण शास्त्रोपदिष्ट विधि-विधानो एव कर्त्तव्य के प्रति अनादर करना **अनाकांक्षा क्रिया** (२०) है। (ये पाँच क्रियाएँ है।) ॥ १० ॥

आरम्भ, परिग्रह, माया, मिथ्यादर्शन और अप्रत्याख्यान ये पॉच क्रियाएँ है। छेदन, भेदन, हिंसा आदि क्रियाओ मे तत्पर होना अथवा दूसरो के द्वारा हिसादि व्यापार किये जाने पर हर्षित होना **आरंभ क्रिया** (२१) है। परिग्रह के नष्ट न होने देने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना वा परिग्रह को सुरक्षित रखने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वह **पारिग्राहिकी क्रिया** (२२) है। ज्ञान-दर्शन आदि मे छल-कपट करना, अर्थात् जो शास्त्रीय-ज्ञान अपने को है वह दूसरे को नही बताना, यह **माया क्रिया** (२३) है। मिथ्यात्व क्रिया की, मिथ्यात्व क्रिया करने वालो की और मिथ्यात्व के कारणो मे प्रविष्ट मिथ्यादृष्टियो की 'तू बहुत अच्छा करता है' इत्यादि वचनो के द्वारा प्रशसा करके उन्हे मिथ्यात्व मे दृढ करना **मिथ्यादर्शन क्रिया** (२४) है। सयमघाती कर्म के उदय से इन्द्रिय-विषयो का त्याग नही करना, प्रत्याख्यान नही करना **अप्रत्याख्यान क्रिया** (२५) है ॥ ११ ॥

इन्द्रिय, कषाय और अव्रतो के भी क्रियास्वभाव का उल्लघन न होने से क्रिया वचन मे ही इनका ग्रहण हो जाता है अतः इनका पृथक् ग्रहण प्रपञ्च मात्र है, ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि इसमें अनेकान्त है। **प्रश्न**—इन्द्रिय, कषाय और अव्रत भी क्रिया का ही स्वभाव है और क्रिया के ग्रहण मे इनका भी ग्रहण हो जाता है, अत. इनका पृथक् ग्रहण करना निरर्थक है? **उत्तर**—यह एकान्त नियम नही है कि इन्द्रिय, कषाय और अव्रत क्रियास्वभाव वाले ही हो। क्योंकि नाम,

---

१. प्रवचनोपदिष्ट–मु., द। २. –आ ता ए –ता श्र द व. भा.। ३. –विशासन–भा २। ४ आह तटस्थः पर प्रति आचार्याभिप्रायमज्ञात्वा स्वयमेव।

क्रियास्वभावान्येवेति । कुतः ? नामस्थापनाद्रव्येन्द्रियकषायाव्रतेषु परिस्पन्दाभावात् । यतो नामेन्द्रियादौ न क्रियाऽस्ति नाममात्रत्वात् । स्थापनाया च न मुख्यक्रियाऽस्ति तदेवेदमिति वाग्बुद्धिप्रवृत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । द्रव्ये च प्रच्युतेन्द्रियकषायाव्रतक्रियापरिणामे अनागतेन्द्रियकषायाव्रतक्रियापरिणामाभिमुखे वा साम्प्रतिकेन्द्रियकषायाव्रतक्रियाणामभावान्न परिस्पन्दात्मिका क्रियाऽस्ति । अथवा, [1]नायमेकान्त, इन्द्रियकषायाव्रतानि क्रियास्वभावान्येवेति । कुत ? आदेशवचनात् । द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् इन्द्रियकषायाव्रताना स्यात् क्रियास्वभावाऽनतिवृत्ति । पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् स्यात् क्रियास्वभावातिवृत्तिरिति । किञ्च,

शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वात् इन्द्रियकषायाव्रतानां द्रव्यास्रवत्वात् । १३ ।

शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वादिन्द्रियकषायाव्रताना द्रव्यास्रवत्वम्, भावास्रव कर्मादानम्, तच्च पञ्चविशतिक्रियाभिरास्रवति कर्मेत्येतदर्थमिन्द्रियकषायाव्रतवचनम् ।

स्थापना और द्रव्य रूप इन्द्रिय, कषाय और अव्रतो मे परिस्पन्दता का अभाव होने से क्रियारूपता नही है। नाम इन्द्रिय, नाम कषाय और नाम अव्रत मे तो शब्द मात्र है, अत इनमे तो क्रियारूपता है ही नही। स्थापना निक्षेप मे 'यह वही है' ऐसा वचन और 'यह वही है' ऐसी बुद्धि की प्रवृत्ति मे वह स्थापित द्रव्य केवल निमित्त मात्र है अत इनमे भी मुख्य क्रियारूपता नही कही जा सकती। अतीत काल सम्बन्धी इन्द्रिय, कषाय और अव्रत रूप क्रिया परिणाम रूप द्रव्य मे भविष्यत्काल सम्बन्धी इन्द्रिय, कषाय और अव्रत क्रिया रूप परिणाम के अभिमुख द्रव्य मे वर्तमान काल सम्बन्धी इन्द्रिय, कषाय और अव्रत रूप क्रिया का अभाव होने से परिस्पन्दात्मक क्रिया का अभाव है। अथवा, यह एकान्त नियम भी नही है कि इन्द्रिय, कषाय और अव्रत क्रियास्वभाव वाले ही हो। क्योकि आर्ष वचन से द्रव्यार्थिक नय को गौण करके और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से यदि वर्णन किया जाता है तो क्रियास्वभाव का अतिक्रमण करने मे कथञ्चित् इन्द्रिय, कषाय और अव्रतो मे भी क्रिया स्वभावत्व है, अर्थात् वे क्रियास्वभाव का उल्लघन नही करते है तथा पर्यायार्थिक नय को गौण करके और द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से यदि कथन किया जाय तो इन्द्रिय, कषाय और अव्रतो मे क्रियारूपता नही भी है ॥ १२ ॥

अथवा, शुभाशुभास्रव परिणाम के अभिमुख होने से इन्द्रिय, कषाय और अव्रत द्रव्यास्रव है। इन्द्रिय, कषाय और अव्रत शुभाशुभ आस्रव परिणाम के अभिमुख होने से द्रव्यास्रव है तथा कर्मो का ग्रहण भाव आस्रव है और यह भाव आस्रव पच्चीस क्रियाओ से होता है इसलिये इन्द्रिय, कषाय और अव्रतो का पृथक् ग्रहण किया गया है ॥ १३ ॥

---

१ पुनरप्युत्तर ददाति तटस्थः ।

[1]**न वा प्रतिज्ञातविरोधात् । १४ ।** न वा एतत्प्रयोजनमस्ति । किं कारणम् ? प्रतिज्ञातविरोधात् । यत्प्रतिज्ञात[2] **"कायवाङ्मनस्कर्मयोगः, स आस्रवः"** [६।१।२] इति, तद्विरुध्यते,[3] [4]द्रव्यास्रव इत्यभ्युपगमात् ।

[5]**कार्यकारणक्रियाकलापविशेषज्ञापनार्थं वा । १५ ।** निमित्तनैमित्तिकविशेषज्ञापनार्थं तर्हि पृथगिन्द्रियादिग्रहणं क्रियते; सत्यम्, स्पृशत्यादयः क्रुध्यत्यादयः हिनस्त्यादयश्च क्रिया आस्रवः; इमाः पुनस्तत्प्रभवाः पञ्चविंशतिक्रियाः सत्स्वेतेषु त्रिषु प्राच्येषु परिणामेषु भवन्ति–यथा मूर्च्छा कारणं परिग्रहः कार्यं तस्मिन्सति पारिग्राहिकी[6] [7]क्रिया न्यासरक्षणाविनाशसंस्कारादिलक्षणा । तथा, क्रोधः कारणं प्रदोषश्च कार्यं तस्मिन् सति प्रादोषिकी क्रिया । मानः कारणं कार्यमप्रणतिः तस्यां सत्यामपूर्वाधि-

---

ऐसा समाधान करना उचित नही है क्योकि इसमे प्रतिज्ञा-विरोध आता है । क्योकि 'कायवाङ्मनः कर्मयोगः' इस सूत्र से द्रव्यास्रव का ही निरूपण किया गया है, अतः स्वकीय प्रतिज्ञा-विरोध आता है ।। १४ ।।

अथवा, क्रिया और इन्द्रिय, कषाय एवं अव्रतो मे कार्य-कारण भाव निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध का विशेष ज्ञान कराने के लिये ही आस्रव प्रकरण मे इन्द्रियादि को पृथक्-पृथक् ग्रहण किया गया है । स्पर्श करता है, क्रोध करता है, हिंसा करता है, स्वाद लेता है, मान करता है, झूठ बोलता है, इत्यादि पाँच इन्द्रिय, चार कषाय और हिंसादि पाँच अव्रत रूप क्रियाएँ आस्रव है तथा सम्यक्त्ववर्धिनी आदि पच्चीस क्रियाएँ इन्ही क्रोधादि, स्पर्शादि और हिंसादि क्रियाओ से उत्पन्न होती है, क्योकि क्रोधादि कषाय, स्पर्शन आदि इन्द्रियो के विषय तथा हिंसादि भाव इन तीन रूप पूर्व परिणामो के होने पर ही पच्चीस क्रियाएँ होती है । जैसे मूर्च्छा ममत्व परिणाम कारण है (मूर्च्छा लोभ कषाय है); परिग्रह कार्य है । इस मूर्च्छा रूप क्रिया और परिग्रह के ग्रहण रूप अव्रत के होने पर ही परिग्रह के संरक्षण, अविनाश और संस्कारादि लक्षण वाली पारिग्राहिकी क्रिया उत्पन्न होती है । अर्थात् लोभ कषाय और परिग्रह के होने पर ही परिग्रह का रखना, उसकी रक्षा करना, उसका संस्कार करना आदि क्रिया होती है । उसी प्रकार क्रोध कारण है और प्रदोष कार्य है, क्रोध के होने पर प्रादोषिकी क्रिया होती है । अर्थात् क्रोध आने पर ही दूसरो के दोषो की उद्भावन रूप क्रिया होती है । मान कषाय कारण है, नम्र नही होना कार्य है । मान कषाय के होने पर ही अपूर्व अधिकरण उत्पन्न करने वाली प्रात्यायिकी क्रिया होती है । माया कारण है, कुटिलता कार्य है । माया कषाय का उदय होने पर ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे माया प्रवृत्तिरूप माया क्रिया होती है । प्राणातिपात (जीवो का घात) कारण है और प्राणातिपातिकी क्रिया

---

१. अत्र आचार्यः तटस्थ प्रति । २. सूत्रकारेण । ३. कुत । ४. तवाभिप्रायेण । कायादियोगस्य आस्रवाभिमुख्येन नाम्प्रतिकास्रवत्वाभावाभ्युपगमात् इति यावत् । ५. आचार्यवचनेन प्रबुद्ध सन्नाह तटस्थ । ६. प्रविधानितमी क्रिया । ७. क्रियाऽन्यासरन्ना अ. मू. ।

करणोत्पादनत्वात् प्रात्यायिकी क्रिया। माया कारण कार्य कुटिलक्रिया, तस्या सत्या ज्ञानदर्शनचारित्रेषु मायाप्रवृत्तिक्रिया। प्राणातिपात. कारण कार्य प्राणातिपातिकी क्रिया। मृषावादाऽदत्तादानाऽब्रह्मचर्याणि कारण कार्यमसंयमोदयादाज्ञाव्यापादिका[१] क्रिया। एवमितरत्रापि योज्यम्।

इन्द्रियग्रहणमेवास्त्विति चेत्; न; तदभावेऽप्यास्रवसद्भावात्। १६। स्यादेतत्–इन्द्रियग्रहणमेवास्तु, कुत ? लघुत्वात्–इन्द्रियैर्हि उपलभ्य विचार्य च कषायाव्रतक्रियासु प्रवर्तन्ते प्रजा। अत इन्द्रियवचनेनैव गतत्वात् कषायाव्रतक्रियाणामग्रहणमस्त्विति, तन्न, कि कारणम् ? तदभावेऽप्यास्रवसद्भावात्। यदि हीन्द्रियग्रहणमेव स्यात् प्रमत्तस्यैव आस्रव उक्त स्यात् नाप्रमत्तस्य। प्रमत्तो हि चक्षुरादिभि· रूपादिविषयासेवन[२]प्रत्यादृत. रूपादीन् सेवमानोऽसेवमानो वा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभ-हिसादिकारणकषायाष्टकपरिणतः हिसादीन् कुर्वन्नकुर्वन् वा सातत्येनाविरत प्रमत्तत्वात्

कार्य है। असत्य भाषण, चोरी, कुशील कारण है और असयम (अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यानादि कषाय) के उदय से होने वाली आज्ञाव्यापादिका क्रिया कार्य है। इसी प्रकार अन्य क्रियाओ मे भी कार्य-कारणभाव समझना चाहिये। अत कार्य-कारणभाव की अपेक्षा से भी क्रिया और इन्द्रिय, कषाय एव अव्रतो मे भिन्नता है क्योकि कषायादि कारण और क्रियाएँ कार्य है और कारण-कार्य कथञ्चित् भिन्न-भिन्न होते है ।। १५ ।।

आस्रव के कारणो मे केवल इन्द्रियो का ग्रहण करना भी उचित नही है, क्योकि इन्द्रियो के अभाव मे भी आस्रव का सद्भाव रहता है। प्रश्न—इन्द्रियो को ही ग्रहण करना चाहिये, क्योकि इससे सूत्र भी लघु (छोटा) हो जाता है। इन्द्रियो से ही ज्ञान करके और विचार के बाद कषाय एव अव्रत रूप क्रियाओ मे प्रवृत्ति होती है। अतः इन्द्रियवचन के द्वारा सबका ग्रहण-ज्ञान हो जाने से कषाय, अव्रत और क्रियाओ का ग्रहण नही करना चाहिये। उत्तर—इन्द्रियो के द्वारा कषाय और अव्रत का ग्रहण नही होता क्योकि इन्द्रियो के अभाव मे भी आस्रव का सद्भाव पाया जाता है। अथवा, यदि इन्द्रियो को ही आस्रव मे गिना जाय तो छठे गुणस्थान तक ही आस्रव का विधान होगा, अप्रमत्त के नही। क्योकि प्रमत्त मानव ही चक्षु आदि इन्द्रियो से रूपादिक विषयो मे आसक्त होता है तथा रूपादि इन्द्रियजन्य विषयो को सेवन करे या न करे तो भी हिंसादि की कारणभूत अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ रूप आठ कषायो मे युक्त होता हुआ विषयो का सेवक कहलाता है तथा हिंसादि पापो को करता हुआ या नही करता हुआ भी निरन्तर अविरत एव प्रमादी होने से सतत कर्मो का आस्रव करता है। परन्तु अप्रमत्त व्यक्ति पन्द्रह प्रकार के प्रमादो से रहित होकर भी मात्र योग और कषाय निमित्तक कर्मो का ग्रहण

---

१. –दिकी क्रि-मु, द., ब। २ प्रत्यावृत मु, द।

कर्मादत्ते। अप्रमत्तस्तु पञ्चदशप्रमादातीतोऽपि योगकषायनिमित्तमास्रवमश्नुते। एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च यथासभवं चक्षुरादीन्द्रियमनोविचाराभावेऽपि क्रोधादिहिसापूर्वककर्मादान दृश्यते। तस्मात् सर्वसग्रहार्थ कषायादिग्रहणं क्रियते।

कषायाणां साम्परायिकभावेऽपि पर्याप्तत्वात् अग्रहणमिति चेत्; न; सन्मात्रेऽपि तत्प्रसङ्गात् । १७ । स्यान्मतम्—नाऽरक्तद्विष्टो[1] रूपादीनर्थान् चक्षुरादिभिरुपलभते, नचाऽरक्तद्विष्टो जीवान् हिनस्ति मृषावादादिषु वा प्रवर्तते, अतः कषायग्रहणेनैव साम्परायिकास्रवस्य[2] पर्याप्तत्वात् इन्द्रियाव्रतक्रियाणामग्रहणमस्तु इति, तन्न, किं कारणम् ? सन्मात्रेऽपि तत्प्रसङ्गात्। उपशान्तकषायस्य कषायसन्मात्रावस्थाने चक्षुरादिभी रूपादिग्रहणात् रागद्वेषहिंसाद्यात्मलाभप्रसङ्ग । किञ्च, चक्षुरादिभी रूपादिग्रहणे वीतरागत्वात्, अन्यथा यस्य चक्षुरादिभी रूपादिग्रहणमात्रत्वात् रक्तद्विष्टत्वम्, तस्य वीतरागत्वाभाव । तस्मात् कषायग्रहणमात्रमयुक्तम्।

करता है (आस्रव करता है)। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रियो मे यथासम्भव चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मनोविचार के न होने पर भी क्रोधादि कषाय और हिसा आदि अव्रतपूर्वक कर्मो का आदान (आस्रव) देखा जाता है। अर्थात् मन और इन्द्रियो के अभाव मे भी कर्मो का ग्रहण निरन्तर होता रहता है। इसलिये सर्व आस्रवो के कारणो को ग्रहण करने के लिए कषाय और अव्रतो का ग्रहण करना उचित है ।। १६ ।।

कषायों का साम्परायिक आस्रव मे सद्भाव होने से इन्द्रियादि का ग्रहण नही करना उचित नही है क्योकि कषाय की सत्तामात्र मे भी इन्द्रिय विषयो के ग्रहण का प्रसग आता है। **प्रश्न**—रागद्वेष से रहित व्यक्ति न तो चक्षुरादि इन्द्रियो के विषयभूत रूपादि पदार्थो को चक्षु आदि इन्द्रियो से ग्रहण करता है और न रागद्वेष रहित प्राणी जीवो को मारता है और न असत्य भाषण आदि मे प्रवृत्ति करता है, अत कषाय के ग्रहण करने से सभी साम्परायिक आस्रवो का ग्रहण हो ही जाता है, अत इन्द्रिय, अव्रत और क्रियाओ का ग्रहण नही करना चाहिये। अर्थात् कषाय ही ससार के कारणभूत साम्परायिक आस्रव के कारण है। **उत्तर**—ऐसी आशका उचित नहीं है, क्योकि केवल कषाय को साम्परायिक आस्रव का कारण मान लेने पर उपशातकषायी साधु के कषाय का सद्भाव रहने मात्र से चक्षु आदि इन्द्रियो के द्वारा रूपादि विषयो का ग्रहण करने के कारण रागद्वेष और हिसा आदि की उत्पत्ति का प्रसग आयेगा। अथवा, चक्षुरादि से रूपादि को ग्रहण करने मे वीतरागता होने से हिंसादि की उत्पत्ति नही होती है। यदि रूपादि के ग्रहण करने मात्र से रागद्वेषादि दोष उत्पन्न होते हो तो कोई वीतराग नही हो पाएगा (होगा) इसलिये कषाय का ही ग्रहण करना ठीक नही है। अर्थात् आस्रव के प्रकरण मे केवल कषाय (मात्र) का ग्रहण करना उपयुक्त नही है ।। १७ ।।

---

१ रागद्वेषरहित । २ ससारकारणास्य ।

अव्रतवचनमेवेति चेत्; न; तत्प्रवृत्तिनिमित्तनिर्देशार्थत्वात् । १८ । स्यादेतत्–अव्रतवचनमेव युक्तं तत्रैवेन्द्रियकषायक्रियापरिणामान्तर्भावादिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्प्रवृत्तिनिमित्तनिर्देशार्थत्वात् । तस्य हि अव्रतस्येन्द्रियादिपरिणामा प्रवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति ततस्तद्ग्रहण न्याय्यम् ।

आह–योगत्रयस्य एकान्नचत्वारिंशत्प्रभेदा.[1] सर्वात्मकार्यत्वात् संसारिणा सर्वेषा साधारणाः, तत फलानुभव प्रत्यविशेष इति ? अत्रोच्यते–नैतदेवम्, यस्मात् सत्यपि प्रत्यात्मसभवे तेषा[2] परिणामेभ्यः अनन्तविकल्पेभ्य. विशेषोऽभ्यनुज्ञायते । कथमिति चेत् ? उच्यते–

तीव्रमन्दज्ञाताऽज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।। ६ ।।

अतिप्रवृद्धक्रोधादिवशात् तीवनात्तीव्रः । १ । बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्त परिणाम तीवनात् स्थूलभावात् तीव्र इत्युच्यते ।

अव्रत का ही ग्रहण करना चाहिये, ऐसा भी कहना उचित नही है क्योकि अव्रत की प्रवृत्ति के निमित्त निर्देश के लिये कषाय आदि का ग्रहण किया गया है । **प्रश्न**—इन्द्रिय, कषाय और क्रियारूप परिणाम अव्रत मे अन्तर्भूत हो जाते है, अतः आस्रव के प्रकरण मे केवल अव्रत को ही ग्रहण करना चाहिये, कषायादि को नही । **उत्तर**—यद्यपि अव्रत मे इन्द्रिय, कषाय और क्रियाएँ अन्तर्भूत हो सकती है, किन्तु अव्रत की प्रवृत्ति मे इन्द्रिय, कषाय और क्रियाएँ निमित्त है (अर्थात् इन्द्रिय, कषाय एव क्रिया के निमित्त से ही आत्मा अव्रतो मे प्रवृत्ति करता है) अत इस प्रवृत्ति-निमित्तता का द्योतन करने के लिए इन्द्रिय, कषाय और क्रियाओ का पृथक् ग्रहण उचित ही है ।। १८ ।।

यहाँ कोई पूछता है **प्रश्न**—कि तीनो योगो के उनचालीस भेद है तथा वे योग सर्व आत्मा का कार्य होने से सर्व ससारी प्राणियो के समान है अत उनके फलानुभव के प्रति अविशेषता है ? **उत्तर**—सर्व प्राणियो के योगो मे समानता नही है क्योकि ससारी प्राणियो के परिणाम अनन्त प्रकार के है अत उनमे विशेषता जानी जाती है । योग मे क्या विशेषता है, उत्तर सूत्र कहते है—

तीव्र, मन्द, ज्ञात और अज्ञात भाव के निमित्त से तथा अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष से आस्रव में विशेषता होती है ।। ६ ।।

अति प्रवृद्ध क्रोध, मान, माया और लोभादि के कारण परिणामो की तीव्रता को तीव्र कहते है । वा बाह्य और आभ्यन्तर कारणो से कषायो की उदीरणा होने पर अत्यन्त सक्लिष्ट भाव होते हैं, अत्यन्त उग्र परिणाम होते है, उन परिणामो को तीव्र कहते है ।। १ ।।

---

१. इन्द्रियादयः पूर्वसूत्रोदिता । २ योगानाम् ।

तद्विपरीतो मन्दः । २ । अनुदीरणप्रत्ययसन्निधानात् उत्पद्यमानोऽनुद्रिक्तः परिणामो [१]मन्दनात् गमनात् मन्द [२]इत्युच्यते ।

ज्ञातमात्रं ज्ञात्वा वा प्रवृत्तेर्ज्ञातम् । ३ । हिनस्मि इत्यसति परिणामे प्राणव्यपरोपणे ज्ञातमात्रं मया व्यापादित इति ज्ञातम् । अथवा 'अय प्राणी हन्तव्य.' इति ज्ञात्वा प्रवृत्ते ज्ञातमित्युच्यते ।

मदात्प्रमादाद्वाऽनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम् । ४ । सुरादिपरिणामकृतात् करणव्यामोहकरात् मदाद्वा मन प्रणिधानविरहलक्षणात् प्रमादाद्वा व्रज्यादिष्वनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातमिति व्यवसीयते ।

अधिक्रियन्तेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणम् । ५ । अर्था: प्रयोजनानि पुरुषाणा यत्राधिक्रियन्ते प्रस्तूयन्ते तदधिकरणम्, द्रव्यमित्यर्थः ।

तीव्र से विपरीत परिणाम मन्द होते है। बाह्य आभ्यन्तर कारणो से कषायो की अनुदीरणा के कारण से उत्पद्यमान अनुद्रिक्त परिणाम मन्द होने से मन्द कहलाते है। अर्थात् कषायो को उदीरणा मे परिणाम तीव्र होते है और कषाय की अनुदीरणा मे परिणाम मन्द होते है ।। २ ।।

ज्ञात मात्र वा जानकर के प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। मारने के परिणाम न होने पर भी हिसा हो जाने पर 'मैने मारा' यह जान लेना ज्ञात है। अथवा 'यह प्राणी मारने योग्य है' ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है ।। ३ ।।

मद या प्रमाद से गमनादि क्रियाओ मे बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। जैसे— सुरापान करने वाले की इन्द्रियाँ विकल हो जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियो को मोहित करने वाले परिणाम मद कहलाते है। उस मद से तथा कुशल (आत्महितकारक) क्रियाओ के प्रति अनादर भाव रूप प्रमाद के कारण गमनादि क्रियाओ मे बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव कहलाता है ।। ४ ।।

जिसमे पदार्थ अधिकृत किये जाते है, वह अधिकरण है। आत्मा के प्रयोजन को अर्थ कहते है। जहाँ-जहाँ जिसमे प्रयोजन सिद्ध किये जाते है, प्रस्तुत किये जाते है वह अधिकरण है, द्रव्य है। अर्थात् क्रिया का आधारभूत द्रव्य अधिकरण है ।। ५ ।।

---

१ मन्दनान्मन्द मु, द, व । २ इति कथ्यते मू. ।

द्रव्यस्यात्मसामर्थ्यं वीर्यम् । ६ । द्रव्यस्य शक्तिविशेषः सामर्थ्यं वीर्यमिति निश्चीयते ।

भावशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् । ७ । यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति भुजि. प्रत्येक परिसमाप्यते तथा अय भावशब्द. प्रत्येक तीव्रादिभिरभिसंबध्यते—तीव्रभाव मन्दभाव. ज्ञातभाव. अज्ञातभाव इति ।

युगपदसंभवात् भावशब्दस्यायुक्तं विशेषणमिति चेत्; न; बुद्धिविशेषव्यापारात् । ८ । स्यान्मतम्—भावो नाम द्रव्यस्य अहेय. परिणाम', तस्यैकत्वात् सदात्मख्यापन युगपत्तीव्रादिविशेषणं चानुपपन्नम्, यथा गोत्वमेक न खण्डमुण्डादीना गोद्रव्याणा विशेषक गोप्रत्ययाभिधानहेतुत्वात् तथा भाव' सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वात् न तीव्रादीना विशेषक. इति; तन्न, कि कारणम् ? बुद्धिविशेषव्यापारात् । बौद्धोऽय व्यापार तीव्रादिपरिणामाना विशेषक. । कथम् ? भावद्वैविध्यात् द्विविधो हि नो[1] द्रव्याणा भाव

द्रव्य का स्वसामर्थ्य वीर्य है। द्रव्य की शक्तिविशेष वा सामर्थ्यविशेष को वीर्य कहते हैं ।। ६ ।।

भुज् धातु की तरह भाव शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ लगाना चाहिये । जैसे—देवदत्त, जिनदत्त और गुरुदत्त को भोजन कराओ, इसमे भोजन कराओ, इस क्रिया का सम्बन्ध सब के साथ मे है अर्थात् देवदत्त को भोजन कराओ, जिनदत्त को भोजन कराओ इत्यादि । उसी प्रकार भाव शब्द तीव्र आदि प्रत्येक के साथ मे जोडना चाहिये, जैसे—तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव और अज्ञातभाव ।। ७ ।।

युगपद् असभवता होने से भाव शब्द को तीव्र आदि का विशेषण बनाना अयुक्त है, ऐसा नही है क्योकि यहाँ बुद्धि विशेष का व्यापार है । **प्रश्न**—भाव शब्द का अर्थ द्रव्य का अहेय (नही छोडने योग्य, सदा साथ मे रहने वाले) परिणाम है । द्रव्य के साथ उसका एकत्व होने से भाव द्रव्य की सत्ता का द्योतक है अत वह तीव्र आदि का विशेषण नही बन सकता जैसे एक गात्व, खण्ड, मुण्ड आदि गायो का (गो द्रव्य का) विशेषण नही हो सकता क्योकि गोत्व सामान्य गो प्रत्यय के अभिधान का कारण है उसी प्रकार भाव द्रव्य की सत्ता के अभिधान का कारण है, तीव्र-मन्द आदि का नही ? **उत्तर**—भाव का अर्थ यहाँ सत्ता नही है जिससे वह गोत्वादि की तरह तीव्र आदि का भेदक न हो सके; किन्तु यहाँ भाव शब्द का अर्थ बुद्धि सम्बन्धी व्यापार की प्रधानता है और यह बुद्धि विशेष का व्यापार तीव्रादि परिणामो का भेदक है । भावो मे द्वैविध्य होने से हमारे (जैन-सिद्धान्त मे) परिस्पन्द रूप और अपरिस्पन्द रूप भेद से द्रव्यो के भाव दो प्रकार के माने गये है ।

---

१ अस्माकम् ।

परिस्पन्दरूप. इतरश्च । तत्रापरिस्पन्दो द्रव्याणाम् अस्तित्वभावोऽनादिः । परिस्पन्दरूपस्तु व्ययोत्पादात्मक आदिमान् । तत्र[1] योऽपरिस्पन्दः स सामान्यमात्रगतो भावः नासौ तीव्रादीनां विशेषकः । यस्तु कायादिक्रियालक्षणो भावः स कायादि[2]सत्त्वस्य युगपत्तीव्रादीनां च विशेषकः [3]कायवाङ्मनस्कर्मयोगाधिकारात् । [4]सोऽय विशेषः बौद्धाद् व्यापारात् विभाव्यते । अथवा,[5] [6]भाववत् आत्मनोऽव्यतिरेकात् तीव्रादीनामपि भावसिद्धिः ।

किञ्च, भावभूयस्त्वात् । असंख्येयलोकपरिमाणा[7] हि भावाः एकैकस्मिन्नपि कषायादिपरिणामे, ततो भावबहुत्वोपपत्तेः युगपदसभवात् एकस्य भावस्य अयुक्तः सबन्ध इत्यवबोध्यम्[8] । [9]योऽपि त्वन्मत्याऽय भाव एकः तथापि बौद्धाद् व्यापारात्सबन्धः सिद्धः ।

वीर्यस्यात्मपरिणामत्वात् पृथगग्रहणमिति चेत्; न; तद्विशेषवतो [10]व्यपरो-

---

इनमे अपरिस्पन्द रूप भाव अस्तित्व आदि है, जो अनादि है तथा परिस्पन्दात्मक भाव, उत्पाद और व्ययात्मक है जो कि आदिमान् हैं। इन दोनो भावो मे जो अपरिस्पन्दात्मक भाव है, वे सामान्यात्मक है। सामान्यात्मक भाव तीव्रादि का विशेषक (भेदक) नही हो सकता। परन्तु जो कायादि की क्रिया रूप परिस्पन्दात्मक भाव है, वह भाव शरीर आदि के अस्तित्व और युगपद् तीव्रादि का विशेषक (भेदक) होता ही है। यहाँ पर काय, वचन और मन रूप क्रिया योग का अधिकार होने से परिस्पन्दात्मक क्रिया रूप भाव ही ग्राह्य है तथा ये तीव्र आदि विशेष बुद्धि के व्यापार से ही होते है। अर्थात् तीव्र आदि मे बुद्धि के व्यापार से ही विशेषता होती है। अथवा भाव वाले आत्मा से अभिन्न होने के कारण तीव्र, मन्द, ज्ञात, अज्ञात भी भाव ही हैं। अर्थात् तीव्र आदि के भी भाव की सिद्धि है, आत्मा भाव वाला है और तीव्रादि आत्मा के भाव हैं।

किञ्च, भावो में भूयिष्ठ है क्योकि एक-एक कषायादि परिणाम मे असख्यात लोक प्रमाण भाव होते है, अतः भावो मे बहुत्व होने से युगपद् असम्भव एक सत्ता रूप भाव का यहाँ सम्बन्ध नही है। अर्थात् कषाय के उदय स्थान से होने वाले भाव ही यहाँ विवक्षित है एक सत्ता रूप भाव यहाँ विवक्षित नही है, ऐसा समझना चाहिए तथा जो भी तुम्हारी (शकाकार की) मति (बुद्धि) मे एक भाव है वह भाव भी बुद्धि के व्यापार के सम्बन्ध मे सिद्ध होता है ।। ८ ।।

आत्मा का ही परिणाम होने से वीर्य का पृथग् ग्रहण करना व्यर्थ है, ऐसा कहना भी उचित

---

१ द्वयोर्मध्ये। २. –सत्त्वस्य मु। ३ सूत्रकारामिप्रायमिति ज्ञापयति। ४. भावशब्दस्य द्वैविध्येऽपि परिस्पन्दरूप एवेति कुतोऽवसीयते इत्याशङ्कय परिहरति। ५ अङ्गीकृत्याप्याह। ६ भाववतना् मु। ७. –णामा हि मु., द.। ८ –ध्यते मु। ९. तथापि त्व–ना, श्र., मु., द.। १०. हिंसादिषु।

पणादिष्वास्रवफलभेदज्ञापनार्थत्वात् । ६ । स्यान्मतम्–पृथग् वीर्यग्रहणमनर्थकम् । कुतः ? आत्मपरिणामत्वात् । जीवाधिकरणस्य हि परिणामो वीर्यमधिकरणग्रहणेनैव गृह्यत इति; तन्न, किं कारणम् ? तद्विशेषवतो व्यपरोपणादिष्वास्रवादिज्ञापनार्थत्वात् । वीर्यवतो हि आत्मनः तीव्रतीव्रतरादिपरिणामविशेषो जायते ।

तथा च तीव्रादिग्रहणसिद्धिः । १० । तेन प्रकारेण तथा आस्रवफलभेद-ज्ञापनेनेत्यर्थ', तीव्रादीना पृथग्ग्रहण सिद्ध भवति । इतरथा हि जीवाधिकरणस्वरूपत्वात् तीव्रादीना पृथग्ग्रहणमनर्थक स्यात् ।

तन्निमित्तत्वाच्छरीराद्यानन्त्यसिद्धिः । ११ । कार्यभेदेनावश्य कारणभेदपूर्वकेण भवितव्यम् । उक्ताश्चानन्ता आस्रवभेदा अनुभागविकल्पात्, ततस्तत्कार्यमात्मनः शरीराद्यानन्त्यं सिद्ध्यति । कार्यानन्त्यं च कारणानन्त्यस्यानुमानम्[१] ।

अत्राह–अधिकरणमुक्त तत्स्वरूपमनिर्ज्ञातम्, अतस्तदुच्यतामिति ? तत्र भेदप्रतिपादनद्वारेण अधिकरणस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमिदमुच्यते–

नही है, क्योकि वीर्यविशेष से हिंसादि आस्रवो मे फलविशेष का ज्ञापन करने के लिये वीर्यविशेष का पृथग् ग्रहण किया गया है । प्रश्न—आत्मा का ही परिणाम होने से वीर्य को पृथग् ग्रहण करना निरर्थक है, क्योकि अधिकरण के ग्रहण करने से जीवाधिकरण के परिणाम (पर्याय) वीर्य का ग्रहण हो ही जाता है । उत्तर—यद्यपि वीर्य-शक्ति आत्म-परिणाम रूप है और जीवाधिकरण का परिणाम होने से 'अधिकरण' मे ही गृहीत हो जाती है फिर भी शक्तिविशेष से हिंसादि मे विशेषता आती है, यह सूचन करने के लिये वीर्य को पृथग् ग्रहण किया है । क्योकि शक्तिशाली आत्मा के तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम परिणाम होते है ॥ ६ ॥

उसी से तीव्रादि के ग्रहण की सिद्धि होती है । उन तीव्र आदि परिणामो से आस्रव मे भेद वताने के लिए ही तीव्र आदि का पृथग् ग्रहण सिद्ध होता है, अन्यथा केवल अधिकरण से ही सर्व कार्य चल सकता था, क्योकि तीव्र आदि जीवाधिकरण रूप ही है, उस विवक्षा से तीव्र आदि का पृथग् ग्रहण व्यर्थ होता ॥ १० ॥

तीव्र आदि भावो के निमित्त से ही शरीर आदि के अनन्त की सिद्धि होती है, कारणभेद से कार्यभेद अवश्य होता है । अत जब तीव्र आदि अनुभाग के भेद से आस्रव अनन्त प्रकार के कहे गये है तो उसके कार्यभूत आत्मा के शरीर आदि भी अनन्त प्रकार के सिद्ध होते है । क्योकि कार्य की अनन्तता से ही कारण की अनन्तता का अनुमान लगाया जाता है ॥ ११ ॥

यहाँ कोई कहता है कि आस्रव के अधिकरण का तो वर्णन किया है, परन्तु अधिकरण का

---

१. ज्ञापकम् ।

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥

उक्तलक्षणा जीवाऽजीवाः । १ । जीवानामजीवाना च लक्षण व्याख्यातम् । पुनर्वचनमिदानी किमर्थम् ?

पुनर्वचनमधिकरणविशेषज्ञापनार्थम् । २ । पुनर्वचनं क्रियते अधिकरणविशेषज्ञापनार्थम् । जीवाऽजीवानामधिकरण इत्ययं विशेषो ज्ञापयितव्य इति । कः पुनरसौ ? हिसाद्युपकरणभाव· ।

द्विवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; पर्यायाणामधिकरणत्वात् । ३ । स्यादेतत्—मूलपदार्थयोर्द्वित्वात् जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवाविति द्विवचन प्राप्नोतीति, तन्न, कि कारणम् ? पर्यायाणामधिकरणत्वात् । न जीवाजीवसामान्यमधिकरणत्वं विभर्ति । कि तर्हि ? पर्याया । येन केनचित् पर्यायेण विशिष्ट द्रव्यम् अधिकरणमित्याख्यायते । ततो बहुवचनं न्यायप्राप्तम् ।

जीवाजीवाधिकरणमित्यस्तु लघुत्वादिति चेत्; न; वृत्तिद्वयेऽप्यभिप्रेतार्थगत्य-

---

स्वरूप क्या है, वा अधिकरण कितने प्रकार के है, यह नही जाना गया ? अत. अधिकरण का स्वरूप कहना चाहिये ? इस आशका का निराकरण और अधिकरण का स्वरूप और उसके भेदो को जानने के लिए सूत्र कहते है—

जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण के भेद से अधिकरण दो प्रकार का है ॥ ७ ॥

जोव और अजीव का लक्षण पूर्व मे कह चुके है । **प्रश्न**—यदि जीव-अजीवादि का लक्षण कह दिया है तो यहाँ जीवादि का पुनर्वचन किसलिये है ? ॥ १ ॥

उत्तर—जीवादिक का पुनर्वचन अधिकरणविशेष की प्रतिपत्ति के लिए (ज्ञान कराने के लिये) है । पुनर्वचन अधिकरणविशेष के ज्ञापनार्थ है । यद्यपि जीव और अजीव की व्याख्या हो चुकी है, फिर भी अधिकरण विशेष का निर्देश करने के लिये पुन जीव-अजीव को ग्रहण किया है । क्योकि हिसा आदि के उपकरण रूप से जीव और अजीव ही अधिकरण होते है ॥ २ ॥

द्विवचन का प्रसङ्ग आयेगा, ऐसा भी नही कहना चाहिये, क्योकि यहाँ पर्यायो के अधिकरण का वर्णन है । **प्रश्न**—मूल पदार्थ जीव और अजीव दो है अतः सूत्र मे 'जीवाजीवौ ऐसा दो वचन होना चाहिये, 'जीवाजीवाः' ऐसा बहुवचन नही । **उत्तर**—ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि यहाँ जीव और अजीव यह सामान्य अधिकरण विवक्षित नही है, परन्तु पर्याय रूप विशष अधिकरण विवक्षित है । 'अनन्त पर्याय विशिष्ट जीव और अजीव द्रव्य अधिकरण वनते है' इस बात की सूचना देने के लिये वहुवचन का प्रयोग किया गया है ॥ ३ ॥

'जीवाजीवाधिकरण' ऐसा सूत्र वनाने से सूत्र मे अल्प अक्षर हो जायेगे, ऐसा भी कहना

भावात् । ४ । स्यादेतत्–'जीवाजीवाधिकरणम्' इत्येतत्सूत्रमस्तु, कुत. ? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? वृत्तिद्वयेऽप्यभिप्रेतार्थगत्यभावात् । अत्र द्वितयी वृत्तिः स्यात्–जीवाजीवावेवाधिकरणम्, जीवाजीवयोर्वाऽधिकरण जीवाजीवाधिकरणमिति ? न तावत् सामानाधिकरण्यलक्षणा वृत्तिरुपपद्यते, जीवाजीवत्वविशेषणविशिष्टाधिकरणमात्रप्रतिपत्ते. आस्रवविशेषज्ञापनाभावात् अभिप्रेतार्थगत्यभावः । नापि भिन्नाधिकरणा वृत्तिः युज्यते; तयोराधारमात्रप्रतिपत्ते अभिप्रेतास्रवविशेषार्थगत्यभाव इति । न च तयोरधिकरण व्यतिरिक्तमुपलभ्यते, तस्मादस्तु तयोराद्य एव पाठ । अथ जीवाजीवाधिकरण कस्य ? आस्रवः प्रकृत', तस्येत्यभिसबध्यते । स तर्हि तथा[1]निर्देश कर्तव्यः ? न कर्तव्य. ।

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामोपपत्तेरास्रवस्येत्यभिसंबन्धः । ५ । यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामो भवति,

---

योग्य नही है, क्योकि दोनो के समास मे अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान नही होता। **प्रश्न**—'जीवाजीवाधिकरण' ऐसा बनाना चाहिये, क्योकि इससे सूत्र मे लघुता आती है। **उत्तर**—'जीवाजीवाधिकरण' ऐसा सूत्र बनाना उचित नही है, क्योकि इसमे दो प्रकार के समास होते है अत. अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान नही होगा। जीव और अजीव ही अधिकरण हैं या 'जीव और अजीव का अधिकरण' इस प्रकार दो तरह से समास होने हैं। 'जीव और अजीव ही अधिकरण' ऐसा समानाधिकरण अर्थ मे समास करने पर जीवत्व और अजीवत्व से विशिष्ट अधिकरण मात्र की प्रतिपत्ति होगी, आस्रव विशेष का ज्ञान नही हो सकेगा। अत अभिप्रेत अर्थ के ज्ञान का अभाव होने से इसमे समानाधिकरण लक्षण समास तो नही हो सकता। 'जीव और अजीव का अधिकरण' ऐसा भिन्नाधिकरणक षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर भी जीव और अजीव के आधार मात्र का ही ज्ञान होगा, आस्रवविशेष का नही। अत 'आस्रवविशेष' इस अभिप्रेत अर्थ के ज्ञान के अभाव का कारण होने से भिन्नाधिकरणक षष्ठी तत्पुरुष समास करना भी उचित नही है तथा 'जीवाजीवाधिकरण' इस पाठ से जीव और अजीव की अधिकरण-व्यक्ति भी उपलब्ध नही होती, इसलिये प्रकृतपाठ **'अधिकरणं जीवाजीवाः'** ही ठीक है। 'जीव और अजीव किसके अधिकरण है ?' यह प्रश्न होने पर 'अर्थ के वश से विभक्ति का परिणमन या अध्याहार होता है।' इस नियम के अनुसार 'आस्रवस्य' यह आस्रव का सम्बन्ध हो जाता है। अर्थात् जीव और अजीव आस्रव के अधिकरण (आधार) है, ऐसा अर्थ फलित हो जाता है। **प्रश्न**—यदि जीव और अजीव आस्रव के अधिकरण है तो सूत्र मे आस्रव का निर्देश होना चाहिये ? ।। ४ ।।

उत्तर—'जीव और अजीव किसके अधिकरण है ?' यह प्रश्न होने पर 'अर्थ के वश से विभक्ति का परिणमन होता है' इस नियम के अनुसार 'आस्रवस्य' यह आस्रव-सम्बन्ध हो जाता

---

१. प्रथमाविभक्तिरूपेण ।

एवमिहाप्यधिकरणं जीवाजीवौ कस्य ? आस्रवस्येत्यभिसबन्धोऽर्थवशाद्वेदितव्य. । तदुभयमधिकरणं दशप्रकारम्–विषलवणक्षारकटुकाम्लस्नेहाग्नि–दुष्प्रयुक्तकायवाङ्मनोयोगभेदात् ।

किमेतावानेव भेद:, आहोस्वित् कश्चिदन्योऽप्यस्ति ? अस्तीति । आह–यद्येवम् आद्यस्यैव तावद्भेद: कथ्यतामिति ? अत्रोच्यते–

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश: ।। ८ ।।

आद्याऽग्रहणं सामर्थ्यात् सिद्धेरिति चेत्; न; विस्पष्टार्थत्वात् । १ । स्यान्मतम्–आद्यग्रहणमनर्थकम् । कुत. ? सामर्थ्यात् सिद्धे: । कि पुन: सामर्थ्यम् ?

है । जैसे कि 'देवदत्त के ऊँचे मकान है, उसे बुलाओ' यहाँ उसके साथ देवदत्त का कर्मकारक रूप से सम्बन्ध हो जाता है । उसी प्रकार यहाँ पर भी 'जीवाजीव अधिकरण किसके है', ऐसा प्रश्न होने पर 'आस्रव के है' ऐसा अर्थवशात् सम्बन्ध लगाना चाहिए । ये दोनो अधिकरण दस प्रकार के है—विष, लवण, क्षार, कटुक, अम्ल, स्नेह, अग्नि और खोटे रूप से प्रयुक्त मन-वचन और काय ।। ५ ।।

विशेष—जीव और अजीव ये दो आस्रव के अधिकरण या आधार है । यद्यपि सम्पूर्ण शुभ और अशुभ आस्रव जीव के ही होता है लेकिन आस्रव के निमित्त जीव और अजीव दोनो होते हैं, अत: दोनो को आस्रव का अधिकरण कहा गया है ।

प्रश्न—आस्रव के इतने ही भेद है कि अन्य भी कोई भेद है ? **उत्तर**—आस्रव के अन्य भी भेद है । यदि अन्य भेद है तो जीवाधिकरण के कितने भेद है ? उनका कथन करना चाहिये, ऐसा पूछने पर सर्वप्रथम जीवाधिकरण के भेद कहते है—

संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ; मन, वचन, काय योग; कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोध, मान, माया और लोभविशेष; ये क्रमश: तीन-तीन-तीन और चार है । इनको परस्पर गुणा करने से जीवाधिकरण से होने वाले आस्रव के १०८ भेद है । इनका आधार जीव है ।। ८ ।।

'आद्य' शब्द के नही ग्रहण करने पर भी सामर्थ्य से सिद्धि हो जाती है । ऐसा नही है, विषय को स्पष्ट करने के लिये 'आद्य' शब्द का प्रयोग किया है । **प्रश्न**—आगे के सूत्र मे कहे जाने वाले 'पर' वचन के सामर्थ्य से 'आद्य' शब्द की सिद्धि स्वत· हो जाती है, अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि इस सूत्र मे आद्य जीवाधिकरण का प्रकरण है, अत. 'आद्य' शब्द का ग्रहण व्यर्थ है । **उत्तर**—

वक्ष्यमाणानन्तरसूत्रे 'पर'वचनम्, तेनाद्यमिद विज्ञायत इति, तन्न; किं कारणम् ? विस्पष्टार्थत्वात् । आनुमानिके हि सति सप्रत्ययप्रतिपत्तेर्गौरवं स्यात् ।

प्रयत्नावेशः संरम्भः । २ । प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवत: प्रयत्नावेश: सरम्भ: इत्युच्यते ।

साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः । ३ । साध्याया क्रियाया: साधनानां समभ्यासीकरणं समाहार: समारम्भ इत्याख्यायते ।

प्रक्रमः आरम्भः । ४ । प्रशब्दस्यादिकर्मणि प्रवृत्ते. आदौ क्रम: प्रक्रम. आरम्भ: इति विज्ञायते । [1]आङ· आदिकर्मणो द्योतनत्वात् ।

तत्त्वकथनात् सर्वे भावसाधनाः । ५ । संरम्भण संरम्भ. समारम्भण समारम्भ:, आरम्भणमारम्भ इति ।

व्याख्यातार्थो योगशब्दः । ६ । योगशब्दस्यार्थो व्याख्यात· **"कायवाङ्मनस्कर्म-योगः"** [६।१] इति ।

यद्यपि आगे के सूत्र मे 'पर' शब्द के देने से यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ जीवाधिकरण का प्रकरण है तथापि स्पष्ट अर्थ का बोध कराने के लिये इस सूत्र मे 'आद्य' पद दिया गया है क्योकि अनुमान से अर्थ के जानने मे कठिनाई होती है ।। १ ।।

प्रयत्न विशेष को सरम्भ कहते है । प्रमादी पुरुष का प्राणघात आदि के लिए प्रयत्न करने का सकल्प सरम्भ है ।। २ ।।

हिंसादि साधनो को एकत्र करना समारम्भ है । साध्य क्रिया के साधनो को इकट्ठा करना समारम्भ है ।। ३ ।।

प्रक्रम आरम्भ है । 'प्र' शब्द का अर्थ है आदि कर्म मे 'क्रम' प्रवृत्ति करना, अर्थात् प्रक्रम का अर्थ आरम्भ करना, काय शुरू करना आरम्भ है। आङ् आदि कर्म (क्रिया) का द्योतक है ।। ४ ।।

तत्त्व का कथन करने से सर्व ही (ये तीनो शब्द) भाव साधन है । अर्थात् सरम्भण सरम्भ, समारम्भण समारम्भ और आरम्भण आरम्भ है ।। ५ ।।

'कायवाङ्मनस्कर्मयोग' इस सूत्र मे योग शब्द का व्याख्यान कर चुके हैं ।। ६ ।।

---

१. अपादानतापन्नस्य ।

कृतवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम् । ७ । स्वातन्त्र्यविशिष्टेनात्मना यत्प्रादुर्भावित तत्कृतमित्युच्यते ।

कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम् । ८ । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमापद्यमानं कारितमिति कथ्यते ।

अनुमतशब्दः प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थः । ९ । यथा मौनव्रतिकश्चक्षुष्मान् पश्यन् क्रियमाणस्य कार्यस्याप्रतिषेधात् अभ्युपगमात् अनुमन्ता, तथा कारयिता प्रयोक्तृत्वात्, तत्समर्थाचरणावहितमन.परिणामः अनुमन्तेत्यवगम्यते ।

अभिहितलक्षणाः कषायाः । १० । कषायाणां लक्षणमभिहितम्—कषन्त्यात्मानम् अत. कषाया इति ।

विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः । ११ । विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेष· । अथवा, विशिष्टिर्वा विशेष ।

तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः । १२ । स विशेषशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते—सरम्भविशेष. समारम्भविशेष इत्यादि ।

कृत वचन स्वातत्र्य प्रतिपत्ति के लिए है । स्वतत्र रूप से जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कृत है ।। ७ ।।

पर प्रयोग की अपेक्षा कारित का अभिधान है । जो दूसरे के द्वारा कराया जाता है, वह कारित कहलाता है ।। ८ ।।

अनुमत शब्द से प्रयोजक के मानसिक परिणामो की स्वीकृति दर्शायी गई है । अर्थात् करने वाले के मानस परिणामो की स्वीकृति अनुमत है । जैसे कोई मौनी व्यक्ति किये जाने वाले कार्य का यदि निषेध नही करता है तो वह उसका अनुमोदक माना जाता है, उसी प्रकार कराने वाला प्रयोक्ता होने से और उन परिणामो का समर्थक होने से अनुमोदक है ।। ९ ।।

क्रोधादि कषायो का लक्षण कह चुके है कि जो आत्मा को कसती है, दु ख देती है, वे कषाय हैं ।। १० ।।

अर्थ का अर्थान्तर से जाना जाना विशेष है । विशेष किया जाता है वा विशेष करना, वह विशेष है । अथवा विशिष्टि को विशेष कहते है ।। ११ ।।

विशेष का सम्बन्ध सबके साथ लगाना चाहिये । वह विशेष शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है । जैसे—सरम्भविशेष, समारम्भविशेष, आरम्भविशेष, कृतविशेष, कारितविशेष, अनुमोदितविशेष. योगविशेष और कषायविशेष ।। १२ ।।

विशेषैरिति निर्देशानुपपत्तिः क्रियापदाभावात् । १३ । यथा देवदत्तेन भुक्तं पाणिना कृतमिति क्रियापदप्रयोगे सति कर्तृ.करणनिर्देश उपपद्यते न तथेह क्रियापदमस्तीति विशेषैरिति निर्देशो नोपपद्यते ।

न वा, वाक्यशेषापेक्षत्वात् । १४ । नवैष दोष । कि कारणम् ? वाक्यशेषापेक्षत्वात् क्रियापदमत्रोपस्क्रियते–सरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषै. 'भिद्यते' इति । अप्रयुक्तक्रि[1]यापेक्षा हि कारकविवक्षा दृश्यते–शङ्कुलया[2] खण्ड, प्रविशपिण्डीमिति यथा ।

अधिकृताभिसंबन्धाद्वा । १५ । अथवा, अधिकृतो भेदशब्द 'पूर्वस्य भेदा' इति, अतः स इहाभिसंबध्यत इति तदपेक्षः कारकनिर्देशो वेदितव्य ।

त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुरिति सुजन्तानां यथाक्रममभिसंबन्धः । १६ । एते त्रयस्त्रिशब्दा-

---

प्रश्न—क्रियापद का अभाव होने से विशेष के निर्देश की उत्पत्ति नही हो सकती । जैसे—देवदत्त ने खाया, हाथ से काम किया, क्रियापद का प्रयोग होने पर ही कर्त्ता के करण का निर्देश होता है, परन्तु इस सूत्र मे क्रियापद नही है, अत विशेष के द्वारा निर्देश की उत्पत्ति नही हो सकती है ? ।। १३ ।।

उत्तर—इस सूत्र मे क्रिया नही होने से विशेष निर्देश की उत्पत्ति नही होती, ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि यहाँ वाक्य विशेष की अपेक्षा से 'भिद्यते' क्रियापद का अध्याहार कर लेना चाहिये कि सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, योग, कृत, कारित, अनुमोदित तथा कषायविशेष के द्वारा आस्रव का भेद होता है । अर्थात् 'भिद्यते' क्रियापद का अध्याहार करके 'विशेषैः' निर्देश की सार्थकता समझनी चाहिये । क्योकि अप्रयुक्त क्रियापेक्षा (क्रिया के नही कहने पर भी क्रिया की अपेक्षा रखकर) ही कारक विवक्षा देखी जाती है, अर्थात् कर्त्ता और करण का निर्देश क्रियापद के होने पर ही सार्थक होता है । जैसे—'शङ्कुलया खड:' शकुलि (सरौता) के द्वारा किया हुआ खण्ड । इसमे तृतीया विभक्ति के साथ-कृतक्रिया के साथ समास का सम्बन्ध है । अर्थात् शकुलि खड मे कृतक्रिया का प्रयोग नही होने पर भी कृतक्रिया की अपेक्षा निर्देश है । वैसे ही यहां भी समझना चाहिये ।। १४ ।।

अथवा, अधिकृत अधिसम्बन्ध से भेद का ग्रहण करना चाहिए । 'पूर्वस्य भेदा' इस सूत्रांश मे भेद शब्द का अधिकार चला आ रहा है । उसकी अपेक्षा 'विशेषै.' मे करण निर्देश उपयुक्त है ।। १५ ।।

त्रि त्रि त्रि चतुर् आदि सुजन्त सख्या शब्दो का क्रमश. सम्बन्ध लगाना चाहिए । त्रि त्रि त्रि

---

१ कृत इति । २ शङ्कुलया कृतः खण्ड, तृतीया तत्कृतेति समास. ।

कृतवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम् । ७ । स्वातन्त्र्यविशिष्टेनात्मना यत्प्रादुर्भावित तत्कृतमित्युच्यते ।

कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम् । ८ । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमापद्यमानं कारितमिति कथ्यते ।

अनुमतशब्दः प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थः । ९ । यथा मौनव्रतिकश्चक्षुष्मान् पश्यन् क्रियमाणस्य कार्यस्याप्रतिषेधात् अभ्युपगमात् अनुमन्ता, तथा कारयिता प्रयोक्तृत्वात्, तत्समर्थाचरणावहितमनःपरिणामः अनुमन्तेत्यवगम्यते ।

अभिहितलक्षणाः कषायाः । १० । कषायाणा लक्षणमभिहितम्—कषन्त्यात्मानम् अतः कषाया इति ।

विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः । ११ । विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेष. । अथवा, विशिष्टिर्वा विशेषः ।

तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः । १२ । स विशेषशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते—सरम्भविशेषः समारम्भविशेष इत्यादि ।

कृत वचन स्वातत्र्य प्रतिपत्ति के लिए है। स्वतत्र रूप से जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कृत है ॥ ७ ॥

पर प्रयोग की अपेक्षा कारित का अभिधान है। जो दूसरे के द्वारा कराया जाता है, वह कारित कहलाता है ॥ ८ ॥

अनुमत शब्द से प्रयोजक के मानसिक परिणामो की स्वीकृति दर्शायी गई है। अर्थात् करने वाले के मानस परिणामो की स्वीकृति अनुमत है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति किये जाने वाले कार्य का यदि निषेध नही करता है तो वह उसका अनुमोदक माना जाता है, उसी प्रकार कराने वाला प्रयोक्ता होने से और उन परिणामो का समर्थक होने से अनुमोदक है ॥ ९ ॥

क्रोधादि कषायो का लक्षण कह चुके हैं कि जो आत्मा को कसती हैं, दु ख देती हैं, वे कषाय हैं ॥ १० ॥

अर्थ का अर्थान्तर मे जाना जाना विशेष है। विशेष किया जाता है वा विशेष करना, वह विशेष है। अथवा विशिष्टि को विशेष कहते हैं ॥ ११ ॥

विशेष का सम्बन्ध सबके साथ लगाना चाहिये। वह विशेष शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है। जैसे—संरम्भविशेष, समारम्भविशेष, आरम्भविशेष, कृतविशेष, कारितविशेष, अनुमोदितविशेष, योगविशेष और कषायविशेष ॥ १२ ॥

विशेषैरिति निर्देशानुपपत्तिः क्रियापदाभावात् । १३ । यथा देवदत्तेन भुक्तं पाणिना कृतमिति क्रियापदप्रयोगे सति कर्तृ करणनिर्देश उपपद्यते न तथेह क्रियापदमस्तीति विशेषैरिति निर्देशो नोपपद्यते ।

न वा, वाक्यशेषापेक्षत्वात् । १४ । नवैष दोष । कि कारणम् ? वाक्यशेषापेक्षत्वात् क्रियापदमत्रोपस्क्रियते–सरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैः 'भिद्यते' इति । अप्रयुक्तक्रि[1]यापेक्षा हि कारकविवक्षा दृश्यते–शङ्कुलया[2] खण्ड, प्रविशपिण्डीमिति यथा ।

अधिकृताभिसंबन्धाद्वा । १५ । अथवा, अधिकृतो भेदशब्द 'पूर्वस्य भेदा' इति, अतः स इहाभिसंबध्यत इति तदपेक्षः कारकनिर्देशो वेदितव्य ।

त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुरिति सुजन्तानां यथाक्रममभिसंबन्धः । १६ । एते त्रयस्त्रिशब्दा-

---

प्रश्न—क्रियापद का अभाव होने से विशेष के निर्देश की उत्पत्ति नही हो सकती । जैसे—देवदत्त ने खाया, हाथ से काम किया, क्रियापद का प्रयोग होने पर ही कर्त्ता के करण का निर्देश होता है, परन्तु इस सूत्र मे क्रियापद नही है, अत विशेष के द्वारा निर्देश की उत्पत्ति नही हो सकती है ? ॥ १३ ॥

उत्तर—इस सूत्र मे क्रिया नही होने से विशेष निर्देश की उत्पत्ति नही होती, ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि यहाँ वाक्य विशेष की अपेक्षा से 'भिद्यते' क्रियापद का अध्याहार कर लेना चाहिये कि सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, योग, कृत, कारित, अनुमोदित तथा कषायविशेष के द्वारा आस्रव का भेद होता है । अर्थात् 'भिद्यते' क्रियापद का अध्याहार करके 'विशेषैः' निर्देश की सार्थकता समझनी चाहिये । क्योकि अप्रयुक्त क्रियापेक्षा (क्रिया के नही कहने पर भी क्रिया की अपेक्षा रखकर) ही कारक विवक्षा देखी जाती है, अर्थात् कर्त्ता और करण का निर्देश क्रियापद के होने पर ही सार्थक होता है । जैसे—'शङ्कुलया खड ' शकुलि (सरौता) के द्वारा किया हुआ खण्ड । इसमे तृतीया विभक्ति के साथ-कृतक्रिया के साथ समास का सम्वन्ध है । अर्थात् शकुलि खड मे कृतक्रिया का प्रयोग नही होने पर भी कृतक्रिया की अपेक्षा निर्देश है । वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये ॥ १४ ॥

अथवा, अधिकृत अधिसम्वन्ध से भेद का ग्रहण करना चाहिए । 'पूर्वस्य भेदाः' इस सूत्राश मे भेद शब्द का अधिकार चला आ रहा है । उसकी अपेक्षा 'विशेषैः' मे करण निर्देश उपयुक्त है ॥ १५ ॥

त्रि त्रि त्रि चतुर् आदि सुजन्त सख्या शब्दो का क्रमश सम्वन्ध लगाना चाहिए । त्रि त्रि त्रि

---

१. कृत इति । २ शङ्कुलया कृतः खण्ड, तृतीया तत्कृतैरिति समासः ।

श्रतुशब्दश्च संरम्भादिभिः यथाक्रममभिसंबध्यन्ते सुजन्ताः, संरम्भसमारम्भारम्भास्त्रयः योगास्त्रयः कृतकारितानुमतास्त्रयः कषायाश्चत्वार इत्येतेषा गणनाभ्यावृत्तिः सुचा द्योत्यते।

एकश इति वीप्सार्थनिर्देशः ।१७। एकशब्द वीप्सार्थद्योतनः **"संख्यैकाद्वीप्सायाम्"**[१] इति शस् । एकमेकं त्र्यादीन् भेदान्नयेदित्यर्थः ।

संरम्भादित्रयस्यादौ वचनं वस्तुत्वात् ।१८। संरम्भादित्रयमिदं वस्तु तद्भेदहेतुत्वात् इतरेषाम्, अतोऽस्यादौ वचन क्रियते ।

योगादीनामानुपूर्व्यवचनं पूर्वापरविशेषणत्वात् ।१९। योगादीनामानुपूर्व्यवचनं क्रियते । कुत ? पूर्वापरविशेषणत्वात् । तस्मात् क्रोधादिचतुष्टयकृतकारितानुमतभेदात् कायादियोगाना सरम्भसमारम्भारम्भा विशेष्याः प्रत्येकं षट्–त्रिशद्विकल्पा । तत्र सरम्भस्तावत्–क्रोधकृतकायसंरम्भः, मानकृतकायसंरम्भः, मायाकृतकायसरम्भः, लोभकृतकायसंरम्भ, क्रोधकारितकायसरम्भ., मानकारितकायसंरम्भ, मायाकारितकायसंरम्भः, लोभकारितकायसंरम्भः, क्रोधानुमतकायसंरम्भ, मानानुमतकायसंरम्भ, मायानुमत-

---

इत्यादि सुजन्त सख्या का सम्बन्ध सरम्भ, समारम्भ आदि से क्रमश. लगाना चाहिए । जैसे सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ ये तीन है; कृत, कारित, अनुमोदित ये तीन, योग तीन और कषाय चार है । इस प्रकार इनकी गणना की अभ्यावृत्ति सुच् प्रत्यय से प्रकट होती है ।। १६ ।।

एकशः वीप्सार्थक निर्देश है । 'सख्यैकाद्वीप्सायाम्' व्याकरण के इस नियम से एक-एक के तीन आदि भेदो को लगाना चाहिए ।। १७ ।।

वस्तुवाची होने से आदि मे सरम्भ आदिवचन है । सरम्भ आदि तीन वस्तुवाची है, अतः इनका प्रथम ग्रहण किया है । शेष वस्तु के भेद है ।। १८ ।।

योगादि का आनुपूर्वी से कथन पूर्व और उत्तर दोनो के विशेषणार्थ है । योगादि का आनुपूर्वी वचन किया जाता है पूर्वापर विशेषणत्व होने से । तात्पर्य यह है कि क्रोधादि चार और कृत आदि तीन के भेद से कायादि योगो के सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से विशिष्ट (सम्बन्ध) करने पर प्रत्येक के छत्तीस-छत्तीस भेद होते है । प्रथम सरम्भ के छत्तीस भेद कहते है—क्रोधकृतकाय सरम्भ, मानकृतकाय सरम्भ, मायाकृतकाय सरम्भ, लोभकृतकाय सरम्भ, क्रोधकारितकाय संरम्भ, मानकारितकाय सरम्भ, मायाकारितकाय सरम्भ, लोभकारितकाय सरम्भ, क्रोधानुमतकाय सरम्भ, मानानुमतकाय सरम्भ, मायानुमतकाय सरम्भ और लोभानुमतकाय सरम्भ । इस प्रकार सरम्भ के वारह भेद है । क्रोधकृतकाय समारम्भ, मानकृतकाय समारम्भ, मायाकृतकाय समारम्भ,

---

१. जैनेन्द्र ४।२।४८।

कायसरम्भः, लोभानुमतकायसरम्भश्चेति द्वादशधा संरम्भ.। क्रोधकृतकायसमारम्भ', मानकृतकायसमारम्भ., मायाकृतकायसमारम्भः, लोभकृतकायसमारम्भ , क्रोधकारितकायसमारम्भः, मानकारितकायसमारम्भ', मायाकारितकायसमारम्भ , लोभकारितकायसमारम्भ', क्रोधानुमतकायसमारम्भ , मानानुमतकायसमारम्भ , मायानुमतकायसमारम्भ , लोभानुमतकायसमारम्भश्चेत्येव समारम्भोऽपि द्वादशधा। क्रोधकृतकायारम्भ , मानकृतकायारम्भ , मायाकृतकायारम्भ , लोभकृतकायारम्भ , क्रोधकारितकायारम्भ , मानकारितकायारम्भः, मायाकारितकायारम्भ', लोभकारितकायारम्भः, क्रोधानुमतकायारम्भ , मानानुमतकायारम्भ., मायानुमतकायारम्भः, लोभानुमतकायारम्भश्चेत्येवमारम्भोऽपि द्वादशधा। एते सपिण्डिता. कायविकल्पा षट्त्रिशत्। उक्तं च–

संरम्भो द्वादशधा क्रोधादिकृतादिकायसंयोगात्।
आरम्भसमारम्भौ तथैव भेदास्तु षट्त्रिशत् ॥ इति।

तथा वाङ्मनसयोरपि प्रत्येकं षट्त्रिशत्। त एते सपिण्डिता जीवाधिकरणास्रवभेदा. अष्टोत्तरशतसख्या भवन्ति।

चशब्दः क्रोधादिविशेषोपसंग्रहार्थः। २०। चशब्दः क्रियते क्रोधादीना विशेषाणाम् उपसग्रहार्थम्। तेन अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनषोडश-

---

लोभकृतकाय समारम्भ, क्रोधकारितकाय समारम्भ, मानकारितकाय समारम्भ, मायाकारितकाय-समारम्भ, लोभकारितकाय समारम्भ, क्रोधानुमतकाय समारम्भ, मानानुमतकाय समारम्भ, माया-नुमतकाय समारम्भ और लोभानुमतकाय समारम्भ ये बारह समारम्भ के भेद है। क्रोधकृत-कायारम्भ, मानकृतकायारम्भ, मायाकृतकायारम्भ, लोभकृतकायारम्भ, क्रोधकारितकायारम्भ, मानकारितकायारम्भ, मायाकारितकायारम्भ, लोभकारितकायारम्भ, क्रोधानुमतकायारम्भ, माना-नुमतकायारम्भ, मायानुमतकायारम्भ और लोभानुमतकायारम्भ, इस प्रकार आरम्भ के भी बारह भेद है, ये सब मिलकर काययोग के छत्तीस भेद होते है।

कहा भी है—क्रोधादि और कृतादि के द्वारा कायसरम्भ बारह प्रकार का है। इसी प्रकार समारम्भ और आरम्भ के साथ कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोध, मान, माया, लोभ का काययोग के साथ सयोग करने से बारह-बारह भेद होते है। काय के साथ आस्रव के ये छत्तीस भेद है, ऐसे ही वचनयोग और मनोयोग के साथ छत्तीस-छत्तीस भेद करने चाहिए। इन सबका जोड़ करने पर जीवाधिकरण आस्रव के कुल एक सौ आठ भेद होते है ॥ १९ ॥

सूत्र मे 'च' शब्द क्रोधादि कषायो के विशेषो का सग्रह करने के लिए है। अर्थात् 'च' शब्द से कषायों के भेद और उपभेदो का भी ग्रहण हो जाता है। अतः अनन्तानुबन्धी,

कषायभेदात् द्वात्रिंशदुत्तरचतुःशतगणनाविकल्पा वेदितव्याः। कथमेषामास्रवत्वमिति चेत् ? उच्यते–

सरम्भादीनां क्रोधाद्याविष्टपुरुषकर्तृकाणां तदनुरञ्जनादधिकरणभावो नीलीपटवत् । २१ । यथा नील्या प्रक्षिप्तः पटः नील्यनुरञ्जनान्नीली भवति तथा सरम्भादिक्रियाणामनन्तानुबन्ध्यादिकषायाविष्टानामनुरञ्जनाज्जीवाधिकरणत्वं सिद्धम् ।

निरूपितविकल्पादाद्यादधिकरणाद्विलक्षण[1]स्य साम्परायिकनिमित्तविरूढदोषस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

निर्वर्तनादीनां कर्मसाधनं भावो वा । १ । एते निर्वर्तनादय शब्दाः कर्मसाधनाः वेदितव्या –निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना, निक्षिप्यत इति निक्षेप., सयुज्यतेऽसौ संयोगः,

---

अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन कषाय के सोलह भेदो से गुणा करने पर जीवाधिकरण आस्रव के चार सौ बत्तीस भेद भी होते है। प्रश्न—सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ आदि के आस्रवत्व कैसे है ? ॥ २० ॥

उत्तर—क्रोधादि से आविष्ट पुरुष के द्वारा कृत सरम्भ आदि क्रियाएँ कषायो से अनुरजित होने से, नीले वस्त्र के समान अधिकरण भाव को प्राप्त होती है। जैसे नीले रग मे डाला गया वस्त्र नीले रग से अनुरञ्जित होने से नीला हो जाता है, उसी प्रकार सरम्भ आदि क्रियाएँ अनन्तानुबन्धी आदि कषायो से अनुरजित होती है, अत इन सरम्भादि मे भी जीवाधिकरणत्व सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

निरूपित विकल्प वाले आदि अधिकरण से विलक्षण साम्परायिक निमित्तारूढ दोष के भेदो का ज्ञान कराने के लिये किये गये अजीवाधिकरण के भेद कहते है—

दो प्रकार की निर्वर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग और तीन प्रकार का निसर्ग ये अजीवाधिकरण से होने वाले आस्रव के भेद हैं ॥ ९ ॥

निर्वर्तना आदि शब्द भाव-साधन और कर्म-साधन दोनो है। ये निर्वर्तना आदि शब्द कर्म-साधन और भाव-साधन दोनो से निष्पन्न होते है। 'निर्वर्त्यते', जो रचता है वा जिसके द्वारा रचना की जाती है वह निर्वर्तना है। अतः जैसे—निर्वृत्त करना निर्वर्तना है वैसे ही 'निक्षिप्यते इति निक्षेपः' जो रखा जाता है वह निक्षेप है। 'सयुज्यते' सयोग किया जाता है,

---

१ पुद्गलाधिकरणस्य ।

निसृज्यतेऽसौ निसर्ग इति। अथवा भावसाधना –निर्वर्तन निर्वर्तना निक्षिप्तिर्निक्षेप, सयुक्ति संयोग, निसृष्टिर्निसर्ग इति।

सामानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन वाऽधिकरणसंबन्धः । २ । अधिकरणशब्दोऽनुवर्तते, तस्येह सामानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन वाभिसबन्धो द्रष्टव्य.। यदा कर्मसाधना एते शब्दास्तदा सामानाधिकरण्येन सबन्ध. कर्त्तव्य–निर्वर्तनैव अधिकरणमित्यादि। यदा तु भावसाधनास्तदा वैयधिकरण्येन, निर्वर्तनानिक्षेपसयोगनिसर्गलक्षणा भावा परमधिकरण विशिषन्तीति अध्याह्रियमाणक्रियापदापेक्षया कर्मनिर्देश[१]। निर्वर्तना निष्पादना, निक्षेप स्थापना, संयोगो [२]मिश्रीभाव, निसर्ग प्रवर्तनम्।

द्विचतुर्द्वित्रिभेदा इति द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः । ३ । द्वौ च चत्वारश्च द्वौ च त्रयश्च द्विचतुर्द्वित्रय, ते भेदा एषा ते द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः इति द्वन्द्वगर्भोऽन्यपदार्थ[३]निर्देश प्रत्येतव्य।

मिलाया जाता है वह सयोग है। 'निसृज्यते' जो प्रवर्ताया जाए वह निसर्ग कहलाता है। अथवा निर्वृत्तिमात्र निर्वर्तना, निक्षेपण मात्र निक्षेप, सयुक्ति मात्र सयोग और निसृष्टि मात्र निसर्ग इस प्रकार ये निर्वर्तना आदि भावसाधन भी है ।। १ ।।

समानाधिकरण और वेयधिकरण से अधिकरण के साथ सम्वन्ध लगाना चाहिये। अधिकरण शब्द अनुवर्त्तन कर रहा है, अधिकरण का प्रकरण चल रहा है। उससे निर्वर्तना आदि के साथ सम्बन्ध लग जाता है। समानाधिकरण और वैयधिकरण भेद से अधिकरण दो प्रकार का है। उसमे समानाधिकरण का प्रयोग करते है, जव निर्वर्तना आदि शव्द कर्मसाधन हैं, तव 'निर्वर्तना ही अधिकरण है', ऐसा समानाधिकरण रूप से अधिकरण शव्द का सम्वन्ध करना चाहिए। जिस समय भावसाधन का प्रयोग करते हैं तव 'विशिष्यन्ति' क्रिया का अध्याहार करके 'निर्वर्तना, निक्षेप, सयोग और निसर्ग लक्षण भाव अन्य अधिकरण को विशिष्ट करते हैं' ऐसा वैयधिकरण (भिन्न अधिकरण) रूप से अधिकरण शव्द का सम्वन्ध कर लेना चाहिये। निर्वर्तना-निष्पादन या उत्पत्ति को कहते है। स्थापना, रखना आदि को निक्षेप कहते है। एक-दूसरे के साथ मिश्रण करना, सयोग करना, मिलाना आदि को सयोग कहते हैं और प्रवृत्ति-प्रवर्तन को निसर्ग कहते है ।। २ ।।

दो चार दो तीन है भेद जिसके ऐसा द्वन्द्वगर्भित वहुव्रीहिसमास 'द्विचतुर्द्वित्रिभेदा.' मे समझना चाहिये ।। ३ ।।

---

१. परमिति। २. मिश्रभावः मु, द, व। ३ –र्थ प्र–मु, द, व।

परवचनमनर्थकं पूर्वत्राद्यवचनात् । ४ । परवचनमनर्थकम् । कुतः ? पूर्वत्राद्यवचनात् ।

अस्मिन् सति पूर्वत्राद्यवचनमनर्थकम् अर्थापत्तिसिद्धेः । ५ । अस्मिन् परवचने सति पूर्वस्मिन् सूत्रे आद्यवचनमनर्थकम् । कुतः ? [1]अर्थापत्तिसिद्धेः ।

अर्थापत्तिरनैकान्तिकीति चेत्; न; प्रयासमात्रत्वात् । ६ । स्यादेतत्–अर्थापत्तिरनैकान्तिकी दृष्टा, यथा हि असति मेघे वृष्टिर्नास्तीत्युक्ते अर्थादापन्नं सति मेघे वृष्टिरस्तीति, सत्यपि मेघे कदाचिद्वृष्टिर्नास्तीत्यर्थापत्तिरनैकान्तिकीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रयासमात्रत्वात् । प्रयासमात्रमेतत्–अर्थापत्तिरनैकान्तिकीति । 'अहिंसा धर्मः' इत्युक्ते अर्थापत्त्या 'हिंसा अधर्मः' इति न न सिद्ध्यति ? सिद्ध्यत्येव । असति मेघे न वृष्टिरित्युक्ते सति मेघे वृष्टिरित्यत्रापि सत्येव[2] मेघे इति नास्ति दोषः ।

असंबन्धार्थत्वादिति चेत्; न; निवर्त्याभावात् । ७ । स्यादेतत्–असति परशब्दे असंबन्धार्थमिदं[3] स्यात्, ततः संबन्धार्थं परशब्दोपादानमिति; तन्न; किं कारणम् ? निवर्त्याभावात् । किमन्यन्निवर्त्यमस्ति येनेदमसंबन्धः स्यात् ? ननु संरम्भादिकं

प्रश्न—पूर्व सूत्र मे 'आद्य' वचन होने से इस सूत्र मे 'पर' शब्द अनर्थक है ।। ४ ।।

वा, इस सूत्र मे 'पर' शब्द देने से पूर्वसूत्रकथित 'आद्य' शब्द निरर्थक हो जाता है, क्योकि सारा प्रयोजन अर्थापत्ति से सिद्ध हो जाता है ।। ५ ।।

अर्थापत्ति को अनैकान्तिक कहना भी प्रयास मात्र होने से उचित नही है, क्योकि 'अहिंसा धर्म है' यह कहने से जिस प्रकार 'हिंसा अधर्म है' यह सिद्ध होता ही है, उसी प्रकार मेघ के अभाव मे वृष्टि नही होती, यह कहने से मेघ के होने पर वृष्टि होती है, यह भी सिद्ध होता ही है । कभी मेघ के होने पर भी वृष्टि नही होती है तब इतना कह सकते है कि वृष्टि मेघ होने पर ही होती है मेघ के अभाव मे वृष्टि नही होती । अतः अर्थापत्ति अनैकान्तिक है, ऐसा कहना उचित नही है ।। ६ ।।

'पर' शब्द यदि न दिया जाएगा तो यह सूत्र असम्बद्ध हो जाएगा, यह भी समाधान ठीक नही है क्योकि यहाँ कोई निवर्त्य नही है । पर शब्द के नही होने पर अर्थ का सम्बन्ध नही रहेगा अत. अर्थ के सम्बन्ध के लिए 'पर' शब्द का प्रयोग किया गया है । ऐसा भी कहना उपयुक्त नही है क्योकि इसमें निवर्त्य का अभाव है कोई अन्य निवर्त्य ही नही है जिसका 'पर' शब्द के साथ

---

१. सामर्थ्यं । २. वृष्टिकाले सत्येव मेघे वृष्टिर्भवति । ३ सूत्रम् ।

जीवाधिकरण निवर्त्यमस्ति, न; तस्य [1]सबन्धत्वादाद्यं जीवाधिकरणं संरम्भादिविशिष्टमिति । ततः परिशेषात् अजीवाधिकरणमेवेदमिति व्यर्थं परवचनम् ।

एतेन प्रकृष्टवाचित्वं प्रत्युक्तम् । ८ । केन ? निवर्त्याभावात् इत्यनेन । न हि [2]निकृष्ट [3]जीवाधिकरणं यत्प्रकृष्टेनाऽजीवाधिकरणेन निवर्त्येत इति ।

इष्टवाचित्वमिति चेत्; न; अत एव । ९ । स्यादेतत्–इष्टवाची परशब्द इति, यथा परं धाम गत इति इष्ट धाम गत इति, तन्न; किं कारणम् ? अत एव ? कुत एव ? निवर्त्याभावात् इति,[4] एव किमनिष्टं यस्मिन् सति निवर्त्ये इष्टवाची परशब्दोऽर्थवान् स्यात् ?

[5]**न वा अन्यार्थत्वात् । १० ।** न वाऽनर्थक. । कुत ? अन्यार्थत्वात् । परशब्दोऽयमन्यार्थ., सरम्भादिभ्योऽन्यत् निर्वर्तनादीत्यर्थ । इतरथाहि निर्वर्तनादीनामप्यात्मपरिणामसद्भावाज्जीवाधिकरणविकल्प एवेति विज्ञायेत । अथवा, उक्तमेतत्–विस्पष्टार्थत्वादिति ।

सम्बन्ध किया जाय । कोई ऐसा वाक्य नही है-जिसका परशब्द से सम्बन्ध का प्रयोग हो । यदि कहो कि सरम्भ आदि जीवादि अधिकरण यहाँ निवर्त्य है तो उन आद्य जीवाधिकरण का तो सरम्भ आदि से सम्बन्ध हो ही गया है । अत परिशेषन्याय से ये अजीवाधिकरण हो ही जाते हैं । अतः सूत्र मे 'पर' वचन व्यर्थ है पूर्व मे 'आद्य' वचन होने से ।। ७ ।।

'पर' शब्द को प्रकृष्टवाची कहना भी ठीक नही है, क्योकि उसका खण्डन तो पूर्व मे किया है। अथवा, जोवाधिकरण निकृष्ट तो है नही जिसका प्रकृष्ट अजोवाधिकरण से निराकरण किया जाये ।। ८ ।।

इसी प्रकार 'पर' शब्द को 'परधाम को गये' अर्थात् इष्टधाम को गये । इसकी तरह इष्टवाची भी नही कह सकते क्योकि यहाँ अनिष्ट क्या है जिसकी निवृत्ति के लिए परशब्द को इष्टवाची कहा जाय ? अतः निवर्त्य वस्तु का अभाव होने से इष्टवाची भी परशब्द नही है ।। ९ ।।

उत्तर—परशब्द व्यर्थ नही है क्योकि उसका अर्थ भिन्न ही है । यह परशब्द भिन्नार्थक है अर्थात् सरम्भ आदि से निर्वर्तना आदि भिन्न है । अन्यथा निर्वर्तना आदि को भी आत्मपरिणामरूपता आ जाने से जोवाधिकरणत्व का प्रसग प्राप्त होता है । इसलिये परशब्द सूत्र मे दिया गया है । अथवा, पूर्व मे कह दिया है कि आद्य की तरह 'पर' शब्द भी स्पष्ट अर्थबोध कराने के लिए है ।। १० ।।

---

१. सम्बन्धत्व कथमित्यत आह । २. तत् । ३. सूत्रकारस्योभावऽपि जीवपुद्गलौ प्रकृष्टाविति भाव ।
४ इत्येव किं –मु , ब । ५. अत्राह आचार्य ।

इष्टार्थसंप्रत्ययाद्वा । ११ । अथवा [1]इष्टार्थोऽनेन [2]परशब्देन [3]संप्रत्याय्यते । क: पुनरिष्टार्थ इति चेत् ? उच्यते–

निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलोत्तरभेदात् । १२ । अजीवाधिकरणं निर्वर्तनालक्षणं द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुत ? मूलोत्तरभेदात् । मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणम् उत्तरगुण-निर्वर्तनाधिकरण चेति । तत्र मूल पञ्चविधानि शरीराणि वाङ्मन.प्राणापानाश्च । [4]उत्तर काष्ठपुस्तचित्रकर्मादि ।

निक्षेपश्चतुर्धा अप्रत्यवेक्षादुष्प्रमार्जनसहसाऽनाभोगभेदात् । १३ । निक्षेपश्चतुर्धा भिद्यते । कुत. ? अप्रत्यवेक्षादुष्प्रमार्जनसहसाऽनाभोगभेदात्–अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणम् [5]अनाभोगनिक्षेपाधिकरण चेति ।

संयोगो द्विधा भक्तपानोपकरणभेदात् । १४ । सयोगो द्विधा विभज्यते । कुतः ? भक्तपानोपकरणभेदात्–भक्तपानसयोगाधिकरणम् उपकरणसयोगाधिकरण चेति ।

अथवा, इस 'पर' शब्द के ग्रहण से इष्ट अर्थ का प्रत्यय-बोध होता है, इसलिए 'पर' शब्द का प्रयोग किया गया है । **प्रश्न**–इष्ट अर्थ क्या है ? ।। ११ ।।

उत्तर–मूल और उत्तर गुण के भेद से निर्वर्तना लक्षण अजीवाधिकरण दो प्रकार का है–मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण । पाँच प्रकार के शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास ये मूलगुणनिर्वर्तना है और काष्ठ, पुस्त, चित्रकर्मादि उत्तरगुणनिर्वर्तना है। अर्थात् पाँच प्रकार के शरीर, मन, वचन, काय और श्वासोच्छ्वास इनकी रचना करना मूलगुण निर्वर्तना है और काष्ठ, पाषाण, वस्त्र आदि के चित्राम बनाना, जीव के खिलौने बनाना, लिखना आदि उत्तरगुणनिर्वर्तना है ।। १२ ।।

किसी वस्तु के रखने को निक्षेप कहते है । इसके चार भेद है–अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण, सहसा निक्षेपाधिकरण और अनाभोग निक्षेपाधिकरण । (१) बिना देखे हुए किसी वस्तु को रख देना **अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण** है। (२) ठीक तरह से न शोधी हुई भूमि पर किसो वस्तु को रखना **दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण** है। (३) शीघ्रतापूर्वक किसी वस्तु को रखना **सहसा निक्षेपाधिकरण** है। (४) किसी वस्तु को बिना देखे अयोग्य स्थान मे चाहे जहाँ रखना **अनाभोग निक्षेपाधिकरण** है ।। १३ ।।

भक्तपान और उपकरण के भेद से सयोग दो प्रकार का है। मिलाने का नाम सयोग है, वह सयोग दो प्रकार का है। भक्तपान सयोगाधिकरण और उपकरण सयोगाधिकरण । १. किसी

---

१ –र्थं तेन मु । २ व्यर्थेनापि । ३ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्ट सूचयन्त्याचार्यस्येति न्यायात् । ४ पृथग्विक्रियारूपम् । ५. आभोग परिपूर्णता, तदभाव असम्पूर्णन्यासाधिकरणमित्यर्थ ।

निसर्गस्त्रिधा कायादिभेदात् । १५ । निसर्गस्त्रिधा कल्प्यते । कुत: ? कायादिभेदात् । कायनिसर्गाधिकरण वाङ्निसर्गाधिकरण मनोनिसर्गाधिकरण चेति ।

आह–योऽयम् आहितत्रैविध्यानन्तपर्याय कायवाङ्मनसा परिणाम आस्रवशब्दाभिलाप्य., किमसौ सकलसाम्परायिकावर्जनहेतुरैकध्येन[1] प्रणिधीयमान. ? नेत्युच्यते, कश्चित् कस्यचित् कुतश्चित् कायिकादिव्यापाराविशेषे सति यस्मान्नियमेनैव–

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो: ।। १० ।।

ज्ञानकीर्तनानन्तरमनभिव्याहरतोऽन्त: पैशुन्यं प्रदोष: । १ । मत्यादिज्ञानपञ्चकस्य

अन्नपान को दूसरे अन्नपान मे मिलाना **भक्तपान संयोगाधिकरण** है । २. कमण्डलु, पुस्तक आदि उपकरणो को दूसरे उपकरणो के साथ मिलाना **उपकरण सयोगाधिकरण** है ।। १८ ।।

प्रवृत्ति करने को निसर्ग कहते है । कायादि के भेद से निसर्ग तीन प्रकार का है—कायनिसर्गाधिकरण, वाक्निसर्गाधिकरण और मनोनिसर्गाधिकरण ।। १५ ।।

काय की स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करना कायनिसर्ग है । वचन की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना वाङ्निसर्गाधिकरण है और स्वेच्छानुसार मानसिक प्रवृत्ति मनोनिसर्गाधिकरण है । प्रश्न—जो ये तीन प्रकार के मन, वचन, काय के आस्रव शब्द से कहने योग्य अनन्त पर्याय रूप परिणाम हैं क्या वे एकत्व प्रकार से प्रणिधीयमान सकल साम्परायिक आस्रव के अर्जन मे हेतु है ? उत्तर—सकल आस्रव के हेतु एकत्व रूप से नही है अपितु किसी के कही पर कायादि व्यापार की विशेषता होने पर विशिष्ट रूप से नियम से होते है, वे विशेष कारण कहते है—

प्रदोष (दूसरों के गुणों को देखकर भीतर-भीतर जलना), निह्नव (किसी बहाने से ज्ञान को छिपाना), मात्सर्य भाव (देने योग्य ज्ञान को भी किसी बहाने से न देना), अन्तराय (कलुषता से ज्ञान का व्यवच्छेद करना), आसादन (दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान को किसी कारणवश प्रकट नही होने देना), उपघात (किसी के समीचीन ज्ञान में दूषण लगाना), इन कारणों से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है ।। १० ।।

किसी के ज्ञानकीर्तन (महिमा सुनने) के अनन्तर मुख से कुछ न कहकर अन्तरग मे

---

१ एकप्रकारत्वेन ।

मोक्षप्रापणं प्रति मूलसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचित् अनभिव्याहरतः अन्तःपैशुन्य-परिणामो यो भवति स प्रदोष इति कथ्यते ।

पराभिसन्धानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः । २ । यत्किञ्चित् परनिमित्तमभिसन्धाय नास्ति[1] न वेद्मीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनं वञ्चनं निह्नव इत्युच्यते ।

यावद्यथावद्देयज्ञानाप्रदानं मात्सर्यम् । ३ । कुतश्चित् कारणात् आत्मना भावित-ज्ञान दानार्हमपि योग्याय यतो न दीयते तन्मात्सर्यम् ।

ज्ञानव्यवच्छेदकरणम् अन्तरायः । ४ । कलुषेणात्मना ज्ञानस्य व्यवच्छेदकरण-मन्तराय इति भण्यते ।

वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनम् । ५ । कायेन वाचा च परप्रकाशज्ञानस्य वर्जनमासादनं वेदितव्यम् ।

पिशुनभाव होना, ताप होना प्रदोष है । मोक्ष की प्राप्ति के साधनभूत मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों की वा ज्ञान के धारी की प्रशसा करने पर वा उसकी प्रशसा सुनने पर मुख से कुछ नही कह करके मानसिक परिणामो मे पैशून्य होता है वा अन्त.करण मे उसके प्रति जो ईर्ष्या का भाव होता है, वह प्रदोष कहलाता है । तत् अर्थात् ज्ञान एव दर्शन का प्रदोष तत्प्रदोष है ।। १ ।।

दूसरे के अभिसन्धान से ज्ञान का व्यपलाप करना निह्नव है । यत् किञ्चित् परनिमित्त को लेकर किसी बहाने से किसी बात को जानने पर भी मैं इस बात को नही जानता हूँ, पुस्तक आदि के होने पर भी 'मेरे पास पुस्तक आदि नही है ।' इस प्रकार ज्ञान को छिपाना ज्ञान का व्यपलपन करना, ज्ञान के विषय मे वञ्चन करना निह्नव है ।। २ ।।

देय ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिये नही देना मात्सर्य है । किसी कारण से आत्मा के द्वारा भावित, देने योग्य ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिए नही देना मात्सर्य है ।। ३ ।।

ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है । कलुषता के कारण ज्ञान का व्यवच्छेद करना, कलुषित भावो के वशीभूत होकर ज्ञान के साथ पुस्तक आदि का व्यवच्छेद करना, नाश करना, किसी के ज्ञान मे विघ्न डालना अन्तराय है ।। ४ ।।

वचन और काय से वर्जन करना आसादना है । दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का काय एवं वचन से वर्जन (गुण-कीर्तन, विनय आदि नही करना) करना आसादना है ।। ५ ।।

---

१. ज्ञातमप्यर्थम् ।

प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः । ६ । स्वमतेः कलुषभावाद् युक्तस्याप्ययुक्तवत्प्रतीतेः दोषोद्भावन दूषणमुपघात इति विज्ञायते ।

आसादनमेवेति चेत्; न; सतो विनयाद्यननुष्ठानात् । ७ । स्यादेतत्–एव सति उपघात आसादनमेव [1]प्राप्नोतीति; तन्न; कि कारणम् ? सतो विनयाद्यननुष्ठानात् सतो हि ज्ञानस्य विनयप्रकाशनादिगुणकीर्तनाननुष्ठानमासादनम्, उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञाननाशाभिप्राय इत्ययमनयोर्भेद । तदित्यनेन कि प्रतिनिर्दिश्यते ?

तदिति ज्ञानदर्शनप्रतिनिर्देशः । ८ । तदित्यनेन ज्ञानदर्शने प्रतिनिर्दिश्येते, तयोः प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाताः तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता इति । कथ पुनरप्रकृतयोरशब्दितयोः[2] तदित्यनेन परामर्श स्यात् ?

सामर्थ्यात्तदभिसंबन्धः । ९ । सामर्थ्यात्तयोर्ज्ञानदर्शनयोः अभिसवन्धो भवति ।

प्रशस्त ज्ञान मे दूषण लगाना उपघात है। स्वकीय बुद्धि और हृदय की कलुपता के कारण प्रशस्त ज्ञान भी अप्रशस्त, युक्त भी अयुक्त प्रतीत होता है अत. समीचीन ज्ञान मे भी दोपो का उद्भावन करना, झूठा दोषारोपण करना उपघात कहलाता है, वा उसको उपघात जानना चाहिये ।। ६ ।।

आसादना और उपघात भिन्न नही है, ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि सत् का विनयादि अनुष्ठान होने से । प्रश्न—आसादना और उपघात का एकसा लक्षण होने से दोनो मे एकत्व है, अर्थात् आसादना ही उपघात है ? उत्तर—आसादना और उपघात मे एकत्व नही है क्योंकि आसादना मे विद्यमान ज्ञान का विनय-प्रकाशन, गुणकीर्तन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघात मे ज्ञान को अज्ञान कहकर ज्ञान का ही नाश किया जाता है। अथवा, ज्ञान के नाश करने का अभिप्राय रहता है, अत. आसादना और उपघात मे भेद स्पष्ट है ।। ७ ।।

'तत्' शब्द से ज्ञान-दर्शन ग्रहण किये जाते है। 'तत्' शब्द से ज्ञान-दर्शन के प्रति निर्देश किया गया है। अर्थात् ज्ञान और दर्शन के प्रति प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं। प्रश्न—इस सूत्र के पूर्व ज्ञान, दर्शन का प्रकरण नही है तथा ज्ञान, दर्शन शब्द का प्रयोग नही है फिर कैसे जाना जा सकता है कि 'तत्' शब्द ज्ञान और दर्शन का परामर्शक है ? ।। ८ ।।

उत्तर—सामर्थ्य से तत् शब्द का ज्ञानावरण, दर्शनावरण से सम्बन्ध हो जाता है। प्रश्न—सामर्थ्य क्या है ? उत्तर—ज्ञानावरण और दर्शनावरण का आस्रव है। ऐसा कहने से

---

१ प्राप्नोति तन्न मु, द.। २. अशब्दितयो अनुक्तयो । अननुब्दित मु, द, मू ता, व ।

किं सामर्थ्यम् ? ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रव इति वचनसामर्थ्यात्तत्प्रदोषादय इति संबन्धः क्रियते। अथ ज्ञानदर्शनवत्सु तत्साधनेषु च [1]का प्रतिपत्तिः ? तद्वत्साधनप्रदोषादयश्च[2] तत्प्रदोषादिग्रहणेनैव गृह्यन्ते तन्निमित्तत्वात्।

तुल्यास्रवत्वादेकत्वमिति चेत्; न; वचनविरोधात्[3] । १० । स्यान्मतम्—तुल्यास्रवत्वादनयोरेकत्वं प्राप्नोति, [4]तुल्यकारणाना हि लोके एकत्वं दृष्टमिति, तन्न, किं कारणम् ? वचनविरोधात्। यदि तुल्यास्रवत्वात् ज्ञानदर्शनावरणयोरेकत्व ननु कण्ठादिसंयोगविभागतुल्यहेतुत्वात् वचनस्य साधकदूषकत्वाविशेषे [5]यत्रापदिष्टस्तत्राऽसाधकत्वाद्वचनविरोध। अथ तुल्यहेतुत्वेऽपि वचनं स्वपक्षस्य साधकमेव परपक्षस्य दूषकमेवेति न साधकदूषकधर्मयोरेकत्वमिति मतम्; ननु यदुक्तं तुल्यहेतुत्वादेकत्वमिति तद्धीनम्।

दृष्टागमव्याघातात् । ११ । दृष्टागमव्याघाताच्च नैतद्युक्तम्। यस्य तुल्यहेतु-

---

ज्ञात होता है कि प्रदोष आदि ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी है। ज्ञान दर्शन वालो और उनके साधनो मे क्या प्रतिपत्ति है वा ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव कौन है ? ऐसा किसी के प्रश्न के उत्तर मे यह सूत्र बनाया गया है कि ज्ञान, दर्शन वालो के प्रदोष आदि और ज्ञान, दर्शन के साधनो के प्रदोष आदि भी 'तत्प्रदोष' शब्द से ग्रहण कर लेने चाहिये अर्थात् 'तत्' शब्द का अर्थ है—ज्ञान, दर्शन और ज्ञान, दर्शन के धारी तथा ज्ञान, दर्शन के साधनो मे प्रदोष (झूठे दोषो का उद्भावन) आदि ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के बन्ध के कारण है ॥ ९ ॥

प्रश्न—ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण तुल्य है अतः दोनो को एक कहना चाहिए क्योकि लोक मे जिनके कारण समान होते है उनमे एकत्व देखा जाता है। **उत्तर**—तुल्य कारण वालो मे ऐक्य मानने मे स्ववचन विरोध आता है। क्योकि यदि तुल्य कारण होने से कार्यरूप ज्ञानावरण और दर्शनावरण मे ऐक्य माना जाय तो वचन के कारण कण्ठ, ओठ आदि के सयोग और विभाग रूप तुल्य हेतुत्व होने से तथा वचन के साधक-दूषकत्व की अविशेषता होने से जहाँ पर जो वचन कहा है वह या तो साधक होना चाहिए या दूषक ही। इस प्रकार स्ववचन विरोध होगा। यदि एक हेतुक होने पर भी वचन स्वपक्ष के ही साधक तथा परपक्ष के ही दूषक होते है तो 'तुल्य हेतु होने से कार्यैक्य होता है' इस वचन का विरोध हो जायेगा ॥ १० ॥

कारण तुल्य होने से कार्य तुल्य होना चाहिये। इस पक्ष मे दृष्ट (प्रत्यक्ष) और आगम इन

---

१. उभयत्रापि तत्प्रदोषादयो भवन्तीति। २ तद्वत्सु साधनेषु च प्रदोषादय ते तथोक्ता। ३ य समयस्थः सन् ब्रूते तस्य आप्तवचनोल्लङ्घनत्वात् वचनविरोध। य पर. सन् ब्रूते तस्य स्वसमयविरोधात् वचनविरोध.। ४. शालिबीजकारणमङ्कुर शाल्यङ्कुर-मित्यादि। ५. यत्रोपदि मु श्र.।

कानामेकत्वं तस्य मृत्पिण्डादितुल्यहेतुकानां घटशरावादीनां नानात्वं व्याहन्यत इति दृष्टव्याघातः। [१]प्रधानतुल्य-निमित्ताना महदहङ्कारादीनाम्, [२]अविद्यातुल्यप्रत्ययानां पुण्यापुण्यानेञ्यसंस्काराणाम्, [३]चतुष्टयसन्निकर्षाऽविशिष्टकारणरूपादिज्ञानसुखदुःखादीना चैकत्वमित्यागमव्याघात.।

आवरणाभावे साहचर्यात्। १२। आवरणात्यन्तसक्षये केवलिनि युगपत् केवलज्ञानदर्शनयो. साहचर्य भास्करे प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत्। ततश्चानयोस्तुल्यास्रवत्व युक्तम्।

इतरत्र क्रमवृत्तिर्जलसमवेताग्निप्रतापप्रदीपप्रकाशवत्। १३। इतरस्मिन् सावरणे ज्ञानदर्शनयो. क्रमेण वृत्ति, यथा जलसमवायिनोऽग्ने. प्रताप एव न प्रकाश, प्रदीपप्रकाशस्य च प्रकाश एव न प्रताप, तथा छद्मस्थस्य यदा ज्ञानोपयोग. न तदा दर्शनोपयोग. यदा दर्शनोपयोगः न तदा ज्ञानोपयोग.।

दोनो से विरोध आता है। क्योकि मिट्टी के पिण्डरूप तुल्य हेतु वाले घट-घटी, शराव, उदञ्चन, सकोरादि अनेक कार्यो का व्याघात होता है, यह प्रत्यक्ष विरोध है। अर्थात् एक मृत्पिण्ड तुल्य कारण होने पर भी घट-सकोरा आदि नाना कार्य प्रत्यक्ष सिद्ध है। साख्य, एक प्रधान तुल्य कारण से महान् अहकार आदि नाना कार्य मानते है। बौद्ध अविद्या रूप तुल्य कारणो से पुण्य-अपुण्य और अनुभय सस्कारो की उत्पत्ति मानते है। वंशेषिक चतुष्टय सन्निकर्ष रूप अविशिष्ट (एक) कारण से रूपादि ज्ञान, सुख-दु ख आदि नाना कार्यो की उत्पत्ति मानते है। इस प्रकार तुल्य कारण से तुल्य कार्य मानने से सभी के आगमविरोध दोष का प्रसग आता है। अर्थात् आगम कथन का व्याघात होता है ।। ११ ।।

आवरण के अभाव मे एक साथ उत्पन्न होते है। अथवा, आवरण के अत्यन्त सक्षय होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ प्रकट होते है, जैसे—बादलो के विघटने से सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट होता है अत· एक साथ ज्ञान, दर्शन की उत्पत्ति हाने से वा दोनो मे साहचर्य होने मे इन दोनो मे तुल्य कारणो से आस्रव मानना उचित है ।। १२ ।।

ससारी प्राणी मे ज्ञान, दर्शन की क्रम से प्रवृत्ति होती है। सावरण व्यक्ति मे ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग क्रम से प्रवृत्त होते है जैसे जल समवेत अग्नि (गर्म जल) मे प्रताप-ताप प्रकट है, प्रकाश प्रकट नही है और प्रदोप के प्रकाश मे प्रकाश प्रकट है, प्रताप प्रकट नही हे, उसी प्रकार छद्मस्थ जोवो के जिस समय ज्ञानोपयोग है, उस समय दर्शनोपयोग नही है और जिस समय दर्शनापयोग है उस समय ज्ञानोपयोग नही है; क्योकि छद्मस्थों के एक साथ दोनो नही होते ।। १३ ।।

---

१. साख्यमते-स। २ बौद्धमते। ३. नैयायिकमते।

अतीतानागतयोर्दर्शनाभावस्तल्लक्षणाभावादिति चेत्; न; निरावरणत्वात् । १४ । स्यान्मतम्–नास्त्यतीतेऽनागते च दर्शनम्, कुतः ? तल्लक्षणाभावात् । अस्पृष्टेऽविषये च ज्ञानमुत्पद्यते स्पृष्टे विषये च दर्शनम्, न ह्यतीतानागतयो. विनष्टानुत्पन्नत्वे सत्यसत्त्वात् स्पृष्टत्वविषयत्वे स्त इति तत्र ज्ञानमेव दर्शनमिति केवलिनोऽतीतानागतदर्शित्वमयुक्तम् ? तन्न, कि कारणम् ? निरावरणत्वात् । यथा भास्करस्य निरस्तघनपटलावरणस्य यत्र प्रकाशस्तत्र प्रतापः यत्र च प्रतापस्तत्र प्रकाशः, तथा निरावरणस्य केवलिभास्करस्याऽचिन्त्यमाहात्म्यविभूतिविशेषस्य यत्र ज्ञान तत्रावश्य दर्शनं यत्र च दर्शन तत्र च ज्ञानम् । किञ्च,

[1]**तद्वत्प्रवृत्तेः । १५ ।** यथा हि असद्भूतमनुपदिष्ट च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते ? किञ्च,

विकल्पात् । १६ । यथा ह्यस्पृष्टेऽविषये च [2]सावरणस्योपदेशाभावे न ज्ञानमस्तीति केवलिनोऽपि कि तद्वद्भवति ? तथा सावरणस्य विषये स्पृष्टे च दर्शनप्रवृत्ते.

दर्शनोपयोग के लक्षण का अभाव होने से अतीत-अनागत पदार्थो के दर्शन का अभाव है, ऐसा नही है क्योकि निरावरण होने से दोनो एक साथ होते है । **प्रश्न**—अतीत अनागत पदार्थो का दर्शन नही होता क्योकि 'ज्ञान अस्पृष्ट और अविषय मे भी प्रवृत्ति करता है, परन्तु दर्शन स्पृष्ट एव विषय मे प्रवृत्ति करता है । अतीत और अनागत क्रमशः विनष्ट एव अनुत्पन्न होने से स्पृष्ट और विषय नही हो सकते अत' तद्विषयक ज्ञान ही हो सकता है दर्शन नही । केवली के ज्ञान ही दर्शन है अत केवलज्ञानी को अतीतानागतदर्शी नही कह सकते । **उत्तर**—केवलज्ञानी के दर्शनोपयोग का अभाव मानना उचित नही है क्योकि निरावरण होने से युगपत् ज्ञान-दर्शनोपयोग होता है । जैसे मेघपटल के हटने पर सूर्य का जहाँ प्रकाश है वहाँ प्रताप है और जहाँ प्रताप है वहाँ प्रकाश है, उसी प्रकार निरावरण अचिन्त्य-माहात्म्यशाली केवलीसूर्य के सर्वपदार्थ विषयक ज्ञान और दर्शन एक साथ होते है अर्थात् जहाँ दर्शन है वहाँ ज्ञान है और जहाँ ज्ञान है वहाँ दर्शन है ।। १४ ।।

अथवा, ज्ञान के समान दर्शनोपयोग भी केवली के है । जैसे केवली असद्भूत और अनुपदिष्ट को जानते है, वैसे ही असद्भूत और अनुपदिष्ट को देखते भी है, इसमे आपकी क्या हानि होती है या क्या बाधा आती है ? ।। १५ ।।

किञ्च, इसमे भी विकल्प है । जैसे सावरण व्यक्ति को अस्पृष्ट और अविषय मे विना उपदेश के ज्ञान नही होता, क्या उसी तरह केवलज्ञानी को भी अस्पृष्ट और अविषय मे उपदेश के

---

१ तद्वद्वृत्ते -मु., व । २. संसारिण ।

न केवलिनस्तद्वद्भविष्यति इति सिद्धं केवलिनस्त्रिकालगोचरं दर्शनम् । भवतु तावन्निरावरणत्वात् केवलिनोऽतीतानागतयोर्दर्शनप्रवृत्तिः अवधिज्ञानिन. सावरणस्य कथ दर्शनमिति ? अत्रोच्यते–

करणनिरपेक्षक्षयोपशमशक्तिविशेषयोगादवधिज्ञानिनः । १७ । यद्यप्यवधिज्ञानिनः आवरणमस्ति तथाप्यवधिदर्शनावरणक्षयोपशमविशेषस्य करणनिरपेक्षत्वात् केवलदर्शनवत् अनुपदेशपूर्वकप्रवृत्ते. अतीतानागतयोरस्पृष्टाविषयत्वेऽपि अवधिदर्शन प्रवर्तते ।

मनःपर्यय[1]दर्शनमप्यस्त्विति चेत्; न; कारणाभावात् । १८ । यथा अवधिज्ञानं दर्शनपूर्वक तथा मनःपर्ययज्ञानेनापि दर्शनपुरस्सरेण भवितव्यमिति चेत्, तन्न, कि कारणम् ? कारणाभावात् । न मन पर्ययदर्शनावरणमस्ति दर्शनावरणचतुष्टयोपदेशात्, तदभावात् तत्क्षयोपशमाभावे तन्निमित्तमन.पर्ययदर्शनोपयोगाभाव । किञ्च,

---

अभाव मे ज्ञान नही होता ? जैसे—छद्मस्थ के समान केवली के ज्ञान की प्रवृत्ति उपदेशपूर्वक नही है वैसे हो जैसे सावरण की विषय एव स्पृष्ट मे दर्शन की प्रवृत्ति होती है वैसी केवली की नही हागो, अर्थात् केवलज्ञानो के स्पृष्ट विषय मे दर्शन नही होता । अत केवलज्ञानी के त्रिकालगोचर दर्शन मानना उचित है। शका—निरावरण केवली के अतीत अनागत पदार्थ के विषय मे दर्शन की प्रवृत्ति होती है तो हो, परन्तु सावरण अवधिज्ञानी के दर्शन कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

उत्तर—करणनिरपेक्ष तथा क्षयोपशम शक्तिविशेष के योग से अवधिज्ञानी के भी दर्शन होता है। यद्यपि अवधिज्ञानी के आवरण है तथापि तथाविध अवधि दर्शनावरण के क्षयोपशम विशेष का करणनिरपेक्षत्व होने से केवलदर्शन के समान अनुपदेशपूर्वक (उपदेश के विना) प्रवृत्ति होने से अतीत अनागत मे अस्पृष्ट और अविषयत्व होने पर भी अवधिदर्शन की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् अवधिज्ञानी के सावरण ज्ञान है फिर भी इन्द्रिय आदि अन्य कारणो की अपेक्षा रहित होने से केवलदर्शन के समान अवधिदर्शन भी अतीत अनागत विषय मे प्रवृत्तिसिद्ध है ॥ १७ ॥

कारण का अभाव होने से मनःपर्ययदर्शन नही है। **प्रश्न**—जैसे अवधिज्ञान अवधिदर्शन-पूर्वक होता है, उसी प्रकार मन पर्ययज्ञान भी दर्शनपूर्वक होना चाहिये। **उत्तर**—कारणों का अभाव होने से मन पर्ययदर्शन नही है। क्योकि चार ही दर्शनावरण वताए है, इसलिए मन पर्यय-दर्शनावरण का क्षयोपशम रूप निमित्त न होने से मन.पर्ययदर्शनोपयोग का भी अभाव है ॥ १८ ॥

---

१ –यज्ञानदर्श. –ता अ. मू. ज ।

परकीयमनःप्रणालिकया तदधिगमात् । १९ । मनःपर्ययज्ञानं स्वविषये अवधिज्ञानवत् न स्वमुखेन वर्तते । कथ तर्हि ? परकीयमन.प्रणालिकया । ततो यथा मनोऽतीतानागतानर्थाश्चिन्तयति न तु पश्यति तथा मनःपर्ययज्ञान्यपि भूतभविष्यन्तौ वेत्ति न पश्यति । वर्तमानमपि मनो [1]विषयविशेषाकारेणैव प्रतिपद्यते, ततः सामान्यपूर्वकवृत्त्यभावात् मनःपर्ययदर्शनाभावः, अलमतिप्रसङ्गिन्या कथया । प्रकृत प्रस्तूयते–

भिन्नास्रवत्वं वा प्रदोषादीनां विषयभेदाद्भेदसिद्धेः । २० । अथवा, भिन्नास्रवत्वं ज्ञानदर्शनावरणयोर्वेदितव्यम् । कुतः ? प्रदोषादीना विषयभेदाद्भेदसिद्धेः । ज्ञानविषया हि प्रदोषादयो ज्ञानावरणस्यास्रवा', दर्शनविषयाश्च दर्शनावरणस्येति । अपि च, आचार्योपाध्यायप्रत्यनीकत्व-अकालाध्ययन-श्रद्धाऽभाव - अभ्यासालस्य - अनादरार्थश्रवण-[2]तीर्थोपरोध-बहुश्रुतगर्व-मिथ्योपदेश-बहुश्रुतावमान-स्वपक्षपरिग्रहपण्डितत्व-स्वपक्षपरित्याग-अबद्धप्रलाप-उत्सूत्रवाद-साध्यपूर्वकज्ञानाधिगम-शास्त्रविक्रय-प्राणातिपातादयः ज्ञानावरण-

---

मन·पर्ययज्ञान दूसरे के मन की प्रणालिका से जानता है अतः मन पर्ययदर्शन नही है। मन·पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान की तरह स्वमुख से स्वविषय मे प्रवृत्ति नही करता है (स्वमुख से विषय को नही जानता) परन्तु परकीय (दूसरे की) मन. प्रणाली से जानता है । इसलिये मन जैसे अतीत और अनागत पदार्थो का विचार करता है, चिन्तन करता है परन्तु देखता नही है, उसी प्रकार मन पर्ययज्ञान भी भूत-भविष्यत् पदार्थो का चिन्तन करता है, विचार करता है परन्तु देखता नही है। वह वर्तमान भी मन को विषय विशेषाकार से जानता है, देखता नही। अत. सामान्य अवलोकनपूर्वक प्रवृत्ति का अभाव होने से मन पर्यय दर्शनोपयोग का अभाव है अत. यहाँ अप्रासंगिक कथा से कोई प्रयोजन नही है अर्थात् यहाँ दर्शन का कोई प्रकरण नही है अत. इसका विशेष विचार करने से कोई प्रयोजन नही है। यहाँ ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव का प्रकरण है, उसी का वर्णन करना है ।। १९ ।।

अथवा, प्रदोषादि के विषयभेद से भेद सिद्ध होने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव पृथक्-पृथक् है । ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव भिन्न-भिन्न समझने चाहिये, क्योकि विषयभेद से प्रदोषादि भिन्न हो जाते है। ज्ञानविषयक प्रदोषादि ज्ञानावरण के और दर्शनविषयक प्रदोषादि दर्शनावरण के आस्रव के कारण होते है। आचार्य और उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, अकाल मे अध्ययन करना, अश्रद्धा, शास्त्राभ्यास मे आलस्य करना, अनादर से अर्थ का श्रवण, तीर्थोपरोध (दिव्यध्वनि के काल मे स्वय व्याख्यान करने लगना), स्वकीय बहुश्रुत का गर्व करना, मिथ्योपदेश देना, बहुश्रुतवान् का अपमान वा अनादर करना, अपने पक्ष का दुराग्रह, स्वपक्ष के दुराग्रह के कारण असबद्ध प्रलाप करना, सूत्रविरुद्ध बोलना, असिद्ध से ज्ञानाधिगम

---

१ –विषये धि.–मु., द , व । २ दिव्यध्वनिकाले स्वय व्याख्याकरणम् ।

स्यास्रवा: ।· दर्शनमात्सर्याऽन्तराय-नेत्रोत्पाटनेन्द्रियप्रत्यनीकत्व-दृष्टिगौरव-आयतस्वापिता-दिवाशयनालस्य - नास्तिक्यपरिग्रह - सम्यग्दृष्टिसदूषरण - कुतीर्थप्रशसा - प्रारण्यपरोपरण-यतिजनजुगुप्सादयो दर्शनावरणस्यास्रवा, इत्यस्ति आस्रवभेद ।

यथा अनयो कर्मप्रकृत्योरास्रवभेदस्तथा—

दु:खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्था-न्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

पीडालक्षरणः परिरणामो दुःखम् । १ । विरोधिद्रव्योपनिपाताभिलषितवियोगाऽनिष्टनिष्ठुरश्रवणादिबाह्यसाधनापेक्षात् असद्वेद्योदयादुत्पद्यमान पीडालक्षरण परिरणामो दुःखमित्याख्यायते ।

अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः । २ । अनुग्राहकस्य वान्धवादे· संबन्धविच्छेदे तद्‌गताशयस्य चिन्ताखेदलक्षरण· परिरणामो वैक्लव्यविशेषो मोहकर्मविशेषशोकोदयापेक्षः शोक इत्युच्यते ।

(असिद्ध से ज्ञान-प्राप्ति), शास्त्रविक्रय और हिसादि कार्य ज्ञानावरणकर्म के आस्रव के कारण है । दर्शनमात्सर्य, दर्शनान्तराय, आँखे फोडना, इन्द्रियो के विपरोत प्रवृत्ति, अपनी दृष्टि का गर्व, बहुत देर तक सोये रहना, दिन मे सोना, आलस्य, नास्तिक्य, सम्यग्दृष्टियो मे दूषरण लगाना, कुतोर्थ-प्रशसा, जोवहिंसा और मुनिगणो के प्रति ग्लानि के भाव आदि भी दर्शनावरणकर्म के आस्रव के कारण है ॥ २० ॥

जैसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मप्रकृति के आस्रव मे भेद है, वैसे ही वेदनीयकर्म के भी आस्रवभेद है, सो कहते है—

आत्मस्थ, परस्थ और उभय में होने वाले दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन ये असाता वेदनीय के आस्रव के कारण है ॥ ११ ॥

पोडालक्षरण परिरणाम को दु ख कहते है। विरोधी पदार्थो का मिलना, अभिलपित (इष्ट) वस्तु का वियोग, अनिष्ट सयोग एव निष्ठुर वचन-श्रवरण आदि वाह्य साधनो की अपेक्षा से तथा असातावेदनीय के उदय से उत्पद्यमान पीडालक्षरण परिरणाम दुःख कहा जाता है ॥ १ ॥

अनुग्राहक के सम्बन्ध का विच्छेद होने पर वैकल्यविशेष शोक कहलाता है। अनुग्रह एव उपकार करने वाले जो वन्धु आदि है उनका विच्छेद वा वियोग हो जाने पर उसका वार-वार विचार करके जो चिन्ता, खेद और विकलता आदि मोहकर्म विशेष शोक के उदय से मानसिक ताप होता है, वह **शोक** कहलाता है ॥ २ ॥

परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्यतीव्रानुशयस्तापः । ३ । परिवादः परिभवः, परुषवचनश्रवणादिनिमित्तापेक्षया कलुषान्त करणस्य तीव्रानुशयः परिणामः ताप इत्यभिधीयते ।

परितापजाश्रुपातप्रचुरविला[1]पाद्यभिव्यक्तं क्रन्दनमाक्रन्दनम् । ४ । परितापनिमित्तेनाश्रुपातप्रचुरविलापेनाङ्गविकारादिना चाभिव्यक्त[2] क्रन्दनमाक्रन्दनं प्रत्येतव्यम् ।

आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः । ५ । भवधारणकारणस्यायुषः रूपादिग्रहणनिमित्तानाम् इन्द्रियाणा कायादिवर्गणालम्बनबलस्योच्छ्वासनि.श्वासलक्षणस्य च प्राणस्य परस्परतो वियोगकरण वध इत्यवधार्यते ।

संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रायं परिदेवनम् । ६ । सक्लेशपरिणामालम्बन स्वपरानुग्रहाभिलाषविपयम् अनुकम्पाप्रचुरं परिदेवनमिति परिभाष्यते ।

परिवादादि निमित्त के कारण कलुष अन्त.करण का तीव्र अनुशय ताप है । परिभवकारी कठोर वचन के सुनने आदि से कलुष चित्त वाले व्यक्ति के जो भीतर-ही-भीतर तीव्र जलन या अनुशय-पश्चाताप के परिणाम होते है, उसे **ताप** कहते है ।। ३ ।।

परिताप से उत्पन्न अश्रुपात, प्रचुर विलाप आदि से अभिव्यक्त होने वाला क्रन्दन ही आक्रन्दन है । मानसिक परिताप के कारण अश्रुपात, अङ्गविकार-माथा फोडना, छाती कूटना आदि पूर्वक विलाप करना, रुदन करना आदि क्रियाये होती है, वह **आक्रन्दन** है वा उसे आक्रन्दन समझना चाहिये ।। ४ ।।

आयु, इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास आदि का वियोग करना वध है । भवधारण की कारण आयु है । रूप-रसादि ग्रहण करने का साधन वा निमित्त इन्द्रियाँ है । कायादि वर्गणा का अवलम्बन श्वासोच्छ्वास लक्षण प्राण है । इन प्राणों का परस्पर विघात करना, वध कहा जाता है ।। ५ ।।

अतिसक्लेशपूर्वक स्व पर अनुग्राहक, अभिलषिन विषय के प्रति अनुकम्पा-उत्पादक रुदन परिदेवन है । अतिसक्लेश परिणामो के अवलम्बनपूर्वक ऐसा रुदन करना, विलाप करना जिसे सुनकर अपने तथा दूसरे को अनुकम्पा उत्पन्न हो जाय, उसे **परिदेवन** कहते है ।। ६ ।।

---

१. –पादभि –श्र. । २. –क्त क्रन्दन प्रत्ये –श्र , ता., मू , द ।

दुःखजातीयत्वात् सर्वेषां पृथगवचनमिति चेत्; न; कतिपयविशेषसंबन्धेन तज्जात्याख्यानात् । ७ । स्यान्मतम्–शोकादयो हि सर्वे दु खजातीया ततो दु ख-ग्रहणादेव सिद्धे पृथगेषा वचनमनर्थकमिति; तन्न, कि कारणम् ? कतिपयविशेषसबन्धेन तज्जात्याख्यानात् । यथा गौरित्युक्ते अनिर्ज्ञातविशेषे तत्प्रतिपादनार्थं खण्डमुण्डशुक्लकृष्णाद्युपादान क्रियते, तथा दु खविषयास्रवाऽसख्येयलोकभेदसभवात् दु.खमित्युक्ते विशेषानिर्ज्ञानात् कतिपयविशेषनिदर्शनेन तद्विवेकप्रतिपत्ति· कथ स्यादिति शोकाद्युपादान क्रियते । एते खल्वपि विधय सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षण च प्रपञ्चश्चे ति ।

कथञ्चिदन्यत्वोपपत्तेश्च । ८ । यथा मृत्पिण्डघटकपालादीना मूर्तिमद्रूपद्रव्यार्थादेशात् स्यादनन्यत्वम्, प्रतिनियतसस्थानादिपर्यायादेशात् स्यादन्यत्वम्, तथा दु खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानामप्रीतिसामान्यादेशात् स्याद्दु खपरिणामादनन्यत्वम्, प्रत्यर्थनियतहेतुभेदाहितविशेषदु खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनपर्यायादेशात् स्यादन्यत्वम् ।

दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः । ९ ।

यद्यपि ये सभी, दु खजातीय हैं अत इन्हे पृथक् कहना उपयुक्त नही है फिर भी कुछ विशेष सम्बन्ध से मुख्य-मुख्य को पृथग् ग्रहण किया है । प्रश्न—ये शोक, ताप आदि सर्व ही दु खजातीय है अत दु ख के ग्रहण से ताप आदि पर्यायवाची शब्दो का ग्रहण हो ही जाता है, इनका पृथक् ग्रहण करने से क्या प्रयोजन है, पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ? उत्तर—यद्यपि दु ख की ही अनन्त जातियाँ होने से ये सभी दु ख रूप हैं तथापि कुछ मुख्य-मुख्य जातियो का निर्देश किया है । जैसे 'गौ' अनेक प्रकार की होती है और केवल 'गौ' कहने से सबका ज्ञान नही हो पाता । अत खण्डी, मुण्डी, शाबलेय, श्वेत, काली आदि विशेषो को ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार दु खविषयक आस्रव के असख्येय लोकप्रमाण भेद सभव होने से दु ख ऐसा कहने पर विशेष ज्ञान न होने से कुछ विशेष निदर्शन से उसके विवेक (भेद) की प्रतिपत्ति किस प्रकार हो सके, इसलिये शोकादि को पृथक् ग्रहण किया है, जिससे ये सर्व भिन्न-भिन्न सुगृहीत होते है, इनमे दु ख का लक्षण और उसी का विस्तार है, वह सुष्ठु रीति से दु ख के पर्यायवाची शब्दो को जानने के लिये है ।। ७ ।।

कथञ्चित् दु ख, शोक, ताप आदि भिन्न-भिन्न भी है । जैसे—मिट्टी का पिण्ड, घट, कपाल आदि मूर्तिमान् रूपी द्रव्य की दृष्टि से अभिन्न है अर्थात् मृत्पिण्ड एवं घट एक है, अभिन्न हैं तथा प्रतिनियत आकार आदि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से मृत्पिण्ड और घटादि पर्यायें कथञ्चित् भिन्न-भिन्न है; उसी प्रकार अप्रीति सामान्य की दृष्टि से दु ख, शोक. ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन मे एकत्व है परन्तु विभिन्न कारणो से उत्पन्न और अभिव्यक्त पर्यायो की दृष्टि से विचार करने पर इनमें परस्पर पृथक्त्व है । अर्थात् प्रतिनियत कारणो के भेद से प्राप्त विशेष दु.ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से इनमे भिन्नत्व है ।। ८ ।।

पर्याय और पर्यायी मे भेदाभेद की विवक्षा से दु.खादि के कर्तृ साधनपना भी है और करण-

दु·खादीनां शब्दाना कर्त्रादिसाधनत्वमवसेयम् कुत· ? पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेद-विवक्षोपपत्तेः । यदा पर्यायिपर्याययोरभेदविवक्षा तदा तप्तायः पिण्डवत्तत्परिणामादात्मैव दु·खयतीति [1]कर्तृ साधनत्वम् । यदा पर्यायिपर्याययोर्भेदविवक्षा तदा दुखयत्यनेनास्मिन्निति वा दु खमिति करणादिसाधनत्वम् । वस्तुस्वरूपमात्रकथनात् दु खन दुःखमिति भाव-साधनत्व वा । एवं शोकादिष्वपि योज्यम् ।

तदेकान्तावधारणेऽनुपपन्नम् अन्यतरैकान्तसंग्रहात् । १० । कर्त्रादिसाधनत्वं दु·खादीनामेकान्तावधारणेऽनुपपन्नम् ? कुतः अन्यतरैकान्तसग्रहात् । पर्यायमात्रत्वे तावद-सत्यात्मनि विज्ञानादीना करणादिसाधनत्वमयुक्त कर्तु रभावात् । स्वातन्त्र्यशक्तिविशिष्टा-र्थापेक्षाणि हि शेपकारकाणि[2] तदभावादभावमास्कन्देयुः । कर्तृ साधनत्वमपि–चायुक्तम्,[3] करणादिसाचिव्यव्यपेक्षाभावात् । न च तेषा विज्ञानादीना परस्पर प्रति साचिव्यमस्ति युगपदुपजायमानत्वात् सव्येतरगोविषाणवत् । नाप्यतीतानागताना वर्तमान प्रति

साधनपना भी है । दु खादि शब्द कर्तृ आदि साधनो से निष्पन्न है पर्याय-पर्यायी की भेदाभेदविवक्षा होने से । क्योकि जिस समय पर्याय और पर्यायी की अभेद विवक्षा होती है उस समय गरम लोहपिण्ड की तरह तद्रूप से परिणमन करने के कारण आत्मा ही दु खयति-दु.ख आदि रूप होता है, अत: दु ख, शाक, ताप आदि शब्द कर्तृसाधन से निष्पन्न होते है और जब पर्याय और पर्यायी मे भेदविवक्षा की मुख्यता होती है तब इसके द्वारा या इसमे दुःख दिया जाता है या जिससे आत्मा दु खी होती है वह दु.ख है । इस प्रकार करणसाधन से दुःखादि शब्दो को निष्पत्ति होती है । अथवा, वस्तुस्वरूप का कथन होने से दु.ख मात्र वा दुःखन दु·ख इस भावसाधन से दुःख शब्द की निष्पत्ति हाती है, इसो प्रकार पर्याय-पर्यायी की भेदाभेद विवक्षा से शोक, ताप आदि शब्दो की निष्पत्ति भी कर्त्तृ, करण और भावसाधन से घटित कर लेनी चाहिए ।। ९ ।।

एकान्त की अवधारणा ठीक नही है किसी एक का संग्रह होने से । सर्वथा एकान्त पक्ष मे दु.ख आदि शब्दों की व्युत्पत्ति कर्तृ, करण और भाव साधनो से नही हो सकती । क्योकि इस एकान्त मे किसी एक पक्ष का सग्रह होता है, दूसरे पक्ष का नही अर्थात् सामान्य और विशेष मे से किसी एक का ही ग्रहण होता है दोनो का नही । यदि पर्याय मात्र ही मानी जाय और आत्मद्रव्य की सत्ता न मानी जाय तो विज्ञान आदि मे 'करण' व्यवहार हो ही नही सकता; क्योकि उसका कोई कर्त्ता ही नही है । स्वातन्त्र्य शक्ति विशिष्ट कर्त्ता की अपेक्षा ही शेष कर्म, करण, भाव आदि कारक वनते हैं । कर्त्ता के अभाव मे कारण आदि कारक का भो अभाव हो जाता है तथा कारण साधन आदि सहकारी कारणो की अपेक्षा बिना कर्तृसाधनता भी नही बन सकती । विज्ञान आदि जब युगपत् उत्पन्न होते है तो दाये-वाये सीग की तरह परस्पर सहकारी भाव नही बन सकता । वन्ध्या के पुत्र की तरह असत्त्व होने से अतीत एवं अनागत का वर्तमान के प्रति सहकारी भाव नही वन सकता ।

---

१ कर्तृत्वसाध–मु., अ., मू. ता । २ चक्रचीवरादीनि । ३. –वायुक्त करणादिसाध्यव्य-मु द ।

सहायभावोऽस्ति असत्त्वाद् वन्ध्यापुत्रवत् । क्षणिकत्वाच्च पूर्वानुभूतस्मरणाभावात् शोकादिपरिणामाऽभाव । पूर्वानुभूत हि अर्थ विनष्ट चिन्तयत शोकादयो भवन्ति । न च क्षणिकवादे स्मरणमस्ति, तदभावाच्छोकाद्यभाव । सन्तानादिति चेत्, न, तदभावादित्युक्तत्वात् । भावसाधनस्त्वमपि नोपपत्तिक्षमम्, भाववन्तमन्तरेण भावस्य वृत्त्यभावात् ।

द्रव्यमात्रत्वे च क्रियागुणविरहात् पुरुषस्य निर्गुणत्व निष्क्रियत्वं च दधानस्य सुखदु खादिपरिणामप्राप्ति प्रति कर्तृत्वाभाव. । तदभावात् करणादीनामप्यभाव. । अथ कर्त्रादिसाधनभावः कल्प्यते, न तर्हि निर्गुणत्व निष्क्रियत्व चात्मनोऽवतिष्ठते । तथा अचेतनस्यापि[1] दुःखादिपरिणाम प्रति कर्तृभावोऽनुपपन्न , दु खादोना घटादिष्व-चेतनेष्वदर्शनात् । यद्यचेतनस्यापि दुःखादयोऽभ्युपगम्येरन्, चेतनाचेतनयोरविशेष

भूतकाल का ज्ञान जब नष्ट हो गया और भविष्यत्काल अनुत्पन्न है तो वह वर्तमान का सहकारी कैसे बन सकता है ? जब विज्ञानादि क्षणिक है तो पूर्वानुभूत की स्मृति का अभाव होने से शोकादि परिणामो का भी अभाव होगा, क्योकि पूर्वानुभूत तथा विनष्ट हुए पदार्थ के चिन्तवन से ही शोकादि होते है । क्षणिकवाद मे स्मृति आदि तो हो नही सकती और स्मरण के अभाव मे शोकादि का भी अभाव होगा । यदि क्षणिकवादी कहे कि सन्तान की अपेक्षा स्मरण हो जाएगा अर्थात् वस्तु का अनुभव करने वाला तो नष्ट हो जाता है परन्तु अपनी सन्तान छोडकर जाता है, उस सन्तान की अपेक्षा पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण हो जायेगा परन्तु सन्तान तो अवस्तु है वा अभाव रूप है उसकी अपेक्षा भी स्मरणादि की कल्पना नही हो सकती तथा भाववान् के बिना भाव की वृत्ति का अभाव होने से भावसाधनत्व भी बनना समर्थ नही है अर्थात् द्रव्य की स्थिरता के बिना भावसाधन की बात करना भी निरर्थक है ।

यदि द्रव्यमात्र ही स्वीकार किया जाता है तो उसमे क्रिया या गुण आदि परिणमन नही होते, वह (पुरुष) सर्वथा निष्क्रिय और निर्गुण है तो सुख-दु ख आदि पर्यायो के प्रति कर्त्तापना भी कैसे हो सकता है ? अर्थात् निष्क्रिय आत्मा के कर्त्तापने का अभाव होगा और कर्त्ता के अभाव मे करण साधन भी नही हो सकता । यदि कर्तृसाधन, करणसाधन और भावसाधन की कल्पना की जाती है तो आत्मा के निष्क्रियत्व और निर्गुणत्व नही हो सकते तथा अचेतन मे भी दु खादि पर्यायो के प्रति कर्तृत्वभाव नही हो सकता है । क्योकि घटादि अचेतन पदार्थो मे दु खादि दृष्टिगोचर नही होते है । यदि अचेतन पदार्थ मे भी सुख-दु खादि माने जायेंगे तो चेतन और अचेतन मे कुछ अन्तर ही नही रहेगा । निष्क्रियत्व होने पर भी आत्मा के अधर्मनिमित्तक दु ख आदि की कल्पना भी ठीक नही है क्योकि निष्क्रिय द्रव्य के धर्माधर्म उपार्जन की विधि का अभाव होने से उसके

---

१ प्रधानस्यापि ।

स्यात्। [१]निष्क्रियत्वेऽप्यधर्मनिमित्ताः पुरुषस्य दुःखादय इति चेत्; न; निष्क्रियस्य धर्माधर्मोपार्जनविध्यभावात् तत्फलानुभवनाभावाच्च।

तान्यात्मपरोभयस्थानि क्रोधाद्यावेशात्। ११। तानि दुःखादीनि क्रोधाद्यावेशात् आत्मपरोभयस्थानि भवन्ति। तद्यथा, यदा क्रोधाद्याविष्ट आत्मा स्वस्मिन् दुःखादीन्युत्पादयति तदा आत्मस्थानि भवन्ति। यदा पुनरीश्वरः कषायवशात् परस्य दुःखादीनि जनयति तदा परस्थानि भवन्ति। यदा तूत्तमर्णादयः अधमर्णादिनिरोधे वर्तमानाः तज्जनितानि क्षुत्पिपासादीनवाप्नुवन्ति तदोभयस्थानि।

विद्यादीनामवगमनाद्यर्थत्वादनिर्देश इति चेत्; न; विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात्। १२। स्यान्मतम्—इमे चत्वारो विदयः विदविद्लृविन्तिविद्यतयः अवगमनलाभविचारसद्भावार्थाः, एतेषां कस्यचिदपि संग्रहे अभिप्रेतस्यार्थस्याऽगतेरनिर्देश इति; तन्न; किं कारणम्? विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात्[२]। विदेः चुरादिण्यन्तस्य चेतनार्थस्येदं वेद्यमिति।

कर्मफल का अनुभव भी नही हो सकता अर्थात् निष्क्रिय आत्मा के न तो धर्म और अधर्म की उत्पत्ति हो सकती है और न निष्क्रिय आत्मा धर्म-अधर्म का फल ही भोग सकता है ॥ १० ॥

क्रोधादि के आवेश से दु.खादि आत्म, पर और उभयस्थ होते है। ये दु ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन स्व, पर और उभय मे होते है। जब क्रोधादि से आविष्ट आत्मा अपने मे दु.ख शोकादि उत्पन्न करता है, तब वे क्रोधादि आत्मस्थ होते है और जब समर्थ व्यक्ति कषायवश पर मे दु.खादि उत्पन्न करता है तब वे परस्थ होते है और जब साहूकार कर्जदार से ऋण वसूल करने आते हैं तब तज्जनित भूख-प्यास आदि के कारण दुःखादि होते है, वे उभयस्थ होते है॥ ११ ॥

विद् आदि के अवगमनादि अर्थत्व होने से दु खादि निर्देश नही होता, ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि विद् धातु को यहाँ चेतना अर्थ मे ग्रहण किया है। **प्रश्न**—विद्, विद्लृ, विन्ति और विद्यति ये चार विद् धातुएँ क्रमश. ज्ञान, लाभ, विचार और सद्भाव अर्थ को कहती हैं। इनमे से किसी एक का सग्रह होने पर भी अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान नही हो सकता अर्थात् वेदन करना अर्थ वेदनीय का है, यह सिद्ध नही हो सकता? **उत्तर**—ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि यहाँ चेतनार्थक विद् धातु से चुरादिण्यन्त प्रत्यय करके वेद्य शब्द बना है। अर्थात् इसका अर्थ अनुभव करना हो जाता है ॥ १२ ॥

---

१. नैयायिक। २ विदिश्चेतनाख्याननिवासनेषु इति चौरादिक।

तदसद्वेद्यमप्रशस्तत्वात् । १३ । तद्वेद्यमसदिति विशेष्यते । कुतः ? अप्रशस्तत्वात् । अनिष्टफलप्रादुर्भावकरणत्वादप्रशस्तमित्याख्यायते ।

दुःखाभिधानमादौ प्रधानत्वात् । १४ । दु खग्रहणमादौ क्रियते । कुत ? प्रधानत्वात् । कुतः पुनरस्य प्राधान्यम् ? तद्विकल्पत्वात् [1]इतरेषाम् । किमेतावन्त एव विकल्पाः ? नेत्याह–

शोकादिग्रहणस्य विकल्पोपलक्षणत्वादन्यसंग्रहः । १५ । इमे शोकादय. दुःखविकल्पा दु खविकल्पानामुपलक्षणार्थमुपादीयन्ते, ततोऽन्येषामपि सग्रहो भवति । के पुनस्ते ? अशुभप्रयोगपरपरिवाद-पैशुन्य-अनुकम्पाऽभाव-परपरितापनाऽङ्गोपाङ्गच्छेदन-भेदन-ताडन-त्रासन-तर्जन-भर्त्सन-तक्षण-विशसन-बन्धन-रोधन-मर्दन-दमन-वाहन-विहेडन-ह्रेपण-काय-रौक्ष्य - परनिन्दात्मप्रशसा - सक्लेशप्रादुर्भावनायुर्वहमानता - निर्दयत्व - सत्त्वव्यपरोपण-महारम्भपरिग्रह - विश्रम्भोपघात - वक्रशीलता - पापकर्मजीवित्वाऽनर्थदण्ड-विष[2]-मिश्रण-

---

अप्रशस्तत्व होने से यह असद्वेद्य है। उसका वेदन असत् (इति विशिष्ट) होता है अप्रशस्तत्व होने से। अनिष्ट फल उत्पन्न करने के कारण वह अप्रशस्त है अत असद्वेद्य कहा जाता है ।। १३ ।।

प्रधानत्व होने से दु.ख का ग्रहण आदि मे किया है। प्रधान होने के कारण दु ख का ग्रहण सर्वप्रथम किया है, शेष शोक आदि इसी के विकल्प होने से उनका दु ख के बाद ग्रहण किया है। प्रश्न—दु.ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन क्या इतने ही असाता वेदनीय के आस्रव के कारण है ? उत्तर—इतने भी है तथा और भी है ।। १४ ।।

शोकादि का ग्रहण दु.ख के विकल्पो के उपलक्षण रूप होने से अन्य सर्व विकल्पो का सग्रह हो जाता है। दु ख, शोक, ताप, आक्रन्दन का ग्रहण दु ख के विकल्पो का उपलक्षण रूप है। जो उपलक्षण होता है, वह अपने सदृश का ग्राही होता है अत. शोकादि के ग्रहण से असाता वेदनीय के आस्रव के कारणभूत अन्य सर्व विकल्पो का सग्रह हो जाता है। वे अन्य कारण कौन से है ? अशुभ प्रयोग, परपरिवाद, पैशून्य, अनुकम्पा का अभाव (अदया), परपरिताप, अगोपाङ्गच्छेद, भेद, ताडन, त्रासन, तर्जन, भर्त्सन तक्षण, विशसन, बन्धन, रोधन, मर्दन, दमन. वाहन, विहेडन, ह्रेपण, शरीर को रूखा कर देना, परनिन्दा, आत्मप्रशसा, सक्लेशप्रादुर्भावन, अपनी आयु यदि अधिक हो तो उसका अभिमान, निर्दयता, हिसा, महारभ, महापरिग्रह का अर्जन, विश्वासघात, कुटिलता, पापकर्मजीवित्व, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण, बाण, जाल, पाश, रस्सी, पिञ्जरा, यन्त्र आदि हिंसा के साधनो का उत्पादन, बलाभियोग, शस्त्र देना और पापमिश्रित भाव इत्यादि भी दु ख

---

१. शोकादीनाम् । २ –विषविश्राण –अ ।

शरजालपाशवागुरापञ्जरयन्त्रोपायसर्जन-बलाभियोग-शस्त्र-प्रदान-पापमिश्रभावाः । एते दुःखादयः परिणामा आत्मपरोभयस्था असद्वेद्यस्यास्रवा वेदितव्याः ।

स्वतीर्थकरोपदेशविरोधादयुक्तिरिति चेत्; न; सर्वथा प्रश्नविनिवृत्तेः । १६ । स्यादेतत्–यदि दुःखाधिकरणमसद्वेद्यहेतु, ननु नाग्न्यलोचाऽनशनादितपःकरणं दुःखहेतुरिति तदनुष्ठानोपदेशन स्वतीर्थकरस्य विरुद्धम्, तदविरोधे च दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवस्यायुक्तिरिति; तन्न, किं कारणम् ? सर्वथा प्रश्नविनिवृत्तेः । न तावदार्हतस्य प्रश्नः उपपद्यते–स्वतीर्थकरोपदेशव्याघातप्रसङ्गात् । यस्य क्षणिकवादः तस्यापि न युज्यते, [1]सर्वदुःखशून्यानात्मकत्वाभ्युपगमे हिंसादिवत् दानादेरप्यकुशलत्वं दुःखहेतुतुल्यत्वादिति । तथेतरेषामपि हिंसादीना दुःखहेतुत्वेन पापास्रवहेतूनभ्युपगच्छता यमनियमपरिपालनविविधवेषानुष्ठानदुश्चरोपवासब्रह्मचर्यादीना दुःखहेतुत्वात् तदनुष्ठानविरोधप्रसङ्गान्नोपपद्यते प्रश्नः । किञ्च,

---

शोकादि से गृहीत होते है । आत्मा मे, पर मे और उभय मे रहने वाले ये दुःखादि परिणाम असाता वेदनीय के आस्रव के कारण होते है ।। १५ ।।

स्व तीर्थंकर के उपदेश का विरोध होने से दुःखादि को असाता का कारण कहना अयुक्त है, ऐसा नही है क्योंकि सर्वथा प्रश्न की विनिवृत्ति होती है । **प्रश्न**—यदि दुःख के कारणो से असाता वेदनीय का आस्रव होता है तो नग्न रहना, केश लुञ्चन और अनशन आदि तपो का उपदेश भी दुःख का कारण है अतः नग्नता, लुञ्चन, उपवासादि का अनुष्ठान वा उनका उपदेश स्वकीय तीर्थंकर के विरुद्ध होगा । अर्थात् तीर्थकरो को तप, अनुष्ठानादि का उपदेश नही करना चाहिये । यदि तीर्थंकर उपदिष्ट नग्नता, केशलुञ्चन, अनशनादि तीर्थकर के विरुद्ध नही है तो 'दुःखादि असाता वेदनीय के आस्रव के कारण है', ऐसा कहना अयुक्त है क्योकि नग्न आदि रहना दुःख रूप है । **उत्तर**—यह प्रश्न ही नही उठ सकता, जैनमतावलम्वी के तो यह प्रश्न ही उत्पन्न नही हो सकता । क्योकि ऐसा कहने पर स्वतीर्थंकरो के उपदेश के व्याघात का प्रसङ्ग आता है । जिसके क्षणिकवाद है उसके भी यह कथन नही वन सकता क्योकि जब सर्व पदार्थ दुःखशून्य और अनात्मक रूप हैं तब हिंसादि की तरह दानादि मे भी दुःख हेतुता रहेगी क्योकि दानो मे दुःखहेतुत्व तुल्य है । इसलिये इनका उपदेश भी अकुशल का ही उपदेश कहा जायेगा । इसी तरह दुःख का कारण होने से हिंसादि को पापास्रव का हेतु मानने वाले अन्य मतावलम्बियो के भी यम-नियम-परिपालन, विविध वेष, अनुष्ठान, दुश्चर उपवास, ब्रह्मचर्यवास आदि का 'दुःख हेतु होने से' अनुष्ठान के विरोध का प्रसङ्ग आयेगा । अर्थात् दुःख हेतु होने से यम, नियम आदि अनुष्ठान भी नही करने चाहिये और न उनका उपदेश देना चाहिये; क्योकि सभी वादी हिंसा आदि को दुःख हेतु होने से पापास्रव का कारण मानते ही हैं ।। १६ ।।

---

१ सर्वदुःखमित्यादि ।

द्वेषासंभवात् । १७ । यथा अनिष्टद्रव्यसंपर्काद् द्वेषोत्पत्तौ दुःखोत्पत्तिः न तथा बाह्याभ्यन्तरतपःप्रवृत्तौ धर्मध्यानपरिणतस्य यतेरनशनकेशलुञ्चनादिकरणकारणापादित-कायक्लेशेऽस्ति द्वेषसभवः, तस्मान्नासद्वेद्यबन्धोऽस्ति । क्रोधाद्यावेशे हि सति स्वपरोभय-दुःखादीनां पापास्रवहेतुत्वमिष्ट न केवलानाम् । किञ्च,

आहितप्रसादत्वात् । १८ । यथा यतिरहिंसादिकरणकारणोद्यतत्वादाहितप्रसाद. तथा अयमुपवासादिकरणकारणेऽप्याहितप्रसादः अनशनादितप· करोतीति दु खाद्यभाव· । किञ्च,

प्रायश्चित्तोपदेशात् । १९ । कादाचित्कान्यकारणाविर्भूतक्रोधादिपरिणामे च सति तदुत्सिसृक्षार्थं[1] प्रायश्चित्तविधान क्रियते, तत· कथमिव यते· अनशनादितपश्चरणे क्रोधादिपरिणामो भवेत् ? किञ्च,

---

अथवा, तपादि अनुष्ठान मे द्वेष असम्भव है । जैसे—अनिष्ट द्रव्य के सम्पर्क से द्वेष की उत्पत्ति होने पर दु ख उत्पन्न होता है, उस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तर तप की प्रवृत्ति मे धर्मध्यान परिणत मुनि के अनशन, केशलुञ्चन करने या कराने से उत्पादित कायक्लेश है, उसमे द्वेष सम्भव नही है अत: अनशन आदि से असाता वेदनोय का बध नही हो सकता । क्योकि क्रोधादि के आवेश के कारण द्वेषपूर्वक होने वाले स्व, पर और उभय के दु खादि परिणाम पापास्रव के हेतु माने गये है । स्वेच्छा से आत्मविशुद्धचर्थ किये जाने वाले तप आदि बध के कारण नही माने गये है ।। १७ ।।

प्रसन्नता होने से अनशनादि कायक्लेश पापास्रव के कारण नही है । जिस प्रकार मुनिगण अहिंसादि व्रतो के करने और कराने मे तत्पर होने से प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार ये यतिराज उपवासादि के भी करने और कराने मे प्रसन्न होते है, स्वय प्रसन्नतापूर्वक उपवास, केश-लुञ्चन आदि तप करते है अत. अनशन आदि तप दु ख के हेतु नही है अर्थात् अनशनादि मे दु.ख-शोक आदि का अभाव है ।। १८ ।।

अनशनादि तप प्रायश्चित्त मे उपदिष्ट है । जब मुनियो को किसी कारण से कभी क्रोध उत्पन्न होने पर उसके परिमार्जन के लिये प्रायश्चित्त करना पडता है तब यति के अनशन आदि तप विधि मे क्रोधादि परिणामो की सम्भावना कैसे हो सकती है ? जिससे कि अनशनादि को असाता के बन्ध का कारण माना जाय अर्थात् अनशनादि तप-विधि मे क्रोधादि परिणाम नही हो सकते ।। १९ ।।

---

१. निवारणार्थम् ।

अनुग्रहबुद्धया तद्व्यापाराद्गण्ड[1] पाटनवत् ।२०। यथा भिषक् करुणार्द्रीकृतचेताः संयतस्योपरि अनुग्रहबुद्धया गण्डं पाटयंस्तत्र क्रोधाद्यभावात् नापुण्यं बध्नाति, तथा अनादिसांसारिकजातिजरामरणवेदनाजिघांसां प्रत्यागूर्णो यतिः तदुपाये प्रवर्तमानः स्वपरस्थदुःखादिहेतुत्वे सत्यपि क्रोधाद्यभावात् पापस्याबन्धकः । किञ्च,

मनोरत्या सौख्याभिधानात् । २१ । यथा दुःखाभिभूतानामपि संसारिणां यत्र मनोरतिस्तत्र सौख्यं तथा अनशनादिकरणस्य यतेर्मनोरतिसौख्यसान्निध्याददोषः । उक्तञ्च–

पुरे वने वा स्वजनेऽजने वा प्रासादशृङ्गे द्रुमकोटरे वा ।
प्रियाङ्गनाऽङ्केऽथ शिलातले वा मनोरतिं सौख्यमुदाहरन्ति ।। इति ।

यद्यसद्वेद्यस्यामी प्रयोगाः यथा द्वितीयस्य क आस्रवा इति ? उच्यन्ते–

फोडा चीरने के समान यतिगण अनुग्रहबुद्धि से अनशन आदि का उपदेश देते हैं । जैसे रोगी पर करुणाशील वैद्य अनुग्रह (उपकारक) बुद्धि से उसके फोड़ की शल्य (विदारण) क्रिया करते हुए भी पाप नही बाँधता, उसके पापास्रव नही होता है; उसी प्रकार अनादिकालीन सासारिक जन्म, जरा, मरण और वेदना के नाश करने की इच्छा से तप आदि उपायो मे प्रवृत्ति करने वाले यति के कार्यों मे स्व-पर-उभय मे दु.खहेतुता दिखने पर भी क्रोधादि न होने के कारण वह पाप का बन्धक नही होता ।। २० ।।

मन की रति होने से अनशनादि सुख के कारण है । जैसे दु खाभिभूत ससारी प्राणियो का जिन पदार्थों मे मन रम जाता है वे ही सुखकारक होते हैं, उसी प्रकार मुनिराज का मन अनशन आदि के करने मे रमता है, प्रसन्न होता है, अतः व्रतादि मे यति का मन दु खी नही है । अतः उसके असाता का बन्ध भी नही है अर्थात् अनशनादि मे आत्मा असाता का बन्धक नही है, ऐसा मानना अदोष है । कहा भी है—'नगर हो या वन, स्वजन हो या परजन, महल की चोटी पर हो या पेड़ की खोह मे (वृक्ष का कोटर), प्रिया की गोद हो या शिलातल, वस्तुतः मनोरमण को ही सुख कहते है । अर्थात् जहाँ जिसका मन रम गया वह वहाँ सुखी है' ।। २१ ।।

जैसे असाता वेदनीय के ये आस्रव कहे है, वैसे द्वितीय वेदनीय के (साता वेदनीय के) आस्रव कौन से हैं ? ऐसी पृच्छा होने पर आचार्य उत्तर सूत्र कहते है—

---

१. गण्ड कपोलपिटके योगभेदे च गण्डके । गण्ड प्रवेरे चिह्ने स्यादश्वभूषण बुद्बुदे ।

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

आयुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद् भूतानि । १ । तासु तासु योनिष्वायुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद् भूतानि सर्वे प्राणिन इत्यर्थः ।

व्रताभिसंबन्धिनो व्रतिनः । २ । व्रतानि वक्ष्यन्ते अहिंसादीनि, तदभिसंबन्धिनो ये ते व्रतिन. । ते द्वेधा [1]अगार प्रति निवृत्तौत्सुक्या. सयता:, गृहिणश्च सयतासयता ।

अनुकम्पनमनुकम्पा । ३ । अनुग्रहार्द्रीकृतचेतस. परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा । भूतानि च व्रतिनश्च भूतव्रतिनः, भूतव्रतिष्वनुकम्पा भूतव्रत्यनुकम्पा । **"साधनं कृता बहुलम्"**[2] इति वृत्तिः[3] । यथा गलचोपक इति । मयूरव्यंसकादित्वाच्च ।

स्वस्य परानुग्रहबुद्ध्या अतिसर्जनं दानम् । ४ । आत्मीयस्य वस्तुन. परानुग्रहबुद्ध्या अतिसर्जन दानमिति कथ्यते ।

भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षमा और शौच ये भाव सातावेदनीय के आस्रव के कारण है ॥ १२ ॥

आयुकर्म के उदयविशेष से होने वाले भूत कहलाते हैं। आयुकर्म के उदय से उन-उन योनियो मे होने वाले प्राणियो को भूत कहते है अर्थात् सर्वप्राणी भूत कहलाते है ॥ १ ॥

व्रतो के सम्बन्ध से व्रती कहलाते है। अहिंसादि व्रतो का वर्णन आगे करेंगे। उन अहिंसादि व्रतो को धारण करने वाले व्रती कहलाते है। वे व्रती दो प्रकार के है—श्रावक और मुनि। अगार (घर) के प्रति अनुत्सुक सयतीजन अनगार है और सयतासयत गृहस्थ एकदेश व्रती है ॥ २ ॥

अनुकम्पन को अनुकम्पा कहते है। दयार्द्र व्यक्ति का हृदय दूसरे की पीडा को अपनी पीडा समझकर काँप जाता है, वह अनुकम्पा है। भूत (प्राणो) और दोनो प्रकार के व्रतियो मे अनुकम्पा भूतव्रत्यनुकम्पा है। यहाँ पर 'साधनकृताबहुल' जैनेन्द्र महावृत्ति के इस सूत्र से समास हुआ है। जैसे—गलचोपकः अथवा मयूरव्यसकादि गण मे पाठ होने से समास है ॥ ३ ॥

पर की अनुग्रह बुद्धि से अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। आत्मीय धन आदि वस्तु का दूसरो का उपकार करने की बुद्धि से त्याग करना दान कहा जाता है ॥ ४ ॥

---

१. आरम्भ प्रति मु, द, ता, ब । २ जैनेन्द्र १।३।२९ । ३. समास -नम्पा ।

सम्परायनिवारणप्रवणोऽक्षीणाशयः सरागः । ५ । पूर्वोपात्तकर्मोदयवशादक्षीणाशयः सन् सम्परायनिवारण प्रत्यागूर्णमनाः सराग इत्युच्यते ।

प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः । ६ । प्राणिष्वेकेन्द्रियादिषु चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु च अशुभप्रवृत्तेर्विरति. संयम इति निश्चीयते । सरागस्य संयमः सरागसंयम, सरागो वा संयमः सरागसयमः ।

आदिशब्देन संयमाऽसंयमाऽकामनिर्जराबालतपोऽनुरोधः । ७ । सयमासयमः अकामनिर्जरा बालतप इत्येतेषामादिशब्देनानुरोधः क्रियते । तत्र सयमासंयम अनात्यन्तिकी विरतिः । विषयाऽनर्थनिवृत्ति चात्माभिप्रायेणाकुर्वत. पारतन्त्र्याद्भोगोपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा । यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्टचादयस्तेषा तपः बालतपः अग्निप्रवेश-कारीषसाधनादि प्रतीतम् ।

कषायो को निवारण करने मे तत्पर अक्षीणकषायी सराग कहलाता है। पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से जिसकी कषाये शात नही हुई है परन्तु जो कषायो का निवारण (शात) करने के लिए तैयार है, वह सराग कहलाता है ।। ५ ।।

प्राणियो और इन्द्रियो मे अशुभ प्रवृत्ति की विरति का नाम सयम है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि प्राणियो मे और चक्षु आदि पचेन्द्रियो के विषयो मे [1]अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना वा अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना सयम है। अर्थात् प्राणियो की रक्षा करना और इन्द्रियो की विषय-प्रवृत्ति को रोकना सयम है। सराग (रागसहित प्राणी) का सयम सरागसयम है अथवा सराग (राग के साथ) सयम सरागसयम है ।। ६ ।।

आदि शब्द से सयमासयम, अकामनिर्जरा, बालतप आदि का भी ग्रहण है। सयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतप का भी आदि शब्द से ग्रहण किया गया है। एकदेश विरति को सयमासयम कहते है अर्थात् जो त्रस हिसा का त्याग करने से सयम और स्थावर हिसा का त्याग न करने से असयम तथा दोनो सयम और असयम एक साथ होने से सयमासयम कहलाता है। विषयो के अनर्थ की निवृत्ति को आत्म-अभिप्राय से नही करते हुए परतन्त्रता के कारण भोगोपभोग का निरोध होने पर शातिपूर्वक सहन करना अकामनिर्जरा है। यथार्थ प्रपत्ति का अभाव होने से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बाल कहलाते है। उन अज्ञानी मिथ्यादृष्टियो का अग्नि मे प्रवेश, पचाग्नि तप आदि बालतप है ।। ७ ।।

---

१. इसमे इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति के रोकने को सयम कहा है। इससे ज्ञात होता है कि अनुरागपूर्वक देव-शास्त्र-गुरु का अवलोकन करना, उनकी वाणी को अनुरागपूर्वक सुनना अविरति नही है।

निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः । ८ । निरवद्यस्य[1] क्रियाविशेषस्यानुष्ठानं योग. समाधि:, सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः । [2]दण्डभावनिवृत्त्यर्थं च तस्य ग्रहणं क्रियते । भूतव्रत्यनुकम्पादानं च सरागसंयमादयश्च भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादयस्तेषा योग: भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसयमादियोग: ।

धर्मप्रणिधानात्क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः । ९ । क्रोधादे. कषायस्य शुभपरिणाम-भावनापूर्विका निवृत्ति क्षान्तिरित्युच्यते । ननु क्षमूषिति षित्वात्[3] अङि क्षमेति भवितव्यम्; सत्यमेवमेतत् । यदि भूवादिषु पठितस्य ग्रहण स्यात् । इद दिवादिपठितस्य क्षमू सहने इत्यस्य रूपम् ।

लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम् । १० । लोभप्रकारेभ्य: उपरत: शुचिरित्युच्यते, तस्य भाव: कर्म वा शौचम् । के पुनर्लोभप्रकारा. ? स्वद्रव्यात्याग-परद्रव्यापहरण—सान्न्यासिकनिह्नवादय. ।

इतिकरणः प्रकारार्थः । ११ । हेत्वेवंप्रकारादिव्यवच्छेदादिषु दृष्टप्रयोग इतिशब्द, तत्रेह प्रकारार्थो गृह्यते । एवंप्रकारा. सद्वेद्यस्यास्रवा इति ।

निरवद्य क्रियाविशेष के अनुष्ठान को योग कहते है। योग अर्थात् पूर्ण उपयोग से जुट जाना। योग, समाधि, सम्यक् प्रणिधान ये सब एकार्थवाचो है। दूषण की निवृत्ति के लिए योग शब्द का ग्रहण किया गया है। अथवा. भूतव्रत्यनुकम्पा, दान और सरागसयम आदि का योग भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसयमादियोग कहलाता है ।। ८ ।।

धर्म प्रणिधान (धार्मिक भावनाओ) से क्रोधादि की निवृत्ति करना क्षान्ति है। क्रोधादि कषायों को शुभ परिणाम—भावनापूर्वक निवृत्ति करना क्षान्ति कहलाती है। शका—क्षमूष् धातु मे षित्वपना होने से अङ् प्रत्यय होकर क्षमा निष्पन्न होता है क्षान्ति नही ? उत्तर—क्षमूष् धातु से 'क्षमा' शब्द निष्पन्न होता है, यह कहना तब सत्य होता यदि भूवादि गण मे कथित क्षमूष् धातु लेते हैं तो। यहाँ तो दिवादिगण में आई हुई 'क्षमू' धातु जो 'सहने' अर्थ मे है, उसका रूप क्षान्ति बना है। अर्थात् क्रोध के कारण मिलने पर भी सहनशील रहना, उत्तेजित नही होना, क्षान्ति है ।। ९ ।।

लोभ के प्रकारो के उपरम को शौच कहते हैं। लोभ के अनेक भेद हैं उनका उपरम करना, त्याग करना शुचि कहलाता है और शुचि का भाव शौच कहलाता है। प्रश्न—लोभ के प्रकार कौन-कौनसे हैं ? उत्तर—स्वद्रव्य का ममत्व नही छोडना, दूसरे के द्रव्य का अपहरण करना,

---

१. –द्यक्रिया –अ. । २. उपाधि । ३. 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यादि सूत्रेण ।

सम्परायनिवारणप्रवणोऽक्षीणाशयः सरागः । ५ । पूर्वोपात्तकर्मोदयवशादक्षीणाशयः सन् सम्परायनिवारण प्रत्यागूर्णमनाः सराग इत्युच्यते ।

प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः । ६ । प्राणिष्वेकेन्द्रियादिषु चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु च अशुभप्रवृत्तेर्विरति. संयम इति निश्चीयते । सरागस्य सयम. सरागसंयम, सरागो वा संयमः सरागसयमः ।

आदिशब्देन संयमाऽसंयमाऽकामनिर्जराबालतपोऽनुरोधः । ७ । सयमासयम. अकामनिर्जरा बालतप इत्येतेषामादिशब्देनानुरोध' क्रियते । तत्र सयमासंयमः अनात्यन्तिकी विरति' । विषयाऽनर्थनिवृत्ति चात्माभिप्रायेणाकुर्वत पारतन्त्र्याद्भोगोपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा । यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयस्तेषा तपः बालतपः अग्निप्रवेश-कारीषसाधनादि प्रतीतम् ।

कषायो को निवारण करने मे तत्पर अक्षीणकषायी सराग कहलाता है। पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से जिसकी कषाये शात नही हुई है परन्तु जो कषायो का निवारण (शात) करने के लिए तैयार है, वह सराग कहलाता है ।। ५ ।।

प्राणियों और इन्द्रियो मे अशुभ प्रवृत्ति की विरति का नाम सयम है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि प्राणियो मे और चक्षु आदि पचेन्द्रियो के विषयो मे [1]अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना वा अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना सयम है। अर्थात् प्राणियो की रक्षा करना और इन्द्रियो की विषय-प्रवृत्ति को रोकना सयम है। सराग (रागसहित प्राणी) का सयम सरागसयम है अथवा सराग (राग के साथ) सयम सरागसयम है ।। ६ ।।

आदि शब्द से सयमासयम, अकामनिर्जरा, वालतप आदि का भी ग्रहण है। सयमासयम, अकामनिर्जरा और वालतप का भी आदि शब्द से ग्रहण किया गया है। एकदेश विरति को सयमासयम कहते है अर्थात् जो त्रस हिसा का त्याग करने से सयम और स्थावर हिसा का त्याग न करने मे असयम तथा दोनो सयम और असयम एक साथ होने से सयमासयम कहलाता है। विपयो के अनर्थ की निवृत्ति को आत्म-अभिप्राय से नही करते हुए परतन्त्रता के कारण भोगोपभोग का निरोध होने पर शातिपूर्वक महन करना अकामनिर्जरा है। यथार्थ प्रपत्ति का अभाव होने से अज्ञानो मिथ्यादृष्टि वाल कहलाते है। उन अज्ञानी मिथ्यादृष्टियो का अग्नि मे प्रवेश, पचाग्नि तप आदि वालतप है ।। ७ ।।

---

१. इसमे इन्द्रियो की अशुभ प्रवृत्ति के रोकने को सयम कहा है। इससे ज्ञान होता है कि अनुरागपूर्वक देव-शास्त्र-गुरु का अवलोकन करना, उनकी वाणी को अनुरागपूर्वक सुनना अविरति नही है।

निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः । ८ । निरवद्यस्य[1] क्रियाविशेषस्यानुष्ठानं योगः समाधिः, सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः । [2]दण्डभावनिवृत्त्यर्थं च तस्य ग्रहणं क्रियते । भूतव्रत्यनुकम्पादानं च सरागसयमादयश्च भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादयस्तेषा योगः भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः ।

धर्मप्रणिधानात्क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः । ९ । क्रोधादे· कषायस्य शुभपरिणाम-भावनापूर्विका निवृत्तिः क्षान्तिरित्युच्यते । ननु क्षमूषिति षित्वात्[3] अङि क्षमेति भवितव्यम्; सत्यमेवमेतत् । यदि भूवादिषु पठितस्य ग्रहण स्यात् । इद दिवादिपठितस्य क्षमू सहने इत्यस्य रूपम् ।

लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम् । १० । लोभप्रकारेभ्य उपरतः शुचिरित्युच्यते, तस्य भाव· कर्म वा शौचम् । के पुनर्लोभप्रकारा· ? स्वद्रव्यात्याग-परद्रव्यापहरण–सान्यासिकनिह्नवादय· ।

इतिकरणः प्रकारार्थः । ११ । हेत्वेवप्रकारादिव्यवच्छेदादिषु दृष्टप्रयोग इतिशब्दः, तत्रेह प्रकारार्थो गृह्यते । एवंप्रकाराः सद्वेद्यस्यास्रवा इति ।

निरवद्य क्रियाविशेष के अनुष्ठान को योग कहते है। योग अर्थात् पूर्ण उपयोग से जुट जाना। योग, समाधि, सम्यक् प्रणिधान ये सब एकार्थवाची है। दूषण की निवृत्ति के लिए योग शब्द का ग्रहण किया गया है। अथवा भूतव्रत्यनुकम्पा, दान ओर सरागसयम आदि का योग भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसयमादियोग कहलाता है ।। ८ ।।

धर्म प्रणिधान (धार्मिक भावनाओ) से क्रोधादि की निवृत्ति करना क्षान्ति है। क्रोधादि कषायो को शुभ परिणाम—भावनापूर्वक निवृत्ति करना क्षान्ति कहलाती है। शका—क्षमूष् धातु मे षित्वपना होने से अङ् प्रत्यय होकर क्षमा निष्पन्न होता है क्षान्ति नही ? उत्तर—क्षमूष् धातु से 'क्षमा' शब्द निष्पन्न होता है, यह कहना तब सत्य होता यदि भूवादि गण मे कथित क्षमूष् धातु लेते हैं तो। यहाँ तो दिवादिगण में आई हुई 'क्षमू' धातु जो 'सहने' अर्थ मे है, उसका रूप क्षान्ति बना है। अर्थात् क्रोध के कारण मिलने पर भी सहनशील रहना, उत्तेजित नही होना, क्षान्ति है ।। ९ ।।

लोभ के प्रकारों के उपरम को शौच कहते है। लोभ के अनेक भेद हैं उनका उपरम करना, त्याग करला शुचि कहलाता है और शुचि का भाव शौच कहलाता है। प्रश्न—लोभ के प्रकार कोन-कौनसे हैं ? उत्तर—स्वद्रव्य का ममत्व नही छोडना, दूसरे के द्रव्य का अपहरण करना,

---

१. –चक्रिया –अ । २. उपाधि । ३. 'षिड्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यादि सूत्रेण ।

वृत्तिप्रसङ्गो लघुत्वादिति चेत्; न; अन्योपसंग्रहार्थत्वात् । १२ । स्यान्मतम्–वृत्तिरत्र न्याय्या संयमादियोगक्षान्तिशौचानीति । कुतः ? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? अन्योपसंग्रहार्थत्वात् ।

[1]इतिकरणानर्थक्यमिति चेत्; न; उभयग्रहणस्य व्यक्त्यर्थत्वात् । १३ । स्यादेतत्–यद्यवृत्तिकरणमन्योपसंग्रहार्थम्, इतिशब्दोपादानस्यापि तदेव प्रयोजनमिति तस्यानर्थक्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयग्रहणस्य व्यक्त्यर्थत्वात् । व्यक्त्यर्थमुभयं गृह्यते । के पुनस्ते गृह्यमाणाः ? अर्हत्पूजाकरणपरता–बालवृद्धतपस्विवैयावृत्त्योद्योगार्जवविनयप्रधानतादयः ।

व्रतिग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् । १४ । स्यान्मतम्–भूतग्रहणादेव सिद्धं व्रतिग्रहणमनर्थकं सामान्यनिर्देशस्य सर्वविशेषव्यापि[2]त्वाविरोधादिति;

धरोहर को हड़पना आदि लोभ के प्रकार है । यहाँ पर इति शब्द प्रकारार्थक है । इस प्रकार भूतव्रत्यनुकम्पा आदि साता वेदनीय के आस्रव के कारण है ।। १०–११ ।।

इस सूत्र मे समास करने से सूत्र लघु हो जायेगा, ऐसा नही कहना चाहिये । क्योकि इसमे ऐसे ही अन्य उपायो का सग्रह करना है । **शंका**—इस सूत्र मे 'सयमादियोगक्षान्तिशौचानि' ऐसा समास करना न्याय है । क्योकि समास करने से सूत्र लघु हो जाता है । **उत्तर**—ऐसा नही है क्योकि इसमे समास नही करने का कारण है, ऐसे ही अन्य उपायो का सग्रह करना ।। १२ ।।

'इति' शब्द का ग्रहण करना भी अनर्थक नही है । क्योकि अर्थ को स्पष्ट करने के लिये दोनो का ग्रहण किया है । **शंका**—समासान्त पद नही होने से अन्य कारणो का सग्रह होता है और 'इति' शब्द का अर्थ भी यही प्रयोजन है अत दोनो मे एक तो व्यर्थ ही है ? **उत्तर**—यद्यपि 'इति' शब्द का भी यही प्रयोजन है फिर भी समास नही करना और 'इति' शब्द का ग्रहण करना स्पष्टता के लिये है अर्थात् उभय का ग्रहण उभय अर्थ को व्यक्त करने के लिये है । **प्रश्न**—'इति' शब्द से किसको ग्रहण करना चाहिये ? **उत्तर**—'इति' शब्द से अर्हत्भगवान की पूजा करना, बाल-वृद्ध और तपस्वी की वैयावृत्य करना, आर्जवभाव, विनयशीलता आदि भी सातावेदनीय के आस्रव के कारण है अतः 'इति' शब्द से उनको भी ग्रहण करना चाहिये ।। १३ ।।

व्रती पद का ग्रहण व्यर्थ है, ऐसा भी कहना उचित नही है । क्योकि प्रधानता का ख्यापन करने के लिए व्रती का ग्रहण किया है । **प्रश्न**—भूत के ग्रहण करने से ही सिद्धि हो जाती है अतः व्रती शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है क्योकि सामान्यनिर्देश का सर्व व्यापित्व होने से अविरोध है अर्थात् सामान्यभूत शब्द से विशेष व्रती का ग्रहण हो ही जाता है । **उत्तर**—व्रती शब्द निष्प्रयोजन

---

१. अवृत्तिकरणमितिकरणमिति । २ –पित्वात् विरोधा–अ. ।

तन्न, किं कारणम् ? प्राधान्यख्यापनार्थत्वात्। भूतेषु याऽनुकम्पा तस्या[1] व्रतिष्वनुकम्पा प्रधानभूतेत्ययमर्थः ख्याप्यते ।

नित्यानित्यात्मकत्वे अनुकम्पादिसिद्धिर्नान्यथा । १५ । द्रव्यत्वाद्यन्वयादेशान्नित्यतामजहत. नैमित्तिकपरिणाममुखेनानित्यतामास्कन्दतः जीवस्यानुकम्पादयः परिणामविशेषा युज्यन्ते नान्यथा। यदि नित्यत्वमेव स्यात्; विक्रियाऽभावात् अनुकम्पादिपरिणत्यभावः, तदभ्युपगमे च नित्यताव्याघातः। क्षणिकैकान्तेऽपि पूर्वोत्तरावग्राहकैकविज्ञानाभावात् अनुकम्पादिप्रच्यवः। सस्कारादिति चेत्; न, तस्याप्यनित्यत्वात् ज्ञानाऽज्ञानभावे चाऽनुपपत्तेः[2] ।

आह—उक्ता सदसत्प्रकारस्य वेदनीयस्योपादानहेतव । अथ अनन्तरस्यानन्तप्रवाहससारास्पदकारणस्य मोहस्यात्मलाभे को हेतुरिति ? अत्रोच्यते—

नही है क्योंकि भूतो मे (सामान्य जीवो मे) जो अनुकम्पा है, उनमे व्रतियो के प्रति अनुकम्पा प्रधानभूत है, अतः भूतानुकम्पा से व्रती-अनुकम्पा मे प्रधानता दिखाने के लिए 'व्रती' शब्द का पृथक् ग्रहण किया है ।। १४ ।।

आत्मा के नित्यानित्यात्मकत्व मान लेने पर ही अनुकम्पा की सिद्धि होती है अन्यथा नही। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से नित्यता को नही छोडने वाले और नैमित्तक परिणामो से अनित्य पर्याय को प्राप्त करने वाले जीव के ही अनुकम्पा आदि परिणाम विशेष हो सकते है, सर्वथा क्षणिक वा नित्य मानने पर नही। क्योकि यदि आत्मा को सर्वथा नित्य ही मानेगे तो विक्रिया का अभाव होने से अनुकम्पा आदि परिणति का अभाव होगा, यदि आत्मा मे अनुकम्पा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तो आत्मा के नित्यता नही रह सकती। क्षणिक एकान्त पक्ष मे भी पूर्व और उत्तर पर्याय का ग्रहण एक विज्ञान से न होने से स्मरणादि के बिना अनुकम्पादि का अभाव हो जाता है। यदि कहो कि सस्कारो से अनुकम्पा आदि का प्रादुर्भाव हो जायेगा सो भी नही है। क्योकि सस्कार भी क्षणिक है अर्थात् अनित्य है। सस्कार यदि ज्ञान रूप है तो ज्ञान के समान क्षणिक होगे अत वे स्मृति आदि करा नही सकते। यदि सस्कार अज्ञान रूप हैं तो ज्ञान के कारण नही हो सकते ।। १५ ।।

इस प्रकार साता और असाता रूप वेदनीय के आस्रव के कारणो का कथन किया। अनन्तर अनन्त प्रवाह वाले ससार के कारणभूत मोहनीय के आत्मलाभ मे क्या कारण है ? ऐसा पूछने पर आचार्य मोहनीय के आस्रव के कारणो को कहने वाले सूत्र का निरूपण करते है—

---

१ तत । २. सस्कारस्तावत् ज्ञान वा स्यात्, अज्ञान वा ? यदि ज्ञानम्, तस्य उक्तदोषत्वादनुपपत्ति । यद्यज्ञानम्, अनवबुद्धस्वभावत्वात्तस्यानुपपत्ति ।

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवाऽवर्णवादो दर्शनमोहस्य ।। १३ ।।

करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेताः केवलिनः । १ । करणं चक्षुरादि, कालभेदेन वृत्तिः क्रमः, कुड्यादिनाऽन्तर्धानं व्यवधानम्, एतान्यतीत्य वर्तते, ज्ञानावरणस्यात्यन्तसंक्षये आविर्भूतमात्मनः स्वाभाविकं ज्ञानम्, तद्वन्तोऽर्हन्तो भगवन्तः केवलिन इति व्यपदिश्यन्ते ।

तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम् । २ । तैर्व्यपगतरागद्वेषमोहैरुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैरवधारितं [1]श्रुतमित्युच्यते । तद्विस्तरतो व्याख्यातम् ।

रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः सङ्घः । ३ । सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयभावनापराणां चतुर्विधानां श्रमणानां गणः सङ्घ इति कथ्यते ।

[2]**एकस्याऽसङ्घत्वमिति चेत्; न; अनेकव्रतगुणसंहननादेकस्यापि सङ्घत्वसिद्धेः**

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद (अविद्यमान दोषों का प्रचार) दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण है ।। १३ ।।

इन्द्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित ज्ञान वाले केवली कहलाते है । चक्षु आदि इन्द्रियाँ करण है, काल के (भूत, भविष्यत् आदि के) भेद से प्रवृत्ति क्रम कहलाती है । भित्ति आदि का अन्तर्धान व्यवधान कहलाता है । ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनके स्वाभाविक अनन्त ज्ञान प्रकट हो गया है, जिनका ज्ञान इन्द्रिय, काल, क्रम और दूर देश आदि के व्यवधान से रहित है और परिपूर्ण है वे अर्हन्त भगवान केवली कहलाते है ।। १ ।।

उनके द्वारा कथित और बुद्धि के अतिशयो से युक्त गणधर के द्वारा अवधारित 'श्रुत' कहलाता है । मोह राग द्वेषादि दोषो से रहित केवली के द्वारा कथित और बुद्धि आदि ऋद्धियो के अतिशयो के धारी गणधर के द्वारा अवधारित श्रुत कहलाता है । इसका विस्तार से वर्णन पूर्व मे किया है ।। २ ।।

रत्नत्रय से युक्त मुनियो का समूह सघ कहलाता है । सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की भावना मे परायण चतुर्विध श्रमणो के समूह को सघ कहते है ।। ३ ।।

एक के असघत्व का प्रसग आयेगा. ऐसा नही है, क्योंकि अनेक व्रतो और गुणो को धारण

---

१. श्रुतमपि जिनवरविहित गणधररचितमिता श्रुतभक्त्युक्तत्वात् । २ सघावर्णवाद आस्रवो भवतु, एकस्योपर्यवर्णवादो नास्रवहेतुरित्याशङ्कमान प्रत्याह ।

। ४ । स्यादेतत्–सङ्घो गणो वृन्दमित्यनर्थान्तरम् तस्य कथमेकस्मिन् वृत्तिरिति ? तन्न; किं कारणम् ? अनेकव्रतगुणसंहननादेकस्यापि सङ्घत्वसिद्धेः । उक्तं च–

संघो गुणसंघादो कम्माण विमोयदो हवदि संघो ।
दंसणणाणचरित्ते संघादित्तो[1] हवदि संघो ।। १ ।।[2]

अहिंसादिलक्षणो धर्मः । ५ । तस्मिन् जिनप्रवचने निर्दिष्टोऽहिंसादिलक्षणो धर्म इत्युच्यते ।

देवशब्दो व्याख्यातार्थः । ६ । **"देवाश्चतुर्णिकायाः" [त. सू. ४।१]** इत्यत्र देवशब्दो व्याख्यातार्थ. ।

अन्तः कलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः । ७ । गुणवत्सु महत्सु स्वमति-कलुषदोषात् असद्भूतमलोद्भावनमवर्णवाद इति वर्ण्यते । केवलिश्रुतसघधर्मदेवा-नामवर्णवाद: केवलिश्रुतसघधर्मदेवाऽवर्णवादः ।

करने वाला होने से एक के भी सघत्व की सिद्धि होती है । प्रश्न—सघ, गण और वृन्द ये अनर्थान्तर हैं । अर्थात् एकार्थवाची है, उस समूह की एक मे वृत्ति कैसे हो सकती है ? उत्तर—यद्यपि सघ समूहवाची है फिर भी एक व्यक्ति भी अनेक व्रत, गुण आदि का धारक होने से एक के भी सघत्व की सिद्धि होती है । कहा भी है—'गुणसघात को सघ कहते हैं । कर्मो का नाश करने और दर्शन, ज्ञान एव चारित्र का सघटन करने से सघ कहा जाता है ।' अतः सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणो का सघटन होने से एक को भी सघ कहा जाता है ।। ४ ।।

अहिंसादि लक्षण वाला धर्म कहा जाता है । जिनेन्द्र के प्रवचन मे अहिसादि लक्षण को धर्म कहा है ।। ५ ।।

'देवाश्चतुर्णिकायाः' 'तत्त्वार्थ सूत्र' के चतुर्थ अध्याय के प्रथम सूत्र मे देव शब्द का अर्थ कह दिया है, अतः यहाँ देव शब्द का अर्थ नही कहा है । देवगति नामकर्म के उदय से भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी के भेद से देव चार प्रकार के है ।। ६ ।।

अन्तरग के कालुष्य दोष के कारण असद्भूत मलो (दोषो) का उद्भावन करना अवर्णवाद है । गुणवान् और महत्त्वशालियो मे अपनी बुद्धि और हृदय की कलुषता के कारण अविद्यमान दोषो का उद्भावन करना अवर्णवाद है ।। ७ ।।

---

१ सघाताद् ङसेरिति प्राकृतव्याकरणसूत्रात् द्विरुक्ति । तदुक्तं प्राकृतमञ्जर्याम्-त्तोरित्येप द्विरुक्त स्यादोकारो वा ङसेः पुनरिति । २. भग. आरा गा ७१४।

पिण्डाभ्यवहारजीवनादिवचनं केवलिषु । ८ । पिण्डाभ्यवहारजीविनः [१]केवल-दशानिर्हरणाः अलाबूपात्रपरिग्रहाः कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः केवलिन इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः ।

मांसभक्षणाद्यनवद्याभिधानं श्रुते । ९ । [२]मांसमत्स्यभक्षणं मधुसुरापानं [३]वेदनार्दितमैथुनोपसेवा रात्रिभोजनमित्येवमाद्यनवद्यमित्यनुज्ञानं श्रुतेऽवर्णवादः ।

शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं सङ्घे । १० । एते श्रमणाः शूद्राः अस्नान-मलदिग्धाङ्गाः अशुचयो दिगम्बरा निरपत्रपा इहैवेति दुःखमनुभवन्ति परलोकश्च[४] मुषित इत्यादिवचनं सङ्घेऽवर्णवादः ।

निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मे । ११ । जिनोपदिष्टो दशविकल्पो धर्मो निर्गुणः, तदुपसेविनो ये ते चाऽसुरा भवन्ति इत्येवमाद्यभिधानं धर्मावर्णवादः ।

केवलियो मे पिण्डाभ्यव्यवहार (कवलाहार) जीवन आदि वचन केवली का अवर्णवाद है। केवली भोजन करते है, केवली कम्बल आदि दस उपकरण रखते है, तूंबी पात्र आदि परिग्रह रखते है तथा उनके भी ज्ञान और दर्शन क्रमशः होते है, इत्यादि कथन करना केवली का अवर्णवाद है ॥ ८ ॥

मासभक्षण आदि अनवद्य का कथन श्रुत का अवर्णवाद है। मास, मत्स्य (मछली) भक्षण करना, मधु और सुरापान करना, कामातुर को रतिदान देना और रात्रि मे भोजन करना आदि शास्त्रो मे कथन है। अर्थात् मासादि के भक्षण मे कोई दोष नही है, ऐसा कहना शास्त्र का अवर्णवाद है ॥ ९ ॥

शूद्र हैं, अशुचि है आदि कहना सघ का अवर्णवाद है। ये श्रमण शूद्र है, स्नान आदि नही करने से मलिन शरीर वाले है, अशुचि है, दिगम्बर है (वस्त्र रहित है), निर्लज्ज है, इस लोक मे ये दुःख का अनुभव कर रहे है और परलोक भी इनका नष्ट हो गया है अर्थात् परलोक मे भी ये दुःखी होंगे, इत्यादि वचन कहकर सघ (मुनि, आर्यिकादि) का तिरस्कार करना सघ का अवर्णवाद है ॥ १० ॥

निर्गुणत्वादि कहना धर्म का अवर्णवाद है। जिनेन्द्र द्वारा कथित धर्म निर्गुण (गुणरहित) है, इसके धारण करने वाले मरकर असुर होते हैं, इत्यादि कथन करना धर्म का अवर्णवाद है ॥ ११ ॥

---

१ कबल कुञ्ज। २. जीवन्मत्स्य। यो जग्धा पिशित मत्स्यकवलमिति। ३ तीव्रवेदनेषु कृपाहितमनसा। तदुक्तम्—अभवत् सुगत. खरी खराणा स्वयमुत्पाद्य भगान् समन्तत। कृपया न तु कामसेवया न वय तत्र विनिश्चय गता। ४. परलोके कुतश्च सुखिन इ–मु, द., व.।

सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः । १२ । सुरा: मास चोपसेवन्ते देवा. १आह(अहि)ल्यादिषु चासक्तचेतस. इत्याद्याघोषणं देवावर्णवादः ।

दर्शनं मोहयति मोहनं वा दर्शनमोहः । १३ । दर्शनमुक्तलक्षणं **"तत्त्वार्थश्रद्धानम्"** [त.सू. १।२] इत्यत्र, दर्शन मोहयतीति दर्शनमोह., दर्शनस्य मोहन वा दर्शनमोहः, तस्य दर्शनमोहस्यैते आस्रवा वेदितव्याः ।

आह–यद्येते दर्शनमोहस्यापादका. परिणामा निश्चीयन्ते । क इदानीमनन्त-रोद्दिष्टस्य चारित्रमोहस्यास्रव इति ? अत्रोच्यते–

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।। १४ ।।

द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मपरिपाक उदयः । १ । प्रागुपात्तस्य कर्मण. द्रव्यादि-

---

सुरा, मांस व कामसेवन आदि का दोषारोपण करना देवो का अवर्णवाद है । देव मास खाते हैं, सुरापान करते है, *अहल्यादि मे आसक्तचित्त थे, इत्यादि कथन करना देवो का अवर्णवाद है ।। १२ ।।

दर्शन को मोहित करता है, वा दर्शन को मोहन करने वाला दर्शनमोह है । 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' तत्त्वो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । यह लक्षण तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र मे लिखा है । उस सम्यग्दर्शन को मोहित करने वाला या नष्ट करने वाला दर्शनमोह कहलाता है । उस दर्शनमोह रूप कर्म का इन कारणो से आस्रव होता है, ऐसा जानना चाहिए ।। १३ ।।

ये दर्शनमोह के आस्रव के कारण कहे, अब दर्शनमोह के बाद कथित चारित्रमोह के आस्रव का कथन करते है—

कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के आस्रव के कारण है ।। १४ ।।

द्रव्यादि के निमित्त से होने वाले कर्मपरिपाक को उदय कहते है । पूर्व मे बाँधे हुए कर्मो

---

* अन्य मत के पुराण मे कथानक है कि गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या पर इन्द्र आसक्त होकर मध्यलोक मे आया । उसने अहल्या के घर मे प्रवेश किया । इतने मे गौतम ऋषि आ गये, इन्द्र को अपने घर मे देखकर क्रोधित होकर उन्होने इन्द्र को शाप दिया जिससे इन्द्र का शरीर छिद्र सहित हो गया । उसी से उसका नाम सहस्रभग हुआ, अहल्या गौतम के शाप से पत्थर की शिला बन गई, जो कितने ही वर्षो के बाद रामचन्द्रजी के चरण-स्पर्श से पुन स्त्री बनी । १ आहल्येति तापसस्त्री क ।चित्

निमित्तवशात् फलप्राप्तिः परिपाक उदय इति निश्चीयते। कषायो निरुक्तः। कषायस्य उदयः कषायोदयः तस्मात् कषायोदयात्।

तीव्रपरिणामशब्दावुक्तार्थौ। २। **"तीव्रमन्द"** [त.सू. ६।६] इत्यत्र तीव्रशब्दो व्याख्यातार्थः **"तद्भावः परिणामः"** [त.सू. ५।४१] इत्यत्र परिणामशब्दो वर्णितार्थः।

चारित्रं मोहयति मोहनं वा चारित्रमोहः। ३। चारित्रमुक्तलक्षणम्, तन्मोहयति मोहनं वा तस्य चारित्रमोह इति निर्ध्रियते, तस्य चारित्रमोहस्य कषायोदयनिमित्तः तीव्रपरिणामो यः स आस्रव इति वेदितव्य.। स किंस्वरूप इति चेत्? उच्यते— जगदनुग्रहतन्त्रशीलव्रतभावितात्मतपस्विजनगर्हण-धर्मविध्वसन-तदन्तरायकरण-शीलगुण-देशसंयतविरति-रतिप्रच्यावन-मधुमद्यमासविरतचित्तविभ्रमापादान - वृत्तसदूषण-सक्लिष्ट-लिङ्गव्रतधारण - स्वपर - कषायोत्पादनादिलक्षण. कषायवेदनीयस्यास्रवः। उत्प्रहास-दीनाभिहासित्व-कन्दर्पोपहसन-बहुप्रलापोपहासशीलता हास्यवेदनीयस्य। विचित्रपरक्रीडन-परसौचित्या[1]वर्जन-बहुविधपीडाभाव-देशाद्यनौत्सुक्यप्रीतिसजननादि रतिवेदनीयस्य।

का द्रव्य क्षेत्र कालादि के निमित्त से फल देने लगना कर्म का परिपाक है, उसे उदय कहते हैं। कषाय का लक्षण पूर्व मे कहा है। कषाय का उदय कषायोदय कहलाता है ॥ १ ॥

तीव्र परिणाम शब्द का अर्थ इसी अध्याय के छठे सूत्र मे कहा है। इसलिये यह व्याख्यात अर्थ है 'तद्भाव. परिणामः'। इस सूत्र से परिणाम शब्द का अभी वर्णन किया हुआ है अत कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम कषायोदय तीव्र परिणाम कहलाते है ॥ २ ॥

चारित्र को मोहित करता है, वा मोहन करता है, वह चारित्र मोहनीय कहा जाता है। कषायो के तीव्र उदय से होने वाले सक्लिष्ट परिणाम चारित्रमोह के आस्रव के कारण हैं, ऐसा जानना चाहिए। कषायवेदनीय और अकषायवेदनीय के भेद से चारित्र मोहनीय के दो प्रकार है— **प्रश्न**—उनका स्वरूप क्या है? तीव्र परिणामो का स्वरूप कहते है—जगदुपकारी, शीलव्रती, तपस्वियो की निन्दा करना, धर्म का ध्वस करना, धार्मिक कार्यो मे अन्तराय करना, किसी को शीलगुण, देशसयम और सकलसयम से च्युत करना, मद्य-मास आदि से विरक्त जीवो को उनसे विचकाना, चारित्र मे दूषण लगाना, सक्लेश उत्पादक वेषो और व्रतों को धारण करना, स्व और पर मे कषायो का उत्पादन आदि क्रियाये एव भाव कषायवेदनीय के आस्रव के कारण हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सकवेद ये नौ अकषाय वेदनीय के भेद हैं। उत्प्रहास-वहुत जोर से हँसना अथवा समीचीन धर्म के पालन करने वाले का उपहास करना, दीन जनों को देखकर हँसना, कन्दर्प (कामचेष्टा) पूर्वक हँसना, वहुत प्रलाप करना, हास्य रूप

---

१. आपादन।

परारतिप्रादुर्भावन - रतिविनाशन - पापशीलससर्गता - ऽकुशलक्रियाप्रोत्साहनादि अरतिवेदनीयस्य। स्वशोकाऽमो[1]दशोचन - परदु.खाविष्करण - शोकप्लुताभिनन्दनादिः शोकवेदनीयस्य। स्वयं भयपरिणाम-परभयोत्पादन-निर्दयत्व-त्रासनादिर्भयवेदनीयस्य। सद्धर्मापन्नचतुर्वर्णविशिष्टवर्गकुलक्रियाचारप्रवणजुगुप्सा - परिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य। प्रकृष्टक्रोधपरिणामातिमानितेर्ष्याव्यापारालीकाभिधायिता-ऽतिसन्धानपरत्व-प्रवृद्धराग - पराङ्गनाग - मनादर - वामलोचनाभावाभिष्वङ्गतादिः स्त्रीवेदस्य। स्तोकक्रोध - जैह्मनिवृत्त्यनुत्सिक्तत्वा - ऽलोभ [2]भावा - ऽङ्गनासमवायाल्परागत्व - स्वदारसन्तोषेर्ष्याविशेषोपरम-स्नानगन्धमाल्याभरणानादरादि· पुंवेदनीयस्य। प्रचुरक्रोधमानमायालोभपरिणाम-[3]गुह्येन्द्रियव्यपरोपण - स्त्रीपुसानङ्ग[4]व्यसनित्व - शीलव्रतगुणधारिप्रव्रज्याश्रितप्रम (मै) थन-पराङ्गनावस्क[5]न्दनरागतीव्रानाचारादिर्नपुंसकवेदनीयस्य।

स्वभाव होना आदि हास्य अकषायवेदनीय के आस्रव के कारण है। विचित्र क्रीडा करना, दूसरे के चित्त को आकर्षित करना, दूसरो को अनेक प्रकार के दु:ख देने के भाव होना, देशादि के प्रति अनुत्सुकता, परपदार्थो मे प्रीति आदि रति अकषायवेदनीय के आस्रव के कारण है। दूसरो की रति का विनाश, पर मे अरति का उत्पादन, पापशील व्यक्तियो की सगति करना, अकुशल क्रिया को प्रोत्साहन देना आदि अरति वेदनीय के आस्रव के कारण है। स्व शोक करना, प्रीति के लिए पर का शोक करना, दूसरे को दु ख उत्पन्न करना, शोक से व्याप्त का अभिनन्दन आदि करना, शोक वेदनीय के आस्रव के कारण है। स्वय भयभीत रहना, दूसरो को भयभीत करना निर्दयता, दूसरे को त्रास देना आदि भय वेदनीय के आस्रव के कारण है। धर्मात्मा, चतुर्वर्ण विशिष्ट वर्ग कुल आदि की क्रिया और आचार मे तत्पर पुरुषो से ग्लानि करना, दूसरे की बदनामी करने का स्वभाव आदि क्रियाएँ और भाव जुगुप्सा अकषायवेदनीय के आस्रव के कारण हैं। अत्यन्त क्रोध के परिणाम, अतिमान, अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्याभाषण, छलकपट (मायाचार), प्रपञ्चतत्परता, तीव्रराग, परस्त्रीगमन मे आदर, परस्त्रियो के प्रति अतिरुचि. स्त्रीभाव मे अनुराग, उसका आलिगन करना आदि कारणो से स्त्रीवेद का आस्रव होता है। मन्द क्रोध, कुटिलता की निवृत्ति, अभिमान का नही होना, निर्लोभ भाव, स्त्री के समागम मे अल्पराग, स्वदारसन्तोष, ईर्ष्याविशेष का उपरम, ईर्ष्याभाव का नहो होना, स्नान, सुगन्धित पदार्थ, माला, आभरण आदि के प्रति आदर भाव का न होना आदि परिणाम पुरुषवेद के आस्रव के कारण है। अत्यन्त क्रोध, मान, माया और लोभ के परिणाम, गुप्त इन्द्रियो का छेदन करना, स्त्री और पुरुष दोनो के साथ अनङ्गक्रीडा के व्यसन रूप परिणाम रखना, शीलव्रत गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषो को विचकाना (उनके शीलव्रतादि भ्रष्ट करने का प्रयत्न करना), परस्त्री पर आक्रमण, राग की तीव्रता से अनाचार का सेवन आदि क्रियाओ से एव भावों के द्वारा नपुंसकवेद रूप नोकषाय वेदनीय का आस्रव होता है॥ ३॥

---

१. प्रीत्यर्थं परशोचनम्। २. –भत्वाङ्गना–मु द। ३. शिश्नादिच्छेदन। ४ अनगक्रीडा। ५ हठाद् बलाभियोगेन स्वसात्करणम्।

आह–मोहनीयस्यानेकविकल्पस्यास्रवभेदो निर्दिष्टः। इदानीम् आयुश्चतुष्टयस्यास्रवभेदो वक्तव्य इति। तत्राद्यस्य नियतकालपरिपाकस्यायुषः कारणप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते–

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात् । १ । अयं बहुशब्दः अस्त्येव संख्यापदम्–एकः द्वौ बहव इति। अस्ति वैपुल्यवाची बहुरोदनो बहुसूप इति। तस्य द्विप्रकारस्यापि ग्रहणमिह न विरुध्यते। कुतः? अविशेषात्।

आरम्भो हैंस्रं कर्म । २ । हिंसनशीलाः हिंस्राः, तेषां कर्म हैंस्रम् आरम्भः इत्युच्यते। बहव आरम्भाः बह्वारम्भाः, बहुर्वा आरम्भो बह्वारम्भः।

ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः । ३ । ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते। बह्वारम्भाः परिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः तस्य भावः बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः आस्रवो भवति। एतदुक्तं भवति-परिग्रहप्रणिधानप्रयुक्ताः तीव्रतरपरिणामा हिंसापरा बहुशो विज्ञाता ह्यनुमता

मोहनीय कर्म के अनेक विकल्पो के आस्रव भेदो का वर्णन किया, अब आयु के चार भेदो के आस्रव के कारणो को कहना चाहिये। इसलिए सर्वप्रथम नियतकाल स्थिति के परिपाक वालो जो नरक आयु है, उसके आस्रव के कारणो को दिखाने के लिए सूत्र कहते है—

बहु आरम्भ और बहु परिग्रहत्व के भाव नरक आयु के कारण है ॥ १५ ॥

अविशेष रूप से यहाँ सख्या, विपुलवाची बहुशब्द का ग्रहण है। बहुशब्द के दो भेद है—सख्यावाची और विपुलवाची। सख्या मे 'एक' द्वौ बहव' ऐसा होता है और विपुलता मे बहुत से भात, बहुत सी दाल आदि मे भी बहुवचन है। इस सूत्र मे बहुशब्द के दोनो प्रकार के अर्थ विरोधी नही है इसलिये दोनो का ही ग्रहण है क्योकि सामान्यपने से दोनो प्रकार का अर्थ घटित हो जाता है ॥ १ ॥

आरम्भ हिंसक कर्म (व्यापार) है। हिंसनशील हिंसक होते हैं और उन हिंसको के कर्म हैंस्र हैं, यह आरम्भ कहलाता है। बहुत से आरम्भ या बहुत का आरम्भ बहु आरम्भ है ॥ २ ॥

'यह मेरा है' इस प्रकार का सकल्प परिग्रह है। 'यह मेरी वस्तु है, मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकार का आत्मीय अभिमान एव सकल्प परिग्रह कहलाता है। बहु आरम्भ परिग्रह जिसके है वह बहुआरम्भपरिग्रह है और बहुआरम्भपरिग्रह का भाव बहुआरम्भपरिग्रहत्व है। वह बहु आरम्भ-परिग्रहत्व नरक आयु के आस्रव का कारण है। अर्थात् बहुत आरम्भ परिग्रह से नरक आयु का आस्रव होता है। कहा भी है कि परिग्रह प्रणिधान प्रयुक्त (परिग्रह लोलुप)

भाविताश्च, तत्कृतकर्मात्मसात्करणात् तप्ताय.पिण्डवत् आहितक्रौर्या[1] नारकस्यायुष: आस्रव इति संक्षेप. । तद्विस्तरस्तु मिथ्यादर्शनाश्लिष्टाचारतोत्कृष्टमानता-शैलभेदसदृश-रोष-तीव्रलोभानुरागाऽनुकम्पाहीनभाव-परपरितापान्त. - प्राणिधान - वधबन्धनाभिनिवेश-प्राण[2] - भूतजीवसत्त्वाजस्रोपघातपरिणाम-प्राणवधात्मकानृतवचनशीलत्व-परस्वहरणानि-भृताभिष्वङ्ग[3] परिणाम-मैथुनोपसेवनाविरति-महारम्भवशीकृतेन्द्रियता-कामभोगाभिलाष-प्रवृद्धता - नै शील्य - पापनिमित्ताहाराभिप्राय - स्थिरवैर-नृशसासमीक्षितक्रन्दनकारिता-निरनुग्रहस्वाभाव्य - यतिसमयभेद - तीर्थकरासादन - कृष्णलेश्याभिजातरौद्रध्यानमरण-कालतादिलक्षणो विज्ञेय· ।

आह—उक्तो नारकस्यायुष आस्रव., तैर्यग्योनस्येदानी वक्तव्य इति ? अत्रोच्यते—

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

चारित्रमोहोदयात् कुटिलभावो माया । १ । चारित्रमोहकर्मोदयाविर्भूत आत्मन:

व्यक्ति तीव्रतर कषायपरिणाम वाले और हिसा मे तत्पर होते है। यह बहुत वार जाना गया है, देखा गया है, अनुमान के द्वारा भावित है और सुना गया है। उन कर्मो को आत्मसात् करने से (तीव्र अनुशय से) वे व्यक्ति लोहे के तपे हुए गोले के समान कषायज्वालाओ से सतप्त होकर क्रूर-कर्मा होते है और नरक आयु का आस्रव करते है। उनका विस्तार इस प्रकार है—मिथ्यादर्शन, अशिष्ट आचरण, उत्कृष्ट मान, पत्थर की रेखा के समान क्रोध, तीव्र लोभानुराग, अनुकम्पारहित भाव (परिणाम), पर-परिताप मे खुश होना, वध-वन्धन आदि का अभिनिवेश, प्राणभूत सत्त्व और जीवो की सतत हिसा करना, प्राणिवध, असत्यभाषणशीलता, परधनहरण, गुपचुप राग-चेष्टाये, मैथुनप्रवृत्ति, महाआरम्भ, इन्द्रियपरवशता, तीव्र कामभोगाभिलाष की प्रवृद्धता, नि शीलता, पापनिमित्तक भोजन का अभिप्राय, वद्धवैरता, क्रूरतापूर्वक रोना-चिल्लाना, अनुग्रहरहित स्वभाव, यतिवर्ग मे फूट पदा करना, तीर्थकर की आसादना, कृष्णलेश्या से उत्पन्न रौद्र परिणाम और रौद्र-ध्यानपूर्वक मरण (मरणकाल मे रौद्र परिणाम) आदि नरक आयु के आस्रव है। अर्थात् इन कारणो से नरक आयु का आस्रव होता है ॥ ३ ॥

नरक आयु के आस्रव का वर्णन कर दिया है। अव तिर्यंच आयु के आस्रव के कारणो को कहने के लिए सूत्र कहते है—

मायाचार तिर्यञ्च आयु के आस्रव का कारण है ॥ १६ ॥

चारित्रमोह के उदय से कुटिल भाव होता है, वह माया है। चारित्रमोह कर्म के उदय

---

१. –क्रोधार्या–द । –क्रोधाद्यर्या-मु. । २. प्राणा पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया. सत्त्वा साधारणाह्वया । प्रत्येकधातवो भूता जीवास्तु विकलेन्द्रिया· । ३. आसक्ति ।

कुटिलस्वभावः मायेति व्यपदिश्यते । सा माया निकृतिस्तैर्यग्योनस्यायुष आस्रव इति संक्षेपः । प्रपञ्चस्तु - मिथ्यात्वोपष्टम्भा - ऽधर्मदेशना - ऽनल्पारम्भपरिग्रहा-ऽतिनिकृति-कूटकर्मा-ऽवनिभेदसदृशरोषनि.शीलता - शब्द[1]लिङ्गवञ्चना-ऽतिसन्धानप्रियता - भेदकरणा-ऽनर्थोद्भावन - वर्णगन्धरसस्पर्शान्यत्वापादन[2]-जातिकुलशीलसदूषण - विसवादनाभिसन्धि-मिथ्याजीवित्व-सद्गुणव्यपलोपाऽसद्गुणख्यापन-नीलकापोतलेश्यापरिणाम-आर्तध्यानमरण-कालतादिलक्षणः प्रत्येतव्यः ।

आह–व्याख्यातस्तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवः । इदानी मानुषस्यायुषः को हेतुरिति ? अत्रोच्यते–

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

नारकायुरास्रवविपरीतो मानुषस्य । १ । नारकायुरास्रवो व्याख्यात, तद्विपरीतो [3]मानुषस्यास्रव इति सक्षेपः । व्यासस्तु-मिथ्यादर्शनालिङ्गितमति-विनीतस्वभावता-प्रकृतिभद्रता - मार्दवार्जवसमाचारसुखप्रज्ञापनीयता - वालुकाराजिसदृशरोष-प्रगुणव्यवहार-

---

से उत्पन्न जो आत्मा का कुटिल स्वभाव है, वह माया कहलाती है। सक्षेपतः, वह माया निकृति तिर्यञ्च आयु के आस्रव का कारण है। विस्तार से मिथ्यात्वयुक्त अधर्म का उपदेश, बहु आरम्भ, बहु परिग्रह, अतिवचना (अत्यन्त मायाचार), कूटकर्म, पृथ्वी की रेखा के समान रोष, नि शीलता, शब्द और सकेत आदि से परवचना का षड्यन्त्र, छल-प्रपञ्चकी रुचि, परस्पर फूट डालना, अनर्थोद्भावन, वर्ण, रस, गन्ध आदि को विकृत करने की अभिरुचि, जातिकुलशीलसदूषण, विसवाद में रुचि, मिथ्याजीवित्व, किसी के सद्गुणो का लोप, असद्गुणख्यापन, नील एव कापोत लेश्या के परिणाम, आर्तध्यान और मरणकाल मे आर्त्तरौद्रपरिणाम इत्यादि तिर्यञ्च आयु के आस्रव के कारण है ॥ १ ॥

तिर्यञ्च योनि की आयु के आस्रव के कारण तो कह दिये, अब मनुष्यायु के आस्रव के कारण कौन से है ? ऐसी पृच्छा होने पर आचार्य सूत्र कहते है—

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह मनुष्यायु के आस्रव के कारण है ॥ १७ ॥

नरक आयु के आस्रव के कारणो से विपरीत भाव मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं। नरक आयु के आस्रवो के कारणो बहु आरम्भादि का वर्णन कर दिया है। उससे विपरीत अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रहत्व, सक्षेप मे, मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं। विस्तार से मिथ्यादर्शन सहित बुद्धि, विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव-आर्जव परिणाम, अच्छे आचरणो मे सुख मानना,

---

१ शब्दलिंगवचना–ता., श्र, मू., द.। २. विक्रयार्थम्। ३. मानुषस्यायुष इ-मु ।

प्रायता - ऽल्पारम्भपरिग्रह - सन्तोषाभिरति - प्राण्युपघातविरमरण - प्रदोषविकर्मनिवृत्ति-[१]स्वागताभिभाषरणा-ऽमौखर्य - प्रकृतिमधुरता - लोकयात्रानुग्रह - औदासीन्या - ऽनुसूया-ऽल्पसक्लेशता -गुरुदेवताऽतिथिपूजासविभागशीलता-कपोत-पीतलेश्योपश्लेप-धर्मध्यानमरण-कालतादिलक्षरण. ।

किमेतावानेवायुषो मानुषस्यास्रव इति ? उच्यते—

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

उपदेशानपेक्षं स्वभावमार्दवम् । १ । मृदोर्भाव कर्म वा मार्दवम्, स्वभावेन मार्दवं स्वभावमार्दवम् । उपदेशानपेक्षमित्यर्थ । ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिद पुनर्ग्रहरण-मनर्थक [२]सूत्रेऽनुपात्तमिति कृत्वा पुनरिदमुच्यते ।

एकयोगीकरणमिति चेत्; न; उत्तरापेक्षत्वात् । २ । स्यान्मतम्—एको योगः

रेत की रेखा के समान क्रोधादि, सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह, सतोष मे रति, हिसा से विरक्ति, दुष्ट कार्यो से निवृत्ति, स्वागततत्परता, कम बोलना, प्रकृतिमधुरता, सब के साथ उपकार-बुद्धि रखना, औदासीन्यवृत्ति, ईर्षा रहित परिणाम, अल्प सक्लेशता, गुरु, देवता, अतिथि की पूजा-सत्कार मे रुचि, दानशीलता, कपोत पीत लेश्या के परिणाम, मरण समय मे धर्मध्यान परिणति आदि लक्षण वाले परिणाम मनुष्यायु के आस्रव के कारण है ॥ १ ॥

मनुष्यायु के आस्रव के कारण इतने ही है कि और भी है ? अन्य भी मनुष्य आयु के आस्रव के कारण है, सो कहते है—

स्वभाव में मृदुता-कोमलता रखना भी मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है ॥ १८ ॥

उपदेश की अपेक्षा के बिना होने वाली कोमलता स्वाभाविक कहलाती है । मृदु का भाव या कर्म मार्दव है, स्वभाव से होने वाला अर्थात् परोपदेश के बिना होने वाला मार्दव स्वाभाविक मृदुता है । **प्रश्न**—पूर्व सूत्र मे भी इसका वर्णन हो सकता था, पुन. ग्रहण व्यर्थ है ? **उत्तर**—पूर्व सूत्र मे इसका ग्रहण नही है इसलिये पुन यह सूत्र कहा है ॥ १ ॥

उत्तर सूत्र की अपेक्षा के कारण एक सूत्र नही किया है । **प्रश्न**—'अल्पारम्भपरिग्रहत्व स्वभावमार्दव मानुषस्य' ऐसा एक सूत्र बनाना था, दो सूत्र पृथक्-पृथक् बनाने से क्या प्रयोजन है ? **उत्तर**—'स्वभावमार्दव च' इस सूत्र की पृथक् रचना इसलिए की गई है कि इस सूत्र का सम्बन्ध आगे बताए जाने वाले देव-आयु के आस्रव से भी करना है । अर्थात् जैसे स्वाभाविक

---

१ क्षेमवार्ता । २. पूर्वसूत्रे ।

कर्तव्यः–'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य' इति; तन्न; किं कारणम् ? उत्तरापेक्षत्वात् । दैवस्यायुषः कथमयमास्रवः स्यादिति पृथक्करणम् ।

किमेतदेव द्वितय मानुषस्यास्रवः ? नेत्युच्यते–

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

चशब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः । १ । अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्यायुषः निःशीलव्रतत्व चेत्यधिकृतसमुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते । शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि, निष्क्रान्तः शीलव्रतेभ्यः निःशीलव्रतः, तस्य भावः नि·शीलव्रतत्वम् ।

सर्वेषाम् ग्रहणं सकलास्रवप्रतिपत्त्यर्थम् । २ । सकलस्यायुषः आस्रवप्रतिपत्तिः कथ स्यादिति सर्वेषामित्युच्यते ।

देवायुषोऽपि प्रसङ्ग इति चेत्; न; अतिक्रान्तापेक्षत्वात् । ३ । यदि सर्वेषा

मार्दव मनुष्यायु का कारण है वैसे देवायु के आस्रव का भी कारण है, उसकी अपेक्षा से पृथक् सूत्र बनाया है ।। २ ।।

क्या इतने ही कारण मनुष्य आयु के आस्रव के है कि दूसरे भी मनुष्यायु के आस्रव के कारण है ? नही, और भी है—

शील और व्रतों से रहितपना सभी आयु के आस्रव का कारण है । अव्रती प्राणी चारों आयु का बंध कर सकता है ।। १९ ।।

'च' शब्द समुच्चय ग्रहण के लिए है । 'च' शब्द से प्रयोजन यह है कि अल्पारभ और अल्प परिग्रहत्व भी मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है तथा निःशीलत्व और व्रतरहितत्व भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है । इस अधिकार प्राप्त मनुष्यायु के समुच्चय के लिए 'च'कार ग्रहण किया गया है । शील और व्रतो को मिलाकर शीलव्रतादि पद हुआ । फिर जो शीलव्रतो से रहित है, वह नि.क्रान्तशीलव्रत कहलाया, उसका जो भाव है, वह नि शीलव्रतत्व कहलाया ।। १ ।।

'सर्वेषा' पद का ग्रहण सकल आयु के आस्रव की प्रतिपत्ति के लिए है, सकल आयु के आस्रव की प्रतिपत्ति किससे होती है ? ऐसी शका का निवारण करने के लिये 'सर्वेषा' पद का ग्रहण किया है ।। २ ।।

देवायु का प्रसग आयेगा, ऐसा नही है क्योकि अतिक्रान्त (पूर्व कथित) आयु की अपेक्षा से वर्णन है । प्रश्न--यदि 'सर्वेषां' पद का ग्रहण सकल सग्रह के लिए किया गया है तो देव आयु

ग्रहण सकलसग्रहार्थं क्रियते, देवायुषोऽप्ययमास्रवः प्रसक्त ? नैष दोष.; अतिक्रान्तापेक्षत्वात् । अतिक्रान्तानामायुषा सर्वेषामास्रव इत्यपेक्ष्यते ।

पृथक्करणात् सिद्धेरानर्थक्यमिति चेत्; न; भोगभूमिजार्थत्वात् । ४ । स्यादेतत्—पृथक्करणादेवातिक्रान्तायुस्त्रयापेक्षा सिद्धयति । यदि मानुषायुरास्रव एवेष्टः स्यात् तत्रैव क्रियेत, तत सर्वेषा ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न, कि कारणम् ? भोगभूमिजार्थत्वात् । भोगभूमिजापेक्षया नि·शीलव्रतत्व दैवस्यायुष आस्रव इत्येतस्य प्रदर्शनार्थं सर्वेषामित्युच्यते ।

आह—त्रयाणामास्रवविधिरुक्त । इदानी दैवस्यायुषो विव्रियतामिति ? अत्रोच्यते—

सरागसंयमसंयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

व्याख्याताः सरागसंयमादयः । १ । प्राक् शुभपरिणामा· सरागसयमादयः

के आस्रव के ग्रहण का भी प्रसग आयेगा ? **उत्तर**—'सर्वेषा' इस पद से देव आयु का ग्रहण नही करना चाहिए क्योकि सर्वेषा पद पूर्व कथित तीनो आयुओ की अपेक्षा से कहा गया है ।। ३ ।।

पृथक् सूत्र करने से तीनो आयुओ के ग्रहण की सिद्धि हो ही जाती है, 'सर्वेषा' पद का प्रयोग व्यर्थ है, ऐसा नही है क्योकि भोगभूमिया जीवो की अपेक्षा वर्णन है । **शका**—इस पृथक् सूत्र की रचना से ही अतिक्रान्त तीन (तिर्यञ्च, नारको, मानव) आयु की सिद्धि (ग्रहण) हो ही जाती है । यदि मनुष्य आयु की अपेक्षा से 'सर्वेषा' पद दिया जाना इष्ट होता तो वही पर दे देते अत. इस सूत्र मे 'सर्वेषा' यह पद निष्प्रयोजन है ? **उत्तर**—यद्यपि पृथक् सूत्र बनाने से ही बीती हुई तीन आयु का बोध हो जाता है तथापि 'सर्वेषा' पद का प्रयोजन यह है कि नि शीलत्व और निव्रं तत्व देव आयु के आस्रव का भी कारण है, परन्तु भोगभूमिज जीवो की अपेक्षा से है, उसको दिखाने के लिये 'सर्वेषा' पद का ग्रहण है । अर्थात् भोगभूमिज मानव और तिर्यञ्च शील एव व्रत रहित होते हुए भी देवपद प्राप्त करते है ।। ४ ।।

नारकी, मानव और तिर्यञ्च इन तीनो आयु के आस्रव की विधि कही, अब देव आयु के आस्रव की विधि का विवेचन होना चाहिये ? उसके लिए नीचे के सूत्र कहते है—

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देव आयु के आस्रव के कारण है ।। २० ।।

सरागसयम, सयमासयम आदि का लक्षण पूर्व मे कह चुके है। पवित्र सरागसयमादि शुभ परिणामो का जो पूर्व में वर्णन किया है, सक्षेप से, वे सरागसयमादि शुभ परिणाम देवायु के

व्याख्याताः ते दैवस्यायुष आस्रवहेतवो भवन्तीति संक्षेपः। विस्तरस्तु-कल्याणमित्रसंबन्ध-आयतनोपसेवा-सद्धर्मश्रवण[1]गौरवदर्शना-ऽनवद्यप्रोषधोपवास-तपोभावना-बहुश्रुतागमपरत्व-कषायनिग्रह-पात्रदान - पीतपद्मलेश्यापरिणाम-धर्म्यध्यानमरणादिलक्षणः सौधर्माद्यायुषः[2] आस्रवः। अव्यक्तसामायिक-विराधितसम्यग्दर्शनता भवनाद्यायुषः[3] महर्द्धिकमानुषस्य वा। पञ्चाणुव्रतधारिणोऽविराधितसम्यग्दर्शनाः तिर्यङ्मनुष्याः सौधर्मादिषु अच्युताव-सानेषूत्पद्यन्ते, विनिपतितसम्यक्त्वा भवनादिषु। [4]अनधिगतजीवाजीवा बालतपस· अनुपलब्धतत्त्वस्वभावा अज्ञानकृतसयमाः सक्लेशाभावविशेषात् केचिद्भवनव्यन्तरादिषु सहस्रारपर्यन्तेषु मनुष्यतिर्यक्ष्वपि च। अकामनिर्जरा-क्षुत्तृष्णानिरोध ब्रह्मचर्य-भूशय्या-मलधारण-परितापादिभिः परिखेदितमूर्तय [5]चारकनिरोधबन्धनबद्धा· दीर्घकालरोगिण· असंक्लिष्टाः तरुगिरिशिखरपातिनः अनशन-ज्वलनजलप्रवेशन-विषभक्षणधर्मबुद्धय व्यन्तर-मानुषतिर्यक्षु। नि·शीलव्रता· सानुकम्पहृदयाः जलराजितुल्यरोषा भोगभूमिसमुत्पन्नाश्च व्यन्तरादिषु जन्म प्रतिपद्यन्ते इति।

आस्रव के कारण है। विस्तार से तो कल्याणकारी धार्मिक मित्रो की सगति, आयतनसेवा, सद्धर्म श्रवण, स्वगौरवदर्शन, निर्दोष प्रोषधोपवास, तप की भावना, बहुश्रुतत्व, आगमपरता, कषायों का निग्रह, पात्रदान, पीत-पद्मलेश्या के परिणाम और मरण समय मे धर्मध्यान रूप परिणाम आदि शुभ परिणाम सौधर्मादि कल्पवासी देव आयु के आस्रव के कारण हैं। अव्यक्त सामायिक और सम्यग्दर्शन की विराधना आदि भवनवासी आदि देवो की आयु के और महर्धिक मनुष्यो की आयु के आस्रव के कारण है। पॉच अणुव्रतधारी, सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च, सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत नामक सोलहवे स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते है। यदि पचाणुव्रतधारक मानव और तिर्यञ्च सम्यग्दर्शन की विराधना कर देते है तो वे भवनवासी आदि देवो मे उत्पन्न होते हैं। नही जाना है जीव-अजीव के स्वरूप को जिन्होने ऐसे तत्त्वज्ञानशून्य बालतप तपने वाले, अज्ञानो, तत्त्व-कुतत्त्व को नही जानने वाले, अज्ञानपूर्वक सयम का पालन करने वाले, क्लेश के अभाव विशेष यानी (मन्द कषाय) के कारण कोई भवनवासी व्यन्तरादि मे उत्पन्न होते है, कोई सौधर्म स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते है और कोई इन भावो से मरकर मानव एवं तिर्यञ्च पर्याय मे भी उत्पन्न हो सकते है। अकामनिर्जरा, भूख-प्यास का सहना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, पृथ्वी पर शयन, मलधारण (स्नान नही करना), परितापादि परीषहो से खेद-खिन्न नही होना, गूढ पुरुषो के बन्धन मे पड जाने पर भी नही घबडाना, दीर्घकाल तक रोगी रहने पर भी सक्लेश भाव नही करना, वृक्ष या पर्वत के शिखर से झम्पापात करना, अनशन, अग्निप्रवेश, विषभक्षण आदि मे धर्म मानने वाले कुतापस मरकर व्यन्तर देव, मनुष्य और तिर्यञ्चो मे उत्पन्न

---

१. –णागौर–मु, व.। २. –र्म्याद्या–श्र। –र्माद्यास्रव अव्य–ता। –र्माद्यायुष अव्य–मू। ३ महा-ऋद्धियुतमहाराजादि·। ४ श्र प्रतौ 'अनधिगतजीवाजीवा बालतपस' इति वार्त्तिकचिह्नाकितम्। ५ गूढपुरुष।

उक्तो दैवस्यायुष आक्रान्तभेद आस्रवः। किमेतावानेव देवायुरास्रवविधिः, आहोस्विदन्योऽप्यस्तीति ? अत्रोच्यते—

सम्यक्त्वं च[1] ॥ २१ ॥

किम् ? दैवस्यायुषः, 'आस्रव' इत्यनुवर्तते। उक्तं सम्यक्त्वलक्षणम्।

अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः पृथक्करणात्। १। सम्यक्त्वं दैवस्यायुष आस्रव इत्यविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिर्भवति। कुतः ? पृथक्करणात्। यद्यविशेषगतिरेवेष्टा स्यात् पृथक्करणमनर्थकं स्यात् पूर्वसूत्रे एवोच्येत। यद्येव पूर्वसूत्र उक्त आस्रवविधिः अविशेषेण प्रसक्तः, तेन सरागसंयमसंयमासयमावपि भवनवास्याद्यायुष आस्रवौ प्रसक्तौ ?

होते हैं। जिन्होने शील और व्रतो को धारण नही किया है किन्तु जिनका हृदय अनुकम्पा से ओतप्रोत है, जिनके जलरेखा सदृश रोष है तथा जो भोगभूमि मे उत्पन्न है, ऐसे तिर्यञ्च और मनुष्य व्यन्तरादि मे उत्पन्न होते है ॥ १ ॥

देव आयु के आस्रव के कारणो के भेदो का कथन किया है। इनमे इतने ही देवायु के आस्रव के कारण है कि और भी है ? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—

सम्यक्त्व भी देव आयु के आस्रव का कारण है ॥ २१ ॥

सम्यक्त्व देवआयु के आस्रव का कारण है। सम्यक्त्व का लक्षण **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'** पहले कहा जा चुका है।

विशेष कथन न होने पर भी पृथक् सूत्र होने से सोधर्मादि विशेष गति जाननी चाहिये। सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण है, ऐसा सामान्य कथन होने पर भी सम्यग्दर्शन, सोधर्मादि कल्पवासी देव सम्बन्धी आयु के आस्रव का कारण है, यह समझना चाहिए। क्योकि पृथक् सूत्र से यह ज्ञात होता है। यदि सामान्य रूप से सम्यग्दर्शन देव आयु के आस्रव का कारण इष्ट होता तो पृथक् सूत्र की रचना व्यर्थ होती। क्योकि पूर्व सूत्र मे ही देवायु के आस्रव के कारण कहे है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो पूर्व सूत्र मे जो आस्रव के कारण कहे गये है वे अविशेष यानी सामान्य रूप से चारो निकायो के देवो की आयु के आस्रव के कारण ठहरेंगे, ऐसी अवस्था मे सरागसयम और सयमासयम भी भवनवासी, व्यन्तर आदि देवो की आयु के आस्रव के कारण सिद्ध होगे ? ॥ १ ॥

---

१ सूत्रमेतन्नास्ति भा १–२।

न, अतस्तत्सिद्धेः ।२। नैष दोष.। कुत ? अतस्तत्सिद्धेः। यत एव सम्यक्त्वं सौधर्मादिष्विति नियम्यते तत एव तयोरपि नियमसिद्धि., नासति सम्यक्त्वे सरागसंयमसंयमासयमव्यपदेश इति ।

आह–आयुषोऽनन्तर यन्निर्दिष्ट नाम, तस्य क आस्रव इति ? अत्रोच्यते–तन्नाम द्विविधम्–अशुभं शुभं चेति । तत्राशुभनामास्रवप्रतिपत्त्यर्थमारभ्यते–

योगवक्रताविसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

कायवाङ्मनसां कौटिल्येन वृत्तिर्योगवक्रता ।१। कायवाङ्मनासि व्याख्यातानि, तेषा कुटिलता योगवक्रता इत्युच्यते । अनार्जवं प्रणिधानमिति यावत् ।

विसंवादनमन्यथाप्रवर्त्तनम् ।२। अन्येन प्रकारेण प्रवर्तन प्रतिपादन विसंवादनमिति विज्ञायते ।

उत्तर--सरागसयमादि भवनवासी देवो की आयु के आस्रव का कारण नही है, क्योकि इसी से उस कथन की भी सिद्धि हो जाती है। यह कोई दोष नही है कि पूर्व सूत्र के साथ अविशेषता से (यानी सामान्य रूप से) सम्बन्ध करने पर सरागसयमादि के भवनत्रिक देवो की आयु के आस्रव के कारण का प्रसग आयेगा। क्योकि सम्यक्त्व के साथ नियम है कि सम्यग्दृष्टि सौधर्मादि विमानवासी देवो की आयु का ही बध करता है, अन्य आयु का नही, उसी प्रकार सरागसयम और सयम का भी नियम है कि वे भी स्वर्गो की आयु का बध करते है। क्योकि सम्यग्दर्शन के विना सरागसयम और सयमासयम की उत्पत्ति नही है। अर्थात् सम्यक्त्व के अभाव मे सरागसयम और सयमासयम नही हो सकते ॥ २ ॥

आयु के अन्त मे नाम का उल्लेख है, उसके आस्रव किनसे आता है, ऐसी आशका होने पर कहते है—

मन, वचन और काय की कुटिल वृत्ति रूप योगवक्रता तथा विसंवादन ये अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है ॥ २२ ॥

मन मे कुछ सोचना, वचन से कुछ दूसरे प्रकार से कहना और काय से भिन्न रूप से ही प्रवृत्ति करना योगवक्रता है। मन, वचन और काय का व्याख्यान पहले किया जा चुका है, उनकी कुटिलता योगवक्रता कहलाती है। अनार्जव का प्रयत्न ही कुटिलता है ॥ १ ॥

अन्यथा प्रवृत्ति करना-कराना विसवादन है। दूसरो को अन्यथा प्रवृत्ति कराना, वस्तु के स्वरूप का अन्यथा प्रतिपादन करना अर्थात् श्रेयोमार्ग पर चलने वालो को उस मार्ग की निन्दा करके बुरे मार्ग पर चलने को कहना विसवादन है ॥ २ ॥

योगवक्रतैवेति चेत्; सत्यम्; आत्मान्तरेऽपि तद्भावप्रयोजकत्वात् पृथग्वचनम् । ३ । स्यादेतत्–अन्यथाप्रवर्तनं विसवादन तदेव योगवक्रताऽपीति पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति, सत्यमेवमेतत्; किन्तु आत्मान्तरेऽपि तद्भावप्रयोजकत्वात् पृथग्वचनम् । सम्यगभ्युदयनि - श्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्य कायवाङ्मनोभिर्विसवादयति-मैवं कार्षीरेवं कुर्विति कुटिलतया प्रवर्तन विसंवादनम्, आत्मगता योगवक्रतेत्ययमनयोर्भेद ।

चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । ४ । चशब्दः क्रियते अनुक्तस्यास्रवस्य समुच्च-यार्थ. । क. पुनरसौ ? मिथ्यादर्शन-पिशुनता-ऽस्थिरचित्तस्वभावता-कूटमानतुलाकरण-सुवर्णमणिरत्नाद्यनुकृति - कुटिलसाक्षित्वा-ऽङ्गोपाङ्गच्यावन - वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावन-यन्त्रपञ्जरक्रिया-द्रव्यान्तरविषयसबन्धनिकृतिभूयिष्ठता-परनिन्दात्मप्रशसा-ऽनृतवचन- पर-द्रव्यादानमहारम्भपरिग्रह-उज्ज्वलवेषरूपमद-परुषासभ्यप्रलाप-आक्रोश-मौखर्य-सौभाग्योपयो-गवशीकरणप्रयोग - परकुतूहलोत्पादना-ऽलङ्कारादरचैत्यप्रदेशगन्धमाल्यधूपादिमोषण-विल-

---

प्रश्न—योगवक्रता ही विसवादन है, इनका पृथक्-पृथक् कथन क्या किया गया है ? उत्तर—यह सत्य है, परन्तु आत्मगत और अनात्मगत भाव के प्रयोजन की अपेक्षा पृथक् वचन हैं। प्रश्न—जब वस्तु का अन्यथा प्रतिपादन करना विसवादन है और वही योगवक्रता है तब विसवादन का पृथक् निर्देश करना निरर्थक है ? उत्तर—यद्यपि योगवक्रता और विसवादन समान है, फिर भी उनमे अन्तर है क्योकि योगवक्रता आत्मगत है तथा विसवादन आत्मान्तर का प्रयोजक होने से पर से सम्बन्ध रखता है, इसलिये पृथक् निर्देश किया है। जैसे कोई पुरुष सम्यक् अभ्युदय और नि.श्रेयस की कारणभूत क्रियाओ मे प्रवृत्ति कर रहा है, उसे मन, वचन, काय के द्वारा विसवाद कराता है कि 'तुम ऐसा मत करो, ऐसा करो' इत्यादि रूप से प्रवृत्ति कराना विसवादन है, अतः योगवक्रता आत्मगत है और विसवादन परगत है, यही इन दोनों मे अन्तर है ॥ ३ ॥

'च' शब्द अनुक्त के समुच्चय के लिए है। अनुक्त अशुभ नामकर्म के आस्रव का संग्रह करने के लिए 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। अनुक्त अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण कोन-कौन है ? मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिर चित्त स्वभावता, कूटमान-तुलाकरण (झूठे वाट, तराजू रखना), कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी साक्षी देना, अग-उपाङ्ग का छेदन करना, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का विपरीतपना अर्थात् स्वरूपविकृति कर देना, यन्त्र, पिंजरा आ द पीडाकारक पदार्थ बनाना, एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य का विषय सम्बन्ध करना, माया की वहुलता, परनिन्दा, आत्मप्रशसा, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, महारम्भ, महापरिग्रह, उज्ज्वल वेष और रूप का घमण्ड करना, कठोर और असभ्य भाषण करना, क्रोधभाव रखने और अधिक बकवाद करने मे अपने सोभाग्य का उपभोग करना, दूसरो को वश करने के प्रयोग करना, दूसरे मे कुतूहल उत्पन्न करना, बढिया-बढिया आभूषण पहनने की चाह रखना, जिनमन्दिर-चैत्यालय से गन्ध (चन्दन) माल्य, धूप आदि को चुरा लेना, किसी की विडम्बना करना, उपहास करना, ईंट-चूने

म्बनोपहास-इष्टिकापाक-दवाग्निप्रयोग-प्रतिमायतनप्रतिश्रयारामोद्यानविनाशन - तीव्रक्रोध-मानमायालोभपापकर्मोपजीवनादिलक्षरण । स एष सर्वोऽशुभस्य नाम्न आस्रवः ।

आह–अथ शुभनामकर्मणः क आस्रव इति ? उच्यते–

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

[1]**ऋजुयोगोऽविसंवादनं च तद्विपरीतम् । १ ।** कायवाङ्मनसा ऋजुत्वमविसवादन च तद्विपरोतमित्युच्यते । चशब्देन धार्मिकदर्शनसंभ्रम-सद्भावोपनयन-संसरणभीरुता-प्रमादवर्जनाऽसभेदचरिततादयो यथोक्ताऽशुभविपरीता परिणामाः शुभनाम्न आस्रवाः प्रत्येतव्याः ।

आह–किमेतावानेव शुभनामास्रवविधि, उत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इति ? उच्यते–यदिद तीर्थंकरनामकर्म अनन्तानुपमप्रभावमचिन्त्यविभूतिविशेषकारण त्रैलोक्य-

---

का भट्टा लगाना, वन मे अग्नि लगाना, प्रतिमा का, प्रतिमा के आयतन का अर्थात् चैत्यालय का और जिनकी छाया मे विश्राम लिया जाय ऐसे बाग-बगीचो का विनाश करना, तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ करना तथा पापकर्म जिसमे हो ऐसी आजीविका करना इत्यादि बातो से भी अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है । ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु है ॥ ४ ॥

शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण बताते है—

योगवक्रता और विसंवादन से विपरीत योगों की सरलता और अविसंवादन शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं ॥ २३ ॥

सरल योग और अविसवादन उस योगवक्रता आदि से विपरीत है । मन, वचन, काय की सरलता और अविसवादन शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है । धर्मात्मा पुरुषो का दर्शन करना, आदर सत्कार करना, उनके प्रति सद्भाव रखना, ससारभीरुता, प्रमाद का त्याग, निश्छल चारित्र का पालन आदि पूर्वोक्त अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारणो से विपरीत परिणाम शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है । इन सब शुभ नामकर्म के आस्रव के कारणो का 'च' शब्द से सग्रह होता है, ऐसा समझना चाहिए ।

प्रश्न—क्या इतने ही शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है कि और भी कोई इसके आस्रवो मे विशेषता है ? **उत्तर**—हाँ है, अनन्त, अनुपम, अचिन्त्य, विभूतिविशेष का कारणभूत और तीन लोक मे विजय करने वाला ऐसा तीर्थंकर नामकर्म है, उसकी आस्रव विधि मे विशेषता है ।

---

१ ऋजुयोगाविसं–मू, ता., श्र., द ।

विजयकरं तस्यास्रवविधिविशेषोऽस्तीति। यद्येवमुच्यतां तस्यास्रव इति? अत इदमारभ्यते—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचन भक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥

जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशङ्कितत्वाद्यष्टाङ्गा दर्शनविशुद्धिः ।१। जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः। तस्या अष्टावङ्गानि—निःशङ्कितत्वम्, निःकाङ्क्षता, विचिकित्साविरहः, अमूढदृष्टिता, उपबृंहणम्, स्थितिकरणम्, वात्सल्यम्, प्रभावन चेति। तत्र इहलोकपरलोकव्याधिमरणासय[1]मारक्ष[2]णाकस्मिकसप्तविधभयविनिर्मुक्तता, अर्हदुपदिष्टे वा प्रवचने किमिदं स्याद्वा नवेति शङ्कानिरासो निःशङ्कितत्वम्। उभयलोकविषयोपभोगा-

---

प्रश्न—यदि आस्रव-विशेषता है तो उसका वर्णन करना चाहिये? उत्तर—तीर्थंकर नामकर्म की विशेष आस्रवविधि निम्नलिखित सूत्र द्वारा कही जाती है—

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में अतिचार नहीं लगाना, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, यथाशक्ति त्याग, यथाशक्ति तप, साधुसमाधि, वैयावृत्त्य करना, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकों को नहीं छोड़ना, जिनमार्ग की प्रभावना करना और प्रवचनवत्सलता, ये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के कारण हैं ॥ २४ ॥

जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग मे निशङ्कितादि आठ गुण सहित रुचि करना (१) दर्शनविशुद्धि है। जिनेन्द्र भगवान अर्हत् परमेष्ठी के द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थलक्षण मोक्षमार्ग में रुचि होना दर्शनविशुद्धि है। इस दर्शनविशुद्धि के निशकितत्व, निःकाङ्क्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टिता, उपबृंहण वा उपगूहन, स्थितिकरण, वत्सलता और प्रभावना ये आठ अङ्ग हैं। अब प्रत्येक अंग का लक्षण कहते हैं—इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, अगुप्तिभय, अरक्षणभय और आकस्मिकभय इन सात भयो से मुक्त रहना अर्थात् मरण आदि से भयभीत नही होना अथवा जिनेन्द्र भगवान कथित तत्त्व मे 'यह है या नहीं' इस प्रकार की शंका नही करना निःशङ्कित है। धर्म को धारण करके इस लोक और परलोक में

---

१. अगुप्ति। २. अत्राण।

काङ्क्षानिवृत्तिः कुदृष्टयनन्तराकाङ्क्षानिरासो वा नि.काङ्क्षता । शरीराद्यशुचिस्वभाव-मवगम्य शुचीति मिथ्यासकल्पापनय,, अर्हत्प्रवचने वा इदमयुक्त घोरं कष्ट न चेदिद सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनाविरह˙ निर्विचिकित्सता । बहुविधेषु दुर्नयदर्शनवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्तयभाव परीक्षाचक्षुषा व्यवसाय्य[1] विरहितमोहता अमूढदृष्टिता । उत्तमक्षमादिभावनया आत्मनो धर्मपरिवृद्धिकरणमुपवृंहणम् । कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंशकारणेषु उपस्थितेष्वात्मनो धर्माऽप्रच्यवन परिपालनं स्थितिकरणम् । जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम् । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयप्रभावेन आत्मन. प्रकाशनं प्रभावन ।

ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसंपन्नता । २ । सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधनेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदर कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता ।

विषयभोगो की काक्षा नही करना अर अन्य कुदृष्टियो की (मिथ्यादृष्टि सम्बन्धी) आकाक्षाओ का निरास करना अर्थात् मिथ्याधर्म की वाछा नही करना **निःकांक्षित** अग है । शरीरादि के अशुचि स्वभाव को जानकर उसमे शुचित्व के मिथ्यासकल्प को छोड देना, अथवा अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन मे 'यह अयुक्त है' 'जिनप्रवचन घोर कष्टदायक है' 'ये जिनकथन घटित नही हो सकते' इत्यादि जिनधर्म के प्रति अशुभ भावनाओ से चित्त मे विचिकित्सा (ग्लानि) नही करना **निर्विचिकित्सा** अग है । तत्त्व के समान अवभासमान अनेक प्रकार के मिथ्यानयवादियो के मिथ्या मार्गो मे युक्त-अयुक्त (योग्यायोग्य) भावो का परीक्षा रूपी चक्षुओ के द्वारा भले प्रकार से निर्णय करके उनसे मोह नही करना **अमूढ़दृष्टि** अग है । उत्तम क्षमा आदि धर्म-भावनाओ के द्वारा आत्मीय-धर्म की वृद्धि करना, आत्मगुणो का विकास करना **उपबृंहण** अग है । कषायोदय से धर्मभ्रष्ट होने के कारण उपस्थित होने पर भी अपने धर्म से परिच्युत नही होना, उसका बराबर पालन करना **स्थितिकरण** अग है । जिनप्रणीत धर्मामृत से नत्य अनुराग रखना **वात्सल्य** अङ्ग है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशित करना **प्रभावना** अग है ।। १ ।।

ज्ञानादि मे तथा ज्ञानादिधारियो मे आदर करना तथा उनमे कषाय की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है । सम्यग्ज्ञानादि मोक्ष के साधनो मे तथा ज्ञानादि के साधन (निमित्त) गुरु आदि मे योग्य रीति से सत्कार आदर करना तथा कषाय की निवृत्ति करना (२) **विनयसम्पन्नता** है ।। २ ।।

---

१. व्यवसायवि–ता, अ, मू, द । निश्चीय ।

चरित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः । ३ । अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः कायवाङ्मनसा शीलव्रतेष्वनतिचार इति कथ्यते ।

ज्ञानभावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः । ४ । मत्यादिविकल्प ज्ञान जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषय प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम् अज्ञाननिवृत्त्यव्यवहितफल[१] हिताहितानुभयप्राप्तिपरिहारोपेक्षाव्यवहितफल यत्, तस्य भावनाया नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोग. ।

संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः । ५ । शारीर मानसं च बहुविकल्पप्रियविप्रयोगाऽप्रियसयोगेप्सिताऽलाभादिजनितं ससारदुःख यदतिकष्ट ततो नित्यभीरुता सवेगः ।

परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः । ६ । आहारो दत्त. पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेकभवव्यसननोदनकरम्, सम्यग्ज्ञानदान पुनः अनेकभवशतसहस्रदु.खोत्तरणकारणम् । अत एतत्त्रिविध यथाविधि प्रतिपद्यमान त्यागव्यपदेशभाग्भवति ।

चारित्र के विकल्परूप शीलव्रतो मे निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेष्वनतिचार है। अहिंसा आदि व्रत तथा उनके परिपालन के लिए क्रोधादि के त्याग रूप शीलो मे मन, वचन, काय की निर्दोष प्रवृत्ति करना (३) **शीलव्रतेष्वनतिचार** है ।। ३ ।।

ज्ञानभावना से नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोग है। जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्वविषय को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जानना है लक्षण जिनका ऐसे मतिज्ञानादि विकल्परूप ज्ञान पाँच प्रकार के है। अज्ञान की निवृत्ति इनका साक्षात् फल है तथा हितप्राप्ति, अहित-परिहार और उपेक्षा यह व्यवहित (परोक्ष) फल है। इस ज्ञान की भावना मे सदा तत्पर रहना ही (४) **अभीक्ष्णज्ञानोपयोग** है ।। ४ ।।

संसार के दुःखो से नित्य भयभीत रहना सवेग है। शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार के प्रियवियोग, अप्रियसयोग, इष्ट वस्तु का अलाभ आदि जनित दुःख अतिकष्टदायक हैं, अत. उन ससार दु खो से नित्य भयभीत रहना (५) **संवेग** है ।। ५ ।।

पर की प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग है। पात्र के लिये दिया गया आहार उस दिन उसकी प्रीति का हेतु बनता है। अभयदान उस भव के दुःखो को दूर करने वाला है और पात्र को सतोषजनक है। सम्यग्ज्ञान का दान अनेक सहस्र भवो के दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला है

---

१ साक्षात्फलम् ।

अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः । ७ । शरीरमिदं दुःखकारणमनित्यमशुचि, नास्य यथेष्टभोगविधिना परिपोषो युक्तः, अशुच्यपीदं गुणरत्नसचयोपकारीति विचिन्त्य विनिवृत्तविषयसुखाभिष्वङ्गस्य स्वकार्यं प्रत्येतद्भृतकमिव नियुञ्जानस्य यथाशक्ति मार्गाविरोधि कायक्लेशानुष्ठान तप इति निश्चीयते ।

मुनिगणतपःसंधारणं समाधिः भाण्डागाराग्निप्रशमनवत् । ८ । यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात् तथा अनेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनिगणस्य तपसः कुतश्चित् प्रत्यूहे समुत्थिते तत्सधारण समाधिरिति समाख्यायते ।

गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्यम् । ९ । गुणवतः साधुजनस्य दुःखे सन्निहिते निरवद्येन विधिना तदपहरण बहूपकारं वैयावृत्त्यमिति व्याख्यायते ।

अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः । १० ।

अर्थात् अनेक भवो के दु.खो के नाश मे कारणभूत है । अत· ये यथाविधि (विधिपूर्वक) दिये गये तीनो प्रकार के दान ही (६) *त्याग* कहलाते है ।। ६ ।।

अपनी शक्ति को नही छिपाकर मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप कहलाता है । यह शरीर दु.ख का कारण है, अशुचि है, यथेष्ट (इच्छानुसार) पचेन्द्रियजन्य भोगो को भोगने पर भी इनसे तृप्ति नही होती है । अतः इसको यथेष्ट भोगविधि से पुष्ट करना युक्त नही है । यह अशुचि शरीर भी शीलव्रतादि गुणो के सचय मे आत्मा की सहायता करता है, ऐसा विचार करके विषयो से विरक्त हो आत्मकार्य के प्रति शरीर का नौकर की तरह उपयोग कर लेना उचित है । अतः इस शरीर से यथाशक्ति मार्ग-अविरोधी कायक्लेश रूप अनुष्ठान करना (७) **तप** कहलाता है ।। ७ ।।

भाण्डागार की अग्निप्रशमन के समान मुनिगणो के तप का सधारण करना साधुसमाधि है । जैसे—भण्डार मे आग लगने पर भण्डार बहु उपकारी होने से उस अग्नि का प्रयत्नपूर्वक शमन किया जाता है अर्थात् अग्नि के शमन करने का प्रयत्न किया जाता है, उसो प्रकार अनेक व्रतशीलो से समृद्ध मुनिगण के तप आदि मे विघ्न उपस्थित हो जाने पर उस विघ्न का निवारण करना (८) **साधुसमाधि** है ।। ८ ।।

गुणवानो पर दु ख आने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना वैयावृत्त्य है । गुणवान (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारी) साधुजनो पर आये हुए सकट, रोग आदि आपत्ति को निर्दोष रीति से दूर करना उनकी सेवादि करना बहु उपकारी (९) **वैयावृत्त्य** है ।। ९ ।।

अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन मे भावविशुद्धि युक्त जो अनुराग है, उसका नाम भक्ति

अर्हदाचार्येषु केवलश्रुतज्ञानादिदिव्यनयनेषु परहितकरप्रवृत्तेषु स्वपरसमयविस्तरनिश्चयज्ञेषु च बहुश्रुतेषु प्रवचने च श्रुतदेवतासन्निधिगुणयोगदुरासदे मोक्षपदभवनारोहणसुरचित-सोपानभूते भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः, त्रिविधा (चतुर्विधा) कल्प्यते ।

षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनमावश्यकाऽपरिहाणिः । ११ । षडावश्यक-क्रियाः—सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान कायोत्सर्गश्चेति । तत्र सामायिक सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं चित्तस्यैकत्वेन ज्ञाने प्रणिधानम् । चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थकरगुणानुकीर्तनम् । वन्दना त्रिशुद्धिः द्व्यासना चतुःशिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना । अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम् । अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम् । परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः । इत्येतासा षण्णामावश्यकक्रियाणा यथाकालप्रवर्तनम् अनौत्सुक्यं आवश्यकाऽपरिहाणिरिति परिभाष्यते ।

ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनम् । १२ । ज्ञानरविप्रभया

है। केवलज्ञान रूपी दिव्य नेत्र के धारी (१०) **अर्हन्त में,** श्रुतज्ञान रूपी दिव्य नेत्र के धारी (११) **आचार्य में,** परहितप्रवण और स्वसमय एव परसमय के विस्तार के निश्चय करने वाले (१२) **बहुश्रुत** (उपाध्याय) मे तथा श्रुतदेवता के प्रसाद से प्राप्त होने वाले मोक्ष-महल मे आरूढ होने के लिए सोपान रूप (१३) **प्रवचन** (जिनवाणी) मे, भावशुद्धिपूर्वक अनुराग करना भक्ति है। यह भक्ति तीन या चार प्रकार की है।[1] ।। १० ।।

षट् आवश्यक क्रियाओ का यथाकाल प्रवर्तन करना आवश्यक अपरिहाणि भावना है। सामायिक, चतुर्विंशतिसस्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रियाएँ है। सर्व सावद्य योगो का त्याग करना तथा चित्त को एकाग्र रूप से ज्ञान मे लगाना **सामायिक** है। चतुर्विंशति तीर्थकरो का कीर्तन **चतुर्विंशति स्तव** है। मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक खड्गासन या पद्मासन से चार बार शिरोनति और बारह आवर्तपूर्वक **वन्दना** होती है। कृत दोषो की निवृत्ति **प्रतिक्रमण** है। भविष्य मे होने वाले दोषो का अपोहन-त्याग करना अर्थात् भविष्य मे दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना **प्रत्याख्यान** है। प्रमित काल तक शरीर से ममत्व का त्याग करना **कायोत्सर्ग** है। इन षडावश्यक क्रियाओ को यथाकाल विना नागा किये स्वाभाविक क्रम से करते रहना, उत्सुकता का त्याग नही करना अर्थात् उत्सुकतापूर्वक करना (१४) **आवश्यक-अपरिहाणि भावना** कहलाती है ।। ११ ।।

ज्ञान, तप, जिनपूजा विधि आदि के द्वारा धर्म का प्रकाशन करना मार्गप्रभावना है। पर-

---

१. षट्खण्डागम मे अरहतभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति ये तीन भक्ति कही गई हैं। 'अरहतभत्तीए, बहुसुदभत्तीए, पवयणभत्तीए।' (षट. पुस्तक ८ पृ. ७९) तत्त्वार्थसूत्र में अरहत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन-भक्ति ये चार भक्ति है।

परसमयखद्योतोद्योततिरस्कारिण्या, सत्तपसा महोपवासादिलक्षणेन सुरपतिविष्टर-प्रकम्पनहेतुना, जिनपूजया वा भव्यजनकमलषण्डप्रबोधनप्रभया, सद्धर्मप्रकाशन मार्गप्रभा-वनमिति संभाव्यते ।

वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम् । १३ । यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिम-स्नेहमुत्पादयति तथा सधर्माणमवलोक्य तद्गतस्नेहार्द्रीकृतचित्तता प्रवचनवत्सलत्व[1]-मित्युच्यते । यः सधर्मणि स्नेहः स एव प्रवचनस्नेह इति । तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि ।

आह–नामानन्तरनिर्देशभाजो गोत्रस्योपादाने किं निबन्धनमिति प्रतिविधीयते । तद्द्वैविध्ये सति आद्यस्य तावत्–

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणच्छा[2]दनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

समय रूपी खद्योत के प्रकाश को पराभूत करने वाले ज्ञान रूपी सूर्य की प्रभा से, इन्द्र के सिंहासन को कँपा देने वाले महोपवास आदि सम्यक् तपो के द्वारा और भव्यजन रूपी कमलो को विकसित करने के लिए सूर्य की प्रभा के समान जिनपूजा के द्वारा सद्धर्म का प्रकाश करना (१५) **मार्गप्रभावना है** ।। १२ ।।

बछडे मे गाय के समान धार्मिक जनो मे स्नेह प्रवचन-वत्सलत्व है । जैसे गाय अपने बछडे से अकृत्रिम स्नेह करती है, उसी प्रकार साधर्मिक जनो को देखकर तद्गत स्नेह से ओतप्रोत हो जाना, वा चित्त का धर्मस्नेह से आर्द्र हो जाना (१६) **प्रवचनवत्सलत्व** है । जो साधर्मियो के साथ स्नेह है, वही तो प्रवचनस्नेह है ।। १३ ।।

सम्यक् प्रकार से पृथक्-पृथक् या सर्व रूप से भावित ये षोडशकारण भावनाये तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव की कारण होती है ।। २४ ।।

नामकर्म के अनन्तर जिसका निर्देश किया गया है, ऐसे गोत्रकर्म के आगमन का कारण क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य गोत्रकर्म के आस्रव का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं— नीच और उच्च के भेद से गोत्र दो प्रकार का है, उसमे प्रथम नीच गोत्रकर्म के आस्रव के कारणो को कहते है—

दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के सद्गुणों का छादन

---

१ –त्वमिति कथ्यते मु, श्र । २ –णाच्छा–मु । –णोच्छा–श्र ।

दोषोद्भावनेच्छा निन्दा । १ । तथ्यस्य वा अतथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रतीच्छा मनःपरिणामोऽवक्षेपो निन्देत्युच्यते ।

गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा । २ । सद्भूतस्याऽसद्भूतस्य वा गुणस्योद्भावनं प्रत्यभिप्राय प्रशसेत्युपदिश्यते । परश्च आत्मा च परात्मानौ, निन्दा च प्रशंसा च निन्दाप्रशसे, परात्मनो निन्दाप्रशसे परात्मनिन्दाप्रशसे यथासंख्यमभिसबन्धः । परनिन्दा आत्मप्रशसेति यावत् ।

अनुद्भूतवृत्तिता छादनम् । ३ । प्रतिबन्धकहेतुसन्निधाने सति अनुद्भूतवृत्तिताऽनाविर्भावः छादनमित्यवसीयते ।

प्रतिबन्धकाऽभावे प्रकाशितवृत्तितोद्भावनम् । ४ । प्रतिबन्धकस्य हेतोरभावे प्रकाशितवृत्तिता उद्भावनमिति व्यपदेशमर्हति ।

सश्चाऽसंश्च सदसन्तौ, सदसन्तौ च तौ गुणौ च सदसद्गुणौ, छादनं चोद्भावनं

तथा अपने अविद्यमान गुणों का उद्भावन करना, ये सब नीच गोत्र कर्म के आस्रव के कारण हैं ॥ २५ ॥

दोषो के उद्भावन की इच्छा निन्दा है। तथ्य वा अतथ्य (विद्यमान वा अविद्यमान दूसरो के) दोषो को प्रकट करने की इच्छा वा दोषोद्भावन के मानसिक परिणाम वा अवक्षेप निन्दा कहलाती है ॥ १ ॥

गुणो के उद्भावन का अभिप्राय प्रशंसा है। सद्भूत या असद्भूत गुणो के प्रकाशन करने की इच्छा वा अभिप्राय प्रशसा कही जाती है। पर (दूसरे की) और अपनी निन्दा और प्रशसा का यथाक्रम से सम्बन्ध लगाना चाहिये। अर्थात् दूसरो की निन्दा करना और अपनी प्रशसा करना, परात्मनिन्दाप्रशसा कहलाती है। इससे नीच गोत्र का बध होता है ॥ २ ॥

अनुद्भूत वृत्ति को छादन कहते है। प्रतिबधक कारणो के होने पर वस्तु का प्रकट नही होना छादन कहलाता है ॥ ३ ॥

प्रतिबन्धक कारणो के अभाव में वस्तु का प्रगट होना उद्भावन है। प्रतिवधक कारणो के हट जाने पर वस्तु का प्रकाश मे आ जाना उद्भावन है। अर्थात् प्रकाश मे आ जाना, व्यक्त हो जाना ही उद्भावन, ऐसा कहा जाता है।

सत्-असत् को सदसद् कहते हैं। सदसद् गुणो का आच्छादन और उद्भावन सदसद्गुणच्छादनोद्भावन कहलाता है। यहाँ भी यथासख्या सम्बन्ध लगाना चाहिये अर्थात् दूसरो

च छादनोद्भावने, सदसद्गुणयोः छादनोद्भावने सदसद्गुण[1]च्छादनोद्भावने। अत्रापि यथासख्यमभिसंबन्धः सद्गुणच्छादनमसद्गुणोद्भावनमिति।

गूयते तदिति गोत्रम्।५। गूयते शब्द्यते तदिति गोत्रम्, औणादिकेन त्रटा निष्पत्तिः।

नीचैरित्यधिकरणप्रधानः शब्दः।६। नीचैरित्ययं शब्दः अधिकरणप्रधानो द्रष्टव्यः, नीचै स्थाने येनात्मा क्रियते तन्नीचैर्गोत्रम्, तस्यास्रवकारणान्येतानि परनिन्दादीनि। तत्प्रपञ्च उच्यते—जातिकुलबलरूपश्रुताज्ञैश्वर्यतपोमद-परावज्ञानोत्प्रहसन-परपरिवादशीलता - धार्मिकजननिन्दात्मोत्कर्षा - ऽन्ययशोविलोपा - ऽसत्कीर्त्युत्पादन-गुरुपरिभव-तदुद्घट्टन-दोषख्यापन-विहेडन-स्थानावमान-भर्त्सन-गुणावसादन—अञ्जलिस्तुत्यभिवादनाभ्युत्थानाऽकरण-तीर्थकराधिक्षेपादिः।

आह—उपपादितो नीचैर्गोत्रस्यास्रवः, इदानीमुच्चैर्गोत्रस्यास्रवविधिः क इति ? अत्रोच्यते—

के सद्गुणो (विद्यमान गुणो) का आच्छादन करना और स्वकीय असद् गुणो का उद्भावन करना नीच गोत्र के बध का कारण है ॥ ४ ॥

गूयते वह गोत्र है। अर्थात् जो शब्द-व्यवहार मे आता है, वह गोत्र है। (औणादिकेन-त्रटा) इस व्याकरण सूत्र से इसकी निष्पत्ति है ॥ ५ ॥

'नीचैः' यह अधिकरण प्रधान शब्द है। 'नीचै' यह शब्द अधिकरण प्रधान जानना चाहिये। जिसके द्वारा आत्मा नीच स्थान मे प्राप्त की जाती है वा जिससे आत्मा नीच व्यवहार मे आती है, वह नीच गोत्र है। ये परनिन्दा, अपनी प्रशसा, दूसरो के गुणो का आच्छादन आदि नीच गोत्र के आस्रव के कारण है। यह सक्षेप से नीच गोत्र के आस्रव के कारण कहे है। अब विस्तार से नीच गोत्र के आस्रव कहते है—जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, आज्ञा, ऐश्वर्य और तप का मद करना, दूसरो की अवज्ञा तथा हँसी-उपहास करना, पर की निन्दा का स्वभाव, धार्मिकजन की निन्दा-परिहास, आत्मोत्कर्ष की भावना, परयश का विलोप करना, असत्य कीर्ति का उपार्जन करना, गुरुजनो का तिरस्कार करना, गुरजनो के दोषो का उद्भावन, गुरुओ की आज्ञा का लोप, उनका विहेडन, स्थानावमान, गुणावसादन करना और उन गुरुजनो की अजलि-स्तुति-अभिवादन, अभ्युत्थान आदि न करना, तीर्थकरो पर दोषारोपण आदि करना भी नीच गोत्र के आस्रव के कारण है ॥ ६ ॥

नीच गोत्रकर्म के आस्रव के कारणो को कहने पर शिष्य ने पूछा कि—उच्च गोत्र के आस्रव के कारण कौनसे है ? अब उच्च गोत्र के आस्रव कहते हैं—

---

१ —णोच्छा—अ।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

नीचैर्गोत्रास्रवप्रतिनिर्देशनार्थस्तच्छब्दः । १ । प्रत्यासत्तेस्तदित्यनेन नीचैर्गोत्रास्रवः प्रतिनिर्दिश्यते ।

विपर्ययोऽन्यथावृत्तिः । २ । अन्येन प्रकारेण वृत्तिर्विपर्यय इति व्यपदिश्यते । तस्य विपर्ययः तद्विपर्ययः । कः पुनरसौ—आत्मनिन्दा—परप्रशंसे सद्गुणोद्भावनमसद्गुणच्छादनं च ।

गुरुष्ववनतिर्नीचैर्वृत्तिः । ३ । गुणोत्कृष्टेषु विनयेन अवनतिर्नीचैर्वृत्तिरित्याख्यायते ।

अनहङ्कारताऽनुत्सेकः । ४ । विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतः तत्कृतमदविरहोऽनहङ्कारता अनुत्सेक इत्युच्यते । तान्येतानि उत्तरस्योच्चैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि भवन्ति । प्रपञ्चस्तु विव्रियते—जातिकुलबलरूपवीर्यपरिज्ञानैश्वर्यतपोविशेषवतः आत्मो-

---

नीच गोत्र के आस्रव के कारणों से विपरीत कारण (आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, परसद्गुणोद्भावन, आत्मसद्गुण आच्छादन), गुणीजनों के प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति, अहकार का अभाव तथा अनुत्सेक कहिए उद्धत अथवा उद्दण्ड स्वभाव नहीं रखना, ये सब उच्च-गोत्र के आस्रव के कारण है ॥ २६ ॥

नीच गोत्र के आस्रव का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र मे 'तत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। निकटता होने से 'तत्' शब्द से नोच गोत्र के आस्रवो का निर्देश किया गया है ॥ १ ॥

विपर्यय का अर्थ अन्यथा वृत्ति है। अन्य प्रकार से वृत्ति होने को विपर्यय (विपरीत) कहते हैं। उसका विपर्यय 'तद्विपर्यय' कहलाता है। प्रश्न—विपर्यय क्या है? उत्तर—आत्मनिन्दा, परप्रशसा, परसद्गुणोद्भावन और असद्गुण-आच्छादन आदि ॥ २ ॥

गुरुओ के प्रति नम्रता 'नीचैर्वृत्ति' है। गुणी पुरुषो के प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति 'नीचैर्वृत्ति' कहलाती है ॥ ३ ॥

निरभिमानता अनुत्सेक है। विज्ञानादि की वृद्धि से उत्कृष्ट होने पर भी उन गुणो का मद, अहकार नही होना अनुत्सेक कहा जाता है। ये सब उच्च गोत्र के आस्रव के कारण है। विस्तार से उच्च गोत्र के आस्रव के कारणो का वर्णन करते हैं—जाति, कुल, बल, सौन्दर्य, वीर्य, (शारीरिक शक्ति), ज्ञान, ऐश्वर्य और तपादि की विशेषता होने पर भी अपने मे बडप्पन का भाव नही आने देना, पर का तिरस्कार नही करना, अनौद्धत्य (उद्दण्डता नही होना), पर की निन्दा

त्कर्षाऽप्रणिधानं परावज्ञानौद्धत्यनिन्दाऽसूयोपहासपरपरिवादनिवृत्तिः विनिहतमानता धर्म्यजनपूजाऽभ्युत्थानाञ्जलिप्रणतिवन्दना ऐदयुगीनान्यपुरुषदुर्लभगुणस्याप्यनुत्सिक्तता, अहङ्काराऽत्यये नीचैर्वृत्तिता भस्मावृतस्येव हुतभुजः स्वमाहात्म्याप्रकाशन धर्मसाधनेषु परमसम्भ्रम इत्यादि ।

आह–उक्तः सप्तविधकर्म प्रत्यास्रवविकल्प । इदानीमष्टमस्य कर्मणोऽन्तराय-स्यास्रवविधिः क इति ? अत्रोच्यते–

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

दानादिविहननं विघ्नः । १ । दानादीन्युक्तानि "**दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च**" [त.सू. २।४] इत्यत्र, तेषा विहननं विघ्न इत्युच्यते । "[१]**घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधि-हनियुध्यर्थम्**"[२] इति कविधिः । विघ्नस्य कारणं विघ्नकरणम् अन्तरायस्यास्रव इति संक्षेपः । तद्विस्तरस्तु विव्रियते-ज्ञानप्रतिषेध - सत्कारोपघात - दानलाभभोगोपभोगवीर्य-

---

नही करना, किसी की असूया, उपहास, बदनामी आदि नही करना, मान नही करना, धर्मात्माओ का सन्मान करना, उनके आने पर खडे होना, उनको हाथ जोडना, नमस्कार करना, इस युग मे अन्य जनो मे न पाये जाने वाले ज्ञानादि गुणो के होने पर भी उनका रचमात्र अहङ्कार नही करना, निरहकार नम्रवृत्ति, भस्म से ढकी हुई अग्नि की तरह अपने ढके हुए माहात्म्य का प्रकाशन नही करना और धार्मिक साधनो मे अत्यन्त आदर बुद्धि रखना आदि कारणो से भी उच्च गोत्र कर्म का आस्रव होता है ॥ ४ ॥

सात प्रकार के कर्मो के आस्रव के विकल्पो का कथन कर दिया । अब अन्तराय नामक आठवे कर्म के आस्रव के कारण बताते है—

(किसी के कार्यो में) विघ्न डालना अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है ॥ २७ ॥

दानादि का विघात करना विघ्न कहलाता है । दानादि अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य । किसी के दान, लाभादि मे विघ्न उपस्थित करना, विघ्न कहलाता है । 'स्थास्नापाव्यधिहनेर्युध्यर्थमिति' इस सूत्र द्वारा 'क' विधि अर्थात् विपूर्वक हन् धातु से क प्रत्यय होकर 'क्' भाग की इत् सज्ञा हो जाती है और हन् मे से अ कार का लोप होकर विघ्न शब्द सिद्ध होता है । विघ्न शब्द का करण के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर 'विघ्न' का करना यह अर्थ होता है । उसी का विघ्नकरण ऐसा समासयुक्त पद बनता है । विघ्न का करना विघ्नकरण

---

१. अ. मु. प्रत्यो. 'घञर्थे कविधान स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्' इति वार्तिकचिह्नाङ्कितम् । २ जैनेन्द्र वा २।३।५२ ।

स्नानानुलेपनगन्धमाल्याच्छादनविभूषणशयनासनभक्ष्य - भोज्यपेयलेह्यपरिभोगविघ्नकरण-विभवसमृद्धिविस्मय-द्रव्यापरित्याग - द्रव्यासंप्रयोगसमर्थनाप्रमादाऽवर्णवाददेवतानिवेद्यानि-वेद्यग्रहणनिरवद्योपकरण -परित्याग-परवीर्यापहरण - धर्मव्यवच्छेद[१]नकरण-कुशलाचरण-तपस्विगुरुचैत्यपूजाव्याघात - प्रव्रजितकृपणदीनानाथवस्त्रपात्रप्रतिश्रयप्रतिषेधक्रिया - पर-निरोधबन्धन-गुह्याङ्गच्छेदन-कर्णनासिकौष्ठकर्तन-प्राणिवधादि । अत्र चोद्यते—सूत्रेऽनुपात्तः सर्वास्रवप्रपञ्च. कथमेवं गन्तुं (मवगन्तु) शक्यते इति ? अत्रोच्यते—

इतिकरणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः । २ । इतिकरणोऽनुवर्तते । क्व प्रकृत. ? **"क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य" [६।१२]** इत्यत., तेनानुक्तार्थसग्रह सर्वत्र वेदितव्यः । प्रकारार्थो हि इतिकरण इति ।

है, किसी के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे विघ्न करने से अन्तराय कर्म का आस्रव होता है। ये सक्षेप मे अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण है।

अन्तराय कर्म के आस्रव के कारणो का विस्तार से वर्णन करते है—ज्ञान का प्रतिषेध, सत्कारोपघात (किसी के सत्कार मे विघ्न डालना), दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, विभूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि मे विघ्न करना, किसी के विभव, समृद्धि मे विस्मय करना, द्रव्य का त्याग नही करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन मे प्रमाद करना, देवता के लिए निवेदित किये गये या अनिवेदित किये गये द्रव्य का ग्रहण करना, देवता का अवर्णवाद करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरो की शक्ति का अपहरण, धर्म का व्यवच्छेद करना, कुशल चारित्र वाले तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा मे व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ आदि को दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र, आश्रय आदि मे विघ्न करना, परनिरोध, बन्धन, गुह्य अगच्छेदन, कान, नाक, ओठ आदि का काट देना, प्राणिवध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण है। **प्रश्न**—सूत्र मे नही कहे गये इन सर्व आस्रवो का प्रपञ्च कैसे जान सकते है अर्थात् इनका जानना कैसे सम्भव है ? ॥ १ ॥

उत्तर—इति शब्द की अनुवृत्ति से सर्वत्र अनुक्त का संग्रह हो जाता है। इति शब्द की अनुवृत्ति अनुकरण-ग्रहण चला आ रहा है। **प्रश्न**—इति शब्द की अनुवृत्ति कहाँ से चली आ रही है ? **उत्तर**—जहाँ सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण बताए गए है—'क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य' इस सूत्र मे कथित 'इति' शब्द का शेष के सर्व सूत्रो के साथ सम्बन्ध करना चाहिए, क्योकि इति शब्द प्रकार अर्थ मे है। अर्थात् 'क्षाति. शौचमिति' सूत्र से प्रकारवाची 'इति' शब्द का सब जगह अनुवर्तन करना चाहिए। इससे अनुक्त प्रकारो का सग्रह हो जाता है ॥ २ ॥

---

१. —नकुश-मु, द., व । —नकरणाकुश—ता मू. ।

स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो विकारः शौण्डातुरवत् । ३ । एवमुक्तेनास्रवविधिनोपात्त कर्माष्टविधं ज्ञानावरणादिसंज्ञक वक्ष्यमाणमूलोत्तरप्रकृतिभेदं यत्तन्निमित्तमात्मा ससार-विकारमनुपरतमनुभवति । यथा शौण्डः स्वरुचिविशेषान्मदमोहविभ्रमकरी मदिरा पीत्वा तत्परिपाकवशात् अनेकविकारमास्कन्दति, यथा वा आतुरः अपथ्यभोजनकृत वातादिविकारमवाप्नोति ।

अनपदिष्टहेतुकत्वादास्रवाऽनियम इति चेत्; न; स्वभावाभिव्यञ्जकत्वाच्छास्त्रस्य । ४ । स्यान्मतम्—य उक्त आस्रवनियमो ज्ञानावरणादीना तत्प्रदोषनिह्नवादिः, स नोपपद्यते, कुतः ? [१]अनपदिष्टहेतुकत्वात् । नात्र हेतु[२]रपदिष्टः येनास्रवनियम प्रतिपद्येमहि । यच्च नाम सहेतुक तद्विदुषा[३] ग्राह्यमिति, तन्न, कि कारणम् ? स्वभावाभिव्यञ्जकत्वात् शास्त्रस्य । यथा प्रदीपो घटादीना स्वभावमभिव्यनक्ति तथा शास्त्रमपि सतामेवार्थाना प्रकाशकम्, तत्राय परिणाम इद वीर्य [४]द्रव्यावर्जनसमर्थ इति स्वभावव्याख्यानादुपालम्भाभावः ।

शौण्डातुर के समान स्वकीय उपात्त कर्म के वश से आत्मा के विकार होता है । इस प्रकार उक्त आस्रव विधि से ग्रहण किये गये आगे (आठवे अध्याय मे) कहे जाने वाले मूलोत्तर प्रकृति भेद वाले ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मो के निमित्त से आत्मा ससार-विकार का निरन्तर अनुभव करता है । जैसे—शराबी मद-मोह विभ्रमकरी सुरा का पान करके उसके नशे मे (उसके परिपाक के वश से) अनेक विकारो को प्राप्त होता है । अथवा जैसे रोगी अपथ्य भोजन करके वात, पित्त, कफ आदि अनेक विकारो से ग्रस्त होता है ।। ३ ।।

'अनुपदिष्ट हेतु होने से आस्रव का अनियम है' ऐसा नही कह सकते । क्योकि शास्त्र स्वभाव का अभिव्यञ्जक होता है । **प्रश्न**—ज्ञानावरण आदि कर्मो के जो 'तत्प्रदोषादि' आस्रव के कारण के नियम कहे है, वे घटित नही होते; क्योकि उनका हेतु नही कहा है । उन आस्रवो का हेतु नही कहा है जिससे हम लोग आस्रव के नियमो को स्वीकार करे, क्योकि सहेतुक वाक्य ही विद्वानो के द्वारा ग्राह्य होते है । **उत्तर**—अहेतुक आस्रव कारण नही है, क्योकि शास्त्र स्वभाव का व्यञ्जक है । जैसे—दीपक घटादि का प्रकाशक होता है अथवा घट के स्वरूप को प्रगट करता है, उसी प्रकार शास्त्र भी सत्तारूप पदार्थो का प्रकाशक होता है । 'यह परिणमन या यह शक्ति अमुक द्रव्य के अर्जन मे समर्थ है या इस फल को उत्पन्न करने मे समर्थ है' इस प्रकार स्वभाव का व्याख्यान होने से आस्रव के कारणो के नियम का अभाव है, यह उपालम्भ नही दे सकते ।। ४ ।।

---

१ अनुपदि–श्र । २. –तुरुप–श्र । ३. –षा ग्रा–श्र., मू , द , ता । ४ द्रव्यार्जन श्र ।

तत्सिद्धिरतिशयज्ञानदृष्टत्वात् । ५ । तस्य शास्त्रस्य सतामर्थानामभिव्यञ्जकत्वं दृष्टम् । कुतः ? अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्, भगवतामर्हतामतिशयवज्ज्ञान युगपत्सर्वार्थावभासनसमर्थ प्रत्यक्षम्, तेन [1]दृष्ट तद्दृष्ट यच्छास्त्र तद् यथार्थोपदेशकम्, अतस्तत्प्रामाण्यात् ज्ञानावरणाद्यास्रवनियमप्रसिद्धिः ।

सर्वाविसंवादाच्चोपालम्भनिवृत्तिः । ६ । [2]नात्र प्रवादिनो विसवदन्ते-पृथिव्यादीना द्रव्याणा कठिनद्रवोष्णचलनादिस्वभावाना रूपादीना च गुणाना चाक्षुषत्वादिप्रतिनियतस्वभावाना[3] उत्क्षेपणादीना च सयोगविभागनिरपेक्षकारणत्वादिस्वभावानामभ्युपगमात्[4] । तथा सत्त्वरजस्तमसां गुणानां प्रकाशप्रवृत्तिनियमस्वभावानामभ्युपेतत्वात्[5] । तथा अविद्यादीना संस्कारादिप्रतिनियतकारणस्वभावानामिष्टत्वात्[6] ततो नायमुपालम्भः आस्रवनियमाभाव इति ।

तत्प्रदोषादीनां सर्वास्रवत्वान्नियमाभाव इति चेत्; न; अनुभागविशेषनियमोपपत्तेः

अतिशय ज्ञान के द्वारा दृष्ट होने से उनकी सिद्धि होती है । शास्त्र के भी अतिशय ज्ञानी भगवान् अर्हत् द्वारा दृष्ट होने से सत् पदार्थो का अभिव्यञ्जकत्व देखा गया है तथा शास्त्र अर्हत् भगवान् के युगपत् सर्वार्थविभासनसमर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा कथित है । अत. वे शास्त्र यथार्थ के उपदेशक होने से प्रमाणभूत है । इसलिये 'तत्प्रदोष' आदि के ज्ञानावरण आदि कर्म के आस्रव की प्रसिद्धि है । अर्थात् शास्त्र मे वर्णित ज्ञानावरणादि के आस्रव के कारण आगमानुगृहीत हैं और ग्राह्य है ।। ५ ।।

सर्ववादियो का अविसवाद होने से उपालम्भ भी नही है । इस विषय मे भिन्न-भिन्न मत वाले प्रवादी लोग भी विसंवाद अर्थात् विवाद नही करते है । उन्होने स्वय भिन्न-भिन्न स्वभाव वस्तुओ मे स्वीकार किये है, जैसे—वैशेषिक पृथिव्यादि द्रव्यो का कठिन, द्रव (जल), उष्ण (अग्नि) और चलन (वायु) आदि स्वभाव, रूपादि गुणो को चक्षु आदि इन्द्रियो के द्वारा गृहीत होने का स्वभाव और (नैयायिक) उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि का सयोग और विभाग से निरपेक्ष कारणपने का स्वभाव आगम से स्वीकार करते है तथा साख्य सत्त्व, रज और तम गुणो का प्रकाश, प्रवृत्ति और नियम आदि स्वभाव मानते हैं तथा बौद्ध अविद्या आदि के सस्कार आदि को उत्पन्न करने का प्रतिनियत स्वभाव स्वीकार करते हैं । अतः आस्रव के नियम के अभाव का उपालम्भ नही दे सकते ।। ६ ।।

प्रश्न—आगम मे ज्ञानावरण के बधकाल मे दर्शनावरण आदि का भी बध बताया है,

---

१. दृष्ट यच्छा–मु द व । २. तत्र प्रवादिनो न वि–मु द. । ३. –वादीनाञ्चोत्क्षे –मु द. । ४. वैशेषिकै –त. । ५. साख्यै.–त. । ६ बौद्धै ।

। ७ । स्यादेतत्–ये[1] तत्प्रदोषनिह्नवादय. ज्ञानावरणादीनामास्रवाः प्रतिनियता उक्ता, ते सर्वेषा कर्मणामास्रवा भवन्ति, ज्ञानावरणे बध्यमाने युगपदितरेषामपि बन्ध इष्यते आगमे, तस्मादास्रवनियमाभाव इति; तन्न, कि कारणम् ? अनुभागविशेषनियमोपपत्ते । यद्यपि तत्प्रदोषादिभिः ज्ञानावरणादीना सर्वासा प्रकृतीना प्रदेशादिबन्धनियमो नास्ति, तथापि अनुभागविशेषनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषनिह्नवादय प्रविभज्यन्ते ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ।। ६ ।।

अत. एक समय मे सर्व कर्मो के आस्रव की सभावना होने से 'तत्प्रदोषनिह्नव' आदि ज्ञानावरणादि कर्मो के आस्रव के कारण है, ऐसा नियम नही हो सकता, क्योकि ज्ञानावरण के बध काल मे युगपत् सात या आठ कर्मो का बध भी आगम मे स्वीकार किया गया है। अत इन-इन कारणो से इन-इन कर्मो का आस्रव होता है, ऐसे नियम का अभाव है। **उत्तर**—आस्रव के नियम का अभाव नही है, क्योकि अनुभागविशेष के नियम की उत्पत्ति है। यद्यपि 'तत्प्रदोष' आदि के द्वारा ज्ञानावरणादि सर्व प्रकृतियो के प्रदेशबध आदि का नियम नही है तथापि प्रदोष आदि कारणो से ज्ञानावरण आदि उन कर्मो मे विशेष अनुभाग पडता है। अर्थात् 'तत्प्रदोष' आदि से प्रदेशबध तो सर्व कर्मो का होता है पर अनुभाग उन्ही-उन्ही ज्ञानावरणादि मे पडता है, अत. अनुभागविशेष से प्रदोष आदि का आस्रवभेद हो जाता है ।। ७ ।।

इस प्रकार तत्त्वार्थवार्त्तिकव्याख्यानालंकार में छठा अध्याय समाप्त हुआ ।। ६ ।।



---

१ एतत्प्रदो–ता, श्र ।

सप्तमोऽध्यायः

आस्रवपदार्थव्याख्यां प्रति[1]ज्ञायोक्तोऽष्टोत्तरशतभेदसख्यो बहुविचार । स द्वेधा पुण्यपापलक्षणसाम्परायिकनिमित्तत्वात् । तत्र पुण्यास्रवो व्याख्येय प्रधानत्वात् तत्पूर्वकत्वात् मोक्षस्य । यद्येवम्, उच्यता कैस्ते क्रियाविशेषा प्रारभ्यमाणास्तस्यास्रवा भवन्तीति ? अत्रोच्यते—व्रतिभि । तत्रानिर्धारि[2]तेयत्ताविशेषलक्षणत्वात् व्रतस्य तत्प्रसिद्धयर्थमिदमुच्यते—

अथवा, "**कायवाङ्मनस्कर्मयोगः, स आस्रवः, शुभः पुण्यस्य**" [६।१,२,३] इति सामान्येनोक्त, तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

आस्रव पदार्थ के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करके आस्रव के एक सौ आठ भेदों की सख्या का अनेक रीतियो से विचार किया है अर्थात् आस्रव के भेद कहे है । पुण्यरूप और पापरूप कषायो का निमित्त होने से वह आस्रव दो प्रकार का है—एक पुण्यास्रव, दूसरा पापास्रव । उन पुण्य एव पाप आस्रवो मे से अब पुण्यास्रव का वर्णन करते है । पुण्यास्रव प्रधान है, क्योकि मोक्ष पुण्यास्रवपूर्वक ही होता है अर्थात् आस्रव के विचार मे कहा गया पुण्यास्रव मोक्ष मे परम्पराकारण होने से इस समय व्याख्येय है । **प्रश्न**—यदि ऐसा है, तो वताइये कि जो क्रियाविशेष उस कर्मवन्ध की कारण है, वे किन पुरुषो के द्वारा आरम्भ की जाती है ? **उत्तर**—व्रतियो के द्वारा । किन्तु अभी तक व्रत का कोई विशेष लक्षण निर्धारित नही किया गया है । अत यहाँ व्रत का लक्षण बताने वाला सूत्र कहा जाता है । अथवा 'कायवाङ्मनस्कर्मयोगः । स आस्रवः । शुभ पुण्यस्य ।' काय, वचन और मन के निमित्त से आत्मप्रदेशो मे जो परिस्पन्दन होता है वह योग है, योग ही आस्रव है, शुभ योग से पुण्यास्रव होता है, यह सामान्य लक्षण पुण्यास्रव का कहा है । उसी का विशेष प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं । अर्थात् पुण्यास्रव के कारणभूत व्रतो के लक्षण, सख्या आदि का वर्णन करते हैं । अथवा, सातावेदनीय के आस्रव के कारणो मे 'भूतव्रत्यनुकम्पा' सूत्र मे व्रती शब्द

---

१ —ख्याप्रतिज्ञायो–मू । -ख्याप्रतिज्ञयो–मु, द, अ., व. । २ —ते यत्तावि–मु, द, व ।

अथवा, उक्तमेतत् सद्वेद्यास्रवविधाने–"**भूतव्रत्यनुकम्पा**" [६।१२] इति, तत्रेद न ज्ञायते कि व्रतम्, को व्रतीति ? तन्निर्धारणार्थमिदमुच्यते–

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

हिंसादयो निर्देक्ष्यमाणलक्षणाः । १ । "**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोणं हिंसा**" [७।१३] इत्येवमादिभि सूत्रै· हिसादीना लक्षण निर्देक्ष्यते ।

विरमणं विरतिः । २ । चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमनिमित्तौपशमिकादिचारित्राविर्भावात् विरमण विरति· ।

[1]**व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः । ३ ।** बुद्धिपूर्वकपरिणामोऽभिसन्धि, इदमेवेत्थमेव वा कर्तव्यमित्यन्यनिवृत्ति· नियम·, अभिसन्धिना कृतः अभिसन्धिकृत· सर्वत्र व्रतव्यपदेशभाग् भवति ।

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशः । ४ । हिसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशो द्रष्टव्य ।

का उल्लेख है, उसमे यह ज्ञान नही हुआ कि व्रत का लक्षण क्या है और व्रती किसे कहते है ? अत व्रत के निर्धारण के लिये (उसका लक्षण बताने के लिये) सूत्र कहते है—

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरक्त होना व्रत है ॥ १ ॥

हिसादि का लक्षण आगे कहेगे । इसी अध्याय के १३, १४, १५, १६, १७ सूत्र मे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का लक्षण कहेगे, उससे इनका लक्षण जानना चाहिये ॥ १ ॥

विरमण का नाम विरति है । चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के निमित्त से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक चारित्र की प्रकटता होने से जो विरक्ति होती है, उसे विरति कहते है ॥ २ ॥

अभिसन्धिकृत नियम व्रत कहलाता है । बुद्धिपूर्वक परिणाम वा बुद्धिपूर्वक पापो का त्याग अभिसन्धि है । 'यह ऐसा ही करना है, अन्य प्रकार से निवृत्ति है ।' ऐसे नियम को अभिसन्धि कहते है । अभिसन्धिकृत (बुद्धिपूर्वक किया हुआ) नियम सर्वत्र व्रत कहलाता है । अर्थात् शुभ कार्यो मे प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति ही व्रत है । व्रत मे किसी अन्य कार्य से निवृत्ति ही मुख्य होती है ॥ ३ ॥

'हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्योः' यह अपादानार्थक पञ्चमी विभक्ति का निर्देश है ॥ ४ ॥

---

१ 'अभिसन्धिकृतो विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रत भवति' —रत्नक श्लोक ८६ ।

ध्रुवत्वाभावात्तदनुपपत्तिरिति चेत्; न; बुद्ध्यपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः । ५ ।

स्यान्मतम्–नात्राऽपादानत्वमुपपद्यते। कुत. ? ध्रुवत्वाभावात् । ध्रुवत्वेन हि प्रसिद्धोऽर्थः अपादानसज्ञो भवति यथा ग्रामादागच्छति इति, न तथा हिसादयः परिणामा ध्रुवाः [१]क्षणिकत्वात्, तदपायेऽपायाऽप्रतीते । अथ हिंसादिपरिणत आत्मैव हिसादिव्यपदेश-भागिति द्रव्यार्थादेशात् ध्रुवत्व कल्प्यते, एवमपि ततो विरतिर्नोपपद्यते नित्यत्वात्, तस्मादपादानत्वमयुक्तमिति, तन्न, कि कारणम् ? बुद्ध्यपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्ते', यथा धर्माद्विरमतीत्यत्र य एष मनुष्य' [२]सम्भिन्नबुद्धि स पश्यति[३] –'दुष्करो धर्म. फल[४] चास्य श्रद्धामात्रगम्यम्' इति स्वबुद्ध्या[५] सप्राप्य निवर्तते । एवमिहापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी स पश्यति य एते हिसादय परिणामा पापहेतव. पापकर्मणि च प्रवर्तमानमिहैव राजानो दण्डयन्ति परत्र च बहुविध दु खमवाप्नोतीति [६]स्वबुद्ध्या सप्राप्य निवर्तते । ततो बुद्ध्या ध्रुवत्वविवक्षोपपत्ते अपादानत्व युक्तम् ।

ध्रुवत्व का अभाव होने से अपादानत्व नही हो सकता, ऐसा नही है । क्योकि बुद्धि द्वारा अपाय मे ध्रुवत्व की विवक्षा होने से अपादान कारक सिद्ध हो जाता है । **प्रश्न**—इस सूत्र मे पचमी विभक्ति नही होनी चाहिये, क्योकि इसमे ध्रुवत्व का अभाव है । ध्रुवत्व से प्रसिद्ध अर्थ अपादान सज्ञा वाला होता है, जैसे ग्राम से आता है, इसमे ग्राम ध्रुव है, वैसे हिसादि परिणाम ध्रुव नही है, क्षणिक है अत हिसादि के अपाय मे अपादान (पञ्चमी विभक्ति) की अप्रतीति है । अथवा हिंसा परिणाम से परिणत आत्मा ही हिसादिव्यपदेश की भागी होती है अत द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा हिंसादि मे ध्रुवत्व की कल्पना करते है तो भी उससे विरति नही हो सकती । क्योकि आत्मा नित्य है और नित्य आत्मा से विरक्ति हो नही सकती, अत यहाँ पचमी विभक्ति का प्रयोग करना उपयुक्त नही है ? **उत्तर**—यहाँ पचमी विभक्ति नही बनती, ऐसी बात नही है । क्योकि बुद्धि के अपाय मे ध्रुवत्व की विवक्षा करके जैसे 'ग्रामाद् आगच्छति' मे ग्राम को ध्रुव मान कर पचमी विभक्ति बनती है, वैसे ही यहाँ पचमी विभक्ति बन जाती है । जैसे 'धर्माद् विरमति' इसमे कोई हतबुद्धि 'धर्म बडा दुष्कर है, इसका फल श्रद्धामात्रगम्य है ।' ऐसा विचार कर अपनी धर्म-बुद्धि से विरक्त होता है, अर्थात् धर्म से निवृत्त होता है । उसी प्रकार यहाँ भी जो कोई विवेकी पुरुष है वह देखता है (सोचता है) कि 'हिंसादि परिणाम पाप के कारण है ।' 'हिसा करने वाले पापी को इस लोक मे राजा लोग दण्ड देते है, परलोक मे उसे अनेक प्रकार के दु ख भोगने पडते है ।' ऐसा विचार कर हिसाबुद्धि से विरक्त होता है । अत. बुद्धि की दृष्टि से ध्रुवत्व विवक्षा मे पचमी विभक्ति बन जाती है तथा अपादान का प्रयोग करना युक्त है । इसलिये "हिसादि परिणाम क्षणिक है, इस कारण उनसे अपादान नही बनता । यदि हिंसापरिणत नित्य आत्मा को हिसा मानकर

---

१ कारणत्वात् मु । कारणवत्त्वात्–मू द. । २ हतबुद्धि । ३ किमिति ? ४ स्वर्गोऽस्तीति ।
५. स बु–मु, मू, द. । ६ स बु –मु., मू, द ।

अहिंसायाः प्रधानत्वादादौ तद्वचनम्, इतरेषां तत्परिपालनार्थत्वात् । ६ । अहिसा सर्वेषु व्रतेषु प्रधानम् अतस्तद्वचनमादौ क्रियते । कुतः पुन. प्राधान्यम् ? इतरेषा तत्परिपालनार्थत्वात् । इतराणि हि सत्यादीनि व्रतानि [1]शस्यस्य वृतिपरिक्षेपवत् अहिसापरिपालनार्थानि ।

विरतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । ७ । हिसाया विरतिः, अनृताद्विरति, स्तेयाद्विरतिः, अब्रह्मणो विरतिः, परिग्रहाद्विरतिरिति । यद्येवम्—

विषयभेदाद्विरतिभेदे बहुत्वप्रसङ्गः । ८ । यथा गुडतिलौदनादीना पक्तव्याना भेदात् पाको भिद्यते-द्वौ पाकौ त्रय पाका इति, एव त्यक्तव्यहिसादिभेदात्त्यागस्यापि भेदोपपत्तेः विरतेर्बहुत्वं प्राप्नोति इति ?

न वा; तद्विषयविरमणसामान्योपादानात् । ९ । न वा एष दोषः । किं

उससे विरक्ति करते है तो नित्य आत्मा से विरति हो नही सकती" यह आशका निर्मूल हो जाती है ।। ५ ।।

सर्व व्रतों के परिपालन का कारण होने से अहिंसा सर्व व्रतो मे प्रधान है । अतः उसका सर्व प्रथम कथन किया है । **प्रश्न**—अहिसा प्रधान क्यो है ? **उत्तर**—सत्य आदि सर्व व्रतो के परिपालन में कारण होने से अहिसा व्रत सर्व व्रतो मे प्रधान कारण है । सत्यादि व्रत बाड के समान है और अहिंसा धान्य के समान है । जैसे—धान्य की रक्षा करने के लिये खेत मे चारो ओर बारी (बाड़) लगा दी जाती है, उसी प्रकार सत्यादि सर्व व्रत चारो ओर से अहिंसा रूपी धान्य की रक्षा करने वाले है । अर्थात् सर्व व्रत अहिंसा की रक्षा के लिये है, अतः अहिसा प्रधान हैं ।। ६ ।।

विरति शब्द प्रत्येक मे लगाना चाहिए । विरति शब्द का सम्बन्ध हिंसा से विरति, असत्य से विरति, स्तेय से विरति, अब्रह्म से विरति, परिग्रह से विरति रूप से प्रत्येक से कर लेना चाहिये । **प्रश्न**—यदि विरति शब्द का सभी के साथ सम्बन्ध है तो—।। ७ ।।

विषय के भेद से विरति-भेद मे भी बहुवचन करने का प्रसग आयेगा । जैसे—गुड, चावल, तिल आदि पकने योग्य पदार्थो के भेद से पाक में दो पाक, तीन पाक आदि भेद होता ही है, वैसे ही त्याज्य हिसादि के भेद से त्याग के भी भेद होने से विरति भी अनेक प्रकार की हो सकती है । अतः विरति मे बहुवचन का प्रयोग होना चाहिए ।। ८ ।।

उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योंकि उस विषय से विरमण सामान्य का ग्रहण है । यहाँ

---

१. शस्यवृत्ति–मु. मू. ।

कारणम् ? तद्विषयविरमणसामान्योपादानात् । नात्र विषयभेदाद्भेदो विवक्षितः । यथा गुडतिलौदनादीनां पाक इति सामान्ये विवक्षिते एकवचनं तथा विरमणसामान्यस्य विवक्षितत्वादेकवचनं न्याय्यम् । तत एव सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एक व्रतम्, भेदपर[1]तन्त्रछेदोपस्थापनापेक्षया पञ्चविध व्रतम् । अत्र कश्चिदाह–

हिंसादिभ्यो निवृत्तिवचनमनर्थकं संवरेऽन्तर्भावात् । १० । हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्व्रतमिति आस्रवप्रकरणे विधानमिदमनर्थकम्, कुतः ? सवरेऽन्तर्भावात् ।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेत्; न; धर्माभ्यन्तरत्वात् । ११ । स्यान्मतम्–प्रतिज्ञामात्रमेतत्–संवरेऽन्तर्भाव इति, तन्न, कि कारणम् ? धर्माभ्यन्तरत्वात् । दशविधो हि धर्मो वक्ष्यते, तत्र संयमे भावकायविनयेर्यापथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्याष्टविधविशुद्धिलक्षणे अहिंसादीनामन्तर्भावः, सत्यादिषु[2] च ।

तत्प्रपञ्चार्थ उपन्यास इति चेत्; न, तत्रैव करणात् । १२ । स्यादेतत्–तस्य

इस सूत्र मे विषय के भेद से भेद विवक्षित नही है । जैसे—'गुड, चावल, तिल आदि का पाक' इस प्रकार सामान्य विवक्षित मे एक वचन है, उसी प्रकार विरमण सामान्य की विवक्षा होने से 'विरति' इस एक वचन का प्रयोग करना न्याय्य है । अर्थात् विरति सामान्य की दृष्टि से यहाँ एकवचन का प्रयोग किया है । इसलिए सर्व सावद्य निवृत्ति लक्षण सामान्य सामायिक व्रत की अपेक्षा व्रत एक है और भेदाधीन छेदोपस्थापना की अपेक्षा व्रत पाँच होते है । यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि—।। ९ ।।

सवर मे अन्तर्भाव होने से 'हिंसादि से निवृत्ति' वचन व्यर्थ है । इन अहिंसा आदि व्रतो को आस्रव के प्रकरण मे न कहकर सवर के प्रकरण मे कहना चाहिए क्योकि इनका सवर मे अन्तर्भाव होता है । यह तुम्हारी प्रतिज्ञा है, ऐसा भी नही कहना क्योकि व्रत का धर्म मे अन्तर्भाव है । प्रतिप्रश्न—व्रतो का सवर मे अन्तर्भाव करना केवल प्रतिज्ञामात्र है । उत्तर—ऐसा नही है क्योकि सवर का कारणभूत दस प्रकार का धर्म आगे कहा जाएगा, उसमे सयम का वर्णन है, उस सयम मे भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, शयनासनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि और वाक्यशुद्धि इन आठ शुद्धि रूप सयम मे और सत्यादि मे अहिंसा आदि का अन्तर्भाव हो जाता है ।। १०-११ ।।

प्रश्न—यदि प्रपञ्च के लिए इनका निरूपण करना है तो वही करना चाहिए । व्यर्थ में

---

१ –तन्त्राच्छेदो –अ. । २. सत्यश्चैत्यादिषु । आचार्यवचनमिदम् ।

संयमस्यायं प्रपञ्चो यथा स्यादित्यहिंसादीनाम् उपन्यास इति; तन्न, किं कारणम् ? तत्रैव करणात् । यदि तस्यैवाय प्रपञ्चः, तत्रैव क्रियेत प्रकरणोत्कर्षकरणे प्रयोजनाभावात् ।

[1]**न संवरो व्रतानि परिस्पन्ददर्शनात् । १३ ।** व्रतानि संवरव्यपदेश नार्हन्ति । कुत ? परिस्पन्ददर्शनात् । परिस्पन्दो हि दृश्यते, अनृताऽदत्तादानपरित्यागे सत्यवचन-दत्तादानक्रियाप्रतीते ।

गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च । १४ । गुप्त्यादिलक्षण. सवरो वक्ष्यते, तस्येद परिकर्म व्रतानि, कृतव्रतपरिकर्मा[2] हि साधुः सुखेन सवर करोतीति, ततश्च पृथक्त्वमवसेयम् ।

रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानमिति चेत्; न; भावनान्तर्भावात् । १५ । स्यान्मतम्-इह रात्रिभोजनविरत्युपसख्यान कर्त्तव्य तदपि षष्ठमणुव्रतमिति; तन्न, किं कारणम् ? भावनान्तर्भावात् । भावनासु हि अन्तर्भवति रात्रिभोजनविरमणम् ।

प्रकरण को बढाने से क्या लाभ है अर्थात् इस प्रकरण को बढाने से कोई प्रयोजन नही है, यदि व्रतो का वर्णन करना ही था तो सवर के प्रकरण मे ही कर लेते ।। १२ ।।

उत्तर—व्रत सवर रूप नही है क्योकि व्रतो मे परिस्पन्द की प्रवृत्ति है । व्रत सवर व्यपदेश के भागी नही है, इसमे आत्मप्रदेशो का कम्पन देखा जाता है और अनृत (असत्य), चोरी आदि से विरक्त होकर सत्य-अचौर्य आदि मे प्रवृत्ति देखी जाती है ।। १३ ।।

अथवा गुप्ति आदि, सवर के अहिंसादि परिकर्म है । गुप्ति आदि है लक्षण जिसका ऐसे सवर का वर्णन नवम अध्याय मे करेगे । उस सवर के अहिंसादि व्रत परिकर्म (सहायक) है। व्रतो का सस्कार रखने वाला साधु सुखपूर्वक सवर करता है । अत सवर की भूमिका रूप इन व्रतो का वर्णन सवर और आस्रव से पृथक् करना चाहिये । अर्थात् ये व्रत पुण्यास्रव के भी कारण है और सवर के भी । इसलिये इनका निर्देश सवर और आस्रव से पृथक् किया है ।। १४ ।।

भावनाओ मे अन्तर्भूत हो जाने से रात्रिभोजन त्याग का पृथक् कथन नही किया है । **प्रश्न**—इस सूत्र से रात्रिभोजन के त्याग का वर्णन करना चाहिए, क्योकि रात्रिभोजन त्याग भी षष्ठ (छठा) अणुव्रत है ? **उत्तर**—यद्यपि रात्रिभोजन विरति का छठे अणुव्रत के रूप मे निर्देश मिलता है, फिर भी अहिंसा व्रत की 'आलोकितपानभोजनानि' नामक भावना मे अन्तर्भूत होने से इसका पृथक् निर्देश नही किया है ।। १५ ।।

---

१ न तु सवर परिस्पन्दलक्षण । २ सस्कार ।

अनिर्देशादिति चेत्; न; आलोकितपानभोजनवचनात् । १६ । अथ मतमेतत्-भावनासु निर्देशाभावादयुक्तमिति, तन्न; किं कारणम् ? आलोकितपानभोजनवचनात् । वक्ष्यते हि अहिंसाव्रतपरिपालनाय आलोकितपानभोजनभावना कार्या इति ।

प्रदीपादिसंभवे सति रात्रावपि तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; अनेकारम्भदोषात् । १७ । स्यान्मतम्—यद्यालोकनार्थं दिवाभोजनम्, प्रदीपचन्द्रादिप्रकाशाभिव्यक्त रात्रौ भोजनं कार्यमिति, तन्न, किं कारणम् ? अनेकारम्भदोषात् । अग्न्यादिसमारम्भकरणकारण-लक्षणो हि दोष स्यात् ।

परकृतप्रदीपादिसंभवे तदभाव इति चेत्; न; चङ्क्रमणाद्यसंभवात् । १८ । स्यादेतत्—परकृत-प्रदीपादिसभवे नारम्भदोष. इति, तन्न, किं कारणम् ? चङ्क्रमणाद्यसंभवात् । 'ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वापेक्षी देशकाले पर्यटच यति भिक्षा [1]शुद्धामुपाददीत' इत्याचारोपदेश', न चाय विधि रात्रौ भवतीति चङ्क्रमणाद्यसभव ।

प्रश्न—अहिंसा की भावना मे रात्रिभोजन त्याग का नाम तो नही है अत रात्रिभोजन-त्याग का ग्रहण कैसे हो सकता है ? **उत्तर**—सूत्र मे आलोकितपानभोजन से रात्रिभोजनविरति का ग्रहण हो जाता है। अत' आगे कहेंगे कि अहिसा व्रत का परिपालन करने के लिए 'आलोकितपानभोजन' की भावना करनी चाहिए ।। १६ ।।

प्रश्न—यदि 'आलोकितपानभोजन' की विवक्षा है तो आलोकितपानभोजन तो प्रदीप और चन्द्र आदि के प्रकाश मे भी सम्भव है अर्थात् अन्न-पानी का अवलोकन तो चन्द्रमा और दीपक के प्रकाश मे भी हो सकता है अत रात्रिभोजन का त्याग 'आलोकितपानभोजन' से कैसे हो सकता है ? चन्द्र और दीपक के प्रकाश मे अवलोकन करके रात्रि मे भोजन कर सकते है। **उत्तर**—दीपक आदि के प्रकाश मे रात्रि मे भोजन नही कर सकते क्योकि रात्रि मे भोजन करने से दीपक के जलाने, अग्नि आदि का समारम्भ करने-कराने मे आरम्भजनित अनेक दोष उत्पन्न होते है ।। १७ ।।

प्रश्न—दूसरे के द्वारा प्रज्वलित दीपकादि की उत्पत्ति सम्भव है अत उसमे आरम्भजनित दोष नही होगे ? **उत्तर**—यद्यपि दूसरे के द्वारा जलाये हुए प्रदीप के प्रकाश मे स्वय का आरम्भ नही है तो भी गमन-भ्रमण तो परके द्वारा नही हो सकता, भ्रमणजनित दोष तो रात्रिभोजन मे लगेगे ही और रात्रि मे भ्रमण का अभाव है। क्योकि 'ज्ञान, सूर्य तथा स्वइन्द्रिय प्रकाश के द्वारा परीक्षित (अवलोकित) मार्ग मे चार हाथ आगे देखकर यति को योग्य देशकाल मे भ्रमण करके शुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए' ऐसा आचार ग्रन्थ का उपदेश है। यह विधि (रात्रिभोजन) मे हो नही सकती क्योकि रात्रि मे भ्रमण-गमनागमन करने का निषेध है ।। १८ ।।

---

१ —मुपाददीयेतेत्या—अ । —मुपादीयतेत्या—मु ।

दिवानीतस्य रात्रौभोजनप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तोत्तरत्वात् । १६ । स्यान्मतम्–दिवा ग्राम पर्यटच केनचिद्भाजने भोजनाद्यानीय रात्रावुपयोग: प्रसक्त इति, तन्न; किं कारणम् ? उक्तोत्तरत्वात् । उक्तोत्तरमेतत्–प्रदीपादिसमारम्भप्रसङ्ग इति । नेदं सयमसाधनं–आनीय भोक्तव्यमिति । नापि निस्सङ्गस्य पाणिपात्रपुटाहारिणः आनयनं संभवति । भाजनान्तरसंग्रहे अनेकावद्यदर्शनात् अतिदीनचरितप्रसङ्गादचिरादेव[1] निवृत्तिपरिणामासभवाच्च । भाजनेनानीतस्य परीक्ष्य भोजन सभवतीति चेत्; न; योनिप्राभृतज्ञस्य सयोगविभागगुणदोषविचारस्य तदानीमेवोपपत्तेः, आनीतस्य पुनर्दोषदर्शनात् विसर्जनेऽनेकदोषोपपत्तेश्च ।

स्फुटार्थाभिव्यक्तेश्च दिवाभोजनं युक्तम् । २० । यथा रविप्रकाशस्य स्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् भूमिदेशदातृजनचङ्क्रमणाद्यन्नपानादिपतितमितरच्च स्पष्टमुपलभ्यते न

दिन मे लाये हुए अन्न को रात्रि मे भक्षण करना भी उचित नही है, क्योकि उसका उत्तर पहले दे चुके है । **प्रश्न**—दिन मे भ्रमण करके किसी भाजन मे भोजन आदि को लाकर के रात्रि मे भोजन करने का प्रसग आयेगा ? **उत्तर**—दिन में किसी भाजन मे भोजन लाकर रात्रि मे भोजन करना उचित नही है, क्योकि रात्रि मे भोजन करने से दीपक को प्रज्वलित करने-कराने मे आरम्भजनित अनेक दोषो की सम्भावना है, ऐसा पूर्व मे कहा है । 'किसी पात्र मे भोजन लाकर खाना' यह सयम का साधन भी नही है तथा निष्परिग्रही, पाणिपात्र मे भोजन करने वाले साधु के लिए भाजन मे भोजन का लाना सम्भव भी नही है । भाजनान्तर (पात्र) के सग्रह मे अनेक दोष देखे जाते है, अतिदीनवृत्ति आ जाती है और शीघ्र ही पूर्ण निवृत्ति के परिणाम नही हो सकते (क्योकि सर्वसावद्यनिवृत्ति काल मे ही पात्र ग्रहण करने से पात्रनिवृत्ति के परिणाम कैसे हो सकेंगे ।) **प्रश्न**—पात्र मे लाये हुए भोजन की परीक्षा करके खा सकते है ? **उत्तर**—पात्र मे लाकर परीक्षा करके भोजन करने मे भी योनिप्राभृतज्ञ[2] साधु को सयोग विभाग आदि से होने वाले गुण-दोष के विचार की उसी समय उपपत्ति होती है । लाने मे भी दोष देखे जाते है और फिर विसर्जन मे अनेक दोष होते है ।। १६ ।।

स्फुटार्थ अभिव्यक्ति के लिए दिन मे भोजन करना युक्त है । जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश मे स्फुट रूप से पदार्थ दिख जाते है तथा भूमिदेश, दाता का गमन, अन्नपानादि गिरे हुए या रखे हुए स्पष्ट दिखाई देते है, उस प्रकार चन्द्र आदि के प्रकाश मे नही दीखते । अर्थात् रात्रि मे चन्द्रमा

---

१ दीक्षाग्रहणवाले 'सर्वसावद्यविरतोऽस्मि' इति परिणामो न सभवति, तदैव भाजनान्तरसग्रहे परिणामत्वात् ।

२ 'योनिप्राभृतज्ञ' का अर्थ स्पष्ट नही हुआ । योनि का अर्थ जाति भी होता है, साधु अनेक जाति के होते है । पात्र मे भोजन लाने से उनका समिश्रण होता है ।

तथा चन्द्रादिप्रकाशानाम् अस्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् स्फुटा भूम्याद्युपलब्धिरस्तीति दिवाभोजनमेव युक्तम् ।

तदेतदविशेषचोदितं पञ्चतयविषयव्रताभिधान[1] विरत्याश्रयविवक्षाद्वयसभवात् अभिधेयात्मभूतधर्मो[2]पादानादभिधानाना [3]व्यक्तिव्यपदेशवद् द्वैविध्यमनुभवतीत्याह—

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

कुतश्चिद्दिश्यते इति देशः । १ । कुतश्चिदवयवात् दिश्यत इति देश प्रदेश., एकदेश इत्यर्थ. ।

सरत्यशेषानवयवानिति सर्वः । २ । सरति गच्छति अशेपानवयवानिति सर्व इत्युच्यते । देशश्च सर्वश्च देशसर्वौ, देशसर्वाभ्या देशसर्वत: । विरतिरित्यनुवर्तते । हिंसादेर्देशतो विरतिरणुव्रतम्, सर्वतो विरतिर्महाव्रतम् । अणु च महच्च अणुमहती इति व्रतापेक्षया नपुंसकलिङ्गनिर्देश ।

और दोपक का प्रकाश होते हुए भो भूमिदेश मे स्थित पदार्थ स्पष्ट दृष्टिगोचर नही होते इसलिये दिन में ही भोजन करना चाहिए ॥ २० ॥

हिंसा आदि सावद्य कर्मो से विरक्त होना सामान्यतया पाँच प्रकार का व्रत कहा है। विरति की आश्रयभूत विवक्षाओ की सभावना से व्रत दो कोटियो मे बाँटा गया है। अर्थात् व्यक्तियो के आत्मभूत धर्मो के द्वैविध्य होने से व्यक्तियो के द्वैविध्य के समान उन धर्मो के भी दो भेद हो जाते है अर्थात् व्यक्ति के भेद से व्रत दो प्रकार के होते है—

एकदेश रूप से और सर्वदेश रूप से त्याग करने से व्रत भी अणु और महारूप से दो प्रकार के है ॥ २ ॥

कुतश्चित् (किन्ही अशो तक) दृष्टिगोचर होता है, वह देश है। देश, प्रदेश और एकदेश ये सब एकार्थवाचो हैं। जो वस्तु के कुछ अशो तक उसे ग्रहण करता है, समस्त वस्तु को नही, उसे एकदेश कहते है ॥ १ ॥

सर्व अवयवो को जो प्राप्त होता है, अशेष अवयवो को ग्रहण करता है, वह सर्व कहलाता है। देश अर्थात् एकभाग, सर्व-सम्पूर्ण रूप, दोनो का समास 'देशसर्वौ' देश और सर्व से 'देशसर्वतो'। विरति का सम्बन्ध प्रयोग अनुवर्तन कर रहा है (चल रहा है)। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से एकदेश विरति अणुव्रत है और सर्वदेश विरति महाव्रत है। अणु और महा

---

१ कर्मतापन्नम् । २ गवाद्यात्मभूतसास्नादिधर्मस्वीकारात् । ३ शवलशावलेयादि ।

आह–'न हिनस्मि नानृत वदामि नादत्तमाददे नाङ्गना स्पृशामि न परिग्रहमुपाददे' इति एषोऽभिसन्धिः, योऽत्राऽसमर्थभावनापरः कथं यथाप्रतिज्ञाताभिघातभाक् स्यात् इति ? अत्रोच्यते–यस्मादवहितेनेमा भावयितव्याः परमार्थादित्सया–

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ।। ३ ।।

भावनाशब्दः कर्मसाधनः । १ । अय भावनाशब्द कर्मसाधनो द्रष्टव्य । वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षेण आत्मना भाव्यन्ते ता इति भावना. ।

पञ्च पञ्चेत्यत्र वीप्सायां शस्प्रसङ्ग इति चेत्; न; कारकाधिकारात् । २ । स्यादेतत्–पञ्च पञ्चेत्यस्मिन् निर्देशे वीप्साविवक्षिते वीप्साया शसा भवितव्य पञ्चश इति, तथा सति लघुश्च निर्देशो भवतीति; तन्न; कि कारणम् ? कारकाधिकारात् । कारकादिति तत्र [1]वर्तते, न चाऽत्र कारकत्वमस्ति इति शसा न भवितव्यम् ।

दोनो को मिलाने व समास करने से अणुमहती पद बनता है । यहाँ व्रत की अपेक्षा से नपु सकलिग (अणुमहती) का निर्देश है ।

प्रश्न—किसी पुरुष ने प्रतिज्ञा कर ली कि 'झूठ नही बोलू गा, हिंसा नही करू गा, चोरी नही करू ंगा, परस्त्रीगमन नही करू गा और परिग्रह ग्रहण नही करू गा', परन्तु ऐसी भावना स्थिर रखने मे असमर्थ हुआ तो प्रतिज्ञा को वह कैसे स्थिर रख सकता है ? **उत्तर**—ऐसे पुरुप को परमार्थ की इच्छा से सावधान मन होकर ये भावनाएँ भानी चाहिए—

उन व्रतों की स्थिरता के लिए प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाएँ है ।। ३ ।।

यह भावना शब्द यहाँ पर कर्मसाधन है, ऐसा जानना चाहिए। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम, चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम तथा क्षयोपशम और अगोपाग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाली आत्मा के द्वारा जो भायी जाती हैं, जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, वे भावनाये कहलाती है ।। १ ।।

पञ्च-पञ्च इस निर्देश कथन मे वीप्सा की विवक्षा होने पर 'शस्' प्रत्यय का प्रसग आता है, ऐसा नही है, क्योकि यहाँ कारक का अधिकार है । **प्रश्न**—'पञ्च-पञ्च' के स्थान मे (निर्देश मे) वीप्सा विवक्षित अर्थ मे 'शस्' प्रत्यय करके 'पञ्चशः' यह लघु निर्देश करना चाहिए । **उत्तर**—यहाँ 'पचशः' यह 'शस्' प्रत्यय नही होता, क्योकि यहाँ कारक का अधिकार है अर्थात् यहाँ कारक है, कारकत्व नही है । इसलिए यहाँ [illegible] नही होता ।। २ ।।

---

१. प्रवर्त–अ. ।

क्रियाध्याहारात् कारकत्वमिति चेत्; न; विकल्पाधिकारात् । ३ । स्यादेतत्—'पञ्च पञ्च भावयेत्' इत्येवमादि क्रियापदाध्याहारे कारकत्वोपपत्तौ शसा भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? विकल्पाधिकारात् वेत्यनुवर्तते, तेनात्र शस् न भवति । ननु लघुत्वात् शसा निर्देश· कर्तव्य·, प्रतिपत्ते गौरवं मा भूत् इति द्वित्वमेव कृतम्, वाक्याध्याहारे हि क्रियमाणे प्रतिपत्तेर्गौरवं स्यात् इति । तस्य पञ्चविधस्य व्रतस्य स्थैर्यार्थम् एकैकस्य पञ्च पञ्च भावना वेदितव्याः ।

यद्येवम्, आद्यस्य अहिंसाव्रतस्य का इति ? उच्यते—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥

वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिरादाननिक्षेपणसमितिरालोकितपानभोजनमित्येताः पञ्च अहिंसाव्रतस्य भावना ।

क्रिया का अध्याहार होने से कारकत्व है, ऐसी आशका भी उचित नही है, क्योकि यहाँ विकल्प का अधिकार है । **प्रश्न**—'पञ्च-पञ्च भावयेत्' इसमे 'भावयेत्' इस क्रिया पद का अध्याहार करने पर कारकत्व की उपपत्ति (प्रकरण) मे 'शस्' प्रत्यय होकर 'पञ्चश·' ऐसा पद होना चाहिये ? **उत्तर**—यहाँ विकल्प का अधिकार होने से ऐसा अनुवर्तन है । अर्थात् यहाँ 'शस्' प्रत्यय विकल्प से होता है, अतः यहाँ शस् (पचश.) प्रत्यय का प्रयोग नही करना चाहिए । **प्रश्न**—'शस्' प्रत्यय करने से सूत्र लघु हो जाता है, इसलिये 'शस्' प्रत्यय का निर्देश करना चाहिए ? **उत्तर**—'शस्' प्रत्यय करने से अर्थ के बोध मे गौरव नही हो अत. पञ्च-पञ्च ऐसा दो वचन करना चाहिए तथा वाक्य मे क्रिया का अध्याहार करने पर ज्ञान मे गौरव होता है (जानने मे कठिनाई होती है) अत. स्पष्ट अर्थ बोध कराने के लिए 'पञ्च-पञ्च' यह विशद निर्देश उपयुक्त है । अहिंसादि पाँच व्रतो को स्थिर करने के लिए पाँच-पाँच भावनाएँ जाननी चाहिये ।। ३ ।।

यदि अहिसादि एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ है, तो प्रथम अहिसा व्रत की भावनाएँ कौन-कौन सी है ? इसका उत्तर देते है—

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित-पानभोजन ये अहिसा व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ।। ४ ।।

वचनगुप्ति—वचन को वश मे करना, **मनगुप्ति**—मन को वश मे करना, **ईर्यासमिति**—चार हाथ जमीन देखकर चलना, **आदाननिक्षेपणसमिति**—भली प्रकार स्थान को देखकर पुस्तक आदि रखना और **आलोकितपानभोजनसमिति**—सूर्य के प्रकाश मे अवलोकन करके अन्न-पानी ग्रहण करना ।

अथ द्वितीयस्य व्रतस्य का. ?

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥

क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यान भीरुत्वप्रत्याख्यान हास्यप्रत्याख्यानम् अनुवीचिभाषण चेत्येता पञ्च भावना. सत्यव्रतस्य ज्ञेयाः । अनुवीचिभाषणम् अनुलोमभाषणमित्यर्थ. । ननु अप्रशस्तक्रियस्यापि वचसोऽनुवीचिभाषणमापन्नम्, नैष दोष ; पुण्यास्रवस्य प्रकृतत्वात्, अप्रशस्तक्रियानुवीचिभाषणस्यानधिकार. । विचार्य भाषणमनुवीचिभाषणमिति वा ।

इदानी तृतीयस्य व्रतस्य भावना वक्तव्याः—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि-सधर्माऽविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥

शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिष्वावास. । परकीयेषु च मोचितेष्वावासः ।

द्वितीय व्रत की भावनाएँ कौन-कौनसी है ?

क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग तथा अनुवीचिभाषण (अनिंद्य वा शास्त्रानुकूल वचन बोलना) ये पाँच सत्य व्रत की भावनाएँ है ॥ ५ ॥

क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भीरुत्व का त्याग, हास्य का त्याग तथा अनुवीचिभाषण ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ जाननी चाहिए। अनुवीचिभाषण, अनुलोमभाषण एकार्थवाची है। अर्थात् विचारपूर्वक बोलना अनुवीचिभाषण है। **प्रश्न**—अप्रशस्त क्रियावान् के भी वचन के अनुवीचिभाषण का प्रसग आयेगा ? **उत्तर**—यह कोई दोष नही है, क्योकि यहाँ पुण्यास्रव का प्रकरण होने से अप्रशस्त क्रिया करने वाले पापी के भाषण को अनुवीचिभाषण नही कह सकते। क्योकि विचारपूर्वक भाषण को अनुवीचिभाषण कहते है।

अब तीसरे व्रत की भावनाएँ कहनी चाहिए—

शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनाएँ है ॥ ६ ॥

शून्यागारावास—पर्वत की गुफा, वृक्ष की खोह (कोटर) आदि मे निवास करना। **विमोचितावास**—दूसरे के द्वारा छोडे गये मकान आदि मे रहना। **परोपरोधाकरण**—दूसरो को उसमें आने से नही रोकना। **भैक्ष्यशुद्धि**—आचारशास्त्रमार्ग से (आचारशास्त्रानुसार) भिक्षाचर्या।

परेषाम् उपरोधाकरणम् । आचारशास्त्रमार्गेण भैक्ष्यशुद्धि. । ममेदं तवेदमिति सधर्मभिः अविसंवाद इति एताः पञ्च अदत्तादानविरमणव्रतस्य [1]भावना प्रत्येतव्याः ।

अथेदानीं ब्रह्मचर्यस्य भावना वक्तव्या–

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्ट-रसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥

स्त्रीरागकथाश्रवणवर्जनं तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणविरहः पूर्वरतानुस्मरणपरित्यागः वृष्येष्टरसानुभवननिरासः स्वशरीरसस्कारत्यागश्चेति चतुर्थव्रतस्य भावनाः पञ्च [2]विज्ञेयाः ।

अतः परं पञ्चमव्रतस्य भावना निर्देष्टव्याः–

मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥

सधर्माविसंवाद—'यह मेरा है, यह तेरा है' इस प्रकार सार्धमियो के साथ विसवाद नही करना, ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनाएँ हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

अब ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ कहते हैं—

स्त्रीरागकथा-श्रवणवर्जन, उनके मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग, उन्मादक भोजन का त्याग और स्वशरीर-संस्कार का त्याग, ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥ ७ ॥

स्त्रियो मे राग वढाने वाली कथा के श्रवण का त्याग, स्त्रियो के मनोहर अगों को देखने का त्याग, पूर्वभुक्त विषयो के स्मरण का त्याग, कामोत्पादक गरिष्ठ भोजन का त्याग और स्वशरीर के सस्कार का त्याग, ये पॉच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ है ।

अव पंचम परिग्रहत्यागव्रत की पॉच भावनाएँ कहते है—

मनोज्ञ और अमनोज्ञ पाँचों इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष का त्याग करना अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥ ८ ॥

---

१. भावना कथ्यन्ते मु, द. । २ ज्ञेयाः अ. ।

पञ्चानामिन्द्रियाणा स्पर्शादीनामिष्टानिष्टेषु विषयेषु उपनिपतितेषु स्पर्शादिषु रागद्वेषवर्जनानि पञ्च अस्य आकिञ्चन्यव्रतस्य भावनाः प्रत्येतव्या. ।

किञ्चान्यत्, यथा अमीषा व्रताना द्रढिमार्थं भावनाः [1]प्रति यतेद् विपश्चिदिति भावनोपदेशः, तथा तदर्थं तद्विरोधिष्वपि, इत्याह–

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां नाशकोऽपायो भयं वा । १ । अभ्युदयनि·श्रेयसार्थाना क्रियासाधनाना नाशकोऽनर्थ· अपाय इत्युच्यते । अथवा ऐहलौकिकादिसप्तविध भयमपाय इति कथ्यते ।

अवद्यं गर्ह्यम् । २ । गर्ह्यमवद्यमिति यावत् । अपायश्च अवद्य च अपायावद्ये । अपायावद्ययोर्दर्शनं अपायावद्यदर्शन भावयितव्यम् । क्व ? इहाऽमुत्र च । केषु ?

स्पर्शन आदि पाँचो इन्द्रियो के स्पर्श आदि मनोज्ञ, अनोमज्ञ (इष्टानिष्ट) विषयो मे रागद्वेष का त्याग करना अर्थात् इष्ट विषयो मे राग और अनिष्ट विषयो मे द्वेष का त्याग करना आकिंचन्य (परिग्रहत्याग) व्रत की पाँच भावनाएँ है ।

अथवा, इन भावनाओ के सिवा और भी जिन बातो से व्रतो की दृढता रहती है, उन बातो का उपदेश जिस प्रकार विद्वानो द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार उनकी दृढता के लिए व्रतो के विरोधियो के विषय मे भी नीचे लिखे प्रकार भावना भानी चाहिए । वह इस प्रकार है—

हिंसादि पापों के करने से इस लोक में भी और परलोक में भी अपाय (अनर्थ) और अवद्य (निन्दा) दर्शन होता है ॥ ९ ॥

अभ्युदय और नि श्रेयस के साधनो का नाशक अपाय है, या भय का नाम अपाय है । अभ्युदय (स्वर्गादि इहलोकिक सम्पदा) और नि श्रेयस (मोक्ष) की क्रिया एव साधनो के नाशक अनर्थ को अपाय कहते है । अथवा, इहलोक, परलोकादि सात *प्रकार के भय को अपाय कहते है ॥ १ ॥

गर्ह्य निन्दनीय को अवद्य कहते है । ऐसा चितवन करना चाहिए कि हिंसक नित्य उद्विग्न रहता है, सतत अनुबद्ध वेर वाला होता है । इस लोक मे वध-(मारण)वन्धन, क्लेश आदि को प्राप्त करता है और मरकर परलोक मे अशुभ गति मे जाता है और लोक मे भी निन्दनीय

---

१. प्रयतेन विपश्चिदिति-ता. । प्रतीयते तद्विपश्चिद्भिरिति मु. । * इहलोकभय, परलोकभय, मरण, वेदना जात । अनगुप्तिभय, अनरक्षकभय, अकस्मात् भय सात ।

हिसादिषु । कथमिति चेत् ? उच्यते–हिसाया तावत् हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयः सततानुबद्धवैरश्च, इहैव च वधबन्धपरिक्लेशादीन् प्रतिलभते, प्रेत्य चाशुभा गतिम्, गर्हितश्च भवति इति हिसाया व्युपरम. श्रेयान् । तथा अनृतवादी [1]अश्रद्धेयो भवति, इहैव च जिह्वाच्छेदनादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्याख्यानदु खितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनानि अवाप्नोति, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवति इति अनृतवचनात् व्युपरम· श्रेयान् । तथा स्तेनः परद्रव्याहरणासक्तमति· सर्वस्योद्वेजनीयो भवति, इहैव चाऽभिघात-वधबन्धहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादीन् प्रतिलभते, प्रेत्य चाशुभा गतिम्, गर्हितश्च भवतीति स्तेयात् व्युपरमः श्रेयान् । तथा अब्रह्मचारी मदविभ्रमोद्-ग्रथितचित्तः वनगज इव [2]वासितावञ्चितो विवशो वधबन्धपरिक्लेशादीन् अनुभवति, मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याऽकार्यानभिज्ञो न [3]किञ्चिदकुशल नाचरति, पराङ्गनालिङ्गना-सङ्गकृतरतिश्च इहैव वैरानुबन्धिन· लिङ्गच्छेदनवधबन्धसर्वस्वहरणादीन् अपायान् प्राप्नोति, प्रेत्य वाऽशुभां गतिमश्नुते, गर्हितश्च भवतीति, अतो विरतिरात्महिता । तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्ड. अन्येषा तदर्थिना पतत्त्रिणाम्, इहैव

होता है अतः हिसा से विरक्त होना ही कल्याणकारी है । मिथ्याभाषी का कोई विश्वास नही करता है । असत्यवादी इस लोक मे जिह्वाच्छेद आदि के दड को भोगता है । जिसके सम्बन्ध में झूठ बोलता है, वे उसके बैरी हो जाते है अत. उनसे भी अनेक आपत्तियाँ आती है । मरकर अशुभगति मे जाता है और निन्दनीय भी होता है । अत· असत्य बोलने से विरक्त होना कल्याणकारी है । परधन के ग्रहण करने मे आसक्तचित्त वाला चोर सर्व जनो के द्वारा तिरस्कृत होता है, निरन्तर भयभीत रहता है । इस लोक मे अभिघात (मारपीट), वध, बन्धन, हाथ, पैर, कान, नाक, ओष्ठ आदि का छेदन-भेदन और सर्वस्वहरण आदि दण्ड भोगता है (प्राप्त करता है) और मरकर परलोक मे अशुभगति मे जाता है, अत. चोरी से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है तथा अब्रह्मचारी (कुशीलसेवी) मानव मदोन्मत्त हाथी के समान हथिनी से ठगाया हुआ, हथिनी के पीछे घूमता हुआ विवश होकर वध-बन्धन क्लेशादि का अनुभव करता है अर्थात् हथिनी के वशीभूत हुआ हाथी मारण-ताडन-बन्धन-छेदन आदि अनेक दु.खो को भोगता है । उसी प्रकार परस्त्री के वश हुआ मानव वध-बधनादि को भोगता है । मोहाभिभूत होने के कारण कार्य (करने योग्य), अकार्य (नही करने योग्य) के विचार से शून्य होकर किसी शुभ कर्म का आचरण नही करता है । परस्त्री का आलिगन तथा उसके सग मे रति करने वाले मानव के सर्व लोग बैरी बन जाते हैं । परस्त्रीगामी इस लोक मे लिङ्गच्छेदन, वध, बन्धन, क्लेश, सर्वस्वहरणादि के दु.खो को प्राप्त होते हैं तथा मरकर परलोक मे अशुभ गति मे जाते है और यहाँ निन्दनीय होते है अतः अब्रह्म से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है, आत्महितकारक है तथा परिग्रहवान् पुरुष मासखण्ड को ग्रहण किये हुए पक्षी की

---

१. श्रद्धेयो न भ–मु द ब । २. करिण्या । ३ किंचिदपि कुशल नाच–द । किञ्चिदपि कुशलमाच–मु ।

पञ्चानामिन्द्रियाणा स्पर्शादीनामिष्टानिष्टेषु विषयेषु उपनिपतितेषु स्पर्शादिषु रागद्वेषवर्जनानि पञ्च अस्य आकिञ्चन्यव्रतस्य भावनाः प्रत्येतव्याः ।

किञ्चान्यत्, यथा अमीषा व्रतानां द्रढिमार्थं भावनाः [1]प्रति यतेद् विपश्चिदिति भावनोपदेशः, तथा तदर्थं तद्विरोधिष्वपि, इत्याह–

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां नाशकोऽपायो भयं वा । १ । अभ्युदयनि.श्रेयसार्थाना क्रियासाधनाना नाशकोऽनर्थः अपाय इत्युच्यते । अथवा ऐहलौकिकादिसप्तविध भयमपाय इति कथ्यते ।

अवद्यं गर्ह्यम् । २ । गर्ह्यमवद्यमिति यावत् । अपायश्च अवद्य च अपायावद्ये । अपायावद्ययोर्दर्शन अपायावद्यदर्शनं भावयितव्यम् । क्व ? इहाऽमुत्र च । केषु ?

स्पर्शन आदि पाँचो इन्द्रियो के स्पर्श आदि मनोज्ञ, अनोमज्ञ (इष्टानिष्ट) विषयो मे रागद्वेष का त्याग करना अर्थात् इष्ट विषयो मे राग और अनिष्ट विषयो मे द्वेष का त्याग करना आकिंचन्य (परिग्रहत्याग) व्रत की पाँच भावनाएँ है ।

अथवा, इन भावनाओ के सिवा और भी जिन बातो से व्रतो की दृढता रहती है, उन बातो का उपदेश जिस प्रकार विद्वानो द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार उनकी दृढता के लिए व्रतो के विरोधियो के विषय मे भी नीचे लिखे प्रकार भावना भानी चाहिए । वह इस प्रकार है—

हिंसादि पापों के करने से इस लोक में भी और परलोक में भी अपाय (अनर्थ) और अवद्य (निन्दा) दर्शन होता है ॥ ९ ॥

अभ्युदय और नि श्रेयस के साधनो का नाशक अपाय है, या भय का नाम अपाय है। अभ्युदय (स्वर्गादि इहलोकिक सम्पदा) और नि श्रेयस (मोक्ष) की क्रिया एव साधनो के नाशक अनर्थ को अपाय कहते है। अथवा, इहलोक, परलोकादि सात *प्रकार के भय को अपाय कहते है ॥ १ ॥

गर्ह्य निन्दनीय को अवद्य कहते है। ऐसा चितवन करना चाहिए कि हिंसक नित्य उद्विग्न रहता है, सतत अनुबद्ध वैर वाला होता है। इस लोक मे वध-(मारण)बन्धन, क्लेश आदि को प्राप्त करता है और मरकर परलोक मे अशुभ गति मे जाता है और लोक मे भी निन्दनीय

---

१. प्रयतेन विपश्चिदिति-ता. । प्रतीयते तद्विपश्चिद्भिरिति मु. । * इहलोकभय, परलोकभय, मरण, वेदना जात । अनगुप्तिभय, अनरक्षकभय, अकस्मात् भय सात ।

हिंसादिषु। कथमिति चेत्? उच्यते–हिंसायां तावत् हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयः सततानुबद्धवैरश्च, इहैव च वधबन्धपरिक्लेशादीन् प्रतिलभते, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवति इति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान्। तथा अनृतवादी [1]अश्रद्धेयो भवति, इहैव च जिह्वाच्छेदनादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्याख्यानदुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनानि अवाप्नोति, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवति इति अनृतवचनात् व्युपरमः श्रेयान्। तथा स्तेनः परद्रव्याहरणासक्तमतिः सर्वस्योद्वेजनीयो भवति, इहैव चाऽभिघात-वधबन्धहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादीन् प्रतिलभते, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवतीति स्तेयात् व्युपरमः श्रेयान्। तथा अब्रह्मचारी मदविभ्रमोद्-भ्रान्तचित्तः वनगज इव [2]वासितावञ्चितो विवशो वधबन्धपरिक्लेशादीन् अनुभवति, मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याऽकार्यानभिज्ञो न [3]किञ्चिदकुशलं नाचरति, पराङ्गनालिङ्गना-सङ्गकृतरतिश्च इहैव वैरानुबन्धिनः लिङ्गच्छेदनवधबन्धसर्वस्वहरणादीन् अपायान् प्राप्नोति, प्रेत्य चाऽशुभां गतिमश्नुते, गर्हितश्च भवतीति, अतो विरतिरात्महिता। तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डः अन्येषां तदर्थिनां पतत्रिणाम्, इहैव

होता है अतः हिंसा से विरक्त होना ही कल्याणकारी है। मिथ्याभाषी का कोई विश्वास नहीं करता है। असत्यवादी इस लोक में जिह्वाच्छेद आदि के दंड को भोगता है। जिसके सम्बन्ध मे झूठ बोलता है, वे उसके बैरी हो जाते है अतः उनसे भी अनेक आपत्तियाँ आती है। मरकर अशुभगति मे जाता है और निन्दनीय भी होता है। अतः असत्य बोलने से विरक्त होना कल्याणकारी है। परधन के ग्रहण करने मे आसक्तचित्त वाला चोर सर्व जनों के द्वारा तिरस्कृत होता है, निरन्तर भयभीत रहता है। इस लोक मे अभिघात (मारपीट), वध, बन्धन, हाथ, पैर, कान, नाक, ओष्ठ आदि का छेदन-भेदन और सर्वस्वहरण आदि दण्ड भोगता है (प्राप्त करता है) और मरकर परलोक में अशुभगति मे जाता है, अतः चोरी से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है तथा अब्रह्मचारी (कुशीलसेवी) मानव मदोन्मत्त हाथी के समान हथिनी से ठगाया हुआ, हथिनी के पीछे घूमता हुआ विवश होकर वध-बन्धन क्लेशादि का अनुभव करता है अर्थात् हथिनी के वशीभूत हुआ हाथी मारण-ताडन-बन्धन-छेदन आदि अनेक दुःखो को भोगता है। उसी प्रकार परस्त्री के वश हुआ मानव वध-बधनादि को भोगता है। मोहाभिभूत होने के कारण कार्य (करने योग्य), अकार्य (नही करने योग्य) के विचार से शून्य होकर किसी शुभ कर्म का आचरण नही करता है। परस्त्री का आलिंगन तथा उसके संग में रति करने वाले मानव के सर्व लोग बैरी बन जाते है। परस्त्रीगामी इस लोक मे लिङ्गच्छेदन, वध, बन्धन, क्लेश, सर्वस्वहरणादि के दुःखो को प्राप्त होते है तथा मरकर परलोक में अशुभ गति मे जाते हैं और यहाँ निन्दनीय होते हैं अतः अब्रह्म से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है, आत्महितकारक है तथा परिग्रहवान् पुरुष मांसखण्ड को ग्रहण किये हुए पक्षी की

१. श्रद्धेयो न भ–मु द ब.। २. करिण्या। ३. किंचिदपि कुशलं नाच–द.। किञ्चिदपि कुशलमाच–मु।

तस्करादीनामभिभवनीयो भवति, तदर्जनरक्षणप्रक्षयकृताश्च दोषान् बहूनवाप्नोति, न चास्य तृप्तिर्भवति इन्धनैरिवाग्नेः, लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति, प्रेत्य चाऽशुभा गतिमास्कन्दति, लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवति इति तद्विरमणं श्रेयः। एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम्।

हिंसादिषु भावनान्तरप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते–

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अत्र चोद्यते–दुःखमसद्वेद्योदयकृतः परितापः, हिंसादयः क्रियाविशेषाः, कथं दुःखमेव हिंसादय इति ? अत्रोच्यते–

दुःखमेवेति कारणे कार्योपचारोऽन्नप्राणवत्।१। यथा 'अन्नं वै प्राणाः' इति प्राणकारणे अन्ने प्राणोपचारः तथा दुःखकारणेषु हिंसादिषु दुःखमेव इत्युपचारो वेदितव्यः।

तरह अन्य पक्षियो के द्वारा झपटा जाता है, चोर आदि के द्वारा अभिभवनीय (तिरस्कृत) होता है; उस परिग्रह के अर्जन, रक्षण और विनाशकृत अनेक दु.खो को प्राप्त होता है। जैसे ईंधन से अग्नि तृप्त नही होती है, उसी प्रकार परिग्रह से तृप्ति नही होती। लोभकषाय से अभिभूत होने से कार्य-अकार्य से अनभिज्ञ हो जाता है। परिग्रहवान् मानव मरकर परलोक मे नरक तिर्यंचादि अशुभगति मे जाता है। 'यह लोभी है-कञ्जूस है' इत्यादि रूप से निन्दनीय होता है। अत. परिग्रह का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। ये हिंसादि पाप अपाय और अवद्य के कारण है, ऐसी निरन्तर भावना भानी चाहिये ॥ २ ॥

इनके सिवा हिंसादि के विषय मे और भी भावनाएँ है, वे भी भानी चाहिए। वे कही जाती है—

ये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाप दुःखरूप ही हैं ॥ १० ॥

प्रश्न—असाता वेदनीय के उदय से कृत परिताप दु.ख है और हिंसादि क्रियाविशेष हैं, अत. हिंसादि दु.खरूप कैसे हो सकते है ? **उत्तर**—

अन्न मे प्राण के समान दु खरूप कारण मे कार्य का उपचार करके हिंसादि को दु.खरूप कहा गया है। जैसे 'अन्न वै प्राणाः' यहाँ अन्न को प्राण का कारण होने से अन्न मे प्राण का उपचार किया जाता है, अर्थात् अन्न को प्राण कहा जाता है, उसी प्रकार दु.ख के कारणभूत हिंसादि पाप 'दुःखरूप' हैं, ऐसा उपचार किया जाता है ॥ १ ॥

कारणकारणे वा धनप्राणवत् । २ । अथवा, यथा द्रविणकारणमन्नपानम्, अन्नपानकारणा प्राणाः इति प्राणकारणे द्रविणे प्राणोपचार । उक्त च–

यदेतद् द्रविणं नाम प्राणा ह्येते बहिश्चराः ।
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥ १ ॥ इति

तथा हिंसादयोऽसद्वेद्यकर्मकारणम्, असद्वेद्यकर्म दुःखकारणमिति दुःखकारणकारणेषु हिंसादिषु दुःखमेवेत्युपचार ।

तत्परत्र भावनमात्मसाक्षिकम् । ३ । तदेतद्दुःखमेवेति भावन परत्रात्मसाक्षिकम् अवगन्तव्यम् । तद्यथा-ममाऽप्रिय यथा वधपरिपीडन तथा सर्वसत्त्वानाम् । यथा मम मिथ्याख्यानकटुकपरुषादीनि वचासि शृण्वता अतितीव्रदुःखमभूतपूर्वमुत्पद्यते एव सर्वजीवानाम् । यथा च ममेष्टद्रव्यवियोगे व्यसनमभूतपूर्वमुपजायते एव सर्वभूतानाम् । यथा च मम कान्ताजनपरिभवे परकृते सति मानसी पीडाऽतितीव्रा जायते तथेतरेषाम् । यथा च मम परिग्रहेषु अप्राप्तेषु [1]प्राप्तेषु विनष्टेषु काङ्क्षारक्षाशोकोद्भव दुःख तथा सर्वप्राणिनामिति हिंसादिभ्यो व्युपरमः [2]परमहित ।

अथवा, धन मे प्राण की तरह कारण के कारण मे कार्य का उपचार किया जाता है। जैसे—धन से अन्न आता है और अन्न से प्राणो की स्थिति होती है अत कारण के कारण मे कार्य का उपचार करके धन को प्राण कहते है अर्थात् धन मे प्राण का उपचार होता है, कहा भी है—"धन मनुष्य का बाह्य (बाहर घूमने वाला) प्राण है, जो किसी का धन हरता है वह उसके प्राणों को ही हर लेता है।" तथा हिंसादि पाप असातावेदनीय कर्म के कारण हैं और असातावेदनीय कर्म दुःख का कारण है अतः दुःख के कारण के कारण रूप हिंसादि भी दुःख रूप ही हैं, ऐसा उपचार किया जाता है ॥ २ ॥

आत्मसाक्षिक भावना परत्र (दूसरे लोगो) मे भी भानी चाहिये। ये हिंसादि दुःखरूप ही है। इस प्रकार की भावना दूसरे लोगो मे अपनी साक्षी से करनी चाहिए। अर्थात् जैसे मुझे वध या परपीडा असह्य है, अप्रिय है, उसी प्रकार सभी प्राणियो को वध आदि अप्रिय हैं। जैसे मिथ्यावचन या कटुक मर्मच्छेदी वचन सुनकर मुझे अतितीव्र अभूतपूर्व दुःख होता है, वैसा ही सर्वजीवो को होता है। जैसे—अपने इष्ट द्रव्य का वियोग होने पर मुझे अतितीव्र अभूतपूर्व दुःख होता है, उसी प्रकार सर्वभूतो (सर्वजीवो) को दुःख होता है। जैसे—कोई मेरी स्त्री आदि का तिरस्कार करता है तो मुझे अतितीव्र अभूतपूर्व मानसिक दुःख होता है, उसी प्रकार दूसरों को भी होता है। मुझे परिग्रह प्राप्त न हो या मेरा प्राप्त हुआ धन नष्ट हो जावे तब कांक्षा,

---

१ प्राप्तेषु-मु. द. ना, मू. ब । २ परम. हि–मु. द ।

स्पर्शकृतं सुखमिति चेत्; न; वेदनाप्रतीकारत्वात् ।४। स्यादेतत्, न सर्वं दुःखमेव । किं तर्हि ? स्पर्शकृतं सुखमप्यस्ति, वराङ्गनामृदुसुभगगात्रसश्लेषणात् रतिसुखमुपजायत इति; तन्न; किं कारणम् ? वेदनाप्रतीकारत्वात् । यथा त्वङ्मासरुधिरकलुषभावोद्गीर्णया कण्ड्वा बाध्यमानः नखमुखशकलशर्करादिभिः छिन्नगात्रो रुधिरार्द्रोऽनुपरतकण्डूयो दु.खमपि तत्सुखमिति मन्यते, तथा मैथुनोपसेवी मोहादसुखमपि सुखमिति मन्यते । दुःखयोनित्वाच्च दु खमेवेति भावनीयम् ।

यथैते क्रियाविशेषाः तात्पर्येण भाव्यमाना व्रतपूर्णता जनयन्ति तथा अमूनि तादर्थ्यात् ऐहिकप्रयोजनविनिवृत्तौत्सुक्येन अवहितचेतसाऽजस्रं भाव्यमानानि व्रतसम्पदमापादयन्तीत्याह–

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ११ ॥

रक्षा या शोक आदि से जैसा मुझे दु ख होता है, धन नष्ट होने पर सर्वजीवो को वैसा ही दु ख होता है । इस प्रकार अपनी आत्मा के समान सर्व जीवो की आत्मा को समझकर हिंसादि पापो से विरक्त होना ही परम हितकर है ।। ३ ।।

वनिता के स्पर्श से सुख होता है, ऐसी आशका उचित नही है क्योकि वह वेदना का प्रतिकार है । **प्रश्न**— हिसादि सर्व ही पाप दु खरूप नही है क्योकि वरागना के कोमल एव सुन्दर शरीर के स्पर्श से स्पर्शजन्य रतिसुख उत्पन्न होता है ? **उत्तर**—वनिताओ के कोमल एव सुन्दर शरीर के स्पर्श मे सुख की कल्पना करना निरी मूर्खता है क्योकि उससे सिर्फ वेदना का प्रतिकार होता है । जैसे—त्वचा, मास, रुधिर और कलुष भावो से उद्गीर्ण खुजली से बाध्यमान मानव खुजली मिटाने के लिए नख, मुख, पत्थर आदि के टुकडो के द्वारा खुजाता हुआ छिन्नगात्र हो जाता है, लहूलुहान होता है फिर भी खुजली शान्त नही होने पर दु.खी होता है, उस खुजाने के दु ख को भी थोडी देर के लिए खाज वन्द होने के कारण सुख मानता है, उसी प्रकार मैथुनसेवी मोह के कारण दु.ख को भी सुख मानता है । ये हिंसादि दु खयोनि (दुःख के उत्पत्ति स्थान) होने से दुःखरूप ही है, ऐसी भावना भानी चाहिये ।। ४ ।।

जिस प्रकार ये भावनाएँ क्रियातत्पर होकर अथवा भावपूर्वक भाने से व्रत को पूर्णता प्रदान करती हैं उसी प्रकार ये (निम्नलिखित) कारणकलाप उन व्रतो की पूर्णता के लिए ऐहिक प्रयोजन की उत्सुकता-चाहना से रहित एव सावधान चित्त रखने वाले पुरुष के द्वारा निरन्तर भाये जाने से व्रत-सम्पत्ति उत्पन्न करा देते है । सूत्र कहते हैं—

प्राणिमात्र में मैत्री, गुणिजनों में प्रमोद, दुःखी जीवों में करुणा तथा विरुद्ध चित्तवालों में माध्यस्थ्य भाव रखना ये चार भावनाएँ हैं ।। ११ ।।

परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री । १ । स्वकायवाङ्मनोभिः कृतकारितानुमतविशेषणै· परेषा दु खानुत्पत्तौ अभिलाष· मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री ।

वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः । २ । वदनप्रसादेन नयनप्रह्लादनेन रोमाञ्चोद्भवेन स्तुत्यभीक्ष्णसंज्ञासंकीर्तनादिभिश्च अभिव्यज्यमानाऽन्तर्भक्तिरागः प्रकर्षेण मोद प्रमोद इत्युच्यते ।

दीनानुग्रहभावः कारुण्यम् । ३ । शारीरमानसदु खाभ्यर्दिताना दीनाना प्राणिनाम् अनुग्रहात्मक परिणाम· करुणस्य भाव· कर्म वा कारुण्यमिति कथ्यते ।

रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताऽभावो माध्यस्थ्यम् । ४ । रागात् द्वेषाच्च कस्यचित् पक्षे पतन पक्षपात तदभावात् मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थ, मध्यस्थस्य भाव कर्म वा माध्यस्थ्यम् ।

अनादिकर्मबन्धवशात् सीदन्तीति सत्त्वाः । ५ । अनादिना अष्टविधकर्मबन्धसन्तानेन तीव्रदु खयोनिषु चतसृषु गतिषु सीदन्तीति सत्त्वा· ।

दूसरो के दु·ख की अनुत्पत्ति की अभिलाषा मैत्री भाव है। स्वकीय काय, वचन, मन, कृत, कारित और अनुमोदना के द्वारा दूसरे को दु ख न होने देने की अभिलाषा, मित्र का धर्म अथवा कर्त्तव्य **मैत्री** है ॥ १ ॥

मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अन्तर्भक्ति और राग प्रमोद है। मुख की प्रसन्नता, नयनो का आह्लाद, रोमाञ्च का उद्भवन, स्तुति, निरन्तर सद्गुणकीर्तन आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अन्तरग की भक्ति और राग तथा विशेष रीति से जो मोद (प्रसन्नता) होता है उसे **प्रमोद** कहते है ॥ २ ॥

दीनो के प्रति अनुग्रहभाव कारुण्य है। शारीरिक और मानसिक दु ख मे दु.खी दीन (अनाथ) प्राणियो के प्रति अनुग्रहात्मक परिणाम करुणा है और करुणा का भाव या कर्म **कारुण्य** कहलाता है ॥ ३ ॥

रागद्वेषपूर्वक पक्षपात का अभाव माध्यस्थ्य है। राग और द्वेष से किसी के पक्ष मे पडना पक्षपात है। उस रागद्वेष के अभाव से मध्य मे रहना मध्यस्थ है तथा मध्यस्थ का भाव या कर्म **माध्यस्थ्य** भाव है ॥ ४ ॥

अनादि कर्मबन्ध के वश से जो दु.खी होते है, वे सत्त्व हैं। अनादिकालीन अष्टविधकर्मबन्धसन्तान से तीव्र दु ख की कारणभूत चारो गतियो मे जो दु ख उठाते है, वे सत्त्व कहलाते है ॥ ५ ॥

सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः । ६ । सम्यग्ज्ञानदर्शनादयो गुणा, तैः प्रकृष्टा गुणाधिका इति विज्ञायन्ते ।

असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः । ७ । असद्वेद्योदयापादितशारीरमानसदुःखसन्तापात् क्लिश्यन्त इति क्लिश्यमाना· ।

तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसम्पादितगुणा अविनेयाः । ८ । तत्त्वार्थोपदेशश्रवणग्रहणाभ्या विनीयन्ते पात्रीक्रियन्ते इति विनेया.; न विनेया अविनेया· । एतेषु सत्त्वादिषु मैत्र्यादीनि यथाक्रम भावयितव्यानि । तद्यथा, 'क्षमयामि[1] सर्वजीवान् क्षाम्यामि सर्वजीवेभ्य·, प्रीतिर्मे सर्वसत्त्वै·, वैरं मे न केनचित्' इति मैत्री सर्वसत्त्वेषु भावयितव्या। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राधिकेषु वन्दनास्तुतिवैयावृत्त्यकरणादिभि प्रमोदो भावनीय. । मोहाभिभूतेषु मतिश्रुताज्ञानविभङ्गपरिगतेषु विषयतर्षाग्निना दह्यमानमानसेषु हिताहितविपरीतप्रवृत्तिषु विविधदु.खाभिभूतेषु दीनकृपणाऽनाथबालवृद्धेषु क्लिश्यमानेषु कारुण्य भाव्यम् । अविनेयेषु ग्रहणधारणविज्ञानोहापोहवियुक्तेषु महामोहाभिभूतेषु दुष्टव्युद्-

---

सम्यग्ज्ञानादि गुणो से प्रकृष्ट को गुणाधिक कहते है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि गुण है, वे गुण जिनके अधिक हैं, वे गुणाधिक कहलाते है ।। ६ ।।

असाता वेदनीय कर्म के उदय से सन्तप्त क्लिश्यमान है । असाता वेदनीय कर्म के उदय से जो शारीरिक और मानसिक दु.खो (आधि-व्याधि) से सन्तप्त है, वे क्लिश्यमान है ।। ७ ।।

तत्त्वार्थोपदेश के श्रवण-ग्रहण के द्वारा असम्पादित गुण वाला अविनेय है । तत्त्वार्थ का उपदेश श्रवण करने और उसे ग्रहण करने के जो पात्र होते है, उन्हे विनेय कहते है । न विनेय अविनेय है । अर्थात् विपरीत वृत्ति वाले अविनेय है । इन सत्त्वादि मे मैत्री आदि भावना यथाक्रम भानी चाहिये । जैसे—'मैं सब जीवो के प्रति क्षमा भाव रखता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करे । मेरी सब जीवो से प्रीति है, किसी के साथ वैर-भाव नही है ।' इत्यादि प्रकार से जीवो के प्रति मैत्री भावना भानी चाहिये । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रादि गुणाधिको के प्रति वन्दना, स्तुति, वैयावृत्तिकरणादि के द्वारा प्रमोद भावना भानी चाहिये । मोहाभिभूत, कुमति, कुश्रुत और विभङ्गावधिज्ञान से युक्त विषयतृष्णा रूपी अग्नि के द्वारा दह्यमान मानस वाले, हिताहित से विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दु खो से पीडित दीन, अनाथ, कृपण, बालवृद्ध आदि क्लिश्यमान जीवो मे करुणा भाव रूप भावना भानी चाहिये । ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित महामोहाभिभूत, विपरीत दृष्टि और विरुद्ध वृत्ति प्राणियो मे माध्यस्थ्य भावना रखनी चाहिये ।

---

१. 'खम्मामि सव्वजीवाण सव्वे जीवा खमतु मे । मित्ती मे सव्वभूदेसु वैर मज्झ ण केण वि ।। मूला गा ४३ ।

ग्राहितेषु च माध्यस्थ्य भावनीयम् । न हि तत्र वक्तुर्हितोपदेशस्य फलवत्त्व भवतीति । एव भावयतः परिपूर्णानि अहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति ।

किमेतावानेव अभिनवाऽकुशलकर्मादाननिवृत्तिपरेण महाव्रतधारिणा क्रियाकलाप प्रणिधातव्य ? नेत्याह–

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

जगत्कायशब्दावुक्तार्थौ । १ । जगच्छब्द कायशब्दश्च उक्तार्थौ द्रष्टव्यौ ।

स्वेनात्मना भवनं स्वभावः । २ । स्वेनात्मना असाधारणेन धर्मेण भवनं स्वभाव इत्युच्यते । जगच्च कायश्च जगत्कायौ, जगत्काययो स्वभावौ जगत्कायस्वभावौ ।

ससाराद् भीरुता संवेगः । ३ । ससाराद् विविधवेदनाकराद् भीरुता संवेजन सवेग इत्युच्यते–

रागकारणाभावात् विषयेभ्यो विरञ्जनं विरागः । ४ । चारित्रमोहोदयाभावे तस्योपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद्वा शब्दादिभ्यो विरञ्जन विराग इति व्यवसीयते ।

ऐसा समझ लेना चाहिए कि ऐसे जीवो में वक्ता के हितोपदेश की सफलता नही हो सकती । इस प्रकार भावना भाने वालो के अहिंसादि व्रत परिपूर्ण होते है ॥ ८ ॥

प्रश्न—नवीन पापास्रव को रोकने मे सावधान महाव्रती द्वारा क्या इतना ही क्रियाकलाप धारण करना चाहिये । अर्थात् क्या इतनी ही भावनाएँ भाने योग्य है ? उत्तर—और भी भावनाएँ है—

संवेग और वैराग्य के लिए संसार और शरीर के स्वभाव का विचार करना चाहिए ॥ १२ ॥

जगत् और काय दोनो शब्दो का शब्दार्थ पूर्व मे कह दिया है ॥ १ ॥

अपने स्वरूप से होना (रहना) स्वभाव है । अर्थात् स्वकीय असाधारण धर्म मे स्थिर होना स्वभाव कहा जाता है । जगत् और काय जगत्काय, जगत्काय का स्वभाव जगत्काय-स्वभाव ॥ २ ॥

विविध प्रकार की वेदना से अभिव्याप्य (आकारभूत) शरीर से भीरता, सवेजन सवेग कहलाता है ॥ ३ ॥

राग के कारणो का अभाव होने से, विषयो से विरक्त होना वैराग्य है । चारित्र मोह के उदय का अभाव होने पर वा होने वाले चारित्र मोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से शब्दादि

विरागस्य भावः कर्म वा वैराग्यम् । संवेगश्च वैराग्य च संवेगवैराग्ये, संवेगवैराग्याभ्यां संवेगवैराग्यार्थं जगत्कायस्वभावौ भावयितव्यौ । तद्यथा—जगत्स्वभावस्तावत् आदिमदनादिमत्परिणामद्रव्यसमुदायरूपः तालवृक्षसस्थानः अनादिनिधनः । अत्र जीवा. चतसृषु गतिषु नानाविध दुःखं भोजं भोज परिभ्रमन्ति न चात्र किञ्चिन्नियतमस्ति । जलबुद्बुदोपम जीवितम्, विद्युन्मेघादिविका[१]रचपला भोगसंपद इत्येवमादि. । कायस्वभावश्च अनित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारता अशुचित्वमित्येवमादिः । एव भावयतः संवेगः सजायते । तत आरम्भपरिग्रहदोषदर्शनाद्विरति धर्मे बहुमानो धार्मिकेषु च धर्मश्रवणे धार्मिकदर्शने च मनसः प्रसादः । उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तौ च श्रद्धेति वैराग्यं च भवति शरीरभोगोपभोगसंसारनिर्वेदलक्षणम् । एवं भावनोपेतः सम्यग्व्रतानि परिपालयति ।

ता एताः सर्वा व्रतभावनाः सर्वेषु पदार्थेषु सर्वथा नित्येषु सत्सु विक्रियाभावात् नोपपद्यन्ते । विक्रियाभ्युपगमे च नित्यताप्रतिज्ञाहानिः । सर्वथैवाऽनित्येषु चाऽनेकक्षण-

---

पचेन्द्रियो के विषयों से विरक्त होना विराग है, ऐसा जानना चाहिये । विराग का भाव या कर्म वैराग्य कहलाता है । सवेग और वैराग्य, सवेगवैराग्य । सवेग और वैराग्य के लिये जगत् और काय के स्वभाव का विचार करना चाहिये । तद्यथा—जगत्स्वभाव, आदिमान् और अनादिमान् परिणाम वाले द्रव्यो का समुदाय ही ससार है, जो तालवृक्ष के आकार वाला है, अनादिनिधन है । इस ससार मे ये जीवात्माएँ देव, नारकी, मानव और तिर्यञ्च स्वरूप चारो गतियो मे अनेक प्रकार के दु.खो को भोग-भोग कर परिभ्रमण कर रही हैं । इसमे कोई भी वस्तु नियत वा स्थिर नही है । जीवन जल बुदबुद के समान चपल है, भोग-सम्पदा विद्युत् और मेघ के समान क्षणभङ्गुर है, इस प्रकार जगत् के स्वभाव का विचार करना चाहिए । शरीर अनित्य है, दु.ख का हेतु है, निस्सार है और अशुचि है इत्यादि भावना शरीर का विचार है । इस प्रकार शरीर और ससार की भावना भाने वाले के सवेग उत्पन्न होता है । इस तरह आरम्भ-परिग्रह मे दोष दृष्टिगोचर होने से आरम्भ एव परिग्रह से विरति होना धर्म है और धर्म से धर्म में, धार्मिको मे, धर्मश्रवण मे और धार्मिक-दर्शन मे बहुमान होता है (आदरभाव होता है), उनके प्रति मानसिक आह्लाद होता है । उत्तरोत्तर गुणो की प्रतिपत्ति (प्राप्ति) मे श्रद्धा और वैराग्य होता है । यहाँ ससार-शरीर-भोगोपभोग वस्तु से निर्वेद होता है तथा भावना भाने वाला मानव अच्छी तरह से व्रतो का पालन करता है ।

ये सभी व्रतभावनाएँ सर्व पदार्थों को सर्वथा नित्य मान लेने पर विक्रिया का अभाव होने से नही हो सकती । अर्थात् सर्वथा नित्य पक्ष मे विक्रिया न होने से ये भावनाएँ नहीं हो सकती । यदि विक्रिया मानते है तो नित्यता नही रहती । अर्थात् नित्यता की प्रतिज्ञा की हानि होती है । द्रव्य को सर्वथा अनित्य मानने पर अनेक क्षणवर्ती एक पदार्थ का अभाव होने से अनेकार्थ विषय

---

१ –कारवदफला –मु., द ।

वृत्त्येकवस्त्वभावात् अनेकार्थविषयैकविज्ञानाभावाच्च स्मरणानुपपत्तेर्भावनाऽभावः। अनेकान्तवादिनः पुनः द्रव्यार्थिकनयादेशात् नित्यतामवलम्बमानस्य उभयनिमित्तवशात् उत्पत्तिनिरोधौ प्रत्याभिमुख्यमादधानस्य स्मरणोपपत्तेः विक्रियोपपत्तेश्च भावनासिद्धिः।

अत्राह–उक्तं भवता हिंसादिनिवृत्तिर्व्रतमिति। तत्र न जानीमः के हिंसादयः क्रियाविशेषा इति ? अत्रोच्यते-युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् तल्लक्षणनिर्देशस्य क्रमप्रसङ्गे याऽसावादौ चोदिता सैव तावत्–

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

अनवगृहीतप्रचारविशेषः प्रमत्तः। १। इन्द्रियाणां प्रचारविशेषमनवधार्य प्रवर्तते यः स प्रमत्तः।

अभ्यन्तरीकृतेवार्थो वा। २। अथवा, अभ्यन्तरीकृतेवार्थः प्रमत्त इत्युच्यते। कः पुनरिवार्थः ? यथा सुरापः प्रवृद्धमदत्वात् कार्याऽकार्यवाच्याऽवाच्याद्यनभिज्ञः, तथा

करने वाले एक ज्ञान का अभाव है अत. स्मरण की उत्पत्ति का अभाव होने से भावना का अभाव है। अर्थात् पदार्थो को सर्वथा अनित्य मान लेने पर अनेक क्षणो मे रहने वाला पदार्थ भी नही और अनेक अर्थ का विषय करने वाला एक ज्ञान भी नही और ज्ञान के नित्य नही होने से स्मरण भी नही तथा स्मरण नही होने से ये व्रत की भावनाये भी नही हो सकती। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से नित्य का अवलम्बन लेने वाले और उभय निमित्त (स्व पर प्रत्यय) जन्य उत्पाद विनाश रूप पर्याय की मुख्यता से अनित्यता का कथन करने वाले अनेकान्तवादियो के तो स्मरण की उत्पत्ति तथा आत्मद्रव्य मे परिणमन हो सकता है। अत नित्यानित्य आत्मद्रव्य मे ये सभी भावनाएँ वन सकती हैं, सर्वथा नित्य वा अनित्य एकान्त पक्ष मे नही ॥ ४ ॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरति को आपने व्रत कहा है, परन्तु हम नही जानते है कि हिंसादि क्रियाविशेष क्या हैं ? अर्थात् हिंसादि के स्वरूप को नही जानते है। ऐसी पृच्छा होने पर युगपत् पाँचो पापो के स्वरूप का कथन करना अशक्य होने से उनका लक्षण क्रम से कहना पडेगा अत सर्वप्रथम कथित हिंसा का लक्षण कहते हैं—

प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है ॥ १३ ॥

अनवगृहीत प्रचार विशेष को प्रमत्त कहते है। इन्द्रियो के प्रचार विशेष का निश्चय न करके जो प्रवृत्ति होती है वा बिना विचारे जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रमत्त है ॥ १ ॥

अथवा प्रमत्त शब्द में अभ्यन्तरीकृत इव अर्थ है। प्रश्न—इव अर्थ क्या है ? उत्तर—जैसे सुरा (मदिरा) पीने वाला मदोन्मत्त होकर कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य से अनभिज्ञ रहता है, कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य को नही जानता है उसी प्रकार प्रमत्त जीवस्थान, जीवोत्पत्तिस्थान और

जीवस्थानयोन्याश्रयविशेषानविद्वान् कषायोदयाविष्ट. हिसाकारणेषु स्थित· अहिंसाया [1]सामान्येन न यतत इति प्रमत्तः ।

पञ्चदशप्रमादपरिणतो वा । ३ । अथवा, चतसृभि विकथाभिः कषायचतुष्टयेन पञ्चभिरिन्द्रियैः निद्राप्रणयाभ्या च परिणतो यः स प्रमत्त इति कथ्यते ।

योगशब्दः संबन्धपर्यायवचनः । ४ । अथ योगशब्द. सबन्धपर्यायवचनो द्रष्टव्यः, योजनं योगः संबन्ध इति यावत् । यद्येवं भावप्रधानो निर्देशः कर्तव्यः–'प्रमत्तत्वयोगाद्' इति, द्रव्यप्रधाने हि सति सबन्धाऽप्रतीते., नैष दोष', आत्मपरिणाम एव कर्तृत्वेन निर्दिश्यते प्रमाद्यतिस्म इति प्रमत्तः परिणाम., तेन योगात् प्रमत्तयोगादिति ।

कायवाङ्मनस्कर्म वा । ५ । अथवा, कायवाङ्मनस्कर्म योग इत्युच्यते । प्रमत्तस्य योग प्रमत्तयोगः तस्मात् प्रमत्तयोगात् इति हेतुनिर्देश. । प्रमत्तयोगाद्धेतोः प्राणव्यपरोपण हिसेति ।

जीवाश्रयस्थान को नही जानने वाला अविद्वान् (मूर्ख प्राणी) कषाय के उदय से आविष्ट होकर हिंसा के कारणो मे व्यापार करता है, उनमे स्थित रहता है परन्तु सामान्यतया अहिंसा मे प्रयत्नशील नही होता है अत. मदोन्मत्त के समान होने से प्रमत्त कहलाता है (इसमे 'मदोन्मत्त इव' अर्थ गर्भित है) ।। २ ।।

अथवा पन्द्रह प्रमाद से परिणत होने से भी प्रमत्त कहलाता है। चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादो से जो परिणत (युक्त) होता है वह प्रमत्त कहलाता है ।। ३ ।।

योग शब्द सम्बन्ध का पर्यायवाची शब्द है। योजन को योग कहते है, योजन अर्थात् सम्बन्ध को योग कहते है। **प्रश्न**—यदि योग का अर्थ सम्बन्ध है तो भाव प्रधान का निर्देश होना चाहिये क्योकि 'प्रमत्तयोगात्' द्रव्य प्रधान से कथन करने पर सम्बन्ध की प्रतीति (ज्ञान) नही होती ? **उत्तर**—द्रव्यप्रधानता से सम्बन्ध की प्रतीति नही होती, ऐसा नही है, क्योकि यहाँ आत्मा के परिणाम ही कर्त्तारूप से परिणत होकर प्रमाद कहलाते है अर्थात् जो आत्मा के परिणाम प्रमादरूप से परिणत होते है वे परिणाम ही प्रमत्त कहलाते है उन परिणामो का योग (सम्बन्ध) प्रमत्त योग कहलाता है ।। ४ ।।

काय, वचन, मन की क्रिया को योग कहते है। प्रमत्त-प्रमादपरिणत व्यक्ति के योग को प्रमत्त योग कहते है। 'प्रमत्तयोगात्' यह हेतु अर्थ मे पचमी है अतः प्रमत्तयोग के कारण प्राणो

---

१. साम्येन न यतते मू । साम्येन न प्रयतते श्र ।

व्यपरोपणं वियोगकरणम् । ६ । वियोगकरण व्यपरोपणमित्युच्यते । प्राणा उक्ता., तेषां व्यपरोपण प्राणव्यपरोपणम् ।

प्राणग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य । ७ । प्राणग्रहण क्रियते तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य । प्राणवियोगपूर्वको हि प्राणिवियोग', स्वत प्राणिनो निरवयवत्वाद्वियोगाभावात् ।

अन्यत्वादधर्माभावः इति चेत्; न; तद् दुःखोत्पादकत्वात् । ८ । स्यान्मतम्—प्राणेभ्योऽन्य आत्मा, अतः प्राणवियोगे नात्मन किञ्चिद्भवतीत्यधर्माभावः स्यादिति; तन्न, कि कारणम् ? तद्दु'खोत्पादकत्वात् । प्राणव्यपरोपणे हि सति तत्सबन्धिनो जीवस्य दु खमुत्पद्यत इत्यधर्मसिद्धि ।

शरीरिणोऽन्यत्वात् दुःखाऽभाव इति चेत्; न; पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात् । ६ । स्यादेतत्—अन्यः शरीरी प्राणेभ्य', अतस्तत्पूर्वकदु खमस्य न युज्यते इति; तन्न;

का व्याघात करना हिंसा है, इसमे प्रमत्तयोग कारण है (भाव हिंसा है) और प्राण का व्याघात कार्य है (द्रव्य हिंसा) है ।। ५ ।।

'व्यपरोपण' का अर्थ वियोग करना है। व्यपरोपण वियोगकरण ये एकार्थवाची है, प्राणो का लक्षण पचम अध्याय मे कहा है, उन प्राणों का व्यपरोपण प्राणव्यपरोपण है ।। ६ ।।

प्राणो का व्याघात प्राणपूर्वक होता है अत प्राण का ग्रहण किया गया है। प्राणो के वियोगपूर्वक ही प्राणी का वियोग होता है, क्योकि स्वत. प्राणी निरवयव है, अत उसके वियोग का अभाव है ।। ७ ।।

प्राणो से प्राणी भिन्न होने से प्राणो का वियोग करने से पाप नही होता, ऐसो आशका करना भी उचित नही है क्योकि प्राणवियोग से प्राणी को दु ख होता है। प्रश्न—इन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयु, श्वासोच्छ्वास रूप प्राणो से प्राणी (आत्मा) सर्वथा भिन्न है अत. प्राणो का व्याघात करने से आत्मा का कुछ भी नही बिगडता अर्थात् आत्मा का नाश नही होता इसलिये प्राणवियोग करने पर भो हिंसारूप पाप नही होता है ? उत्तर—प्राण आत्मा से सर्वथा भिन्न नही हैं अत' प्राणवियोग होने पर हिंसा होती है क्योकि प्राणो का व्यपरोपण दु'खोत्पादक है अत. प्राणवियोग होने पर जाव को दु.ख होता है और दु ख होने से प्राणवियोग करने वाले को हिंसा सम्बन्धी पाप लगता है अत. प्राणव्यपरोपण मे हिंसा और अधर्म सिद्ध ही है ।। ८ ।।

'शरीरी आत्मा प्राणो से भिन्न है अत' उस प्राण के वियोग मे भी आत्मा को दुःख नही होना चाहिये' यह शका उचित नही है क्योकि जब सर्वथा भिन्न पुत्र, स्त्री, पितादि का वियोग होने

कि कारणम् ? पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात् । अन्यत्वेऽपि सति पुत्रकलत्रादिवियोगे तापो दृश्यते ।

बन्धं प्रत्येकत्वाच्च । १० । यद्यपि शरीरिशरीरयो. लक्षणभेदान्नानात्वम्, तथापि बन्धं प्रत्येकत्वात् तद्वियोगपूर्वकदु खोपपत्तेरधर्माऽभाव इत्यनुपालम्भ ।

एकान्तवादिनां तदनुपपत्तिर्बन्धाभावात् । ११ । ये निष्क्रियत्वनित्यत्वशुद्धत्वसर्वगतत्वादिभिः एकान्तेन आत्मान कल्पयन्ति तेषा शरीरेण [1]सह बन्धाभावात् दु खादीनामनुपपत्तिर्भवति ।

उभयविशेषणोपादानम् अन्यतराभावे हिंसाऽभावज्ञापनार्थम् । १२ । प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणमित्येतदुभय विशेषणमुपादीयते । किमर्थम् ? अन्यतराभावे हिंसाऽभावज्ञापनार्थम् । यदा प्रमत्तयोगो नास्ति केवल प्राणव्यपरोपणमेव न तदा हिंसा । उक्तं च–

पर आत्मा के परिताप देखा जाता है तो कथञ्चित् भिन्न प्राणों के वियोग मे तो दुःख होता ही है ।। ९ ।।

बन्ध के प्रति एकत्व है । यद्यपि शरीर और शरीरी मे लक्षणभेद से नानात्व है तथापि बन्ध के प्रति दोनो मे एकत्व है अतः प्राणो के वियोग होने पर दु ख की उत्पत्ति और अधर्म के अभाव का उलाहना देना उचित नही है, अर्थात् शरीर-वियोगपूर्वक होने वाला दु ख आत्मा को ही होता है । इसलिये 'प्राणव्यपरोपण' हिसा और 'अधर्म' है ।। १० ।।

बध का अभाव होने से एकान्तवादियो के हिंसा और अधर्म की अप्राप्ति है । जो आत्मा को सर्वथा एकान्त से नित्य, निष्क्रिय, शुद्ध और सर्वगत मानते है, उनके सिद्धान्त मे शरीर के साथ सर्वथा आत्मा के बध का अभाव होने से दु.खादि की प्राप्ति नही हो सकती, अर्थात् आत्मा को सर्वथा नित्य निष्क्रिय मानने पर कर्मो का वन्ध, प्राणवियोग मे दु ख, हिंसा एव पाप नही हो सकते, परन्तु स्याद्वाद मे सर्वघटित होते है ।। ११ ।।

उभय विशेषण का ग्रहण दोनो में किसी एक के अभाव मे हिंसा के अभाव को बताने के लिए है । प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण दोनो विशेषण किसलिए ग्रहण किये गये है ? दोनो मे किसी एक का अभाव होने पर हिंसा का अभाव हो जाता है, इस बात को बताने के लिए दोनो विशेषण ग्रहण किये गये है । जब प्रमत्तयोग नही है, केवल प्राणो का व्यपरोपण है तो हिंसा नही होती । कहा भी है—

---

१. सम्बन्धाभाव –अ. ।

वियोजयति चासुभिर्न च [1]वधेन संयुज्यते ।[2]

उच्चालदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
आवादेज्ज [3]कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ।। १ ।।

णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोपि देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहोत्ति य अज्भप्पपमाणदो भणिदो ।। २ ।।[4] इति[5]

ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते । उक्तं च–

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।। १ ।। [प्रवचन सा. ३।१७] इति ।

नैष दोष , तत्रापि प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम् । तथा चोक्तम्–

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ।। १ ।। इति[6]

'प्राणो से वियोग करता हुआ भी अप्रमत्त, वध से (पाप से) लिप्त नही होता ।'

ईर्यासमितिपूर्वक गमन करने वाले साधु के पैर के नीचे यदि कोई जीव आकर मर जाय तो भी उस साधु को तन्निमित्तक (प्राणिघात निमित्तक) सूक्ष्म (लेशमात्र) भी बध नही होता । क्योकि अध्यात्म प्रमाण से तो मूर्च्छा-ममत्व परिणामो को ही परिग्रह कहा है और कषाय भाव को हिंसा कहा है ।

प्रश्न—आपने दोनो विशेषणो को सार्थक बताया है परन्तु शास्त्रो मे तो प्राणो का व्याघात न होने पर भी प्रमादयोग मात्र से हिंसा स्वीकार की गई है ? कहा भी है—'जीव मरे या न मरे परन्तु सावधानी की क्रिया नही करने वाले प्रमादी के हिंसा अवश्य होती है और जो अपनी क्रिया सावधानीपूर्वक करता है, जीवो की रक्षा करने मे प्रयत्नशील है, प्रमाद नही करता है उसके द्वारा हिंसा हो जाने पर भी उसे बन्ध नही होता, पाप नही लगता ?' **उत्तर**—यह कोई दोष नही है क्योकि प्रमत्त योग मे भी (जहाँ प्रमत्त योग है वहाँ पर) स्वय के ज्ञान-दर्शन आदि भाव प्राणो का वियोग होता ही है, कहा भी है—प्रमादी आत्मा स्वकीय प्रमत्तरूप भावो से प्रथम स्वय अपनी हिंसा करता है, पश्चात् दूसरे प्राणियो की हिंसा हो या न भी हो । अत भाव प्राणो के वियोग

---

१ वधदोषेण । २. सिद्ध. द्वा ३।१६ । ३ कुत्सितप्राणी पृथिव्यादिक यिक इत्यर्थ' । ४ प्रवचनसार ३।१७ क्षे गा. १-२ । ५. द्रष्टव्य-जय ध पृ १०३ , टि ४, ५ । ६ उद्धृतोऽयम्-स. सि ७।१३ ।

एवं कृत्वा यैरुपालम्भः क्रियते–

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च ।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः ।। इति;

सोऽत्रावकाश न लभते । भिक्षोर्ज्ञानध्यानपरायणस्य प्रमत्तयोगाभावात् । किञ्च, सूक्ष्मस्थूलजीवाभ्युपगमात् ।

सूक्ष्मा न प्रतिपीडयन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः ।
ये शक्या ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः ।।

अत्र कश्चिदाह–साधूक्तं भवता प्राणव्यपरोपणं हिंसेति । प्राणाना हि परस्परतो वियोगो हिंसा, न कश्चित् प्राणी विद्यते इति । अत उत्तर पठति–

प्राण्यभावे प्राणाभावः कर्तुरभावात् । १३ । यदि प्राणी न स्यात् प्राणानामभावः । कुतः ? कर्तुरभावात् । इह कुशलाऽकुशलात्मककर्मपूर्वकाः प्राणाः तच्च कर्म असति[1] कर्तरि न भवतीति प्राणाभाव स्यात्, अत प्राणसद्भाव एव प्राणिनोऽस्तित्वं गमयति । सन्दंशादिकरणसद्भावे अयस्कारससिद्धिवत् ।

की अपेक्षा दोनो विशेषण सार्थक हैं । अत यह उपालम्भ भी नही दिया जा सकता है कि 'जल मे, थल मे और आकाश मे सर्वत्र जन्तु-ही-जन्तु भरे हुए है । जन्तुओ से व्याप्त इस जगत् मे भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है ?' भिक्षु की हिंसा का यहाँ अवकाश नही है । क्योकि प्रमादयोग का अभाव होने से ज्ञानध्यानपरायण भिक्षु के मात्र प्राणवियोग से हिंसा नही होती । अथवा सूक्ष्म और स्थूल के भेद से जीव दो प्रकार के है—'उनमे जो सूक्ष्म है वे तो न किसी मे पीडित होते हैं और न किसी को रोकते है, न किसी से रुकते है अत उनकी तो हिंसा हो नही सकती । जो स्थूल मूर्तिक है (स्थूल जीव है) उनकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है, जिनका रोकना शक्य है उन्हे प्रयत्नपूर्वक रोकने वाले सयत के हिंसा कैसे हो सकती है ?' प्रश्न—आपने प्राणव्यपरोपण को जो हिंसा कहा है, वह तो अति उत्तम है क्योकि प्राणो का ही परस्पर वियोग करना हिंसा है, प्राणी नाम का कोई पदार्थ नही है ? ।। १२ ।।

कर्त्ता का अभाव होने से प्राणी के अभाव मे प्राणो का भी अभाव है । यदि प्राणी आत्मा का सद्भाव न माना जाय तो कर्त्ता का अभाव होने मे कुशल और अकुशल कर्मपूर्वक होने वाले प्राणों का भी अभाव हो जायेगा और कर्म के अभाव मे कर्त्ता भी नही हो सकता अत. प्राणों का भी अभाव हो जाएगा अतः प्राणों का सद्भाव ही प्राणी के अस्तित्व को प्रगट कर रहा है, अर्थात्

---

१. आत्मनि ।

किञ्च, असति प्राणिनि रूपणाऽनुभवनोपलम्भननिमित्तग्रहणसंस्करणभिन्नलक्षणा[1] रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः विविक्तशक्तित्वात् परस्परोपकारं प्रति विनिवृत्तौत्सुक्याः क्षणिकत्वात् स्वप्रयोजनं प्रत्यप्यसमर्थाः हिंसानिर्वृत्तिहेतवो न भवन्ति। स्मृत्यभिसन्धि[2] क्रियाचित्ताना [3]व्यधिकरणवदेकाधिकरणेऽप्यनुपपत्तेः, एकेनापि विकले प्राणातिपाताऽनभ्युपगमात्। अपि च, उत्पत्त्यनन्तरं विनाशाभ्युपगमे निरोधस्याहेतुकत्वात् प्राणातिपातलक्षणस्य विनाशस्य हिंसको हेतुर्न भवति इति तत्फलानभिसंबन्धः। अथाऽहेतोरपि तत्फलमिष्यते, अहिंसको नाम न कश्चिदस्ति। भिन्नसन्तानोत्पत्तिहेतुर्हिंसक इति चेत्, न, असत उत्पत्तेर्हेत्वभावात्। अथाऽसत उत्पत्तेर्हेतुरिष्यते, सतो विनाशे हेतु. स्यादिति को विरोधः ?

आह–अभिहितलक्षणहिंसानन्तरोद्दिष्टम् अनृत कि लक्षणमिति ? अत्रोच्यते–

कर्मभूत प्राणो का सद्भाव कर्तृभूत आत्मा को सिद्धि करता है, जैसे—सडासी आदि कारणो के सद्भाव से ही लुहार की सत्ता सिद्ध होती है।

अथवा, प्राणी आत्मा की सत्ता न मानने पर रूपण, अनुभवन, उपलम्भन, निमित्त ग्रहण और सस्करण आदि भिन्न लक्षण वाले रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा, सस्कार नामक पाँचो स्कन्ध भिन्न-भिन्न शक्ति वाले होने से, परस्पर मे उपकार के प्रति उत्सुकता से रहित होने से तथा क्षणिक होने से अपने कार्य मे असमर्थ हैं, अत ये पाँचो स्कन्ध हिंसानिर्वृत्ति के हेतु (हिसाव्यापार मे समर्थ) नही हो सकते। स्मृति, अभिप्राय और सकल्प रूप चित्त जब भिन्नाधिकरण हैं (व्यधिकरण के समान एकाधिकरण को इनमे अनुत्पत्ति है। एक कर्त्ता रूप से इनका प्रतिसन्धान नही होता है अर्थात् स्मृति का कर्त्ता दूसरा है और अभिप्राय सकल्प रूप चित्त का कर्त्ता भिन्न है) तब एक से विकल होने पर हिंसादि व्यापार कैसे हो सकेंगे ? तथा उत्पत्ति के अनन्तर ही शीघ्र विनाश मान लेने पर तथा विनाश को निर्हेतुक मानने से प्राणविनाशरूप हिंसा का भी हिंसक, हेतु नही हो सकता और हिंसक हिंसा का हेतु न होने से हिंसा का फल नरकादि भी उस को नही मिल सकता। यदि अहेतुक हिसा के अकारण को (जिसने हिसा नही की है उसको) भी हिसा का फल मिलता है तो ससार मे कोई भी अहिंसक नही रह सकेगा। 'भिन्न सन्तान-प्राणवियुक्तरूप क्षणों को उत्पन्न करने वाला हिंसक है', यह कल्पना भी ठीक नही है क्योकि सर्वथा असत् की उत्पत्ति का अभाव है। यदि असत् को उत्पत्ति का हेतु स्वीकार किया जाता है अर्थात् असत् का उत्पाद हेतुपूर्वक होता है, ऐसा माना जाता है तो सत् के विनाश का भी हेतु मानना चाहिए, इसमे क्या विरोध है ? तात्पर्य यह है कि विनाश निर्हेतुक नही होता ॥ १३ ॥

---

१. रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणव. सजातीयविजातीयव्यावृत्ता परस्परानुमम्बन्धा. रूपस्कन्धा.। सुख-दु खादयो वेदनास्कन्धाः। सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानानि विज्ञानस्कन्धा.। वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धा.। ज्ञानपुण्यपापादिवासना सस्कारस्कन्धा इति पञ्च स्कन्धा। २ अभिप्राय। ३. अन्याश्रयवत्।

असदभिधानमनृतम् ।। १४ ।।

असदिति नञा सत्प्रतिषेधाच्छून्यार्थसंप्रत्ययप्रसङ्गः । १ । न सत् असदिति नञा सत्प्रतिषेध. क्रियते, तेन शून्यार्थसप्रत्ययः प्रसज्यते, तेन नास्ति न किञ्चिदित्येवमाद्येवानृतं स्यात्, यदसत् सदिति ब्रूयात् न तदनृत स्यात् ।

न वा, सच्छब्दस्य प्रशंसार्थवाचित्वात् । २ । न वैष दोष, कि कारणम् ? सच्छब्दस्य प्रशसार्थवाचित्वात् । न सदसत् अप्रशस्तमिति यावत् ।

अभिधानशब्दः करणादिसाधनः । ३ । अयमभिधानशब्द करणादिषु साधनेषु द्रष्टव्यः । अभिधीयते अनेन, अभिधीयते,[1] अभिधा वा अभिधानमिति । असतोऽर्थस्याभिधानम् असदभिधानम् ।

ऋतं सत्यार्थे । ४ । ऋतमित्येतत् पद सत्यार्थे द्रष्टव्यम् । सत्सु साधु सत्य प्रत्यवायकारणानिष्पादकत्वात् । न ऋतमनृतम् ।

अब अहिंसा के अनन्तर (बाद मे) कथित असत्य का लक्षण कहते है—

असत्य कथन अनृत है ।। १४ ।।

प्रश्न—असत् यह 'न' समासान्त शब्द है 'न सत्-असत्' । इस प्रकार इससे सत् का निषेध होने से शून्य अर्थ के सप्रत्यय का प्रसग आता है इसलिये कुछ भी नही है, सत्स्वरूप वस्तु ही नही है तो किञ्चित् भो अनृत नही हो सकता क्योकि असत् को सत् कहना है अत. असत् नही हो सकता ? ।। १ ।।

उत्तर—इस सूत्र मे 'सत्' का प्रतिषेधक 'असत्' शब्द नही है अपितु 'सत्' शब्द प्रशसावाची है, अतः 'न सत्-असत्' का अप्रशस्त अर्थ होता है, शून्य वा तुच्छाभाव नही ।। २ ।।

अभिधान शब्द करणादि साधन है। यह अभिधान शब्द कर्तृवाच्य, करण (कर्म) वाच्य और भाववाच्य भी है। जैसे—अभीधीयते अनेन, इसके द्वारा कहा जाता है, उसे अभिधान कहते है, यह करण (कर्म) वाच्य है। जो कहता है, वह अभिधान है, यह कर्तृवाच्य है। अभिधा को अभिधान कहना भाववाच्य है, इति। असत्-अप्रशस्त अर्थ का अभिधान-कथन। अप्रशस्त अर्थ को कहने वाला वचन असत् अभिधान है ।। ३ ।।

'ऋत' शब्द सत्यार्थ मे है। 'ऋत' यह पद सत्यार्थ में जानना चाहिए अर्थात् ऋत-सत्य और अनृत-असत्य है। विद्यमान पदार्थो के अस्तित्व मे कोई विघ्न उत्पन्न न करने के कारण

---

१. कर्मसाधन. ।

मिथ्याऽनृतमित्यस्तु लघुत्वात् इति चेत्; न; विपरीतार्थमात्रसंप्रत्ययप्रसङ्गात् ।५। स्यान्मतम्–मिथ्याऽनृतमित्येतत् सूत्रमस्तु। कुत:? लघुत्वात्। सूत्र हि नाम यल्लघु गमकं[1] च तत् कर्तव्यमिति, तन्न, किं कारणम्? विपरीतार्थमात्र-सप्रत्ययप्रसङ्गात्। अय हि मिथ्याशब्द· विपरीतार्थे वर्तते। तेन भूतनिह्नवे अभूतोद्भावने च यदभिधान तदेवानृत स्यात्–नास्ति आत्मा नास्ति परलोक इति, श्यामाकतण्डुलमात्र[2]मात्मा अङ्गुष्ठपर्वमात्र. सर्वगतो निष्क्रिय· इति च, यत्तु विद्यमानार्थविषय परप्राणिपीडाकरण तन्न स्यात्। असदिति पुनरुच्यमाने अप्रशस्तार्थ यत् तत्सर्वमनृतमुक्तं भवति। तेन विपरीतार्थस्य प्राणिपीडाकरस्य चानृतत्वमुपपन्नं भवति।

अथाऽनृतानन्तरमुद्दिष्टं यत्स्तेय तस्य किं लक्षणमिति? अत आह–

'सत्सु साधु सत्यम्' यह व्युत्पत्ति भी सत्य की हो सकती है (यानी समीचीन श्रेष्ठ पुरुषो मे जो साधु-वचन बोला जाता है, वह सत्य कहा जाता है।) 'न ऋत अनृत' जो ऋत वचन नही है, वह अनृत वचन असत्यवचन कहा जाता है ।। ४ ।।

प्रश्न—सूत्र मे लघुता आने से 'मिथ्यानृतम्' ऐसा सूत्र बनाना चाहिए। क्योकि लघुगमक (अर्थ अधिक और अक्षर कम) को ही सूत्र कहते है। अत: 'मिथ्यानृत' यह सूत्र उपयुक्त है। **उत्तर**—यदि 'मिथ्यानृत' ऐसा लघु सूत्र बनाते है तो विपरीत अर्थ का प्रसग आता है अर्थात् पूरे अर्थ का बोध न होकर केवल विपरोत अर्थ का ही ग्रहण होता है, क्योकि यह मिथ्या शब्द विपरीत अर्थ मे आता है, अत· मिथ्या शब्द से विद्यमान का लाप तथा अविद्यमान के उद्भावन करने वाले जो अभिधान (कथन) हैं वे ही अनृत (असत्य) होगे। जेसे—आत्मा नामक पदार्थ नही है, परलोक नहो है, श्यामतण्डुल बराबर आत्मा है, अगूठे की पौर बराबर आत्मा है, आत्मा सर्वगत और निष्क्रिय है, इत्यादि वचन ही मिथ्या (विपरीत) होने से अनृत कहे जायेंगे, किन्तु जो विद्यमान (सत्) अर्थ को भी कहकर परप्राणी की पीडा करने वाले अप्रशस्त वचन हैं वे अनृत नही होगे। क्योकि मिथ्यानृत मे मिथ्या का अर्थ विपरीत है और परप्राणी-पोडाकारी वचन विपरीत नही है। अत· परपोडाकारो अप्रशस्त वचन है, वे असत्य कोटि मे नही आयेंगे। 'असत्' कहने से जितने अप्रशस्त अर्थवाची वचन है, वे सभी अनृत (असत्य) कोटि मे आ जायेंगे। इससे जो विपरीतार्थ वचन प्राणोपोडाकारी है वे सभो अनृत (असत्य) ही है, ऐसा जाना जाता है ।। ५ ।।

अब अनृत के बाद कथित जो स्तेय (चोरी) है, उसका लक्षण कहते हैं—

---

१ ज्ञापकम्। २ –अ आ-मु.।

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

आदानं ग्रहणम्, अदत्तस्याऽऽदानम् अदत्तादान स्तेयमित्युच्यते ।

सर्वमदत्तमाददानस्याऽकुशलकल्पनायां [1]कर्मादेयमात्मसात्कुर्वतः स्तेयप्रसङ्गः । १ । यद्यविशेषेण [2]अदत्तस्य आदान स्तेयमित्युच्यते, कर्माष्टविध अन्येनाऽदत्तमाददानस्य स्तेय प्राप्नोतीति । एतेन [3]नोकर्मापि चोदित भवति ।

न; दानादानयोर्यत्रैव प्रवृत्तिनिवृत्ती तत्रैवोपपत्तेः । २ । नैष दोष, येषु मणिमुक्ताहिरण्यादिषु दानादानयो प्रवृत्तिनिवृत्तिसभव तेष्वेव स्तेयस्योपपत्ते, तेन कर्मणि नास्ति प्रसङ्गः ।

इच्छामात्रमिति चेत्; न; अदत्तादानग्रहणात् । ३ । स्यादेतत्–इच्छामात्रमिद यस्य दानादानसंभवस्तस्य ग्रहणमिति; तन्न, कि कारणम् ? अदत्तादानग्रहणात् ।

बिना दिये हुए दूसरों के पदार्थों का ग्रहण करना स्तेय है ॥ १५ ॥

आदान का अर्थ ग्रहण करना है और अदत्त (बिना दी हुई) वस्तु का आदान (ग्रहण) अदत्तादान है, उसको चोरी कहते है ।

प्रश्न—सर्व अदत्तादान की अकुशल कल्पना मे आदेय कर्म को ग्रहण करने वाले के चोरी का प्रसग आयेगा अर्थात् यदि अदत्त (बिना दी हुई वस्तु) को ग्रहण करना चोरी कही जाती है, अदत्तादान ये चोरी का विशेषण है तो आठ प्रकार के कर्म और शरीरादि नोकर्म तो अन्य के द्वारा बिना दिये ही ग्रहण किये जाते है अत उनका ग्रहण भी चोरी ही कहलाएगा ॥ १ ॥ **उत्तर**—

कर्मादान मे चोरी का प्रसग नही है क्योकि जहाँ दान-आदान मे प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है, वहाँ चोरी का प्रसग आता है । अत· जिनमे देन-लेन का व्यवहार होता है, जैसे सोना, चाँदी, मणि-मुक्ता आदि मे दान-आदान मे प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्भव है, उनके ही अदत्तादान सम्बन्धी चोरी कहलाती है परन्तु ज्ञानावरणादि आठ कर्म और शरीरादि नोकर्म मे दान-आदान की प्रवृत्ति-निवृत्ति नही है अत. कर्मो के आदान मे अदत्तादान होने पर भी चोरी नही है ॥ २ ॥

अदत्तादान का ग्रहण होने से इच्छामात्र का प्रसग भी नही है । **प्रश्न**—जिसमे दान-आदान सम्भव है, उन पदार्थो के अदत्तादान मे ही चारी का प्रसग है, यह वात इच्छा (कथन) मात्र है । **उत्तर**—यह बात इच्छा (कथन) मात्र नही है क्योकि इसमे 'अदत्तादान' का ग्रहण है, जिसका दान और आदान सम्भव है, उसके ग्रहण मे ही पाप सम्भव है । यदि कर्म-नोकर्म का

---

१ आदातुं योग्यम् । २ अदत्तस्तस्या-श्र । ३ शरीर ।

यस्य हि दानादाने संभवतः तस्य ग्रहणमकुशलम् । यदि हि कर्मादानमपि स्तेयं स्यात् 'अदत्तादानम्' इत्येतत् विशेषणमयुक्तं स्यात्, प्रसक्तस्य अदत्तमिति प्रतिषेधोपपत्तेः ।

कर्मापि हि किमर्थं कस्मैचिन्न दीयत इति चेत्; न; हस्तादिकरणग्रहणविसर्गासंभवात्[1] सूक्ष्मत्वात् । ४ । अथ मतमेतत्–किमर्थं कर्म न कस्मैचिद्दीयत इति गृह्यते ? ननु लोकवादः प्रसिद्धः–आरामविहारादि[2]पादपाना फलम् अन्यस्मै जलसेकेन[3] दीयते इति; तन्न; किं कारणम् ? हस्तादिकरणविसर्गासंभवात् । यथा वस्त्रपात्रादि हस्तादिकरणैरादीयते अन्यस्मै च दीयते न तथा कर्म हस्तादिभिरादीयते अन्यस्मै च दीयते । कुतः ? सूक्ष्मत्वात् । सूक्ष्मं हि कर्म हस्तादिग्रहणविसर्गयोग्य न भवति । कथ तर्हि तदादीयते ?

शरीराहारविषयपरिणामतस्तद्बन्धः । ५ । स्वपरकीयेषु शरीरेषु आहारेषु शब्दादिविषयेषु च रागद्वेषरूपात्तीव्रादिविकल्पात् परिणामात् तस्य कर्मबन्धो भवति,

---

ग्रहण भी चोरी समझा जाय तो 'अदत्तादान' विशेषण निरर्थक हो जाता है, क्योकि जिसमे 'दत्त' का प्रसग है उसी का अदत्त से निषेध किया जाता है ।। ३ ।।

कर्म भी किसी के लिए क्यो नही दिया जाता है ? ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि सूक्ष्म होने से हाथ आदि के द्वारा उनके लेन-देन का अभाव है । **प्रश्न**—इसमे क्या कारण है कि कर्म किसी को दिये नही जाते और ग्रहण नही किये जाते, लौकिक कथन तो यह प्रसिद्ध है कि जलसिञ्चन से आराम-विहारादिके वृक्षो के फल दूसरो के लिए दिए जाते है ? **उत्तर**—हाथादि के द्वारा कर्मो के ग्रहण और विसर्जन का अभाव है । जैसे—वस्त्र, पात्र आदि हाथ आदि के द्वारा ग्रहण किये जाते है तथा दूसरो को दिये जाते हैं, उस प्रकार कर्म दूसरो को हाथादि के द्वारा न दिये जाते है, न दूसरो के द्वारा लिये जाते है क्योकि कर्म अति सूक्ष्म हैं अत. उनका हाथ आदि के द्वारा लेना-देना नही हो सकता । **प्रश्न**—यदि कर्मो का हाथादि के द्वारा लेना-देना नही हो सकता तो फिर उनका ग्रहण किससे होता है ? ।। ४ ।। **उत्तर**—

शरीर, आहार और विषयभूत परिणामो से ही कार्माण वर्गणाओं का सम्बन्ध है । स्व एव परकोय शरीर मे, आहार मे और शब्दादि विषयो मे रागद्वेष रूप तीव्र विकल्प परिणमन होने से उसके स्वत कर्मबन्ध होता है । स्वकीय परिणामो से कर्मागमन होता है अतः वे कर्म-नोकर्म दूसरो के लिए दिये नही जा सकते । **प्रश्न**—यदि स्वकीय परिणामो से कर्मागमन होता है तो

---

१. –तृ अय ता., श्र , मू , द., व , आ । २ –दिनिष्पादन फलम् ता , श्र , मू., द., व., आ., । ३. धारा-पूर्वक नित्यर्थं ।

ततः स्वपरिणामवशीकृतत्वाच्च नान्यस्मै दीयते। यद्येव नित्यकर्मबन्धः प्राप्नोति ? नैष दोषः;

आस्रवनिरोधे सति संवृतत्वाद् बन्धाभावः ।६। आस्रवनिरोधो वक्ष्यते गुप्त्यादिलक्षणः, तस्मिन् सति सवृतत्वात् नास्ति बन्ध इति नित्यबन्धाभाव.। अतो यत्रैवैहलौकिकोपकारविशेषाद् दानाभिप्रायस्तत्रैव अदत्तादानप्रक्लृप्तिः ।

शब्दादिविषयरथ्याद्वाराद्यदत्तादानात् स्तेयप्रसङ्ग इति चेत्; न; अप्रमत्तत्वात् ।७। स्यादेतत्–शब्दादिविषयरथ्याद्वारादीन्यदत्तानि आददानस्य भिक्षो स्तेय प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? अप्रमत्तत्वात्। यत्नवतो ह्यप्रमत्तस्य ज्ञानिन. शास्त्रदृष्टया शब्दादिविषयरथ्याद्वाराद्यादानेऽपि ? विरतस्याऽस्तेयप्रसिद्धे, सामान्यतो मुक्तत्वात्। दत्तमेव वा तत्सर्वम्, तथा हि अय पिहितद्वारादीन् न प्रविशति।

वन्दनादिनिमित्तधर्मादानात् स्तेयप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।८।

फिर नित्य ही कर्मबन्ध होता रहेगा क्योकि परिणाम तो इस जीव के सदैव रहते है। उत्तर—नित्य कर्मबन्ध नही होता रहेगा क्योकि—।। ५ ।।

आस्रव का निरोध होने पर सवर होता है और सवर से बध का अभाव हो जाता है। गुप्ति, समिति, दस धर्म धारण, बारह अनुप्रेक्षाओ का चिंतन आदि से आस्रव का निरोध होता है, ऐसा नवम अध्याय मे कहेगे, आस्रव का निरोध होने से कर्मो का आगमन रुक जाता है और कर्मागमन के अभाव मे बध का अभाव है अतः नित्य बन्ध होता रहेगा, कभी मुक्ति नही होगी, ऐसा नही है। इससे सिद्ध होता है कि जहाँ पर इहलौकिक उपकार विशेष से दान का अभिप्राय है वही पर अदत्तादान की प्रवृत्ति है ।। ६ ।।

प्रश्न—इन्द्रियो के द्वारा शब्दादि विषयो को ग्रहण करने वाले तथा गली, दरवाजे आदि का बिना दिये ग्रहण करने वाले मुनि को चोरी का दोष लगना चाहिए क्योकि वे उन्हे बिना दिये ही ग्रहण करते है। **उत्तर**—सूत्र मे अप्रमत्त विशेषण है, प्रमादपूर्वक अन्य की वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। यत्नवान्, अप्रमत्त और ज्ञानी साधु के शास्त्रोक्त दृष्टि से आचरण करने पर शब्दादि सुनने, गन्धादि सूंघने तथा दरवाजे, गली आदि मे बिना दिये प्रवेश करने पर चोरी का दोष नही लगता क्योकि साधु के शब्दादि ग्रहण करने पर अचौर्य प्रसिद्ध ही है। सामान्य से वे शब्द, द्वार, गली आदि सबके लिए खुली हुई वस्तुएँ हैं, अर्थात् किसी के भी लिये शब्दादि के सुनने आदि का तथा दरवाजे मे प्रवेश आदि का निषेध नही है, वे उसमे ही प्रवेश करते है अत. शब्दादि इन्द्रियो के विषय और दरवाजा आदि अदत्त नही हैं। क्योकि ये साधुगण उस दरवाजे आदि मे प्रवेश नही करते जिनके किवाड बन्द है अथवा जो सार्वजनिक नही है ।। ७ ।।

वन्दना आदि क्रियाओ के निमित्त से जो पुण्य कर्म का सञ्चय होता है उसमे चोरी की

स्थान्मतम्–वन्दनाक्रियासबन्धेन धर्मोपचये सति [1]प्रशस्त स्तेयं प्राप्नोति; तन्न; कि कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–दानादानसभवो यत्र तत्र स्तेयप्रसङ्ग इति ।

प्रमत्ताधिकाराच्चान्यत्राऽप्रसङ्गः । ९ । "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [त. ७।१३] इत्यत. प्रमत्तयोगग्रहणमनुवर्तते । तेन प्रमत्तस्य स्तेयम्, वन्दनादिषु योगत्रयेणाऽऽभिमुख्यादात्मन· प्रमत्तत्व नास्ति, अत· सत्यपि धर्मादानेऽस्य न स्तेयम् । परिशेषात् प्रमत्तस्य सत्यसति च परकीयद्रव्यादाने [2]त्रेधाऽपि तदादानाद्यर्थोद्यतत्वात् स्तेयम् । तदपि प्राणिपीडाकारणत्वात् पापास्रव इत्युच्यते ।

अत्राह–व्याख्यात हिंसादित्रयलक्षणम् । अथाऽब्रह्म कि लक्षणमिति ? अत्रोच्यते–

मैथुनमब्रह्म ।। १६ ।।

मैथुनमिति किमिदम् ? मिथुनस्य भावो मैथुनम् ।

शका नही करनी चाहिए क्योकि इसका उत्तर तो हम पूर्व मे दे चुके है । **प्रश्न**—देववन्दना आदि क्रियाओ के सम्वन्ध से पुण्य का सञ्चय होने पर प्रशस्त चोरी का प्रसग आयेगा, क्योकि वह अदत्तादान है ? **उत्तर**—देव-वन्दना आदि क्रियाओ के द्वारा पुण्य के सचय मे चोरी की आशका निर्मूल है क्योकि यह पहले ही कह दिया है कि जहाँ लेन-देन का व्यवहार होता है, वही चोरी का दूषण आता है ।। ८ ।।

अथवा, प्रमत्त का अधिकार होने से अन्यत्र चोरी का अप्रसग है । प्रमत्त योग से प्राणो का व्यपरोपण हिसा है, इस प्रमत्त शब्द का सम्वन्ध सव पापो मे करना चाहिये अत. वन्दनादि क्रियाओ मे तीनो योगो के द्वारा अभिमुखता से आत्मा के प्रमत्त दशा नही है, अर्थात् वन्दनादि क्रियाओ को सावधानीपूर्वक करने वाले साधु के प्रमत्त योग की सम्भावना नही है अत. वन्दना आदि से होने वाले पुण्य के सञ्चय मे चोरी का प्रसग नही है । इसका तात्पर्य यह है कि प्रमत्त व्यक्ति को परद्रव्य का आदान हो या न हो परन्तु मन, वचन, काय से परद्रव्य के अपहरण करने के परिणाम होने से चोरी का दूषण अवश्य आता है, क्योकि दूसरे के द्रव्य के लेने का जो परिणाम है वह प्राणी-पीडा का कारण होने से पापास्रव है ।। ९ ।।

हिसा, झूठ और चोरी इन तीन का लक्षण (स्वरूप) तो कह दिया है, अव क्रम प्राप्त अब्रह्म का लक्षण कहते है—

मैथुन कर्म को अब्रह्म कहते है ।। १६ ।।

मैथुन किसे कहते हैं ? मिथुन (दो) के कर्म वा भाव को मैथुन कहते है ।

---

१ अन्यानाधारणम् । २. त्रिधापि-मु द., व ।

मिथुनस्य भाव इति चेत्; न; द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गात् । १ । यदि मिथुनस्य भावो मैथुनमित्युच्यते, नैतद्युक्तम्, कुत. ? द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गात् । एव सति औदासीन्यावस्थितविनिवृत्तरागस्त्रीपुंसभवनेऽपि मैथुनप्रसङ्ग. ।

मिथुनस्य कर्मेति चेत्; न; पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात् । २ । यदि मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते; नैतदुपपन्नम्, कुत. ? पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात् । द्वयोः पुरुषयो· निर्वर्त्यं यद्भारोद्वहनादि कर्म तत्रापि प्रसङ्ग· स्यात् ।

स्त्रीपुंसयोः कर्म इति चेत्; न; पच्यादिक्रियाप्रसङ्गात् । ३ । स्यान्मतम्—न सर्व मिथुनमिह परिगृह्यते अनिष्टप्रसङ्गात्, ततः स्त्रीपुसमिथुनविषयकर्मसग्रह इति; तन्न; कि कारणम् ? पच्यादिक्रियाप्रसङ्गात् । ततश्च स्त्रीप्रवजितयोर्नमस्काराद्यासेवने मैथुनप्रसङ्गदोषः । अत उतर पठति—

स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे रागपरिणामो मैथुनम् । ४ । चारित्रमोहोदये

मिथुन का भाव मैथुन है, ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि इससे दो द्रव्यो के सम्बन्ध मात्र से मैथुन का प्रसग आता है । मिथुन का भाव मैथुन नही है, मिथुन का भाव मैथुन कहना उचित नही है, क्योकि इससे दो द्रव्यो के सयोग मात्र से मैथुन का प्रसङ्ग आता है और ऐसा होने पर औदासीन्य से एक स्थान मे अवस्थित वीतरागभाव प्रणीत स्त्री-पुरुष मे भी मैथुन का प्रसग आयेगा ।। १ ।।

मिथुन (दो, युगल) का कर्म मैथुन है, ऐसा नही है क्योकि फिर दो पुरुषो द्वारा सम्पादित कार्यविशेष को भी मैथुन कहने का प्रसग आता है । अर्थात् यदि मिथुन के कर्म को मैथुन कहते है तो दो पुरुषो के सम्बन्ध से होने वाले कार्यो जैसे बोझा उठाने आदि मे भी मैथुन का प्रसग आता है ।। २ ।।

पच्यादि क्रिया मे भी मैथुन (दो) का प्रसग होने से स्त्री-पुरुष के कर्म को मैथुन नही कह सकते । अनिष्ट का प्रसग होने से सर्वमिथुन को यहाँ ग्रहण नही किया जाता है, अत· स्त्री-पुरुष रूप मिथुन सम्बन्धी विषयकर्म को ही यहाँ ग्रहण करना चाहिए ? तथा मिथुन के कर्म को मैथुन कहने से पच् आदि क्रियाओ मे भी मैथुन का प्रसग आता है अर्थात् पचन (खाना पकाना) आदि क्रिया भी दोनो के सयोग से होती है । **प्रश्न**—दीक्षित स्त्री द्वारा पुरुष को नमस्कारादि करने मे भी मैथुन प्रसग का दोष आएगा ? अतः मिथुन का कर्म वा भाव मैथुन नही है ? अब सर्व शकाओ का उत्तर देते है—।। ३ ।।

स्त्री-पुरुष के परस्पर शरीर के स्पर्श करने मे जो राग परिणाम है वही मैथुन है, अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर स्त्री और पुरुष के परस्पर शरीर का सम्मिलन होने से

सति स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे सति सुखमुपलिप्समानयोः रागपरिणामो यः स मैथुनव्यपदेशभाक्। ननु नाय शब्दार्थः; सत्यमेवमेतत्; तथापि "**प्रसिद्धिवशात् अर्थाध्यवसायः**" इतीष्टार्थो गृह्यते।

न वैकस्मिन्नप्रसङ्गात्। ५। न वैतद्युक्तम्? कुतः? एकस्मिन्नप्रसङ्गात्। हस्तपादपुद्गलसघट्टनादिभिरब्रह्म सेवमाने एकस्मिन्नपि मैथुनमिष्यते, तन्न सिद्धयति।

उपचारादिति चेत्; न; मुख्यफलाभावप्रसङ्गात्। ६। स्यादेतत्–यथा स्त्रीपुंसयो चारित्रमोहोदये वेदनापीडितयोः कर्म मैथुन तथैकस्यापि चारित्रमोहोदयोद्रिक्तरागस्य हस्तादिसंघट्टनेऽस्ति मैथुनमिति, [1]न, मुख्यफलाभावप्रसंगात्। यन्मुख्ये मैथुने कर्मास्रवफलं तदत्र न प्रसज्यते मुख्यसिहगतक्रौर्यशौर्यादिर्माणवकेऽप्रवृत्तिवत्। इष्यते च मुख्यमतो नोपचारः।

सुख-प्राप्ति की इच्छा से होने वाला जो रागपरिणाम है, वह मैथुन कहलाता है। प्रश्न—मैथुन शब्द का यह अर्थ तो नही है? उत्तर—यह तुम्हारा कहना ठीक है कि मैथुन शब्द से इतना अर्थ नही निकलता तथापि प्रसिद्धिवश इष्ट अर्थ का अध्यवसाय कर लिया जाता है ॥ ४ ॥

अथवा, स्त्री-पुरुष के परस्पर शरीर के स्पर्श से ही मैथुन नही है अपितु एक मे भी मैथुन का प्रसग है। क्योंकि हाथ, पैर अथवा पुद्गल आदि के सघट्टनादि के द्वारा भो अब्रह्म का सेवन होने पर एक में भी मैथुन होता है, अतः स्त्री-पुरुष का सयोग ही मैथुन सिद्ध नही होता (अपितु मिथुन का भाव मैथुन सिद्ध होता है।) ॥ ५ ॥

मुख्य फल के अभाव का प्रसंग आने से उपचार से मैथुन है, ऐसा नही है। जैसे चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय मे वेदना से पीडित स्त्री-पुरुष का कर्म मैथुन कहलाता है, वैसा चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से उद्रिक्त रागी के हस्तादि के सघट्टन मे मैथुन है, वह उपचार से है, ऐसा नही कहना चाहिए। क्योकि ऐसा (हस्तादि के सघट्टन से होने वाले मैथुन को उपचार मैथुन) मानने पर मुख्य फल के अभाव का प्रसग आता है। जैसे मुख्य सिह मे होने वाले क्रौर्य (क्रूरता), शौर्य (शूरता) आदि गुण माणवक मे नही हैं। केवल उपचार से समानता दी जाती है, वैसे ही मुख्य मैथुन मे होने वाला पापकर्मास्रव हस्त सघट्टनादि मैथुन मे नही होगा। परन्तु हस्त सघट्टनादि मैथुन मे भी पापकर्म का आस्रव होता है अत. एक व्यक्ति मे भी होने वाला मैथुन मुख्य है औपचारिक नही है। अन्यथा इससे कर्मवन्ध नही हो सकता ॥ ६ ॥

---

१ तन्न मु व.।

न वा स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगस्याविशेषाभि[१]मानात् । ७ । यथा स्त्रीपुंसयो रत्यर्थे संयोगे परस्पररतिकृतस्पर्शाभिमानात् सुखं तथैकस्यापि हस्तादिसंघट्टनात् स्पर्शाभिमानस्तुल्यः । तस्मान्मुख्य एव तत्रापि मैथुनशब्दलाभः रागद्वेषमोहाविष्टत्वात् । किञ्च,

एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धेः । ८ । यथैकस्यापि पिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वं तथैकस्य चारित्रमोहोदयाविष्कृतकामपिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वसिद्धेः मैथुनव्यवहारसिद्धिः ।

प्रसिद्धिवशाच्चार्थविशेषप्रतीतेः पूर्वोक्तानां चाऽनवद्यत्वम् । ९ । अथ मैथुनशब्दः लोके शास्त्रे च स्त्रीपुरुषसंयोगजरतिविशेषे प्रसिद्धः । लोके तावद् गोपालादयोऽपि स्त्रीपुंसरतिकर्म मैथुनमित्याचक्षते । शास्त्रेऽपि "[२]**अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्**" [७।१।५१*] इत्येवमादौ तदेव कर्माख्यायते । ततः प्रसिद्धिवशात् अर्थविशेषप्रतीतेः पूर्वोक्तानां च पक्षाणामनवद्यत्वमवसेयम् । तद्यथा–

यत्तावदुक्तम्–मिथुनस्य भाव इति चेन्न द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गादिति; तदसत्,

---

अथवा, जिस प्रकार स्त्री और पुरुष को रति के समय शरीर का संयोग होने पर स्पर्शसुख होता है, उसी प्रकार एक व्यक्ति को भी हाथ आदि के संयोग से स्पर्शसुख का भान होता है, दोनों मैथुन तुल्य है । इसलिए हस्त संघट्टनादि सम्बन्धी मैथुन भी मुख्य ही है, उसमे भी रागद्वेष और मोह की तीव्रता होने से मैथुन शब्द का लाभ है । किञ्च— ।। ७ ।।

एक के भी द्वितीय की उपपत्ति होने मे मैथुनत्व सिद्ध है । जैसे पिशाचवशीकृत एक व्यक्ति के भी दो (होने) का प्रसंग आता है, उसी प्रकार यहाँ एक ही व्यक्ति चारित्र मोहोदय से प्रकट हुए काम रूपी पिशाच के सम्पर्क से दो हो गया है और दो के कर्म को मैथुन कहने मे कोई बाधा नही है अत. मिथुन का भाव 'मैथुन' यह व्यवहार सिद्ध होता है ।। ८ ।।

प्रसिद्धि के वश से अर्थविशेष की प्रतीति होती है अत पूर्वोक्त लक्षण निर्दोष है । यह मैथुन शब्द लोक और शास्त्र दोनो मे स्त्री-पुरुष के संयोग से होने वाले रति कर्म मे प्रसिद्ध है । लोक मे गोपालादि भी स्त्री-पुरुष के रतिकर्म को मैथुन कहते है । व्याकरणशास्त्र मे भी '**अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायां**' इस सूत्र मे मैथुन का यही अर्थ लिया गया है, अत. प्रसिद्धि के वश से अर्थविशेष की प्रतीति होने से पूर्वोक्त पक्षो का लक्षण निर्दोष है । अर्थात् मिथुन का भाव मैथुन यह अब्रह्म का लक्षण निर्दोष है, ऐसा जानना चाहिए ।

अत. मिथुन का भाव इस पक्ष मे, जो दो स्त्री-पुरुष रूप द्रव्यो की सत्ता मात्र को मैथुनत्व

---

१ –भिमानात् मु द व । * पा वा ७।१।५१ । २ वृषाऽश्वयोर्मैथुने ।

अभ्यन्तरपरिणामाभावे बाह्यहेतोरफलत्वात्। यथा [1]कंकडुकचणकादीनाम् अभ्यन्तर-पाककारणविक्लेदशक्त्यभावात् बाह्योदकाग्निसबन्धस्याऽफलत्व तथा अभ्यन्तर-चारित्रमोहोदयापादितस्त्रैणपौंस्नात्मकरतिपरिणामाभावात् बाह्यद्रव्यद्वयभवनेऽपि न मैथुनम्।

यच्चोक्तम्–मिथुनस्य कर्मेति चेन्न पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात् इति, तच्च [2]वार्तम्, कुत.? कदाचित् पुरुषद्वयेऽपि दर्शनात्। चारित्रमोहोदयाविष्टाना हि पुरुषाणा [3]तादृशेष्वेव पुरुषेषु मैथुन दृश्यते। उक्त च–

पुरुषाः पुरुषेष्वेव यदनिष्टप्रयोजनाः।
अत्यारूढस्य तत्सर्वं रागस्यैव विचेष्टितम्॥ इति।

यदप्युक्तम्–स्त्रीपुसयो. कर्मेति चेन्न पच्यादिक्रियाप्रसङ्गात् इति; तदसाम्प्रतम्, कुतः तद्विषयस्यैव ग्रहणात्। तयोरेव यत्कर्म तदिह गृह्यते, पच्यादिकर्म पुनः अन्येनापि क्रियते। अपि च, प्रमत्तयोगादित्यनुवर्तते तत· चारित्रमोहोदयात् प्रमत्तस्य मिथुनस्य

का प्रसग दिया जाता है. वह उचित नही है, क्योकि अभ्यन्तर चारित्रमोह के उदय रूप परिणाम के अभाव होने से बाह्य कारण निरर्थक होते है। जैसे—वठर (घोरडू) चना आदि मे आभ्यन्तर पाकशक्ति न होने से बाह्य जल और अग्नि का सयोग निष्फल है। अर्थात् जल और अग्नि का कितना ही सयोग होने पर भी ऐसे चने का पाक नही हो सकता। उसी प्रकार आभ्यन्तर चारित्र-मोहोदय से अपादित (प्राप्त) स्त्रैण पौस्न रूप रति परिणाम न होने से वाह्य मे रति परिणाम रहित दो द्रव्यो के रहने पर भी मैथुन का व्यवहार नही होता।

'मिथुनस्य कर्म' इस पक्ष मे दो पुरुषो के द्वारा की जाने वाली बोझा ढोने रूप क्रिया, पाक क्रिया और नमस्कारादि क्रिया को भी मैथुनत्व का प्रसग देना उचित नही है, क्योकि कभी-कभी दो पुरुषो मे भी चारित्रमोह कर्म के उदय से मैथुन देखा जाता है। कहा भी है—'पुरुष-पुरुष मे जो अनिष्ट प्रयोजन (रति कर्म) है वह सर्व तीव्र राग की चेष्टा है।' इसी प्रकार 'स्त्री और पुरुष के कर्म' पक्ष मे पाकादि और नमस्कारादि क्रिया को भी मैथुनत्व का प्रसग देना उचित नही, क्योकि स्त्री और पुरुष के सयोग मे ही होने वाला कर्म यहाँ विवक्षित है। क्योकि उस विषय का ही यहाँ ग्रहण है। अर्थात् स्त्री-पुरुष दोनो का ग्रहण किया है, ऐसा जानना चाहिये। क्योकि पाच्यादि क्रिया तो अन्य से भी हो सकती है। फिर 'प्रमत्तयोगात्' सूत्र मे कथित प्रमत्त योग की अनुवृत्ति चली आ रही है, अतः चारित्रमोहनोय कर्म के उदय से प्रमत्त हुए मिथुन के कर्म को मैथुन कहते है। नमस्कारादि क्रिया मे प्रमत्तयोग तथा चारित्रमोह कर्म के उदय का अभाव होने से वन्दनादि मिथुन

---

१ कङ्कटुकच –अ. ता। २. अयुक्त। ३ तादृशेषु पु–मु. व।

कर्म मैथुनमित्युक्तम्; नमस्काराद्युपयुक्तस्य चाऽप्रमत्तत्वात् चारित्रमोहोदयाभावाच्च सत्यपि वन्दनादिमिथुनकर्मणि न मैथुनम् ।

अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म ।१०। अहिंसादयो गुणाः यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद्ब्रह्मेत्युच्यते, न ब्रह्म अब्रह्म । किं तत् ? मैथुनम् । तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति । यस्मात् मैथुनसेवनप्रवणः स्थाणु[1]चरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्त सचेतनमितरं च परिग्रह गृह्णाति ।

अत्राह–उक्त भवता हिंसादिचतुष्टयस्य विशेषलक्षणम् । इदानीमिदमुच्यतां परिग्रहस्य कि लक्षणमिति ? अत्रोच्यते–

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

मूर्च्छेत्युच्यते । का मूर्च्छा ?

बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्च्छा ।१। बाह्याना गोमहिषमणि-मुक्तादीना चेतनाचेतनानाम् अभ्यन्तराणा च रागादीनामुपधीना सरक्षणार्जनसंस्कारादि-लक्षणव्यापृतिः मूर्च्छेति कथ्यते ।

कर्म (दो मिलकर वन्दना स्वाध्याय आदि क्रिया) होने पर भी वह क्रिया मैथुन नही कही जा सकती ॥ ९ ॥

अहिसादि गुणों को बढाने वाला होने से ब्रह्म कहलाता है। जिसका परिपालन करने से अहिंसादि गुणो की वृद्धि होती है, वह ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म नही है या ब्रह्म का अभाव है वह अब्रह्म कहलाता है, वह अब्रह्म ही मैथुन है, उस अब्रह्मचारी के हिंसादि दोष पुष्ट होते है। क्योकि मैथुन सेवनाभिलाषी व्यक्ति त्रस, स्थावर जीवो का घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है और सचेतन एव अचेतन परिग्रह का सग्रह भी करता है ॥ १० ॥

'आपने हिंसादि चार पापो का लक्षण तो कह दिया, अब परिग्रह का लक्षण बताओ' ऐसा शिष्य के द्वारा पूछने पर आचार्य उत्तर सूत्र कहते है—

मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं ॥ १७ ॥

प्रश्न—मूर्च्छा किसे कहते है ? **उत्तर**—

बाह्याभ्यन्तर उपधि (परिग्रह) के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। गाय,

---

१ स्थाणूश्चरिष्णून् मु, ब ।

वातपित्तश्लेष्मविकारप्रसङ्ग इति चेत्; न; विशेषितत्वात् । २ । स्यान्मतम्–वातपित्तश्लेष्मणामन्यतमस्य दोषस्य प्रकोपात् उपजायमानो विकारो मूर्च्छेति; तन्न, कि कारणम् ? विशेषितत्वात् । मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तमान बाह्याभ्यन्तरोपधि-सरक्षणादिविषयः परिगृहीत इति विशेषितत्वात् इष्टार्थसप्रत्ययो भवति । सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्त इति ।

बाह्यस्याऽप्रसङ्ग इति चेत्; न; आध्यात्मिकप्रधानत्वात् । ३ । स्यादेतत्–मूर्च्छेत्यनेन आध्यात्मिकः परिग्रहः परिगृह्यते, तेन बाह्यस्य परिग्रहत्व न प्राप्नोतीति; तन्न, कि कारणम् ? आध्यात्मिकप्रधानत्वात् । ममेदमिति सकल्पः आध्यात्मिकः परिग्रहः, स प्रधानभूत इति तस्योपादान क्रियते, तस्मिन् सगृहीते तत्कारणस्याप्यनुषङ्गेण[1] प्रतीतेः । अथ यदा बाह्य प्राधान्येन इष्यते कथ तस्य सग्रह. ?

भैस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन बाह्य परिग्रह के और रागद्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रह के सरक्षण, अर्जन, सस्कारादि लक्षण व्यापार को मूर्च्छा कहते है ।। १ ।।

विशेषितत्व (विवक्षित) होने से यहाँ पर वात, पित्त और कफ के विकार से होने वाली मूर्च्छा का प्रसग नही है । **प्रश्न**--वात, पित्त, कफ वा अन्य किसी शारीरिक दोष के प्रकोप से उत्पन्न विकार को मूर्च्छा कहते है । **उत्तर**--वात, पित्त और कफ आदि के विकार से होने वाली मूर्च्छा-बेहोशी यहाँ विवक्षित नही है, क्योकि यहाँ विशिष्ट अर्थ गृहीत है । यद्यपि मूर्च्छा धातु मोह सामान्यार्थक है फिर भी यहाँ बाह्याभ्यन्तर परिग्रहो के सरक्षण विषय मे ही उसका ग्रहण किया है, इस प्रकार विशिष्टता होने से इष्ट अर्थ का सप्रत्यय (ज्ञान) होता है तथा सामान्य अर्थ की प्रेरणा विशेष अर्थ मे व्याप्त रहती ही है अर्थात् सामान्य व्यवहार मे विशेष व्यवहार भी गर्भित है ।। २ ।।

आध्यात्मिक की प्रधानता होने से बाह्य परिग्रह का अप्रसग नही है । **प्रश्न**—मूर्च्छा इस शब्द से आध्यात्मिक परिग्रह का ग्रहण होता है इसलिये बाह्य के परिग्रह को परिग्रहत्व प्राप्त नही हो सकता ? **उत्तर**—आभ्यन्तर ममत्व परिणाम रूप मूर्च्छा को परिग्रह कहने पर बाह्य पदार्थो मे अपरिग्रहत्व का प्रसग नही देना चाहिये, क्योकि आभ्यन्तर परिग्रह ही प्रधानभूत है । अर्थात् 'यह मेरा है' इस प्रकार का सकल्परूप आध्यात्मिक परिग्रह है, वही प्रधानभूत है अत. मूर्च्छा से मुख्यतया आभ्यन्तर परिग्रह का ग्रहण किया जाता है । उस आभ्यन्तर परिग्रह के ग्रहण करने पर आभ्यन्तर परिग्रहण के कारणभूत गौण रूप बाह्य परिग्रह का ग्रहण तो हो ही जाता है । **प्रश्न**—अथवा जब बाह्य प्रधान रूप से इष्ट नही है तब उसका सग्रह कैसे होता है ।। ३ ।। **उत्तर**—

---

१ गौणेन ।

कर्म मैथुनमित्युक्तम्; नमस्काराद्युपयुक्तस्य चाऽप्रमत्तत्वात् चारित्रमोहोदयाभावाच्च सत्यपि वन्दनादिमिथुनकर्मणि न मैथुनम् ।

अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म । १० । अहिसादयो गुणाः यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद्ब्रह्मे त्युच्यते, न ब्रह्म अब्रह्म । कि तत् ? मैथुनम् । तत्र हिसादयो दोषा. पुष्यन्ति । यस्मात् मैथुनसेवनप्रवण. स्थाष्णु[1]चरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्त सचेतनमितर च परिग्रहं गृह्णाति ।

अत्राह–उक्त भवता हिसादिचतुष्टयस्य विशेषलक्षणम् । इदानीमिदमुच्यता परिग्रहस्य कि लक्षणमिति ? अत्रोच्यते–

मूर्च्छा परिग्रहः ।। १७ ।।

मूर्च्छेत्युच्यते । का मूर्च्छा ?

बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्च्छा । १ । बाह्याना गोमहिषमणि-मुक्तादीना चेतनाचेतनानाम् अभ्यन्तराणा च रागादीनामुपधीना सरक्षणार्जनसंस्कारादि-लक्षणव्यापृति· मूर्च्छेति कथ्यते ।

कर्म (दो मिलकर वन्दना स्वाध्याय आदि क्रिया) होने पर भी वह क्रिया मैथुन नही कही जा सकती ।। ९ ।।

अहिसादि गुणो को बढाने वाला होने से ब्रह्म कहलाता है । जिसका परिपालन करने से अहिंसादि गुणो की वृद्धि होती है, वह ब्रह्म कहलाता है । ब्रह्म नही है या ब्रह्म का अभाव है वह अब्रह्म कहलाता है, वह अब्रह्म ही मैथुन है, उस अब्रह्मचारी के हिंसादि दोष पुष्ट होते है । क्योकि मैथुन सेवनाभिलाषी व्यक्ति त्रस, स्थावर जीवो का घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है और सचेतन एव अचेतन परिग्रह का सग्रह भी करता है ।। १० ।।

'आपने हिंसादि चार पापो का लक्षण तो कह दिया, अब परिग्रह का लक्षण बताओ' ऐसा शिष्य के द्वारा पूछने पर आचार्य उत्तर सूत्र कहते है—

मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं ।। १७ ।।

प्रश्न—मूर्च्छा किसे कहते हैं ? **उत्तर**—

बाह्याभ्यन्तर उपधि (परिग्रह) के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं । गाय,

---

१ स्थाणू श्चरिष्णून् मु., व. ।

वातपित्तश्लेष्मविकारप्रसङ्ग इति चेत्; न; विशेषितत्वात् । २ । स्यान्मतम्—वातपित्तश्लेष्मणामन्यतमस्य दोषस्य प्रकोपात् उपजायमानो विकारो मूर्च्छेति, तन्न, कि कारणम् ? विशेषितत्वात् । मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तमान· बाह्याभ्यन्तरोपधिसरक्षणादिविषय· परिगृहीत इति विशेषितत्वात् इष्टार्थसप्रत्ययो भवति । सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्त इति ।

बाह्यस्याऽप्रसङ्ग इति चेत्; न; आध्यात्मिकप्रधानत्वात् । ३ । स्यादेतत्—मूर्च्छेत्यनेन आध्यात्मिकः परिग्रहः परिगृह्यते, तेन बाह्यस्य परिग्रहत्व न प्राप्नोतीति, तन्न; कि कारणम् ? आध्यात्मिकप्रधानत्वात् । ममेदमिति सकल्प· आध्यात्मिकः परिग्रह·, स प्रधानभूत इति तस्योपादान क्रियते, तस्मिन् संगृहीते तत्कारणस्याप्यनुषङ्गेण[१] प्रतीतेः । अथ यदा बाह्य· प्राधान्येन इष्यते कथ तस्य संग्रह· ?

भैस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन बाह्य परिग्रह के और रागद्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रह के सरक्षण, अर्जन, सस्कारादि लक्षण व्यापार को मूर्च्छा कहते है ।। १ ।।

विशेषितत्व (विवक्षित) होने से यहाँ पर वात, पित्त और कफ के विकार से होने वाली मूर्च्छा का प्रसग नही है । प्रश्न--वात, पित्त, कफ वा अन्य किसी शारीरिक दोष के प्रकोप से उत्पन्न विकार को मूर्च्छा कहते है । उत्तर—वात, पित्त और कफ आदि के विकार से होने वाली मूर्च्छा-बेहोशी यहाँ विवक्षित नही है, क्योकि यहाँ विशिष्ट अर्थ गृहीत है । यद्यपि मूर्च्छा धातु मोह सामान्यार्थक है फिर भी यहाँ बाह्याभ्यन्तर परिग्रहो के सरक्षण विषय मे ही उसका ग्रहण किया है, इस प्रकार विशिष्टता होने से इष्ट अर्थ का सप्रत्यय (ज्ञान) होता है तथा सामान्य अर्थ की प्रेरणा विशेष अर्थ मे व्याप्त रहती ही है अर्थात् सामान्य व्यवहार मे विशेष व्यवहार भी गर्भित है ।। २ ।।

आध्यात्मिक की प्रधानता होने से बाह्य परिग्रह का अप्रसग नही है । प्रश्न—मूर्च्छा इस शब्द से आध्यात्मिक परिग्रह का ग्रहण होता है इसलिये बाह्य के परिग्रह को परिग्रहत्व प्राप्त नही हो सकता ? उत्तर—आभ्यन्तर ममत्व परिणाम रूप मूर्च्छा को परिग्रह कहने पर बाह्य पदार्थो मे अपरिग्रहत्व का प्रसग नही देना चाहिये, क्योकि आभ्यन्तर परिग्रह ही प्रधानभूत है । अर्थात् 'यह मेरा है' इस प्रकार का सकल्परूप आध्यात्मिक परिग्रह है, वही प्रधानभूत है अत· मूर्च्छा मे मुख्यतया आभ्यन्तर परिग्रह का ग्रहण किया जाता है । उस आभ्यन्तर परिग्रह के ग्रहण करने पर आभ्यन्तर परिग्रहण के कारणभूत गौण रूप बाह्य परिग्रह का ग्रहण तो हो ही जाता है । प्रश्न—अथवा जब बाह्य प्रधान रूप से इष्ट नही है तब उसका सग्रह कैसे होता है ।। ३ ।। उत्तर—

---

१ गौणेन ।

मूर्च्छाकारणत्वात् बाह्यस्य मूर्च्छाव्यपदेशः । ४ । यथा अन्नं वै प्राणा इति प्राणकारणे अन्ने प्राणोपचारः, तथा मूर्च्छाकारणत्वात् बाह्यः परिग्रहो मूर्च्छेति व्यवह्रियते ।

ज्ञानदर्शनचारित्रेषु सङ्गः परिग्रहः इति चेत्; न; प्रमत्तयोगाधिकारात् । ५ । स्यान्मतम्–यथा आध्यात्मिकेऽपि रागादावात्मपरिणामे सङ्ग. परिग्रह इत्युच्यते, ज्ञानदर्शनचरित्रेऽवपि ममेति सकल्प परिग्रह प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रमत्तयोगाधिकारात् । तत. ज्ञानदर्शनचारित्रवतोऽप्रमत्तस्य मोहाभावात् न मूर्च्छास्ति इति निष्परिग्रहत्व सिद्धम् । किञ्च, तेषा ज्ञानादीनामहेयत्वात् आत्मस्वभावानतिवृत्तेरपरिग्रहत्वम् । रागादय· पुन· कर्मोदयतन्त्रा इत्यनात्मस्वभावत्वाद्धेया., ततस्तेषु सकल्पः परिग्रह इति युज्यते ।

तन्मूलाः सर्वदोषानुषङ्गाः । ६ । सः परिग्रहो मूलमेषा ते तन्मूला । के पुनस्ते ?[१] सर्वे दोषानुषङ्गा ? ममेदमिति हि सति सकल्पे रक्षणादय· सञ्जायन्ते । [२]तत्र च

मूर्च्छा का कारण होने से बाह्य पदार्थ के भी मूर्च्छा व्यपदेश होता है । जैसे—"अन्न ही प्राण है" इस प्रकार प्राणो को स्थिति मे कारणभूत अन्न मे प्राणो का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार मूर्च्छा का कारण (ममत्व का कारण) होने से बाह्य परिग्रह को भी मूर्च्छा कह देते है । अर्थात् कारण मे कार्य का उपचार किया जाता है ।। ४ ।।

प्रमत्तयोग का अधिकार होने से ज्ञान, दर्शन, चारित्र के ममत्व का परिग्रह नही है । **प्रश्न**—जैसे—आध्यात्मिक रागद्वेष रूप आत्मपरिणाम मे ममत्व, परिग्रह कहा जाता है उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ममत्व भाव (मेरा यह है इस प्रकार सकल्प) परिग्रह हो जायेगा ? **उत्तर**—प्रमत्तयोग का अधिकार होने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे होने वाला ममत्व भाव परिग्रह नही है । क्योकि निष्प्रमादी ज्ञान, दर्शन और चारित्रवान व्यक्ति के मोह का अभाव है । अत. निष्प्रमादी व्यक्ति के चारित्र का ममत्व मूर्च्छा नही है और उसके निष्परिग्रहत्व सिद्ध होता है । अथवा, ज्ञानादि तो आत्मा के स्वभाव है, अहेय है अत वे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि परिग्रह हो ही नही सकते । उनमे तो अपरिग्रहत्व है । रागादि तो कर्मोदयजन्य है, अनात्म-स्वभाव है और हेय है । इसलिये इनमे होने वाला 'ममेद' सकल्प परिग्रह है । अर्थात् रागादि को परिग्रह कहते है ।। ५ ।।

परिग्रह ही सर्व दोषो का मूल कारण है । यह परिग्रह ही समस्त दोषो का मूल है । 'यह मेरा है' ऐसा सकल्प होने पर ही उसके रक्षण आदि की व्यवस्था करनी होती है और उसमे हिंसा अवश्यभाविनी है, उस परिग्रह के लिए झूठ भी बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म मे भी प्रयत्न

१ सर्वदोषा –मु , द , ब. । २. तथा सति ।

हिंसाऽवश्यभाविनी, तदर्थमनृत जल्पति, चौर्य चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रतियतते, तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः, इहापि अनुपरतव्यसनमहार्णवावगाहनम् ।

एवममूभिर्भावनाभि स्थिरीकृतचेतसोऽपायावद्यदर्शिनो विचक्षणस्य सर्वससारि-क्रियाकलापात् दु.खबुद्ध्या निरुत्सुकीकृतविषयकुतूहलस्य[1] मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्य-प्रणिधानापादितसौहार्दस्य जन्ममरणपरिखेदितमतेरवलोकितशरीरस्वभावस्य मोक्ष प्रत्यवहितस्य यस्य सन्ति व्रतानि स भवति–

निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥

अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यम् । १ । विविधवेदनाशलाकाभिः प्राणिगण शृणाति हिनस्ति इति शल्यम् ।

आबाधकत्वादुपचारसिद्धिः । २ । यथा शरीरानुप्रवेशात् काण्डादिप्रहरण

करता है, अर्थात् परिग्रहाभिलाषी व्यक्ति सर्व कुकर्म करता है । इस परिग्रह के ममत्व के कारण नरकादि मे अनेक प्रकार के दु ख भोगता है, इस लोक मे भी निरन्तर दु ख रूपी महासमुद्र मे अवगाहन करता है, अर्थात् सैकडो दु.ख भोगता है ।। ६ ।।

इस प्रकार इन भावनाओ के द्वारा जिसका चित्त स्थिर हो गया है, जो हिंसादि पापो को जीव के नाश अथवा अहित का कारण समझता है, दु.ख के कारणभूत सर्व सासारिक क्रियाकलापो को दुःखरूप समझ कर इन्द्रिय सम्बन्धी विषयो के कुतूहल से जा निरुत्सुक हो चुका है, समस्त प्राणियो मे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावो के प्रणिधान से जो वात्सल्य भाव धारण कर चुका है, जन्म-मरण के दु खो से जो खेद-खिन्न है, जिसने शरीर के स्वभाव को अच्छी तरह पहचान लिया है तथा जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है, ऐसे जिस पुरुष के व्रत है वही शल्यो से रहित होता हुआ व्रती कहलाता है—

(माया, मिथ्यात्व और निदान रूप) शल्य रहित व्रती होता है ।। १८ ।।

अनेक प्रकार से प्राणीगण को दु ख देने से शल्य कहलाती है । विविध प्रकार की वेदना रूपी शलाकाओ (सुइयो) के द्वारा जो प्राणियो को छेदती है, दु ख देती हैं, वे शल्य कहलाती है ।। १ ।।

आबाधकत्व होने से उपचार सिद्धि है । जैसे—शरीर मे चुभे हुए कांटा आदि प्राणियो को बाधा करने वालो शल्य हैं, अर्थात् शरीर मे चुभा हुआ कांटा प्राणियो को दु.ख देता है, उसी प्रकार

---

१ विरक्तस्य ।

शरीरिणो बाधाकरं शल्यं तथा कर्मोदयविकारोऽपि शारीरमानसबाधाहेतुत्वात् शल्यमिव शल्यमित्युपचर्यते ।

तत्त्रिविधं मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् । ३ । तदेतच्छल्य त्रिविधं वेदितव्यम् । कुत ? मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् । माया निकृतिर्वञ्चनेत्यनर्थान्तरम्, विषयभोगाकाङ्क्षा निदानम्, मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम् । एतस्मात्त्रिविधाच्छल्यान्निष्क्रान्तो नि शल्यो व्रतीत्युच्यते । अत्र कश्चिदाह–

विरोधाद्विशेषणानुपपत्तिः । ४ । नि.शल्यत्वं व्रतित्वमित्येतदुभय विरुद्धम्, ततो न नि शल्यत्वाद् व्रती भवितुमर्हति । न हि दण्डसंबन्धाच्छत्री स्यात्, तस्मात् व्रताभिसंबन्धादेव व्रतीति वक्तव्यम्, शल्याभावाच्च नि.शल्य इति ।

आनर्थक्यं च, अन्यतरेण गतार्थत्वात् । ५ । यदि व्रतित्वान्नि शल्यः, तस्मात् व्रतीत्येतावद्वाच्यम्, न नि.शल्य इति । यदि च नि शल्यत्वात् व्रती, तस्मान्नि.शल्य. इत्येतावद्वाच्यम्, न व्रतीति ।

विकल्प इति चेत्; न; फलविशेषाभावात् । ६ । स्यादेतत्–विकल्पोऽत्र गृह्यते

कर्मोदय विकार भी शारीरिक और मानसिक बाधा का कारण होने से, शल्य की भाँति शल्य नाम से उपचरित किया जाता है ।। २ ।।

माया, मिथ्यात्व और निदान के भेद से शल्य तीन प्रकार की है । यह शल्य तीन प्रकार की है—माया, मिथ्यात्व और निदान । माया, निकृति, वञ्चना, छल-कपट ये सब एकार्थवाची है । विषयभोगो की काङ्क्षा निदान है । अतत्त्वश्रद्धान मिथ्यादर्शन है । इन तीन प्रकार की शल्यो से निष्क्रान्त (रहित) नि.शल्य व्यक्ति व्रती कहलाता है ।। ३ ।।

यहाँ कोई शका करता है—

विरोध होने से व्रती का नि.शल्य विशेषण नही हो सकता । अर्थात् नि शल्यत्व और व्रतित्व ये दोनो विरुद्ध है (पृथक्-पृथक है) अतः नि.शल्यत्व होने से व्रती नही हो सकता । कोई दण्ड के सम्बन्ध से (छत्री) नही हो सकता, अत. व्रत के सम्बन्ध से व्रती कहना चाहिए और शल्य के अभाव से नि.शल्य ।। ४ ।।

व्रत या नि.शल्य मे से एक से व्रती की सिद्धि हो जाने से दो विशेषण (नि.शल्य और व्रती) देना निरर्थक है । यदि व्रती होने से निःशल्य है तो व्रती ही कहना चाहिए नि.शल्य नही । यदि नि.शल्य होने से व्रती है तो निःशल्य ही कहना चाहिए व्रती नही ।। ५ ।।

फलविशेष का अभाव होने से विकल्प कहना भी ठीक नही है । **प्रश्न**—'नि.शल्य हो या

निशल्यो वा व्रती वा इति, ततो न विशेषणविशेष्यसंबन्धाऽभावो दोष इति; तन्न; किं कारणम् ? फलविशेषाभावात् । फलविशेषवतां हि लोके विकल्पो दृष्टः, यथा देवदत्तं घृतेन वा सूपेन वा दध्ना वा भोजयेत् इति, न तथेह फलविशेषोऽस्ति निःशल्यो वा व्रती वेति उभयविशेषणविशिष्टस्यैकस्येष्टत्वात् ।

न वा, अङ्गाङ्गिभावस्य विवक्षितत्वात् । ७ । न वा एष दोषः, किं कारणम् ? अङ्गाङ्गिभावस्य विवक्षितत्वात् । न हिंसाद्युपरतिमात्रव्रतसंबन्धात् व्रती भवति अन्तरेण शल्याभावम्, सति शल्यापगमे व्रतसंबन्धात् व्रतीति विवक्षितः । यथा बहुक्षीरघृतो 'गोमान्' इति व्यपदिश्यते, बहुक्षीरघृताभावात् सतीष्वपि गोषु न गोमान् तथा सशल्यत्वात् सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती, यस्तु निःशल्यः स व्रती । [1]तत्रैतत् स्यात्[2]-कथमेतदेवं[3] भविष्यतीति ? उच्यते—

प्रधानानुविधानात् अप्रधानस्य । ८ । यथा तीक्ष्णेन परशुना छिनत्तीति-

---

व्रती हो' यह विकल्प मानकर विशेषणविशेष्य सम्बन्ध का अभाव रूप दोष नही है ? 'निःशल्य हो या व्रती हो' यह विकल्प मानकर विशेषणविशेष्य भाव बनाना भी उचित नही है । क्योंकि ऐसा करने मे फलविशेष का अभाव है । लोक मे फलविशेषवान् के ही विकल्प देखा जाता है । जैसे—देवदत्त घृत, दाल या दही के साथ भोजन करे । इसमे पृथक्-पृथक् फल है । उस प्रकार नि.शल्यो व्रती मे फलविशेष नही है । क्योकि 'नि.शल्य कहो या व्रती कहो' दोनो विशेषणो से विशिष्ट एक ही व्यक्ति इष्ट है ? ॥ ६ ॥

उत्तर—यहाँ पर उभय विशेषण विशिष्ट होने से नि शल्यो व्रती कहना कोई दोष नही है, अगागी भाव विवक्षित होने से 'नि शल्यो व्रती' कहना अनुचित नही है । क्योकि यहाँ अगागी भाव विवक्षित है । अर्थात् नि.शल्यत्व और व्रतित्व मे अग-अगिभाव विवक्षित है । क्योकि केवल हिंसादि विरक्ति रूप व्रत के सम्बन्ध से व्रती नही होता है जब तक कि शल्यो का अभाव न हो । शल्यो का अभाव होने पर ही व्रत के सम्बन्ध से व्रती होता है, यहाँ ऐसा विवक्षित है । जैसे बहुत दूध और घी वाला गोमान् कहा जाता है । बहुत दूध और घृत के अभाव मे बहुत सी गायो के होने पर भी गोमान् (गायवाला) नही कहलाता । उसी प्रकार सशल्य होने पर व्रतो के रहते हुए भी व्रती नही कहा जा सकता । जो निःशल्य होता है, वही व्रती है । प्रश्न—सूत्र मे 'नि शल्यो व्रती' ये शब्द है, वहाँ उक्तार्थ कैसे घटित होता है ? ॥ ७ ॥

उत्तर—प्रधान का अनुकरण करने वाला होने से अप्रधान का भी ग्रहण हो जाता है । जैसे 'तीक्ष्ण फरसे से छेदता है' यहाँ अप्रधानभूत तीक्ष्ण गुण विशिष्ट परशु छेदने वाले प्रधान कर्त्ता

---

१ सूत्रे । २. उक्तार्थे । ३. नि.शल्यो व्रतीति ।

तीक्ष्णगुणविशिष्टपरशुरप्रधानभूतः छेत्तुः प्रधानस्योपकारे वर्तते तथा निःशल्यत्वगुण-विशिष्टानि व्रतानि गुणभूतानि तद्वतः प्रधानस्य विशेषकारिण ।

आह–किमेष व्रती व्यपगतशल्यत्रयो[1] हिंसाद्यभावात् यथोक्तक्रियासमूहविजृम्भित-परिणामः परिग्रहनिरपेक्षः सर्व एव अगारसंबन्धं प्रति निवृत्तौत्सुक्यः प्रतिज्ञायते उत विरतोऽपि कश्चित् गृही निश्चीयत इति ? अत्रोच्यते–अमीषामेव हिंसादीनां विरति-विशेपस्य भेदात् अधिकृतो व्रती द्वेधा–

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

प्रतिश्रयार्थितया अङ्गनादगारम् । १ । प्रतिश्रयार्थिभि. जनैरङ्ग्यते गम्यते तदित्यगारं वेश्म इत्यर्थः । अगारमस्यास्तीत्यगारी, न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः ।

अनियमप्रसङ्ग इति चेत्; न; भावागारस्य विवक्षितत्वात् । २ । स्यान्मतम्–शून्यागारदेवकुलाद्यावासस्य मुनेरगारित्व प्राप्तम्, अनिवृत्तविपयतृष्णस्य कुतश्चित्कारणात् विमुच्यागारं वने वसतः अनगारत्वं चेत्यनियमप्रसङ्ग इति; तन्न; कि कारणम् ?

का उपकारक-सहायक है, उसी प्रकार निःशल्य गुण विशिष्ट गुणभूत व्रत आत्मीय-गुणो के विकासक होते है अतः ये विशेषक होते है ॥ ८ ॥

प्रश्न—हिंसादि के अभाव से तीन शल्यो के नाशक क्या ये यथोक्त क्रिया समूह से विजृम्भित परिणाम वाले परिग्रहनिरपेक्ष सारे ही व्रती अगार सम्बन्धी (श्रावक) क्रियाओ से निरुत्सुक होते है या कोई गृहस्थ रहते है ? **उत्तर**—इन हिंसादि पापो की विरति-विशेष के भेद से अधिकृत व्रती दो प्रकार के है—

अगारी-गृहस्थ और अनगारी-मुनि के भेद से व्रती दो प्रकार के हैं ॥ १९ ॥

आश्रयार्थी जनों के द्वारा जो स्वीकार किया जाता है, वा उसमे जाया जाता है, वास किया जाता है, वह अगार-घर है । अगार, वेश्म, गृह ये सर्व एकार्थवाची है, अगार जिसके है, वह अगारी कहलाता है । जिसके अगार नही है, वह अनगार कहलाता है ॥ १ ॥

इस सूत्र मे भाव आगार की विवक्षा होने से अनियम का अप्रसग है । प्रश्न—शून्यागार देवकुलादि मे आवास करने वाले मुनि के अगारित्व सिद्ध होता है और जिसके तृष्णा नही घटी है परन्तु किसी कारणवश जो घर को छोड़ कर वन मे रहने लगा है उसके अनगारपना सिद्ध होगा, अर्थात् वन मे रहने वाले अनगारो कहलायेगे अतः अनियम का प्रसग आयेगा, अर्थात् गृहस्थ अगारी

---

1. नि.शल्यस्य ।

भावागारस्य विवक्षितत्वात् । चारित्रमोहोदये सति अगारसंबन्धं प्रत्यनिवृत्तपरिणामः अगारमित्युच्यते, स यस्यास्त्यसौ वने वसन्नपि अगारीति व्यपदेशमर्हति । तदभावादनगार इति च भवति ।

[1]**व्रतिकारणासाकल्यात् गृहस्थस्याव्रतित्वमिति चेत्; न; नैगमसंग्रहव्यवहारव्यापारात् नगरावासवत् । ३ ।** यथा गृहापवरकादिनगरैकदेशे निवास्यपि नगरावास इति शब्द्यते, तथा असकलव्रतोऽपि नैगमसंग्रहव्यवहारनयविवक्षापेक्षया व्रतीति व्यपदिश्यते ।

राजवद्वा । ४ । यथा द्वात्रिंशज्जनपदसहस्राधिपतिः सार्वभौमो[2] राजेति एकजनपदपतिः तदर्धेश्वरो वा न राजा न भवति ? भवत्येव, तथा अष्टादशशीलसहस्रचतुरशीतिगुणशतसहस्रधरत्वादनगारः संपूर्णव्रत इति सयतासयतोऽणुव्रतधरत्वात् न व्रतीति न भवति ? भवत्येव ।

और मुनि अनगारी है, ऐसा नियम नही बन सकता । **उत्तर**—यहाँ चारित्र-मोह के उदय से घर के प्रति अनिवृत्त परिणामरूप भावागार विवक्षित है । अत भावागार (जिसके चारित्रमोहनीय का उदय है वह) व्यक्ति किसी कारणवश घर को छोडकर वन मे रहता है तो भी वह अगारी है और चारित्रमोह के उदय के अभाव से निर्ग्रन्थ मुनि यदि किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारणवश शून्यागार, जिनमन्दिर आदि मे रहता है तो भी वह अनगार है । अर्थात् विषय-तृष्णाओ से निवृत्त मुनि यदि शून्य घर, मन्दिर आदि मे रहता है तो भी वह अनगारी है ।। २ ।।

सम्पूर्ण व्रतो को धारण न करके एकदेशव्रत पालन करने वाला गृहस्थ अव्रती है, ऐसी आशका नही करनी चाहिए क्योकि नैगम, सग्रह और व्यवहारनय के व्यापार से नगर मे वास करने वाले के समान एकदेशव्रत पालन करने वाला गृहस्थ व्रती है । जैसे—घर के कोठे आदि (नगर के एक देश) मे रहने वाले को भी नगर में रहने वाला (नगरवासी) कहते है, उसी प्रकार सकल व्रतो को धारण न करके एकदेशव्रतो को धारण करने वाला भी नैगम सग्रह और व्यवहार नय की अपेक्षा व्रती है, ऐसा कहा जाता है ।। ३ ।।

अथवा, राजा की तरह व्रती कहलाता है । जैसे बत्तीस हजार देशों का अधिपति चक्रवर्ती राजा कहलाता है वैसे एक देश का स्वामी वा चक्रवर्ती से आधे देश का स्वामी त्रिखण्डाधिपति क्या राजा नही कहलाता ? अपितु एकदेशपति वा आधे देश का पति भी राजा कहलाता ही है । उसी प्रकार अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तर गुणो को धारण करने वाला जैसे पूर्ण व्रती है वैसे अणुव्रतधारक सयतासयत व्रती नही है, फिर भी अणुव्रतधारी भी व्रती कहलाता ही है ।। ४ ।।

---

१. व्रतिन. । २. चक्रवर्ती ।

अत्राह–हिंसादीनामन्यतमस्मात् य. प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी व्रती नैवम्, कि तर्हि ? पञ्चतया अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षित इति, उच्यते–

अणुव्रतोऽगारी ।। २० ।।

अणुशब्दः सूक्ष्मवचनो द्रष्टव्यः । अणूनि व्रतानि अस्य सोऽणुव्रत । कथमणुत्वमिति चेत् ? उच्यते–सर्वसावद्यनिवृत्त्यसभवात् । कुतस्तर्हि असौ निवृत्तः ?

द्वीन्द्रियादिव्यपरोपणान्निवृत्तः । १ । द्वीन्द्रियादीना जङ्गमाना प्राणिना व्यपरोपणात् त्रिधा निवृत्तः अगारीत्याद्यमणुव्रतम् ।

स्नेहद्वेषमोहावेशात् असत्याभिधानवर्जनप्रवणः । २ । स्नेहस्य द्वेषस्य मोहस्य चोद्रेकात् यदसत्याभिधान ततो निवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम् ।

अन्यपीडाकरात्[1] पार्थिवभयाद्युत्पादितनिमित्तादप्यदत्तात् प्रतिनिवृत्तः । ३ । अन्यपीडाकरपार्थिवभयादिवशादवश्य[2] परित्यक्तमपि यददत्त ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम् ।

हिंसादि पाँचो पापो मे से किसी एक पाप का त्याग करने वाले अनगारी है या नही ? नही, अपितु यहाँ पर पाँचो का एकदेश त्याग करने वाला अगारी विवक्षित है, उस अगारी का लक्षण कहते है—

अणुव्रतों का धारक अगारी कहलाता है ।। २० ।।

अणु शब्द सूक्ष्मार्थवाची है, ऐसा जानना चाहिए । अणु है व्रत इसके, वह अणुव्रत कहलाता है । **प्रश्न**—व्रतो मे अणुपना कैसे ? **उत्तर**—सर्व सावद्य योग की निवृत्ति असम्भव होने से अणुव्रत कहलाते है । **प्रश्न**—वह अणुव्रती किससे निवृत्त होता है ? **उत्तर**—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय त्रस प्राणियो के व्यपरोपण से मन, वचन, काय से निवृत्त प्रथम अणुव्रत (अहिंसाणुव्रत) धारी अगारी कहलाता है ।। १ ।।

स्नेह, द्वेष और मोह के आवेश से बोले जाने वाले असत्य का त्यागी होता है । यह ससारी प्राणी स्नेह (राग), द्वेष और मोह के उद्रेक से असत्य बोलने मे प्रवृत्ति करता है, उस असत्य से निवृत्त होने वाला गृहस्थ द्वितीय सत्याणुव्रतधारी होता है ।। २ ।।

अन्य को पीडाकारक और राजभय आदि से परित्यक्त जो अदत्त है, उस अदत्त से निवृत्ति अचौर्याणुव्रत है । परपीड़ाकारी तथा राजा के भय आदि से अवश्य ही परित्यक्त (छोडी हुई)

---

१. –करं पा –मु. मू. ता श्र । २. –दवशप –द मू. । –दवश्यप-ता श्र. ।

उपात्ताऽनुपात्तान्याङ्गनासङ्गाद्विरतरतिः । ४ । उपात्ताया अनुपात्तायाश्च अन्याङ्गनायाः सङ्गाद्विरतरतिः विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम् ।

परिच्छिन्नधनधान्यक्षेत्राद्यवधिर्गृही । ५ । धनधान्यक्षेत्रादीनाम् इच्छावशात् कृतपरिच्छेदः गृहीति पञ्चममणुव्रतम् ।

आह–किं स्थवीयसी विरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य किमेतावानेव विशेषः आहोस्विदस्ति कश्चिदन्योऽपीति ? अत्रोच्यते–

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥ २१ ॥

आकाशप्रदेशश्रेणी दिक् । १ । आकाशस्य प्रदेशाः परमाणुपरिच्छेदात् प्रविभक्ताः श्रेणीकृताः दिग्व्यपदेशमर्हन्ति ।

आदित्यादिगतिविभक्तस्तद्भेदः । २ । आदित्यादिगत्योदयास्तमयपरिच्छिन्नया विभक्तस्तद्भेदः–प्राची दिक् दक्षिणा प्रतीची उत्तरा ऊर्ध्वमधो विदिशश्चेति ।

जो अदत्त वस्तु है उस अदत्त वस्तु से निवृत्त होने वाला श्रावक तृतीय अचौर्याणुव्रत धारक होता है ॥ ३ ॥

उपात्त (दूसरे के द्वारा गृहीत), अनुपात्त (दूसरे के द्वारा अगृहीत कुमारी, कन्या आदि) परस्त्री से विरक्त होना चतुर्थ अणुव्रत है, यह विरताविरत श्रावक कहलाता है ॥ ४ ॥

धन (गाय, भैंस आदि) धान्य, क्षेत्रादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का स्वेच्छा से परिमाण कर लेना पंचम परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है ॥ ५ ॥

यहाँ शिष्य पूछता है कि स्थूल विरति (अणुव्रती) श्रावक के ये पाँच अणुव्रत मात्र ही व्रत हैं कि अन्य भी कोई व्रत है ? अणुव्रती श्रावक के अन्य भी व्रत हैं, सो कहते हैं—

अणुव्रती श्रावक दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग व्रत से भी सम्पन्न (युक्त) होता है ॥ २१ ॥

आकाशप्रदेशश्रेणी दिशा है । परमाणुओं की मर्यादा से विभाजित किये गए जो आकाश के श्रेणीबद्ध प्रदेश हैं, वे ही दिशा के नाम से कहे जाते हैं ॥ १ ॥

सूर्य आदि की गति से विभक्त होने से दिशाओं के भेद होते हैं । आकाश की प्रदेश श्रेणियों

ग्रामादीनाम् अवधृतपरिमाणः प्रदेशो देशः । ३ । ग्रामनगरगृहापवरकादीनामवधृतपरिमाणानां प्रदेशो देश इत्युच्यते ।

उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्डः । ४ । असत्युपकारे पापादानहेतुः अनर्थदण्ड इत्यवध्रियते[1] । विरमण विरतिः निवृत्तिरिति यावत् । दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः दिग्देशानर्थदण्डविरति. । साधनं कृतेति वृत्तिः ।

विरतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । ५ । दिग्विरतिः देशविरतिरनर्थदण्डविरतिरिति ।

विरत्यग्रहणमधिकारादिति चेत्; न; उपसर्जनानभिसंबन्धात् । ६ । स्यादेतत्—"**हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्**" [७।१] इत्यतः विरतिग्रहणमनुवर्तते, ततः पुनरिह विरतिग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उपसर्जनानभिसंबन्धात् । तदनुवर्तमानं विरतिग्रहण दिग्देशानर्थदण्डग्रहणेन उपसर्जनेन नाभिसम्बध्यते, ततः पुनर्विरतिग्रहणं क्रियते ।

मे ही सूर्य की गति, उदय और अस्त से परिछिन्न होने के कारण पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, आदि दिशा और आग्नेय आदि विदिशाओ का व्यवहार होता है ।। २ ।।

ग्रामादि के द्वारा अवधृत परिमाणप्रदेश देश कहलाता है। निश्चित परिमाण/मर्यादा वाले ग्राम, नगर, घर, कोठा आदि के प्रदेशो को भी देश कहते है ।। ३ ।।

बिना उपकार, बिना प्रयोजन पापक्रियाओ मे प्रवृत्ति करना, अनर्थदण्ड है। मन, वचन और काय की पापकार्यो मे निष्प्रयोजन प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है। उस अनर्थदण्ड से निवृत्ति विरमण-विरति-अनर्थदण्डविरति है। दिग्, देश और अनर्थदण्ड से विरति दिग्देशानर्थदण्डविरति कहलाती है, यहाँ भी हेतु अर्थ मे पञ्चमी समास है ।। ४ ।।

विरति शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है—दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्ड-विरति ।। ५ ।।

विरति का अधिकार होने से विरति शब्द को ग्रहण करना व्यर्थ है, ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि उपसर्जनी (गौण) भूत होने से उसका यहाँ सम्बन्ध नही है। **प्रश्न—'हिंसानृतस्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रत'** इस अध्याय के प्रथम सूत्र मे विरति शब्द है, उसका अनुवर्तन हो रहा है अत. पुन. इस सूत्र मे 'विरति' शब्द का प्रयोग करना निरर्थक है। **उत्तर**—यहाँ विरति शब्द का पुनः प्रयोग करना निरर्थक नही है, क्योकि प्रथम सूत्र मे कथित विरति शब्द गौण हो जाने से उसका यहाँ सम्बन्ध नही हो सकता अतः इस सूत्र मे विरति शब्द का पुनः ग्रहण किया गया है ।। ६ ।।

---

१. इति व्यवह्रियते मु. द. व. ।

एकत्वेन गमनं समयः । ७ । समेकीभावे वर्तते, तद्यथा 'संगत घृतं सगतं तैलम्' इत्युक्ते एकीभूतमिति गम्यते । एकत्वेन गमन समय. । प्रतिनियतकायवाङ्मनस्कर्मपर्यायार्थं प्रतिनिवृतत्वादात्मनो द्रव्यार्थेनैकत्वगमनमित्यर्थः । समय एव सामायिकम्, समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम् ।

उपेत्य तस्मिन् वसन्तीन्द्रियाणि इत्युपवासः । ८ । शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः । अशनपानभक्ष्यलेह्यलक्षणचतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थ. । प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची । प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवास. । साधनं कृतेतिवृत्तिः, सज्ञायामिति वा ।

उपेत्य भुज्यते इत्युपभोगः । ९ । उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यते अनुभूयते इत्युपभोगः । अशनपानगन्धमाल्यादिः ।

एकत्वरूप से गमन (लीनता) का नाम समय है । 'सम्' शब्द एकीभाव अर्थ मे है । जैसे 'सगतघृत, सगततैल' ऐसा कहने पर तैल वा घृत एकमेक हुई वस्तु का ज्ञान होता है, अर्थात् इसमे 'सम्' शब्द एकीभाव अर्थ मे है । इसी प्रकार 'एकत्व से गमन' एकमेक हो जाने का नाम समय है, अर्थात् काय, वचन और मन की क्रियाओ से निवृत्त होकर आत्मा का द्रव्यार्थ (आत्मद्रव्य) मे एकत्वरूप से गमन (लीन) होना ही समय है । समय का भाव या समय का प्रयोजन ही सामायिक है, अर्थात् मन, वचन और काय की क्रियाओ का निरोध करके अपने स्वरूप मे स्थिर हो जाना ही सामायिक है ।। ७ ।।

आत्मा के समीप जाकर पाँचो इन्द्रियों का आत्मा मे ठहर जाना उपवास है । उप शब्द का अर्थ समीप या निकट है और 'वस्' धातु ठहरने के अर्थ मे है । पाँचो इन्द्रियो का शब्दादि अपने-अपने विषयो से निवृत्त होकर आत्मा के समीप पहुँच जाना ही उपवास है । अथवा अशन (खाद्य), पान (पेय), भक्ष्य (स्वाद्य) और लेह्य रूप चार प्रकार के आहारो का त्याग करना उपवास है । प्रोषध शब्द पर्व का पर्यायवाचो है । प्रोषध (पर्व) मे उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है । अथवा, सज्ञा मे साधन कृत समास है अर्थात् प्रोषध का अर्थ एकाशन है । उस प्रोषध के साथ किया हुआ उपवास प्रोषधोपवास है । (इस प्रकार साथ अर्थ मे तृतीय तत्पुरुष समास भी करना चाहिए) ।। ८ ।।

उपेत्य, भोगा जाता है वह उपभोग है । उपेत्य = आत्मसात् करके भोगा जाता है, जो एक वार ही भोगे जाते हैं, ऐसे गन्ध, माला, भोजन, पान आदि उपभोग[1] कहलाते हैं ।। ९ ।।

---

१ 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' मे एक वार भोग मे आने वाली वस्तु को भोग और वार-वार भोग मे आने वाली वस्तु को उपभोग कहा है ।

परित्यज्य भुज्यत इति परिभोगः । १० । सकृद् भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यते इति परिभोग इत्युच्यते । आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादिः । उपभोगश्च परिभोगश्च उपभोगपरिभोगौ, उपभोगपरिभोगयोः परिमाणम् उपभोगपरिभोगपरिमाणम् ।

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः । ११ । चारित्रलाभबलोपेतत्वात् सयममविनाशयन् अततीत्यतिथि· । अथवा नास्य तिथिरस्ति इत्यतिथिः, अनियतकालागमन इत्यर्थः ।

संविभजनं संविभागः । १२ । अतिथये संविभागः अतिथिसविभागः । अश्वघासादिवद् वृत्तिः ।

व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेत्; उक्तम् । १३ । व्रतमित्यनुवर्तते, पुनर्व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेत्; उक्तम्; किमुक्तम् ? उपसर्जनानभिसंबन्धादिति ।

व्रतसंपन्नशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । १४ । दिग्विरतिव्रतसंपन्नः देशविरतिव्रतसंपन्न इत्यादि । अथ किमर्था दिङ्निवृत्तिः ?

छोड़ करके पुनः भोगा जाता है, वह परिभोग कहलाता है। जो एकबार भोगे जाकर भी दुबारा भोगे जा सके, वे परिभोग कहलाते है। आच्छादन (वस्त्र), प्रावरण, अलङ्कार, शय्या, घर, यान-वाहन आदि परिभोग है। उपभोग और परिभोग, उपभोगपरिभोग कहलाते है तथा उपभोगपरिभोग का परिमाण उपभोगपरिभोगपरिमाण है। अर्थात् उपभोग और परिभोग सामग्री के भोगने की मर्यादा करना उपभोगपरिभोगपरिमाण है ।। १० ।।

सयम की विराधना न करते हुए जो गमन करता है, वह अतिथि है। चारित्र लाभ रूपी बल से सम्पन्न होने के कारण जो सयम का विनाश न करके भ्रमण करता है, वह अतिथि है वा जिसके आने की तिथि निश्चित नही है, वह अतिथि है (जिसका अनियत काल मे गमन है) ।। ११ ।।

संविभजन को सविभाग कहते है। अतिथि के लिए सविभाग-दान देना, अतिथिसविभाग है। यहाँ अश्वघासादि के समान समास है ।। १२ ।।

पूर्वसूत्र मे व्रत का ग्रहण होने से यहाँ व्रत शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है, ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि इसका वर्णन पूर्व मे किया है। **प्रश्न**—व्रत का यहाँ अनुवर्तन होता है, अर्थात् प्रथम सूत्र मे व्रत शब्द का ग्रहण है उसकी आवृत्ति यहाँ करनी चाहिये, पुन· यहाँ व्रत शब्द का ग्रहण करना निरर्थक है। **उत्तर**—यद्यपि (व्रत) शब्द प्रथम सूत्र मे है, पर गौण होने से उसका यहाँ सम्बन्ध नही किया जा सकता ।। १३ ।।

व्रतसम्पन्न शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है। दिग्विरति व्रतसम्पन्न, देशविरति व्रतसम्पन्न और अनर्थदण्डविरति व्रतसम्पन्न इत्यादि। **प्रश्न**—दिग्विरति किसलिए है? ।। १४ ।।

दुष्परिहरक्षुद्रजन्तुप्रायत्वाद्दिङ्निवृत्तिः । १५ । दुष्परिहरै क्षुद्रजन्तुभिराकुला दिश अतस्तन्निवृत्तिः कर्तव्या ।

तत्परिमाणं च योजनादिभिरभिज्ञानवद्भिः । १६ । तासा परिमाण योजनादिभिः पर्वतादिप्रसिद्धाभिज्ञानैः कर्तव्यम् ।

अगमनेऽपि प्राणिवधाभ्यनुज्ञानमिति चेत्; न; निवृत्त्यर्थत्वात् । १७ । स्यान्मतम्—दिक्परिमाणकरणात् अगमनेऽपि तदन्तरावस्थितप्राणिगणवधाभ्यनुज्ञान प्रसक्तम्, अन्यथा वा दिक्परिमाणमनर्थकमिति, तन्न; किं कारणम् ? निवृत्त्यर्थत्वात् । कात्स्न्र्येन निवृत्ति कर्तुमशक्नुवतः शक्त्या प्राणिवधविरतिं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणयात्रा भवतु वा मा वा भूत् । सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमितदिगवधेर्बहिर्नास्कन्त्स्यामिति प्रणिधानान्न दोषः ।

तृष्णाप्राकाम्यनिरोधतन्त्रत्वाच्च । १८ । प्रवृद्धेच्छस्य आत्मनस्तस्यां दिशि विना

उत्तर—दुष्परिहार क्षुद्र जन्तुओं से भरी हुई दिशाओ से निवृत्ति दिग्विरति है । जिनका परिहार (बचाव) अशक्य है ऐसे क्षुद्र जन्तुओ से दिशाएँ व्याप्त है । अतः उन क्षुद्र जन्तुओ की रक्षा करने के लिए दशो दिशाओ मे गमनागमन की निवृत्ति करनी चाहिए ।। १५ ।।

उसका परिमाण प्रसिद्ध योजनादि के द्वारा करना चाहिए । उन दिशाओ का परिमाण पर्वत आदि प्रसिद्ध चिह्नों से तथा योजनादि की गिनती से कर लेना चाहिए ।। १६ ।।

निवृत्त्यर्थत्व होने से अगमन मे भी प्राणीवध का अभ्यनुज्ञान नही है । प्रश्न—दिशाओ के भाग मे गमन नही करने पर भी स्वीकृत क्षेत्रमर्यादा के कारण प्राणीगण के वध का तो प्रसग आता ही है, अन्यथा दिशाओ का परिमाण करना व्यर्थ है । उत्तर—यद्यपि दिशाओ के भाग मे गमन न करने पर भी स्वीकृत क्षेत्रमर्यादा के कारण पाप-बन्ध होता है फिर भी दिग्विरति का उद्देश्य निवृत्ति प्रधान होने से बाह्य क्षेत्र मे हिंसादि की निवृत्ति करने के कारण कोई दोप नही है । जो सम्पूर्ण रूप से हिंसादि की निवृत्ति करने मे असमर्थ है, शक्ति के अनुसार प्राणीवधविरति के प्रति आदरशील है, उस श्रावक के यहाँ प्राणयात्रा (जीवन-निर्वाह) हो या न हो, अनेक प्रयोजन होने पर भी वह स्वीकृत क्षेत्रमर्यादा को नही लाँघता अतः दिग्विरति मे हिंसा की निवृत्ति होने से वह व्रती है तथा प्रणिधान (दिग्विरति) मे कोई दोष नही है ।। १७ ।।

दिग्विरति में तृष्णा की उत्कृष्टता का निरोध होता है । परिग्रह सम्बन्धी प्रवृद्ध इच्छा वाले किसी व्यक्ति के 'इस दिशा मे विना प्रयत्न के ही मणि रत्नादि का लाभ होता है' इस प्रकार अन्य के द्वारा प्रोत्साहित करने पर भी उस 'दिग्विरतिव्रत' के कारण बाहर जाने की तथा मणि-

यत्नात् मणिरत्नादिलाभोऽस्तीत्येवम् अन्येन प्रोत्साहितस्यापि मणिरत्नादिसम्प्राप्तितृष्णाप्राकाम्यनिरोधः कथं तन्त्रितो भवेदिति दिग्विरतिः श्रेयसी ।

ततो बहिर्महाव्रतप्रसिद्धिः । १९ । अहिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिमिताद्दिग्वधेर्बहिर्मनोवाक्काययोगैः कृतकारितानुमतविकल्पैः हिंसादिसर्वसावद्यनिवृत्तिरिति महाव्रतत्वमवसेयम् ।

तथैव देशनिवृत्तिः । २० । यथा दिङ्निवृत्तिः कृता तथैव देशनिवृत्तिः कार्या । मदीयस्य गृहान्तरस्य तटाकस्य वा मध्यं मुक्त्वा देशान्तर नास्कन्त्स्यामि इति तन्निवृत्तौ पूर्ववत् प्रयोजनं वेदितव्यम् । महाव्रतत्वं च बहिर्व्यवस्थाप्यम् । अयमनयोर्विशेषः– दिग्विरतिः सार्वकालिकी देशविरतिर्यथाशक्ति कालनियमेनेति ।

अनर्थदण्डः पञ्चधा अपध्यान-पापोपदेश-प्रमादाचरित-हिंसाप्रदाना-ऽशुभश्रुतिभेदात् । २१ । अनर्थदण्डः पञ्चधा भिद्यते । कुतः ? अपध्यान-पापोपदेश-प्रमादाचरित-हिंसाप्रदाना-ऽशुभश्रुतिभेदात् । तत्र परेषां जयपराजयवधबन्धाङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम् । क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारम्भादिषु पापसयुतं

रत्नादि की सहज प्राप्ति की तृष्णा का निरोध होता है अतः वह उसमे तन्त्रित कैसे हो सकता है ? अतः दिग्विरति श्रेयस्कर है ।। १८ ।।

दिग्विरति से बहिर्दिशाओ मे महाव्रत की प्रसिद्धि है । अहिंसाणुव्रती परिमित दिशा की अवधि के बाहर मन, वचन और काय योग और कृत, कारित तथा अनुमोदना आदि सर्व विकल्पो के द्वारा हिसादि सर्व सावद्यो से निवृत्त (विरक्त) हो जाता है, अत. दिग्विरतिव्रतधारी के दिग्विरति बाहर महाव्रतत्व जानना चाहिए ।। १९ ।।

उसी प्रकार देशनिवृत्ति है । जिस प्रकार दिग्विरति है उसी प्रकार देशनिवृत्ति करना चाहिए । 'मैं मेरे इस घर और तालाव के मध्य भाग को छोडकर देशान्तर मे नही जाऊँगा' इस प्रकार देशविरति की निवृत्ति मे दिग्विरति के समान प्रयोजन जानना चाहिए । मर्यादा के बाहर क्षेत्र मे देशव्रती के भी महाव्रतत्व होता है, ऐसा जानना चाहिए । दिग्विरति यावज्जीवन-सर्वकाल के लिए होती है और देशविरतिव्रत यथाशक्ति नियतकाल के लिए होना है, यही दिग्विरतिव्रत और देशविरतिव्रत मे विशेपता है ।। २० ।।

अनध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति के भेद से अनर्थदण्ड पांच प्रकार का है । 'दूसरे की जय-पराजय, वध, वन्ध, अङ्गच्छेद, धन-हरण आदि कैसे हो' इत्यादि मन के द्वारा चिन्तन करना **अपध्यान** है । क्लेशवाणिज्य, तिर्यग्वाणिज्य, वधकोपदेश और आरम्भोपदेश आदि **पापोपदेश** हैं । 'जैसे इस देश में दासी-दास सुलभ हैं, उनको अमुक देश मे ले जाकर विक्रय

वचनं पापोपदेशः । तद्यथा अस्मिन् देशे दासा दास्यश्च सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या । गोमहिष्यादीन् अमुत्र गृहीत्वा अन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या । वागुरिकसौकरिक-शाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुस्मिन् देशे सन्तीति वचन वधकोपदेशः । आरम्भकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्यः इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः । इत्येव प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेश ।

प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरित-मिति कथ्यते ।

विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदान हिंसाप्रदानमित्युच्यते ।

हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते । एत-स्मादनर्थदण्डाद्विरतिः कार्या ।

मध्येऽनर्थदण्डग्रहणं पूर्वोत्तरातिरेकानर्थक्यज्ञापनार्थम् । २२ । पूर्वयोः दिग्देशयो-

---

करने पर प्रचुर अर्थ-लाभ होता है' इत्यादि पापसयुत वचन बोलना **क्लेशवाणिज्य** पापोपदेश है । 'गाय-भैंस आदि पशुओ को इस देश से ले जाकर अन्य देश मे बेचने पर बहुत धन लाभ होगा' इत्यादि पशुओ के व्यापार का मार्ग बताना **तिर्यग्वाणिज्य** है । वागुरिक (शिकारी), सौकरिक (वधिक), शाकुनिक (पक्षियो को पकड़ने वाले) आदि व्यक्तियो को 'हिरण, सुअर, पक्षी आदि प्राणी इस देश में क्षेत्र-पर्वत आदि पर बहुत रहते है' इत्यादि वचनो के द्वारा शिकार के योग्य प्राणियो का स्थान आदि बताना **वधकोपदेश** है । आरम्भ कार्य करने वाले किसान आदि को भूमि, नीर, अग्नि, पवन और वनस्पति आदि के आरम्भ, छेदन-भेदन आदि के उपाय बताना **आरम्भोपदेश** है । इस प्रकार और भी पापसयुक्त वचन या पापवर्धक वचन है, वे सब पापोपदेश है ।

प्रयोजन बिना वृक्षादि का छेदना, भूमि को कूटना, पानी सीचना आदि सावद्य कर्म **प्रमादचर्या** है ।

विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, कशा (कोड़ा) और दण्ड (डण्डा, लाठी) आदि हिंसा के उपकरणो का देना **हिंसा-प्रदान** दोष है ।

हिंसा, राग, काम आदि की वृद्धि करने वाली दुष्ट कथाओ का सुनना और दूसरो को सिखाना आदि व्यापार **अशुभ-श्रुति** है । इन अनर्थदण्डो से विरत होना चाहिए ।। २१ ।।

मध्य मे अनर्थदण्ड का ग्रहण पूर्वोत्तर अतिरेक के आनर्थक्य के ज्ञापनार्थ है । पूर्व मे कहे गये दिग्व्रत और देशव्रत तथा आगे कहे जाने वाले उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत मे अवधृत मर्यादा

रुत्तरयोश्चोपभोगयोरवधृतपरिमाणयोरनर्थकं चङ्क्रमणादि विषयोपसेवनं च निष्प्रयोजनं न कर्तव्यमित्यतिरेकनिवृत्तिज्ञापनार्थं मध्येऽनर्थदण्डवचनं क्रियते ।

सामायिके नियतदेशकाले महाव्रतत्वं पूर्ववत् । २३ । इयति देशे एतावति काले इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्वेदितव्यम् अणुस्थूलकृतहिंसादिनिवृत्तेः ।

संयमप्रसङ्ग इति चेत्; न; तद्घातिकर्मोदयात् । २४ । स्यान्मतम्–सामायिके सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणे स्थितस्य तस्य संयमः प्राप्नोतीति; तन्न, किं कारणम् ? तद्घातिकर्मोदयात् । तस्य हि सयमघातिकर्मोदयोऽस्तीति न सयतत्वम् ।

महाव्रतत्वाभाव इति चेत्; न; उपचारात् राजकुले सर्वगतचैत्रवत् । २५ । यद्यभ्यन्तरसंयमघातिकर्मोदयोऽस्ति तदुदयेनावश्यमनिवृत्तपरिणामेन भवितव्यं ततश्च महाव्रतत्वमस्य नोपपद्यत इति मतम्; तन्न; किं कारणम् ? उपचारात्, राजकुले सर्वगतचैत्रवत् । यथा पौरजनपदकोष्ठागारादिषु बाह्येषु व्यापारेषु सर्वेषु व्यापृतः

मे भी निष्प्रयोजन गमन आदि तथा मर्यादित विषयो का भी सेवन आदि नही करना चाहिए । इस प्रकार अतिरेक निवृत्ति की सूचना देने के लिए मध्य मे अनर्थदण्डवचन को ग्रहण किया है ।। २२ ।।

नियत देश, काल मे सामायिक व्रत मे भी पूर्ववत् महाव्रत है । इतने क्षेत्र मे, इतने काल तक अवधारित सामायिक मे अवस्थित के महाव्रत होता है । ऐसा पूर्ववत् जानना चाहिए । सामायिक मे अणु और स्थूल हिंसा आदि से निवृत्त होने के कारण महाव्रतपना समझना चाहिए ।। २३ ।।

सयमघाती कर्म का उदय होने से सामायिक व्रत मे सयम का प्रसग नही आता है । **प्रश्न**—सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षण सामायिक मे स्थित व्यक्ति के सयम प्राप्त होता है अत. उसे सयत क्यो न माना जाए ? **उत्तर**—यद्यपि सामायिक मे सर्वसावद्यनिवृत्ति हो जाती है तथापि सयमघाती चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण इसे सयत नही कह सकते ।। २४ ।।

उपचार से राजकुल मे सर्वगत चैत्र के समान होने से महाव्रतत्व का अभाव है । **शंका**—यदि अभ्यन्तर सयमघाती कर्म का उदय है तो उसके उदय से अवश्य ही अनिवृत्ति परिणाम होने चाहिए और जब अनिवृत्ति परिणाम है तब इसके महाव्रतपना भी नही हो सकता । **उत्तर**—इसे महाव्रतो उपचार से कहा है । जैसे—पुरवासी भण्डार आदि सर्व बाह्य व्यापारो मे तत्पर है (सर्व बाह्य स्थानो मे आता-जाता हो) और स्नान, अनुलेपन, शयनादि अभ्यन्तर अन्त पुर के किसी भी व्यापार को नही करता हुआ भी (यानी अन्त पुर मे उसका प्रवेश निषिद्ध होने पर भी) चैत्र राजकुल मे सर्वत्र है (सर्वगत है), ऐसा उपचार से कहा जाता है; उसी प्रकार हिंसादि सर्व बाह्य

स्नानानुलेपनशयनान्त.पुरादिव्यापारेषु अभ्यन्तरेषु केषुचित् व्यापृति[1]मननुगच्छन्नपि राजकुले सर्वगतश्चैत्र इत्युपचर्यते, तथा हिंसादिषु बाह्येषु सर्वेषु अनासक्तधिपरण: अभ्यन्तरसयमघातिकर्मोदयापादितमन्दाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रत इत्युपचर्यते। एव च कृत्वा अभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिण: [2]एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालना देशसंयतसयतभावस्यापि उपरिग्रैवेयकविमानवासितोपपन्ना भवति ।

स्नानगन्धमाल्यादिविरहितोऽवकाशे शुचावुपवसेत् । २६ । स्वशरीरसस्कार-कारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिभिर्विरहित शुचौ अवकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनावहितान्त.करण. सन्नुपवसेत् निरा-रम्भ. श्रावक ।

भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् । २७ । भोगपरिसख्यानं पञ्चविध प्रत्येतव्यम् । कुत ? त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्य-विषयभेदात् । तत्र मधु मास सदा परिहर्तव्य त्रसघात प्रति निवृत्तचेतसा । मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसमोहकरमिति तद्वर्जन प्रमादविरहायानुष्ठेयम् ।

व्यापारो (क्रियाओ) मे अनासक्त बुद्धिवाला अभ्यन्तर सयम के घातक कर्मोदय से अपादित मन्द अविरति परिणाम होने पर भी (सकल विरति के परिणाम न होने पर भी) सामायिकव्रती, सामायिककाल मे उपचार से महाव्रती कहा जाता है। इसीलिए एकादशाङ्गपाठी, निर्ग्रन्थलिंगधारी अभव्य के भी महाव्रत पालन करने के कारण देशसयतभाव और सयतभाव नही होने पर भी उपरिम ग्रैवेयक तक उत्पत्ति बन जाती है ।। २५ ।।

(प्रोषधोपवास करने वाला) श्रावक, स्नान, गन्ध, माला आदि से रहित होकर शुचि (पवित्र) स्थान मे बैठे। निरारम्भी प्रोषधोपवास करने वाला श्रावक स्वशरीर के सस्कार के कारणभूत स्नान, गन्ध, माला, अलकार आदि से रहित होकर पवित्र स्थान मे, साधु के निवास-स्थान मे, चैत्यालय मे वा अपने प्रोषधोपवास के घर मे धर्मकथा-श्रवण-श्रावण, चिन्तन और ध्यान आदि मे अपना उपयोग लगाते हुए स्थित रहे ।। २६ ।।

त्रसघात, बहुस्थावरघात, प्रमादकारक, अनिष्ट (शरीर को हानिकारक) और अनुपसेव्य के भेद से भोगपरिसख्यान (भोगोपभोगपरिमाणव्रत) पाँच प्रकार का है। त्रसघात की निवृत्ति के लिए मधु-मास को हमेशा के लिए छोड देना चाहिए। प्रमाद का नाश करने के लिए हिताहित, कार्याकार्य के विवेक को नष्ट करने वालो और मोह को करने वाली मदिरा का त्याग अवश्य करना चाहिए। केतकी के पुष्प, अर्जुन के पुष्प आदि वहुत जन्तुओ के उत्पत्ति स्थान है तथा अदरख,

---

१ –तिमनुग–अ. । २ –गव्यापिनो मु, व, द ।

केतक्यर्जु नपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि शृङ्गवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि, एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान् । यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम् । न हि असत्यभिसन्धिनियमे व्रतमिति । इष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्याना परित्यागः कार्यः यावज्जीवम् । अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूप निवर्तनं कार्यम् ।

अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् । २८ । अतिथिसंविभागश्चतुर्धा भिद्यते । कुत. ? भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् । मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया, धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपबृंहणानि दातव्यानि, [1]औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम् प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति ।

चशब्दो वक्ष्यमाणगृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः । कः पुनरसौ ?

मूली, गीली हल्दी, नोम के फूल आदि अनन्तकाय कहे जाने योग्य है (अर्थात् इनमे अनन्त साधारण निगोदिया जीव रहते है ।) इनके सेवन मे अल्प फल और **बहुविघात** होता है अत. इनका त्याग ही कल्याणकारी है । यान, वाहन, गाडी, रथ, घोड़ा, अलकार आदि मे 'इतने मुझे इष्ट हैं, रखना हैं, अन्य अनिष्ट है' इस प्रकार विचार कर **अनिष्ट** से निवृत्ति करनी चाहिए, क्योकि **जब तक अभिसन्धि (अभिप्राय) पूर्वक वस्तु का त्याग नहीं किया जाता है तब तक वह व्रत नहीं माना जा सकता ।** जो स्व को इष्ट है परन्तु शिष्ट जनो के लिये उपसेव्य नही है, धारण करने योग्य नही है ऐसे विचित्र प्रकार के वस्त्र, विकृत वेष, आभरण आदि **अनुपसेव्य** पदार्थो का यावज्जीवन परित्याग करना चाहिए । यदि यावज्जीवन त्याग करने की शक्ति नही हो तो अमुक समय की मर्यादा से अमुक वस्तुओ का परिमाण करके निवृत्ति करनी चाहिए ।। २७ ।।

भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय (वसतिका) के भेद से अतिथि-सविभाग व्रत चार प्रकार का है । मोक्षार्थी, सयमपरायण, शुद्धमति अतिथि के लिए शुद्ध मन से निर्दोष आहार देना चाहिए । उस मुनि के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को बढाने वाले पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि धर्मोपकरण भी देने चाहिए । परम श्रद्धा और भक्ति से उन यतियो के लिए योग्य औषधि और वसतिका (रहने का स्थान) भी देना चाहिए ।। २८ ।।

'च' शब्द आगे कहे जाने वाले, गृहस्थ धर्म के समुच्चय की अभिव्यक्ति के लिए हैं । 'च' शब्द से संगृहीत गृहस्थ धर्म क्या है ? 'च' शब्द से गृहस्थ धर्मो मे सगृहीत होने वाली सल्लेखना है, उसका वर्णन—

---

१. औषध प्रायोग्य —मु. द ब. ।

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम् । १ । स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् सक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः ।

अन्तग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम् । २ । मरण द्विविधम्-नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति । तत्र नित्यमरण समये समये स्वायुरादीना निवृत्तिः । तद्भवमरणं भवान्तर-प्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम् । तत्रान्तग्रहणं क्रियते तद्भवमरणपरिग्रहार्थम् । मरणमन्तो मरणान्त', मरणान्त· प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी ।

सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना । ३ । लिखेर्ण्यन्तस्य लेखना तनूकरणमिति यावत् । कायस्य बाह्यस्य अभ्यन्तराणा च कषायाणा तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यक् लेखना सल्लेखना, ता मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता सेविता गृहीत्यभिसम्बन्ध. ।

सेविताग्रहणं विस्पष्टार्थमिति चेत्; न; अर्थविशेषोपपत्तेः । ४ । स्यान्मतम्—इह

मरण के समय होने वाली सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक धारण करना चाहिये ॥ २२ ॥

स्व आयु, इन्द्रिय और बल का क्षय (नाश) होना मरण है। स्वकीय परिणामो से गृहीत आयु, इन्द्रिय, बलादि प्राणो का कारणवश क्षय होने को बुद्धिमान् मरण मानते (कहते) है ॥ १ ॥

अन्त का ग्रहण तद्भवमरण की प्रतिपत्ति के लिये है। मरण दो प्रकार का है—नित्यमरण और तद्भवमरण। प्रतिक्षण स्वकीय आयु की जो निवृत्ति होती है, नाश होता है अर्थात् समय-समय मे आयु के निषेक जो उदय मे आकर नष्ट होते है वह नित्यमरण है। भवान्तर-प्राप्ति के अनन्तर उपश्लिष्ट पूर्व पर्याय का नाश होना तद्भवमरण कहलाता है। इस सूत्र मे अन्त शब्द का ग्रहण तद्भवमरण को ग्रहण करने के लिये है। 'मरण अन्तः मरणान्त' और मरणान्त जिसका प्रयोजन है, वह मारणान्तिक है ॥ २ ॥

सल्लेखना—अर्थात् भली प्रकार काय और कषाय को कृश करना। लिख् धातु से 'णि' प्रत्यय करने से 'लेखना' शब्द बनता है, उसका अर्थ तनूकरण यानी कृश करना है। बाह्य शरीर और आभ्यन्तर कषायो के कारणो को निवृत्तिपूर्वक क्रमशः भली प्रकार क्षीण करना सल्लेखना है। उस मारणान्तिक सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करना, धारण करना। इसको सेवन करने वाला 'गृही' होता है। अतः यहाँ 'गृही' शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए ॥ ३ ॥

इस सूत्र मे स्पष्ट अर्थ के लिये सेविता शब्द ग्रहण करना चाहिये, जोषिता नही। ऐसा नही कहना चाहिये, क्योंकि यहाँ पर जोषिता-शब्द विशेष अर्थ की उपपत्ति के लिए है। **प्रश्न**—इस सूत्र मे 'सेविता' यह शब्द स्पष्ट अर्थ के लिए कहना चाहिए 'जोषिता' नही ? **उत्तर**—जोषिता

सेवितेत्येव विस्पष्टार्थं वक्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थविशेषोपपत्तेः। न केवलमिह सेवनं गृह्यते। किं तर्हि ? प्रीत्यर्थोऽपि, जुषि प्रीतिसेवनयोरिति। यस्मात् असत्या प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते, सत्या हि प्रीतौ स्वयमेव करोति।

सल्लेखनाया जोषितेति प्राप्नोतीति चेत्; न; तृनः प्रयोगात्।५। स्यान्मतम्–यथा कटस्य कर्तेति विभक्तिनिर्देशः तथा सल्लेखनाया जोषितेति प्राप्नोतीति; तन्न, किं कारणम् ? तृनः प्रयोगात्।

आत्मवधकत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; अप्रमत्तत्वात्।६। स्यान्मतम्–सल्लेखनामास्थितस्य स्वाभिसन्धिपूर्वकायुरादिनिवृत्तेरात्मवधः प्राप्नोतीति ? तन्न, किं कारणम् ? अप्रमत्तत्वात्। प्रमत्तयोगाद्धि प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युक्तम्। न चास्य प्रमादयोगोऽस्ति। कुतः ?

रागाद्यभावात्।७। रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्यु[1]पकरणप्रयोगवशात्

अर्थविशेष (प्रीतिपूर्वक सेवन करना) के लिए प्रयुक्त है। यहाँ पर केवल सेवन करना ही अर्थ अभीष्ट नही है। **प्रश्न**—जोषिता का ग्रहण किसलिए है ? **उत्तर**—प्रीति अर्थ के लिए जोषिता शब्द है। 'जुषि' धातु प्रीतिपूर्वक सेवन करने के अर्थ मे है। क्योकि प्रीति नही होने पर बलात् सल्लेखना नही कराई जा सकती। समाधि के प्रति अतरग मे प्रीति होने पर सल्लेखना की जाती है। अर्थात् यद्यपि सेविता शब्द से ही कार्य सिद्ध हो सकता था तथापि 'जोषिता' शब्द से यहाँ प्रीतिपूर्वक सेवन करना अर्थ विवक्षित है, अतरग प्रीति के बिना जबरदस्ती सल्लेखना नही कराई जाती, जब आत्मा सल्लेखना करने मे अपना परमहित समझता है तभी स्वय प्रेमपूर्वक उसे धारण करता है ॥ ८ ॥

'सल्लेखना' मे षष्ठी का प्रयोग करना चाहिये, ऐसा नही कहना, क्योकि इसमे 'तृन्' प्रत्यय का प्रयोग है। **प्रश्न**—जैसे चटाई का कर्त्ता इसमे षष्ठी का प्रयोग है, उसी प्रकार सल्लेखना मे भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए ? **उत्तर**—यहाँ 'जोषिता' शब्द मे 'तृन्' प्रत्यय हुआ है जहाँ तृन् प्रत्यय का प्रयोग होता है वहाँ कर्म मे द्वितीया विभक्ति ही होती है। अत 'सल्लेखनाया' ऐसा षष्ठी का प्रयोग नही है ॥ ५ ॥

अप्रमत्तपना होने से आत्मवध का यहाँ प्रसग नही है। **प्रश्न**—सल्लेखना मे अभिप्रायपूर्वक आयु और शरीर आदि का घात किया जाता है अतः इस समाधि मे आत्मवध का प्रसग आयेगा। **उत्तर**—अप्रमत्तदशा होने से आत्मवध का प्रसग नही है। अर्थात् प्रमाद के योग से प्राण-व्यपरोपण को हिसा कहते है। परन्तु सल्लेखना मरण को आत्मवध नही कह सकते। **प्रश्न**—सल्लेखना मे प्रमाद क्यो नही है ?

उत्तर—रागादि का अभाव होने से प्रमाद नही है। क्योकि रागद्वेष और मोह आदि से

---

१ –द्य त्तरकारणप्र –मु., द, ब.।

आत्मान घ्नतः स्वघातो भवति। न तथा सल्लेखना प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषसंस्पर्श। उक्तञ्च–

रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥ १ ॥

किञ्च,

मरणस्याऽनिष्टत्वात् । ८ । यथा वणिजः विविधपण्यदानादानसचयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टः तद्विनाशकारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति दुष्परिहरे च पण्याविनाशो यथा भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपुण्यसचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति, तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाऽविरोधेन परिहरति, दुष्परिहरे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्? किञ्च,

उभयानभिसन्धानात् । ९ । यथा तपस्थ शीतोष्णाजसुखदुःखानभिसन्धानात्

कलुषित व्यक्ति जब विष, शस्त्र आदि से अभिप्रायपूर्वक अपना घात करता है तब आत्मवध का दोष लगता है, परन्तु सल्लेखनाधारी के रागद्वेषादि कलुषताएं नही हैं अत. उसके आत्मवध के दोष का स्पर्श नही है। अर्थात् समाधिमरण करने वाला आत्मवध के दोष का भागी नही है। कहा भी है—"रागादि की उत्पत्ति नही होने को अहिंसा और रागद्वेष की उत्पत्ति को जिनेन्द्र भगवान ने हिंसा कहा है।" ॥ ७ ॥

अथवा, मरण तो अनिष्ट होता है। जैसे अनेक प्रकार के पण्य (सोना, चादी, वस्त्र आदि वस्तुओ) के लेन-देन, सचय आदि के करने मे तत्पर किसी भी दुकानदार को उन उपयोगी वस्तुओ के आधारभूत घर का विनाश इष्ट नही है और घर के विनाश के कारणो के उपस्थित होने पर यथाशक्ति वह उन कारणो को दूर करता है, यदि उनका परिहार करना दु शक्य होता है तो वह उस घर मे रखो सोना, चादो आदि पण्य-वस्तुओ की रक्षा करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार व्रत, शोल आदि के द्वारा पुण्य के सचय मे प्रवर्त्तमान गृहस्थ भी व्रत आदि के आश्रयभूत शरीर का कभी विनाश नही चाहता, शरीर के नाश के कारणो के उपस्थित होने पर अपने गुणो के अविरोध से यथाशक्ति सयम के अनुसार उनको दूर भी करता है, फिर भी यदि निष्प्रतिकार अवस्था हो जाती है तो अपने सयम का नाश न हो, सयम आदि की रक्षा हो जाय, इसके लिए पूरा प्रयत्न करता है, अतः व्रतादि की रक्षा के लिए किया गया प्रयत्न आत्मवध कैसे हो सकता है? ॥ ८ ॥

सल्लेखनाधारी के जीवन और मरण दोनो मे ही आसक्ति नही है। जिस प्रकार तपस्वी शीतउष्णजन्य सुख-दुःख को नही चाहता और यदि विना चाहे सुख-दु.ख आ जाते हैं तो वह रागद्वेष

अनभिसंहितसुखदुःखसबन्धेऽपि सुखदुःखकृतरागद्वेषाभावात् न सुखदुःखकृतकर्मबन्धभाक् तथा अर्हत्प्रणीतां सल्लेखना कुर्वन् जीवितमरणानभिसन्धानात् अनभिसंहितात्मीयमरण[१]-सबन्धेऽपि रागद्वेषाभावात् नात्मवधक.। किञ्च,

स्वसमयविरोधात् ।१०। यथा क्षणिकवादिनः 'क्षणिका. सर्वे भावा.' इति ब्रुवत. स्वसमयविरोधस्तथा 'यदा सत्त्वश्च भवति सत्त्वसज्ञा च भवति वधकश्च भवति वधचित्तं चास्योत्पन्न भवति इत्येता चतुर्विधा चेतना प्राप्य हिसा जायते' इति ब्रुवतोऽसत्यात्मवधकत्वचित्ते सल्लेखना कुर्वत आत्मवधकत्व जायत इत्याचक्षाणस्यासचेतित-कर्मबन्धाभावः समयविरोधः। अथ स्वसमयविरोधो माभूदिति चतुर्विधयैव चेतनया कर्म बध्यते इतीष्टम्; ननु सल्लेखनायाम् आत्मवधकचित्ताभावात् आत्माऽहिंसकत्व सिद्धम्। अथवा, यथा सदा मौनव्रतिकस्य मौनव्रतिकोऽस्मीति वचनं स्ववचसा विरुध्यते, तथा सर्वानात्मकवादिनः आत्माभावादात्मनो वधकत्वमाचक्षाणस्य सर्वानात्मकाऽऽर्य[२] सत्यवचनविरोधः। अथ स्वसमयविरोधो मावक्लृपदिति[३] सर्वानात्मकमिष्टम्,

---

का अभाव होने से सुख-दुःख कृत कर्मों का बन्धक भी नहीं होता, उसी प्रकार अर्हत्प्रणीत सल्लेखना को करने वाला व्रती जीवन और मरण दोनों के प्रति अनासक्त रहता है, परन्तु यदि मरण के कारण उपस्थित हो जाते है तो रागद्वेष आदि न होने से उसे आत्मवध का दोष नही लगता है ॥ ९ ॥ अथवा—

स्व समय का विरोध आता है। जैसे—'सभी पदार्थ क्षणिक हैं' इस प्रकार कहने वाले क्षणिकवादी के स्व समय विरोध है, उसी प्रकार जब सत्त्व (जीव), सत्त्व सज्ञा (जीव का ज्ञान), वधक (हिसक) और वधचित्त (हिंसा) इन चार चेतनाओ के रहने पर हिसा होती है, ऐसा कहने वाले (इस मतवादी) के जब 'आत्मवधक' चित्त ही नही है तब सल्लेखना करने वाले के आत्मघात होता है, ऐसा कहने वाले के असचेतित कर्मबन्ध का अभाव है और उसमे भी आत्मघात का दोष देने पर स्व समय (स्व वचन) विरोध आता है। अर्थात् बिना अभिप्राय के ही कर्मबन्ध हो गया (बिना चेतना कर्म का बध हो गया) जो कि स्पष्टत सिद्धान्त के विरुद्ध है। यदि सिद्धान्त-विरोध के भय से चार प्रकार की चेतनाओ के द्वारा ही हिंसा होती है और चेतना के रहने पर कर्म बधते है ऐसा स्वीकार किया जाता है तो सल्लेखना मे आत्मवधक चित्त न होने से आत्मा के अहिसकत्व सिद्ध होता है। अथवा, जिस प्रकार सदा मौन रखने वाले मौनी के "मैं मौनी हूँ, मौनव्रतधारी हूँ" ऐसा वचन अपने वचनो से विरुद्ध हो जाता है; उसी प्रकार निरात्मवादी के जब आत्मा का अभाव ही है तब हे आर्य (आत्मन्)! 'आत्मवधकत्व' का दोष देने मे भी स्व वचन विरोध है। अथवा, स्व समय विरोध नही हो इसलिए सबको अनात्मक मानते है तो आत्मा के अभाव मे

---

१. –सम्बन्धे रा–मु., द, व.। २ –सत्त्वव –मु व.। ३ सर्वात्मक –मु., द, व.।

नन्वात्माभावात् आत्मवधाभावः। योऽपि[1] ब्रूयात् निःक्रिय आत्मेति, तस्य पुनः साधुजनसेविता सल्लेखनामातिष्ठमानस्यात्मवधकत्व भवतीत्यभिलपतः[2] आत्मनो निष्क्रियत्वप्रतिज्ञाहानिः निष्क्रियत्वाभ्युपगमे चात्मवधप्राप्त्युपालम्भनाभावः।

आह—कदा अनेन सल्लेखनायां प्रयतितव्यमिति ? अत्रोच्यते—

जरारोगेन्द्रियहानिभिरावश्यकपरिक्षये । ११ । जरसा शरीरदूषिण्या यदा प्रहतजङ्घाबलवीर्यो भवति रोगैश्च वातादिविकारजनितैरभिद्रुत प्रक्षीणेन्द्रियबलश्च भवति तदा आवश्यकपरिक्षयमपेक्षमाण स्मृतिमान् प्रासुकाशनपानकोपवाससेवनादिना क्रमेण प्रक्षीयमाणशरीरबल आमरणाद्भावनानुप्रेक्षासमाधिबहुल. शास्त्रोक्तेन विधिना सल्लेखना जोषिता उत्तमार्थस्याराधको भवति।

सल्लेखना मे आत्मवघ का भी अभाव है। अर्थात् आत्मा के अभाव में आत्मवघ की चर्चा अप्रासगिक हो जाती है। जो वादी आत्मा को निष्क्रिय कहते है यदि उनके पुन. साधुजन सेवित सल्लेखना करने वाले के लिये 'आत्मवध' का दूषण है तो ऐसा कहने वाले के आत्मा को निष्क्रिय मानने की प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है और यदि वे निष्क्रिय पक्ष पर दृढ रहते है तो जब आत्मवघ की प्रयोजक सल्लेखना नाम क्रिया हो नही हो सकती, तब आत्मवध का दोष कैसे दिया जा सकता है ? अर्थात् सल्लेखना में आत्मवघ का उपालम्भ नही दे सकते ।। १० ।।

प्रश्न—सल्लेखना का प्रयत्न कब करना चाहिए ?

उत्तर—जरा, रोग और इन्द्रियो की विकलता के कारण अपनी आवश्यक क्रियाओ की हानि होने पर सल्लेखना धारण करनी चाहिए। अर्थात् जिस समय व्यक्ति शरीर को जीर्ण-शीर्ण करने वालो जरा से क्षोण-बलवीर्य हो जाता है और वातादि विकारजन्य रोगो के व्याप्त होने से उसको इन्द्रियो की शक्ति क्षीण हो जाती है तथा वह आवश्यक क्रियाओ के परिपालन मे असमर्थ हो जाता है, इन्द्रिय बल के नष्ट हो जाने से मृतक के समान हो जाता है, उस समय बुद्धिमान् सावधान व्रती मरण के अनिवार्य कारणो के उपस्थित होने पर प्रासुक भोजन-पान और उपवास आदि के द्वारा क्रमश शरीर को कृश करता है और मरणपर्यन्त अनुप्रेक्षाओ का चितन करता हुआ शास्त्रोक्त विधि से सल्लेखना धारण करता है, वह उत्तमार्थ का आराधक होता है। अर्थात् जब शरोर आर इन्द्रियाँ व्रतो को पालन करने मे असमर्थ हो जाती हैं तब ज्ञानी व्रती सल्लेखना धारण करता है ।। ११ ।।

---

१ नैयायिक —सम्पा.। २ —लषत —मु।

एकयोगकरणं [1]ज्याय इति चेत्; न; कदाचित् कस्यचित्तां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनार्थत्वात् ।१२। स्यादेतत्–पूर्वसूत्रेण सह एक एव योगः कर्तव्यः लघ्वर्थः इति; तन्न; किं कारणम् ? कदाचित् कस्यचित् तां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनार्थत्वात् । सप्ततयशीलवतः कदाचित् कस्यचिदेव गृहिणः सल्लेखनाभिमुख्य न सर्वस्येति । किञ्च,

वेश्मापरित्यागिनस्तदुपदेशात् ।१३। वेश्मापरित्यागिनः दिग्विरत्यादिसप्ततयशीलोपदेशः । वेश्मपरित्यागेन तु श्रावकत्वेनैव गृहिणः सल्लेखनेत्येवमर्थो भेदेनोपदेशः ।

अविशेषविधिप्रतिपादनार्थत्वाद्वा ।१४। अय सल्लेखनाविधिः न श्रावकस्यैव दिग्विरत्यादिशीलवतः । किं तर्हि ? संयतस्यापीति अविशेषज्ञापनार्थत्वाद्वा पृथगुपदेश· कृतः ।

अत्राह–उक्त भवता निःशल्यो व्रतीति, तत्र चोक्तानि शल्यानि मायानिदान-

---

कदाचित् किसी के उस समाधि के प्रति अभिमुखता का ज्ञान कराने के लिए (पूर्व सूत्र और इस सूत्र को) एक सूत्र करना श्रेष्ठ नही जाना । **प्रश्न**—लघु सूत्र के लिए पूर्व सूत्र के साथ एक योग करना ही उचित है । **उत्तर**—पूर्व सूत्र के साथ एक योग करना उपयुक्त नही है क्योकि किसी काल मे कभी कोई सप्त शील का पालक व्रती सल्लेखना के सम्मुख होता है, सभी गृहस्थ सल्लेखना के सम्मुख नही होते है, यह दिग्विरति के समान सबके लिए अनिवार्य नही है अतः पूर्व सूत्र के साथ इसका एक योग (दोनो सूत्रो का एक सूत्र) नही किया है ।। १२ ।।

वेश्म (घर) का त्याग नही करने वाले के लिये उनका उपदेश है । घर का त्याग नही करने वाले के लिए दिग्विरति आदि सप्त प्रकार के शील का उपदेश है और घर का त्याग कर देने पर उस गृहस्थ के श्रावकव्रत रूप से ही सल्लेखना होती है, अत इस विशेष अर्थ को प्रगट करने के लिये भेद रूप से उपदेश दिया है । अर्थात् इस भेद को बताने के लिये सल्लेखना का सूत्र पृथक् किया है ।। १३ ।। अथवा—

अवशेष विधि का प्रतिपादन करने के लिये पृथक् सूत्र का उल्लेख किया हे । "यह सल्लेखनाविधि केवल दिग्विरत आदि सात शीलव्रतो के धारण करने वाले श्रावक के ही नहीं होती है अपितु महाव्रती साधु के भी सल्लेखना होती है" । इस सामान्य नियम की सूचना भी पृथक् सूत्र बनाने से मिल जाती है ।। १४ ।।

शिष्य पूछता है कि आपने नि शल्य को व्रती कहा और मिथ्यादर्शन, माया एवं निदान को

---

१. न्याय्यमिति मु व. ।

मिथ्यादर्शनसंज्ञकानि। तत. सम्यग्दृष्टिना व्रतिना भवितव्यम्। तत्सम्यग्दर्शनं किं निरपवादमुत सापवादमिति? उच्यते–कस्यचिन्मोहनीयावस्थाविशेषात् कदाचिदिमे भवन्त्यपवादा –

शङ्काकांङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

नि शङ्कितत्वादयो व्याख्याता. दर्शनविशुद्धिरित्यत्र, तत्प्रतिपक्षभूता शङ्कादयो वेदितव्याः। अथ प्रशसासस्तवयोः को विशेष ?

वाङ्मानसविषयभेदात् प्रशंसासंस्तवभेदः। १। मनसा मिथ्यादृष्टिज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशसा। भूताऽभूतगुणोद्भावनवचन संस्तव इत्ययमनयोर्भेद.।

प्रकरणादगार्यवधारणमिति चेत्; न; सम्यग्दृष्टिग्रहणस्य उभयार्थत्वात्। २। स्यान्मतम्–अगारिव्रतशीलप्रकरणमिदम्, अत. तस्यैव सम्यग्दृष्टे· शङ्कादयोऽतिचाराः प्रसक्ता नानगारस्येति; तन्न; किं कारणम्? सम्यग्दृष्टिग्रहणस्योभयार्थत्वात्। पुनः

शल्य कहा है। इस कथन से सिद्ध होता है कि व्रती सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है। अब यह बताइये कि वह सम्यग्दर्शन निरपवाद (निरतिचार) है कि सापवाद (अतिचार सहित) है? उत्तर— मोहनीय कर्म की अवस्थाविशेष से किसी-किसी के सापवाद सम्यग्दर्शन भी होता है। वे सम्यग्दर्शन के अपवाद (अतिचार) कौन-कौन से हैं, सो कहते है—

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव, ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार है ॥ २३ ॥

दर्शनविशुद्धि के प्रकरण मे नि शकित, नि काक्षित आदि सम्यग्दर्शन के गुण कहे है। उनके प्रतिपक्षी शका आदि पाँच अतिचार है। अर्थात् तत्त्व में शका करना, ससार के भोगो की वाञ्छा करना, मुनियो के शरीर को देखकर ग्लानि करना, मिथ्यादृष्टियो की मन से प्रशसा और वचन से सस्तुति करना। प्रश्न— सस्तवन और प्रशसा मे क्या विशेषता है? उत्तर—मन और वचन के विषयभेद से प्रशसा और सस्तवन मे भेद है। मिथ्यादृष्टियो के ज्ञान-चारित्रादि गुणो का मन से अभिनन्दन करना प्रशसा है तथा वचनो से मिथ्यादृष्टियो के विद्यमान एव अविद्यमान गुणो का उद्भावन-कथन करना सस्तवन है, यह इन दोनो मे भेद है ॥ १ ॥

सम्यग्दृष्टि के ग्रहण से उभयार्थत्व (सागार और अनगार दोनो) होने से प्रकरण से अगारी मात्र की अवधारणा नही करनी चाहिए। प्रश्न—यहाँ अगारी के सप्त शील और पाँच अणुव्रत का प्रकरण है अतः गृहस्थ सम्यग्दृष्टि के ये अतिचार है, अनगारी के नही। उत्तर—यद्यपि यहाँ पर अगारी का प्रकरण है और आगे भी अगारी का प्रकरण रहेगा तथापि इस सूत्र मे अगारी-गृहस्थ

सम्यग्दृष्टिग्रहणमेवमर्थं सम्यग्दर्शनसामान्यस्येमेऽतिचारा इति। यद्येवमर्थं सम्यग्दृष्टिग्रहणं नार्थोऽनेन, अगारिग्रहणं निवृत्तमिति व्याख्येयम्? नैवं शङ्क्यम्,[१] उत्तरत्राऽगारिग्रहणानुवर्तनस्येष्टत्वात्।

दर्शनमोहोदयादतिचरणमतिचारः।३। दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थश्रद्धानादतिचरणमतीचार अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम्। एते शङ्कादयः पञ्च सम्यग्दर्शनस्यातिचाराः।

अष्टाङ्गत्वात् सम्यग्दर्शनस्यातिक्रमाणां तावत्त्वमेवेति चेत्; न; अत्रैवान्तर्भावात्।४। स्यादेतत्–सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गं निःशङ्कितत्वादिलक्षणमुक्तम्, तस्यातिचारैरपि तावद्भिरेव भवितव्यमित्यष्टावतिचारा उपदेष्टव्या इति, तन्न, किं कारणम्? अत्रैवान्तर्भावात्। व्रतशीलानां पञ्च पञ्चातिचारान् विवक्षुणा आचार्येण प्रशंसासंस्तवयोरितर[२]रानन्तर्भाव्य सम्यग्दृष्टेरपि पञ्चैवातिचारा उक्ता इति न दोषः।

सम्यग्दृष्टि के अतिचार नही बताये है क्योंकि यहाँ सम्यग्दृष्टि का ग्रहण उभय (गृहस्थ एव मुनि) अर्थ के लिए है। अर्थात् पुनः सम्यग्दृष्टि पद (सम्यग्दृष्टेः) का ग्रहण करने से सामान्य सम्यग्दृष्टि (चाहे मुनि हो चाहे गृहस्थ) के ये अतिचार है। **प्रश्न**—यदि सामान्य सम्यग्दृष्टि (की अभिव्यक्ति) के लिये पुन. 'सम्यग्दृष्टेः' शब्द का ग्रहण किया है तो इससे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। यहाँ तो स्पष्ट करना चाहिए कि यहाँ से अगारी का प्रकरण निवृत्त हो चुका। ऐसा कहने से फिर समझने मे कोई कठिनाई नही रहेगी। **उत्तर**—ऐसी शका नही करनी चाहिये, क्योकि आगे के सूत्र मे भी गृहस्थ का ग्रहण इष्ट है ॥ २ ॥

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्वार्थ श्रद्धान से विचलित होना, अतिचरण होना अतिचार है। अतिचार और अतिक्रम ये एकार्थवाची है। ये शकादि पाँच अतिचार सम्यग्दर्शन के है ॥ ३ ॥

सम्यग्दर्शन के आठ अग है अत. सम्यग्दर्शन के अतिचार भी उतने ही होने चाहिए, ऐसा नही है क्योकि उन सबका इन पाँच मे अन्तर्भाव हो जाता है। **प्रश्न**—निःशकित, नि.काक्षित आदि सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग कहे है उनके अतिचार (विपरीत दोष) भी उतने ही होते है अत· अतिचार भी आठ ही कहने चाहिए, पाँच नही। **उत्तर**—यद्यपि सम्यग्दर्शन के अग आठ बताये है और उनके प्रतिपक्षी दोष भी आठ हो सकते है, परन्तु इन पाँचो मे ही सबका अन्तर्भाव हो जाता है। पाँच व्रतो और सप्त शीलो के पाँच-पाँच अतिचार कहने की इच्छा वाले आचार्य ने 'प्रशसा' और 'सस्तव' मे शेष (वात्सल्य, प्रभावना और स्थितिकरण के विपरीत भाव) का अन्तर्भाव होने से सम्यग्दर्शन के भी पाँच ही अतिचार कहे है, इसमे कोई दोष नही है।

---

१ शक्यम् –अ, मू, द.। २ –रितरेतरानन्त –मू द।

आह–सम्यग्दर्शनस्याद्यस्य व्रतशीलपत्राञ्चितजिनधर्मकमलकर्णिकाकारस्य अगार्यनगारयो साधारणाः शङ्कादयोऽतिचारा व्याख्याता । इदानी व्रतशीलानाम् अतिचारगणना करणीयेति । [1]तत्र गृहीतव्रतशीलातिक्रमेयत्ताख्यापनार्थमिदमुच्यते–

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

व्रतानि अहिसादीनि । शीलानि दिग्विरत्यादीनि । व्रतानि च शीलानि च व्रतशीलानि । तेषु व्रतशीलेषु ।

व्रतग्रहणमेवास्त्विति चेत्; न; शीलविशेषद्योतनार्थत्वात् । १ । स्यान्मतम्–व्रतग्रहणमेवास्तु, दिग्विरत्यादीनि अपि व्रतान्येव अतश्चैतदेव यदाह–अतिथिसविभागव्रतसपन्नश्चेति, तन्न; कारणम् ? शीलविशेषद्योतनार्थत्वात् । अभिसन्धिपूर्वको नियमो व्रतमिति कृत्वा दिग्विरत्यादीन्यपि व्रतानि भवन्ति, किन्तु व्रतपरिरक्षणं

यहाँ कोई कहता है कि व्रत और शील रूपी पत्तो से अञ्चित (व्याप्त) जिनधर्म रूपी कमल को कर्णिका के आकार स्वरूप सम्यग्दर्शन के अगार-अनगार मे साधारण शङ्कादि अतिचारों का कथन किया । अब व्रतो और शीलो के अतिचारो[2] की गणना करनी चाहिये । अत. अब गृहीत व्रतो और शीलो के अतिचारो की इयत्ता (सख्या के प्रमाण) को बताने के लिये यह सूत्र कहते हैं–

पाँचों व्रतों और दिग्विरति आदि सात शीलों के भी क्रमशः पाँच-पाँच अतिचार है ॥ २४ ॥

अहिसा आदि पाँच व्रत कहलाते हैं और दिग्विरति, देशव्रत, अनर्थदडविरत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसविभाग ये सात शील कहलाते है । उन व्रतो और शीलों के पाँच-पाँच अतिचार होते है, व्रत का एकदेश भग होना अतिचार है ।

सूत्र मे केवल व्रत का ही ग्रहण होना उपयुक्त होता, ऐसा नही है, क्योकि शील, व्रतो की अपेक्षा भिन्न वस्तु है यह बात प्रकट करने के लिए व्रतो से भिन्न शील शब्द दिया गया है । **प्रश्न**–'व्रत' का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योकि दिग्विरति आदि भी तो व्रत ही हैं । इसलिये ही तो आचार्य ने सूत्र मे ऐसा कहा है–"दिग्देशानर्थ .. अतिथिसविभागव्रतसम्पन्नश्च" इसमे व्रत का ग्रहण है, अत शील भी व्रत ही है । **उत्तर**–ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि शीलविशेष का द्योतन करने के लिये पृथक् से कहा है । यद्यपि दिग्विरति आदि शील की अभिसन्धिपूर्वक निवृत्ति

---

१ तत्र व्रत –मु , द , व. । तत्र गृहीव्र –मू । २. मन की शुद्धि की हानि अतिक्रम है, शीलव्रत का उल्लघन व्यतिक्रम है, विषयो मे प्रवृत्ति करना एक वार अतिचार है और विषयो मे अति आसक्ति अनाचार है ।

शीलमित्यस्य विशेषस्य द्योतनार्थ शीलग्रहणम् । तेन दिग्विरत्यादीनि शीलग्रहणेन गृह्यन्ते ।

सामर्थ्याद् गृहिव्रतसंप्रत्ययः ।२। यद्यपि इद सूत्रमविशेषेणोक्त तथापि सामर्थ्याद् गृहिव्रतग्रहणमवसेयम् । कि सामर्थ्यम् ? वक्ष्यमाणवधबन्धच्छेदादिवचनम् । ते हि बन्धवधच्छेदादयो गृहस्थस्यैव नानगारस्येति ।

पञ्च पञ्चेति वीप्सायां द्वित्वम् ।३। पञ्च पञ्चेत्येतत् वीप्साया द्वित्वमवसेयम् । ततोऽनवयवाभिधानं वीप्सार्थमिति अनवयवेन व्रतशीलानि पञ्चसख्यया व्याप्यन्ते । ननु च लघ्वर्थ पञ्चश इति शसा निर्देशः कर्तव्य , सत्यमेवमेतत्; व्यक्त्यर्थ वाक्येन निर्देश क्रियते ।

यथाक्रमवचनं वक्ष्यमाणातिचारक्रमसंबन्धनार्थम् ।४। वक्ष्यमाणा अतिचारा अहिंसादिभिः क्रमेणाभिसंबध्यन्तामित्येवमर्थ यथाक्रमवचन क्रियते । यो यः क्रमो यथाक्रम क्रमानतिवृत्त्येत्यर्थ ।

होने से व्रत ही है तथापि ये शील विशेष रूप से व्रतो के परिरक्षण के लिए होते है अतः 'शील' शब्द इस विशेष अर्थ का द्योतन करने के लिये है तथा शील के ग्रहण से दिग्विरति आदि का ग्रहण होता है अत इनका पृथक् शील शब्द मे निर्देश किया है ।। १ ।।

सामर्थ्य से इसमे गृहस्थ के व्रतो का सप्रत्यय (ज्ञान) होता है । यद्यपि इस सूत्र मे गृहस्थ और मुनि आदि विशेषण नही है तथापि आगे कहे जाने वाले वध, बन्धन, छेद आदि वचन के सामर्थ्य से ज्ञात होता है कि ये अतिचार गृहस्थो के व्रतो के है अत. आगे के अतिचार के सामर्थ्य से यहाँ गृहस्थ के व्रतो का ग्रहण होता है क्योकि 'बन्धवधच्छेद' आदि गृहस्थो के ही व्रतो के अतिचार हो सकते है, अनगार (मुनि) के नही ।। २ ।।

'पञ्च-पञ्च' यह वीप्सार्थक द्वित्व है । पञ्च-पञ्च यह वीप्सा अर्थ मे दो बार ग्रहण किया है । इसका प्रयोजन यह है कि जो भिन्न-भिन्न निर्देश से व्रत-शील कहे गये है वे प्रत्येक पाँच-पाँच अतिचारो सहित है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप से व्रत और शील पाँच-पाँच की सख्या से व्याप्त किये जाते है । **प्रश्न**—सूत्र मे लाघव के लिए यहाँ 'शस्' प्रत्यय करके 'पञ्चश.' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था, पञ्च-पञ्च का नही । **उत्तर**—यद्यपि तुम्हारा कहना सत्य है, 'पञ्चश' ऐसे शस् प्रत्ययान्त पद से काम चल सकता है तथापि अर्थ को स्पष्ट करने के लिए (कि प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार होते हैं, सबो के पाँच अतिचार नही) 'पञ्च पञ्च' यह द्वित्व निर्देश किया है ।। ३ ।।

'यथाक्रम वचन' आगे कहे जाने वाले अतिचारक्रम के सम्बन्ध के लिए है । आगे कहे जाने

आह–यद्येवं तस्मादुच्यता तावदाद्यस्य प्राणव्यपरोपणनिवृत्तलक्षणस्याणुव्रतस्य केऽतिचाराः; [1]येभ्योऽयं निवृत्तौ निरपवादो भवतीति ? अत्रोच्यते–

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुर्बन्धः । १ । अभिमतदेशगमन प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्ध-हेतु' कीलादिषु रज्वादिभिर्व्यतिषङ्गो बन्ध इत्युच्यते ।

प्राणिपीडाहेतुर्वधः । २ । दण्डकशावेत्रादिभिरभिघात· प्राणिना वध इति गृह्यते न [2]प्राणव्यपरोपणम्, ततः प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात् ।

छेदोऽङ्गापनयनम् । ३ । कर्णनासिकादीनामवयवानाम् अपनयन छेद इति कथ्यते ।

वाले जो अतिचार हैं, उनका अहिंसा आदि के साथ निर्दिष्ट क्रम से अन्वय कर लेना चाहिए । जो-जो क्रम है उसे यथाक्रम कहते है अर्थात् क्रम का उल्लघन नही करना ॥ ४ ॥

कोई कहता है कि यदि एक-एक व्रत और शील के पाँच-पाँच अतिचार है तो सर्वप्रथम कथित अहिंसाणुव्रत के अतिचार कौन-कौन से है, उनको कहना चाहिये, जिनकी निवृत्ति होने पर अहिसाणुव्रत निर्दोष होता है, अत· अहिसाणुव्रत के अतिचार कहते है—

बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध, ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥ २५ ॥

अभिमत (इच्छित) देश (स्थान) मे जाने के निरोध का कारण बन्ध है । अथवा इच्छित देश मे जाने के उत्सुक के लिए उस गमन के प्रतिबन्ध का हेतु 'खू टे आदि मे रस्सी से इस प्रकार बाँध देना जिससे वह इष्ट देश मे गमन न कर सके वह' बन्ध कहलाता है ॥ १ ॥

प्राणी-पीड़ा का कारण वध कहलाता है । डण्डा, कोड़ा, वेत आदि से पीटना वध है न कि प्राणिहत्या, क्योकि प्राणिहत्या से विरक्ति तो व्रतधारणकाल मे ही हो चुकी है ॥ २ ॥

अङ्ग का अपनयन करना छेद है । कर्ण, नासिका आदि अवयवो का छेदन करना, नाश करना छेद कहलाता है ॥ ३ ॥

---

१ येभ्यो निवृ –मु. । २. प्राणिव्य –म् , मू., द ।

न्याय्यभारादतिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणम् । ४ । न्यायादनपेताद्भारादतिरिक्तस्य भारस्य वाहनम्, अतिलोभाद्गवादीनामतिभारारोपणमिति गण्यते ।

क्षुत्पिपासाबाधनमन्नपाननिरोधः । ५ । तेषामेव गवादीनां कुतश्चित् कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्नपाननिरोध इत्याख्यायते । एते पञ्च अहिंसाणुव्रतस्यातिचाराः ।

मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥

मिथ्यान्यप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः । १ । अभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेश इत्युच्यते ।

संवृतस्य प्रकाशनं रहोऽभ्याख्यानम् । २ । स्त्रीपुंसाभ्याम् एकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं यत् रहोऽभ्याख्यानं तद्वेदितव्यम् ।

परप्रयोगादन्यानुक्तपद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया । ३ । अन्येनानुक्तं किञ्चित् परप्रयोगवशात् एवं तेनोक्तम् अनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया ।

उचित भार से अधिक भार लादना अतिभारारोपण है। अत्यन्त लोभ के कारण बैल, घोड़े आदि पर उचित भार से अधिक भार लादना **अतिभारारोपण** है ॥ ४ ॥

भूख-प्यास की बाधा देना अन्नपाननिरोध है। उन गाय, भैंस, बैल आदि के लिए किसी कारण से भूख-प्यास की बाधा पैदा करना, उन्हें समय पर चारा-पानी नहीं देना **अन्नपाननिरोध** है। ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं ॥ ५ ॥

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद, ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं ॥ २६ ॥

मिथ्या, अन्य प्रवर्तन या यथार्थ क्रियाओं का छिपाना **मिथ्योपदेश** है। अभ्युदय और निःश्रेयसार्थक क्रियाओं में अन्यथा प्रवृत्ति करा देना या उनके प्रति उलटी बात कहना मिथ्योपदेश कहलाता है ॥ १ ॥

संवृत (गुप्त) का प्रकाशन रहोभ्याख्यान है। स्त्री-पुरुषों के द्वारा एकान्त में किये गये रहस्य (संकेत, बातचीत आदि) का उद्घाटन करना रहोभ्याख्यान है। ऐसा जानना चाहिये ॥ २ ॥

परप्रयोग से अनुक्त पद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया है। किसी के नहीं कहने पर भी किसी दूसरे

हिरण्यादिनिक्षेपेऽल्पसंख्यानुज्ञानवचनं न्यासापहारः । ४ । हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसख्यस्याल्पशः सख्यानमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचन न्यासापहार इत्याख्यायते ।

अर्थादिभिः परगुह्यप्रकाशनं साकारमन्त्रभेदः । ५ । अर्थप्रकरणाङ्गविकार-भ्रूविक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादिनिमित्त यत्तत्साकारमन्त्रभेद इति कथ्यते । त एते सत्यव्रतस्य पञ्चातिक्रमाः ।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानो-न्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनं स्तेनप्रयोगः । १ । मुष्णन्त स्वयमेव वा प्रयुङ्क्ते, अन्येन वा प्रयोजयति, प्रयुक्तमनुमन्यते वा यत. स स्तेनप्रयोगो वेदितव्यः ।

चोरानीतग्रहणं तदाहृतादानम् । २ । अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्य

की प्रेरणा से यह कहना कि 'उसने ऐसा कहा है या ऐसा अनुष्ठान किया है' इस प्रकार वञ्चन के निमित्त (ठगने के लिए) लेख लिखना कूटलेखक्रिया है ।। ३ ।।

हिरण्य आदि निक्षेप मे अल्पसख्या का अनुज्ञा वचन न्यासापहार है । सुवर्ण आदि गहना रखने वाले द्वारा भूल से अल्पश (कम) माँगने पर जानते हुए भी 'जो तुम माँगते हो ले जाओ' इस प्रकार अनुज्ञा वचन कहना, उसको कम देना न्यासापहार नामक अतिचार कहलाता है ।। ४ ।।

प्रयोजन आदि के द्वारा पर के गुह्य अभिप्राय का प्रकाशन साकारमन्त्रभेद है । प्रयोजन, प्रकरण, अङ्गविकार अथवा भ्रूक्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्षावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है । ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार है ।। ५ ।।

स्तेनप्रयोग, चोरी के धन का ग्रहण, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार है ।। २७ ।।

चोर को त्रिधा प्रयुक्त करना स्तेनप्रयोग है । अर्थात्—चोरी करने वाले को स्वयं प्रयोग (उपाय) बतलाना वा दूसरे के द्वारा उसको चोरी मे प्रयुक्त-प्रवृत्त कराना और उस चोरी की वा चोर की मन से प्रशसा करना, चोरी करना अच्छा मानना, ये सब स्तेनप्रयोग है, ऐसा जानना चाहिए । चोर के द्वारा लाये हुए द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान है । अपने द्वारा जिसके उपाय नही बताये गए है और न जिसकी अनुमोदना ही की है ऐसे चोर के, चोरी करके लाये हुए द्रव्य को खरीदना तदाहृतादान है; ऐसा जानना चाहिए । प्रश्न—तदाहृतादान मे क्या दोष है ? उत्तर—चोरी का माल खरीदने (तदाहृतादान) से, पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न

ग्रहण तदाहृतादानं प्रत्येतव्यम् । तत्र को दोषः ? परपीडाराजभयादयः प्रतीता.। एतेन विरुद्धराज्यातिक्रमादयो व्याख्याता ।

उचितादन्यथा दानग्रहणमतिक्रमः । ३ । उचितान्न्याय्यात् अन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रम इत्युच्यते । विरुद्ध राज्यं विरुद्धराज्यं विरुद्धराज्येऽतिक्रम विरुद्ध-राज्यातिक्रम. । तत्राल्पमूल्यलभ्यानि महार्घाणि द्रव्याणीतिप्रयत्न· ।

कूटप्रस्थतुलादिभिः क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानः । ४ । प्रस्थादि मान तुलाद्युन्मानम् । एतेन न्यूनेनान्यस्मै देय अधिकेनात्मनो ग्राह्यमित्येवमादिकूट-प्रयोग हीनाधिकमानोन्मानमित्याख्यायते ।

कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः । ५ । कृत्रिमै· हिरण्यादिभि· वञ्चनापूर्वको व्यवहार प्रतिरूपकव्यवहार इति व्यपदिश्यते । त एते पञ्च अदत्तादानविरतेरतीचारा. ।

परविवाहकरणेत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्ग-क्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

होते है । इसके विरुद्ध राज्यातिक्रम आदि भी जानना चाहिए । अर्थात् राज्य के विरुद्ध कार्य करने से भा पर-पीडा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है ॥ १–२ ॥

उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना **अतिक्रम** है । उचित न्याय भाग से अधिक भाग दूसरे उपायो से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है । **विरुद्धराज्य** (राज्य के नियमो के विरुद्ध) राज्यपरिवर्तन के समय अल्प मूल्य वाली वस्तुओ को अधिक मूल्य की बताना । अर्थात् अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु को महाकीमत मे देने का प्रयत्न करना **विरुद्धराज्यातिक्रम** है ॥ ३ ॥

क्रय-विक्रय प्रयोग मे कूटप्रस्थ तराजू आदि को हीनाधिक रखना **हीनाधिकमानोन्मान** है । प्रस्थादि **मान** कहलाते है और **तराजू** आदि **उन्मान** । दूसरे को देते समय कम बाँटो (कम वजन वाले बाँटो) से देना और लेते समय अधिक वजन वाले बाँटो का प्रयोग करना **हीनाधिकमानोन्मान** कहलाता है ॥ ४ ॥

कृत्रिम सुवर्ण आदि बनाना **प्रतिरूपक व्यवहार** है । कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा वञ्चना-पूर्वक व्यवहार करना अर्थात् कृत्रिम वस्तुओ को असली वस्तु मे मिलाकर दूसरो को ठगना **प्रतिरूपक व्यवहार** कहलाता है । ये अदत्तादान विरति के पाँच अतिचार है ॥ ५ ॥

परविवाहकरण, अपरिगृहीता इत्वरिकागमन, परिगृहीता इत्वरिकागमन अनङ्गक्रीड़ा और तीव्रकामाभिनिवेश, ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं ॥ २८ ॥

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः । १ । सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहन कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते। परस्य विवाह परविवाह परविवाहस्य करण परविवाहकरणम् ।

अयनशीलेत्वरी । २ । ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोह-स्त्रीवेदोदयप्रकर्षादङ्गोपाङ्गनामोदयावष्टम्भाच्च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवशीला इत्वरी । तत कुत्सायां कः, इत्वरिका। अपरिगृहीता च परिगृहीता च अपरिगृहीतापरि-गृहीते। या गणिकात्वेन पुंश्चलित्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता। या पुन एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता। इत्वरिके च ते अपरिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीते तयोर्गमनं इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनम् ।

अनङ्गेषु क्रीडा अनङ्गक्रीडा । ३ । अङ्ग प्रजनन योनिश्च ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा। अनेकविधप्रजननविकारेण जघनादन्यत्र चाङ्गे रतिरित्यर्थ ।

कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः । ४ । कामस्य प्रवृद्ध परिणाम

साता वेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कन्या के वरण को विवाह कहते है। दूसरे के विवाह को परविवाह कहते है और पर के विवाह कराने को **परविवाहकरण** कहते है ।। १ ।।

अयनशील को इत्वरी कहते है। ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त गान, नृत्यादि कला और चारित्रमोह नामक स्त्रीवेद के उदय से विशिष्ट अङ्गोपाङ्ग के लाभ से जो परपुरुषो को प्राप्त होती है, परपुरुषो को सेवन करती है, उनको अपने आधीन करती है, वह **इत्वरी** (व्यभिचारिणी स्त्री) कहलाती है और कुत्सित अर्थ मे 'क' प्रत्यय करने से 'इत्वरिका' शब्द की निष्पत्ति होती है। अपरिगृहीता और परिगृहीता के भेद से इत्वरिका दो प्रकार की है। जो वेश्या रूप से वा पुश्चलो रूप से परपुरुषो को सेवन करती है, जिसका कोई स्वामी नही है वह **अपरिगृहीता इत्वरिका** है। जो एक पुरुष के द्वारा परिणीत है अर्थात् जिसका एक स्वामी विद्यमान है, वह फिर भी परपुरुषरमणशील है, वह **परिगृहीता इत्वरिका** है। इस प्रकार अपरिगृहीत और परिगृहीत इत्वरिकाओं से सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ जाना-आना अपरिगृहीता परिगृहीता इत्वरिकागमन अतिचार है ।। २ ।।

अनगो से क्रीडा अनङ्गक्रीडा है। पुरुष का लिंग (प्रजनन) और स्त्री की योनि कामसेवन के अङ्ग है। उन अङ्गो को छोड़कर अन्यत्र अङ्गो मे क्रीडा करना अनङ्गक्रीडा है। अर्थात् कामसेवन के योनि आदि अगो के सिवाय अन्य अगो मे अनेकविध लिग और योनि के विकार से कामातिरेकवश क्रीडा करना **अनङ्गक्रीड़ा** है ।। ३ ।।

काम का प्रवृद्ध परिणाम कामतीव्राभिनिवेश है। काम की तीव्र प्रवृत्ति, सतत कामवासना

ग्रहण तदाहृतादान प्रत्येतव्यम् । तत्र को दोष. ? परपीडाराजभयादय प्रतीता. । एतेन विरुद्धराज्यातिक्रमादयो व्याख्याता ।

उचितादन्यथा दानग्रहणमतिक्रमः । ३ । उचितान्न्याय्यात् अन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रम इत्युच्यते । विरुद्धं राज्य विरुद्धराज्य विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रम. । तत्राल्पमूल्यलभ्यानि महार्घाणि द्रव्याणीतिप्रयत्नः ।

कूटप्रस्थतुलादिभिः क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानः । ४ । प्रस्थादि मान तुलाद्युन्मानम् । एतेन न्यूनेनान्यस्मै देय अधिकेनात्मनो ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रयोग हीनाधिकमानोन्मानमित्याख्यायते ।

कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः । ५ । कृत्रिमैः हिरण्यादिभि. वञ्चनापूर्वको व्यवहार. प्रतिरूपकव्यवहार इति व्यपदिश्यते । त एते पञ्च अदत्तादानविरतेरतीचारा. ।

परविवाहकरणेत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

होते है । इसके विरुद्ध राज्यातिक्रम आदि भी जानना चाहिए । अर्थात् राज्य के विरुद्ध कार्य करने से भा पर-पीडा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है ॥ १–२ ॥

उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना **अतिक्रम** है । उचित न्याय भाग से अधिक भाग दूसरे उपायो से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है । **विरुद्धराज्य** (राज्य के नियमो के विरुद्ध) राज्यपरिवर्तन के समय अल्प मूल्य वाली वस्तुओ को अधिक मूल्य की बताना । अर्थात् अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु को महाकीमत मे देने का प्रयत्न करना **विरुद्धराज्यातिक्रम** है ॥ ३ ॥

क्रय-विक्रय प्रयोग मे कूटप्रस्थ तराजू आदि को हीनाधिक रखना **हीनाधिकमानोन्मान** है । प्रस्थादि **मान** कहलाते है और तराजू आदि **उन्मान** । दूसरे को देते समय कम वॉटो (कम वजन वाले वॉटो) से देना और लेते समय अधिक वजन वाले बॉटो का प्रयोग करना **हीनाधिकमानोन्मान** कहलाता है ॥ ४ ॥

कृत्रिम सुवर्ण आदि बनाना **प्रतिरूपक व्यवहार** है । कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा वञ्चनापूर्वक व्यवहार करना अर्थात् कृत्रिम वस्तुओ को असली वस्तु मे मिलाकर दूसरो को ठगना प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है । ये अदत्तादान विरति के पॉच अतिचार है ॥ ५ ॥

परविवाहकरण, अपरिगृहीता इत्वरिकागमन, परिगृहीता इत्वरिकागमन अनङ्गक्रीड़ा और तीव्रकामाभिनिवेश, ये पॉच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार है ॥ २८ ॥

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः । १ । सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते। परस्य विवाह परविवाह परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम् ।

अयनशीलेत्वरी । २ । ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोह-स्त्रीवेदोदयप्रकर्षादङ्गोपाङ्गनामोदयावष्टम्भाच्च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवशीला इत्वरी। तत कुत्साया क, इत्वरिका। अपरिगृहीता च परिगृहीता च अपरिगृहीतापरि-गृहीते। या गणिकात्वेन पुंश्चलित्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता। या पुन. एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता। इत्वरिके च ते अपरिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीते तयोर्गमन इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनम् ।

अनङ्गेषु क्रीडा अनङ्गक्रीडा । ३ । अङ्ग प्रजनन योनिश्च ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा। अनेकविधप्रजननविकारेण जघनादन्यत्र चाङ्गे रतिरित्यर्थः।

कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः । ४ । कामस्य प्रवृद्ध परिणाम

साता वेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कन्या के वरण को विवाह कहते हैं। दूसरे के विवाह को परविवाह कहते है और पर के विवाह कराने को **परविवाहकरण** कहते है ॥ १ ॥

अयनशील को इत्वरी कहते है। ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त गान, नृत्यादि कला और चारित्रमोह नामक स्त्रीवेद के उदय से विशिष्ट अङ्गोपाङ्ग के लाभ से जो परपुरुषो को प्राप्त होती है, परपुरुषो को सेवन करती है, उनको अपने आधीन करती है, वह **इत्वरी** (व्यभिचारिणी स्त्री) कहलाती है और कुत्सित अर्थ मे 'क' प्रत्यय करने से 'इत्वरिका' शब्द की निष्पत्ति होती है। अपरिगृहीता और परिगृहीता के भेद से इत्वरिका दो प्रकार की है। जो वेश्या रूप से वा पुंश्चली रूप से परपुरुषो को सेवन करती है, जिसका कोई स्वामी नही है वह **अपरिगृहीता इत्वरिका** है। जो एक पुरुष के द्वारा परिणीत है अर्थात् जिसका एक स्वामी विद्यमान है, वह फिर भी परपुरुषरमणशील है, वह **परिगृहीता इत्वरिका** है। इस प्रकार अपरिगृहीत और परिगृहीत इत्वरिकाओ से सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ जाना-आना अपरिगृहीता परिगृहीता इत्वरिकागमन अतिचार है ॥ २ ॥

अनगो से क्रीडा अनङ्गक्रीडा है। पुरुष का लिग (प्रजनन) और स्त्री की योनि कामसेवन के अङ्ग हैं। उन अङ्गो को छोडकर अन्यत्र अङ्गो मे क्रीडा करना अनङ्गक्रीडा है। अर्थात् कामसेवन के योनि आदि अगो के सिवाय अन्य अगो मे अनेकविध लिंग और योनि के विकार से कामातिरेकवश क्रीडा करना **अनङ्गक्रीड़ा** है ॥ ३ ॥

काम का प्रवृद्ध परिणाम कामतीव्राभिनिवेश है। काम की तीव्र प्रवृत्ति, सतत कामवासना

अनुपरतवृत्त्यादिः कामतीव्राभिनिवेश इत्युच्यते। एते पञ्च स्वदारसन्तोषव्रतस्यातिचाराः।

दीक्षितातिबालातैर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेत्; न; कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः।५। स्यान्मतम्–दीक्षिता अतिबाला तैर्यग्योनीत्येवमादीनामनुपसंग्रहः इति; तन्न, किं कारणम्? कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः। दीक्षितादिषु हि परिहर्तव्यासु वृत्तिः कामतीव्राभिनिवेशाद्भवति। उक्तोऽत्र दोषः राजभयलोकापवादादिः।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वः प्राक् कुप्यात्।१। क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोर्द्वयोः द्वन्द्वो भवति। किमविशेषेण? इत्याह–प्राक्कुप्यात्। क्षेत्रं च वास्तु च क्षेत्रवास्तु, हिरण्यं च सुवर्णं च हिरण्यसुवर्णम्, धनं च धान्यं च धनधान्यम्, दासी च दासश्च दासीदासम्। क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यं च क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यानि। दासीदासमिति गवाश्वादिषु

से पीडित रहकर विषयसेवन मे लगे रहना **कामतीव्राभिनिवेश** है। ये पाँच स्वदार-सतोषव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) के अतिचार है ॥ ४ ॥

प्रश्न—दीक्षिता, अतिबाला, तिर्यंचिनी आदि का सेवन करना अतिचार है, उनका ग्रहण इसमे क्यो नही किया? **उत्तर**—दीक्षिता, अतिबाला तथा पशु आदि में मैथुन प्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनिवेश का फल है अतः कामतीव्राभिनिवेश के ग्रहण से इसकी सिद्धि हो जाती है। क्योकि छोडने योग्य दीक्षित, अतिबाला, तिर्यंचिनी आदि मे मैथुन की वृत्ति कामतीव्राभिनिवेश से ही होती है। **प्रश्न**—इन अतिचार रूप कार्य करने मे क्या दोष है? **उत्तर**—इन कार्यो के करने से राजभय,लोकापवाद, पापकर्मो का आगमन आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है ॥ ५ ॥

खेत, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास और कपड़े, बर्तन इन परिग्रहों का परिमाण करके, उनका उल्लंघन करना परिग्रह-परिमाणव्रत के अतिचार है ॥ २९ ॥

क्षेत्र, वास्तु आदि दो-दो का द्वन्द्व समास करके फिर कुप्य के साथ पूर्ण द्वन्द्व समास करना चाहिए। अर्थात् कुप्य के पूर्व दो-दो मे द्वन्द्व करना और शेष मे कुप्य के साथ पूर्ण द्वन्द्व करना। क्षेत्र और वास्तु—क्षेत्रवास्तु। हिरण्य और सुवर्ण-हिरण्यसुवर्ण, धन और धान्य, दासी और दास, इत्यादि। दासी-दास, गाय और अश्वादि समास मे निपात होने से उनमे एक शेष रहता है। **क्षेत्र**—चाँवल आदि धान्यो की उत्पत्ति का स्थान। **वास्तु**—आगार, भवन, घर। **हिरण्य**—चादी

निपातनात् एकशेपभाव: । क्षेत्र शस्याधिकरणम् । वास्तु अगारम् । हिरण्य रूप्यादि-व्यवहारतन्त्र सुवर्ण प्रतीतम् । धनं गवादि । धान्यं व्रीह्यादि । दासीदासं भृत्यस्त्रीपुंसवर्ग । कुप्य क्षौमकार्पासकौशेय[1]चन्दनादि ।

तीव्रलोभाभिनिवेशादतिरेकाः प्रमाणातिक्रमाः । २ । एतावानेव परिग्रहो मम नातोऽन्य इति परिच्छिन्नात् क्षेत्रवास्त्वादिविषयादतिरेकाः अतिलोभवशात् प्रमाणातिक्रमा इति प्रत्याख्यायते । त एते पञ्च परिग्रहविरमणस्यातिक्रमा. ।

उक्ता व्रतानामतिचारा, शीलानामतिचारा वक्ष्यन्ते । तद्यथा—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।। ३० ।।

परिमितदिगवधिव्यतिलङ्घनमतिक्रमः । १ । परिमितस्य दिगवधेरतिलङ्घनमतिक्रम इत्युच्यते । स समासतस्त्रिविध —ऊर्ध्वातिक्रम अधोऽतिक्रमः तिर्यगतिक्रमश्चेति ।

आदि का व्यवहार । रजत के व्यवहार तन्त्र को हिरण्य कहते है अथवा सोने के सिक्के आदि को भी हिरण्य कहते है । **सुवर्ण**—प्रतीति मे आने वाला सोना प्रसिद्ध ही है । **धान्य**—चॉवल, गेहूँ, मू ग, तिल आदि । **दासीदास**—नौकर, स्त्री-पुरुष वर्ग । **कुप्य**—कपास एव कोसे आदि के वस्त्र और चन्दन आदि वस्तुएँ ।। १ ।।

तीव्र लोभ के वशीभूत होकर इनकी मर्यादा का उलंघन करना प्रमाणातिक्रम है । 'मेरा इतना ही परिग्रह है, इससे अधिक नहीं' इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण आदि परिग्रह की अतिलोभ के कारण मर्यादा बढा लेना, स्वीकृत मर्यादा का उल्लङ्घन करना **प्रमाणातिक्रम** है । ये परिग्रह परिमाण व्रत के पॉच अतिचार हैं ।। २ ।।

इस प्रकार अहिंसादि पॉच व्रतो के अतिचार कहे । अब सात शील व्रतो के अतिचार कहते है—

ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और क्षेत्रविस्मृति, ये पॉच दिग्विरति के अतिचार हैं ।। ३० ।।

परिमित दिशाओं की अवधि (मर्यादा) का उल्लङ्घन करना अतिक्रम है । ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम और तिर्यगतिक्रम के भेद से अतिक्रम तीन प्रकार का है ।। १ ।।

---

१. कृमिकोशोत्थ ।

तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः ।२। पर्वतमरु[1]भूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रमो भवति ।

कूपावतरणादेरधोऽतिवृत्तिः ।३। कूपावतरणादेः अधो दिगवधेरतिवृत्तिर्वेदितव्या ।

विलप्रवेशादिस्तिर्यगतीचारः ।४। भूमिविलगिरिदरीप्रवेशादिस्तिर्यगतीचारो द्रष्टव्यः ।

अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः ।५। प्राग् दिशं योजनादिभिः परिच्छिद्य पुनर्लोभवशात्ततोऽधिकाकाङ्क्षणं क्षेत्रवृद्धिरित्यध्यवसीयते ।

इच्छापरिमाणेऽन्तर्भावात् पौनरुक्त्यमिति चेत्; न; तस्यान्याधिकरणत्वात् ।६। स्यादेतत्–इच्छापरिमाणे पञ्चमेऽणुव्रते अस्यान्तर्भावात् पुनर्ग्रहणं पुनरुक्तमिति, तन्न, किं कारणम् ? तस्यान्याधिकरणत्वात् । इच्छापरिमाण क्षेत्रवास्त्वादिविषयम्, इद पुन दिग्विरमणमन्यार्थमस्यां दिशि लाभे जीवितमलाभे च मरणमतोऽन्यत्र लाभेऽपि न

मर्यादित पर्वत और सम भूमि आदि से ऊपर चढना **ऊर्ध्वातिक्रम** है ।। २ ।।

मर्यादित अधोभाग से अधिक कूपादि मे नीचे उतरना **अधोऽतिक्रम** है ।। ३ ।।

भूमि के बिल गुफा आदि मे प्रवेश करके मर्यादा का उल्लङ्घन करना **तिर्यग्व्यतिक्रम** अतिचार है ।। ४ ।।

लोभ कषाय के वशीभूत होकर स्वीकृत मर्यादा का परिमाण बढा लेना क्षेत्रवृद्धि है । पूर्व दिशा मे योजन आदि के द्वारा मर्यादा करके पुन. लोभ कषाय के कारण उस मर्यादा से अधिक दिशा की इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि है, ऐसा जानना चाहिए ।। ५ ।।

इच्छापरिमाण नामक व्रत का यहाँ अधिकार नही होने से इनका इच्छापरिमाणव्रत मे अन्तर्भाव नही हो सकता । **प्रश्न**—इच्छापरिमाण नामक पाँचवे परिग्रहपरिमाणव्रत मे इन अतिक्रमो का अन्तर्भाव हो जाता है, पुन. इन अतिक्रमो को ग्रहण करने से पुनरुक्त दोष आता है ? **उत्तर**—इच्छापरिमाण नामक पाँचवें व्रत मे इनका अन्तर्भाव नही हो सकता क्योकि उसका अधिकरण भिन्न है और इनका अधिकरण भिन्न है । अर्थात् पाँचवें परिग्रहपरिमाणव्रत मे क्षेत्र, वास्तु आदि का परिमाण किया जाता है और दिग्विरति मे दिशाओ की मर्यादा की जाती है । इस प्रकार इन दोनो का विषय भिन्न-भिन्न है । यद्यपि इस दिशा मे लाभ होगा तो मेरा जीवन है, नही होगा तो मरण है; तथापि दूसरी दिशा मे लाभ होने पर भी गमन नही करूगा ।

---

1. –मरुद् भूम्या –मु[illegible]दि । –तरुभू –मू । मीमान्तस्थितानाम् ।

मनमिति, न तु दिशि क्षेत्रादिष्विव परिग्रहबुद्धयात्मसात्करणात् परिमाणकरणमस्ति, तोऽर्थविशेषोऽस्यावसेय ।

तदतिक्रमः प्रमादमोहव्यासङ्गादिभिः । ७ । तस्यैतस्य दिक्परिमाणस्यातिक्रमः मादात् मोहाद् व्यासङ्गाद्वा भवतीत्यवसेय ।

अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम् । ८ । अनुस्मरणम् परामर्शनं प्रत्यवेक्षण-त्यनर्थान्तिरम्, इदमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति, तदभावः स्मृत्यन्तराधानम् । एते पञ्च दिग्विरतस्यातिक्रमा ।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।। ३१ ।।

[1]तमानयेत्याज्ञापनमानयनम् । १ । आत्मना संकल्पिते देशे स्थितस्य प्रयोजनवशात् त्किञ्चिदानयेत्याज्ञापनम् आनयनमित्याख्यायते ।

वीकृत मर्यादा से आगे लाभ होने पर भी गमन नही करना दिग्विरति है। दिशाओ मे क्षेत्र-वास्तु गादि के समान परिग्रह बुद्धि से आत्मसात् करके परिमाण नही किया जाता, अत इसका अर्थ विशेष गानना चाहिए ।। ६ ।।

प्रमाद, मोह और चित्तव्यासग से इन दिशाओ का अतिक्रम होता है। इन दिशाओ की र्यादा का उल्लङ्घन प्रमाद, मोह और चित्तव्यासग से होता है, ऐसा जानना चाहिए ।। ७ ।।

अनुस्मरण (निश्चित मर्यादा को भूल जाना) ही स्मृत्यन्तराधान है। अनुस्मरण, रामर्शन, प्रत्यवेक्षण ये सब एकार्थवाची है। यह–यह मैंने योजनादि के द्वारा जो प्रतिज्ञा की है र्थात् इतने योजनादि से आगे नही जाऊगा, ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी, उसको भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है। ये पाँच दिग्विरतिव्रत के अतिचार-अतिक्रम हैं ।। ८ ।।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप, ये पाँच देशव्रत के अतिचार है ।। ३१ ।।

'उसको लाओ' ऐसे आज्ञापन को आनयन कहते है। अपने सकल्पित देश से वाहर स्थित व्यक्ति को प्रयोजनवश कुछ पदार्थ लाने की आज्ञा देना आनयन है ।। १ ।।

---

१ आप्तमान –द । अन्यमान – मु व ।

एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः । २ । परिच्छिन्नदेशाद्वहि. स्वयमगत्वा अन्यमप्यनानीय प्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधन प्रेष्यप्रयोगः ।

अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः । ३ । व्यापारकरान् पुरुषान् उद्दिश्याभ्युत्कासिकादिकरण शब्दानुपात इति शब्द्यते ।

स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपातः । ४ । मम रूप निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्ति[1] इति स्वविग्रहप्ररूपण रूपानुपात इति निर्णीयते ।

लोष्टादिनिपातः पुद्गलक्षेपः । ५ । कर्मकरान् पुरुषानुद्दिश्य लोष्टपाषाणनिपात पुद्गलक्षेप इति कथ्यते । त एते देशविरमणस्य पञ्चातिक्रमाः । कथं पुनरतिक्रम इति ? उच्यते–

स्वयमनाक्रामन्नन्येनाक्रामयतीत्यतिक्रमः । ६ । यस्मात् स्वयमनतिक्रमन् अन्येनातिक्रा[2]मयति ततोऽतिक्रम इति व्यपदिश्यते । यदि हि स्वयमतिक्रमेत् व्रतलोप एवास्य स्यात् ।

'ऐसा करो' इस प्रकार का विनियोग प्रेष्यप्रयोग है। स्वीकृत देश की मर्यादा से बाहर स्वय न जाकर और दूसरे को न बुलाकर भी प्रेष्य (नौकर) के द्वारा इष्ट व्यापार सिद्ध करना प्रेष्यप्रयोग है अर्थात् स्वय तो नही जाना परन्तु दूसरे को भेजकर काम करवाना ही **प्रेष्यप्रयोग** है ।। २ ।।

अभ्युत् खाँसी आदि करना शब्दानुपात है। मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले नौकरो का उद्देश्य लेकर खडे होकर खाँसी या अन्य प्रकार से शब्द (हूँ हूँ····) करके नौकरो से कार्य कराना **शब्दानुपात** है ।। ३ ।।

अपने शरीर को दिखाना रूपानुपात है। 'मेरे रूप को (या मुझे) देखकर ये शीघ्र ही कार्य करेगे' इस अभिप्राय से अपने शरीर को दिखाना **रूपानुपात** है, ऐसा निर्णय किया जाता है ।। ४ ।।

पत्थर आदि का निपात पुद्गलक्षेप है। नौकर-चाकरो का उद्देश्य लेकर उनको सकेत करने के लिए ककड-पत्थर आदि फेकना **पुद्गलक्षेप** कहा जाता है। ये पाँच देशव्रत के अतिचार है ।। ५ ।।

प्रश्न—इनको अतिक्रम-अतिचार क्यो कहते है ? **उत्तर**—स्वय उल्लघन न करके दूसरो से करवाता है, इसलिये ये अतिचार है। यदि स्वय उल्लघन करता है तो उसके व्रत का ही लोप हो जाता है ।। ६ ।।

---

१. –यति मु., मू. । २ –नाक्रामय –ता., श्र ।

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरि-भोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः ।१। चारित्रमोहोदयापादितात् रागोद्रेकात् प्रहाससयुक्तो योऽशिष्टवाक्प्रयोगः स कन्दर्प इति निर्धियते[1] ।

तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तं कौत्कुच्यम् ।२। रागस्य समावेशाद्धास्यवचनम् अशिष्टवचनम् इत्येतदुभय [2]परत्र दुष्टेन कायकर्मणा युक्त कौत्कुच्यमित्युच्यते ।

धाष्टर्यप्रायमबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम् ।३। अशालीनतया यत्किञ्चनानर्थकं बहुप्रलपन मौखर्यमिति प्रत्येतव्यम् ।

असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमधिकरणम् ।४। अधिरुपरिभावे वर्तते, करोतिश्चापूर्वप्रादुर्भावे, प्रयोजनमसमीक्ष्य आधिक्येन प्रवर्तनमधिकरणम् ।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य, ये पाँच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार है ॥ ३२ ॥

रागोद्रेक से प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचनो का प्रयोग करना कन्दर्प है। चारित्र मोह के उदय से अपादित राग के उद्रेक से हास्ययुक्त अशिष्ट वचनो का प्रयोग करना कन्दर्प कहा जाता है ॥ १ ॥

हास्य वचन और राग का उद्रेक—इन दोनो के साथ काय की दुष्ट चेष्टा करना कौत्कुच्य है। इन चेष्टाओ मे राग का समावेश होने से हास्य वचन और अशिष्ट वचन इन दोनो के साथ शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। अर्थात् काय की कुचेष्टाओ के साथ-साथ होने वाला हास्य और अशिष्ट प्रयोग कौत्कुच्य है ॥ २ ॥

धृष्टतापूर्वक यद्वा-तद्वा बहुप्रलाप करना मौखर्य है। शालीनता का त्याग कर निर्लज्जतापूर्वक बकवास करना मौखर्य है, ऐसा जानना चाहिए ॥ ३ ॥

असमीक्ष्य प्रयोजन (बिना कारण) आधिक्य करना अधिकरण है। अधिकरण शब्द मे 'अधि' का अर्थ 'अधिकरूप' मे है और करण का अर्थ अपूर्व प्रादुर्भाव है, अपूर्व के उत्पादन मे बिना प्रयोजन आधिक्य रूप से प्रवर्तन करना अधिकरण कहलाता है ॥ ४ ॥

---

१. निर्णीयते मु । २ परशरीरादौ ।

तत्त्रेधा कायवाङ्मनोविषयभेदात् । ५ । तदधिकरण त्रेधा व्यवतिष्ठते । कुत ? कायवाङ्मनोविषयभेदात् । तत्र मानस परानर्थककाव्यादिचिन्तनम्, वाग्गत निष्प्रयोजन-कथाख्यान परपीडाप्रधान यत्किञ्चनवक्तृत्वम्, कायिकं च प्रयोजनमन्तरेण गच्छँस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्तेतरपत्रपुष्पफलच्छेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात् । अग्निविषक्षारादिप्रदान [1]चारभेत इत्येवमादि, तत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम् ।

यावताऽर्थेनोपभोगपरिभोगौ सोऽर्थः, ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम् । ६ । यस्य यावताऽर्थेन उपभोगपरिभोगौ प्रकल्प्येते तस्य तावानर्थ इत्युच्यते, ततोऽन्यस्याधिक्य-मानर्थक्यं भवति ।

उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भावात् पौनरुक्त्यप्रसङ्ग इति चेत्; न; तदर्थानवधारणात् । ७ । स्यादेतत्–उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भवतीति पौनरुक्त्यमासज्यत इति; तन्न, कि कारणम् ? तदर्थानवधारणात् । इच्छावशात् उपभोगपरिभोगपरिमाणावग्रह सावद्य-प्रत्याख्यानं चेति तदुक्तम्, इह पुन कल्प्यस्यैव आधिक्यमित्यतिक्रम इत्युच्यते । नन्वेवमपि-

---

मन, वचन और काय के भेद से अधिकरण तीन प्रकार का है । निरर्थक काव्य आदि का चिंतन **मानस अधिकरण** है । निष्प्रयोजन परपीडादायक कुछ भी बकवास करना, अनर्गल प्रलाप करना **वाचनिक अधिकरण** है । बिना प्रयोजन चलते हुए, ठहरते हुए, बैठते हुए, सचित्त एव अचित्त पत्र, पुष्प, फलो का छेदन-भेदन, कुट्टन, क्षेपण आदि करना, अग्नि, विष, क्षार आदि पदार्थ देना आदि जो क्रिया की जाती है वह **कायिक अधिकरण** है । ये सर्व असमीक्ष्याधिकरण है अर्थात् मन-वचन-काय की निष्प्रयोजन चेष्टा **असमीक्ष्याधिकरण** है ।। ५ ।।

जितनी भोगोपभोग सामग्री से काम चल सकता है उससे अधिक निष्प्रयोजन सामग्री को आनर्थक्य कहते है । भोगोपभोग सामग्री का आनर्थक्य भोगोपभोगानर्थक्य कहलाता है ।। ६ ।।

प्रश्न—इसका (अनर्थदण्डव्रत के इस अतिचार का) उपभोगपरिभोगव्रत मे अन्तर्भाव हो जाता है अत भोगोपभोगानर्थक्य कहना पुनरुक्त दोष से युक्त है ? **उत्तर**—उपभोगपरिभोग आनर्थक्य मे पुनरुक्त दोष नही है, उसमे अर्थो को अनवधारणा है क्योकि उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत मे इच्छानुसार परिमाण किया जाता है और सावद्य का परित्याग किया जाता है, परन्तु यहाँ आवश्यकता का विचार है जो सकल्पित भी है । परन्तु यदि आवश्यकता से अधिक है तो अतिक्रम (अतिचार) कहा जाता है । **प्रश्न**—यदि यह अतिचार उपभोगपरिभोगव्रत मे अन्तर्भूत नही होता है तो उसके अतिचारो मे तो इसका अन्तर्भाव हो सकता है ? अत. "**उपभोगपरिभोगानर्थक्य**" शब्द का प्रयोग निरर्थक है ? **उत्तर**—यह "उपभोगपरिभोगानर्थक्य" निष्प्रयोजन नही है क्योकि

---

१. चारभ्येत्येव द. । चारभेत्येव –मू ता. श्र ।

तद्व्रतातिचारान्तर्भावात् इद वचनमनर्थकम् ? नानर्थकम्, सचित्ताद्यतिक्रमवचनात् । असमीक्ष्याधिकरणमित्यत्र सुप्सुपेति वृत्ति, मयूरव्यसकादित्वाद्वा । त एते पञ्च अनर्थदण्डविरतेरतीचारा ।

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।। ३३ ।।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः । १ । अय योगशब्दो व्याख्यातार्थो द्रष्टव्य । क्व ? **"कायवाङ्मनस्कर्मयोगः"** [६।१] इत्यत्र ।

दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वा दुःप्रणिधानम् । २ । प्रणिधान प्रयोग परिणामः इत्यनर्थान्तरम् दुष्ठु । पाप प्रणिधान दु प्रणिधानम्, अन्यथा वा प्रणिधान दुःप्रणिधानम् । तत्र क्रोधादिपरिणामवशात् दुष्ठु प्रणिधान शरीरावयवानाम् अनिभृतमवस्थानम्, वर्ण-सस्काराभावाऽर्थागमकत्वचापलादि वाग्गतम्, मनसोऽनर्पितत्व चेत्यन्यथा प्रणिधानम् ।

अनादरोऽनुत्साहः । ३ । इतिकर्तव्य प्रत्यसाकल्यात् यथाकथञ्चित् प्रवृत्तिरनुत्साह अनादर इत्युच्यते ।

उपभागपरिभोगपरिमाणव्रत के अतिचारो मे सचित्त सम्बन्धादि रूप मे मर्यादा अतिक्रम विवक्षित है। अत इसका वहाँ कथन नही किया है। 'असमीक्ष्याधिकरण' पद मे 'सुप्सुपा' या 'मयूर-व्यसकादि' समास है। अर्थात् इसमे 'प्रवर्तन' शब्द का लोप हो जाता है। जैसे—सोया फिर उठा, उसमे 'सुप्तोत्थ' समास होता है, वैसे ही यहाँ जानना चाहिये। ये पाँच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार है ।। ७ ।।

काय दुष्प्रणिधान, वचन दुष्प्रणिधान, मनःदुष्प्रणिधान, अनादर, स्मृत्यनुपस्थान, ये पाँच सामायिकव्रत के अतिचार है ।। ३३ ।।

योग शब्द का अर्थ पूर्व (छठे अध्याय) मे कह दिया है। 'कायवाङ्मनःकर्मयोगः' मन, वचन, काय की चेष्टा को योग कहते है ।। १ ।।

दुष्प्रणिधान यानी अन्यथा प्रवर्तना। प्रणिधान, प्रयोग और परिणाम ये एकार्थवाची है। दुष्ट—जो पाप परिणाम उसे दुष्प्रणिधान कहते है। अथवा योगो का अन्यथा प्रवर्तन योग-दुष्प्रणिधान है। क्रोधादि कषायो के वश होकर शरीर के अवयवो का विचित्र विकृत रूप हो जाना काय दुष्प्रणिधान है। वर्णसस्कार का अभाव तथा अर्थ के आगमकत्व मे चपलता अर्थात् निरर्थक अशुद्ध वचनो का प्रयोग करना वाचनिक दुष्प्रणिधान है। मन का अनर्पितत्व होना, अन्यथा होना, मन का उपयोग नही लगना मानसिक दुष्प्रणिधान है ।। २ ।।

अनुत्साह को अनादर कहते है। कर्त्तव्य कर्म का जिस-किस तरह निर्वाह करना अनादर या अनुत्साह है। अर्थात् सामायिक के प्रति उत्साह नही होना ही अनादर है ।। ३ ।।

अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानम् । ४ । अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थानमित्याख्यायते ।

मनोदुःप्रणिधानं तदिति चेत्; न; तत्रान्याचिन्तनात् । ५ । स्यादेतत्–स्मृत्यनुपस्थानं तन्मनोदुःप्रणिधानमेवेति तस्य ग्रहणमनर्थकमिति, तन्न, किं कारणम् ? तत्रान्याचिन्तनात् । तत्र हि अन्यत् किञ्चित् अचिन्तयतश्चिन्तयत एव वा विषये क्रोधाद्यावेशः औदासीन्येन वाऽवस्थानं मनसः, इह पुनः परिस्पन्दनात् चिन्तायाः एकाग्र्येणानवस्थानमिति विस्पष्टमन्य[1]त्वम् । [2]रात्रिन्दिवीयस्य वा प्रमादाधिकस्य सञ्चित्यानुपस्थानम् । त एते पञ्च सामायिकस्यातिक्रमाः ।

अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणाऽनादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।। ३४ ।।

एकाग्रता का न रहना ही स्मृत्यनुपस्थान है। अनेकाग्रता असमाहितमनस्कता और स्मृत्यनुपस्थान ये सब एकार्थवाची हैं । अर्थात् चित्त की एकाग्रता न होना और मन में समाधिरूपता का न होना **स्मृत्यनुपस्थान** कहा जाता है ।। ४ ।।

स्मृत्यनुपस्थान में अन्य का चिंतन न होने से मनोदुष्प्रणिधान नहीं है। **प्रश्न**—स्मृत्यनुपस्थान और मनोदुष्प्रणिधान ये दोनों एक ही हैं, अतः मनोदुष्प्रणिधान को ही ग्रहण करना चाहिए, स्मृत्यनुपस्थान का ग्रहण करना व्यर्थ है । **उत्तर**—अन्य का चिंतन होने से दोनों एक नहीं हैं । मनोदुष्प्रणिधान में अन्य विचार नहीं आते, जिस विषय का विचार किया जाता है, उसमें भी क्रोधादि का आवेश आ जाता है । अर्थात् उदासीनता से मन का अवस्थान मनोदुष्प्रणिधान है । किन्तु स्मृत्यनुपस्थान में चिन्ता का परिस्पन्दन होता है । अर्थात् मानसिक विकल्प चलते रहते हैं और चित्त में एकाग्रता नहीं आती है अतः दोनों में अन्यता स्पष्ट है । अथवा, रात्रि और दिन की नित्य क्रियाओं को ही प्रमाद की अधिकता से भूल जाना **स्मृत्यनुपस्थान** है । ये पाँच सामायिकव्रत के अतिचार हैं ।। ५ ।।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान, ये पाँच प्रोषधोपवास के अतिचार हैं ।। ३४ ।।

---

१ –मन्यथात्वम् मू, ता, श्र. । भेदत्वम् । २. रात्रिदिवियस्य मु, द. ।

प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः । १ । जन्तव. सन्ति न सन्ति चेति प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः प्रतीयते ।

प्रमार्जनमुपकरणोपकारः । २ । मृदुनोपकरणेन यत् क्रियते प्रयोजन तत् प्रमार्जनं प्रत्येतव्यम् ।

तस्य प्रतिषेधविशिष्टस्योत्सर्गादिभिः संबन्धः । ३ । तस्योभयस्य प्रतिषेध-विशिष्टस्य उत्सर्गादिभिस्त्रिभि· प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः इत्यादि । तत्राऽप्रत्यवेक्षिताया भुवि मूत्रपुरीषोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य अर्हदाचार्यपूजोपकरणस्य गन्धमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य वस्त्रपात्रादेश्चाऽऽदानम्, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य प्रावरणादेः सस्तरस्योपक्रमणम् ।

आवश्यकेष्वनादरः । ४ । आवश्यकेषु अनादर. अनुत्साहो भवति । कुतः ? क्षुदभ्यर्दितत्वात् ।

स्मृत्यनुपस्थानं व्याख्यातम् । ५ । त एते पञ्च प्रोषधोपवासस्यातिचारा ।

चक्षु का व्यापार प्रत्यवेक्षण है । यहाँ जन्तु है कि नही ? इस प्रकार प्रत्यवेक्षण मे चक्षु का व्यापार प्रतीत होता है ।। १ ।।

उपकरण का उपकार प्रमार्जन है । कोमल उपकरण से जो किया जाता है अर्थात् कोमल पिच्छिकादि उपकरण से भूमि आदि का शोधन करना प्रमार्जन जानना चाहिए ।। २ ।।

उस प्रतिषेध विशिष्ट का उत्सर्ग आदि के साथ सम्बन्ध करना चाहिए । उन प्रतिषेध विशिष्ट दोनो (अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित) का उत्सर्गादि प्रत्येक (उत्सर्ग, आदान, सस्तरोपक्रमण) के साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए, जैसे अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग इत्यादि । प्रत्यवेक्षण=देखना, प्रमार्जन=शोधना । प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन नही करना—अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जित है । बिना देखे और बिना शोधी हुई भूमि पर मलमूत्रादि करना—**अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्ग** है । बिना देखी, बिना शोधी हुई भूमि पर अर्हन्त या आचार्य की पूजा के उपकरण का रखना, उठाना तथा गन्ध, माला, धूपादि का और अपने परिधान (बिछौना) आदि वा वस्त्र-पात्रादि पदार्थो का रखना, उठाना, ग्रहण करना आदि **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान** है । बिना देखी वा बिना शोधी भूमि पर सथारा (बिछौना) आदि बिछाना **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरो-पक्रमण** है ।। ३ ।।

आवश्यक क्रियाओ मे अनुत्साह-**अनादर** है । भूख-प्यास आदि के कारण आवश्यक क्रियाओ में उत्साह नही रखना अनादर है ।। ४ ।।

स्मृत्यनुपस्थान का लक्षण पूर्व मे कह चुके हैं कि रात्रि और दिन की क्रियाओं को प्रमाद की अधिकता से भूल जाना **स्मृत्यनुपस्थान** है, ये पाँच प्रोषधोपवास के अतिचार हैं ।। ५ ।।

सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः । १ । चित्तं विज्ञान तेन सह वर्तत इति सचित्तः, चेतनावद्द्रव्यमित्यर्थः ।

तदुपश्लिष्टः संबन्धः । २ । तेन चित्तवता द्रव्येरणोपश्लिष्ट सबन्ध इत्याख्यायते । संबध्यत इति सबन्ध. ।

तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः । ३ । तेन सचित्तेन द्रव्येरण व्यतिकीर्ण. समिश्र इति कथ्यते । समिश्रयत इति समिश्र· ।

पूर्वेरणाविशिष्ट इति चेत्; न; तत्र संसर्गमात्रत्वात् । ४ । स्यान्मतम्—संबन्धेनाविशिष्टः संमिश्र इति ? तन्न, किं कारणम् ? तत्र ससर्गमात्रत्वात् । सचित्तसबन्धे हि ससर्गमात्रं विवक्षितम्, इह तु सूक्ष्मजन्तुव्याकुलत्वे विभागीकरणस्याशक्यत्वात् नानाजातीयद्रव्यसमाहार· सूक्ष्मजन्तुप्राय आहार· संमिश्र इष्ट· । कथं पुनरस्य

सचित्त, सचित्तसम्बन्ध, सचित्तसंमिश्रण, अभिषव और दुष्पक्व आहार, ये पाँच उपभोगपरिभोगसंख्यानव्रत के अतिचार है ॥ ३५ ॥

चित्त के सहित सचित्त कहलाता है । चित्त नाम विज्ञान का है, विज्ञान नाम चेतना का है, इसलिए चेतनासहित द्रव्य को सचित्त कहते हैं ॥ १ ॥

उस चित्त के साथ उपश्लिष्ट है, उसे सम्बन्ध कहते है । उस जीवसहित सचित्त द्रव्य से सम्बन्धित वस्तु को सचित्त सम्बन्ध कहते है । जो दूसरी वस्तु से ससर्ग करे, सयोग करे, उसी का नाम सम्बन्ध है ॥ २ ॥

सचित्त के साथ व्यतिकीर्ण (व्याप्त) है, उसे सचित्तसम्मिश्र कहते है । वा 'सम्मिश्रयते' अर्थात् सचित्त और अचित्त दोनो मिलकर एकमेक हो जाएँ, परस्पर भेद नही रहे, वह सचित्तसमिश्र कहलाता है ॥ ३ ॥

ससर्ग मात्रत्व की अपेक्षा होने से सम्मिश्र और सम्बन्ध को एक नही कह सकते । **प्रश्न**—सम्बन्ध और सम्मिश्र मे कोई विशेषता नही है अतः इन दोनो मे एक का ही ग्रहण होना चाहिये ? **उत्तर**—ये दोनो एक नही है, क्योकि सम्बन्ध मे केवल ससर्ग मात्र की अपेक्षा है । सचित्त सम्बन्ध में केवल ससर्ग विवक्षित है तथा सचित्तसम्मिश्र मे सूक्ष्म जन्तुओ से आहार ऐसा मिला हुआ होता है, जिसका विभाग करना शक्य नही है अर्थात् मिली हुई, एकमेक हुई वस्तु को सम्मिश्र कहते है । वा नाना जातीय द्रव्यो का समाहार (समूह) सूक्ष्म जन्तुओ से मिला हुआ आहार जिसमे गर्भित है, वह सचित्तसम्मिश्र है । **प्रश्न**—उपभोगपरिभोग सख्यान वाले व्यक्ति की सचित्तसम्मिश्र मे प्रवृत्ति

सचित्तादिषु वृत्ति ? प्रमादसमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्ति । क्षुत्पिपासातुरत्वात् त्वरमाणस्य सचित्तादिषु अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति ।

द्रवो वृष्यं वाऽभिषवः । ५ । द्रव सौवीरादिक वृष्य वा द्रव्यमभिषव इत्यभिधीयते ।

असम्यक्पक्वो दुष्पक्वः । ६ । अन्तस्तण्डुलभावेनाऽतिविक्लेदनेन वा दुष्ठु पक्व आहारो दुष्पक्व इत्युच्यते । ननु दुष्पच इति प्राप्नोतीति,[1] कृच्छ्रार्थविवक्षाभावात् न भवति । तस्याभ्यवहारे को दोष ? इन्द्रियमदवृद्धि स्यात्, सचित्तप्रयोगो वा वातादिप्रकोपो वा, तत्प्रतीकारविधाने स्यात् पापलेप , अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति । त एते पञ्च उपभोगपरिभोगसख्यानमर्यादाश्रे षा[2] ।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेश[3]मात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥

कैसे हो सकती है ? उत्तर—प्रमाद तथा मोह के कारण क्षुधा, तृषा से पीड़ित व्यक्ति की जल्दी-जल्दी मे सचित्त सम्बन्ध, सचित्तसम्मिश्र आदि मे भोजन, पान, अनुलेपन तथा परिधान (वस्त्रादि) आदि के लिए प्रवृत्ति हो जाती है ॥ ४ ॥

द्रव और उत्तेजक भोजन को अभिषव कहते है । द्रव सिरका आदि और उत्तेजक कामोद्दीपक पुष्टिकारक भोजन का आहार अभिषव कहलाता है ॥ ५ ॥

जो अच्छी तरह नही पका हुआ हो वह दुष्पक्व कहलाता है । जो चावल, दाल आदि ऊपर से पक गए हो पर भीतर नही पके हो अर्थात् अच्छी तरह से पके हुए नही हो । वा जिस खाद्य पदार्थ का अधिक पाक हो जाए, वह आहार दुष्पक्व कहलाता है । प्रश्न—'दुष्पच' शब्द से भी यही अर्थ निकलता है, वैसा कहने से अर्थ और भी स्पष्ट होता है । उत्तर—कृच्छ विवक्षा मे 'दुष्पच' शब्द बनता है, परन्तु यहाँ उसकी विवक्षा नही है अत दुष्पक्व शब्द का प्रयोग किया गया है । प्रश्न—दुष्पक्व आहार के करने मे क्या दोष है ? उत्तर—दुष्पक्व भोजन से इन्द्रियो मे मद की वृद्धि होती है । सचित्त वस्तु के खाने से वायु आदि दोषो का प्रकोप हो सकता है, फिर उनका प्रतिकार करने की क्रियाओ मे पाप लगता है और अतिथि (मुनिगण) उसे ग्रहण नही करते है अत. वह त्याज्य है । ये पाँच उपभोगपरिभोगसख्यानव्रत के अतिचार है ॥ ६ ॥

सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम, ये पाँच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार है ॥ ३६ ॥

---

१. –ति तत्र किं कारणम् कृ–मु. । २ –दाभेदाः –मू , ता , आ., द. । अतिचारा इत्यर्थ मु टि ।
३ –शकरणमा –श्र ।

सचित्ते निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः । १ । सचित्तो व्याख्यातः । सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं निक्षेप इत्युच्यते । **"साधनं कृता"**[1] इति वा मयूरव्यसकादित्वाद्वा वृत्तिः ।

प्रकरणात् सचित्तेनाऽपिधानम् । २ । अपिधानमावरणमित्यर्थः । प्रकरणवशात् सचित्तेनापिधानमिति विशेष्यते, इतरथा हि प्रागधिकरणत्वेन निर्दिष्टं सचित्तग्रहणं नाभिसंबध्येत ।

अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः । ३ । अन्यत्र दातारः सन्ति दीयमानोऽप्यमन्यस्येति वा अर्पणं परव्यपदेश इति प्रतिपाद्यते ।

प्रयच्छतोऽप्यादराभावो मात्सर्यम् । ४ । प्रयच्छतोऽपि सतः आदरमन्तरेण दानं मात्सर्यमिति प्रतीयते ।

अकाले भोजनं कालातिक्रमः । ५ । अनगाराणाम् अयोग्यकाले भोजन कालातिक्रम इति कथ्यते । त एते पञ्च अतिथिसंविभागशीलभ्रेषाः प्रणीताः ।

सचित्त पर रखा हुआ सचित्तनिक्षेप कहलाता है । सचित्त का लक्षण पहले कह दिया है । सचित्त कमल-पत्र आदि पर रखी हुई वस्तु **सचित्तनिक्षेप** कहलाती है । यहाँ पर 'साधन कृता' इस सूत्र से अथवा मयूरव्यसकादि गण में पाठ होने से समास हो जाता है ।। १ ।।

प्रकरण से सचित्त से ढकना सचित्तापिधान है । अपिधान और आवरण ये एकार्थवाची है । प्रकरणवश सचित्त से ढकना **सचित्तापिधान** है । यदि विशेष अर्थ प्रकरणवश ग्रहण नही किया जाय तो पहले जो सचित्त शब्द अधिकरण रूप से कहा गया है, उसका सम्बन्ध यहाँ घटित नही होता ।। २ ।।

अन्य दाता का द्रव्य है, ऐसा कहकर अर्पण करना परव्यपदेश है । 'दाता दूसरे स्थान पर है, यह देय पदार्थ भी दूसरे का है' ऐसा कहकर अर्पण करना **परव्यपदेश** है ।। ३ ।।

अतिथि को आहार देते समय अनादर भाव रखना मात्सर्य है । आहार देते समय आदर भाव के विना देना **मात्सर्य** कहलाता है ।। ४ ।।

अकाल मे आहार देना कालातिक्रम है । अनगारो के अयोग्य काल मे आहार देना वा साधुओ के भिक्षाकाल को टाल देना **कालातिक्रम** कहा जाता है । ये अतिथिसविभागव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं ।। ५ ।।

---

१ जैनेन्द्र १।३।२० ।

सप्तानामपि शीलानामतीचारा उक्ता उच्चावचा.।[1] अथ सल्लेखनाया मरण-विशेषापादनसमर्थाया अनुपदिष्टचित्तेनारभ्याया. केऽतीचारा भवन्तीति ? अत आह–

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

आकाङ्क्षणमाशंसा । १ । आकाङ्क्षणमभिलाष आशसेत्युच्यते। जीवित च मरण च जीवितमरणम,[2] जीवितमरणस्य आशंसा जीवितमरणाशसा ।

अवश्यहेयत्वे शरीरस्यावस्थानादरो जीविताशंसा । २ । शरीरमिदमवश्य हेय जलबुद्बुद्वदनित्यम्, अस्यावस्थान कथ स्यादित्यादरो जीविताशंसा प्रत्येतव्या ।

[3]**जीवनसंक्लेशात् मरणं प्रति चित्तानुरोधो मरणाशसा । ३ ।** [4]रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरण प्रति चित्तस्य प्रणिधान मरणाशंसा इति व्यपदेशमर्हति ।

सातो ही शीलो के अतिचार बहुत भेदो के साथ कह दिये गये, अब मरणविशेष (समाधि-मरण) के निष्पादन मे समर्थ, बिना किसी की प्रेरणा के स्वय अपने मन से धारण की हुई सल्लेखना के अतिचार कौन-कौन से है ? उनका वर्णन करते है—

जीने की आकांक्षा करना, मरने की आकांक्षा करना, मित्रों में अनुराग करना, पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण करना और निदान-बंध करना, ये पाँच सल्लेखनाव्रत के अतिचार हैं ॥ ३७ ॥

आकाक्षा को आशसा कहते हैं। आकाक्षण, अभिलाषा और आशसा ये एकार्थवाची हैं। जीवन को आकाक्षा करना जीविताशसा है और मरण की अभिलाषा करना मरणाशसा है ॥ १ ॥

अवश्य नष्ट होने वाले शरीर के अवस्थान मे आदर जीविताशसा है, यह शरीर अवश्य त्यागने योग्य है, जल के बबूले के समान अनित्य है। ऐसे इस शरीर की स्थिति किस प्रकार रखी जाए, कैसे यह बहुत काल तक टिका रहे इत्यादि रूप से शरीर के ठहरने की अभिलाषा **जीविताशंसा** है, ऐसा जानना चाहिये ॥ २ ॥

जीवन के सक्लेश के कारण मरण के प्रति चित्त काअनुरोध मरणाशसा है। रोगादि की तीव्र पीडा के कारण जीवन में सक्लेश होने पर मरण के प्रति चित्त का प्रणिधान होना **मरणाशंसा** है। सल्लेखना धारण कर लेने पर भी यदि ख्याति हो रही हो तो जीवन की अभिलाषा करना और शारीरिक पीड़ा के कारण मरने की इच्छा करना **जीवितमरणाशंसा** है ॥ ३ ॥

---

१ अनेकद्रकारा.। २. –मरणे तयोराश –मु । ३ जीवितस –मु । ४. रागोप–ता श्र ।

पूर्वकृतसहपांशुक्रीडनाद्यनुस्मरणान्मित्रानुरागः । ४ । व्यसने सहायत्वमुत्सवे सभ्रम. इत्येवमादिषु कृतं बाल्ये युगपत् क्रीडनमित्येवमादीनामनुस्मरणात् मित्रेऽनुरागो भवति ।

अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः । ५ । एवं मया भुक्त शयित क्रीडितमित्येवमादि प्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहार. सुखानुबन्ध इत्यभिधीयते ।

भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम् । ६ । विषयसुखोत्कर्षाभिलाषो भोगाकाङ्क्षा तया नियतं चित दीयते तस्मिस्तेनेति वा निदानमिति व्यपदिश्यते । एते पञ्च सल्लेखनाया. व्यतिक्रमा ।

अत्राह–उक्त भवता तीर्थकरत्वकारणकर्मास्रवनिर्देशे 'शक्तितस्त्यागतपसी' इति, पुनश्चोक्त शीलव्रतविधाने 'अतिथिसंविभाग' इति, तस्य दानस्य लक्षणमनिर्ज्ञातं तदुच्यतामिति ? अत आह–

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

पूर्वकृत, मित्रों के साथ धूलि मे खेलने आदि का स्मरण मित्रानुराग है। अर्थात् वचपन मे जिनके साथ धूलि मे खेले है, जिन्होने आपत्ति मे सहायता दी है और सुख-उत्सव आदि मे जो सहयोगी वने है उन मित्रो का स्मरण करना **मित्रानुराग** है ॥ ४ ॥

पूर्वानुभूत प्रीतिविशेप का स्मृतिसमन्वाहार सुखानुबन्ध है। 'मैंने यह खाया, इस प्रकार के पलग पर सोता था, इस प्रकार की क्रीड़ा करता था' इत्यादि पूर्व भुक्तक्रीडा, शयन, भोग आदि का स्मरण करना **सुखानुवन्ध** कहा जाता है ॥ ५ ॥

भोगो की काक्षा मे जिसमे चित्त दिया जाता है, वह निदान है। विषयसुखो की उत्कट अभिलाषा भोगाकाक्षा है। उस भोगाकाक्षा से जिसमे नियत रूप से चित्त दिया जाता है वह निदान है, अर्थात् भविष्यत्काल मे भोगो की वाञ्छा करना निदान है। ये पाँच सल्लेखनाव्रत के अतिचार है ॥ ६ ॥

अव शिष्य कहता है कि आपने तीर्थकर प्रकृति के आस्रव के कथन मे 'शक्ति अनुसार त्याग', 'शक्त्यनुसार तप' वताया है तथा सात प्रकार के शीलव्रतो के वर्णन मे भी अतिथिसविभागव्रत कहा है जिसका अपर नाम दान है परन्तु दान का लक्षण कही पर भी नही कहा, उस दान का लक्षण अवश्य कहना चाहिए। अतः अव दान का लक्षण कहते है—

स्व और पर के उपकार के लिये अपने धन का त्याग करना दान है ॥ ३८ ॥

स्वपरोपकारोऽनुग्रहः । १ । स्वस्य परस्य चोपकारः अनुग्रह इत्याख्यायते । स्वोपकार पुण्यसचय , परोपकार. सम्यग्ज्ञानादिवृद्धि. ।

स्वशब्दो धनपर्यायवचनः । २ । आत्मात्मीयज्ञातिधनपर्यायवाचित्वे स्वशब्दस्य धनपर्यायवाचिनो ग्रहणमिह द्रष्टव्यम् । अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्ग. त्यागो दान वेदितव्यम् ।

अत्राह–उक्तं दान तत्किमविशिष्टफलमाहोस्वित् अस्ति कश्चित् प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते–

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।। ३९ ।।

प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः । १ । प्रतिग्रह उच्चदेशस्थापन पादप्रक्षालनम् अर्चन प्रणमनमित्येवमादिक्रियाविशेपाणा क्रमो विधिरित्याख्यायते ।

विशेषो गुणकृतस्तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः । २ । परस्परतो विशेष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः, स गुणकृतः, तस्य प्रत्येकमभिसबन्धो भवति–विधिविशेष. द्रव्यविशेष दातृविशेषः पात्रविशेष इति । तत्र विधिविशेष· प्रतिग्रहादिषु आदरानादरकृतो भेद ।

स्व और पर का उपकार अनुग्रह है। स्वोपकार और परोपकार को अनुग्रह कहते हैं। साधुओ को दान देने से दाता के पुण्य का सचय होता है, यह स्वोपकार है और शुद्ध आहार करने से साधुओ के ज्ञान-ध्यान की वृद्धि होती है, वह परोपकार है ।। १ ।।

'स्व' शब्द धन का पर्यायवाची है। 'स्व' शब्द के आत्मा, आत्मीय जाति, धन आदि अनेक अर्थ होते हैं, परन्तु यहाँ पर 'स्व' शब्द का अर्थ धन पर्यायवाचक ग्रहण करना चाहिये। स्वपर का अनुग्रह करने के लिए धन का त्याग करना दान है ।। २ ।।

शिष्य कहता है कि दान का फल सबको समान मिलता है कि उसमे कुछ विशेषता है ? उस दान के विशिष्ट फल को या फल मे भेद करने वाले कारणो को कहते हैं, क्योकि सबको समान फल नही मिलता। दान मे होने वाले फलविशेष को कहते है–

विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाताविशेष और पात्रविशेष से फलविशेष की प्राप्ति होती है ।। ३९ ।।

प्रतिग्रहादि क्रम को विधिविशेष कहते है। पात्र का प्रतिग्रह–पडगाहन करना, उच्चस्थान देना, उसके पाद प्रक्षालन करना, पात्र की पूजा करना, नमस्कार करना, मन-वचन और काय की शुद्धि रखना और अन्न-जल का शुद्ध होना; इस नवधा-भक्ति को विधिविशेष कहते है ।। १ ।।

यहाँ विशेष गुणकृत है अत. उसका सम्बन्ध प्रत्येक मे अभिसम्बन्धित है। परस्पर की विशेपता को विशिष्टि अथवा विशेष कहते है। वह विशेपता गुणकृत होती है अतः विशेष का सम्बन्ध प्रत्येक मे लगाना चाहिये। जैसे–विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेष। प्रतिग्रह आदि

तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः । ३ । दीयमाने अन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तप स्वाध्यायपरिणामविवृद्धिकारणत्वादिर्द्रव्यविशेष इति भाष्यते ।

अनसूया[1]ऽविषादादिर्दातृविशेषः । ४ । प्रतिगृहीतरि अनसूया त्यागेऽविषाद. दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोग. कुशलाभिसन्धिता दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादि. दातृविशेषोऽवसेयः ।

मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः । ५ । मोक्षकारणैः सम्यग्दर्शनादिभि. गुणैः. योग पात्रविशेष इति प्रतीयते ।

ततश्च फलविशेषः क्षित्यादिविशेषाद् बीजफलविशेषवत् । ६ । ततश्च विध्यादि विशेषाद्दानफलविशेषो भवति, यथा क्षित्यादिकारणविशेषसन्निपाते सति नानाविधबीजफलविशेष इति ।

क्रियाओ मे आदरविशेष ही **विधिविशेष** है, क्योकि प्रतिग्रह आदि मे आदर-अनादरकृत ही भेद होता है ।। २ ।।

तप, स्वाध्याय की परिवृद्धि का कारण द्रव्यविशेष है । दिये जाने वाले अन्न आदि मे ग्रहण करने वाले (साधुजनो) के तप, स्वाध्याय के परिणामो की वृद्धिकारणभूतता है, वा जो ग्रहण करने वाले के तप, स्वाध्याय, ध्यान और परिणामो की शुद्धि आदि की वृद्धि का कारण हो वह **द्रव्यविशेष** कहा जाता है ।। ३ ।।

अनसूया अविषाद आदि दातृविशेष है । पात्र के प्रति ईर्षा का नही होना, त्याग मे विषाद नही होना, देने की इच्छा करने वाले मे या देने वाले मे वा जिसने दान दिया है उन सब मे प्रीति होना, कुशल अभिप्राय होना, प्रत्यक्ष फल की आकाङ्क्षा नही करना, किसी से विसवाद नही करना और निदान नही करना **दातृविशेष** है ।। ४ ।।

मोक्ष के कारणभूत गुणो का सयोग जिसमे हो वह पात्रविशेष है । मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से जो युक्त है अर्थात् मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुण जिसमे पाये जाते हैं वह **पात्रविशेष** है ।। ५ ।।

पृथ्वी, जल आदि विशेष से जैसे वीज फलविशेष होता है वैसे ही विधिविशेष आदि से फलविशेष की प्राप्ति होती है । जैसे भूमि, वीज आदि कारणो मे गुणवत्ता (विधिविशेषादि) होने से फलविशेष की प्राप्ति होती है अर्थात् अत्यधिक फलोत्पत्ति देखी जाती है । नाना प्रकार से वीजो की उत्पत्ति होना उसका विशेष है । उसी प्रकार विधिविशेष, दातृविशेप, द्रव्यविशेप और पात्रविशेप से दान के फल मे विशेषता आती है ।। ६ ।।

---

१ –याविशेपादि श्र ।

निरात्मकत्वे सर्वभावानां विध्यादिस्वरूपाभावः । ७ । निरात्मका· सर्वे भावा इत्यस्मिन् दर्शने विध्यादिस्वरूपाभावः स्यात् । अस्ति चेद्विध्यादिस्वरूपम्, 'निरात्मका सर्वे भावाः' इत्यमुष्य सङ्गरस्य व्याघातः ।

क्षणिकत्वाच्च विज्ञानस्य तदभिसन्धानाभावः । ८ । क्षणमात्रावलम्बिनि विज्ञाने 'पात्रभूतोऽयमृषिस्तपःस्वाध्यायपरायणो मामनुगृहीष्यति, अस्मै च देयमिद व्रतशील-भावनापरिबृहणकरम्, अय चात्र विधि.' इत्यभिसन्धिर्न स्यात्, पूर्वोत्तरक्षणविषय-संस्कारावग्रहसमर्थैकज्ञानाभावात् ।

नित्यत्वाज्ञत्वनिष्क्रियत्वाच्च । ९ । [1]यस्यापि दर्शन–सत आत्मनोऽकारण-त्वान्नित्यत्वम् ज्ञानगुणादर्थान्तरभूतत्वादज्ञत्वम्, सर्वगतत्वान्निष्क्रियत्वम्; तस्य तत एव विध्याद्यनुपपत्तिः ।

क्रियागुणसमवायादुपपत्तिरिति चेत्; न; तत्परिणामाभावात् । १० । स्यादेतत्-अर्थान्तरत्वेऽपि इहेद बुद्धिलक्षणात् समवायादेकत्वापत्ताविव तद्व्यपदेशोपपत्ते,

---

सर्व पदार्थो को निरात्मक मानने पर विधि आदि रूप का अभाव हो जाता है । जिस दर्शन मे निरात्मक (क्षणिक) है उस दर्शन मे विधि आदि की विशेषता नही हो सकती । यदि विधि आदि की विशेषता है तो 'सर्व भाव निरात्मक हैं' इस सिद्धान्त के व्याघात का प्रसङ्ग आता है ।। ७ ।।

क्षण मात्र अवलम्बन रूप विज्ञान मे इस बात की सिद्धि नही होती । जब ज्ञान सर्वथा क्षणिक है (बौद्धदर्शन) तब 'तप, स्वाध्याय और ध्यान मे परायण यह ऋषि मेरा उपकार करेगा, इसके लिए दिया गया दान, व्रत-शील-भावना आदि की वृद्धि करेगा, इसकी यह विधि है' । इस प्रकार का अनुसधान-प्रत्यभिज्ञान नही हो सकता, क्योकि पूर्वोत्तर क्षणविषयक ज्ञान, सस्कार आदि के ग्राहक एक ज्ञान का अभाव है, अत· इस पक्ष मे दानविधि नही बन सकती ।। ८ ।।

आत्मा मे नित्यत्व, अज्ञत्व और निष्क्रियत्व मानने पर भी दानविधि नही बन सकती । जिनके सिद्धान्त मे सत्स्वरूप आत्मा अकारण होने से कूटस्थ नित्य है और ज्ञानादि गुणो से भिन्न होने से (अर्थान्तरभूत होने से) आत्मा अज्ञ है और सर्वगत होने से निष्क्रिय है, उनके भी विधिविशेष आदि से फलविशेष की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योकि ऐसी आत्मा मे कोई विकार-परिवर्तन की सम्भावना नही है ।। ९ ।।

नित्य आत्मा के परिणमन का अभाव होने से क्रियागुण समवाय से भी उत्पत्ति नही होती । **प्रश्न**—गुण-गुणी मे भेद होने पर भी 'यह इसमे है, ऐसे बुद्धिलक्षण के कारग' समवाय सम्बन्ध से गुणगुणी मे एकत्व की उत्पत्ति होती है । अर्थात् एकता होने से 'यह इसका है' ऐसा व्यपदेश होने से विधिविशेष आदि क्रियाये बन जाती है । **उत्तर**—समवाय से क्रियागुण आदि का द्रव्य के साथ

---

१. नैयायिकस्य –स टि ।

विध्याद्युपपत्तिरिति तन्न, कि कारणम् ? तत्परिणामाभावात् । यथा देवदत्तस्य दण्डयोगाद्दण्डिव्यपदेशेऽपि न दण्डस्वभावापत्तिः तथा आत्मनोऽपि क्रियागुणवद्व्यपदेशेऽपि तत्स्वभावसक्रमाभाव·, ततश्चाधिकृतविध्याद्यभाव एव ।

क्षेत्रस्य वाऽचेतनत्वात् । ११ । [१]यस्यापि दर्शनम्–चतुर्विशतिविध [२]क्षेत्रमचेतनम्, क्षेत्रज्ञश्चेतन पुरुष इति, तस्यापि क्षेत्रस्याचेतनत्वाद्विध्याद्यभिसन्धानाभावो घटादिवत् । अथास्ति विध्याद्यभिसन्धिः, न तर्हि अचेतनं क्षेत्रम् । क्षेत्रज्ञस्य[३] च नित्यत्वात् शुद्धत्वात् नि·क्रियत्वादेव विध्याद्यनुपपत्ति· ।

स्याद्वादिनस्तदुपपत्तिरनेकान्ताश्रयणात् । १२ । स्याद्वादिनस्तु तेषा विध्यादीनामुपपत्तिः । कुतः ? अनेकान्ताश्रयणात्–स्यान्नित्य आत्मा स्यादनित्य इत्येवमाद्यनेकान्ताश्रयणादेकान्तदृष्टिदोषाभाव ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके[४] व्याख्यानालङ्कारे सप्तमोऽध्यायः[५] समाप्तः ।। ७ ।।

सम्बन्ध मान लेने पर भी जब तक स्वय वैसा परिणमन नही होगा, तब तक दान आदि की विधि नही बन सकती । जिस प्रकार देवदत्त के 'दण्ड के सयोग' (सम्बन्ध) से 'दण्डी' यह व्यपदेश होने पर भी दण्डस्वभाव की प्राप्ति नही होती, अर्थात् देवदत्त दण्ड रूप परिवर्तन नही करता, अर्थात् देवदत्त मे दण्डस्वभावता नही आती उसी प्रकार क्रिया और गुणो को आत्मा से सर्वथा भिन्न मानकर उनके समवाय से क्रियागुण वाला द्रव्य है; ऐसा व्यपदेश होने पर भी गुणस्वभावता के सक्रम का अभाव है अत· अधिकृत विधि आदि का अभाव है ।। १० ।।

अथवा, क्षेत्र के अचेतनता है । 'महान् अहकार आदि चौबीस प्रकार का क्षेत्र अचेतन है और क्षेत्रज्ञ पुरुष चेतन है' इस साख्यदर्शन मे भी क्षेत्रभूत प्रकृति जब अचेतन है तो उसे घटादि की तरह विधि आदि का प्रतिसन्धान नही हो सकता । यदि साख्यदर्शन मे विधि आदि का प्रतिसन्धान होता है तो क्षेत्र अचेतन नही हो सकता, अर्थात् क्षेत्र को अचेतन नही कह सकते । क्षेत्रज्ञ को नित्यत्व, शुद्धत्व और निष्क्रियत्व मानने पर विधिविशेष, द्रव्यविशेष आदि का अनुसन्धान नही हो सकता ।। ११ ।।

अनेकान्त का आश्रय होने से स्याद्वादी के तो सर्व घटित हो सकता है । अनेकान्तवादी जैनदर्शन मे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा नित्य है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्य है । इस प्रकार स्याद्वाद का आश्रय लेने से विधिविशेष, द्रव्यविशेष, फलविशेष आदि का अनुसन्धान हो जाता है, क्योकि अनेकान्त दृष्टि मे दोषो का अभाव है ।। १२ ।।

इस प्रकार तत्त्वार्थवार्त्तिक व्याख्यान अलंकार में सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।। ७ ।। □

---

१ साख्यस्य –स टि । २ शरीरम् महदहङ्कारादिभेदात् चतुर्विंशतिविधप्रकृत्यात्मक जडतत्त्वम् –स टि ।
३. मा भवतु नाम क्षेत्रस्य आत्मनो भवतु को दोषः । ४ कव्या –मु । ५ –ध्याय मु, मू ।

अष्टमोऽध्यायः

आस्रवपदार्थ उक्तः । अवसरप्राप्त बन्धं व्याचक्ष्महे । स पुनश्चेतनेतरद्रव्य-परिणामः नामादिचतुष्टयधर्मभागपि द्रव्यभावबन्धविशेषाद् द्वयीमवस्था बिभर्ति । तत्र जतुकाष्ठरज्जुनिगलादिलक्षणं द्रव्यबन्ध बहुप्रकारं हित्वा प्रकरणसामर्थ्याद्भावबन्धं ब्रूम. । स द्वेधा-कर्म-नोकर्मबन्धभेदात् । मातापितृपुत्रस्नेहसंबन्ध. नोकर्मबन्ध. । य. पुन. अय-मितर: कर्मबन्धः त पौनर्भविककर्मबन्धसन्ततिसद्भावादादिमन्तमनादिमन्त च प्रतिजानीमहे बीजाङ्कुरप्रादुर्भावसन्तानवत् । आह–आस्ता तावद्[1] व्याख्यानम्, इदमेव तावदग्रे वक्तव्यम्–[के] इमे बन्धहेतवो यैरयं बन्धः प्रवर्तत इति ? इतरथा हि बन्धपदार्थप्रक्लृप्तये पुनस्तद्धेतवः प्रणेतव्याः स्युः ।

स्यादेतत्–कारणाभावाद् बन्धप्रसिद्धिसामर्थ्यमित्येतच्च वार्तम्,[2] अनिर्मोक्ष-

---

छठे और सातवे अध्याय मे आस्रव तत्त्व का वर्णन कर दिया, अब अवसरप्राप्त बन्ध का वर्णन करेंगे । बन्ध चेतन और अचेतन द्रव्यो का परिणाम-परिणमन वा पर्याय है । यद्यपि बन्ध नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा चार प्रकार का है तथापि द्रव्य और भाव की अपेक्षा से बन्ध दो अवस्थाओ को ही धारण करता है । अर्थात् द्रव्यबन्ध और भावबन्ध की अपेक्षा बन्ध दो प्रकार का है । उसमें जतुबन्ध, काष्ठबन्ध, रज्जुबन्ध, बेडी का बन्धन आदि की अपेक्षा द्रव्यबन्ध बहुत प्रकार का है, उस द्रव्यबन्ध का वर्णन न करके प्रकरण के सामर्थ्य से भावबन्ध का वर्णन करते है । अर्थात् यहाँ भावबन्ध का प्रकरण है अतः भावबन्ध का निरूपण करते है । वह भावबन्ध नोकर्मबन्ध और कर्मबन्ध के भेद से दो प्रकार का है । माता-पिता-पुत्र आदि का स्नेह सम्बन्ध नोकर्मबन्ध है । जो कर्मबन्ध है उसको पुनर्भविक कर्मबन्ध सन्तति का सद्भाव होने से सादि, सान्त और पूर्णतया नाश न होने से अनादि अनन्त जानना चाहिये, क्योकि बीज और अड्कुर के समान इसके प्रादुर्भाव की सन्तान चलती रहती है । बन्ध का विशेष व्याख्यान तो आगे कहना है इसलिये इसके वर्णन को तो यहाँ छोड देते है और उन बन्ध हेतुओ का वर्णन करते हैं जिनसे बन्ध होता है ।

कारण के अभाव में बन्ध का सामर्थ्य कहना वा बन्ध की वार्त्ता करना निस्सार है । क्योकि

1. विशेषाख्यान बन्धस्य । 2 असारम् ।

प्रसङ्गात् । अकस्माच्च तदभावात् । यद्यकस्माद्बन्धः; मोक्षः [1]कस्मान्नाकस्मात् ? न चाकस्माद्बन्धमोक्षौ; तदर्थप्रक्रियाविरोधप्रसङ्गात् । अतो बन्धमुक्त्वा मा पुनर्वोचं[2] इति आदौ एव बन्धकारणनिर्देशोऽनुष्ठेय । कार्य–कारणयोश्च पूर्वापरभावात् पूर्वं कारणं वाच्यं पश्चात् कार्यम्, उच्यते[3]–न वक्तव्याः पुनरिह, यस्मात् षष्ठसप्तमयोः[4] विविधफलानुग्रहतन्त्रास्रवप्रकरणवशात् सप्रपञ्चाः आत्मनः कर्मबन्धहेतवो व्याख्याताः । के पुनस्ते ?

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

क्व पुनरेते उक्ताः ?

मिथ्यादर्शनं क्रियास्वन्तर्भूतम् । १ । पञ्चविंशतिः क्रिया उक्ताः तास्वन्तर्भूतं मिथ्यादर्शनं द्रष्टव्यम् ।

विरतिप्रतिपक्षभूताऽप्यविरतिः । २ । विरतिर्व्याख्याता, तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिरपि तत्रैव वर्णिता **"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः"** [त.सू. ६।५] इत्यत्र ।

यदि बन्ध बिना हेतुओ के माना जाता है तो अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग आता है, अर्थात् मोक्ष कभी नही हो सकेगा, क्योकि अकस्मात् मोक्ष का अभाव है । यदि अकस्मात् बन्ध, मोक्ष होता है तो कैसे होता है वा किससे होता है ? अकस्मात् बन्ध और मोक्ष ? यह प्रश्न उठता है, अतः बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया के विरोध का प्रसङ्ग होने से बन्ध और मोक्ष अकस्मात् नही है । बन्ध को कहकर पुनः बन्ध के कारणो को कहना उपयुक्त नही है, इसलिये बन्ध के कारणो का निर्देश आदि मे करना चाहिये । कार्य और कारण मे पूर्वापरभाव होने से पूर्व मे कारण और पश्चात् कार्य का वर्णन करना चाहिये । **प्रश्न**—यहाँ पर बन्ध के कारणो का वर्णन नही करना चाहिये, क्योकि छठे और सातवे अध्याय मे विविध फल के अनुग्रहतत्रभूत आस्रव के प्रकरणवश विस्तारपूर्वक आत्मा के कर्मबन्ध के कारणो का वर्णन कर चुके है । **उत्तर**—जिनका छठे और सातवे अध्याय मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है, वे बन्ध के हेतु सक्षेप मे कौन-कौन से है, ऐसा पूछने पर आचार्य सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये बन्ध के कारण है ॥ १ ॥

प्रश्न—इनका पूर्व मे वर्णन कहाँ किया है ? **उत्तर**—छठे अध्याय मे आस्रव के प्रकरण मे कथित पच्चीस क्रियाओ मे उल्लिखित मिथ्यात्व क्रिया मे मिथ्यादर्शन अन्तर्भूत है ॥ १ ॥

विरति को प्रतिपक्षभूत अविरति है । विरति का वर्णन पूर्व मे किया है । उस विरति

---

१. कुतः । २ कारणम् । लुङि उत्तमपुरुषैकवचनमिदम् । ३ आचार्यवचनमिदम् । ४. अध्याययोः ।

आज्ञाव्यापादनानाकाङ्क्षक्रिययोरन्तर्भावः प्रमादस्य । ३ । आज्ञाव्यापादन-क्रियाऽनाकाङ्क्ष क्रियेत्यनयो: प्रमादस्यान्तर्भावो वेदितव्य· । स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः मनसोऽप्रणिधानम् ।

कषायाः क्रोधादयः प्रोक्ताः । ४ । क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पा. कषाया. प्रोक्ताः । क्व ? **"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः"** [त.सू. ६।५] इत्यत्रैव ।

योगः कायादिविकल्पः प्रक्लृप्तः । ५ । योगश्च कायादिविकल्प प्रक्लृप्तः । क्व ? **"कायवाङ्मनस्कर्मयोगः"** [त.सू. ६।१] इत्यत्र ।

मिथ्यादर्शनं द्वेधा—नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात् । ६ । मिथ्यादर्शन द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात् ।

तत्रोपदेशनिरपेक्षं नैसर्गिकम् । ७ । तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्याकर्मोदयवशात् । यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षण तन्नैसर्गिकमिति व्यवसीयते ।

परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं क्रियाऽक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात् । ८ ।

को प्रतिपक्षभूत अविरति का व्याख्यान इसी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के पाँचवे सूत्र मे किया है ।। २ ।।

आज्ञाव्यापादन क्रिया और अनाकाक्षा क्रिया मे प्रमाद का अन्तर्भाव हो जाता है । प्रमाद का अर्थ है—कुशल क्रियाओं मे अनादर करना । मन का कुशल क्रियाओ मे स्थिर नही रहना ही प्रमाद है ।। ३ ।।

क्रोधादि कषायो का वर्णन पूर्व मे किया है । अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन के भेद से चार प्रकार की कषायो का उल्लेख इसी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के **'इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः'** इस पाँचवे सूत्र मे किया है, वही यहाँ पर जानना चाहिए ।। ४ ।।

योग कायादि का विकल्प है, जिनका वर्णन 'कायवाङ्मनस्कमयोग.' तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के इस सूत्र मे कर दिया है ।। ५ ।।

मिथ्यादर्शन, नैसर्गिक और परोपदेशनिमित्त के भेद से दो प्रकार का है ।। ६ ।।

परोपदेश निरपेक्ष, नैसर्गिक मिथ्यात्व कहलाता है । परोपदेश के विना मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो तत्त्वार्थ-अश्रद्धान उत्पन्न होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है ।। ७ ।।

प्रसङ्गात् । अकस्माच्च तदभावात् । यद्यकस्माद्बन्धः; मोक्षः [1]कस्मान्नाकस्मात् ? न चाकस्माद्बन्धमोक्षौ; तदर्थप्रक्रियाविरोधप्रसङ्गात् । अतो बन्धमुक्त्वा मा पुनर्वोचं[2] इति आदौ एव बन्धकारणनिर्देशोऽनुष्ठेय । कार्य-कारणयोश्च पूर्वापरभावात् पूर्वं कारण वाच्यं पश्चात् कार्यम्, उच्यते[3]—न वक्तव्याः पुनरिह, यस्मात् षष्ठसप्तमयोः[4] विविधफलानुग्रहतन्त्रास्रवप्रकरणवशात् सप्रपञ्चाः आत्मनः कर्मबन्धहेतवो व्याख्याताः । के पुनस्ते ?

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

क्व पुनरेते उक्ताः ?

मिथ्यादर्शनं क्रियास्वन्तर्भूतम् । १ । पञ्चविंशतिः क्रिया उक्ताः तास्वन्तर्भूतं मिथ्यादर्शनं द्रष्टव्यम् ।

विरतिप्रतिपक्षभूताऽप्यविरतिः । २ । विरतिर्व्याख्याता, तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिरपि तत्रैव वर्णिता **"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः"** [त.सू. ६।५] इत्यत्र ।

यदि बन्ध बिना हेतुओ के माना जाता है तो अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग आता है, अर्थात् मोक्ष कभी नही हो सकेगा, क्योकि अकस्मात् मोक्ष का अभाव है । यदि अकस्मात् बन्ध, मोक्ष होता है तो कैसे होता है वा किससे होता है ? अकस्मात् बन्ध और मोक्ष ? यह प्रश्न उठता है, अत. बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया के विरोध का प्रसङ्ग होने से बन्ध और मोक्ष अकस्मात् नही है । बन्ध को कहकर पुनः बन्ध के कारणो को कहना उपयुक्त नही है, इसलिये बन्ध के कारणो का निर्देश आदि मे करना चाहिये । कार्य और कारण मे पूर्वापरभाव होने से पूर्व मे कारण और पश्चात् कार्य का वर्णन करना चाहिये । **प्रश्न**—यहाँ पर बन्ध के कारणो का वर्णन नही करना चाहिये, क्योकि छठे और सातवे अध्याय मे विविध फल के अनुग्रहतत्रभूत आस्रव के प्रकरणवश विस्तारपूर्वक आत्मा के कर्मबन्ध के कारणो का वर्णन कर चुके है । **उत्तर**—जिनका छठे और सातवे अध्याय मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है, वे बन्ध के हेतु सक्षेप मे कौन-कौन से है, ऐसा पूछने पर आचार्य सूत्र कहते है—

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये बन्ध के कारण है ॥ १ ॥

प्रश्न—इनका पूर्व मे वर्णन कहाँ किया है ? **उत्तर**—छठे अध्याय मे आस्रव के प्रकरण मे कथित पच्चीस क्रियाओ मे उल्लिखित मिथ्यात्व क्रिया मे मिथ्यादर्शन अन्तर्भूत है ॥ १ ॥

विरति की प्रतिपक्षभूत अविरति है । विरति का वर्णन पूर्व मे किया है । उस विरति

---

१ कुत । २ कारणम् । लुङि उत्तमपुरुषैकवचनमिदम् । ३ आचार्यवचनमिदम् । ४. अध्याययो ।

आज्ञाव्यापादनानाकाङ्क्षक्रिययोरन्तर्भावः प्रमादस्य । ३ । आज्ञाव्यापादन-क्रियाऽनाकाङ्क्ष क्रियेत्यनयोः प्रमादस्यान्तर्भावो वेदितव्य । स च प्रमाद कुशलेष्वनादरः मनसोऽप्रणिधानम् ।

कषायाः क्रोधादयः प्रोक्ताः । ४ । क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पा. कषाया प्रोक्ता । क्व ? **"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः"** [त.सू. ६।५] इत्यत्रैव ।

योगः कायादिविकल्पः प्रक्लृप्तः । ५ । योगश्च कायादिविकल्प. प्रक्लृप्तः । क्व ? **"कायवाङ्मनस्कर्मयोगः"** [त.सू. ६।१] इत्यत्र ।

मिथ्यादर्शनं द्वेधा—नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात् । ६ । मिथ्यादर्शनं द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात् ।

तत्रोपदेशनिरपेक्षं नैसर्गिकम् । ७ । तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्याकर्मोदयवशात् । यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षण तन्नैसर्गिकमिति व्यवसीयते ।

परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं क्रियाऽक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात् । ८ ।

को प्रतिपक्षभूत अविरति का व्याख्यान इसी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के पाँचवे सूत्र मे किया है ।। २ ।।

आज्ञाव्यापादन क्रिया और अनाकाक्षा क्रिया मे प्रमाद का अन्तर्भाव हो जाता है । प्रमाद का अर्थ है—कुशल क्रियाओ मे अनादर करना । मन का कुशल क्रियाओ मे स्थिर नही रहना ही प्रमाद है ।। ३ ।।

क्रोधादि कषायो का वर्णन पूर्व मे किया है । अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन के भेद से चार प्रकार की कषायो का उल्लेख इसी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के **'इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः'** इस पाँचवे सूत्र मे किया है, वही यहाँ पर जानना चाहिए ।। ४ ।।

योग कायादि का विकल्प है, जिनका वर्णन 'कायवाड्मनस्कमयोग.' तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के इस सूत्र मे कर दिया है ।। ५ ।।

मिथ्यादर्शन, नैसर्गिक और परोपदेशनिमित्त के भेद से दो प्रकार का है ।। ६ ।।

परोपदेश निरपेक्ष, नैसर्गिक मिथ्यात्व कहलाता है । परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो तत्त्वार्थ-अश्रद्धान उत्पन्न होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है ।। ७ ।।

परोपदेशनिमित्तं मिथ्यादर्शनं चतुर्विधमवगन्तव्यम् । कुतः ? क्रियाऽक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात् ।

चतुरशीतिः क्रि(तिरक्रि)यावादाः इति कौक्कलकाण्ठेविद्धिप्रभृतिमतविकल्पात् इति । ९ । कौक्कलकाण्ठेविद्धिकौशिकहरिश्मश्रुमा[1]न्कपिलरोमशहारिताश्वमुण्डाश्वलायनादिमतविकल्पात् क्रिया (अक्रिया) वादाश्चतुरशीतिविधा द्रष्टव्याः ।

अशीतिशतमक्रि(तं क्रिया)वादानां मरीचिकुमारोलूककपिलादिदर्शनभेदात् । १० । मरीचिकुमारोलूककपिलगार्ग्यव्याघ्रभूतिवा[2]द्वलिमाठरमौद्गल्यायनप्रभृतिदर्शनभेदात् अक्रिया (क्रिया) वादा अशीतिशतसंख्याः प्रत्येतव्याः ।

आज्ञानिकवादाः सप्तषष्टिसंख्याः साकल्यवाष्कलप्रभृतिदृष्टिभेदात् । ११ । साकल्यवाष्कल[3] कुथुमिसात्यमुग्रिचारायण[4]काठमाध्यन्दिनीमौदपैप्पलादबादरायणास्विष्ठिकृदैतिकायनवसुजैमिनिप्रभृतिदृष्टिभेदात् सप्तषष्टिसंख्या आज्ञानिकवादा ज्ञेयाः ।

वैनयिकानां द्वात्रिंशद्वशिष्टपाराशरादिमार्गभेदात् । १२ । वशिष्टपाराशरजतु-

---

परोपदेश से होने वाला मिथ्यादर्शन क्रियावादीमत, अक्रियावादीमत, आज्ञानिकमत और वैनयिकमत के भेद से चार प्रकार का है ।। ८ ।।

कौक्कल काण्ठेविद्धि आदि के विकल्प से क्रियावादियों के चौरासी भेद है । कौक्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रुमान्, कपिल, रोमश, हारित, अश्वमुण्ड, आश्वलायन आदि के विकल्प से क्रियावादी मिथ्यादृष्टियो के चौरासी भेद है, ऐसा जानना चाहिये ।। ९ ।।

मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल आदि दर्शनो के भेद से अक्रियावादियो के एक सौ अस्सी भेद है । मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि दर्शनो के भेद से अक्रियावादियो के १८० भेद है ।। १० ।।

साकल्य, वाष्कल, प्रभृति दृष्टिभेद से अज्ञानवाद मिथ्यात्व के ६७ भेद है । साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, चारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मौद, पैप्पलाद, वादरायण, स्विष्टिकृत् ऐतिकायन, वसु, जैमिनि आदि मतो के भेद से अज्ञानवाद मिथ्यात्व के सडसठ भेद है, ऐसा जानना चाहिये ।। ११ ।।

वशिष्ट, पाराशरादिमार्ग के भेद से वैनयिक के वत्तीस भेद है । वशिष्ट, पाराशर, जतु, कर्ण,

---

१. –माडव्यकरोमसहारिता –मू । –मानुकपिकरोम –मु, ता । २. वार्द्वलिकमा –मु, द. । ३ कुन्थुविमा- मु, द । कुन्थुमिसा –मू., ता । ४. –कठमा –अ. । कुटमा –मु., द ।

कर्णत्रालमौकिरोमहर्षिणिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवेन्द्रदत्तापस्थूलादिमार्गभेदात् वैनयिका द्वात्रिंशद्गणना भवन्ति । त एते मिथ्योपदेशभेदा. त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्युत्तराणि ।

अत्र चोद्यते–बादरायणवसुजैमिनिप्रभृतीना श्रुतिविहितक्रियानुष्ठायिना कथमाज्ञानिकत्वमिति ? उच्यते–प्राणिवधधर्मसाधनाभिप्रायात् । न हि प्राणिवध. पापहेतुर्धर्मसाधनत्वमापत्तुमर्हति ।

आगमप्रामाण्यात् प्राणिवधो धर्महेतुरिति चेत्; न; तस्यागमत्वाऽसिद्धेः । १३ । स्यादेतत् अपौरुषेयो वेदागमोऽस्ति, तस्य कर्तृदोषानुषङ्गाशङ्काभावात् प्रामाण्यम्, अतस्तत्र प्रणीत· प्राणिवधो धर्महेतुरिति; तन्न; कि कारणम् ? तस्यागमत्वासिद्धे· । सर्वप्राणिहितानुशासने हि प्रवृत्त आगमः, न हिसाविधायि वच आगमो भवितुमर्हति दस्युजनवचनवत् । किञ्च,

अनवस्थानात् । १४ । यथा 'आद्य. पुष्य , आद्यः पुनर्वसू' इति विसवादिवचोऽनवस्थानात् अप्रमाण तथा वेद एव क्वचित् प्रदेशे धर्महेतु पशुवध उक्तः **"पशुवधेन सर्वान्**

वाल्मोकि, रोमहर्षिण, सत्यदत्त, व्यास, ऐलापुत्र, उपमन्यव, इन्द्रदत्त, अपस्थूलादि मार्ग के भेद से वैनयिक मिथ्यात्व के बत्तीस भेद है। इस प्रकार सर्व मिलाकर कुल ३६३ मिथ्या मतवाद हैं।

प्रश्न—बादरायण, वसु, जैमिनि आदि तो श्रुतिविहित क्रियाओ का अनुष्ठान करते है, ये आज्ञानिक कैसे हो सकते है ? **उत्तर**—इन्होने प्राणिवध को धर्म का साधन माना है जबकि प्राणिवध तो पाप का ही साधन हो सकता है, धर्म का नही ।। १२ ।।

आगम प्रमाण से प्राणिवध को धर्म हेतु सिद्ध करना उचित नही है। क्योकि प्राणिवध का कथन करने वाले ग्रन्थ के आगमत्व की असिद्धि है। **प्रश्न**—अपौरुषेय (किसी भी पुरुष के द्वारा नही कहा हुआ) होने से वेद आगम है क्योकि अपौरुषेय आगम मे कर्त्ता के दोषो के अनुषङ्ग की शका का अभाव होने से वह प्रामाण्य है अत. उस अपौरुषेय आगम मे प्रणीत प्राणिवध धर्म का कारण है। **उत्तर**—अपौरुषेय होने से कर्त्ता के दोषो की सम्भावना से रहित वेद मे विहित प्राणिवध पाप का कारण नही है, ऐसा कहना उचित नही है क्योकि वेदवाक्य मे आगमत्व की असिद्धि है। सर्व प्राणियो के हित के अनुशासन मे प्रवृत्ति कराता है वही आगम हो सकता है, हिंसाविधायी वचनो का कथन करने वाले आगम नही हो सकते जैसे दस्यु (ठग) जनो के वचन ।। १३ ।। किञ्च,

अनवस्थान होने से भी ये आगम नही है। अर्थात् कही हिंसा और कही अहिसा का परस्पर विरोधी कथन इनमे मिलता है। जैसे 'पुनर्वसु पहला है और पुष्य पहला है' ये वचन परस्पर विरोधी होने से अनवस्थित एव अप्रमाण हैं, उसी प्रकार वेद मे भी कही पर पशुवध को धर्म का

कामानवाप्नोति" "यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ।" इति च, क्वचित् पुनरजै. त्रिवर्षपरमोषितैर्बीजैः **"अजं पिष्टद्यं कृत्वा यष्टव्यम्"** इति हिंसा परिहृता। अतोऽनवस्थानाच्च वेदागमस्याप्रामाण्यम् । किञ्च,

परमागमे प्रतिषिद्धत्वात् । १५ । अर्हता भगवता प्रोक्ते परमागमे प्रतिषिद्ध॰ प्राणिवध., सर्वत्र हिंसाविरति श्रेयसीति । अतः परमागमे प्रतिषिद्धत्वात् न धर्महेतुः प्राणिवधः ।

तदसिद्धिरिति चेत्; न; अतिशयज्ञानाकरत्वात् । १६ । स्यान्मतम्–आर्हतस्य प्रवचनस्य तत्त्वमसिद्धं तस्य पुरुषकृतित्वे सति अयुक्तेरिति; तन्न; किं कारणम् ? अतिशयज्ञानाकरत्वात् । यदिद जीवादिपदार्थस्वरूपनिरूपणं नयप्रमाणाद्यधिगमोपायप्रापितयुक्ति[1] बन्धमोक्षादिप्रतिपादनसमर्थमित्येवमादीनामतिशयज्ञानानामाकर आर्हत आगम॰, रत्नानामिवोदधि , अतोऽस्य परमागमत्वम् ।

अन्यत्राप्यतिशयज्ञानदर्शनादिति चेत्; न; अत एव तेषां संभवात् । १७ ।

हेतु कहा है । जैसे—एक स्थान पर लिखा है कि—'पशुवध से सर्व इष्ट पदार्थ मिलते है, यज्ञ विभूति के लिये है, अत. यज्ञ मे होने वाला वध अवध है ।' दूसरी जगह लिखा है कि—'अज-जिनमे अङ्कुर उत्पन्न करने की शक्ति न हो, ऐसे तीन वर्ष पुराने बीजो से पिष्टमय बलि पशु बनाकर यज्ञ करना चाहिए ।' इस प्रकार हिंसा का खण्डन किया है । इस प्रकार ये वचन परस्पर विरोधी है, अत. अव्यवस्थित तथा परस्पर विरोधी होने से वेदवाक्य प्रमाण नही हो सकते ।। १४ ।। अथवा,

अर्हन्त भगवान के द्वारा प्रभाषित परमागम मे सर्वत्र प्राणिवध का निषेध किया है, अहिसा को ही धर्म माना है, वही श्रेयसी है, अत परमागम मे निषिद्ध होने से प्राणिवध धर्महेतु नहीं हो सकता ।। १५ ।।

अतिशय ज्ञान के आकर होने से सर्वज्ञ के वचन असिद्ध भी नही है । **प्रश्न**—पुरुष के द्वारा रचित वा कथित होने से अर्हन्त के प्रवचन मे तत्त्व सिद्ध नही है अत उसको आगम कहना युक्त नही है । **उत्तर**—अर्हन्त के परमागम को पुरुष द्वारा रचित होने से अप्रमाण कहना युक्तिसगत नही है, क्योकि वह अतिशय ज्ञानो का आकर है । इस आगम मे नय, प्रमाण आदि अधिगम के उपायो से बन्ध-मोक्ष आदि का समर्थन तथा जीव-अजीवादि तत्त्वो के स्वरूप का निरूपण है, अतः रत्नाकर की तरह आर्हत आगम ही समस्त अतिशय ज्ञानो का आकर होने से परमागम है ।। १६ ।।

अन्यत्र भी ज्ञानादि के अतिशय देखे जाते है, ऐसी आशका उचित नही है, क्योकि वे सब

---

१. मत ।

स्यान्मतम्–अन्यत्रापि अतिशयज्ञानानि दृश्यन्ते, कल्पव्याकरणछन्दोज्योतिषादीनि ततोऽनैकान्तिकत्वात् नाय हेतुरिति, तन्न; किं कारणम्? अत एवैतेषां सभवात्। आर्हतमेव प्रवचनं तेषा प्रभव। उक्तञ्च–

सुनिश्चितं नः परतन्त्र[1]युक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः॥[2] इति।

श्रद्धामात्रमिति चेत्; न; भूयसामुपलब्धेः रत्नाकरवत्। १८। स्यादेतत्–आर्हतमेव प्रवचनं सर्वेषामतिशयज्ञानाना प्रभव इति श्रद्धामात्रमेतत् न युक्तिक्षममिति; तन्न, किं कारणम्? भूयसामुपलब्धे रत्नाकरवत्। यथा ग्रामनगरपत्तनादिषु दृश्यमानानामपि रत्नानां तत्प्रभवत्वमध्यवस्यति लोक., भूयसामुपलब्धे रत्नाकर एव तेषां प्रभव इत्यध्यवसीयते, तथा सर्वातिशयज्ञाननिधानत्वात् जैनमेव प्रवचनम् आकर इत्यवगम्यते।

तदुद्भवत्वात्तेषामपि प्रामाण्यमिति चेत्; न; निःसारत्वात् काचादिवत्। १९।

अतिशय आर्हत प्रवचन मे ही सम्भव है। **प्रश्न**—कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष आदि अतिशय ज्ञान अन्यत्र भी देखे जाते है, अत. अतिशय ज्ञानो का आकर हेतु अनेकान्तिक (पक्ष-विपक्ष दोनो मे जाने से) होने से वास्तविक हेतु नही है। **उत्तर**—अतिशय ज्ञानो के आकर हेतु अन्यत्र मानना उपयुक्त नही है, क्योकि अन्यत्र देखे जाने वाले अतिशय ज्ञानो का मूल उद्भवस्थान आर्हत प्रवचन हो है जैसे कि रत्नो का मूल उद्भवस्थान समुद्र है। कहा भी है—'यह सम्यक् सुनिश्चित है कि अन्य मतो मे जो युक्तिवाद और अच्छी बाते चमकती है वे तुम्हारी हो हैं, वे सब चतुर्दश पूर्व रूपी महासागर से निकली हुई जिनवाक्यरूपी जल की बिन्दुएँ हैं'॥ १७॥

प्रश्न—आर्हत प्रवचन ही सर्व अतिशय ज्ञानो का उत्पत्ति स्थान है, ऐसा कहना तुम्हारा श्रद्धान मात्र है, युक्तिसगत नही है। **उत्तर**—यह बात केवल श्रद्धागम्य नही है अपितु युक्तिसिद्ध है, क्योकि जैसे गॉव, नगरो आदि अनेक स्थानो मे रत्न प्राप्त होते देखे जाते है परन्तु उनका उत्पत्ति-स्थान रत्नाकर समुद्र हो है, अधिकतर रत्न वही होते है। वैसे ही सर्वातिशय ज्ञान के मूल निधानत्व होने से आर्हत प्रवचन (जैन प्रवचन) ही सर्व अतिशय ज्ञानो का मूल आकर है, ऐसा जानना चाहिए॥ १८॥

प्रश्न—यदि वेद, व्याकरण आदि का उद्गम स्थल आर्हत प्रवचन है तो आर्हत प्रवचन के समान इनके भी प्रमाणता होने से वेदविहित हिंसादि अनुष्ठान को भी दान आदि के समान निर्दोष

---

१ सिद्धान्त। २ द्वात्रि १।३०।

अथ मतमेतत्–यदि वेदव्याकरणादीनाम् अर्हत्प्रवचनोद्भवत्वमभ्युपगम्यते, तेषा प्रामाण्यात् तद्विहितहिंसाद्यनुष्ठान दानादिवन्न [1]दोषकरमिति; तन्न, कि कारणम् ? नि·सार-त्वात् । यथा काचमणिक्षारशम्बूकादीना रत्नाकरसमुद्भवत्वेऽपि निःसारत्व तथा वेदादीना जिनशासनसमुद्रसमुद्भवत्वेऽपि न प्रामाण्यमित्यवसेयम् । किञ्च,

सर्वेषामविशेषप्रसङ्गात् । २० । यदि हिंसा धर्मसाधन मत्स्यबन्ध (वधक) शाकुनिक[2] शौकरिकादीना सर्वेषामविशिष्टा धर्मावाप्तिः स्यात् । ततश्चाऽहिंसालक्षणो धर्म इत्येवमादिवचनमयुक्त स्यात् ।

यज्ञात्कर्मणोऽन्यत्र वधः पापायेति चेत्; न; उभयत्र तुल्यत्वात् । २१ । स्यादेतत्–यज्ञे पशुवधः प्रत्यवायहेतुर्न भवति अन्यत्र पापहेतुरिति न अहिंसालक्षणधर्मविरोधः इति, तन्न; कि कारणम् ? उभयत्र तुल्यत्वात् । उभयत्र हि असौ दुःखहेतुत्वेन तुल्यः, अत· फलेनापि समेन भवितव्यम् । अन्तर्वेदिगतः पशुवधः प्रत्यवायहेतु· प्राणवियोग-हेतुत्वात् बहिर्वेदिपशुवधवत्, विपर्ययो वा ।

मानना चाहिये । **उत्तर**—वेदविहित हिंसादि अनुष्ठान अर्हन्त के मुख से निर्गत होने से निर्दोष है, ऐसी आशका ठीक नही है क्योकि ये निस्सार है । जैसे काचमणि (नकली रत्न), क्षार, सीप, शख आदि की उत्पत्ति भी रत्नाकर से होती है परन्तु ये निस्सार होने से असली रत्न के समान मूल्यवान नही होते, वा त्याज्य होते है,, उसी प्रकार जिनशासन समुद्र से समुत्पन्न भी वेद आदि निःसार होने से प्रमाण नही है ।। १९ ।। किञ्च,

हिंसा को धर्म मानने पर सर्व के अविशेषता का प्रसग आता है । यदि हिंसा को धर्म का साधन माना जाय तो मछली पकडने वाले (मछलीमार), चिडीमार, शौकरिक आदि सर्व हिंसको को समान रूप से धर्म की प्राप्ति हो जायेगी और तब 'अहिसा परमो धर्म ' 'धर्म का लक्षण अहिसा है' यह कहना अयुक्त होगा ।। २० ।।

उभयत्र हिसा समान होने से यज्ञकर्म से अन्यत्र कार्य मे किया हुआ वध पाप के लिये है, यह कहना भी ठीक नही है । **प्रश्न**—यज्ञ मे किया हुआ पशुवध पाप का हेतु नही है । यज्ञ के सिवाय अन्यत्र किया हुआ पशुवध पाप का कारण है, अत अहिसा लक्षण धर्म का विरोध नही है । अर्थात् धर्म तो अहिसा ही है । **उत्तर**—यज्ञ-हिंसा के सिवाय दूसरी हिसा पाप का कारण है, यह कहना उचित नही है, क्योकि दोनो हिंसाओ मे समान रूप से प्राणिवध होता है और दु ख की हेतुता भी समान है अत· फल भी दोनो हिंसाओ का एक जैसा (समान) होना चाहिये । यज्ञ की वेदी मे किया गया पशुवध पाप का कारण है क्योकि वह प्राण-वियोग का हेतु है । जैसे अन्यत्र किया गया

---

१. दोपकारणमिति –मु । २. सौकरिका –मु , ता , द. ।

तादर्थ्यात् सर्गस्येति चेत्; न; साध्यत्वात् । २२ । स्यादेतत्–"**यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।**"[1] [2]इति । अत सर्गस्य[3] यज्ञार्थत्वात् न तस्य विनियोक्तुः पापमिति, तन्न; कि कारणम् ? साध्यत्वात् । साध्यमेतत्–स्वयभुवा यज्ञार्थ पशव. सृष्टा इति । किञ्च,

अन्यथोपयोगे दोषप्रसङ्गात् । २३ । यद्धि यदर्थ तस्यान्यथोपयोगे दोषो दृष्टः यथा श्लेष्मप्रशमनार्थम् औषधमन्यथा प्रयुज्यमान दोषकर तथा यज्ञार्थं पशुसर्ग इति कृत्वा क्रयविक्रयादिषु क्रियमाणेषु कर्तुरनिष्टफलावाप्ति. प्रसज्येत ।

मन्त्रप्राधान्याददोष इति चेत्; न; प्रत्यक्षविरोधात्[4] । २४ । स्यान्मतम्–यथा विष मन्त्रप्राधान्यादुपयुज्यमानं न मरणकारणम्, तथा पशुवधोऽपि मन्त्रसस्कारपूर्वकः क्रियमाणो न पापहेतुरिति, तन्न, कि कारणम् ? प्रत्यक्षविरोधात् । यथा मन्त्रेण सस्क्रियमाण विष गौरवहीन प्रत्यक्षत उपलभ्यते, यथा वा विना रज्जुनिगलादिवन्धेभ्यो

पशुवध । अथवा विपरीतता से यज्ञ मे किये गये पशुवध की तरह वाहर मे किये गये पशुवध को भी पुण्य का हेतु मानना चाहिये ।। २१ ।।

साध्यत्व होने से ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये पशु बनाये है 'स्वयम्भू ने पशुओ की सृष्टि (रचना) यज्ञ मे होमने के लिये की है, यह वेदवाक्य है । अत यज्ञ मे पशुवध करने वाला पाप का भागी नही हो सकता ।' यह कहना भी ठीक नही है अर्थात् यह पक्ष भी साध्य (असिद्ध) है । क्योकि पशुसृष्टि ब्रह्मा ने की है, यही बात अभी सिद्ध नही हो सकी है ।। २२ ।। अथवा,

ऐसा मानने पर अन्यथा प्रयोग करने मे दोषो का प्रसग आता है, क्योकि जिसकी रचना जिसके लिये है, उसका अन्यथा प्रयोग करने मे दोष देखा जाता है । जैसे कफनाशक औषधि का अन्य रोगो पर प्रयोग करने मे दोष देखे जाते है, रोगो की वृद्धि होती है । वैसे ही यज्ञ के लिये सृष्ट पशुओ का खरीदना-बिक्री करना आदि क्रिया करने पर क्रिया करने वाले को अनिष्ट फल की प्राप्ति होगी । अर्थात् यज्ञ के लिये ब्रह्मा के द्वारा सृष्ट पशुओ की खरीदी-बिक्री आदि करने वाला पाप का भागी होगा ।। २३ ।।

प्रत्यक्ष विरोध होने से, मत्रसस्कृत होने से पशुवध पाप का कारण नही है, ऐसा नही कह सकते । जैसे 'मत्र प्राधान्य से प्रयुक्त विष मरण (मृत्यु) का कारण नही होता । वैसे ही मत्र-सस्कारपूर्वक होने वाला पशुवध भी पाप का कारण नही हो सकता ।' यह पक्ष भी ठीक नही है, क्योकि इसमे प्रत्यक्ष विरोध दृष्टिगोचर होता है । जैसे कि मन्त्र से सस्कृत विष प्रत्यक्ष मे ही गौरवहीन (विषरहित) उपलब्ध होता है तथा रस्सी आदि के विना केवल मन्त्रवल से ही जन्त-

---

१. मनु ५।३९ । २. इत्यद्गि सर्गस्य –मु । ३ सृष्टे. । ४. –न यथा –ता, श्र., मु ।

जलमनुष्यादिं स्तम्भयन्तः प्रत्यक्षतः प्रतीताः मन्त्रबलादेव केवलात्, तथा यदि मन्त्रेभ्यः एव केवलेभ्यो याज्ञे कर्मरिण पशून्निपातयन्तः दृश्येरन् मन्त्रबल श्रद्धीयेत। दृश्यते तु रज्ज्वादिभिर्मारणम्। तस्मात् प्रत्यक्षविरोधात् मन्यामहे न मन्त्रसामर्थ्यमिति।

हिंसादोषाविनिवृत्तेः। २५। अभ्युपगम्योच्यते–यथा शस्त्रादिभि. प्राणिनो व्यापादयन्नशुभाभिसन्धिः पापेन बध्यते तथा मन्त्रैरपि पशून् मारयन् दुष्कर्मबन्धी भवेदेवेति हिंसादोषो न निवर्तते।

नियतपरिणामनिमित्तस्यान्यथाविधिनिषेधासंभवात्। २६। नियत शुभाशुभ-लक्षण परिणाम प्रतीत्य पुण्यपापकर्मबन्धो भवति। नासावन्यथा विधातुं निषेद्धु वा शक्यते। यदि स्यात्; असञ्चेतितकर्मबन्धाभ्युपगमे बन्धमोक्षप्रक्रियाविरोध. स्यात्।

कर्तुरसंभवाच्च। २७। **"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"*** अग्निहवनादिक्रियायाः

स्तम्भन, मनुष्यस्तम्भन आदि कार्य प्रत्यक्ष मे देखे जाते है–प्रतीत होते है; वैसे यदि केवल मन्त्र के बल से ही यज्ञवेदी पर पशुवध देखा जाता तो यहाँ मन्त्रबल पर विश्वास किया जाता, परन्तु यज्ञ कर्म मे तो रज्जु आदि के द्वारा पशुवध देखा जाता है, मन्त्रबल पर नही, अतः प्रत्यक्ष विरोध होने से मन्त्रसामर्थ्य से पशुघात होता है, ऐसा हम नही मान सकते। अत मन्त्र के सामर्थ्य से यज्ञ मे पशुवध होता है, यह कल्पना उचित नही है ॥ २४ ॥

इसमे हिसा के दोषो की निवृत्ति नही होती। जैसे—शस्त्र आदि से प्राणिहत्या करने वाले दोष के भागी है और उनके अशुभ भावो के कारण पापबन्ध होता है, उसी प्रकार मन्त्र के सामर्थ्य से प्राणिहत्या करने वाले भी हिंसा दोष के भागी होते है और उनके भी अशुभ कर्मबन्ध होता है अतः मन्त्र सामर्थ्य से किये गये पशुवध मे हिंसा की निवृत्ति नही होती अर्थात् उसमे भी हिसा होती है ॥ २५ ॥

नियत परिणाम निमित्त के अन्यथा करने मे विधि-निषेध की असम्भवता है। नियत शुभाशुभ परिणामो के निमित्त कारण से पुण्यबन्ध और पापबन्ध होता है, अर्थात् शुभ परिणामो से पुण्यबन्ध और अशुभ परिणामो से पापबन्ध नियत है, उसमे हेरफेर करना शक्य नही है। यदि इनमें हेरफेर किया जायेगा तो असचेतित कर्मबन्ध होने से बन्धमोक्ष की प्रक्रिया मे विरोध आयेगा, वा बन्धमोक्ष की प्रक्रिया का अभाव हो जायेगा ॥ २६ ॥

कर्त्ता की भी असम्भवता होती है। जैसे—'स्वर्गकामी अग्निहोत्र यज्ञ करे', इस अग्निहोत्र क्रिया का कर्त्ता भौतिक पिण्ड होगा या पुरुष ? भौतिक पिण्ड तो अग्निहोत्र क्रिया का कर्त्ता नही

---

* मैत्रा ६।३६।

एव परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा अन्ये च सख्येया योज्या ऊह्या., परिणामविकल्पात् असख्येयाश्च भवन्ति, अनन्ताश्च अनुभागभेदात्। यन्नैसर्गिक मिथ्यादर्शन तदप्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासज्ञिपञ्चेन्द्रियसज्ञितिर्यङ्म्लेच्छशवरपुलिन्दादिपरिग्रहादनेकविधम्।

पञ्चविधं वा । २८ । अथवा पञ्चविधं मिथ्यादर्शनमवगन्तव्यम्–एकान्तमिथ्यादर्शन विपरीतमिथ्यादर्शन संशयमिथ्यादर्शन वैनयिकमिथ्यादर्शनम् आज्ञानिकमिथ्यादर्शनं चेति। तत्रेदमेवेत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः, "पुरुष एवेदं सर्वम्"[1] इति वा, नित्य एव वा अनित्य एवेति, सग्रन्थो निर्ग्रन्थ, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिर्विपर्ययः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग· किं स्याद्वा नवेति मतिद्वैध[2] सशयः। सर्वदेवताना सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकत्वम्। हिताहितपरीक्षाविरह[3] आज्ञानिकत्वम्।

इस प्रकार परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शन के अन्य भी सख्यात विकल्प होते है। उनको भी लगाना चाहिए। परिणामो के विकल्प की अपेक्षा और अनुभाग भेद की अपेक्षा इस मिथ्यादर्शन के असख्यात और अनन्त भेद भी होते है। जो नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है, वह भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय, तिर्यञ्च, म्लेच्छ, शवर और पुलिन्द आदि स्वामियो के भेद से अनेक प्रकार का है ॥ २७ ॥

वा, मिथ्यादर्शन पॉच प्रकार का है। अथवा, एकान्त मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, सशय मिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन और आज्ञानिक मिथ्यादर्शन के भेद से मिथ्यादर्शन पॉच प्रकार है। "यह ऐसा ही है, इसी प्रकार है"—इस तरह धर्म और धर्मी के विषय मे एकान्त अभिनिवेश (अभिप्राय) रखना **एकान्त मिथ्यादर्शन** है। जैसे–यह सारा ससार ब्रह्मस्वरूप ही है, नित्य ही है वा अनित्य ही है, इत्यादि रूप से सर्वथा एकान्त को अवधारणा करना। 'सपरिग्रह मानव भी निर्ग्रन्थ है, अर्थात् परिग्रहधारी को भी निर्ग्रन्थ कहना, केवली को कवलाहारी (भोजन करने वाला) कहना, स्त्री को मुक्ति हो सकती है इत्यादि कथन वा इस प्रकार की धारणा **विपरीत मिथ्यात्व** है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग हो सकते है या नही, इस प्रकार दोलित (सशयालु) चित्तवृत्ति **सशय मिथ्यात्व** है। सभी देवताओ और सभी शास्त्रो मे बिना विवेक के समभाव रखना, सभी का समान विनय करना **वैनयिक मिथ्यात्व** है। हित और अहित की परीक्षा का न होना अर्थात् हेयोपादेय के विवेक से शून्य हृदय का होना **आज्ञानिक मिथ्यात्व** है ॥ २८ ॥

अविरतिकषाययोगा द्वादशपञ्चविंशतित्रयोदशभेदाः । २९ । अविरति कषायः योगः इत्येते द्वादश-पञ्चविंशति-त्रयोदशभेदाः द्रष्टव्या । तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायचक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शननोइन्द्रियेषु हननासंयमनाविरतिभेदात् द्वादशविधा अविरति । षोडश कषाया नव नोकषाया. ईषद्भेदो न[1] भेद इति पञ्चविंशति कषाया । चत्वारो मनोयोगाः चत्वारो वाग्योगा. पञ्च काययोगाः इति त्रयोदशविकल्पो योग., आहारककाययोगाऽऽहारकमिश्रयोगयोः प्रमत्तसयते सभवात् पञ्चदशा प भवन्ति ।

प्रमादोऽनेकविधः । ३० । [2]भावकायविनयेर्यापथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसयम — उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यतपस्त्यागाऽऽकिञ्चन्यब्रह्मचर्यादिविषयानुत्साहभेदादनेकविध. प्रमादोऽवसेय. ।

समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात् । ३१ । मिथ्यादर्श-

---

अविरति, कषाय और योग के क्रमश बारह, पच्चीस और तेरह भेद है । अर्थात् अविरति के १२ भेद है, कषाय के पच्चीस भेद है और योग के तेरह भेद है । पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक, इन छह काय के जीवो की विराधना तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन विषयक असयम, इस प्रकार १२ प्रकार की अविरति होती है । १६ कषाय और नव नोकषाय, ये पच्चीस कषाय है, ईषद् कषाय को नोकषाय कहते हैं, अर्थात् नो का अर्थ ईषद् है । चार मनोयाग, चार वचनयोग और पॉच काययोग ये तेरह योग है । सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग ये चार मनोयोग के भेद है । सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग और अनुभय वचनयोग ये चार वचनयोग हैं । औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र और कार्माण ये पॉच काययोग है । प्रमत्तसयत गुणस्थान मे आहारक और आहारक मिश्र काय की भी सम्भावना है, अत. योग पन्द्रह भी है ।। २९ ।।

प्रमाद अनेक प्रकार का है । भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, शयनासनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि और वाक्य (वचन) शुद्धि, ये आठ शुद्धियॉ है तथा शुद्धि लक्षण आठ प्रकार का सयम है । उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, तप, त्याग, आकिचन्य और ब्रह्मचर्य इन धर्मो मे और सयम (आठ प्रकार की शुद्धियो) में अनुत्साह वा अनादर का भाव होना प्रमाद है, इस प्रकार प्रमाद अनेक प्रकार का है ।। ३० ।।

वाक्य की परिसमाप्ति की विचित्रता होने से समुदाय और अवयव दोनो ही वन्ध के कारण

---

१ नो भेद मु., ब. । २. मन ।

नादीनां बन्धहेतुत्वं समुदायेऽवयवे च वेदितव्यम् । कुतः ? वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात् । तत्र मिथ्यादृष्टे पञ्चापि समुदिताः बन्धहेतवः । सासादनसम्यग्दृष्टि–असयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः । संयतासयतस्याविरतिमिश्राः प्रमादकषाययोगाश्च । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगा । अप्रमत्तादीना चतुर्णा कषाययोगौ । [१]उपशान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिनाम् एक एव योग । अयोगकेवली अबन्धहेतुः । तत्र च मिथ्यादर्शनादिविकल्पाना प्रत्येकं बन्धहेतुत्वमवगन्तव्यम् । न हि सर्वाणि मिथ्यादर्शनानि एकस्मिन्नात्मनि युगपत् संभवन्ति, नापि हिंसादयः सर्वे परिणामा ।

अविरतेः प्रमादस्य चाऽविशेष इति चेत्; न; विरतस्यापि प्रमाददर्शनात् । ३२ । स्यादेतत्–प्रमादोऽपि अविरतिरेवेति पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न, कि कारणम् ? विरतस्यापि प्रमाददर्शनात् । विरतस्यापि पञ्चदश प्रमादाः सभवन्ति–विकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयलक्षणाः ।

है । अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि समुदित और पृथक्-पृथक् भी बन्ध के हेतु होते है, ऐसा जानना चाहिये । क्योकि वाक्य की परिसमाप्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है । उनमे मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँचों ही बन्ध के कारण है । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयत सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व को छोडकर अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये चार वन्ध के कारण है । सयतासयत (पचम गुणस्थान) के अविरतिमिश्र (विरताविरत) प्रमाद, कपाय और योग, ये चार वन्ध के हेतु है । प्रमत्तसयत (छठे गुणस्थान) के प्रमाद, कपाय और योग, ये तीन बन्ध के कारण है । अप्रमत्तादि चार (सप्तम, अष्टम, नवम और दशम) गुणस्थानो मे कषाय और योग, ये दो कारण है, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के केवल एक योग ही वन्ध का कारण है । अयोगकेवली के बन्ध का हेतु नही है । इसी प्रकार मिथ्यादर्शन के पाँच भेद, अविरति के १२ भेद आदि जितने भेद-प्रभेद है, उन सभी भेदो को वन्ध का कारण समझना चाहिये, अर्थात् सभी वन्ध के हेतु होते है, क्योकि मिथ्यादर्शनादि के सभी भेद एक आत्मा मे एक साथ नही हो सकते । अर्थात् पन्द्रह योगो मे से एक समय मे एक योग, पाँच मिथ्यात्वो मे से एक मिथ्यात्व, अविरति मे एक स्थान से ७ अविरति होती है, इत्यादि । हिंसादि परिणाम भी एक साथ नही होते । एक आत्मा मे एक साथ सर्व मिथ्यादशन और हिंसादि पाँचो पाप एक साथ नही हो सकते ।। ३१ ।।

अविरति और प्रमाद में अविशेषता (एकता) नही है, क्योकि विरति के भी प्रमाद देखा जाता है । शंका—प्रमाद अविरति की पर्याय है, अत इनका पृथग् ग्रहण करना अनर्थक है ? उत्तर—यह शका उचित नही है । क्योकि विरत के भी विकथा, कपाय, इन्द्रिय, निद्रा और प्रणय लक्षण प्रमाद स्थान देखे जाते हैं. अत. प्रमाद और अविरति पृथक्-पृथक् है ।। ३२ ।।

---

१ शान्तक्षीण –मु, द ।

कषायाऽविरत्योरभेद इति चेत्; न; कार्यकारणभेदोपपत्तेः । ३३ । स्यादेतत्–कषायाविरत्योर्नास्ति भेदः उभयोरपि हिंसादिपरिणामरूपत्वादिति; तन्न, किं कारणम् ? कार्यकारणभेदोपपत्तेः । कारणभूता हि कषायाः कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता इति ।

आह–प्रपञ्चेनोपपादितान् बन्धहेतून्निरचेष्म, इदं तु सन्दिह्य–अमूर्तेरात्मनो हस्ताद्यसंभवे सत्यादानशक्तिविरहात् कथं बन्धो[1] भवतीति ? [2]इमे ब्रूमहे–आत्म[3]कर्मबन्धसन्ततेः पूर्वापरीभावानवधारणात् । नैवमवधार्यते–'पूर्वमात्मा पश्चात् कर्माणि प्राक् वा कर्माण्यवर[4] आत्मा' इति ऐकान्तिकाऽमूर्तत्वनिवृत्तिः । ततः कर्मशरीरसंबन्धी[5] तप्ताय:पिण्डोऽम्भ इव–

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥

कार्य-कारण मे भेद होने से कषाय और अविरति मे भी भेद है। **प्रश्न**—कषाय और अविरति मे भेद नहीं है, क्योकि कषाय और अविरति ये दोनो ही हिंसादि परिणामस्वरूप हैं ? **उत्तर**—हिंसादि अविरति और कषाय मे एकता नही है क्योकि इन दोनो मे कार्य-कारणत्व है। कषाय कारण है और हिंसादि अविरति कार्य है अत कार्य-कारण दृष्टि से कषाय और अविरति पृथक्-पृथक् है। ॥ ३३ ॥

प्रश्न—बन्ध के हेतुओ का (कारणो का) विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, उसमे हमारी कोई शका नही है, परन्तु हमको यह सशय हो रहा है कि जब अमूर्तिक आत्मा के हाथ-पैर आदि नही है और पर-पदार्थो के ग्रहण करने की शक्ति का अभाव है तब वह अमूर्त्तिक आत्मा मूर्त्त कर्मो को ग्रहण कैसे कर सकता है ? **उत्तर**—"पहले आत्मा और पश्चात् कर्मबन्ध" इस प्रकार कर्मबन्ध-सतति के पूर्वापरी भाव की अनवधारणा है। अर्थात् हम ऐसा नही मानते है कि पूर्व मे आत्मा निष्कर्म था, पश्चात् कर्मो का बध हुआ है या पूर्व मे कर्म बधे है, पश्चात् आत्मा है। इस प्रकार कर्मबन्ध मे सादि व्यवस्था नही है। आत्मा के ऐकान्तिक अमूर्त्तत्व का निराकरण किया है, जिससे आत्मा को ऐकान्तिक अमूर्त्त मानने मे यह प्रसग दिया जाय, किन्तु अनादि कार्माण शरीर से सम्बन्ध होने के कारण गरम लोहे का गोला जैसे पानी को खीचता है उसी प्रकार कषायसन्तप्त आत्मा कर्मो को ग्रहण करता है—

जीव सकषाय होने से कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध है ॥ २ ॥

---

१ सबधो मु, द । २ प्रत्यक्षभूता वयम् । ३ –कर्मसबन्ध-मु द । ४ –ण्यपर आ मु ता श्र । ५ –न्धात्तप्ताय· मु ।

पुनः कषायग्रहणमनुवाद इति चेत्; न; कर्मविशेषाशयवाचित्वात् जठराग्निवत् । १ । यथा जठराग्न्याशयानुरूपमभ्यवहरणं तथा कषायेषु सत्सु तीव्रमन्दमध्यमकषायाशयानुरूपे स्थित्यनुभवने भवत इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं बन्धहेतुविधाने कषायग्रहणं निर्दिष्ट पुनरनूद्यते ।

जीवाभिधानं प्रचोदितत्वात् । २ । [1]यच्चोदितम्–अमूर्तिरहस्तो जीव. कथं कर्मादत्त इति तस्य प्रतिवचनार्थं जीव इत्यभिधीयते ।

जीवनाविनिर्मुक्तत्वाद्वा । ३ । जीवनमायुस्तदविनिर्मुक्तोऽयं कर्मादत्तो न विनिर्मुक्त इति, अतश्च जीववचनम् ।

कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थम् । ४ । कर्मयोग्यानिति लघुनिर्देशात् सिद्धे कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारण वाक्यान्तरज्ञापनार्थं क्रियते । कि पुनस्तद्वाक्यान्तरम् ? 'कर्मणो जीवः सकषायो भवति' इत्येक वाक्यम् । एतदुक्त भवति–कर्मण इति हेतुनिर्देश, कर्मणो हेतोर्जीव सकषायो भवति, नाकर्मकस्य [2]कषायलेपोऽस्ति, ततः जीवकर्मणोरनादिसबन्ध इति । द्वितीयं [3]वाक्यम्–

जठराग्नि के समान कर्म विशेषाशय वाची होने से पुन कषाय का ग्रहण किया गया है । जैसे—जठराग्नि के अनुसार आहार का पाक होता है उसी प्रकार कषाय होने पर तीव्र, मन्द और मध्यम कषायो के अनुसार स्थिति और अनुभाग पडते है । इस तत्त्व की प्रतिपत्ति के लिए बन्ध के कारणो मे निर्दिष्ट भी कषाय का यहाँ पुन॰ ग्रहण किया है ।। १ ।।

इस शका का निराकरण करने के लिए जीव का ग्रहण किया है । अमूर्तिक बिना हाथ-पैर वाला जोव कर्मो को ग्रहण कसे करता है, इस शका का निराकरण करने के लिए ही सूत्र मे 'जीव' शव्द का ग्रहण किया गया है । क्योकि जीवन का अर्थ आयु है और आयु सहित जीव ही कर्मबन्ध करता है, आयु से रहित सिद्ध नही, अतः जीव वचन ग्रहण किया गया है ।। २-३ ।।

'कर्मणो योग्यान्' इस पृथक् विभक्ति से दो पृथक् वाक्यो का ज्ञापन होता है—अर्थात् "कर्मयोग्यान्" इस लघु सूत्र के निर्देश से भी कार्य की सिद्धि हो जाती है । परन्तु "कर्मणोयोग्यान्" इस पृथक् विभक्ति का उच्चारण वाक्यान्तर का ज्ञापन करने के लिए है । प्रश्न—वाक्यान्तर क्या है ? उत्तर—'कर्म से जीव सकषाय होता है" यह एक वाक्य है और "सकषाया जोव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है" यह दूसरा वाक्य है । प्रथम वाक्य मे 'कर्मण.' शव्द हेतुवाचक है अर्थात् पूर्व कर्मोदय के कारण जीव सकषाय होता है, क्योकि अकर्म (कर्म रहित) आत्मा के कषाय

---

१. प्रचोदकेन । २. –लेशोऽस्ती–मु । ३. –म् योग्यान् मु द ।

'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' इति । एतदुक्तं भवति–अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम् इति प्राक्कर्मण इति हेतुनिर्देश इह संबन्धनिर्देशः सपद्यते–सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति ।

पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थम् । ५ । पुद्गलात्मक कर्मेत्येतस्य विशेषस्य ख्यापनार्थ पुद्गलग्रहण क्रियते ।

तदसिद्धमिति चेत्; न; अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात् । ६ । स्यादेतत्–पौद्गलिकं कर्मेत्येतदसिद्धम् आत्मगुणत्वात् तस्येति; तन्न, कि कारणम् ? अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात् । यथा आकाशममूर्ति दिगादीनाममूर्ताना नानुग्राहकमुपघातक च तथैवामूर्ति कर्माऽमूर्तेरात्मनोऽनुग्रहोपघातयोर्हेतुर्न स्यात् ।

आदत्त इति प्रतिज्ञातोपसंहारार्थम् । ७ । यत्प्रतिज्ञातं सकषायत्वात् जीवो बन्धमनुभवति तस्योपसंहारार्थमिदमुच्यते आदत्त इति ।

अतस्तदुपश्लेषो बन्धः । ८ । अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मन सर्वतो

का लेप नही होता है, अत. जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है । द्वितीय वाक्य मे 'कर्मणः" शब्द षष्ठी विभक्ति वाला है अर्थात् सकषाय जीव कर्मों के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है । अतः अर्थवश विभक्ति का परिणमन हो जाता है । इसलिये प्रथम वाक्य मे "कर्मण." शब्द हेतु अर्थ मे पञ्चमो विभक्ति है । दूसरे वाक्य मे सम्बन्ध अर्थ मे "कर्मण." यह षष्ठी विभक्ति है । इसका तात्पर्य यह है कि कषाय सहित जोव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है ।। ४ ।।

पुद्गल शब्द का ग्रहण कर्मो का पुद्गलो के साथ तादात्म्य बताने के लिये किया गया है अर्थात् कर्म पौद्गलिक है, यह पुद्गल शब्द से सूचित होता है ।। ५ ।।

अमूर्त्तिक पदार्थ मे अनुग्रह और उपघात का अभाव होने से कर्म पौद्गलिक है, यह असिद्ध भी नही है । **प्रश्न**—कर्म पौद्गलिक है, यह असिद्ध है क्योकि कर्म तो आत्मा का गुण है ? **उत्तर**—कर्म (पुण्य-पाप) को आत्मा का गुण मानना उचित नही है क्योकि अमूर्त्तिक आत्मा का गुण भी अमूर्त्तिक होगा और अमूर्त्तिक कर्म उपग्रह (उपकार) और उपघात कर नही सकते । जैसे-अमूर्त्तिक आकाश अमूर्त्तिक दिशाओ का उपघातक और अनुग्राहक नही है, उसी प्रकार अमूर्त्तिक कर्म भी अमूर्त्तिक आत्मा के उपघातक और अनुग्राहक नही हो सकते ।। ६ ।।

'आदत्ते' इस शब्द का ग्रहण प्रतिज्ञा के उपसहार के लिए है । इस सूत्र मे यह प्रतिज्ञात है कि सकषायी जोव बन्ध का अनुभव करता है, उसका उपसहार करने के लिये यह कहा जाता है कि जोव पुद्गलो को ग्रहण करता है ।। ७ ।।

उन पुद्गल वर्गणाओ का आत्मा के साथ उपश्लेष (एकक्षेत्रावगाही) हो जाना ही वन्ध है ।

पुनः कषायग्रहणमनुवाद इति चेत्; न; कर्मविशेषाशयवाचित्वात् जठराग्निवत् ।१। यथा जठराग्न्याशयानुरूपमभ्यवहरणं तथा कषायेषु सत्सु तीव्रमन्दमध्यमकषायाशयानुरूपे स्थित्यनुभवने भवत इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं बन्धहेतुविधाने कषायग्रहणं निर्दिष्टं पुनरनूद्यते ।

जीवाभिधानं प्रचोदितत्वात् ।२। [1]यच्चोदितम्–अमूर्तिरहस्तो जीवः कथं कर्मादत्त इति तस्य प्रतिवचनार्थं जीव इत्यभिधीयते ।

जीवनाविनिर्मुक्तत्वाद्वा ।३। जीवनमायुस्तदविनिर्मुक्तोऽयं कर्मादत्ते न विनिर्मुक्त इति, अतश्च जीववचनम् ।

कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थम् ।४। कर्मयोग्यानिति लघुनिर्देशात् सिद्धे कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थं क्रियते । किं पुनस्तद्वाक्यान्तरम् ? 'कर्मणो जीवः सकषायो भवति' इत्येकं वाक्यम् । एतदुक्तं भवति–कर्मण इति हेतुनिर्देशः, कर्मणो हेतोर्जीवः सकषायो भवति, नाकर्मकस्य [2]कषायलेपोऽस्ति, ततः जीवकर्मणोरनादिसंबन्ध इति । द्वितीयं [3]वाक्यम्–

जठराग्नि के समान कर्म विशेषाशय वाची होने से पुन कषाय का ग्रहण किया गया है। जैसे—जठराग्नि के अनुसार आहार का पाक होता है उसी प्रकार कषाय होने पर तीव्र, मन्द और मध्यम कषायो के अनुसार स्थिति और अनुभाग पडते है। इस तत्त्व की प्रतिपत्ति के लिए बन्ध के कारणो मे निर्दिष्ट भी कषाय का यहाँ पुन ग्रहण किया है ।। १ ।।

इस शका का निराकरण करने के लिए जीव का ग्रहण किया है। अमूर्तिक बिना हाथ-पैर वाला जीव कर्मो को ग्रहण कसे करता है, इस शका का निराकरण करने के लिए ही सूत्र मे 'जीव' शब्द का ग्रहण किया गया है। क्योकि जीवन का अर्थ आयु है और आयु सहित जीव ही कर्मबन्ध करता है, आयु से रहित सिद्ध नही, अतः जीव वचन ग्रहण किया गया है ।। २-३ ।।

'कर्मणो योग्यान्' इस पृथक् विभक्ति से दो पृथक् वाक्यो का ज्ञापन होता है—अर्थात् "कर्मयोग्यान्" इस लघु सूत्र के निर्देश से भी कार्य की सिद्धि हो जाती है। परन्तु "कर्मणोयोग्यान्" इस पृथक् विभक्ति का उच्चारण वाक्यान्तर का ज्ञापन करने के लिए है। प्रश्न—वाक्यान्तर क्या है ? उत्तर—'कर्म से जीव सकषाय होता है" यह एक वाक्य है और "सकषाया जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है" यह दूसरा वाक्य है। प्रथम वाक्य मे 'कर्मण.' शब्द हेतुवाचक है अर्थात् पूर्व कर्मोदय के कारण जीव सकषाय होता है, क्योकि अकर्म (कर्म रहित) आत्मा के कषाय

---

१ प्रचोदकेन । २. –लेशोऽस्ती–मु. । ३. –म् योग्यान् मु द ।

'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' इति । एतदुक्त भवति–अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम् इति प्राक्कर्मण इति हेतुनिर्देश इह संबन्धनिर्देशः संपद्यते–सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति ।

पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थम् । ५ । पुद्गलात्मक कर्मत्येतस्य विशेषस्य ख्यापनार्थ पुद्गलग्रहण क्रियते ।

तदसिद्धमिति चेत्; न; अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात् । ६ । स्यादेतत्–पौद्गलिकं कर्मत्येतदसिद्धम् आत्मगुणत्वात् तस्येति; तन्न, कि कारणम् ? अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात् । यथा आकाशममूर्ति दिगादीनाममूर्तानां नानुग्राहकमुपघातकं च तथैवामूर्ति कर्माऽमूर्तेरात्मनोऽनुग्रहोपघातयोर्हेतुर्न स्यात् ।

आदत्त इति प्रतिज्ञातोपसंहारार्थम् । ७ । यत्प्रतिज्ञात सकषायत्वात् जीवो बन्धमनुभवति तस्योपसंहारार्थमिदमुच्यते आदत्त इति ।

अतस्तदुपश्लेषो बन्धः । ८ । अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो

का लेप नहीं होता है, अत. जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है । द्वितीय वाक्य मे 'कर्मण." शब्द षष्ठी विभक्ति वाला है अर्थात् सकषाय जीव कर्मो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है । अतः अर्थवश विभक्ति का परिणमन हो जाता है । इसलिये प्रथम वाक्य मे "कर्मणः" शब्द हेतु अर्थ मे पञ्चमी विभक्ति है । दूसरे वाक्य मे सम्बन्ध अर्थ मे "कर्मण " यह षष्ठी विभक्ति है । इसका तात्पर्य यह है कि कषाय सहित जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है ।। ४ ।।

पुद्गल शब्द का ग्रहण कर्मो का पुद्गलो के साथ तादात्म्य बताने के लिये किया गया है अर्थात् कर्म पौद्गलिक है, यह पुद्गल शब्द से सूचित होता है ।। ५ ।।

अमूर्त्तिक पदार्थ मे अनुग्रह और उपघात का अभाव होने से कर्म पौद्गलिक है, यह असिद्ध भी नही है । **प्रश्न**—कर्म पौद्गलिक है, यह असिद्ध है क्योकि कर्म तो आत्मा का गुण है ? **उत्तर**—कर्म (पुण्य-पाप) को आत्मा का गुण मानना उचित नही है क्योकि अमूर्त्तिक आत्मा का गुण भी अमूर्त्तिक होगा और अमूर्त्तिक कर्म उपग्रह (उपकार) और उपघात कर नही सकते । जैसे-अमूर्त्तिक आकाश अमूर्त्तिक दिशाओ का उपघातक और अनुग्राहक नही है, उसी प्रकार अमूर्त्तिक कर्म भी अमूर्त्तिक आत्मा के उपघातक और अनुग्राहक नही हो सकते ।। ६ ।।

'आदत्ते' इस शब्द का ग्रहण प्रतिज्ञा के उपसंहार के लिए है । इस सूत्र मे यह प्रतिज्ञात है कि सकषायी जीव बन्ध का अनुभव करता है, उसका उपसंहार करने के लिये यह कहा जाता है कि जीव पुद्गलो को ग्रहण करता है ।। ७ ।।

उन पुद्गल वर्गणाओ का आत्मा के साथ उपश्लेष (एकक्षेत्रावगाही) हो जाना ही बन्ध है ।

योगविशेषात् तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनाम् अनन्तप्रदेशाना पुद्गलाना कर्मभावयोग्यानाम-विभागोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते ।

तद्भावो मदिरापरिणामवत् । ९ । यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरस-बीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थिताना योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः ।

'स' वचनमन्यनिवृत्त्यर्थम् । १० । स एष बन्धो नान्योऽस्तीत्यन्यनिवृत्त्यर्थं 'स' वचन क्रियते, तेन गुणगुणिबन्धो निर्वर्त्तितो भवति । यदि हि गुणगुणिबन्ध. स्यात् मुक्त्यभावः प्रसज्येत, गुणस्वभावापरित्यागाद् गुणिनः, स्वभावपरित्यागे च गुणिनोऽप्यभाव इति मुक्ताभावः[१] ।

करणादिसाधनो बन्धशब्दः । ११ । करणादिसाधनेष्वय बन्धशब्दो द्रष्टव्य. । तत्र करणसाधनस्तावत्—बध्यतेऽनेनात्मेति बन्धः । **"हलः"**[३] इति करणे घञ् । कः

इसलिये मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आर्द्रीभूत आत्मा में चारो ओर से योगविशेष के कारण सूक्ष्म एकक्षेत्रावगाही अनन्तप्रदेशी कर्मयोग्य पुद्गलो के अविभावात्मक उपश्लेष को बन्ध कहते है ।। ८ ।।

वन्ध का स्वभाव मदिरा-परिणाम के समान है। जैसे—भाजनविशेष मे प्रक्षिप्त (रखे हुए) विविध प्रकार के रस वाले बीज, पुष्प और फल आदि का मदिरा भाव से परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मा मे ही स्थित पुद्गलो का योग और कषायो के कारण कर्म रूप परिणमन हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए ।। ९ ।।

"स" शब्द अन्य की निवृत्ति के लिए है। 'यही बन्ध है, अन्य नही' इस प्रकार अन्य की निवृत्ति के लिए वा 'यहा बन्ध है, अन्य नही' यह सूचना देने के लिए 'स.' शब्द का सूत्र मे प्रयोग किया है। इससे [२]गुण-गुणी के बन्ध को निवृत्ति हो जाती है, क्योकि यदि गुण-गुणी के बन्ध को वन्ध मान लेगे तो मुक्ति का अभाव हो जायेगा, क्योकि गुणी कभी भी अपने गुण-स्वभाव को नही छोडना, यदि गुणी अपने स्वभाव को छोड दे तो गुणो का ही अभाव हो जायेगा और गुणी का अभाव हो जाने से मुक्ति का भो अभाव हो जाता है ।। १० ।।

वन्ध शब्द करणादि साधन है। करणादि साधनो मे यह वन्ध शब्द निष्पन्न होता है। जैसे—'वध्यतेऽनेन, जिसके द्वारा आत्मा वँधता है' इसमे "घञ्" प्रत्यय करके करण साधन मे बन्ध

---

१ मुक्त्यभाव. मु द । २ गुण गुणी के वन्ध का तात्पर्य है अदृष्ट नाम के गुण का आत्मा नामक गुणी मे समवाय से सम्बन्ध हो जाना । ३. जैनें० ३।१०२ ।

पुनसौ ? मिथ्यादर्शनादिः । ननु स बन्धहेतुरुक्तः कथं बन्धो भवितुमर्हति ? सत्यमेवमेतत्, अभिनवद्रव्यकर्मादाननिमित्तत्वाद् बन्धहेतुरपि सन् पूर्वोपात्तकर्महेतुकत्वात् कार्यतामास्कन्दन् [1]तद्रनुविधानात् आत्मनोऽस्वतन्त्रीकरणत्वात् करणव्यपदेशमर्हतीति । [2]तद्रञ्जनेन आत्मना आत्मसात्क्रियते इति कर्मसाधनत्वमपि च युक्तिमत् । ज्ञानदर्शनाऽव्याबाधाऽनामाऽगोत्राऽनन्तरायत्वलक्षणं पुरुषसामर्थ्यं प्रतिबध्नाति बन्ध. इति कर्तृसाधनत्वमपि चोपपत्तिमत् । एवं बन्धन बन्ध इति भावसाधनो वा अस्वतन्त्रीक्रियामात्रविवक्षायाम् । ननु भावसाधने सामानाधिकरण(ण्य)नोपपद्यते ज्ञानावरण बन्ध [3]इत्यादि; नैञ दोषः; तदव्यतिरेकात् भावस्य तद्वता सामानाधिकरण्य भवति--यथा ज्ञानमेवात्मेति । एवमितरसाधनयोजना च कर्तव्या ।

तस्योपचयापचयसद्भावः कर्माऽऽयव्ययदर्शनाद् ब्रीहिकोष्ठागारवत् । १२ । यथा कोष्ठागारे ब्रीहीणामन्येषा निर्गमादपरेषा च प्रवेशनात् उपचयापचयौ दृष्टौ तथा अनादिकार्मणकोष्ठागारस्यान्येषा कर्मणा भोगात् आदानाच्चेतरेषामुपचयापचयौ स्त ।

शब्द बनता है तथा मिथ्यादर्शन आदि जो बन्ध के कारण कहे है, करणविवक्षा मे उन मिथ्यादर्शन आदि को ही बन्ध कहा है । **प्रश्न**—मिथ्यादर्शनादि को तो बन्ध का कारण कहा है, वे बन्ध कैसे हो सकते हैं ? **उत्तर**—यद्यपि यह सत्य है कि मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के कारण है तथापि नवीन कर्म-बन्ध के कारण होने से पूर्वोपात्त कर्म के हेतु (कारण) से कार्यरूपता को प्राप्त होते हुए आत्मा को स्वतन्त्रता का विघात करते है अत· कार्यरूप से मिथ्यादर्शनादि परिणाम आत्मा को परतन्त्र करने के कारण बन्ध कहे जाते है । आत्मा के द्वारा पुद्गल आत्मसात् किये जाते है अत. कर्म साधन भी बन्ध शब्द है । अर्थात् 'बध्यते इति बन्ध.' मिथ्यादर्शनादि रूप से जो बँधे वह बन्ध, यह कर्म साधन भी बन जाता है, इसी प्रकार "ज्ञानदर्शन, अव्याबाध, अनाम, अगोत्र और अनन्तराय आदि पुरुष (आत्मा) की शक्तियो का जो प्रतिबन्ध करता है वह बन्ध है" यह कर्तृसाधन भी बन जाता है । मात्र परतन्त्र करने की विवक्षा होने पर "बन्धन बन्ध." यह भाव साधन भी बन जाता है । **प्रश्न**—भाव साधन मे 'ज्ञानावरणबन्ध' इत्यादि सामानाधिकरण्य नही हो सकता ? **उत्तर**—यह कहना उचित नही है कि भाव साधन नही बनता क्योकि जैसे भाव और भाववान् मे अभेद होने से सामानाधिकरण्य हो जाता है उसी प्रकार "ज्ञान ही आत्मा है" इस प्रकार अभेद विवक्षा मे भाव साधन मे भी सामानाधिकरण्य बन जाता है । इस प्रकार अन्य साधन का भी प्रयोग करना चाहिये ।। ११ ।।

धान्य के कोठे के समान कर्मो का अव्यय दृष्टिगोचर होने से उसके उपचय (सग्रह), अपचय (व्यय) का सद्भाव पाया जाता है । जैसे भण्डार से पुराने धान्य निकाल लिये जाते है और नवीन भर दिये जाते है अत. उसमे उपचय और अपचय देखा जाता है उसी प्रकार अनादि कार्माण शरीर

---

१ मिथ्यात्व । २. तदजनेन मू । तदनेन मु, व । ३ इति नै-मु, व ।

आह–किमय बन्ध एकरूप एव आहोस्वित् प्रकारा अपि [1]अस्य सन्तीति ? अत इदमाह–

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

अकर्तरीत्यनुवृत्तेरपादानसाधना प्रकृतिः । १ । "स्त्रियां क्तिः"[2] इत्यत्र अकर्तरीत्यनुवर्तते तस्मादपादाने प्रकृतिशब्दो व्युत्पाद्यते–प्रक्रियते अस्या ज्ञानावरणादेरर्थानवगमादिति प्रकृति· ।

भावसाधनौ स्थित्यनुभवौ । २ । स्थान स्थिति· अनुभवनमनुभव इति भावसाधनत्वमनयोरवगन्तव्यम् ।

कर्मसाधनः प्रदेशशब्दः । ३ । प्रदिश्यतेऽसाविति प्रदेशः कर्मणि घञ् ।

प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम् । ४ । यथा निम्बस्य का प्रकृति· ?

रूप कोष्ठागार (भण्डार) में प्राक्तन कर्म फल देकर झड जाते है और कषाय एव योग के कारण नवीन कर्म आकर बँध जाते है, इस प्रकार कर्मो का आना-जाना होता है, अत· इसमे उपचय-अपचय होता रहता है ॥ १२ ॥

यह बन्ध एक रूप है कि अनेक रूप है, ऐसी आशका का आचार्य उत्तर देते है—

प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश के भेद से बन्ध चार प्रकार का है ॥ ३ ॥

'स्त्रिया क्ति·' इस सूत्र मे अकर्तरि की अनुवृत्ति होती है अत· अपादान मे (पचमी विभक्ति मे) प्रकृति शब्द की निष्पत्ति होती है। अत· ज्ञानावरण आदि के अर्थो का अनवगम किया जाय-अर्थो का अवबोध न होने का स्वभाव किया जाय, वह प्रकृति है। प्रकृति शब्द अपादान साधन है॥ १ ॥

स्थिति और अनुभागबध भाव साधन है। अवस्थान को स्थिति और अनुभवन को अनुभाग कहते है अतः इन दोनो मे भाव साधन भी जानना चाहिए ॥ २ ॥

प्रदेश शब्द कर्म साधन है। 'प्रदिश्यते इति प्रदेश' इसमे 'घञ्' प्रत्यय लगकर प्रदेश शब्द कर्म साधन बनता है ॥ ३ ॥

प्रकृति और स्वभाव ये एकार्थवाची शब्द है। जैसे—नीम की प्रकृति क्या है ? नीम का

---

१ बन्धस्य । २ जैने· २।३।७५ ।

तिक्ततास्वभावः । गुडस्य का प्रकृति ? मधुरतास्वभावः । तथा ज्ञानावरणीयस्य का प्रकृति ? अर्थानवगम । प्रकृति स्वभाव इत्यनर्थान्तरम् । एव दर्शनावरणस्य अर्थानालोचनम्, वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदु खसवेदनम्, दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम्, चारित्रमोहस्य असंयम परिणाम, आयुषो भवधारणम्, नाम्नो नारकादिनामकरणम्, गोत्रस्य उच्चैर्नीचै. स्थानसशब्दनम्, अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम् । तदेव लक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृति. ।

तत्स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः । ५ । तस्य स्वभावस्य अप्रच्युतिः स्थितिरित्युच्यते । यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणा माधुर्यस्वभावादप्रच्युति स्थिति., तथा ज्ञानावरणादीनामर्थानवगमादिस्वभावादप्रच्युति स्थिति ।

तद्रसविशेषोऽनुभवः । ६ । यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणा तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभव इति कथ्यते ।

स्वभाव तिक्तता है, गुड का स्वभाव या प्रकृति मधुर है । अर्थात् नीम की प्रकृति कडुआपन है और गुड़ को प्रकृति मधुरता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय की प्रकृति अथवा स्वभाव है अर्थज्ञान नही होने देना, अतः प्रकृति और स्वभाव एकार्थवाची है । इसी प्रकार दर्शनावरण की प्रकृति (स्वभाव) है अर्थ का दर्शन नही करने देना, वेदनीय का स्वभाव है सुख-दु ख का सवेदन कराना, दर्शन मोहनीय की प्रकृति है तत्त्वार्थ श्रद्धान नही होने देना, चारित्र मोहनीय की प्रकृति है असयम परिणाम, आयु का स्वभाव है भव-धारण, नामकर्म की प्रकृति है नारक, तिर्यञ्च आदि नाम व्यवहार कराना, गोत्र का स्वभाव है ऊँच-नोच का व्यवहार कराना तथा अन्तराय कर्म का स्वभाव है दानादि मे विघ्न करना । इस प्रकार के कार्य जिससे उत्पन्न होते है, जिससे किये जाते है, वह प्रकृति बन्ध है और अपादान साधन से निष्पन्न यह प्रकृति शब्द है ।। ४ ।।

उस स्वभाव से च्युत नही होना स्थिति है । अर्थात् उस स्वभाव की अप्रच्युति स्थिति कहलाती है । जैसे—बकरी, गाय, भैंसादि के दूध का अपने माधुर्य स्वभाव से च्युत नही होना स्थिति है । उसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्मप्रकृति का अपने अर्थानवगम आदि (अर्थों का ज्ञान नही हो, वेदना आदि) स्वभाव से च्युत नही होना स्थिति है ।। ५ ।।

कर्मों के रसविशेष (फलदान शक्तिविशेष) को अनुभाग बन्ध कहते है । जैसे—बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध मे तीव्र-मन्द आदि भाव से रसविशेष होता है । अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उनमे स्निग्धता, मधुरता आदि मे विशेषता होती है, उसी प्रकार कर्मपुद्गलो की स्वकीय फलदान शक्ति के सामर्थ्यविशेष को अनुभव/अनुभाग बन्ध कहते हैं ।। ६ ।।

इयत्ताऽवधारणं प्रदेशः । ७ । कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धाना परमाणुपरिच्छेदेनावधारण प्रदेश इति व्यपदिश्यते ।

विधिशब्दः प्रकारवचनः । ८ । अयं विधिशब्द प्रकारवचनो द्रष्टव्य.–विधयः प्रकारा इति यावत् । तस्य विधयस्तद्विधय बन्धप्रकारा इत्यर्थः । त एते प्रकृत्यादयश्चत्वारो वन्धप्रकाराः ।

तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ । ९ । तेषु बन्धविकल्पेषु प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध- इत्येतौ द्वौ योगनिमित्तौ वेदितव्यौ ।

स्थित्यनुभवौ कषायहेतुकौ । १० । स्थितिबन्धोऽनुभवबन्ध इत्येतौ द्वावपि कषायहेतुकौ प्रत्येतव्यौ । तत्प्रकर्षभेदात् तद्बन्धविचित्रभावः । कारणानुरूप हि कार्यमिति ।

आद्यो द्वेधा मूलोत्तरप्रकृतिभेदात् । ११ । [1]आद्यः प्रकृतिबन्धः द्वेधा विभज्यते । कुतः ? मूलोत्तरप्रकृतिभेदात् ।

इयत्ता के अवधारण को प्रदेशबन्ध कहते है। अर्थात् कर्मरूप से परिणत पुद्गलस्कन्धो के परमाणुओ की गणना को प्रदेशवन्ध कहते है ।। ७ ।।

विधि शब्द प्रकार अर्थ मे है। इस सूत्र मे विधि शब्द प्रकार अर्थ मे है और बन्ध के प्रकार को 'तद्विधय.' कहते है। अर्थात् प्रकृतिवन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध और अनुभागबन्ध के भेद से वन्ध चार प्रकार का है ।। ८ ।

उन वन्ध के विकल्पो मे प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध योग के निमित्त से होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।। ९ ।।

स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध कपाय के कारण से होते है अर्थात् स्थितिवन्ध और अनुभाग-वन्ध कषायहेतुक हैं, ऐसा जानना चाहिए। इन कपायो के तारतम्य से स्थिति और अनुभाग मे विचित्रता आती है, क्योकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है ।। १० ।।

मूलोत्तर के भेद से प्रकृतिवन्ध दो प्रकार का है। प्रकृतिवन्ध दो प्रकार का है—मूलप्रकृतिवन्ध और उत्तर प्रकृतिवन्ध ।। ११ ।।

---

१. मु. प्र —ता. श्र ।

यद्येवं कास्ता मूलप्रकृतय इति ? अत्रोच्यते–

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।। ४ ।।

सामानाधिकरण्ये सति पूर्वोत्तरवचनविरोध इति चेत्; न; उभयनयधर्मविवक्षासद्भावात् । १ । स्यादेतत्–ज्ञानावरणादयोऽन्तरायान्ता॰ प्रकृतिबन्धो नान्य इति ज्ञानावरणादिभिः सामानाधिकरण्यात् आद्यशब्दस्य बहुवचनप्रसङ्ग इति, तन्न; किं कारणम् ? उभयनयधर्मविवक्षासद्भावात् । द्रव्यार्थिकनयविषयस्य सामान्यस्य विवक्षातः प्रकृतिबन्ध एक इत्याद्यशब्दादेकवचनप्रयोग॰ । तस्य विशेषा ज्ञानावरणादय पर्यायार्थिकनयविषयभूता प्राधान्येन विवक्षिता इति तेभ्यो बहुवचनप्रयोग कृत । दृश्यते हि लोके सत्यपि सामानाधिकरण्ये वचनभेदः, यथा प्रमाण श्रोतार , गावो धनमिति ।

यथासंभवं कर्त्रादिसाधनत्वं ज्ञानावरणादिशब्दानाम् । २ । ज्ञानावरणादयः शब्दा. कर्त्रादिषु यथासभव साधयितव्या. । तद्यथा–आवृणोति आव्रियतेऽनेन वा

मूल प्रकृतियाँ कौन-कौन सी है, उनका वर्णन करते है—

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, ये मूल प्रकृतिबन्ध के आठ भेद है ।। ४ ।।

उभय धर्म विवक्षा का सद्भाव होने से सामानाधिकरण्य होने पर भी पूर्वोत्तर वचन मे विरोध नही है । **प्रश्न**—ज्ञानावरण आदि अन्तराय पर्यन्त प्रकृतिबन्ध है अन्य नही, अत. ज्ञानावरणादि के साथ समान अधिकरण होने से आद्य शब्द के बहुवचन का प्रसङ्ग आता है ? **उत्तर**—ऐसी शका उचित नही है, क्योकि उभय धर्म की विवक्षा का सद्भाव है । अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से सामान्य की विवक्षा से एक ही प्रकृतिबन्ध है, अत. आद्य शब्द मे एकवचन का प्रयोग किया गया है । उस के भेद पर्यायार्थिक नय के विषयभूत ज्ञानावरण आदि है अत पर्यायार्थिक नय को प्रधानता से विवक्षित होने से उनमे बहुवचन का प्रयोग किया गया है अर्थात् आदि शब्द में एकवचन का प्रयोग द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से है और अन्त मे "गोत्रान्तराया." यह बहुवचन का प्रयोग पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से किया है कि सामान्य से प्रकृतिबन्ध एक है, ज्ञान-दर्शन आदि विशेष की अपेक्षा अनेक है । अथवा लोक मे समानाधिकरण होने पर भी वचनभेद देखा जाता है । जैसे 'श्रोतारः प्रमाणम्, गावो धनम्' श्रोता प्रमाण है और गाये ही धन है, इसमे श्रोता और प्रमाण मे और गाय और धन मे समानाधिकरण होने पर भी वचनभेद है । अत. आद्य शब्द मे बहुवचन की आशका नही करनी चाहिए ।। १ ।।

ज्ञानावरणादि शब्दो की यथासम्भव कर्तृ आदि साधन से निष्पत्ति जाननी चाहिये । जैसे—जो आवरण करता है और जिसके द्वारा आवरण किया जाता है, वह आवरण है । आवरण शब्द का सम्बन्ध ज्ञान और दर्शन मे कर लेना चाहिये । 'ज्ञानावरण दर्शनावरण' इति ।

इत्यावरणम् । आवरणशब्दः प्रत्येक परिसमाप्यते ज्ञानावरणं दर्शनावरणमिति । ननु **"करणाधिकरणयोः"**[१] अनः कथं कर्तरि ? बहुलापेक्षया । वेद्यत इति वेदनीयम् कर्मण्यनीय । मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहः । कथ ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीयं मोहनीयमिति ? बहुलापेक्षया कर्त्तर्यनीयः । एत्यनेन गच्छति नारकादिभवमित्यायु'; **"जनेरुसि:"**[२] इति प्रकृते,[३] **"एतेर्णिच्च"**[४] इत्युसि. । नमयत्यात्मान नारकादिभावेन नम्यतेऽनेनेति नाम, उणादिषु निपातितशब्द. । उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यतेऽनेनेति गोत्रम् । अन्तरं मध्य दातृदेयादीनामन्तरं मध्यमेति ईयते वाऽनेनेत्यन्तराय. । बहिर्योगे वा, यस्मिन् मध्येऽवस्थिते दात्रादीना दानादिक्रियाऽभाव., दानादीच्छाया बहिर्भावो वा सोऽन्तरायः ।

प्रयोगपरिणामादागच्छदेवाऽविशिष्टं कर्माऽऽवरणादिविशेषैर्विभज्यते अन्नादे-

---

शका—करण और अधिकरण के कर्त्ता मे अनट् प्रत्यय कैसे हो सकता है ? **उत्तर**--'बहुलापेक्षया कर्त्ता मे भी अनट् प्रत्यय होता है । 'वेद्यते' जो अनुभव किया जाय, वह वेदनीय है । इसमे कर्मणि वाच्य मे अनीय प्रत्यय होता है। जो मोहन करता है वा जिसके द्वारा मोह कराया जाता है, वह मोहनीय है। 'वा जो मोहित करता है वा इसके द्वारा मोहित किया जाता है।' वह मोहनोय कर्म है। **प्रश्न**—ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और मोहनीय शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई ? **उत्तर**—बहुलापेक्षया कर्त्ता में 'अनीय' प्रत्यय करने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय शब्द की निष्पत्ति होती है । जिस कर्म के उदय से जीव नरकादि पर्यायो को प्राप्त होता है, नरकादि भवो मे वास करता है, उसे आयुकर्म कहते है । इसमे 'इण्' धातु गति अर्थ मे, जिसका रूप बनता है एति-नियत है, उसमे 'उस्' प्रत्यय होने से आयु शब्द की सिद्धि होती है । गत्यर्थक इण् धातु से 'जनेरुस्' इस सूत्र के प्रकरण मे 'एतेर्णिच्च' इस सूत्र द्वारा उस् प्रत्यय होता है, और उसे णित् मानने से 'इ' धातु का 'ऐ' रूप हो जाता है, फिर ऐ को आय् होकर उस् प्रत्यय के मिलने से आयु शब्द सिद्ध होता है । जो आत्मा का नरकादि रूप से नामकरण करे या जिसके द्वारा नामकरण किया जाय, वह नामकर्म है। यह नाम शब्द उणादिगण मे निपात किया गया है । जिसके कारण उच्च और नीच रूप से व्यवहार हो उसको गोत्र कर्म कहते है । दाता और पात्र आदि के बोच मे विघ्न करावे वा जिस कर्म के उदय से दाता और पात्र के मध्य मे अन्तर डाले उसे अन्तराय कहते हैं । अथवा, जिसके रहने पर दाता आदि दानादि क्रियाएँ नही कर सके, दानादि की इच्छा से पराङ्मुख हो जावें, वह अन्तराय कर्म है ।। २ ।।

अन्नादि से होने वाले विकार के समान प्रयोग परिणाम से आये हुए अविशिष्ट कर्म

---

१. जैने २।३।९९। -घोरनट् कथ मु व.। "करणाधिकरणयो. [जैनेन्द्र २।३।९९] इति सूत्रेण युटि तत्स्थाने अनादेशो भवति" -म. २. उणादि. । ३. अनुवर्त्तमाने । "जनेरुसि"-उणादि वृ २।११६ । "एतेर्णिच्च"-उणादि वृ. २।१२० । ४. उणादि ।

र्वातादिविकारवत् । ३ । यथा अन्नादेरभ्यवह्रियमाणस्यानेकविकारसमर्थवातपित्त-श्लेष्मखलरसभावेन परिणामविभाग तथा प्रयोगापेक्षया अनन्तरमेव कर्माणि आवरणाऽनुभवन-मोहापादन-भवधारणनानाजातिनाम - गोत्र - व्यवच्छेदकरणसामर्थ्यवैश्वरूप्येण आत्मनि सन्निधानं प्रतिपद्यन्ते ।

ज्ञानावरणमेव मोह इति चेत्; न; अर्थान्तरभावात् । ४ । स्यादेतत्–सति मोहे हिताहितपरीक्षणाभावात् ज्ञानावरणादविशेषो मोहस्येति; तन्न; कि कारणम् ? अर्थान्तरभावात् । याथात्म्यमर्थस्यावगम्यापि इदमेवेति सद्भूतार्थाश्रद्धानं यतः स मोह । ज्ञानावरणेन ज्ञानं [१]तथाऽन्यथा वा[२] न गृह्णाति ।

कार्यभेदे च कारणान्यत्वात् । ५ । यथा भिन्नलक्षणाङ्कुरदर्शनात् बीजकारणान्यत्व तथैव अज्ञानचारित्रमोहकार्यान्तरदर्शनात् ज्ञानावरणमोहनीयकारणभेदोऽध्यवसीयते ।

ज्ञानदर्शनयोरन्यत्वं प्रत्युक्तम् । ६ । ज्ञानदर्शनयोरन्यत्व पुरस्ताद्विहितम् ।

आवरणादिविशेष के द्वारा विभाग किया जाता है । जिस प्रकार खाये हुए अन्न का अनेक विकार मे समर्थ वात पित्त, श्लेष्म, खल, रस आदि रूप से परिणमन हो जाता है (परिणमन से विभाग हो जाता है) उसी प्रकार विना किसी प्रयोग के कर्म आवरण, अनुभव, मोहापादन, भवधारण, नानाजाति, नाम गोत्र, व्यवच्छेदकरण समर्थ (अन्तराय) आदि शक्तियो से युक्त होकर आत्मा मे सन्निधान को प्राप्त हो जाते है, आत्मा मे वँध जाते है ।। ३ ।।

अर्थान्तर भाव होने से ज्ञानावरण ही मोह नही है । प्रश्न—मोह के होने पर हिताहित का विवेक नही रहता अत मोह को ज्ञानावरण से भिन्न नही कहना चाहिये । मोह और ज्ञानावरण मे कोई विशेषता नही है, क्योकि दोनो के उदय मे हो आत्मा हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है ? उत्तर—मोह और ज्ञानावरण मे अर्थान्तिर भाव है अत. वे दोनो एक नही है । क्योंकि पदार्थ का यथार्थ वोध करके भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार सद्भूत अर्थ का अश्रद्धान मोह है, पर ज्ञानावरण से ज्ञान तथासद्भूत या अन्यथा-असद्भूत ग्रहण ही नही करता है । अथवा—।। ४ ।।

कार्यभेद मे कारण अन्य होता है । जैसे अकुर रूप कार्य के भेद से कारणभूत वीजो मे भिन्नता देखी जाती है, उसी प्रकार अज्ञान और चारित्रमोह, दर्शन मोहादि कार्यान्तर के दृष्टिगोचर होने से उनके कारणभूत ज्ञानावरण और मोह मे भेद होना ही चाहिये ।। ५ ।।

ज्ञान और दर्शन की भिन्नता का कथन तो पूर्व मे कर चुके हैं । क्योकि ज्ञानावरण और

---

१ सद्भूतमसद्भूतम् । २ –था च गृ–ता , श्र , भा १, भा २, आ., द , व ।

अतः किम् ? ज्ञानदर्शनकार्यान्यत्वात् [1]यत्क्षयक्षयोपशमकारणे ज्ञानदर्शने तयोरपि ज्ञानदर्शनावरणयोरन्यत्व सिद्धम् ।

ज्ञानावरणस्याविशेषेऽपि प्रत्यास्रवं [2]मत्यादिविशेषो जलवत् । ७ । यथा अम्भो नभस. पतदेकरसं भाजनविशेषात्[3] विष्वग्रसत्वेन विपरिणमते तथा ज्ञानशक्त्युपरोधस्वभावाऽविशेषात् उपनिपतत् कर्म प्रत्यास्रवं सामर्थ्यभेदात् मत्याद्यावरणभेदेन व्यवतिष्ठते ।

एतेनेतराणि व्याख्यातानि । ८ । इतराणि दर्शनावरणादीनि मूलोत्तरप्रकृतिविकल्पवन्ति उक्तेनैव क्रमेण व्याख्यातानि भवन्ति । अत्र चोद्यते–

पुद्गलद्रव्यस्यैकस्यावरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वानुपपत्तिर्विरोधात् । ९ । एकस्य पुद्गलद्रव्यस्य आवरणसुखदु खादिनिमित्तत्व नोपपद्यते । कुत. विरोधात् ।

न वा, तत्स्वाभाव्यादग्नेर्दाहपाकप्रतापप्रकाशसामर्थ्यवत् । १० । न वैष

दर्शनावरण कर्म का क्षय, क्षयोपशम होने पर ज्ञान एव दर्शन रूप भिन्न-भिन्न कार्यो की उत्पत्ति होती है, इसलिये ज्ञान और दर्शन रूप कार्य के आवरणभूत ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दोनो कारण भी पृथक्-पृथक् है। अतः इन दोनो मे भिन्नता सिद्ध ही है ।। ६ ।।

ज्ञानावरण रूप से अविशेषता होने पर भी जल के समान प्रत्यास्रव मे मत्यादि मे विशेषता है। जैसे आकाश से सामान्य रूप से भी गिरा हुआ मेघ का जल पात्रविशेष मे पडकर विभिन्न रस (खट्टा, मधुर, कडुआ आदि) रूप परिणमन कर जाता है, उसी प्रकार ज्ञान-शक्ति का उपरोध करने से ज्ञानावरण सामान्यतः एक होकर भी अवान्तर शक्ति-भेद से मति आवरण, श्रुतावरण आदि भेद रूप से परिणमन करता है ।। ७ ।।

इस प्रकार अन्य कर्मो मे भी भेद समझना चाहिये। अर्थात् इतर दर्शनावरण, वेदनीय आदि मूल प्रकृति और चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण आदि उत्तर प्रकृति रूप परिणमन हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये ।। ८ ।।

प्रश्न—पुद्गल द्रव्य जव एक है तो वह आवरण (ज्ञानावरण, दर्शनावरण) सुख-दु ख आदि अनेक कार्यो का निमित्त नही हो सकता, क्योकि एक के अनेक रूप होने मे विरोध है ? ।। ९ ।।

उत्तर—अग्नि के दाह, पाक, प्रताप और प्रकाश के सामर्थ्य के समान पुद्गल मे शक्तिविशेष

---

१. आवरणयो । २. मत्यादीनामविशेषो मु द. । मत्यादीना वि–भा । ३. नाना ।

दोप. । किं कारणम् ? तत्स्वाभाव्यात् । यथा अग्नेरेकस्यापि दाहपाकप्रकाशसामर्थ्यं न विरुध्यते, तथैकस्यापि पुद्गलद्रव्यस्य आवरण-सुखदु.खादि-निमित्तत्व न विरुध्यते । किञ्च–

अनैकान्तिकत्वात् । ११ । एकानेकलक्षणत्वात् द्रव्यस्य स्यादनेकत्वं स्यादेकत्वम् । द्रव्यार्थादेशात् स्यादेक पुद्गलद्रव्यम् । अनेकपरमाणुस्निग्धरुक्षबन्धापादितानेकात्मक-स्कन्धपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकम् । ततश्च नास्ति विरोधः ।

पराभिप्रायेणेन्द्रियाणां भिन्नजातीयानां क्षीराद्युपयोगे[1] वृद्धिवत् । १२ । पराभि-प्रायेणेदमुच्यते–यथा पृथिव्यप्तेजोवायुभिरारब्धानामिन्द्रियाणा भिन्नजातीयाना क्षीरघृता-दिष्वेकमप्युपयुज्यमानम् अनुग्राहक दृष्ट तथेदमपि इति ।

वृद्धिरेकैवेति चेत्; न; प्रतीन्द्रियं वृद्धिभेदात् । १३ । स्यादेतत्–वृद्धिरेकैव, तस्या घृताद्यनुग्राहकमिति न विरोध इति, तन्न, कि कारणम् ? प्रतीन्द्रिय वृद्धिभेदात् । यथैवेन्द्रियाणि भिन्नानि तथैवेन्द्रियवृद्धयोऽपि भिन्नाः ।

का स्वभाव होने से एक का अनेक रूप होने मे कोई विरोध नही है । क्योकि इनका स्वभाव ही ऐसा है जैसे एक ही अग्नि मे दाह, पाक, प्रताप और प्रकाश का सामर्थ्य विरुद्ध नही है, उसी प्रकार एक ही पुद्गल मे आवरण, मोहन, सुख-दु.खादि मे निमित्तत्व होने की शक्ति है, इसमे कोई विरोध नही है ।। १० ।।

इसमे अनैकान्तिकत्व है । एक और अनेक लक्षण वाले द्रव्य के कथञ्चित् एकपना है और कथञ्चित् अनेकपना है । जैसे द्रव्यदृष्टि से पुद्गल कथञ्चित् एक है और अनेक परमाणुओ के स्निग्ध रूक्षबन्ध से होने वाली विभिन्न स्कन्ध-पर्यायो की दृष्टि से अनेक है, इसमे कोई विरोध नही है ।। ११ ।।

भिन्नजातीय इन्द्रियो की पराभिप्राय से क्षीरादि का उपयोग होने पर वृद्धि होती है, उसी प्रकार भिन्नजातीय द्रव्यो का परस्पर उपकार होता है । जैसे[2] पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु परमाणु से निष्पन्न भिन्नजातीय इन्द्रियो का एक ही दूध या घृत उपयोग करने पर उपकारक होता है, ऐसा देखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये ।। १२ ।।

प्रत्येक इन्द्रिय को वृद्धि मे भेद होने से वृद्धि एकरूप नही है । प्रश्न—इन्द्रियो की वृद्धि एकरूप है अत· उन इन्द्रियो के घृतादि अनुग्राहक है, इसमे विरोध नही है ? उत्तर—इन्द्रियां

---

१ –द्युपभोगे मु द । २. वैशेपिक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप परमाणु को भिन्न-भिन्न मानता है, इन्द्रियाँ भी भिन्न परमाणु से निर्मित है ।

तथैवातुल्यजातीयेनानुग्रहसिद्धिः । १४ । यथा भिन्नजातीयेन क्षीरेण तेजोजातीयस्य चक्षुषोऽनुग्रहः, तथैव आत्मकर्मणोश्चेतनाऽचेतनत्वात् अतुल्यजातीय कर्म आत्मनोऽनुग्राहकमिति सिद्धम् । किमेतावानेव सख्याविकल्प ? नेत्युच्यते–

एकादिसंख्येयविकल्पाः च शब्दतः । १५ । एकादयः सख्येया विकल्पा भवन्ति–शब्दत । तत्रैकस्तावत्[1] सामान्यादेः (देक·) कर्मबन्धः विशेषाणामविवक्षितत्वात्, सेनावनवत् । यथा सैनिकानां तुरगादीना भेदानामविवक्षाया समुदायादेशात् एका सेना, यथा वा अशोकतिलकवकुलादीना भेदेनाविवक्षाया सामान्यादेशात् एक वनम् । स एव पुण्यपापभेदाद् द्विविध, यथा स्वामिभृत्यादेशात् द्विविधा सेना । त्रिविधो बन्धः–अनादि· सान्तः, अनादिरनन्तः, सादिः सान्तश्चेति, भुजाकाराऽल्पतरावस्थितभेदाद्वा । प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाच्चतुर्विध । द्रव्यक्षेत्रकालभवभावनिमित्तभेदात् पञ्चविध· । षड्जीवनिकायविकल्पात् षोढा व्यपदिश्यते । रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभहेतुभेदात्

की वृद्धि एकरूप नही है, क्योकि जैसे इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न है वैसे उनमे होने वाली वृद्धियाँ भी भिन्न-भिन्न है ।। १३ ।।

उसी प्रकार अतुल्य जातीय के द्वारा अनुग्रह की सिद्धि है । जैसे भिन्नजातीय पृथिवी आदि परमाणुओ से उत्पन्न दूध से तेजोजातीय चक्षु का उपकार होता है, उसी प्रकार अचेतन कर्म से भी चेतन आत्मा का अनुग्रह आदि हो सकता है । अत अतुल्य जातीय कर्म आत्मा का अनुग्राहक सिद्ध होता है । अत भिन्नजातीय द्रव्यो मे परस्पर उपकार मानने मे कोई विरोध नही है । **प्रश्न**—कर्म बन्ध के क्या ये चार ही विकल्प है ? **उत्तर**—विशेष विकल्प भी है ।। १४ ।।

वन्ध के एक से लेकर सख्यात तक भेद होते है । अर्थात् शब्द की अपेक्षा सख्यात विकल्प कर्म के है, उसमे सामान्य से कर्मवन्ध एक है विशेषो की अपेक्षा नही हाने से सेना और वन के समान । जैसे—सैनिक, हाथी, घोड़ा आदि भेदो की विवक्षा न होने से समुदाय की अपेक्षा सेना एक कही जाती है; अशोक, तिलक, बकुल आदि वृक्षो की भेदविवक्षा न होने से सामान्यतया वन एक कहा जाता है, उसी प्रकार भेदो की विवक्षा न करने पर सामान्यतया कर्मबन्ध एक ही प्रकार का है । जैसे—अधिकारी और सामान्य सैनिक के भेद से सेना दो भागो मे वँट जाती है, उसी प्रकार पुण्य और पाप के भेद से कर्मवन्ध भी दो प्रकार का है । अथवा अनादि सान्त, अनादि अनन्त और सादि सान्त के भेद से कर्मवन्ध तीन प्रकार का है । अथवा भुजाकार, अल्पतर और अवस्थित के भेद से भी कर्मवन्ध तीन प्रकार का है । प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से पाँच प्रकार का है । पृथ्वी आदि छह काय के जीवो के भेद से छह प्रकार का कहा जाता है । राग, द्वेप, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ

---

१ सगान क-ता, श्र । समादानकर्म-मु, द., मू, व ।

सप्ततयी वृत्तिमनुभवति। ज्ञानावरणादिविकल्पादष्टधा। एव सख्येया विकल्पा. शब्दतो योज्या.। चशब्देनाध्यवसायस्थानविकल्पात् असंख्येयाः। अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्ध-परिणामविधिरनन्तः, ज्ञानावरणाद्यनुभवाविभागपरिच्छेदापेक्षया वा अनन्तः।

क्रमप्रयोजनं ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात्। १६। क्रमप्रयोजनमिदानी वक्तव्यम्? तदुच्यते—ज्ञानावरण सर्वेषामादावुक्तम्। कुतः? ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात्। ज्ञान हि स्वाधिगमनिमित्तत्वात् प्रधानम्।

ततो दर्शनावरणमनाकारोपलब्धेः। १७। तत पश्चात् दर्शनावरणमुच्यते। कुत.? अनाकारोपलब्धे। साकारोपयोगाद्धि अनाकारोपयोगो[1] निकृष्यते अनभिव्यक्त-ग्रहणात्। [2]उत्तरेभ्यस्तु प्रकृष्यते अर्थोपलब्धितन्त्रत्वात्।

तदनन्तरं वेदनावचनं तदव्यभिचारात्। १८। तदनन्तरं वेदना उच्यते। कुत.? तदव्यभिचारात्। ज्ञानदर्शनाऽव्यभिचारिणी हि वेदना घटादिष्वप्रवृत्तेः।

रूप कारण के भेद से बन्ध सात प्रकार की वृत्ति का भी अनुभव करता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आदि आठ प्रकार के कर्मों के विकल्प से बन्ध आठ प्रकार का भी है। इस प्रकार शब्द की अपेक्षा कर्मबन्ध के सख्यात विकल्प है, क्योंकि कर्म शब्द के वाचक शब्द सख्यात ही है। "च" शब्द से अध्यवसाय स्थान विकल्प की अपेक्षा कर्मबन्ध असख्यात है। अनन्तानन्त प्रदेशस्कन्ध के परिणमन विधि की अपेक्षा कर्मबन्ध अनन्त है तथा ज्ञानावरण आदि अनुभाग के अविभाग परिच्छेद की अपेक्षा भी कर्मबन्ध अनन्त है।। १५।।

क्रम रखने का प्रय जन है। ज्ञान से आत्मा का अधिगम होता है। यहाँ ज्ञानावरणादि के क्रम का प्रयोजन कहना चाहिये? ज्ञान से आत्मा का अधिगम होता है, अतः स्वाधिगम का निमित्त होने से वह प्रधान है, अतः आत्मा के प्रधान गुण ज्ञान का आवरक होने से ज्ञानावरण कर्म का उल्लेख किया है।। १६।।

अनाकार की उपलब्धि होने से ज्ञानावरण के वाद दर्शनावरण कहा है, क्योकि साकार उपयोग रूप ज्ञान से अनाकार उपयोग रूप दर्शन अप्रकृष्ट है अनभिव्यक्त का ग्रहण करने वाला होने से, परन्तु उपलब्धि रूप होने से वेदनीय आदि की अपेक्षा प्रकृष्ट है अत· ज्ञानावरण के वाद दर्शनावरण का ग्रहण किया गया है।। १७।।

उनकी अव्यभिचारी होने से उसके वाद वेदना का ग्रहण किया गया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के बाद वेदनीय का ग्रहण किया है क्योकि वेदना ज्ञान-दर्शन की अव्यभिचारिणी है।

---

१. निकृष्टोऽनभि-मु द.। २ वेदनादिभ्य·।

ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात् । १९ । ततः पश्चात् मोहोऽभिधीयते । कुतः ? तद्विरोधात्, तेषा ज्ञानदर्शनसुखदुःखानां विरोधात् । मूढो हि न जानाति न पश्यति न च सुखदु खं वेदयते । ननु च मूढानामपि सुखदुःखज्ञानदर्शनानि उपलभ्यन्ते, यदि हि विरोधः स्यात् सुखदु.खज्ञानदर्शनानि मिथ्यादृष्टचसंयताना न स्युः, नैप दोषः; क्वचिद्विरोधदर्शनात् 'विरोधात्' इत्युच्यते न सर्वत्र । मोहाभिभूतस्य हि कस्यचित् हिताहितविवेकादिर्नास्ति ।

आयुर्वचनं तत्समीपे तन्निबन्धनत्वात् । २० । तत्समीपे आयुर्वचनं क्रियते । कुत· ? तन्निबन्धनत्वात् । आयुर्निबन्धनानि हि प्राणिना सुखादीनि ।

तदनन्तरं नामवचनं तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य । २१ । तदनन्तरं नामवचन क्रियते । कुत· ? तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य । आयुरुदयापेक्षो हि प्रायेण गत्याद्युदयो लक्ष्यते ।

ततो गोत्रवचनं प्राप्तशरीरादिलाभस्य संशब्दनाभिव्यक्तेः । २२ । परिप्राप्त-

---

अर्थात् ज्ञान-दर्शन के होने पर ही वेदना होती है, ज्ञान-दर्शनरहित घटादि रूप विपक्ष मे वेदना नही पाई जाती ।। १८ ।।

ज्ञान-दर्शन आदि का विरोधी होने से वेदना के बाद मोह कर्म का कथन किया है । ज्ञान-दर्शन सुख-दु ख वेदना का विरोधी होने से वेदनीय के बाद मोहनीय कर्म को ग्रहण किया है । क्योकि मोही प्राणी न देखता है, न जानता है और सुख-दु ख का अनुभव करता है । **प्रश्न**—मोही प्राणियो के भी सुख-दु.ख, ज्ञान-दर्शन पाये जाते है । यदि मोही प्राणी के सुख-दु·ख आदि नही होते है तो मिथ्यादृष्टि से लेकर असयत पर्यन्त जीवो के सुख-दु ख ज्ञान-दर्शन आदि नही होने चाहिये । उत्तर—यहाँ क्वचित् विरोध देखा जाता है, सर्वत्र नही । क्योकि यद्यपि मोही (मिथ्यादृष्टि) जीवो के भी ज्ञान, दर्शन, सुख, दु·ख आदि देखे जाते है फिर भी प्राय. मोहाभिभूत प्राणियो को हिताहित का विवेक आदि नही रहता हे अतः मोह का ज्ञानादि से विरोध कह दिया गया है ।। १९ ।।

आयुनिमित्तक सुख-दु.ख होने से मोहनीय के समीप आयु का उल्लेख किया है । प्राणियों को आयुनिमित्त से ही सुख-दु ख आदि होते है अतः सुख-दु.ख आदि का निमित्तक होने से मोहनीय कर्म के वाद आयु का कथन किया है ।। २० ।।

आयु के उदय के अनुसार ही प्रायः गति आदि नामकर्म का उदय होता है अतः आयु के अनन्तर (समीप) नामकर्म का उल्लेख किया गया है ।। २१ ।।

शरीर आदि को प्राप्त जीव के ही शब्द की अभिव्यक्ति होती है अतः नाम के बाद गोत्र का

शरीरादिलाभस्य हि पुंसः गोत्रोदयनिमित्तं शुभाशुभ सशव्दनमभिव्यज्यते, ततो नाम्नोऽनन्तरं गोत्राभिधानं क्रियते ।

परिशेषादन्ते अन्तरायवचनम् । २३ । अन्यस्याभावात् परिशेषात् अन्ते अन्तराय-वचनं क्रियते ।

आह–उक्तो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधः । अथ द्वितीयः पुनरुत्तरप्रकृतिबन्धः कतिविध इति ? अत्रोच्यते–

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।। ५ ।।

पञ्चादीनां पञ्चान्तानां द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः । १ । पञ्च च नव च द्वौ च अष्टाविंशतिश्च चत्वारश्च द्विचत्वारिंशच्च द्वौ च पञ्च च पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्वि-चत्वारिंशद्द्विपञ्च, ते भेदा यस्य स भवति पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्वि-पञ्चभेद, इति द्वन्द्वगर्भोऽन्यपदार्थनिर्देशो वेदितव्य ।

ग्रहण किया गया है । जिसको शरीर आदि की प्राप्ति का लाभ हो गया है, ऐसे पुरुष के ही गोत्र-कर्म के उदय निमित्त शुभ-अशुभ आदि सव्यवहार होते हैं । अर्थात् शरीरधारी आत्मा के ही उच्च, नीच का व्यवहार होता है अत नामकर्म के बाद गोत्र-कर्म का वर्णन किया गया है ।। २२ ।।

परिशेष न्याय से अन्त मे अन्तराय वचन है । अन्य सर्व कर्मो का अभाव हो जाने से । अर्थात् अन्य कोई कर्म बचा ही नही अत परिशेष न्याय से अन्त मे अन्तराय का कथन किया गया है ।। २३ ।।

मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का है, उनका तो वर्णन कर दिया गया है । अब उत्तर-प्रकृतिबन्ध कितने प्रकार का है ? ऐसी पृच्छा होने पर आचार्य उत्तर प्रकृति का कथन करते है—

पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच ये क्रमशः ज्ञानावरण आदि के उत्तर भेद है ।। ५ ।।

पञ्च आदि पञ्च पर्यन्त सख्या शब्दो का द्वन्द्व समास करके पीछे बहुव्रीहि समास कर लेना चाहिये । जैसे—पाँच और नौ और दो और अट्ठाईस और चार और बयालीस और दो और पाँच इनमे जो और शब्द है उसको हटाकर द्वन्द्व समास करना (पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो, पाँच भेद है जिसके वह) 'पञ्चनवादि' इस प्रकार द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास करना चाहिये ।। १ ।।

द्वितीयग्रहणमिति चेत्; न; परिशेषात्सिद्धेः । २ । स्यादेतत्–द्वितीयग्रहणं कर्तव्यं द्वितीय उत्तर प्रकृतिबन्ध· एवभेद इति सप्रत्यय. कथं स्यात् इति ? तन्न; किं कारणम् ? परिशेषात् सिद्धे. । आद्यो मूलप्रकृतिबन्धो व्याख्यात:, तत. परिशेषात् उत्तरप्रकृतिबन्धसंप्रत्यय· सिद्ध्यति ।

भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । ३ । अयं भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते पञ्चभेदो नवभेद इत्यादि ।

यथाक्रमं यथानुपूर्वम् । ४ । यो यः क्रम. यथाक्रमं यथानुपूर्वमित्यर्थः । पञ्चविधं ज्ञानावरणम्, नवविध दर्शनावरणमित्यादि ।

यद्येवमाद्यमावरण केषा पञ्चानामिति ? अत्रोच्यते–

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ।। ६ ।।

मत्यादीन्युक्तलक्षणानि । १ । मत्यादीनि ज्ञानानि उक्तलक्षणानि वेदितव्यानि । क्व ? आद्येऽध्याये ।

परिशेष न्याय से इस सूत्र मे द्वितीय का ग्रहण हो ही जाता है । शंका—इस सूत्र मे द्वितीय शब्द का प्रयोग करना चाहिये । पूर्व सूत्र मे 'आद्य' शब्द मूल प्रकृति का द्योतक है, यहाँ द्वितीय होना चाहिये । अन्यथा यह द्वितीय उत्तर प्रकृति का भेद है, ऐसा ज्ञान कैसे हो सकता है ? उत्तर—इस सूत्र मे द्वितीय शब्द का प्रयोग करने की आवश्यकता नही है । क्योकि पहले सूत्र मे 'आद्य' पद दिया है, अत. द्वितीय शब्द के विना भी इस सूत्र मे परिशेष न्याय से उत्तर प्रकृति बन्ध का बोध हो ही जाता है ।। २ ।।

भेद शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित करना चाहिये । यह भेद शब्द प्रत्येक में लगाना चाहिये । जैसे—पाँच भेद, नव भेद इत्यादि ।। ३ ।।

यथानुपूर्वी को यथाक्रम कहते हैं। जो-जो क्रम है, वह यथाक्रम या यथानुपूर्वी है। जैसे—ज्ञानावरण के पाँच भेद, दर्शनावरण के नव भेद, वेदनीय के दो भेद, मोहनीय के अट्ठाईस, इत्यादि । इस प्रकार पूर्व सूत्र मे निर्दिष्ट ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि का क्रम लगाना चाहिये ।। ४ ।।

ज्ञानावरण कर्म की पाञ्च उत्तर प्रकृतियों का वर्णन—

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, ये पाँच ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियाँ हैं ।। ६ ।।

मतिज्ञान आदि के लक्षण प्रथम अध्याय मे कहे जा चुके है ।। १ ।।

मत्यादीनामिति पाठो लघुत्वादिति चेत्; न; प्रत्येकमभिसंबन्धार्थत्वात् । २ । स्यान्मतम्—मत्यादीनि ज्ञानानि उक्तानि, तेषामिहादिशब्दोपलक्षितानां पाठो युक्तो लघुत्वादिति, तन्न; किं कारणम् ? प्रत्येकमभिसंबन्धार्थत्वात् । प्रत्येकमभिसंबन्धार्थं इह प्रतिपद पाठ· क्रियते—मतेरावरणम्, श्रुतस्यावरणमित्यादि । इतरथा हि मत्यादीनामित्युच्यमाने तेषामेकमावरणमिति संप्रत्यय· स्यात् ।

[1]**वचनात् पञ्चसंख्याप्रतीतिरिति चेत्; न; प्रत्येकं पञ्चत्वप्रसङ्गात् । ३ ।** स्यादेतत्—पञ्च ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः इत्युक्तम्, मत्यादीनि च ज्ञानानि पञ्चोक्तानि ततो वचनात् पञ्चसख्या सप्रत्यय इति; तन्न, कि कारणम् ? प्रत्येकं पञ्चत्वप्रसङ्गात् । [बहु] वचनात् मत्यादीना प्रत्येक पञ्चावरणानीत्यनिष्ट प्रसज्येत । प्रतिपदग्रहणे पुनः सति सामर्थ्यादिष्टार्थसंप्रत्यय शक्यते कर्तुम् । अत्र कश्चिदाह—

मत्यादीनां सत्त्वासत्त्वयोरावृत्यभावः । ४ । इदमिह सप्रधार्यम्—सता मत्यादीनां कर्म आवरण भवेत्, असता वेति ? किञ्चातः यदि सताम्, परिप्राप्तात्मलाभत्वात्

मति आदि का आवरण, ऐसा लघु पाठ हो सकता है । परन्तु प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करने के लिये पृथक्-पृथक् कहे है । **प्रश्न**—मति आदि ज्ञान का वर्णन पूर्व मे किया जा चुका है । आदि शब्द से उनका यहाँ ग्रहण करके 'मत्यादीना' ऐसा लघु सूत्र करना चाहिये । **उत्तर**—यदि 'मत्यादीना' ऐसा लघु पाठ रखे तो 'मति आदि का एक आवरण है' । इस अनिष्टार्थ का प्रसग होता है, अतः प्रत्येक के साथ मत्यावरण, श्रुतावरण, अवधि आवरण, मन पर्ययावरण और केवलावरण इन सबका सम्बन्ध करने के लिए सबका पृथग् ग्रहण किया है । अर्थात् मति आदि प्रत्येक का आवरण भिन्न-भिन्न है, इस बात को सूचित करने के लिये मति आदि सबका सूत्र मे उल्लेख किया है ।। २ ।।

प्रश्न—बहुवचन होने से ज्ञानावरण की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ है । यहाँ पाँच सख्या का निर्देश करने से मति आदि पाँच ज्ञानो का क्रमश· सम्बन्ध हो जायेगा । **उत्तर**—यह कहना उचित नही है, क्योकि इसमे मति आदि प्रत्येक के पाँच आवरणो का प्रसग होगा और अनिष्टार्थ की प्राप्ति होगी । परन्तु पुन. प्रतिपद ग्रहण करने के सामर्थ्य से इष्ट अर्थ का ज्ञान कर सकते है अत इष्ट अर्थ की प्रतीति के लिए मति, श्रुत आदि का पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है । यहाँ कोई प्रश्न करता है कि ।। ३ ।।

मति आदि के सत्त्व और असत्त्व मे आवरण का अभाव है । यहाँ यह विचारणीय प्रश्न है कि 'सत्' रूप मतिज्ञान आदि का कर्म आवरण करता है कि असत् (अविद्यमान) मतिज्ञान आदि

---

१. बहुवचनात् ।

सत्त्वादेव आवृतिर्नोपपद्यते। अथाऽसताम्; नन्वावरणाभावः। नहि खरविषाणवदसदाव्रियते।

न वा; आदेशवचनात्।५। न वैष दोषः। किं कारणम्? आदेशवचनात्। कथञ्चित् सतामावरणं कथञ्चिदसताम्। द्रव्यार्थादेशेन सता मत्यादीनामावरणम्, पर्यायार्थादेशेनाऽसताम्। यद्येकान्तेन सतामावरणं क्षायोपशमिकत्वमेषां न स्यात्। अथैकान्तेनाऽसताम्; एवमपि क्षायोपशमिकत्वं नोपपद्यते असत्त्वात्। सतश्चावरणदर्शनात्। [1]सतो हि नभसः मेघपटलादिना आवरणं दृश्यते, तथा सता मत्यादीनामावरणमिति को विरोधः?

अर्थान्तराभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत्।६। यथा न [2]कुटीभूतं प्रत्याख्यानं नाम कश्चित् पर्यायोऽस्ति यस्यावरणात् प्रत्याख्यानावरणत्वं भवेत् किन्तु प्रत्याख्यानावरणसान्निध्यात् आत्मा प्रत्याख्यानपर्यायेण नोत्पद्यत इत्यतः प्रत्याख्यानावरणस्य आवरणत्वम्, तथा न कुटीभूतानि मत्यादीनि कानिचित् सन्ति येषामावरणात्

का कर्म आवरणकारक होता है? यदि विद्यमान मतिज्ञान आदि का आवरण है तो जब वह स्वरूप लाभ करके विद्यमान ही है तब आवरण कैसा? तथा अविद्यमान का भी खरविषाण के समान आवरण नही हो सकता है अतः मति आदि के आवरण का अभाव है ॥ ४ ॥

उत्तर—ऐसा नही है, क्योकि आगमवचन से इसकी सिद्धि होती है। कथञ्चित् द्रव्यार्थ दृष्टि से 'सत्' विद्यमान मति आदि का आवरण होता है और कथञ्चित् पर्याय दृष्टि से अविद्यमान मति आदि का आवरण होता है। यदि एकान्त से सर्वथा सत् माना जाय तो फिर इन्हे क्षयोपशमजन्य नही कह सकगे और यदि सर्वथा एकान्त से 'असत्' है, तब भी ये क्षयोपशमजन्य नही हो सकेंगे, असत्त्व होने से। क्योकि जैसे—'सत्' रूप आकाश का मेघ-पटलादि से आवरण देखा जाता है, उसी प्रकार 'सत्' रूप से विद्यमान मतिज्ञान आदि का आवरण मानने मे क्या विरोध है। क्योकि सत् का ही आवरण होता है असत् का नही। अथवा—॥ ५ ॥

प्रत्याख्यानावरण के समान अर्थान्तर का अभाव है। जैसे—प्रत्याख्यान कोई प्रत्यक्ष पदार्थ या पर्याय नही है जिसके आवरण से प्रत्याख्यानावरण हो, किन्तु प्रत्याख्यानावरण कर्म के सान्निध्य (उदय) से आत्मा में प्रत्याख्यान पर्याय (त्याग की भावना) उत्पन्न नही होती अतः वह प्रत्याख्यानावरण का आवरणत्व कहा जाता है। उसी प्रकार मति आदि कोई प्रत्यक्षीभूत पर्याय नही है जिसके आवरण से मत्यादि आवरण के आवरणत्व हो। अर्थात् मत्यादि आवरण कहे जावे, परन्तु मति आदि आवरण के उदय से आत्मा मतिज्ञानादि पर्यायरूप से परिणमन नही कर सकता

---

१ सतोऽपि न—ता., श्र.। २. प्रत्यक्षीभूतम्।

मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वं भवेत् किन्तु मत्याद्यावरणसन्निधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायैर्नोत्पद्यते इत्यतो मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वम्। अपर आह–

अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात्। ७। इदमिह संप्रधार्यम्-मन.पर्यय-ज्ञानगमनशक्ति. केवलप्राप्तिसामर्थ्यं चाऽभव्यस्य स्याद्वा, न वेति? यदि स्यात्, तस्याऽभव्यत्वानुपपत्तिः। अथ नास्ति; तदुभयसामर्थ्याभावात् तदावरणकल्पना व्यर्थेति उत्तरस्यावरणद्वयस्य नोपपत्तिः?

न वा, उक्तत्वात्। ८। न वैष दोषः। किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्-'आदेशवचनात्' इति। द्रव्यार्थादेशेन सतोर्मनःपर्ययकेवलज्ञानयोरावरणम्, पर्यायार्था-देशेनाऽसतोः। अपि चोक्तम्–'अर्थान्तराभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत्' इति। यदि द्रव्यार्थादेशेन मन पर्ययज्ञानं केवलज्ञानं चास्त्यभव्यस्य, भव्यत्वमस्य प्राप्नोति। न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्या भव्याभव्यत्व कल्प्यते। कथ तर्हि?

वा जिस कर्म के उदय से आत्मा मे मतिज्ञानादि उत्पन्न नही हो सकते उसे मतिज्ञानावरण कहते है वा वह मतिज्ञान का आवरण कहलाता है ।। ६ ।।

शंका—अभव्यो मे मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान उत्पन्न नही होता अत उन दोनो का आवरण अभ यो मे नही होना चाहिये। यहाँ पर यह विचारणीय बात है कि मन.पर्ययज्ञान की शक्ति और केवलज्ञान की प्राप्ति का सामर्थ्य अभव्य आत्मा मे है कि नही? यदि अभव्यात्मा मे मन पर्यय और केवलज्ञान की उत्पत्ति का सामर्थ्य है तो वह अभव्य नही हो सकता और यदि अभव्य मे इन दानो ज्ञानो की उत्पत्ति का सामर्थ्य नही है तो मन.पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये दो प्रकृतियाँ उसके नही हो सकती वा उसके आवरण को कल्पना व्यर्थ है? ।। ७ ।।

उत्तर—यह कोई दोष नही है। क्योकि उनका प्रत्युत्तर दिया चुका है कि आदेश वचन से इनकी सिद्धि होती है। द्रव्य दृष्टि से अभव्यो मे भी मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञान की शक्ति है इसोलिये अभव्या के भो सत् रूप मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान का आवरण होता है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अभव्य मे मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान नही है अत· असत् का आवरण है। कहा भी है प्रत्याख्यानावरण के समान अर्थान्तर का अभाव है। अर्थात् जैसे—प्रत्याख्यानावरण कोई प्रत्यक्ष पदार्थ नही है जिसके आवरण से प्रत्याख्यान हो किन्तु प्रत्याख्यानावरण के उदय से आत्मा मे प्रत्याख्यान पर्याय उत्पन्न नही होती इसलिये वह प्रत्याख्यानावरण कहा जाता है। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा अभव्य मे मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान का अस्तित्व होने मात्र से अभव्य के भव्यत्व का प्रसग भी नही आ सकता, क्योकि भव्यत्व और अभव्यत्व का विभाग ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शक्ति के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा नही है अपितु—।। ८ ।।

सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाऽभावाभ्यां भव्याऽभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत् ।९। यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो यः स भव्यः तद्विपरीतोऽभव्यः इति चोच्यते ।

ज्ञानावरणादज्ञोऽतिदुःखितः ।१०। ज्ञानावरणोदयेनोपरतज्ञानसामर्थ्यं लुप्तस्मृतिर्धर्मश्रवणनिरुत्सुकः[1] अज्ञानावमानकृतं च बहुदुःखमनुभवति ।

आह–उक्तो ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिविकल्पः । इदानी दर्शनावरणस्य वक्तव्य इति । अत आह–

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

कनक और इतर पाषाण के समान सम्यग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति का सद्भाव वा असद्भाव (योग्यता की या अयोग्यता की) अपेक्षा से है। जैसे जिसमे सुवर्णपर्याय प्रकट होने की शक्ति-योग्यता है वा ज' सुवर्ण भाव को प्राप्त होगा वह कनक पाषाण कहलाता है और जिसमे सुवर्णपर्याय प्रकट होने को शक्ति नही है वह अन्ध पाषाण कहा जाता है। उसो प्रकार जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप पर्यायो की अभिव्यक्ति की योग्यता वाला है वह भव्य है और इससे विपरीत् अर्थात् जिसमे सम्यग्दर्शनादि पर्यायो की अभिव्यक्ति की योग्यता नही है वह अभव्य है, ऐसा कहा जाता है। अतः द्रव्य दृष्टि से मन पर्यय और केवलज्ञान की शक्ति विद्यमान रहते हुए भी जिनके उदय से वे प्रकट नही हो पाते, वे मन.पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण अभव्य के भी हैं ॥ ९ ॥

ज्ञानावरण के उदय से जीव अज्ञ और अति दुःखो होता है। ज्ञानावरण कर्म के उदय से आत्मा का ज्ञानसामर्थ्य लुप्त हो जाता है, वह स्मृतिशून्य और धर्म-श्रवण से निरुत्मुक हो जाता है और अज्ञानजन्य अपमान कृत अनेक दु.खों का अनुभव करता है ॥ १० ॥

ज्ञानावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियो के विकल्पो का वर्णन किया है। अब दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों का वर्णन करते हैं—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, ये नौ दर्शनावरण की उत्तरप्रकृतियाँ हैं ॥ ७ ॥

---

१. –क ज्ञाना –मु, द., व मू. ।

चक्षुरादीनां दर्शनावरणसंबन्धात् भेदनिर्देशः । १ । चक्षुश्चाचक्षुश्चावधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि तेषा चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानम् दर्शनावरणानीति भेदनिर्देशः दर्शनावरणसंबन्धाद्वे दितव्यः ।

मदखेदक्लमविनोदार्थः स्वापो निद्रा । २ । मदखेदक्लमाना विनोदाय य॰ स्वापः स निद्रा इत्युच्यते । कथम् ? निपूर्वस्य द्राते कुत्साक्रियस्याङि निद्राशब्दनिष्पत्तिः । यत्सन्निधानादात्मा निद्रायते कुत्स्यते सा निद्रा । द्रायतेर्वा स्वप्नक्रियस्य निद्रा ।

उपर्युपरि तद्वृत्तिर्निद्रानिद्रा । ३ । तस्या निद्राया उपर्युपरि पुन पुनर्वृत्तिः निद्रानिद्रा इत्युच्यते ।

प्रचलयत्यात्मानमिति प्रचला । ४ । या क्रिया आत्मानं प्रचलयति सा प्रचलेत्युच्यते, पचादिलक्षणे अचि । सा पुनः शोकश्रममदादिप्रभवा । विनिवृत्तेन्द्रिय-व्यापारस्यान्तः प्रीतिलवमात्रहेतुः आसीनस्यापि नेत्रगात्रक्रियासूचिता ।

चक्षु आदि के साथ दर्शनावरण का सम्बन्ध होने से पृथक् विभक्ति का निर्देश किया है। चक्षु आदि मे द्वन्द्व समास है। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवल-दर्शनावरण। इस प्रकार इनके साथ दर्शनावरण का सम्बन्ध है अत॰ उनमे पृथक् विभक्ति दी गई है ॥ १ ॥

मद, खेद और क्लम (थकावट) को दूर करने के लिये सोना निद्रा है। 'नि' उपसर्गपूर्वक 'द्राति' धातु से कुत्सित क्रिया मे अङि प्रत्यय करने पर निद्रा शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसके सन्निधान से आत्मा निद्रा लेता है, कुत्सित कार्य करता है, वा स्वप्न मे क्रिया को करता है वह निद्रा है ॥ २ ॥

उपरि-उपरि निद्रा निद्रानिद्रा है। उस निद्रा के ऊपर पुन.पुन निद्रा आना अर्थात् नीद के ऊपर नीद आना निद्रा-निद्रा कहलाती है ॥ ३ ॥

जो आत्मा को प्रचलित करनी है वह प्रचला है। जिस नीद मे आत्मा मे विशेष प्रचलन उत्पन्न होता है वा जो क्रिया आत्मा को प्रचालित करती है वह प्रचला निद्रा है। वह पुन. शोक, श्रम, मद आदि के कारण से उत्पन्न होती है। यह इन्द्रिय व्यापार से उपरत होकर बेठे-हो-बेठे के शरीर, नेत्र आदि मे विकार-क्रिया की सूचक है, अन्त॰ प्रीति का लवमात्र हेतु है। अर्थात् शोक, श्रम मद आदि के कारण इन्द्रिय व्यापार से उपरत होकर बैठे-बैठे के शरीर और नेत्र आदि मे विकार उत्पन्न करने वाली प्रचला होती है ॥ ४ ॥

पौनःपुन्येन सैवाहितावृत्तिः प्रचलाप्रचला । ५ । सैव प्रचला पुनः पुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचलेत्युच्यते ।

स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः । ६ । यत्सन्निधानाद्रौद्रकर्मकरण बहुकर्मकरणं च भवति सा स्त्यानगृद्धिः । कथम् ? स्त्यायतेरनेकार्थत्वात् स्वप्नार्थ इह गृह्यते । गृधेरपि दीप्तिः । स्त्याने स्वप्ने गृध्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं बहु च कर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिः ।

नानाधिकरणाभावात् वीप्सानुपपत्तिरिति चेत्; न; कालादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः । ७ । स्यान्मतम्–नानाधिकरणविषया वीप्सा, न चेह नानाधिकरणत्वमस्ति एकात्मगोचरत्वात्, ततो वीप्साऽभावात् असति द्वित्वे निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलेति निर्देशो नोपपद्यत इति; तन्न, किं कारणम् ? कालादिभेदात् तद्भेदसिद्धेः । इह एकस्यापि वस्तुनः कालकृताद् गुणभेदाद् भेदो दृश्यते–[1]पटुर्भवान् [2]परुदासीत् पटुतर ऐषम[3] इति । तथा

पुन पुनः उसकी आहित वृत्ति प्रचलाप्रचला है । उस प्रचला के ऊपर पुन. प्रचला आना प्रचलाप्रचला कही जाती है ।। ५ ।।

जिसके उदय से स्वप्न मे वीर्य (शक्ति) विशेष का आविर्भाव होता है, वह स्त्यानगृद्धि है । वा जिसके सान्निध्य से मानव अनेक रौद्र कर्म करता है, असम्भव कार्य भी कर डालता है, वह स्त्यानगृद्धि है । **प्रश्न**—स्त्यानगृद्धि का अर्थ रौद्र कर्म कैसे किया जाता है ? **उत्तर**—स्त्याय 'धातु' के अनेक अर्थ होते है, यहाँ पर स्वप्न अर्थ मे 'स्त्यायन' गृहीत है 'गृद्धि' का अर्थ दीप्ति है । जिसके उदय से स्त्यान (स्वप्न) मे दीप्ति हो, बहुत से रोद्र, क्रूर, असभव कार्य करता हो, वह स्त्यानगृद्धि निद्रा है ।। ६ ।।

नानाधिकरण का अभाव होने से वीप्सा की अनुपपत्ति है, ऐसा कहना उपयुक्त नही है । क्योकि कालभेद से एक आत्मा मे भी नानाधिकरण सिद्ध होता है । **प्रश्न**—नाना अधिकरण विषय मे ही वीप्सा (दो बार उच्चारण) होती है परन्तु यहाँ एकात्मा गोचरत्व होने से नानाधिकरण नही है अतः वीप्सा का अभाव होने से द्वित्व नही और द्वित्व नही होने से 'निद्रा निद्रा प्रचला प्रचला' यह निर्देश नही बन सकता । **उत्तर**—ऐसा कहना ठीक नही है । क्योकि कालादि के भेद से नानाधिकरण की सिद्धि हो जाती है । यद्यपि वीप्सार्थक द्वित्व नाना अधिकरण मे होता है, परन्तु निद्रा-निद्रा आदि में भी काल आदि के भेद से एक भी आत्मा मे नाना अधिकरण बन जाता है । एक ही व्यक्ति मे कालकृत गुणभेद से भेद देखा जाता है । जैसे—आप गत वर्ष पटु थे और इस वर्ष (इस समय)

---

१ पटुर्भवान् पटुरासीत् पटुतर एव स–मु., द, व. । २. गतवर्षे–स. । परापरार्यैषमो वर्षे । ३. अस्मिन् वर्षे–स ।

देशकृतादपि–मथुराया दृष्टः, पुनः पाटलिपुत्रे दृश्यमान उच्यते–अन्योऽत्र त्वमसि संपन्न इति । एवमिहापि कालादिभेदात् भेदोपपत्तेः वीप्सा युज्यते ।

आभीक्ष्ण्ये वा द्वित्वप्रसिद्धिः । ८ । अथवा मुहुर्मुहुर्वृत्तिराभीक्ष्ण्यं तस्य विवक्षायां द्वित्वं भवति यथा [1]गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्त इति ।

निद्रादिकर्मसद्वेद्योदयात् निद्रादिपरिणामसिद्धिः । ९ । निद्रादिकर्मणः सद्वेद्यस्य चोदयात् निद्रादिपरिणामसिद्धिर्भवति । तत्र हि शोकक्लमादिविगमदर्शनात् सद्वेद्योदयः स्फुटोऽवगन्तव्य., असद्वेद्यस्य च मन्दोदयः ।

निद्रादीनामभेदेनाभिसंबन्धः । १० । निद्रा च निद्रानिद्रा च प्रचला च प्रचलाप्रचला च स्त्यानगृद्धिश्च निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धय· । अनुवर्तमानेन दर्शनावरणेनाभेदेनाभिसंबन्धः क्रियते ।

निद्रादीनामभेदेनाभिसंबन्धो (बन्ध) विरोध इति चेत्; न; विवक्षातः संबन्धात्

पटुतर है—यह प्रयोग हो जाता है तथा देश भेद से मथुरा मे देखे हुए मानव को पुनः पटना मे देखने पर कहा जाता है, तुम तो बदल गये हो, सम्पन्न हो गये हो, यह प्रयोग होता है; उसी प्रकार यहाँ भी कालभेद से भेद होकर वीप्सा अर्थ मे द्वित्व बन जाता है ।। ७ ।।

अथवा, अभीक्ष्ण अर्थ मे भी द्वित्व की प्रसिद्धि है । अथवा मुहुमुहु प्रवृत्ति, आभीक्ष्ण्य सतत प्रवृत्ति, बार-बार प्रवृत्ति अर्थ में द्वित्व होकर निद्रा-निद्रा प्रयोग बन जाता है । जैसे कि घर मे घुस-घुसकर बैठा है अर्थात् बार-बार घर मे घुस जाता है ।। ८ ।।

निद्रा कर्म और साता वेदनीय कर्म के उदय से निद्रा परिणाम की सिद्धि होती है । अर्थात् निद्रा दर्शनावरण और साता वेदनीय इन दोनो कर्मो के उदय से निद्रा आती है । निद्रा के समय शोक, क्लम, श्रम आदि का विगम (नाश) देखा जाता है अतः साता कर्म का उदय तो स्पष्ट ही है और असाता वेदनीय का भी उस समय मन्द उदय रहता है, ऐसा जानना चाहिये ।। ९ ।।

निद्रा आदि का अभेद से अभिसम्बन्ध है । निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, ये पाँच निद्रा हैं । इनमे दर्शनावरण की अनुवृत्ति करके निद्रा आदि का उससे अभेद सम्बन्ध कर लेना चाहिये अर्थात् निद्रा आदि दर्शनावरण के भेद है, ऐसा कथन करना चाहिये ।। १० ।।

निद्रा आदि के अभेद से अभिसंबन्ध का विरोध नही है सम्बन्ध की विवक्षा होने से ।

१· गेहमनुप्रवेशमास्त इति मु द ।

। ११ । स्यादेतत्—चक्षुरादीना भेदनिर्देशः निद्रादीनामभेदनिर्देशः एकमेव दर्शनावरणमपेक्ष्य क्रियमाणो विरुद्ध इति; तन्न; किं कारणम् ? विवक्षातः संवन्धात् । विवक्षावशाद्धि भेदेनाभेदेन च संबन्धो न विरुध्यते ।

अथ चक्षुरादिदर्शनावरणोदयात् आत्मा किमवस्थो भवति ? अत्रोच्यते—

चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणोदयात् चक्षुरादीन्द्रियालोचनविकलः । १२ । चक्षुर्दर्शनावरणस्याचक्षुर्दर्शनावरणस्य चोदयात् आत्मा चक्षुरादीन्द्रियलोचनविकलो भवति एकेन्द्रियभावेन विकलेन्द्रियभावेन च, पञ्चेन्द्रियत्वेऽप्युपहतेन्द्रियालोचनसामर्थ्यश्च भवति ।

अवधिदर्शनावरणोदयादवधिदर्शनविप्रमुक्तः । १३ । अवधिदर्शनावरणोदयाद् व्यपेतावधिदर्शनः संपद्यते ।

केवलदर्शनावरणोदयादनाविर्भूतकेवलदर्शनः । १४ । केवलदर्शनावरणस्य कर्मण उदयात् अनाविर्भूतकेवलदर्शन. अप्रत्यवसितससारोऽवतिष्ठते ।

निद्रा-निद्रानिद्रोदयात्तमोमहातमोऽवस्था । १५ । निद्राया उदयात् तमोऽवस्था निद्रानिद्राया उदयात् महातमोऽवस्था संजायते ।

शंका—चक्षुरादि के भेद का निर्देश है और निद्रा आदि मे अभेद निर्देश है। एक दर्शनावरण की अपेक्षा से किया गया यह भेद-विरुद्ध है ? **उत्तर**—यद्यपि चक्षु अचक्षु आदि का भिन्न-भिन्न निर्देश है और उनसे षष्ठी विभक्ति होने से भेद रूप से ही दर्शनावरण का सम्बन्ध करना है और निद्रा आदि के साथ अभेद रूप मे, फिर भी इसमे कोई विरोध नही है क्योकि भेद और अभेद रूप से सम्बन्ध करना विवक्षाधीन है। जहाँ जैसी विवक्षा होती है, वहाँ वैसा ही सम्बन्ध हो जाता है ।। ११ ।।

प्रश्न—चक्षु आदि दर्शनावरण के उदय से आत्मा की अवस्था कैसी होती है ?

उत्तर—चक्षुर्दर्शनावरण और अचक्षुर्दर्शनावरण के उदय से आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियो के द्वारा आलोचन क्रिया मे असमर्थ हो जाता है। एकेन्द्रिय भाव से और विकलेन्द्रिय भाव से तथा पचेन्द्रियत्व होने पर भी इन्द्रियजन्य आलोचन के सामर्थ्य से रहित हो जाता है। अर्थात् इन इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान के पहले जो सामान्य आलोचन होता है, उस आलोचन से शून्य हो जाता है ।। १२ ।।

अवधि दर्शनावरण के उदय से आत्मा अवधिदर्शन से रहित हो जाता है ।। १३ ।।

केवलदर्शनावरण कर्म के उदय से केवलदर्शन का आविर्भाव नही होता। वह जीव बहुत काल तक संसार में रहता है ।। १४ ।।

निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से तम अवस्था और निद्रा-निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से महातम अवस्था होती है ।। १५ ।।

प्रचला-प्रचलाप्रचलोदयाच्चलनातिचलनभावः । १६ । प्रचलोदयादासीनो घूर्णमानश्चलन्नयनगात्रः पश्यन्नपि न पश्यति । प्रचलाप्रचलोदयादासीनोऽतिघूर्णमानः खन्यमानमपि शरनाराचादिभि· शिरोऽङ्गप्रत्यङ्गादि यत्किञ्चिन्न पश्यति ।

आह–यत्तत्कर्म तृतीयगणनामवाप्त तस्योत्तरप्रकृतिविकल्पो न निर्ज्ञात इति ? अत्रोच्यते–

सदसद्वेद्ये ।। ८ ।।

यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम् । १ । देवादिषु गतिषु बहुप्रकारजातिविशिष्टासु यस्योदयात् अनुगृहीत(तृ)द्रव्यसबन्धापेक्षात् प्राणिना शारीरमानसानेकविधसुखपरिणामस्तत्सद्वेद्यम् । प्रशस्त वेद्यं सद्वेद्यम् ।

यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम् । २ । नारकादिषु गतिषु नानाप्रकारजातिविशेषावकीर्णासु कायिक बहुविध मानस वाऽतिदु सह जन्मजरामरणप्रियविप्रयोगाऽप्रियसंयोगव्याधिवधबन्धादिजनित दु खं यस्य फल प्राणिना तदसद्वेद्यम् । अप्रशस्त वेद्यम् असद्वेद्यम् ।

प्रचला दर्शनावरण कर्म के उदय से बैठे-बैठे ही घूमने लगता है । नेत्र और शरीर कम्पित हो जाते है, चलने लग जाते है और देखता हुआ भी नही देखता है अर्थात् देख नही सकता हे । प्रचला-प्रचला के उदय से अत्यन्त ऊँघता है । बाण आदि के द्वारा शरीर के अवयव शिर, अग-प्रत्यङ्ग के छिद जाने पर भी जीव कुछ नही देख सकता है ।। १६ ।।

जो-जो कर्म तीसरी गणना मे व्याप्न है, उसकी उत्तर प्रकृतियो के विकल्प नही कहे हं । उनका निराकरण करने के लिये वा उनका ज्ञान कराने के लिये कहते है—

साता और असाता के भेद से वेदनीय कर्म दो प्रकार का है ।। ८ ।।

जिसके उदय से देवादि गतियो मे शारीरिक, मानसिक सुख की प्राप्ति होती है, वह साता वेदनीय कर्म है । जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार की जातियो से विशिष्ट देवादिगतियो मे अनुगृहीत (इष्ट) सामग्री के सन्निधान की अपेक्षा प्राणियो को शारीरिक मानसिक आदि अनेक प्रकार के सुखो का अनुभव होता है वा प्रशस्त रूप सामग्री की प्राप्ति होती है, वह साता वेदनीय है ।। १ ।।

जिसका फल अनेक प्रकार का दु.ख रूप है, उसको असाता वेदनीय कहते है । जिस कर्म का फल प्राणियो को नाना प्रकार की जातिविशेष से व्याप्त नरक, तिर्यञ्च आदि गतियो मे अनेक प्रकार के कायिक, मानसिक और अति दु.सह जन्म-जरा-मरण, प्रियवियोग, अप्रियसयोग, व्याधि, वध और

आह–व्याख्यातो वेदनीयस्य प्रकृतिबन्धः। अथ खलु मोहनीयस्याष्टाविंशतिप्रभेदस्य किमाख्याः प्रकारा इति ? अत्र ब्रूमः—

दर्शनचारित्रमोहनीयाऽकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

दर्शनादिभिस्त्रिद्विनवषोडशभेदानां यथासंख्येन संबन्धः। १। दर्शनादयश्चत्वारः त्र्यादयोऽपि, तेषां यथासंख्येन सबन्धो भवति-दर्शनमोहनीयं त्रिभेदम्, चारित्रमोहनीयं द्विभेदम्, अकषायवेदनीयं नवविधम्, कषायवेदनीयं षोडशविधमिति।

तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदं सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानीति। २। तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदमवगन्तव्यम्। कुतः ? सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि इति। तद्बन्ध प्रत्येकं

वन्ध आदि से जन्य दुःख का अनुभव होता है वा अनेक प्रकार के दु.खो की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से होती है, वह असाता वेदनीय है, अप्रशस्त वेदनीय, असद्वेदनीय है ॥ २ ॥

इस प्रकार वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियो का वर्णन किया, अब मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो का वर्णन करते है--

दर्शन आदि का तीन आदि से क्रमशः सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अर्थात् दर्शन मोहनीय तीन प्रकार की, चारित्रमोहनीय दो प्रकार की, अकषाय वेदनीय नव प्रकार की और कषायवेदनीय १६ (सोलह) प्रकार की है ॥ ९ ॥

सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व के भेद से दर्शन मोहनीय तीन प्रकार की है। कषाय और अकपाय के भेद से चारित्रमोहनीय दो प्रकार की है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद के भेद से अकषाय वेदनीय नव प्रकार की है। अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, ये कषाय वेदनीय के १६ भेद है ॥ १ ॥

उसमे दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्त्वमिथ्यात्व। यह दर्शन मोहनीय वन्ध की अपेक्षा एक होकर भी सत्ता कर्म की अपेक्षा तीन भेद को प्राप्त होती है। अर्थात् वन्ध तो केवल मिथ्यात्व का ही होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन रूप घन की चोट लगने से उस

भूत्वा सत्कर्मापेक्षया त्रैविध्यमास्कन्दति। तत्र यस्योदयात् सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखः तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविभागाऽसमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव सम्यक्त्वम्, शुभपरिणामनिरुद्धस्वरस यदौदासीन्येनावस्थितमात्मानं श्रद्दधानं न निरुणद्धि। तद्वेदयमानः पुरुष सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते, सम्यङ्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मन. अर्धशुद्धमदकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणामः।

चारित्रमोहनीयं द्वेधा कषायाकषायभेदात्। ३। चारित्रमोहनीयं द्वेधा विभज्यते। कुत ? अकषायकषायभेदात्। कषायप्रतिषेधप्रसङ्ग इति चेत्; न, ईषदर्थत्वात् नञः। यथा 'अलोमिका[1] एलका' इति, नास्या. कच्छपवल्लोमाभाव· किन्तु छेदयोग्यलोमाभावेऽपि ईषत्प्रतिषेधादलोमिकेत्युच्यते, तथा नेमे कषाया अकषायाः हास्यादय इति, नैषा सर्वथैवाऽकषायत्व किन्तु परोपष्टम्भात् श्ववत्प्रवृत्तेरीषत्प्रतिषेध.। यथा श्वा

मिथ्यात्व के तीन टुकडे हो जाते हैं। अत सत्ता की अपेक्षा तीन और बध की अपेक्षा एक भेद वाली दर्शन मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से प्राणी सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से पराङ्मुख, तत्त्वार्थ श्रद्धान से निरुत्सुक, हिताहित का विभाग करने मे असमर्थ और मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व है। शुभ परिणामो से जब उसका अनुभाग रोक दिया जाता है और जो उदासीन रूप से स्थित रहकर आत्म-श्रद्धान को नही रोकता है, वह सम्यक्त्व कहलाता है। उस सम्यक्त्व का वेदन करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है। वही मिथ्यात्व जब प्रक्षालनविशेष से क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदो के समान आधा शुद्ध और आधा अशुद्ध रस वाला होता है तब वह मिश्र उभय या सम्यक्त्व मिथ्यात्व कहलाता है। जिसके उदय से आत्मा के, आधे शुद्ध कोदो से जिस प्रकार का मद होता है, उसी तरह के मिश्र भाव होते है॥ २॥

कषाय और अकषाय के भेद से चारित्र मोहनीय दो प्रकार की है। अकषाय का अर्थ कषाय का निषेध नही है अर्थात् इसमे 'अ' निषेध अर्थ मे नही है, परन्तु ईषद् अर्थ मे 'नञ' समास है। जैसे 'अलोमिका एलका' ऐसा कहने पर कछुए के समान भेडिये मे सर्वथा रोम का निषेध नही होता (सर्वथा रोम का अभाव नही है) अपितु काटने योग्य रोमो का अभाव है अत. ईषत् रोम का विधान और दीर्घ रोम के प्रतिषेध का द्योतन करने वाला अलोमिका शब्द है, अर्थात् अलोमिका शब्द थोड़े छोटे बालो का द्योतक है। उसी प्रकार कषाय का अभाव हास्यादि कषाय है, अर्थात् अकषाय शब्द से सर्वथा कषाय का निषेध नही है अपितु परोपष्टम्भ होने से (दूसरे के बल पर कषाय होने से) कुत्ते की प्रवृत्ति के समान ईषत् कषाय विवक्षित है। जैसे—कुत्ता स्वामी का इशारा पाकर बलवन्त हो

---

१. –काण्डका मु.। –काण्डलका–द , ब। मेषी इत्यर्थः।

स्वाम्युपष्टम्भात् प्रवृद्धबलः सत्त्वजिघांसा प्रति वर्तते स्वामिनिवर्तनाच्च निवर्तते, तथा क्रोधादिकषायावष्टम्भात् ईषत्प्रतिषेधे सति हास्यादीनां प्रवृत्तेः, क्रोधाद्यप्रवृत्तौ च निवृत्तेरकषायत्वम् । कथमीषत्प्रतिषेधगतिरिति चेत् ? व्याख्यानतः ।

अकषायवेदनीयं नवविधं हास्यादिभेदात् ।४। अकषायवेदनीयं नवविधम् । कुतः ? हास्यादिभेदात् । तत्र यस्योदयात् हास्याविर्भावस्तद्धास्यम् । यदुदयाद्देशादिष्वौत्सुक्य सा रतिः । अरतिस्तद्विपरीता । यद्विपाक शोचनं स शोकः । यदुदयादुद्वेग तद्भय सप्तविधम् । कुत्साप्रकारो जुगुप्सा । यद्येवं कुत्साग्रहणमेवास्तु लघुत्वात्; न; अर्थविशेषोपपत्ते । आत्मीयदोषसंवरण जुगुप्सा, परकीयकुलशीलादिदोषाविष्करणावक्षेपण[1] भर्त्सनप्रवणा कुत्सा । यस्योदयात् स्त्रैणान् भावान् मार्दवास्फुटत्वक्लैव्यमदनावेशनेत्रविभ्रमास्फालनसुखपुंस्का[2]मनादीन् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः । तस्योद्भूतवृत्तित्व-

---

जाता है और जीवो को मारने के लिये प्रवृत्ति करता है तथा स्वामी के इशारे से ही वापिस आ जाता है, उसी प्रकार क्रोधादि कषायों के बल पर ही ईषत् प्रतिषेध होने पर हास्यादि नोकषायो की प्रवृत्ति होती है, क्रोधादि कषायो के अभाव मे ये निर्बल रहती है, इसलिये हास्यादि को ईषत् कषाय, अकषाय या नोकषाय कहते है । **प्रश्न**—अकषाय शब्द से ईषत् प्रतिषेध का ज्ञान कैसे होता है ? **उत्तर**—व्याख्यान (प्रकरण) से होता है अर्थात् यहाँ 'अ' शब्द का अर्थ ईषत् है, ऐसा प्रकरण से जाना जाता है ।। ३ ।।

हास्यादि के भेद से अकषायवेदनीय नौ प्रकार की है । जिसके उदय से हास्य का प्रादुर्भाव होता है वा हँसी आती है, वह हास्य कर्म है । जिसके उदय से देशादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि) मे उत्सुकता होती है, उनके प्रति अनुराग होता है वह रति नामकर्म है । जिसके उदय से देशादि मे अनुत्सुकता होती है, उनमे प्रीति नही होती है, वह अरति कषाय है । जिसके उदय से शोचन होता है वह शोक है । जिसके उदय से उद्वेग होता है, वा सात प्रकार का भय होता है, वह भय नोकषाय है । कुत्सा, ग्लानि को जुगुप्सा कहते है । **प्रश्न**—यदि कुत्सा को जुगुप्सा कहते है तो सूत्र मे कुत्सा को ग्रहण करना चाहिये । उससे सूत्र मे लघुपना भी हो जाता है । **उत्तर**—यद्यपि जुगुप्सा कुत्सा का ही एक प्रकार है फिर भी कुछ अर्थविशेष की उत्पत्ति होने से इनमे अन्तर है । अपने दोषो को ढकना जुगुप्सा है और दूसरो के कुल, शील आदि मे दोष लगाना, अवक्षेपण करना, दूसरो की भर्त्सना करने मे प्रवीण होना अर्थात् दूसरो की भर्त्सना करना आदि कुत्सा है । जिसके उदय से ग्लानि होती है वह जुगुप्सा नोकषाय है । जिस नोकषाय के उदय से कोमलता, अस्फुटता, क्लीवता, कामावेश, नेत्रविभ्रम, आस्फालन, पुरुष की इच्छा आदि स्त्रीभावो को आत्मा प्राप्त होता है, वह स्त्रीवेद है । जब स्त्रीवेद का उदय होता है तब इतर पुरुष और नपुंसकवेद कर्म की सत्ता गौण

---

१ –पभ–मु., व. । २. –कामादीन् मु , व. ।

मितरयो.[१] पुंनपुंसकयो सत्कर्मद्रव्यावस्थानान्न्यग्भावः। ननु लोके प्रतीतं योनि-मृदुस्तनादि (पृथुस्तनादि) स्त्रीवेदलिङ्गम्; न, तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्, [२]अतः पुंसोऽपि स्त्रीवेदोदयः। कदाचिद्योषितोऽपि पुवेदोदयोऽप्याभ्यन्तरविशेषात्। शरीरा-कारस्तु नामकर्मनिर्वर्तित। एतेनेतरौ व्याख्यातौ। यस्योदयात् पौस्नान् भावानास्कन्दति स पुवेदः। यत्कर्मोदयात् नपुसकान् भावानु[३]पव्रजति स नपुसकवेद.।

कषायवेदनीयं षोडशविध अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात्। ५। कषायवेदनीयं षोडश-विध द्रष्टव्यम्। कुतः? अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात्। तद्यथा कषायाः क्रोधमान-मायालोभाः। स्वपरोपघातनिरनुग्रहाहितक्रौर्यपरिणामोऽमर्ष क्रोध। [४]स च चतु प्रकारः—पर्वत-पृथ्वी-[५]वालुका-उदकराजितुल्य.। जात्याद्युत्सेकावष्टम्भात् परा-प्रणतिर्मान शैलस्तम्भा-ऽस्थि-दारु-लतासमानश्चतुर्विध.। परातिसन्धानतयोपहित-कौटिल्यप्राय. प्रणिधिर्माया प्रत्यासन्नवंशपर्वोपचितमूल-मेषशृङ्ग-गोमूत्रिकाऽवलेखनीसदृशी चतुर्विधा। अनुग्रहप्रवणद्रव्याद्यभिकाङ्क्षावेशो लोभ. कृमिराग-कज्जल-कर्दम-हरिद्राराग-

---

रूप से अवस्थित रहती है। **प्रश्न**—लोक मे योनि, मृदु स्तनादि चिह्न से स्त्रीवेद की प्रतीति होती है। **उत्तर**—शरीर मे जो स्तन, योनि आदि चिह्न है वे नामकर्म के उदय के कारण होते है। अत द्रव्य से पुरुषवेद का उदय होने पर भी भाव से स्त्रीवेद का वा नपुसकवेद का उदय हो सकता है। द्रव्य स्त्रीवेद के उदय मे भाव पुरुष वा नपुसक का तथा द्रव्य से नपुसकवेद का उदय होने पर भी आभ्यन्तर विशेष भाव की अपेक्षा पुरुष और स्त्रीवेद का उदय हो सकता है। शरीर आकार तो नामकर्म की रचना है और भाववेद मोहनीय कर्म के उदय से होता है, इस प्रकार इन दोनो का वर्णन है। जिस कर्म के उदय से आत्मा पुरुष भाव को प्राप्त होता है वह **पुरुषवेद** है और जिस कर्म के उदय से नपुसक भावो को प्राप्त होता है, वह **नपुसकवेद** है ।। ४ ।।

अनन्तानुबन्धी आदि के विकल्प से कषायवेदनीय सोलह प्रकार की है। जैसे—क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की है। अपने और पर के उपघात अनुपकार आदि से आहित (प्राप्त) क्रूर परिणाम या अमर्ष भाव **क्रोध** है। वह क्रोध पर्वतरेखा, पृथ्वीरेखा, धूलिरेखा और जल रेखा के समान चार प्रकार का है। जाति, ज्ञान, कुल, शरीर, तप, पूजा, ऐश्वर्य आदि के मद के कारण दूसरो के प्रति नमने की वृत्ति नही होना **मान** कषाय है। शैलस्तम्भ, अस्थिस्तम्भ, दारु (लकडी) स्तम्भ और लता समान भेद से मान चार प्रकार का है। दूसरो को ठगने के लिये जो छल-कपट और कुटिल भाव होते है वह **माया** है। यह माया, बाँसवृक्ष की गँठीली जड, मेष (मेढे) का सीग, गाय के मूत्र की वक्र रेखा और अवलेखनी खुरपा आदि के सदृश चार प्रकार की है।

---

१ अ प्रतौ 'इतरयो.' इति पदस्य टिप्पणभूत 'पुनपुसकयो' इति पदम्। २ अन्तः पुसो-अ, ता।
३. –नु प्रव्रज–मु, द, ब.। ४ स चतु–मू, मु, द, ब.। ५. –वालिको–ता, द, मु.।

सदृशश्चतुर्विधः। तेषां क्रोधमानमायालोभाना चतस्रोऽवस्थाः अनन्तानुबन्धिनः अप्रत्याख्यानावरणा. प्रत्याख्यानावरणा. सञ्ज्वलनाश्चेति। अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम् तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्देशविरति सयमासयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्त [1]अप्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्विरति कृत्स्ना सयमाख्या न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्त. प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। समेकीभावे वर्तते, सयमेन सहावस्थानादेकीभूता. ज्वलन्ति, सयमो वा ज्वलति एतेषु सत्स्वपीति सञ्ज्वलना. क्रोधमानमायालोभा.। त एते समुदिताः षोडश कषाया भवन्ति।

आह–व्याख्यातमष्टाविशत्युत्तरप्रकृतिभेद मोहनीयम्, अथायुषश्चतुर्विधस्य को नामनिर्देश इति ? अत्रोच्यते–

जीव के अनुग्राहक-उपकारक धन आदि की विशेष आकाक्षा लोभ है। कृमिराग, कज्जल, कर्दम (कीचड) और हरिद्रा (हल्दो) के राग सदृश भेद से लोभ चार प्रकार का है। इन क्रोध, मान, माया और लोभ की चार-चार अवस्थाएँ है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। अनन्त ससार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं। उस अनन्त (मिथ्यात्व) को बाँधने वाली (वा उसका अनुसरण करने वाली) कषाय अनन्तानुबन्धी कहलाती है अर्थात् मिथ्यादर्शन को बाँधने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ **अनन्तानुबन्धी** है। जिसके उदय से यह प्राणी ईषत् (अल्प) भी देशविरति सयमासयम नामक व्रत को स्वीकार नही कर सकता, स्वल्प मात्र भी व्रत प्राप्त नही कर सकता वह देशविरत प्रत्याख्यान का आवरण करने वाली **अप्रत्याख्यानावरण** क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है। जिसके उदय से सकल विरति या सकल सयम को धारण नही कर सकता, वह समस्त प्रत्याख्यान–सर्वत्याग को रोकने वाली कषाय **प्रत्याख्यानावरण** क्रोध, मान, माया, लोभ है। जो सम अर्थात् एकीभाव से सयम के साथ सहावस्थान होने से एकीभूत होकर जलती रहे, अथवा जिसके रहने पर भी सयम हो सकता है वह सज्वलन क्रोध, मान, माया, और लोभ कषाय है। इस प्रकार इनका समुदाय करने पर १६ कषाय होती है।। ५।।

इस प्रकार मोहनीय की २८ उत्तरप्रकृतियो का वर्णन किया, अब चार प्रकार की आयु का नाम निर्देश करते है—

१: आप्रत्या–अ.। ईषत्प्रत्याख्यान।

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।। १० ।।

नारकादिषु भवसंबन्धेनायुर्व्यपदेशः । १ । नारकादिषु भवसंबन्धेनायुषो व्यपदेशो भवति–नरकेषु भवं नारकं तिर्यग्योनौ भवं तैर्यग्योन मनुष्येषु भव मानुष देवेषु भवं दैवमिति ।

यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः । २ । यस्य भावात् आत्मनः जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते ।

अन्नादि तन्निमित्तमिति चेत्; न; तस्योपग्राहकत्वात् । ३ । स्यादेतत्–अन्नादि तन्निमित्त तल्लाभालाभयोर्जीवितमरणदर्शनादिति, तन्न; कि कारणम् ? [1]तस्यानुग्राहकत्वात् । यथा घटभवने मृत्पिण्डो मूलकारण तस्योपग्राहक दण्डादि, तथाऽभ्यन्तरं भवधारणस्य कारणमायुः, अन्नादि तस्योपग्राहकम्, अतश्चैतदेवं यत् क्षीणायुषोऽन्नादिसन्निधानेऽपि मरणं दृश्यते ।

नरक, तिर्यञ्च, मानुष और देव, ये चार प्रकार की आयु हैं ।। १० ।।

नरकादि भवो (पर्यायो) के सम्बन्ध से आयु भी नारक, तैर्यग्योन कहलाती है। जैसे—नारक भव के सम्बन्ध से आयु मे नरक व्यपदेश होता है और नरक मे होने वाली आयु नारक कहलाती है। इसी प्रकार तिर्यञ्च योनि मे होने वाली तैर्यग्योन, मनुष्य मे होने वाली मानुप और देवो मे होने वाली देव आयु कहलाती है ।। १ ।।

जिसके सद्भाव मे जीवन और अभाव में मरण हो, वह आयु है। जिसके होने पर आत्मा का जीवन और जिसके अभाव मे आत्मा का मरण कहलाता है वह भव-धारण मे कारण आयु हे अर्थात् जो नरकादि भवों मे रोककर रखे, उसे आयु कहते है ।। २ ।।

अन्नादि के निमित्त से आयु नही है, क्योकि अन्नादि तो आयु के उपकारक हे। प्रश्न—अन्नादि के निमित्त से जीवन-मरण होता है, क्योकि अन्नादि का लाभ होने पर ससारी प्राणियो का जीवन और अन्नादि के अलाभ मे मरण देखा जाता है ? उत्तर—अन्नादि के लाभालाभ मे जीवन-मरण मानना ठीक नही है क्योकि अन्नादि तो आयु के अनुग्राहक है। जैसे—घटादि की उत्पत्ति मे मूल कारण मिट्टी का पिण्ड है और दण्ड कुम्भकार आदि उसके उपग्राहक हैं, उसी प्रकार भव-धारण का मूल कारण आयु है और अन्नादि उसके उपग्राहक है, क्योकि इसलिये ही अन्नादि के सन्निधान मे भी क्षीण आयु वाले का (आयु नष्ट हो जाने पर) मरण देखा जाता है। अथवा—।। ३ ।।

---

१. आयुप. ।

देवनारकेषु चान्नाद्यभावात् ।४। देवेषु नारकेषु चान्नाद्यभावात् भवधारण-मायुरधीनमेवेत्यवसेयम् । तेषा हि कादाचित्क आहारोऽनाभोगो व्याख्यात ।

नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकायुः ।५। नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनाकरेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवन भवधारणं भवति तन्नारकायुः ।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं तत्तैर्यग्योनम् ।६। क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकादिविविधव्यसनविधेयीकृतेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसन भवति तत्तैर्यग्योनमायुरवगन्तव्यम् ।

शारीरमानससुखदुःखभूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयात् मनुष्यायुषः ।७। शारीरेण मानसेन च सुखदु.खेन समाकुलेषु मनुष्येषु यस्योदयाज्जन्म भवति तन्मानुष-मायुरवसेयम् ।

शारीरमानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयात् देवायुषः ।८। शारीरेण मानसेन च सुखेन प्रायः समाविष्टेषु देवेषु यस्योदयाज्जन्म भवति तद्दैवमायुरवगन्तव्यम् ।

देवो और नारकियो मे अन्नादि का अभाव होने पर भव-धारण होता है अतः भव-धारण आयु के आधीन ही है अन्नादिक के आधीन नही, ऐसा जानना चाहिये । देवो और नारकियो के कादाचित्क अनाभोग (मानसिक आदि) आहार कहा है, अन्नादिक का नही है ।। ४ ।।

जिसके निमित्त से तीव्र शीत-उष्ण-वेदनाकारक नरको मे भी दीर्घ काल तक प्राणी जीवित रहता है, वह नरक आयु है ।। ५ ।।

जिसका उदय होने पर क्षुधा, पिपासा, शोत, उष्ण, दशमशक, आदि अनेक दु.खो के स्थानभूत तिर्यंच पर्याय मे यह प्राणी जीवित रहता है, वा दुःखकारक तिर्यञ्च पर्याय को धारण करता है, उसे तैर्यग्योन की आयु जानना चाहिये ।। ६ ।।

जिसके उदय से शारीरिक, मानसिक अत्यधिक सुख-दु.ख से समाकुल मानुष पर्याय मे जन्म होता है, वा जिसके उदय से प्राणी मानुपभव धारण करता है वह मनुष्यायु कहलाती है ।। ७ ।।

शारीरिक, मानसिक सुखस्वरूप देवपर्यायो मे जन्म जिसके उदय से होता है वह देवायु है । जिस आयु कर्म के उदय से प्रायः कर शारीरिक, मानसिक सुखो से युक्त देवपर्याय मे जन्म होता है, उसे देव आयु जानना चाहिये । कभी-कभी देवो मे प्रिय देवागना आदि के वियोग से, दूसरे महर्द्धिक देवो की महाविभूति के देखने से, देवपर्याय की समाप्ति के सूचक आज्ञाहानि, माला के मुरझाने और

कदाचित्[1] प्रियविप्रयोगात् महर्द्धिदेवनिरीक्षणात् च्यवनलिङ्गाज्ञाहानिमालाभूषाम्लानदर्शनाच्च मानसं दुःखमाविर्भवतीति ज्ञापनार्थं प्रायग्रहणम् ।

आह—व्याख्यातमायुश्चतुर्विध तदनन्तरमुद्दिष्ट यन्नामकर्म तदुत्तरप्रकृतिसमाख्याः का इति ? अत्रोच्यते—

**गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरस-
गन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वास-
विहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभ-
सूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेत-
राणि तीर्थंकरत्वं च ॥ ११ ॥**

यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः । १ । यस्य कर्मण उदयवशात् आत्मा भवान्तर प्रत्यभिमुखो व्रज्यामास्कन्दति सा गतिः । गम्यत इति गतिरित्यु-

---

आभूषण एव शरीर की कान्ति आदि की हीनता देखने से मानसिक दु ख उत्पन्न होता है अत. उस मानसिक दु.ख का ज्ञापन कराने के लिये 'प्राय ' शब्द ग्रहण किया है ॥ ८ ॥

चार प्रकार की आयु का वर्णन कर चुके है । अब आयुकर्म के बाद कथित नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ? उनका वर्णन करते है—

**गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस,
गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास,
विहायोगति, प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति,
स्थिर, आदेय, यशस्कीर्ति और इनसे विपरीत साधारण, स्थावर,
दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, स्थूल, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय
अयशस्कीर्ति तथा तीर्थंकरत्व प्रकृति ये बयालीस
नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ है ॥ ११ ॥**

जिस कर्म के उदय के कारण आत्मा भवान्तर (पर्यायान्तर) को ग्रहण करने के लिये गमन करता है, उसे गति कहते है । "गम्यते इति गतिः" जिससे गमन किया जाता है, वह गति है । ऐसी व्युत्पत्ति करने पर भी गति शब्द 'गो' शब्द के समान रूढि के वश से किसी गतिविशेष मे ही

---

१ प्रियावि—मु , द., ब. ।

च्यमानेऽपि रूढिवशात् कस्मिश्चद्गतिविशेषे वर्तते गोशब्दप्रवृत्तिवत् ? इतरथा हि यदा आत्मा न गच्छति न तदा गतिर्भवेत्, सत्कर्मावस्थायां च गतिव्यपदेशो न स्यात् । सा चतुर्विधा—नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्चेति । यन्निमित्त आत्मनो नारकभावः तन्नरकगतिनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् ।

तत्राव्यभिचारिसादृश्यैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः । २ । तासु नारकादिगतिषु अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिरिति व्यपदेशमर्हति । तन्निमित्त जातिनाम । तत्पञ्चविधम्—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम चेति । यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् ।

यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम । ३ । यस्योदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिर्भवति तच्छरीरनाम । तत्पञ्चविधम्—औदारिकशरीरनाम वैक्रियिकशरीरनाम आहारकशरीरनाम तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम चेति । तेषा विशेषो व्याख्यातः ।

प्रयुक्त होता है । यदि गति शब्द को रूढ नही माना जायेगा तो जब आत्मा गमन नही करती है, उस समय तथा गतिकर्म की सत्ता अवस्था है, उस समय गति व्यपदेश नही हो सकेगा । वह गति चार प्रकार की है—नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति । जिसके निमित्त से आत्मा के नारक भाव होते है, वह नरकगति है । इसी प्रकार जिस कर्म के उदय से तिर्यञ्च आदि के भाव को आत्मा प्राप्त होता है, वह तिर्यञ्च आदि गति है, ऐसा जानना चाहिये ।। १ ।।

उन नरकादि गतियों मे अव्यभिचारी (अविरोधी) सादृश्य से एकीकृत स्वरूप जाति है । अर्थात नरकगति, देवगति और मनुष्यगति मे पचेन्द्रिय जाति अव्यभिचारी है और शेष व्यभिचारी है । इस प्रकार चारो गतियो मे अविरोधी सादृश्य भाव 'जाति' इस नाम को प्राप्त होते है । जाति-व्यवहार मे निमित्त जातिनामकर्म है । वह जाति पॉच प्रकार की है, एकेन्द्रिय जाति—नाम कर्म, द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म और पचेन्द्रिय जाति नाम कर्म । जिस कर्म के उदय से आत्मा एकेन्द्रिय कहलाता है, वह एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म है । इस प्रकार दो इन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से आत्मा दो इन्द्रिय कहलाता है, इत्यादि समझना चाहिये ।। २ ।।

जिस कर्म के उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है, वह **शरीर** नाम कर्म है । वह शरीर पॉच प्रकार का है—औदारिक शरीर नाम कर्म, वैक्रियिक शरीर नाम कर्म, आहारक शरीर नाम कर्म, तैजस शरीर नाम कर्म और कार्मण शरीर नाम कम । इनका विशेष वर्णन एव लक्षण दूसरे अध्याय में किया जा चुका है ।। ३ ।।

यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम । ४ । यस्योदयाच्छिरः पृष्ठोरु[1]बाहूदरनलकरपाणिपादानामष्टानामङ्गानां तद्भेदानां च ललाटनासिकादीनाम् उपाङ्गाना विवेको भवति तदङ्गोपाङ्गनाम । तत्त्रिविधम्—औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम चेति ।

यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणम् । ५ । अङ्गोपाङ्गानां यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणमिति[2] विज्ञायते । तद्द्विविधम्—स्थाननिर्माण प्रमाणनिर्माण चेति । जातिनामकर्मोदयापेक्ष चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाण च निर्वर्तयति । निर्मीयतेऽनेन इति हि निर्माणम् ।

शरीरनामकर्मोदयोपात्तानां यतोऽन्योन्यसंश्लेषणं तद्बन्धनम् । ६ । शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्ताना पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसश्लेषण यतो भवति तद्बन्धनमित्याख्यायते । तस्याभावे शरीरप्रदेशाना दारुनिचयवत् असपर्कः स्यात् ।

जिसके उदय से अगोपाग की रचना होती है वह **अंगोपांग नाम कर्म** है । जिस कर्म के निमित्त कारण से सिर, पीठ, जाघ, बाहु, उदर, नल, हाथ और पैर, इन आठ अगो को तथा ललाट, नासिका, आँख, अगुलि आदि उपाङ्गो की रचना होती है, विवेक होता है, उसे **अगोपांग नाम कर्म** कहते हैं । वह अगोपाग नामकर्म तीन प्रकार का है—औदारिक शरोराङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक शराराङ्गोपाङ्ग और आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग । औदारिक शरीर मे जिसके निमित्त से अगोपागों की रचना होती है वह औदारिक शरीरागोपाग है, इसी प्रकार वंक्रियिक शरोरागोपाग और आहारक शरोरागोपाग जानना चाहिये ॥ ४ ॥

जिसके निमित्त से शरीर मे अग और उपाङ्ग की निष्पत्ति (ययास्थान और यथाप्रमाण रचना) होती है वह निर्माण नाम कर्म है । वह निर्माण नाम कर्म दो प्रकार का है—स्वस्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण । जिसके द्वारा रचना की जाय वह निर्माण कर्म है । यह निर्माणकर्म जातिनामकर्म के उदय की अपेक्षा चक्षु आदि के स्थान और उनके प्रमाण की रचना करना है, वा जिसके द्वारा जाति नाम कर्म के अनुसार इन्द्रियो के आकार तद्-तद् स्थान और शरीर प्रमाण उनका रचना का जाती है, वह निर्माण नामकर्म है ॥ ५ ॥

शरीर नाम कर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलो का परस्पर प्रदेश सश्लेष जिसके द्वारा होता है वह **बन्ध नाम कर्म** कहलाता है[3], यही अस्थि आदि का परस्पर बन्धन करता है । उसके अभाव मे शरीर प्रदेश[4] लकड़ियो के ढेर के समान परस्पर पृथक्-पृथक् रहेंगे ॥ ६ ॥

---

१. —बाहूदरनलक-मु । २ —ति ज्ञाय—मु, द, ब. । ३. औदारिक बन्धन, वैक्रियिक बन्धन, आहारक बन्धन, तैजस बन्धन और कार्माण बन्धन के भेद से बन्धन पांच प्रकार का है । यह औदारिकादि शरीर के प्रदेशो का सश्लेष करते हैं । ४ औदारिक सघातादि के भेद से सघात भी पांच प्रकार का है । सघात के कारण से औदारिक आदि शरीर छिद्र रहित होता है ।

अविवरभावेनैकत्वकरणं संघातनामकर्म ।७। यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत् संघातनाम ।

यद्धेतुका शरीराकृतिनिर्वृत्तिस्तत्संस्थाननाम ।८। यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम प्रत्येतव्यम् । तत् षोढा प्रविभज्यते–समचतुरस्रसंस्थाननाम, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, स्वातिसंस्थाननाम, [1]कुब्जसंस्थाननाम, वामनसंस्थाननाम, [2]हुण्डसंस्थाननाम चेति । तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसन्निवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वर्तितसमस्थितिचक्रवत् अवस्थानकरं समचतुरस्रसंस्थाननाम । नाभेरुपरिष्टाद् भूयसो देहसन्निवेशस्याधस्ताच्चाल्पीयसो जनकं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, न्यग्रोधाकारसमताप्रापितान्वर्थम्[3] । तद्विपरीतसन्निवेशकरं स्वातिसंस्थाननाम वल्मीकतुल्याकारम् । पृष्ठप्रदेशभाविबहुपुद्गलप्रचयविशेषलक्षणस्य निर्वर्तकं कुब्जसंस्थाननाम । सर्वाङ्गोपाङ्गह्रस्वव्यवस्थाविशेषकारणं वामनसंस्थाननाम । सर्वाङ्गोपाङ्गानां हुण्डसंस्थितत्वात् हुण्डसंस्थाननाम ।

अविवर (निश्छिद्र) भाव से पुद्गलो का परस्पर एकत्व हो जाना, सगठन हो जाना **संघात नाम कर्म** है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर निश्छिद्र रूप से संश्लिष्ट सगठन हो जाता है **वह संघात नाम कर्म** है ।। ७ ।।

जिसके कारण शरीर की आकृति बनती है वह **संस्थान नाम कर्म** है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर की आकृति (आकार) की निष्पत्ति होती है, वह सस्थान नाम कर्म है। वह संस्थान छह प्रकार का है—१. समचतुरस्रसस्थान, २. न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान, ३. स्वाति सस्थान, ४. कुब्जक सस्थान ५. वामनसस्थान और हुण्डक सस्थान। ऊपर, नीचे और मध्य मे कुशल शिल्पी के द्वारा रचित समचक्र की तरह समान रूप से शरीर के अवयवो का सन्निवेश (रचना) होना, आकार बनना **समचतुरस्र संस्थान है**। न्यग्रोध (बड) वृक्ष के समान नाभि के ऊपर शरीर मे स्थूलत्व और नीचे के भाग मे लघु प्रदेशों की रचना होना **न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान** है। इसमे न्यग्रोध (वटवृक्ष) के समान देह की रचना होती है, इसलिये इसका सार्थक नाम न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान है। इससे विपरोत ऊपर लघु और नीचे भारी, सर्प की बाबी के समान आकृति वाला **स्वाति संस्थान** है। पीठ पर बहुत पुद्गल पिण्ड प्रचय विशेष लक्षण का निर्वर्तक **कुब्जक संस्थान** है, अथवा पीठ का टेढ़ी हो जाना कुब्जक सस्थान का कार्य है। सर्व अग और उपाङ्गो को छोटा बनाने मे जो कारण होता है वह **वामन संस्थान** है। सर्व अगो और उपांगो की बेतरतीब हुण्ड की तरह रचना **हुण्डक सस्थान** है ।। ८ ।।

---

१. कुब्जकस. –मु.। २. हुण्डकस–मु. द. व.। ३ –प्रापित्वादन्व–मु., द., व.।

यदुदयादस्थिबन्धनविशेषस्तत्संहननम् । ९ । यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहननम् । तत्षड्विधम्—[1]वज्रर्षभनाराचसहनननाम, वज्रनाराचसंहनननाम नाराच-सहनननाम, अर्धनाराचसंहनननाम, कीलिकासंहनननाम, असंप्राप्तसृपाटिकासहनननाम चेति । तत्र वज्राकारोभयास्थिसन्धि प्रत्येकं मध्ये वलयबन्धन सनाराच सुसहत वज्रर्षभ-नाराचसहननम् । तदेव वलयबन्धनविरहितं वज्रनाराचसंहननम् । तदेवोभय वज्राकार-बन्धनव्यपेतमवलयबन्धन सनाराच नाराचसहननम् । तदेवैकपार्श्वे सनाराचम् इतरात्रानाराचम् अर्धनाराचसहननम् । तदुभयमन्ते सकीलं[2] कीलिकासहननम् । [3]अन्तरसंप्राप्तपरस्परास्थिसन्धि बहि:सिरास्नायुमासघटितम् असप्राप्तसृपाटिका-सहननम् ।

यदुदयात् स्पर्शरसगन्धवर्णविकल्पा अष्टपञ्चद्विपञ्चसंख्यास्तानि स्पर्शनामादीनि । १० । यस्योदयात् स्पर्शप्रादुर्भाव' तत् स्पर्शनाम । तदष्टविधम्—कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम चेति । यन्निमित्तो रसविकल्प तद्रसनाम । तत्पञ्चविधम्—तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, आम्लनाम,

---

जिस कर्म के उदय से अस्थिजाल (हड्डियो के समूह) का बन्धन विशेष होता है वह **संहनन नामकर्म** है । यह छह प्रकार का है—१. वज्रर्षभनाराच सहनन, २ वज्रनाराच सहनन, ३ नाराच सहनन, ४. अर्ध नाराच सहनन, ५. कीलका सहनन और ६. असप्राप्त सृपाटिका सहनन । दोनो हड्डियो की सन्धियाँ वज्राकार हो । प्रत्येक हड्डो मे वलयबन्धन और नाराच हो, ऐसा सुसहतबन्धन **वज्रर्षभनाराच संहनन** है और सर्व रचना वज्रर्षभ नाराच के समान है, परन्तु बन्धन वलय से रहित है वह **वज्रनाराच सहनन** है । जो शरीर वज्राकार बन्धन और वलय बन्धन से रहित तथा नाराच सहित है वह **नाराच सहनन** है । जो शरीर एक तरफ नाराचयुक्त तथा दूसरी ओर नाराच रहित अवस्था मे है, वह **अर्ध नाराच संहनन** वाला शरीर कहलाता है । जिसके दोनो हड्डियो के छोरो मे कील लगी है । वह **कीलक संहनन** है । जिसमे भीतर हड्डियो का परस्पर बन्ध न हो मात्र बाहर से वे सिरा स्नायु मास आदि लपेट कर सघटित की गई हो वह **असंप्राप्तासृपाटिका संहनन** है ।। ९ ।।

जिसके उदय से आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध और पाँच वर्ण होते हैं, वह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नामकर्म है । जिस कर्म के उदय से कठोर-मृदु, हलका-भारी, स्निग्ध-रूक्ष, शीत और उष्ण इन आठ प्रकार के स्पर्शो का प्रादुर्भाव होता है, वा जिसके कारण शरीर मे कर्कश मृदु, चिकनापन-रुक्षपना, शोत, उष्णत्व, गुरु, लघुत्व आदि का प्रादुर्भाव होता है, वह **स्पर्श नाम कर्म** है । जिस कर्म के उदय से शरीर मे तिक्तत्व, कटुत्व, कषायत्व, अम्लत्व और मधुरत्व, इन पाँच रसो का प्रादुर्भाव

---

१. वज्रऋ—ता , मू., श्र , द. । २ सकीलककी—मु । ३. अन्तरप्राप्त—मू , द., श्र , व ।

मधुरनाम चेति । [1]यदुदयप्रभवो गन्धस्तद्गन्धनाम । तद्द्विविधम्–सुरभि गन्धनाम असुरभिगन्धनाम चेति । यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम[2] । तत्पञ्चविधम्–कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, रक्तवर्णनाम, हारिद्रवर्णनाम, शुक्लवर्णनाम चेति । अचेतनेषु स्पर्शादयः कथमिति चेत् ? न कर्मोदयकृतास्ते, पुद्गलस्वभावपरिणामाः ।

यदुदयात् पूर्वशरीराकाराऽविनाशस्तदानुपूर्व्यं नाम । ११ । यत्पूर्वशरीराकाराऽविनाश. यस्योदयाद्भवति तदानुपूर्व्यं नाम । तच्चतुर्विधम्–नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम चेति । यदा छिन्नायुर्मनुष्यस्तिर्यग्वा पूर्वेण शरीरेण वियुज्यते तदैव नरकभव प्रत्यभिमुखस्य तस्य पूर्वशरीरसस्थानानिवृत्तिकारणा विग्रहगतावुदेति तन्नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यंनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् । ननु च तन्निर्माणनामकर्मसाध्य फल नानुपूर्व्यनामोदयकृतम् ? नैष दोषः, पूर्वायुरुच्छेदसमकाल एव पूर्वशरीरनिवृत्तौ निर्माणनामोदयो

होता है वह **रस नाम कर्म** है । जिसके उदय से शरीर मे गन्ध होती है वह **गन्ध नाम कर्म** है । गन्ध दो प्रकार की है—सुगन्ध और दुर्गन्ध । जिसके उदय से शरीर मे वर्णविशेष होता है वह **वर्ण नाम कर्म** है । वह वर्ण पॉच प्रकार है—कृष्णवर्ण, नीलवर्ण, रक्तवर्ण, हरितवर्ण और शुक्लवर्ण । **प्रश्न**—स्पर्श, रस आदि गुण अचेतन पदार्थों के है, वे चेतन मे कैसे होते हैं ? **उत्तर**—यद्यपि ये स्पर्श आदि पुद्गल के स्वभाव है तथापि जीव के शरीर मे इनका प्रादुर्भाव कर्मोदय कृत है। इस प्रकार स्पर्शादि नाम कर्म के उदय से शरीर मे उस-उस जाति के रूप, रस, आदि होते है। अर्थात् गुरु स्पर्श कर्म के उदय से शरीर भारी होता है, लघु नाम कर्म के उदय से शरीर हलका होता है। इस प्रकार सर्व स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण मे लगाना चाहिये ।। १० ।।

जिस नाम कर्म के उदय से विग्रह गति मे पूर्व शरीर का आकार बना रहता है, नष्ट नही होता है, वह **आनुपूर्वी नामकर्म** है । वह आनुपूर्वी चार प्रकार की है—नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्य गत्यानुपूर्वी और देव गत्यानुपूर्वी । जिस समय मनुष्य वा तिर्यञ्च अपनी आयु को पूर्ण करके पूर्व शरोर को छोडकर नरकगति के अभिमुख होता है उस समय विग्रह गति मे उदय तो नरक गत्यानुपूर्वी का होता है, परन्तु उस समय आत्मा का आकार पूर्व शरीर के अनुसार मनुष्य वा तिर्यञ्च का बना रहता है, यह **नरकग त आनुपूर्वी** है । इस प्रकार मनुष्यगति मे जाने वाले के विग्रहगति मे **मनुष्यगत्यानुपूर्वी**, तिर्यञ्च मे जाने वाले के **तिर्यग्गत्यानुपूर्वी** और देव मे जाने वाले के विग्रहगति मे **देवगत्यानुपूर्वी** कहलाती है । **प्रश्न**—विग्रहगति मे पूर्व शरीर का आकार बना रहना तो निर्माण नाम कर्म का फल है, आनुपूर्वी के उदय कृत पूव आकार नही है । **उत्तर**– विग्रहगति मे पूर्व शरीर का आकार बने रहना निर्माणनामकर्म का कार्य नही है, क्योंकि

---

१ –प्रभवो-मु, द । २ –म प –मू, ता श्र. ।

निवर्तते, तस्मिन्निवृत्तेऽष्टविधकर्म तैजसकार्मणशरीरसंबन्धिन आत्मन पूर्वशरीरसस्थानाविनाशकारणमानुपूर्व्यनामोदयमुपैति । तस्य कालो विग्रहगतौ जघन्येनैक[1] समयः, उत्कर्षेण त्रयः समयाः । ऋजुगतौ तु पूर्वशरीराकारविनाशे सति उत्तरशरीरयोग्यपुद्गलग्रहणान्निर्माणनामकर्मोदयव्यापारः ।

यन्निमित्तमगुरुलघुत्वं तदगुरुलघुनाम । १२ । यस्योदयादयस्पिण्डवत् गुरुत्वान्नाधः पतति न वार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम । धर्मादीनामजीवाना कथमगुरुलघुत्वमिति चेत् ? अनादिपारिणामिकागुरुलघुत्वगुणयोगात् । मुक्तजीवाना कथमिति चेत् ? अनादिकर्मनोकर्मसंबन्धाना कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति ।

यदुदयात् स्वयंकृतोद्वन्धनाद्युपघातस्तदुपघातनाम । १३ । यस्योदयात् स्वयंकृतोद्वन्धनमरु[2]त्प्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम ।

पूर्व शरीर के नष्ट होते ही निर्माण नामकर्म का उदय समाप्त हो जाता है । उसके नष्ट होने पर आठ कर्मों के पिण्ड कार्मण शरीर और तैजस शरीर से सम्बन्ध रखने वाले आत्मप्रदेशो का आकार विग्रहगति मे पूर्व शरीर के आकार रूप बना रहता है । उसका कारण आनुपूर्वी का उदय है । उस आनुपूर्वी का उदय काल विग्रहगति मे ही होता है । उसका अधिक से अधिक काल तीन समय और जघन्य एक समय है । ऋजुगति मे पूर्व शरीर के आकार का विनाश होने पर शीघ्र ही उत्तर शरीर के योग्य पुद्गलों का जो ग्रहण होता है, वह निर्माण नाम कर्म के उदय का व्यापार है ।। ११ ।।

जिसके निमित्त से शरीर अगुरुलघु होता है वह अगुरुलघु नामकर्म है । अर्थात् जिसके उदय से लोहपिण्ड के समान गुरु होकर न तो पृथ्वी मे नीचे ही गिरता है और न रुई की तरह लघु होकर ऊपर ही उड जाता है । वह **अगुरुलघु नामकर्म** है । **प्रश्न**—धर्म-अधर्म आदि द्रव्यो मे अगुरुलघुत्व कैसे होता है ? **उत्तर**—धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्यो मे अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुण के कारण अगुरुलघुत्व है, नामकर्म की अपेक्षा से नही । **प्रश्न**—मुक्त जीवो मे अगुरुलघुत्व कैसे है । **उत्तर**—अनादिकालीन कर्मबन्धनबद्ध जीवो मे कर्मोदयकृत अगुरुलघुत्व है और कर्मबन्धन रहित मुक्त जीवो मे स्वाभाविक अगुरुलघुत्व है ।। १२ ।।

जिस कर्म के उदय से स्वयकृत बन्धन और पर्वत से गिरना आदि हो वह **उपघात नाम कर्म** है । जो विष सेवन कर, अग्नि मे जलकर मर जाते है या ऐसे शरीर के अवयव जिनसे अपना घात होता है, वे सब उपघात नाम कर्म के विपाक है ।। १३ ।।

---

१. –नैक स-ता. श्र । २ पर्वत ।

यन्निमित्तः परशस्त्राद्याघातस्तत्परघातनाम ।१४। परशब्दोऽन्यपर्यायवाची, फलकाद्यावरणसन्निधानेऽपि यस्योदयात् परप्रयुक्तशस्त्राद्याघातो भवति तत्परघातनाम।

यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातप[1] नाम ।१५। आतपति येन आतपनम् आतपतीति वातपः, तस्य निर्वर्तकं कर्म आतपनाम । तदादित्ये वर्तते ।

यन्निमित्तमुद्योतनं तदुद्योतनाम ।१६। उद्योत्यते येन उद्योतनं वोद्योतः, तन्निमित्त कर्म उद्योतनाम । तच्चन्द्रखद्योतादिषु वर्तते ।

यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम ।१७। उच्छ्वसनमुच्छ्वासः प्राणापानकर्म, तद्यद्धेतुक तदुच्छ्वासनाम ।

विहाय आकाशं तत्र गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम ।१८। विहाय आकाशम्, तत्र गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम । तद्द्विविधम्–प्रशस्ताऽप्रशस्तविकल्पात् । वरवृषभद्विर-

---

जिसके निमित्त से परकृत शस्त्रादि के द्वारा घात होता है, वह **परघात नामकर्म** है। 'पर' शब्द अन्य का पर्यायवाची है । जिस कर्म के उदय से फलक, कवच आदि आवरण का सन्निधान होने पर भी परप्रयुक्त शस्त्र आदि के द्वारा घात होता है, पर के द्वारा मारण ताड़न आदि होते है, वह परघात नामकर्म है ।। १४ ।।

जिसके उदय से आतपन होता है, वह आतप नाम कर्म है । अथवा जिसके उदय से आत्मा तपती है, जो सूर्य आदि में ताप का निर्वर्तक है, वह आतप नामकर्म है, आतप नामकर्म का उदय सूर्य के विमान मे एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय है, उसके ही होता है ।। १५ ।।

जिस कर्म के उदय से उद्यत होता है, वा उद्योत (प्रकाश) किया जाता है, वह **उद्योत नाम कर्म** है । इसका उदय चन्द्र के विमानस्थ पृथ्वीकाय, एकेन्द्रिय वा जुगनू आदि तिर्यंचो मे होता है ।। १६ ।।

जो उच्छ्वास प्राणापान का कारण होता है, वा जिस कर्म के उदय से श्वासोच्छ्वास होता है, वह **उच्छ्वास नाम कर्म** है ।। १७ ।।

आकाश में गति का प्रयोजक **विहायोगति नामकर्म** है । विहाय का अर्थ है—आकाश और आकाश मे गमन का कारण विहायोगति नामकर्म । प्रशस्त और अप्रशस्त के विकल्प से विहायोगति दो प्रकार की है । श्रेष्ठ बैल, हाथी आदि की प्रशस्त गति मे जो कारण होता है, वह प्रशस्त विहायोगति है और ऊँट, गधा आदि की अप्रशस्त गति मे जो कर्म कारण होता है, वह

---

१. -तपननाम मु ।

दादिप्रशस्तगतिकारणं प्रशस्तविहायोगतिनाम । उष्ट्रखराद्यप्रशस्तगतिनिमित्तम-प्रशस्तविहायोगतिनाम चेति । सिद्ध्यज्जीवपुद्गलानां विहायोगतिः कुत इति चेत् ? सा स्वाभाविकी । ननु च विहायोगतिनामकर्मोदयः पक्ष्यादिष्वेव प्राप्नोति न मनुष्यादिषु । कुतः ? विहायसि गत्यभावात्; नैष दोषः; सर्वेषां विहायस्येव गतिरवगाहनशक्तियोगात् ।

एकात्मोपभोगकारणशरीरता यतस्तत्प्रत्येकशरीरनाम । १९ । शरीरनामकर्मोदयात् निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनामकर्म । एकमेकमात्मानं प्रति प्रत्येकम्, प्रत्येकं शरीरं प्रत्येकशरीरम् ।

यतो बह्वात्मसाधारणोपभोगशरीरं तत्साधारणशरीरनाम । २० । बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम । तदुदयवर्तिनो जीवाः कीदृशा इति चेत् ? उच्यते–साधारणाऽऽहारादिपर्याप्तिचतुष्टयजन्ममरणप्राणापानानुग्रहोपघाताः साधारणजीवाः । यदैकस्याहारशरीरेन्द्रियप्राणापानपर्याप्तिनिर्वृत्ति-

---

अप्रशस्त विहायोगति है । **प्रश्न**—सिद्धगति के प्रति गमन करने वाली आत्मा की और पुद्गल द्रव्यों की जो अनुश्रेणी गति होती है, वह किस कर्म के उदय से होती है ? **उत्तर**—मुक्त जीव और पुद्गलों की गति स्वाभाविकी है । **प्रश्न**—विहायोगति नामकर्म आकाशगामी पक्षियों में ही है, मनुष्यादि में नहीं क्योंकि मनुष्यादि में आकाशगमनत्व नहीं है ? **उत्तर**—विहायोगति नामकर्म आकाशगामी पक्षियों में ही नहीं है अपितु सभी प्राणियों में विहायोगति है क्योंकि अवगाहन शक्ति के योग से सभी की आकाश में ही गति होती है ।। १८ ।।

एक आत्मा के उपभोग के कारण शरीर को **प्रत्येक शरीर** कहते है । एक आत्मा के प्रति प्रत्येक है 'प्रत्येक शरीर' प्रत्येक शरीर । शरीर नामकर्म के उदय से रचित शरीर जिस कर्म के उदय से एक ही आत्मा के उपभोग्य हो अर्थात् जिसका स्वामी एक ही जीव हो, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है ।। १९ ।।

जिसके उदय से एक ही शरीर बहुत सी आत्माओं के उपभोग का कारण होता है, वा एक ही शरीर के बहुत से जीव स्वामी होते हैं वह **साधारण शरीर नामकर्म** है । **प्रश्न**—साधारण नामकर्म के उदय से जीव कैसा होता है ? **उत्तर**—साधारण जीवों के साधारण आहार आदि (आहार, शरीर, इन्द्रियादि) चार प्राप्तियाँ होती है और उनका जन्म-मरण, श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह और उपघात आदि सभी होते है । जब एक जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति होती है उस समय उसके साथ अनन्तानन्त जीवों की आहारादि पर्याप्तियों की निर्वृत्ति हो जाती है । जब एक जीव जन्मता है तो उसके साथ अनन्तानन्त जीवों का जन्म होता है । जब एक जीव का मरण होता है तब उसके साथ अनन्तानन्त जीवों का मरण होता है ।

स्तदैवानन्तानामाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिः । यदैको जायते तदैवानन्ता[1] जायन्ते । [2]यदैको म्रियते तदैवानन्ताना मरणम् । यदैकस्य प्राणापानग्रहणविसर्गौ तदैवानन्ताः प्राणापानग्रहणविसर्गौ कुर्वन्ति । यदैक आहारादिनाऽनुगृह्यते तदैवानन्ता तेनाहारेणानुगृह्यन्ते । यदैकोऽग्निविषादिनोपहन्यते तदैवानन्तानामुपघात. ।

यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत्त्रसनाम । २१ । यस्योदयाद् द्वीन्द्रियादिषु प्राणिषु जङ्गमेषु जन्म लभते तत् त्रसनाम ।

यन्निमित्त एकेन्द्रियेषु प्रादुर्भावः तत् स्थावरनाम । २२ । एकेन्द्रियेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायेषु प्रादुर्भावो यन्निमित्तो भवति तत् स्थावरनाम ।

यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम । २३ । [3]यदुदयात् रूपवानरूपो वा अन्येषां प्रीति जनयति तत् सुभगनाम ।

यदुदयात् रूपादिगुणोपेतोऽपि अप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम । २४ । रूपादिगुणोपेतोऽपि सन् यस्योदयात् परेषामप्रीतिहेतुर्भवति तद् दुर्भगनाम ।

जिस समय एक जीव श्वास ग्रहण करता है या छोडता है, उसी समय अनन्तानन्त प्राणी श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं और छोडते है। जब एक जीव आहारादि का अनुग्रह करता है, आहार ग्रहण करता है तो उस समय एक साथ अनन्तानन्त जीव आहारादि ग्रहण करते है, जिस समय एक जीव का अग्नि-विषादि के द्वारा उपघात होता है उसी समय अनन्तानन्त जीवो का उपघात होता है ।। २० ।।

जिस कर्म के उदय से जीव दो इन्द्रिय आदि जगम (त्रस) जीवो मे जन्म लेता है, वह **त्रस नामकर्म** है ।। २१ ।।

जिस कर्म के उदय से यह प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप पच स्थावर एकेन्द्रियो मे जन्म लेता है, पॉच स्थावर काय मे उत्पन्न होता है, वह **स्थावर नाम कर्म** है ।। २२ ।।

रूपवान् हो वा कुरूप हो, जिस कर्म के उदय से अन्य प्राणी उससे प्रीति करते है, जो सबको प्यारा लगता है, वह **सुभग नामकर्म** है ।। २३ ।।

रूपवान्, सौन्दर्यखान होते हुए भी जिस कर्म के उदय से दूसरो को प्यारा न लगे, दूसरे उससे प्रीति न करे, किन्तु जो दूसरो की अप्रीति का कारण होता है, अप्रीतिकर प्रतीत हाता है, वह **दुर्भग नाम कर्म** है ।। २४ ।।

---

१. –न्ताना जन्म-मु , द., ब. । २ यदैवैको मु । ३ विरूपाकृतिरपि सन् यदुदयात् परेषा प्रीतिहेतुर्भवति तत् मु ।

यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम । २५ । मनोज्ञस्वरनिर्वर्तन यन्निमित्त-मुपजायते प्राणिनस्तत् सुस्वरनाम ।

तद्विपरीतं दुःस्वरनाम । २६ । तद्विपरीतफलत्वात् तद्विपरीतम् अमनोज्ञस्वर-निर्वर्तनकर दुःस्वरनाम ।

यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम । २७ । यदुदयाद् दृष्टः श्रुतो वा रमणीयो भवत्यात्मा तच्छुभनाम ।

तद्विपरीतमशुभनाम । २८ । तद्विपरीतफल द्रष्टु श्रोतुश्चारमणीयकरम् अशुभनाम ।

सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम । २९ । यदुदयादन्यजीवानुपग्रहोपघाताऽयोग्यसूक्ष्म-शरीरनिर्वृत्तिर्भवति तत्सूक्ष्मनाम ।

अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादरनाम । ३० । अन्यवाधानिमित्त स्थूल शरीर यतो भवति तद् बादरनाम ।

यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम । ३१ । यस्योदयात् आहारादि-

---

जिस कर्म के उदय से अन्य जनो के मन का मोहित करने वाले मनोज्ञ स्वर हो, जिमका स्वर सवको कर्णप्रिय लगे, वह **सुस्वर नामकर्म** है ।। २५ ।।

जिसके उदय से कर्कश, अमनोज्ञ, कर्णकटु स्वर की प्राप्ति हो, वह **दु.स्वर नामकर्म** है ।।२६।।

जिसके उदय से देखने या सुनने पर प्राणी रमणीय प्रतीत हो, वह **शुभ नामकर्म** है ।। २७ ।।

शुभ से विपरीत अशुभ है अर्थात् देखने व सुनने वाले को रमणीय प्रतीत नहीं होता है, वह **अशुभ नामकर्म** है ।। २८ ।।

सूक्ष्म शरीर की रचना का कर्ता सूक्ष्म शरीर नाम कर्म है । अर्थात् जिस कर्म के उदय से अन्य जोवा के अनुग्रह या उपघात के अयाग्य सूक्ष्म शरीर को प्राप्ति होती है, वह **सूक्ष्म नामकर्म** है ।। २९ ।।

जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को वाधाकारक शरीर प्राप्त होता है, वह स्थूल नाम कर्म है । जो किसी से रुकता नही, किमी को रोकता नही, जिसका किसी के द्वारा घात होना नहीं, वह सूक्ष्म नाम कर्म है, उससे विपरीत **स्थूल नामकर्म** है ।। ३० ।।

जिसके उदय से आत्मा अन्तर्मुहूर्त मे आहारादि पर्याप्तियों का पूर्ण करने मे समर्थ हो जाना

पर्याप्तिभिरात्माऽन्तर्मुहूर्तं पर्याप्ति प्राप्नोति तत्पर्याप्तिनाम। तत्षड्विधम्–आहारपर्याप्तिनाम, शरीरपर्याप्तिनाम, इन्द्रियपर्याप्तिनाम, प्राणापानपर्याप्तिनाम, भाषापर्याप्तिनाम, मनःपर्याप्तिनाम चेति।

अत्राह–प्राणापानकर्मोदये वायोर्निष्क्रमणप्रवेशनात्मकं फलम्, उच्छ्वासकर्मोदयेऽपि तदेवेति नास्त्यनयोर्विशेष इति? उच्यते–

ऐन्द्रियिकानिन्द्रियभेदात्तद्विशेषः ।३२। शीतोष्णसंबन्धजनितदुःखस्य पञ्चेन्द्रियस्य यावुच्छ्वासनिःश्वासौ दीर्घनादौ श्रोत्रस्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षौ तावुच्छ्वासनामोदयजौ, यौ तु प्राणापानपर्याप्तिनामोदयकृतौ [तौ] सर्वससारिणा श्रोत्रस्पर्शानुपलभ्यत्वादतीन्द्रियौ।

षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम ।३३। यस्योदयात् षडपि पर्याप्तीः पर्यापयितुम् आत्मा असमर्थो भवति तदपर्याप्तिनाम।

स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम ।३४। यदुदयात् दुष्करोपवासादितपस्करणेऽपि अङ्गोपाङ्गाना स्थिरत्व जायते तत् स्थिरनाम।

है, पर्याप्तियो को पूर्ण कर लेता है उसे **पर्याप्ति नाम कर्म** कहते है। आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मन पर्याप्ति, ये छह पर्याप्तियाँ है ।। ३१ ।।

प्रश्न—श्वासोच्छ्वास नामकर्म के उदय होने पर वायु का निष्क्रमण और प्रवेशात्मक फल होता है। अर्थात् श्वासोच्छ्वास नाम कर्म के उदय से उदरस्थ वायु बाहर निकलती है और बाहर की वायु को आत्मा भीतर खीचता है और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति का भी यही लक्षण है अत इन दोनो मे कोई विशेषता नही है।

उत्तर—इन्द्रिय के विषय और अविषय की अपेक्षा दोनो मे भेद है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति तो सर्व ससारी जीवो के होती है, अतीन्द्रिय है—कान या स्पर्श से अनुभव मे नही आती, परन्तु उच्छ्वास नामकर्म के उदय से पचेन्द्रिय जीव के जो शीत, उष्ण आदि से जनित दु.ख के कारण लम्बे उच्छ्वास नि श्वास होते हैं और जो श्रोत्र इन्द्रिय, स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध होते है, उनके द्वारा ग्राह्य होते है अर्थात् श्वासोच्छ्वास कर्म का कार्य इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य होता है, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति इन्द्रियो के गम्य नही है, यह इन दोनो मे अन्तर है ।। ३२ ।।

जिस कर्म के उदय से जीव आहारादि छहों पर्याप्तियो मे से किसी भी पर्याप्ति को पूर्ण नही कर सकता, पर्याप्तियो को पूर्ण करने मे असमर्थ होता है, वह **अपर्याप्ति नामकर्म** है ।। ३३ ।।

स्थिर भाव का निवर्तक स्थिर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से दुष्कर उपवास आदि

तद्विपरीतमस्थिरनाम । ३५ । यदुदयादीषदुपवासादिकरणात् स्वल्पशीतोष्णादिसबन्धाच्च अङ्गोपाङ्गानि कृशीभवन्ति तदस्थिरनाम ।

प्रभोपेतशरीरताकरणं आदेयनाम । ३६ । यस्योदयात् प्रभोपेतशरीर दृष्टेष्टमुपजायते तदादेय नाम ।

निष्प्रभशरीरकरणमनादेयनाम । ३७ । निष्प्रभ शरीर यस्योदयादापद्यते तदनादेयनाम ।

अत्राह–तैजस नाम सूक्ष्मशरीरमस्ति तन्निमित्ता शरीरप्रभा नादेयकर्मनिमित्तेति ? उच्यते–सर्वसंसारिजीवशरीरप्रभाऽविशेषप्रसङ्गः स्यात् तैजसस्य सर्वेषा साधारणत्वात्, तत आदेयकर्मोदयनिमित्ता प्रभेति युक्तम् ।

पुण्यगुणख्यापनकारणं यशस्कीर्त्तिनाम । ३८ । पुण्यगुणानां ख्यापन यदुदयाद्भवति तद्यशस्कीर्तिनाम प्रत्येतव्यम् । ननु यश·कीर्तिरित्यनयोर्नास्त्यर्थविशेष इति

तप करने पर भी अग-उपांग की स्थिरता रहती है अर्थात् अग-उपाग स्थिर बने रहते है, कृश नही होते है, वह **स्थिर नामकर्म** है ।। ३४ ।।

स्थिर नामकर्म से विपरीत फलदायक अस्थिर नामकर्म है, अर्थात् जिस कर्म के उदय से एक आदि थोडे से उपवास करने पर या साधारण शीत उष्ण आदि से ही शरीर मे अस्थिरता आ जाती है, या शरोर के अगोपाग कृश हो जाते है, वह **अस्थिर नामकर्म** है ।। ३५ ।।

जिस कर्म के उदय से दृष्ट और इष्ट प्रभा से युक्त शरीर की प्राप्ति होती है, वह **आदेय नामकर्म** है ।। ३६ ।।

जिसके उदय से निष्प्रभ शरीर प्राप्त होता है, वह **अनादेय नामकर्म** है । **प्रश्न**—तैजस नामका सूक्ष्म शरोर है, उसके निमित्त से शरीर मे प्रभा होती है, आदेय नामकर्म के निमित्त से नही ? **उत्तर**—सूक्ष्म तैजस शरीर निमित्तक सर्व ससारी जीवो के होने वाली साधारण कान्ति आदेय नही है, यदि सूक्ष्म तैजस शरीर के निमित्त से होने वाली शरीर की कान्ति को आदेय मानेगे तो सर्व ससारी जीवो के शरीर की प्रभा मे अविशेषता का प्रसग आयेगा, क्योकि वह सर्व ससारी जीवो मे साधारण है अत· आदेय नामकर्म के उदय से होने वाला लावण्य एव सोन्दर्य पृथक् है ।। ३७ ।।

पुण्यगुणख्यापन मे कारण कर्म **यशस्कीर्त्ति नामकर्म** है । पुण्य गुणों का ख्यापन जिस कर्म के उदय से होता है, उसको यशस्कीर्त्ति नामकर्म जानना चाहिये । **प्रश्न**—यश और कीर्त्ति इन दोनो मे अविशेषता होने से यशस्कीर्त्ति कहना पुनरुक्त दोष है । **उत्तर**—यश का अर्थ गुण है और कीर्त्ति

पुनरुक्तत्वसङ्गः; नैष दोषः; यशो नाम गुणः, कीर्तनं संशब्दनं कीर्तिः, यशसः कीर्तिः यशस्कीर्त्तिरित्यस्त्यर्थभेदः ।

तत्प्रत्यनीकफलमयशस्कीर्तिनाम । ३९ । पापगुणख्यापनकारणम् अयशस्कीर्तिनाम-वेदितव्यम् ।

आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्वं नाम । ४० । यस्योदयादार्हन्त्यमचिन्त्यविभूतिविशेष-युक्तमुपजायते तत्तीर्थकरत्वनाम कर्म प्रतिपत्तव्यम् ।

गणधरत्वादीनामुपसंख्यानमिति चेत्; न; अन्यनिमित्तत्वात् । ४१ । यथा तीर्थकरत्वनाम कर्मोच्यते तथा गणधरत्वादीनामुपसंख्यानं कर्तव्यम्, गणधरचक्रधरवासुदेव-बलदेवा अपि विशिष्टर्द्धियुक्ता इति चेत्; तन्न; किं कारणम् ? अन्यनिमित्तत्वात् । गणधरत्वं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षनिमित्तम्, चक्रधरत्वादीनि उच्चैर्गोत्र-विशेषहेतुकानि ।

तदेव तीर्थकरत्वस्यापीति चेत्; न; तीर्थप्रवर्तनफलत्वात् । ४२ । स्यान्मतम्—तदेव उच्चैर्गोत्रं तीर्थकरत्वस्यापि निमित्तं भवतु किं तीर्थकरत्वनाम्नेति ? तन्न; किं

का अर्थ उसका विस्तार है। अर्थात् जो गुणो का विस्तार करे, वह यशकीर्त्ति है अतः यश और कीर्त्ति दोनो एकार्थवाची नही है ।। ३८ ।।

यशस्कीर्त्ति से विपरीत पाप दोषो को ख्यापन करने वाली अर्थात् अपयश को विस्तरित करने वाली **अयशस्कीर्त्ति** है ।। ३९ ।।

आर्हन्त्य पद की कारणभूत तीर्थंकर कर्म प्रकृति है, जिसके उदय से अचिन्त्य विशेष विभूति-युक्त आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है, उसको **तीर्थंकर नामकर्म** प्रकृति समझना चाहिये ।। ४० ।।

अन्य निमित्त से होने के कारण गणधर आदि का यहाँ ग्रहण नही है। **प्रश्न**—जैसे तीर्थंकर नामकर्म से तीर्थकर होता है वैसे ही गणधर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि भी विशिष्ट ऋद्धियो से युक्त होते है, इसलिये इनकी उत्पत्ति मे भी कोई कर्मप्रकृति निमित्त होनी चाहिये। **उत्तर**—तीर्थंकर प्रकृति के समान गणधर आदि कर्मप्रकृति नही है, क्योकि गणधरत्व आदि मे अन्य निमित्त कारण है, नामकर्म प्रकृति नही। प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से गणधर-पद प्राप्त होता है। चक्रवर्तित्व, वासुदेव, बलदेव आदि पद उच्च गोत्र निमित्तक हैं अतः इनका पृथक् निर्देश नहीं किया है ।। ४१ ।।

प्रश्न—जैसे चक्रवर्तित्व, गणधरत्व आदि है, उसी प्रकार तीर्थंकर पद भी विशिष्ट ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेष वा उच्च गोत्र कर्म के निमित्त से हो जाएगा, तीर्थंकर नामप्रकृति से

कारणम् ? तीर्थप्रवर्तनफलत्वात् । तीर्थप्रवर्तनफलं हि तीर्थकरनामेष्यते न चोच्चैर्गोत्रोदयात् तदवाप्यते चक्रधरादीना तदभावात् ।

किमर्थं विहायोगत्यन्तानां प्रत्येकशरीरिभिरेकवाक्यत्व न कृतम् ?

पूर्वेषां प्रतिपक्षविरहात् एकवाक्यत्वाभावः[१] । ४३ । पूर्वे गत्यादयो विहायोगत्यन्ता. प्रतिपक्षविरहिताः, प्रत्येकशरीरादयः सेतरग्रहणेन विशेषयितुमिष्टास्ततस्तेषाम् एकवाक्यभावो न कृतः ।

अथ किमर्थं तीर्थकरत्वस्य [२]पृथक्करणम् ?

प्रधानत्वात्तीर्थकरत्वस्य । ४४ । तीर्थकरत्वं हि प्रधानभूत सर्वेषु शुभकर्मसु ततस्तस्य पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

[३]**अन्त्यत्वाच्च । ४५ ।** [४]प्रत्यासन्ननिष्ठस्य तस्योदयो जायते ततश्चास्य पृथग्ग्रहण क्रियते ।

क्या प्रयोजन है ? उत्तर—तीर्थंकर प्रकृति का फल तीर्थं की प्रवृत्ति करना है, वह तीर्थ प्रवृत्ति रूप फल तीर्थंकर प्रकृति के उदय से ही होता है, उच्च गोत्र के उदय से नही, क्योंकि उच्च गोत्री तो चक्रवर्ती आदि भी है, परन्तु वे तीर्थंकर नही है अतः तीर्थंकर प्रकृति का पृथक् निर्देश किया है ॥ ४२ ॥

प्रश्न—विहायोगति पर्यन्त प्रकृतियो का प्रत्येक शरीर आदि प्रकृतियो के साथ एक समास क्यो नही किया ? **उत्तर**—

विहायोगति आदि मे प्रतिपक्षी का अभाव है अतः इनका प्रत्येक शरीर आदि के साथ एकत्व भाव का अभाव है । अर्थात् गति आदि से लेकर विहायोगति पर्यन्त कर्मप्रकृतियाँ अकेली-अकेली हैं और प्रत्येक शरीर आदि प्रकृतियो का सेतर यानी प्रतिपक्ष से सम्बन्ध करना है अतः सबका एक समास नही किया है ॥ ४३ ॥

प्रश्न—तीर्थंकर प्रकृति का पृथक् ग्रहण किसलिये किया है ?

उत्तर—सर्व शुभ कर्मप्रकृतियो मे तीर्थकर प्रकृति ही प्रधानभूत है, सर्वोत्कृष्ट है, अन्त्य है, प्रत्यासन्ननिष्ठ (चरमशरीरी) के ही इसका उदय देखा जाता है, अतः सूत्र मे इस तीर्थंकर प्रकृति का पृथक् निर्देश किया गया है ॥ ४४–४५ ॥

---

१. –भावात् –ता । २. पृथग्ग्रहणम्–व. मु. द । ३. अन्यत्वाच्च श्र ता । ४ प्रत्यासन्नविशिष्टस्य ता. ।

आह–उक्ताः सोत्तरप्रकृतिबन्धभेदा विविधभावनामनिर्वर्तनाहितान्वर्थसंज्ञा षष्ठी कर्मप्रकृतिः । अथ सप्तमी कियत्प्रकारेति ? अत्रोच्यते–

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

गोत्रं द्विविधमुच्चैर्नीचैरिति विशेषणात् । १ । गोत्रं द्विविधं द्रष्टव्यम्-उच्चैर्नीचैरिति विशेषणात् उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति । तत्र कीदृशमुच्चैर्गोत्र कीदृग्वा नीचैर्गोत्रम् ?

यस्योदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् । २ । लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथितमाहात्म्येषु [1]इक्ष्वाकूग्रकुरुहरिज्ञातिप्रभृतिषु जन्म यस्योदयाद्भवति तदुच्चैर्गोत्रमवसेयम् ।

गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रम् । ३ । गर्हितेषु दरिद्राप्रतिज्ञातदुःखाकुलेषु यत्कृतं प्राणिनां जन्म तन्नीचैर्गोत्रं प्रत्येतव्यम् ।

आह–व्याख्यातौ गोत्रभेदौ, तदनन्तरमुद्दिष्टस्यान्तरायस्य किमाख्याः प्रकारा इति ? अत्रोच्यते–

इस प्रकार विविध भेद से युक्त छठे नामकर्म की उत्तरप्रकृतियो का वर्णन कर दिया है। अब सातवें गोत्रकर्म की उत्तर प्रकृतियों का वर्णन करते है—

गोत्रकर्म के दो भेद है—उच्च गोत्र और नीच गोत्र ॥ १२ ॥

उच्च और नीच ये दो विशेषण होने से गोत्र कर्म दो प्रकार का है—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। प्रश्न—नीच गोत्र और उच्च गोत्र का लक्षण क्या है ? ॥ १ ॥

उत्तर—जिसके उदय से लोकपूजित कुल मे जन्म होता है, वह उच्च गोत्र है। जिस कर्म के उदय से लोकपूजित महत्त्वशाली इक्ष्वाकुवश, उग्रवश, कुरुवश, हरिवश और ज्ञानी आदि विशेष कुल मे जन्म होता है, वह उच्च गोत्र है ॥ २ ॥

निन्दनीय कुल मे जन्म होना नीच गोत्र है। जिस कर्म के उदय से निन्दनीय, दरिद्री, अप्रसिद्ध, दुःखित, परम्परा से नीच आचरण करने वाले दुःखाकुल और हीनकुल में प्राणियो का जन्म हाता है वह नीच गोत्र है, उसे नीच गोत्र समझना चाहिये ॥ ३ ॥

इस प्रकार गोत्रकर्म को उत्तरप्रकृतियो का वर्णन करके अब उसके अन्तरकथित अन्तराय कर्म की उत्तरप्रकृतियो का कथन करने के लिए आचार्य सूत्र कहते है—

---

१. इक्ष्वाकुयदुकुरुहरिज्ञाति–मु, द.।

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

दानादीनामन्तरायापेक्षयाऽर्थव्यतिरेकनिर्देशः । १ । अन्तराय इति वर्तते तदपेक्षया दानादीनामर्थव्यतिरेकः[१] क्रियते दानस्यान्तरायो लाभस्यान्तराय इत्यादि ।

दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात् तद्व्यपदेशः । २ । यदुदयाद्दातुकामो न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभ्यते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमिच्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते । त एते पञ्चान्तरायव्यपदेशा वेदितव्याः ।

भोगोपभोगयोरविशेष इति चेत्; न; गन्धादिशयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः । ३ । स्यान्मतम्–भोगोपभोगयोरविशेषः । कुतः ? सुखानुभवननिमित्तत्वाभेदादिति, तन्न; किं कारणम् ? गन्धादि–शयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः । गन्धमाल्यशिरःस्नानवस्त्रान्नपानादिषु भोगव्यवहारः । शयनासनाङ्गनाहस्त्यश्वरथ्यादिषूपभोगव्यपदेशः । ता एता

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यान्तराय के भेद से अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है ॥ १३ ॥

दानादि के अन्तराय की अपेक्षा अर्थ व्यतिरेक का निर्देश है । अन्तराय शब्द की अनुवृत्ति करके उसके उदय से दानादिक का सम्बन्ध कर लेना चाहिये । जैसे—दान का अन्तराय दानान्तराय, लाभ का अन्तराय लाभान्तराय इत्यादि ॥ १ ॥

दानादि परिणाम के व्याघात का कारण होने से दानान्तराय आदि व्यपदेश होते हैं । जिसके उदय से देने की इच्छा होने पर भी दे नही सकता, वह दानान्तराय है । लाभ की इच्छा होने पर भी लाभ नही हो पाता है, वह लाभान्तराय है । जिसके उदय से भोगने की इच्छा होने पर भी भोग कर नही सकता, वह भोगान्तराय कर्म है । उपभोग की इच्छा होने पर भी जिसके उदय से वस्तु का उपभोग कर नही सकता, वह उपभोगान्तराय है । कार्य करने का उत्साह होते हुए भी जिसके उदय से निरुत्साहित हो जाता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है । ये दानान्तराय आदि पाँच अन्तराय कर्म के भेद हैं ॥ २ ॥

प्रश्न—भोग और उपभोग दोनो ही सुखानुभव मे निमित्त है अत. इन दोनो मे अविशेपता होने से अभेदत्व (भेद नही) है ? **उत्तर**—यद्यपि भोग और उपभोग दोनो सुखानुभव मे निमित्त हैं तथापि एक बार भोगने मे आने वाली गन्ध, माला, स्नान, वस्त्र, अन्न-पानादि वस्तुओ मे भोग व्यपदेश होता है (भोग है, ऐसा व्यवहार होता है) और शय्या, आसन, स्त्री, हाथी, घोडा, रथ आदि बार-बार भोगने मे आने वाली वस्तुओ में उपभोग-व्यपदेश होता है । इस प्रकार ज्ञानावरण

---

१. भिन्नाधिकरण ।

ज्ञानावरणादीनाम् उत्तरप्रकृतयः संख्येया उक्ताः। ज्ञानावरणस्य नाम्नश्चाऽसंख्येया अपि भवन्तीत्याप्तोपदेशः। व्याख्यातः प्रकृतिबन्धविकल्पः, अतः परं स्थितिबन्धविकल्प व्याख्यास्यामः।

आह–व्याख्यास्यति [1]भवान् स्थितिबन्धम्, इदं तु सशेमहे किमसावभिहित-[2]लक्षणात् पूर्वस्मात् प्रकृतिबन्धात् विशिष्टात् अर्थान्तरभूतकर्मविषय आहोस्वित् तस्यैव प्राथमकल्पितस्य कर्मणः प्रकृतिबन्धव्यपदेशवत् पर्यायान्तरनिर्देश इति? अत्र ब्रूमहे[3]–अस्थानेऽय संशयः। कुत? यस्मादेतासामेव प्रकृतीनाम् अनेकभेदानां यथास्वमनिर्जीर्णाना यावन्त कालमवस्थान आश्रयविनाशाभावात् तस्मिन् स्थितिबन्धविवक्षा, सा पुन स्थिति-रुभयथा[4]परावरा च। प्रकृष्टात् प्रणिधानात् परा, निकृष्टात् प्रणिधानात्[5] अवरा। यद्येवम् उच्यतां कियत्कालेयं कर्मप्रकृतिरिति? अत्रोच्यते सति वक्तव्ये–

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटी-
कोटयः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

आदि कर्मो की उत्तर प्रकृतियो की सख्या कही है। फलविशेष की अपेक्षा ज्ञानावरण और नामकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ असख्यात भी होती है, ऐसा आप्तका उपदेश है। इस प्रकार प्रकृति वन्ध का वर्णन किया। अव स्थितिवध के विकल्प कहेगे—

प्रश्न—अव आप स्थिति वन्ध का व्याख्यान करेगे, परन्तु मेरे मन मे यह सशय हो रहा है कि पूर्वकथित, अभिहित लक्षण वाले विशिष्ट प्रकृति बन्ध से यह स्थिति वध अर्थान्तरभूतकर्म विपय है कि प्रथम कल्पित उस प्रकृति वन्ध कर्म के ही प्रकृति बन्ध के निर्देश के समान पर्यायान्तर का निर्देश है। उत्तर—यह आपका सशय निष्प्रयोजन है। वा अस्थान मे किया गया है, अयोग्य है। क्योकि यथाकाल अनिर्जीर्ण अनेक भेद वाली इन प्रकृतियो का जितने काल तक आश्रय-विनाश का अभाव—होने से अवस्थान रहता है यानी जव तक ये कमप्रकृतियाँ फल देकर नही झडती है, उनमे स्थिति वन्ध की विवक्षा है। अर्थात् तव तक के काल को स्थिति कहते है। वह स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो प्रकार की है। प्रकृष्ट प्रणिधान (कषाय) से उत्कृष्ट स्थितिवन्ध होता है और जघन्य प्रणिधान से जघन्य स्थितिवन्ध होता है।

यदि कर्मो का अवस्थानकाल स्थिति है तो वताइये, उनकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी है? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन करते है—

आदि के तीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय कर्म की
उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है ॥ १४ ॥

---

१. सूत्रकारः स्वयमेव। भगवान्–अ। २. स्थितिवन्ध। ३. अयुक्त.। ४. परापराच मु ता.। ५. अपरा मु.।

आदित इति वचनं मध्यान्तनिवृत्त्यर्थम् । १ । मध्ये अन्ते वा तिसृणा ग्रहण माभूदित्येवमर्थमादित इत्युच्यते, आदौ आदितः तस्प्रकरणे–**"आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्"** इति तस् ।

तिसृणामिति वचनम् अवधारणार्थम् । २ । आदित इत्युच्यमाने इयतीनां प्रकृतीना ग्रहणमित्यवधारण न स्यात्, अतोऽवधारणार्थ तिसृणामित्युच्यते ।

अन्तरायस्य चेति क्रमभेदवचनं समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थम् । ३ । मूलप्रकृतिक्रममुल्लङ्घ्यान्तरायस्य चेत्युच्यते समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थम् । का पुनरसौ समानस्थिति· ? त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटच· । उक्तपरिमाण सागरोपमम् ।

कोटीकोटच इति द्वित्वे बहुत्वानुपपत्तिः इति चेत्; न; राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः । ४ । स्यान्मतम्–यथा ग्रामो ग्रामो रमणीय इति वीप्साया द्वित्वेनैव गतत्वात् बहुवचन न प्रयुज्यते तथा कोटीकोटच इत्यत्रापि वीप्सायां द्वित्वेन गतत्वात् बह्वर्थस्य बहुवचनं न प्राप्नोति ? तन्न; कि कारणम् ? राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः । यथा राज्ञः पुरुष राजपुरुष इति, एव कोटीना कोटचः कोटीकोटचः इति वृत्तिर्द्रष्टव्या ।

'आदि' शब्द का प्रयोग मध्य और अन्त के कर्मो की निवृत्ति के लिये है । अर्थात् आदि के ही (मध्य और अन्त के नही) तीन लेना, मध्य के और अन्त के तीन नही ग्रहण करना, इसलिये आदि शब्द को ग्रहण किया है । यहाँ प्रकार अर्थ मे 'तस्' प्रत्यय हुआ है । व्याकरण के नियमानुसार 'आद्यादिभ्य. उपसख्यान' इस सूत्र से 'तस्' प्रत्यय हुआ है आदि शब्द से ।। १ ।।

'तिसृणा' शब्द का सूत्र मे प्रयोग अवधारणा के लिये है । यदि तीन का प्रयोग न करते तो अवधारणा नही होती, सिर्फ आदि का ही ग्रहण होता, अत अवधारणा के लिए सूत्र मे 'तिसृणा' शब्द का प्रयोग किया गया है ।। २ ।।

अन्तराय का क्रमभेद कथन समान स्थिति का ज्ञान कराने के लिये है । मूल कर्मप्रकृतियो का उल्लघन करके जो अन्तराय का ज्ञानावरणादि के साथ ग्रहण किया है, उसका कारण है—ज्ञानावरण के समान स्थिति का ज्ञान कराना । **प्रश्न**—समान स्थिति क्या है ? **उत्तर**—अन्तराय की स्थिति भी तीस कोड़ाकोडी सागर प्रमाण है । सागर का प्रमाण पूर्व मे कह चुके है ।। ३ ।।

प्रश्न—जैसे 'ग्राम-ग्राम रमणीय है ।' इस प्रकार वीप्सा मे द्वित्वगत होने से बहुवचन का प्रयोग नही होता है, उसी प्रकार इस सूत्र मे भी वीप्सा अर्थ मे द्वित्व होने से बहुवचन का प्रयोग न करके एकवचन का प्रयोग करना चाहिये ? **उत्तर**—'कोटीकोटचः' इसमे वीप्सार्थ द्वित्व नही है, क्योकि वीप्सा अर्थ मे बहुवचन की आवश्यकता नही थी, परन्तु यहाँ राजपुरुष की तरह 'कोटीकोटच.' यह बहुवचन है । जैसे—राजा का पुरुष राजपुरुष, इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास

पराभिधानं जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थम् । ५ । परेत्युच्यते । किमर्थम् ? जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थं परा उत्कृष्टा इत्यर्थः । सा कस्येति चेत् ? उच्यते–

संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य परा स्थितिः । ६ । सञ्ज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणा त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिर्भवति ।

अन्येषामागमात् संप्रत्ययः । ७ । अन्येषामेकेन्द्रियादीनामागमात् सप्रत्ययो भवति । तद्यथा एकेन्द्रियपर्याप्तकस्य एकसागरोपमसप्तभागास्त्रयः । द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चविशतिसागरोपमसप्तभागा. त्रय. । त्रीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चाशत्सागरोपमसप्तभागास्त्रय. । चतुरिन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमशतसप्तभागास्त्रयः । असज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रसप्तभागास्त्रयः । सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्यान्तः सागरोपमकोटीकोटच । एकेन्द्रियापर्याप्तकस्य त एव भागा पल्योपमस्यासख्येयभागोना । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तसञ्ज्ञिनां त एव भागाः पल्योपमा(म)संख्येयभागोनाः ।

है, वैसे ही कोटियो की कोटी, इसमे षष्ठीतत्पुरुष समास जानना चाहिये । इसका अर्थ है—एक करोड़ का एक करोड से गुणा करने पर कोटाकोटी होता है ।। ४ ।।

'पर' शब्द का प्रयोग जघन्य स्थिति की निवृत्ति के लिये है । सूत्र मे 'परा' इस शब्द का प्रयोग जघन्य स्थिति की निवृत्ति के लिये है । परा और उत्कृष्ट ये एकार्थवाची है । प्रश्न—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध किसके होता है ? ।। ५ ।।

उत्तर—सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है । सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है ।। ६ ।।

अन्य एकेन्द्रिय आदि के ज्ञानावरण आदि का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध आगम से जानना चाहिये । जैसे– एकेन्द्रिय पर्याप्त के ज्ञानावरण आदि का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध $\frac{3}{7}$ सागर (एक सागर के सात भागो मे से तीन भाग) प्रमाण है । द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर के सात भागो मे से तीन भाग प्रमाण है । तीन इन्द्रिय पर्याप्तक के पचास सागर के सात भागो मे से तीन भाग प्रमाण है । चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक के सौ सागर के सात भागो मे से तीन भाग प्रमाण है । असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक के एक हजार सागर के सात भागो मे से तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है । सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक के अन्तःकोटाकोटी सागर उत्कृष्ट स्थिति है । एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के असख्यात भाग कम स्वपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण है । इसो प्रकार दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण अपनी-अपनी पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति में से पल्योपम का असख्यातवाँ भाग कम है ।। ७ ।।

यस्य कर्मणः स्थितिमतिलङ्घ्यान्य[1]कर्मस्थितिरभिहिता तस्य खलु वेदनीयानन्तरोद्देशभाजः—

35983

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिरित्यनुवर्तते। इयमपि परा स्थितिः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्यावसेया। इतरेषामेकेन्द्रियादीना यथागमम्। तद्यथा—पर्याप्तकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामेकपञ्चविंशतिपञ्चाशच्छतसागरोपमाणि यथासंख्यम्, अपर्याप्तकैकेन्द्रियस्य पल्योपमासख्येयभागोना सैव स्थितिः। द्वीन्द्रियादीनामपि सैव पल्योपमा(म)संख्येयभागोना पर्याप्तकासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य सागरोपमसहस्रम्, तस्यैवापर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रं पल्योपमसंख्येयभागोनम्, [2]अपर्याप्तकसञ्ज्ञिनः अन्तःसागरोपमकोटीकोटयः।

जिस कर्म की स्थिति का उल्लघन करके जो अन्य की (अन्तराय की) स्थिति कही गई है, उस वेदनीय के अन्त मे कथित मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन करते है—

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है ॥ १५ ॥

'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थिति.' इसका अनुवर्तन ऊपर के सूत्र से करना चाहिये। इस मोहनीय कर्म की भी उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होता है। एकेन्द्रिय आदि के मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध आगमानुसार जानना चाहिये। जैसे—मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक के ७० कोडाकोडी, एकेन्द्रिय पर्याप्तक के एक सागर, पर्याप्तक दो इन्द्रिय के पच्चीस सागर, पर्याप्तक तीन इन्द्रिय के पचास सागर, पर्याप्तक चतुरिन्द्रिय के सौ सागर और पर्याप्तक असज्ञी पचेन्द्रिय को उत्कृष्ट मोहनीय कर्म-स्थिति एक हजार सागर प्रमाण है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के असख्यातवे भाग कम एक सागर प्रमाण है। दो इन्द्रिय अपर्याप्तक, तीन इन्द्रिय अपर्याप्तक, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के सख्यातवे भाग से कम स्व-पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये, अर्थात् अपर्याप्तक दो इन्द्रिय के मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पल्य के सख्यातवे भागहीन पच्चोस सागर, अपर्याप्तक तीन इन्द्रिय के पल्योपम के सख्यातवे भागहीन पचास सागर, अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय के पल्योपम के सख्यातवे भागहीन सौ सागर, अपर्याप्तक असंज्ञी पचेन्द्रिय के पल्योपम के सख्यातवे भागहीन एक हजार सागर तथा अपर्याप्तक सज्ञी पचेन्द्रिय के अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है।

35983

---

१. अन्तरायस्य। २. अपर्याप्तस—मु, मू., द., व., ता।

आह–निर्दिष्टा पञ्चानां कर्मप्रकृतीनां स्थितिः, अथोपरिष्टयोः का परा स्थितिरिति ? अत्रोच्यते–

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १९ ॥

सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिरित्यनुवर्तते। इयमप्युत्कृष्टा संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य। एकेन्द्रियादीना यथागमम्। तद्यथा–एकेन्द्रियपर्याप्तकस्यैकसागरोपमसप्तभागौ द्वौ। द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चविंशतिसागरोपमसप्तभागौ द्वौ। त्रीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चाशत्सागरोपमसप्तभागौ द्वौ। चतुरिन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमशतसप्तभागौ द्वौ। असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रसप्तभागौ द्वौ। संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्य अन्तःसागरोपमकोटीकोटयः। एकेन्द्रियापर्याप्तकस्य तावेव भागौ पल्योपमासंख्येयभागोनौ। द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकासज्ञिनां सैव स्थितिः पल्योपमा(म) संख्येयभागोना।

आह–आयुषः कोत्कृष्टा स्थितिरिति ? अत्रोच्यते–

पाँच कर्मों की कर्म-प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन कर दिया गया है, अब नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति कहते है—

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर है ॥ १९ ॥

सागरोपम कोटाकोटि स्थिति का ऊपर से अनुवर्तन करना चाहिये, क्योकि उसका प्रकरण चल रहा है। सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक के नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर है। एकेन्द्रियादिक के उत्कृष्ट स्थिति आगम के अनुसार जाननी चाहिए। जैसे—एकेन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के सात भागो मे से दो भाग प्रमाण है। दो इन्द्रिय पर्याप्तक की नामगोत्र की उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर के सात भागो मे से दो भाग प्रमाण है। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति पचास सागर के सात भागों मे दो भाग प्रमाण है। चार इन्द्रिय पर्याप्तक की सौ सागर के सात भागों मे से दो भाग प्रमाण है। असज्ञो पचेन्द्रिय पर्याप्तक की एक हजार सागर के सात भागो में से दो भाग प्रमाण है। संज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति अन्त.कोड़ाकाडो सागर प्रमाण है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक की पल्य के असख्यातवे भाग कम २/७ सागर प्रमाण है। दो इन्द्रिय, तोन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक तथा असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के सख्यातवें भाग से कम स्व-पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति ही, इनकी उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये।

अब आयु की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन करते है—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

पुनः सागरोपमग्रहणात् कोटीकोटीनिवृत्तिः । १ । सागरोपमग्रहणेऽनुवर्तमाने पुन. सागरोपमग्रहण कोटीकोटीनिवृत्त्यर्थम् । परा स्थितिरित्यनुवर्तते एव । अस्याप्युत्कृष्टा स्थितिः सञ्ज्ञिपर्याप्तकस्यैव । इतरेषां यथागमम् । तद्यथा असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य पल्योपमस्यासंख्येयभाग । शेषाणाम् उत्कृष्टा पूर्वकोटी ।

आह–अष्टानामपि कर्मप्रकृतीना व्याख्याता परा स्थिति । अथ तासामेव का जघन्या स्थितिरित्युपदिश्यते–अन्यकर्मस्थितिविशेषाधिकत्वात् । आनुपूर्व्योल्लङ्घनेन अमुष्यैव तावत् स्वसंवेद्यफलस्य वेद्यस्य वेदितव्या स्थितिः–

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

सूक्ष्मसाम्पराय इति वाक्यशेषः ।

अथानुपूर्व्यविशेषात्यये सति मोहायुर्व्यवहितयोरन्त्ययोः[1] का जघन्या स्थितिरिति ? उच्यते–

आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है ॥ १७ ॥

पुन. सागरोपम शब्द का ग्रहण कोड़ाकोडी की निवृत्ति के लिये है । अर्थात् सागरोपम का प्रकरण होने पर भी सूत्र मे पुनः सागरोपम का ग्रहण कोड़ाकोडी सागर की व्यावृत्ति के लिये है । उत्कृष्ट स्थिति का अनुवर्तन करना चाहिये, अर्थात् 'परा' शब्द का ग्रहण प्रकरण से करना चाहिये । सञ्ज्ञी पर्याप्तक के आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है । असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक के उत्कृष्ट आयु पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण है तथा शेप जीवो की उत्कृष्ट आयु कोटिपूर्व प्रमाण है ।

आठो कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन तो कर दिया अब उनकी जघन्य स्थिति कितनी है ? उसका उपदेश करते है । अन्य कर्मो की जघन्य स्थितियो से जिनकी कुछ विशेप जघन्य स्थिति है, आनुपूर्वी (क्रम) का उल्लंघन करके सर्वप्रथम उनका निरूपण करते हैं । स्वसवेद्य जिसका फल है, अर्थात् प्रतिक्षण जिसका अनुभव हो रहा है, उस वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति कहते है–

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की है ॥ १८ ॥

सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवे गुणस्थान मे वेदनीय की जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त्त प्रमाण है । अर्थात् वेदनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान मे होता है ।

---

१ –रन्ययो मु. ।

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अत्रापि सूक्ष्मसाम्पराय इति वाक्यशेषः। मुहूर्ता इत्यनुवर्तते, अपरा स्थितिरिति च। अथान्यासां कर्मप्रकृतीनां का जघन्या स्थितिरिति? उच्यते–

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते। तत्र ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणा सूक्ष्मसाम्पराये, मोहनीयस्यानिवृत्तिबादरसाम्पराये, आयुषः संख्येयवर्षायुष्षु तिर्यक्षु मनुष्येषु च।

आह–उभयी ज्ञानावरणादीनामभिहिता स्थितिः। अथानुभव. किंलक्षण इति? अत्रोच्यते–

आनुपूर्वी विशेष का उल्लघन करके जघन्य स्थिति का वर्णन करनेपर मोहनीय एवं आयु कर्म से व्यवहित अर्थात् जिनका बंध मोहनीय और आयु कर्म के आधीन है, ऐसे नाम एव गोत्र की जघन्य स्थिति कितनी है? ऐसी शंका होने पर आचार्य नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते है—

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त प्रमाण है ॥ १९ ॥

यहाँ पर भी सूक्ष्म साम्पराय इस वाक्यविशेष का सम्वन्ध करना चाहिये। 'मुहूर्त्ता' और 'अपरा स्थिति' इनका भी अनुवर्तन करना आवश्यक है, अतः इस सूत्र का अर्थ हुआ नाम और गोत्र को आठ मुहूर्त्त प्रमाण जघन्य स्थिति का वध सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवे गुणस्थान मे होता है।

अव शेष कर्मो की जघन्य स्थिति का वर्णन करते है—

शेष बचे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय का जघन्य स्थिति बंध अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है ॥ २० ॥

'अपरा' इसका प्रकरण से अनुवर्तन करना चाहिये। दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अन्तराय की जघन्य स्थिति का वध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान मे है। मोहनोय का जघन्य स्थिति बन्ध अनिवृत्ति वादर साम्पराय नामक नवम गुणस्थान में है और आयु कर्म का जघन्य स्थिति बंध सख्यात वर्ष को आयु वाले (कर्मभूमिया) तिर्यंच और मनुष्यों में होता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त आयु वाले कर्मभूमिया मनुष्य और तिर्यंच हो सकते हैं।

इस प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्ध का वर्णन कर चुके। अब अनुभव (अनुभाग) वन्ध का लक्षण कहते हैं—

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

विशिष्टः पाको नानाविधो[1] वा विपाकः । १ । ज्ञानावरणादीना कर्मप्रकृतीनाम् अनुग्रहोपघातात्मिकाना पूर्वास्रवतीव्रमन्दभावनिमित्तो विशिष्ट. पाको विपाक. । द्रव्य-क्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधो वा पाको विपाक. । असावनुभव इत्याख्यायते । शुभपरिणामाना प्रकर्षभावात् शुभप्रकृतीना प्रकृष्टोऽनुभवः अशुभप्रकृतीना निकृष्टः । अशुभपरिणामाना प्रकर्षभावात् अशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभव. शुभप्रकृतीना निकृष्ट. । स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते—स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासा मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभव । उत्तरप्रकृतीना तु तुल्यजातीयाना परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम् । न हि नारकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते, नापि दर्शनमोह. चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा, दर्शनमोहमुखेन ।

आह—अभ्युपेमः प्रागुपचितनानाप्रकारकर्मविपाकोऽनुभव इति, इदं तु न विजानीम

उदय में आकर कर्मों के फल देने को अनुभव (अनुभाग) बंध कहते है अर्थात् फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं ॥ २१ ॥

नाना प्रकार के विशिष्ट पाक का नाम विपाक है। अनुग्रह और उपघात करने वाली ज्ञानावरण आदि कर्मप्रकृतियो के पूर्वास्रव के कारण तीव्र, मन्द भाव निमित्तक विशिष्ट पाक को विपाक कहते है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेदजनित विशिष्ट पाक को विपाक कहते है। यही विपाक अनुभव कहा जाता है। शुभ परिणामो की प्रकर्षता मे शुभ कर्मप्रकृतियों का उत्कृष्ट और अशुभ कर्मप्रकृतियो का निकृष्ट अनुभाग बध होता है तथा अशुभ परिणामो को प्रकर्षता में अशुभ कर्मप्रकृतियो का उत्कृष्ट और शुभ कर्मप्रकृतियो का निकृष्ट अनुभाग वन्ध होता है। वही अनुभाग अर्थात् कर्मो के फल का विपाक कारणवश दो प्रकार से होता है—स्वमुख से और परमुख से। सर्व मूल कर्मप्रकृतियो का विपाक तो स्वमुख से ही होता है, परन्तु उत्तर कर्मप्रकृतियो मे आयु, दर्शनमोह और चारित्रमोह को छोड़कर शेष सजातीय प्रकृतियो का विपाक परमुख से भी होता है और स्वमुख से भी। क्योकि नरकायु अपने स्वमुख (नरकायुरूप) से ही फल देती है, तिर्यञ्चायु मनुष्यायु वा देवायु रूप से नही। दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय रूप से वा चारित्र मोहनाय दर्शन मोहनीय रूप से फल नही दे सकती, अतः आयु, दर्शन मोहनीय एव चारित्र मोहनीय कर्म का विपाक स्वमुख से ही होता है।

प्रश्न—पूर्व में उपार्जित नाना प्रकार के कर्मो का विपाक अनुभाग है। यह तो जानते हैं

---

1 नानावा ता श्र. मू.।

किमयं[1] प्रसख्यातोऽप्रसंख्यातः इति ? अत्रोच्यते–प्रसख्यातोऽनुभूयत इति ब्रूमहे। कुतः ? यतः–

स यथानाम ॥ २२ ॥

ज्ञानावरणादीनां सविकल्पानां प्रत्येकमन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशादनुभवसंप्रत्ययः । १ । ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावः, दर्शनावरणस्य फलं दर्शनशक्त्युपरोध इत्येवमाद्यन्वर्थ-सञ्ज्ञानिर्देशात् सर्वासा कर्मप्रकृतीना सविकल्पानाम् अनुभवसंप्रत्ययो जायते ।

आह–यदि विपाकोऽनुभव प्रतिज्ञायते, तत्कर्मानुभूत सत् किमावरणवदवतिष्ठते, आहोस्विन्निष्पीडितसारं[2] प्रच्यवते इति ? अत्रोच्यते–

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

परन्तु यह नही जानते कि उनका अनुभाग प्रसख्यात है कि अप्रसख्यात ? **उत्तर**—यह अनुभाग कर्मो के अपने नाम के अनुसार होता है, इस बात को बताने के लिए आचार्य सूत्र कहते है—

नामानुसार कर्मों का फल प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

ज्ञानावरणादि कर्मो के नामानुसार ही फल प्राप्त होता है। सविकल्प ज्ञानावरण आदि के प्रत्येक का अन्वर्थ (सार्थक) नाम के अनुसार अनुभव ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञानावरण आदि जिसका जैसा नाम है, उसी के अनुसार ज्ञानादि का आवरण होता है। जैसे—ज्ञानावरण का फल-विपाक ज्ञान का अभाव है, दर्शनावरण कर्म का विपाक दर्शन-शक्ति का उपरोध है। सुख-दुःख का अनुभव कराना वेदनीय का फल-विपाक है। आत्मा को मोहित करना मोहनीय का कार्य है। भव मे रोककर रखना आयु का काम है। अनेक प्रकार से शरीर को रचना करना, अर्थात् आसमन्तात् एति इति आयु, नरकादि पर्यायो को प्राप्त कराने वाली आयु है। नामकरण वा आकारविशेष कारक नाम है। उच्च-नीच का व्यवहार करने वाला गोत्र और दाता एव पात्र के मध्य मे विघ्नकारक अन्तराय है। इस प्रकार सर्व प्रकृतियो के सर्व विकल्पो के अनुभाग का ज्ञान अपने-अपने अन्वर्थ नाम के अनुसार होता है।

यदि विपाक अनुभव है तो अनुभूत कर्म आवरण के समान आत्मा मे अवस्थित रहते है कि फल देकर नष्ट हो जाते है। इस शका का उत्तर देते हैं—

फल देकर कर्म झड़ जाते हैं अर्थात् उनकी निर्जरा हो जाती है ॥ २३ ॥

---

१. नाम्ना निर्ज्ञात । सख्या-मु । २ वस्त्रमाल्यादिवत् ।

पूर्वार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा । १ । पीडानुग्रहावात्मने[1] प्रदायाभ्यवहृतौदनादिविकारवत् व्यावर्तते स्थितिक्षयादवस्थानाभावात् ।

सा द्विप्रकारा विपाकजेतरा च । २ । सा द्विप्रकारा वेदितव्या । कुत ? विपाकजेतरा चेति । तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मण औदयिकभावोदीरितस्य क्रमेण विपाककालप्राप्तस्य[2] यस्य यथा सदसद्वेद्यतान्यतरविकल्पबद्धस्य तस्य तेन प्रकारेण वेद्यमानस्य यथानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्ध[3]फलस्य स्थितिक्षयादुदयागतपरिभुक्तस्य या निवृत्ति. सा विपाकजा निर्जरा । यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्र[4]मिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्ण बलादुदीर्य उदयावलि प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकनिर्जरा ।

निमित्तान्तरसमुच्चयार्थश्चशब्दः । ३ । "तपसा निर्जरा" [९।२] इति वक्ष्यते, तस्य समुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते—ततश्च भवति [5]अन्यतश्चेति ।

पूर्वोपार्जित कर्मों का झड़ जाना ही निर्जरा है। आत्मा को सुख वा दु.ख देकर, खाये हुए औदनादि आहार के मल की तरह स्थिति के क्षय हो जाने के कारण अवस्थान का अभाव होने से पूर्वोपार्जित कर्मो का झड़ जाना, नष्ट हो जाना ही निर्जरा है ।। १ ।।

वह निर्जरा दो प्रकार की है—विपाकजा और अविपाकजा। अनेक जातिविशेष से उद्वेलित चार गति रूप ससार महासमुद्र मे चिरकाल से परिभ्रमण करने वाले प्राणी के शुभाशुभ कर्मों का औदयिक भावो से उदयावलि स्रोत से क्रम से यथाकाल प्रविष्ट होकर जिसका साता असाता वा अन्यतर जिस रूप से बध हुआ है, उसका उस रूप मे स्वाभाविक फल देकर स्थिति समाप्त करके निवृत्त हो जाना, उदयागत कर्म का परिमुक्त होकर विनाश को प्राप्त हो जाना ही विपाकजा निर्जरा है। जो कर्म विपाककाल को प्राप्त नही हुए है, अर्थात् जिन कर्मो का अभी उदयकाल नही आया है, उन्हे भी औपक्रमिक क्रिया (तप) विशेष के सामर्थ्य से अनुदीर्ण कर्मों को भी बलात् उदयावलि मे लाकर पका देना, उदयावलि मे लाकर उनका अनुभव करना, अविपाक निर्जरा है, जैसे कि कच्चे आम, पनस आदि फलो को प्रयोग से पका दिया जाता है ।। २ ।।

निमित्तान्तरो के समुच्चय के लिए सूत्र मे 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' के नवम अध्याय के दूसरे सूत्र मे कहा है 'तपसा निर्जरा च' तप से निर्जरा होती है, अतः 'च' शब्द से सवर के प्रकरण मे कहे जाने वाले 'तप' का संग्रह हो जाता है। अर्थात् कर्म फल देकर भी झड़ जाते है और तप से भी ।। ३ ।।

---

१ –न प्र–मु , द , ब । २. –प्तस्य यथा मु द. ब । ३. –ब्धकर्मस्वस्थि–मु., –ब्ध कर्मस्यस्थि–द , ब. ।
४. –मिकक्रि–ता श्र । ५ तपसा ।

संवरात्परत्र पाठ इति चेत्; न; अनुभवानुवादपरिहारार्थत्वात् । ४ । स्यान्मतम्—संवरान्निर्जरा परत्र पठितव्या 'यथोद्देशः तथा निर्देशः' इति; तन्न; किं कारणम् ? अनुभवानुवादपरिहारार्थत्वात्, तत्र हि पाठे क्रियमाणे विपाकोऽनुभव इति पुनरनुवादः कर्तव्यः स्यात् ।

पृथङ्निर्जरावचनमनर्थकं बन्धेऽन्तर्भावादिति चेत्; न; अर्थापरिज्ञानात् । ५ । स्यान्मतम्—यथा पुण्यपापयो. पृथग्ग्रहण न कृतं बन्धेऽन्तर्भावात् तथा निर्जरा अपि उक्तेन क्रमेण अनुभवबन्धेऽन्तर्भवति इति पृथगस्या ग्रहणमनर्थकमिति, तन्न; किं कारणम् ? अर्थापरिज्ञानात् । फलदानसामर्थ्यमनुभव इत्युच्यते । ततोऽनुभूतानामात्तवीर्याणा पुद्गलाना निवृत्तिर्निर्जरेत्ययमर्थभेदः । एवं च कृत्वा ततश्चेति अपादाननिर्देश उपपन्नो भवति, इतरथा हि भेदाभावान्नोपपद्यते[1] ।

लघ्वर्थमिहैव तपसेति वक्तव्यमिति चेत्; न; संवरानुग्रहतन्त्रत्वात् । ६ । स्यादेतत्—लघ्वर्थमिहैव "ततो निर्जरा तपसा च" इति वक्तव्यं पुनर्निर्जराग्रहणमाकर्ष-

---

प्रश्न—सवर के बाद निर्जरा का कथन करना चाहिये, क्योकि 'जैसा उद्देश होता है वैसा ही निर्देश होता है ।' **उत्तर**—यद्यपि सवर के बाद निर्जरा के वर्णन का क्रम आता है फिर भी अनुभव के अनुवाद का (पुनर्कथन) परिहार करने के लिये यहाँ कहा गया है, क्योकि वहाँ पर निर्जरा का पाठ करने पर पुनः '**विपाकोऽनुभवः**' का अनुवादन करना पड़ता, अत. लाघव के विचार से विपाक के बाद ही निर्जरा का वर्णन कर दिया है ।। ४ ।।

प्रश्न—कर्मों की निर्जरा का पृथग् वर्णन करना उचित नही है, क्योकि जैसे—बन्ध मे अन्तर्भाव हो जाने से पुण्य-पाप का वर्णन पृथक् नही किया है, उसी प्रकार निर्जरा का भी उक्त कर्म से अनुभाग बन्ध मे अन्तर्भाव हो जायेगा अत निर्जरा का पृथक् वर्णन करना व्यर्थ है । **उत्तर**—ऐसो शंका करने वाले को आचार्य के अर्थ का परिज्ञान नही है । अनुभाग बध मे पुण्य-पाप के समान निर्जरा का अन्तर्भाव नही हो सकता, क्योकि फलदान शक्ति को अनुभव कहते है और जिनका फलानुभव किया जा चुका है, ऐसे निर्वीर्य कर्मपुद्गलो का झड जाना, निवृत्त हो जाना, निर्जरा है; यह इन दोनों मे भेद है अतः '**ततश्च**' यह अपादान (पचमी विभक्ति) का निर्देश बन जाता है । यदि भेद नही होता तो अपादान प्रयोग नही हो सकता था ।। ५ ।।

प्रश्न—यहाँ '**ततो निर्जरा तपसा च**' ऐसा लघु सूत्र बना देना चाहिए था, इसमे आगे 'निर्जरा' पद का ग्रहण नही करना पड़ेगा ? **उत्तर**—सवर के कारणो का द्योतन करने के लिए

---

१ पृथग्ग्रहणम् ।

(-ए व्यर्थ) मिति; तन्न, किं कारणम् ? सवरानुग्रहतन्त्रत्वात्–तपसा निर्जरा च भवति सवरश्चेति ।

धर्मेऽन्तर्भावात् संवरहेतुत्वमिति चेत्; न; पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् ।७। स्यान्मतम्–उत्तमक्षमामार्दवार्जवादियोगे उत्तम तपः सवरहेतुरिति वक्ष्यते ततस्तत्रान्तर्भावात् सवरहेतुत्वसिद्धे., इह वचनाच्च निर्जराहेतुत्वनिर्ज्ञानात् पृथक् तत्र तपोग्रहणमनर्थकमिति, तन्न, कि कारणम् ? पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् । सर्वेषु सवरनिर्जराहेतुषु तप प्रधानभूतमित्येतस्य ज्ञापनार्थ पुनस्तपोग्रहणं क्रियते । उक्त च–

[1]कायमणो वचिगुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेयविहं ।
सो कम्मणिज्जराए विपुलाए [2]वट्टदे मणुस्सोत्ति ।।

तत इह तपोवचनं गौरवं जनयति इति न कृतम् ।

ता. पुनः कर्मप्रकृतयो द्विविधा.–घातिका अघातिकाश्चेति । तत्र ज्ञानदर्शनावरण-मोहान्तरायाख्या घातिकाः । इतरा अघातिका । घातिकाश्चापि द्विविधा–सर्वघातिका

तप को सवर के प्रकरण में ही ग्रहण करना उचित है अर्थात् तप से सवर भी होता है और निर्जरा भी ।। ६ ।।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि योग रूप धर्म मे सवर का हेतु उत्तम तप कहेंगे, उसी धर्म मे उसका अन्तर्भाव हो जायेगा, क्योकि सवर की हेतुसिद्धि उनमे होती है अतः यहाँ पर तप के ग्रहण से निर्जरा के हेतुत्व का निर्ज्ञान हो जाने से पुन. निर्जरा प्रकरण मे पृथक् तप का ग्रहण करना निरर्थक है । **उत्तर**—यद्यपि उत्तम क्षमा आदि धर्मो मे किया गया तप का निर्देश सवरहेतुता का द्योतन कर देता है और यहाँ पर **'ततो निर्जरा तपसा च'** ऐसा सूत्र बना देने से तप निर्जरा का कारण है, यह ज्ञात हो जाता है । अत पृथक् **'तपसा निर्जरा च'** यह सूत्र बनाना निरर्थक प्रतीत होता है, तथापि सभी सवर और निर्जरा के कारणो मे तप को प्रधानता सूचित करने के लिए तप को पृथक् रूप से ग्रहण किया है । कहा भी है—'काय, मन और वचन गुप्ति से युक्त होकर जो अनेक प्रकार के तप करता है, वह मनुष्य विपुल कर्म-निर्जरा करता है । यहाँ तप का निर्देश गौरव उत्पन्न करता है अत. इस सूत्र मे तप को ग्रहण नहीं किया है ।

ये कर्मप्रकृतियाँ घाती और अघाती के भेद से दो प्रकार की है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिया हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये अघातिया कर्म है ।

---

१. कायमनोवचोगुप्तो यः तपसा चेष्टते अनेकविधम् । स कर्मनिर्जरया विपुलाया [illegible] मनुष्य ।
२. वट्टदि मु, द., ब, ता., मू ।

संवरात्परत्र पाठ इति चेत्; न; अनुभवानुवादपरिहारार्थत्वात् । ४ । स्यान्मतम्–संवरान्निर्जरा परत्र पठितव्या 'यथोद्देशः तथा निर्देश.' इति; तन्न; किं कारणम् ? अनुभवानुवादपरिहारार्थत्वात्, तत्र हि पाठे क्रियमाणे विपाकोऽनुभव इति पुनरनुवादः कर्तव्य. स्यात् ।

पृथङ्निर्जरावचनमनर्थकं बन्धेऽन्तर्भावादिति चेत्; न; अर्थापरिज्ञानात् । ५ । स्यान्मतम्–यथा पुण्यपापयो· पृथग्ग्रहणं न कृत बन्धेऽन्तर्भावात् तथा निर्जरा अपि उक्तेन क्रमेण अनुभवबन्धेऽन्तर्भवति इति पृथगस्या ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न, किं कारणम् ? अर्थापरिज्ञानात् । फलदानसामर्थ्यमनुभव इत्युच्यते । ततोऽनुभूतानामात्तवीर्याणां पुद्गलानां निवृत्तिर्निर्जरेत्ययमर्थभेदः । एवं च कृत्वा ततश्चेति अपादाननिर्देश उपपन्नो भवति, इतरथा हि भेदाभावान्नोपपद्यते[1] ।

लघ्वर्थमिहैव तपसेति वक्तव्यमिति चेत्; न; संवरानुग्रहतन्त्रत्वात् । ६ । स्यादेतत्–लघ्वर्थमिहैव "ततो निर्जरा तपसा च" इति वक्तव्य पुनर्निर्जराग्रहणमाकर्ष-

---

प्रश्न—संवर के बाद निर्जरा का कथन करना चाहिये, क्योकि 'जैसा उद्देश होता है वैसा ही निर्देश होता है।' **उत्तर**—यद्यपि सवर के बाद निर्जरा के वर्णन का क्रम आता है फिर भी अनुभव के अनुवाद का (पुनर्कथन) परिहार करने के लिये यहाँ कहा गया है, क्योकि वहाँ पर निर्जरा का पाठ करने पर पुन. **'विपाकोऽनुभवः'** का अनुवादन करना पडता, अत. लाघव के विचार से विपाक के बाद ही निर्जरा का वर्णन कर दिया है ।। ४ ।।

प्रश्न—कर्मो की निर्जरा का पृथग् वर्णन करना उचित नही है, क्योकि जैसे—बन्ध मे अन्तर्भाव हो जाने से पुण्य-पाप का वर्णन पृथक् नही किया है, उसी प्रकार निर्जरा का भी उक्त कर्म से अनुभाग बन्ध मे अन्तर्भाव हो जायेगा अत निर्जरा का पृथक् वर्णन करना व्यर्थ है। **उत्तर**—ऐसी शका करने वाले को आचार्य के अर्थ का परिज्ञान नही है। अनुभाग बध मे पुण्य-पाप के समान निर्जरा का अन्तर्भाव नही हो सकता, क्योकि फलदान शक्ति को अनुभव कहते है और जिनका फलानुभव किया जा चुका है, ऐसे निर्वीर्य कर्मपुद्गलो का झड जाना, निवृत्त हो जाना, निर्जरा है, यह इन दोनों मे भेद है अतः **'ततश्च'** यह अपादान (पचमी विभक्ति) का निर्देश बन जाता है। यदि भेद नही होता तो अपादान प्रयोग नही हो सकता था ।। ५ ।।

प्रश्न—यहाँ **'ततो निर्जरा तपसा च'** ऐसा लघु सूत्र बना देना चाहिए था, इसमे आगे 'निर्जरा' पद का ग्रहण नही करना पडेगा ? **उत्तर**—सवर के कारणो का द्योतन करने के लिए

---

१. पृथग्ग्रहणम् ।

(-णं व्यर्थं) मिति; तन्न, कि कारणम् ? संवरानुग्रहतन्त्रत्वात्–तपसा निर्जरा च भवति संवरश्चेति ।

धर्मेऽन्तर्भावात् संवरहेतुत्वमिति चेत्; न; पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् । ७ । स्यान्मतम्–उत्तमक्षमामार्दवार्जवादियोगे उत्तम तपः सवरहेतुरिति वक्ष्यते ततस्तत्रान्तर्भावात् सवरहेतुत्वसिद्धेः, इह वचनाच्च निर्जराहेतुत्वनिर्ज्ञानात् पृथक् तत्र तपोग्रहणमनर्थकमिति, तन्न, कि कारणम् ? पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् । सर्वेषु सवरनिर्जराहेतुषु तप· प्रधानभूतमित्येतस्य ज्ञापनार्थ पुनस्तपोग्रहण क्रियते । उक्तं च–

[1]कायमणो वचिगुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेयविहं ।
सो कम्मणिज्जराए विपुलाए [2]वट्टदे मणुस्सोत्ति ।।

तत इह तपोवचनं गौरवं जनयति इति न कृतम् ।

ता· पुन कर्मप्रकृतयो द्विविधाः–घातिका अघातिकाश्चेति । तत्र ज्ञानदर्शनावरण-मोहान्तरायाख्या घातिकाः । इतरा अघातिका· । घातिकाश्चापि द्विविधा–सर्वघातिका

तप को सवर के प्रकरण में ही ग्रहण करना उचित है अर्थात् तप से सवर भी होता है और निर्जरा भी ।। ६ ।।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि योग रूप धर्म मे सवर का हेतु उत्तम तप कहेगे, उसी धर्म में उसका अन्तर्भाव हो जायेगा, क्योकि सवर की हेतुसिद्धि उनमे होती है अतः यहाँ पर तप के ग्रहण से निर्जरा के हेतुत्व का निर्ज्ञान हो जाने से पुनः निर्जरा प्रकरण मे पृथक् तप का ग्रहण करना निरर्थक है । **उत्तर**—यद्यपि उत्तम क्षमा आदि धर्मो मे किया गया तप का निर्देश सवरहेतुता का द्योतन कर देता है और यहाँ पर **'ततो निर्जरा तपसा च'** ऐसा सूत्र बना देने से तप निर्जरा का कारण है, यह ज्ञात हो जाता है । अत पृथक् **'तपसा निर्जरा च'** यह सूत्र बनाना निरर्थक प्रतीत होता है, तथापि सभी सवर और निर्जरा के कारणो मे तप की प्रधानता सूचित करने के लिए तप को पृथक् रूप से ग्रहण किया है । कहा भी है—'काय, मन और वचन गुप्ति से युक्त होकर जो अनेक प्रकार के तप करता है, वह मनुष्य विपुल कर्म-निर्जरा करता है । यहाँ तप का निर्देश गौरव उत्पन्न करता है अत· इस सूत्र मे तप को ग्रहण नही किया है ।

ये कर्मप्रकृतियाँ घाती और अघाती के भेद से दो प्रकार की है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिया हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये अघातिया कर्म है ।

---

१ कायमनोवचोगुप्तो यः तपसा चेष्टते अनेकविधम् । स कर्म्मनिर्जराया विपुलाया वर्तते मनुष्य ।
२ वट्टदि मु, द., ब, ता., मू ।

देशघातिकाश्चेति । तत्र केवलज्ञानावरणनिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनिद्राप्रचला-केवलदर्शनावरणद्वादशकषायदर्शनमोहाख्याः विंशतिप्रकृतयः सर्वघातिकाः । ज्ञानावरणचतुष्कदर्शनावरणत्रयान्तरायपञ्चकसञ्ज्वलननोकषायसंज्ञिकाः देशघातिकाः । अवशिष्टाः प्रकृतयः अघातिकाः । तथेदमपरमवसेयम्—शरीरनामादयः स्पर्शान्ता अगुरुलघू-पघातपरघातातपोद्योतप्रत्येकशरीरसाधारणशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभनिर्माणनामाख्याश्च पुद्गलविपाकप्रदाः । आनुपूर्व्यनाम क्षेत्रविपाककरम् । आयुर्भवधारणफलम् । अवशिष्टाः प्रकृतयो जीवविपाकहेतव इति । एवमनुभवबन्धो व्याख्यातः ।

इदानीं प्रदेशबन्धो वक्तव्यः, तस्मिंश्च वक्तव्ये सति इमे निर्देष्टव्याः—किंहेतवः कदा, कुतः, किंस्वभावाः, कस्मिन्, किंपरिमाणाश्चेति ? तदर्थमिदं यथासंख्यपरिगृहीततत्प्रश्ना-पेक्षाभेदं सूत्रं प्रणीयते—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥

सर्वघाती और देशघाती के भेद से घातिया कर्म दो प्रकार का है। उनमे केवलज्ञानावरणीय, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, केवलदर्शनावरण, अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, ये बारह कषाय और दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व), ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघाती है। ज्ञानावरण के चार (मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्यय ज्ञानावरण), दर्शनावरण की चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरण, ये तीन; अन्तराय पाँच (दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-शक्ति की बाधक), सज्वलन कषाय की चार और नौ नोकषाय, ये देशघाती प्रकृतियाँ है; अवशिष्ट (बची हुई) अघाती कर्मप्रकृतियाँ है। शरीर नामकर्म से लेकर स्पर्श पर्यन्त नाम प्रकृतियाँ, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और निर्माण, ये ६२ कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी है, चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं, आयुकर्म भव धारण करता है अतः चार आयुकर्म भवविपाकी हैं और शेष प्रकृतियाँ जीवविपाकी है। इस प्रकार अनुभवबन्ध का व्याख्यान किया।

अब प्रदेशबन्ध का कथन करना चाहिए। उस प्रदेशबन्ध के कथन मे इनका निर्देश करना चाहिये कि यह प्रदेशबन्ध किन कारणो से होता है, कब होता है, कहाँ से होता है, किस स्वभाव वाला है, किसमे होता है, कितने परिमाण मे होता है। उसके लिये यह यथासख्य परिगृहीत प्रश्न की अपेक्षा भेद से सूत्र का वर्णन करते हैं—

अपने नाम के अनुसार सभी भवों में योगविशेष से आने वाले, आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में सूक्ष्म एकक्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्म पुद्गल प्रदेशबन्ध हैं ॥ २४ ॥

नाम्नः प्रत्यया नामप्रत्यया. । नामेति सर्वाः कर्मप्रकृतयः अभिधीयन्ते, "स यथानाम" [त.सू. ८।२२] इतिवचनात् ।

नामासां प्रत्यय इति चेत्; न; समयविरोधात् । १ । अथ मतमेतत्—नाम प्रत्ययो यासा ता. नामप्रत्यया इति, तन्न; कि कारणम् ? समयविरोधात् । एव हि विग्रहे क्रियमाणे नामकर्म एव सर्वासा प्रकृतीना प्रत्यय इति प्राप्तम्, तच्च समयविरुद्धम् । अनेन हेतुभाव उक्त· ।

सर्वेषु भवेषु सर्वतः । २ । "**दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि**" इति तसि कृते सर्वेषु भवेषु सर्वत इति भवति । अनेन कालोपादान कृतम्, एकैकस्य जीवस्य अतिक्रान्ता अनन्ता भवा आगामिन· संख्येया असख्येया अनन्ता वा भवा भवन्ति, तेषु सर्वेष्वेवेति ।

योगविशेषादिति वचनं निमित्तनिर्देशार्थम् । ३ । योगो व्याख्यातः कायवाङ्मनस्कर्मलक्षणः । परस्परतो विशिष्यते इति विशेष· । ततो योगविशेषान्निमित्तात् कर्मभावेन पुद्गला आदीयन्त इति योगविशेषादित्यनेन निमित्तनिर्देशः कृतो भवति ।

नाम का प्रत्यय नाम प्रत्यय है । नाम इससे सर्व कर्म प्रकृतियाँ कही जाती है "**स यथानाम**" इस सूत्र मे कहा है कि उनका अनुभाग कर्मो के नामानुसार होता है ।

आगम का विरोध होने से "इनका नाम प्रत्यय है" ऐसा समास नही करना चाहिये । **प्रश्न**—नाम जिनका कारण है, वह नाम प्रत्यय है, ऐसा समास करना चाहिये । **उत्तर**—नामकर्म है प्रत्यय जिनका ऐसा विग्रह नही करना चाहिये क्योकि ऐसा करने पर ग्रन्थ का (शास्त्रो के कथन मे) विरोध आता है अर्थात् नामकर्म है प्रत्यय जिनका ऐसा समास करने पर सर्व कर्मप्रकृतियो का नामकर्म ही कारण हो जायेगा अत. आगम के विरुद्ध होने से नाम के अनुसार ही प्रदेशबन्ध होता है । नामप्रत्यय इससे हेतु का निर्देश किया है ॥ १ ॥

सभी भवो मे होने वाला सर्वतः कहा जाता है । अन्यत. भी देखा जाता है, इस प्रकार 'तस्' प्रत्यय करने पर सर्व भवो मे होने वाला सर्वत. ऐसा बनता है । इस सर्वतः शब्द से काल का ग्रहण किया गया है । एक जोव के अतिक्रान्त अनन्त भव और आगामी असख्यात, सख्यात एव अनन्त भव होते है । उन सर्व भवो मे कर्मो का आस्रव होता है ॥ २ ॥

योगविशेष वचन निमित्त के निर्देश के लिये है । मन, वचन, काय रूप योग का लक्षण पूर्व मे कह दिया गया है । परस्पर विशिष्य होता है, वह विशेष है । योगविशेष—मन, वचन, काय के निमित्त से कर्म रूप पुद्गलो का आगमन होता है, अतः इस योग विशेष से निमित्त का (कर्मो के आने के कारण का) निर्देश किया गया है ॥ ३ ॥

सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यस्वभावप्रतिपादनार्थम् ।४। ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्मा न स्थूला इति प्रतिपादनार्थं सूक्ष्मग्रहणं क्रियते ।

एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।५। आत्मप्रदेशकर्मपुद्गलैकाधिकरण-व्यतिरिक्तक्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थमेकक्षेत्राव[1]गाह इति वचनं क्रियते ।

स्थिता इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।६। स्थिता.[2] कर्मभावमापद्यन्ते न गच्छन्त इति क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं स्थिता इत्युच्यते । एवं सूक्ष्मादि[3]ग्रहणेन कर्मयोग्यस्व-भावानुवर्णनं कृतं भवति ।

सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमेकप्रदेशाद्यपोहार्थम् ।७। एकद्वित्रिचतुरादिप्रदेशेष्वात्मनः कर्मप्रदेशा न प्रवर्तन्ते, [4]क्व तर्हि ? ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति प्रदर्शनार्थ[5] सर्वात्मप्रदेशेष्वित्युच्यते ।

सूक्ष्म का ग्रहण कर्म योग्य पुद्गलो के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिये है, अर्थात् कर्म रूप से ग्रहण करने योग्य पुद्गल सूक्ष्म है, स्थूल नही, इसका प्रतिपादन करने के लिये सूक्ष्म शब्द का प्रयोग किया है ।। ४ ।।

एकक्षेत्रावगाह वचन क्षेत्रान्तर की निवृत्ति के लिये है। आत्मप्रदेश और कर्मपुद्गल वर्गणाओ का अधिकरण (आकाश क्षेत्र) एक ही है, भिन्न-भिन्न अधिकरण नही है अत. भिन्न अधिकरण की निवृत्ति के लिये 'एकक्षेत्रावगाह' यह पद दिया गया है ।। ५ ।।

इस सूत्र मे स्थिति शब्द का प्रयोग क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए है । स्थित ही कर्म भाव को प्राप्त होते हैं, चलते हुए नही । इस प्रकार क्रियान्तर की निवृत्ति के लिये "स्थिता" इस शब्द का प्रयोग किया है । अर्थात् स्थिता का तात्पर्य यह है कि स्थित पुद्गल कर्म भाव को प्राप्त होते है, चलते हुए नही । सूक्ष्म शब्द के ग्रहण से कर्म के योग्य पुद्गलो के स्वभाव का निर्देश किया गया है । अर्थात् २३ प्रकार को पुद्गल वर्गणाओ मे जो कर्म योग्य पुद्गल वर्गणा है वही प्रदेशबन्ध मे ग्राह्य है ।। ६ ।।

सर्व आत्मप्रदेशो मे ऐसा कहने पर एक प्रदेश आदि का निषेध किया गया है । एक, दो, तीन. चार आदि प्रदेशो मे आत्मा के कर्मप्रदेशो की प्रवृत्ति नही है अपितु ऊपर, नीचे, बीच मे सब जगह सर्वात्मप्रदेशो मे व्याप्त होकर प्रत्येक आत्मप्रदेश मे कर्मपुद्गलस्थिति है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये "सर्वात्मप्रदेशेषु" यह कथन किया है । अर्थात् सर्वात्मप्रदेशो मे कर्मवर्गणाये स्थित हैं, एक दो आदि मे नही ।। ७ ।।

---

१ –गाढव–ता, अ., द, व । २. सन्तः । ३ अय । ४. किं तर्हि मु, द., व. । ५. –र्थमूर्ध्वमधस्तिर्यक्-सर्वा–मु., द व ।

अनन्तानन्तप्रदेशवचनं प्रमाणान्तरव्यपोहार्थम् । ८ । न सख्येया: नचाऽसख्येया: नाप्यनन्ता. इति प्रतिपादनार्थम् अनन्तानन्तप्रदेशा इत्युच्यन्ते । ते[1] खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणा: सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशा. घनाङ्गुलासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिन: एकद्वित्रिचतु[2]रसख्येयासख्येयसमयस्थितिका: पञ्चवर्णरसद्विगन्धचतु.स्पर्शभावा: अष्टविध-कर्मप्रकृतियोग्या: योगवशात् आत्मना आत्मसात्क्रियन्त इति प्रदेशबन्ध. समासतो वेदितव्य. ।

आह–बन्धपदार्थान्तरं पुण्यपापोपसख्यान चोदितम्, तद्बन्धेऽन्तर्भूतमिति प्रत्याख्या-तम् । तत्रेद वक्तव्य कोऽत्र पुण्यबन्ध क: पापबन्ध इति ? तत्र पुण्यप्रकृतिपरिगणनार्थ-मिदमुच्यते–

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

शुभग्रहणमायुरादीनां विशेषणम् । १ । शुभ प्रशस्तमित्यर्थ, तद्ग्रहणमायुरादीनां विशेषण द्रष्टव्यम्–शुभायु., शुभनाम शुभगोत्रमिति ।

अनन्तानन्त प्रदेश वचन का ग्रहण प्रमाणान्तर के निराकरण के लिये है । ये न तो सख्यात हैं न असख्यात है और न अनन्त है अपितु अनन्तानन्त है, इसका प्रतिपादन करने के लिये अनन्तानन्त शब्द का ग्रहण है । एक समय मे आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करने वाले ये पुद्गलस्कन्ध अभव्यो से अनन्तगुणे और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण है । वे घनाङ्गुल के असख्येय भाग रूप क्षेत्रावगाही एक, दो, तीन, चार, सख्यात असख्यात समय की स्थिति वाली पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श वाली तथा आठ प्रकार के कर्म रूप से परिणमन करने के योग्य पुद्गल वर्गणायें आत्मा के द्वारा योगो के कारण आत्मसात् की जाती है, वह प्रदेशबन्ध है । इस प्रकार सक्षेप से प्रदेशबन्ध का वर्णन समझना चाहिये ।। ८ ।।

बन्धपदार्थ के अनन्तर (बाद मे) पुण्य-पाप के वर्णन का कथन है, उस पुण्य-पाप का वर्णन बन्ध मे अन्तर्भूत है, ऐसा वर्णन किया है । यहाँ पुण्यबन्ध क्या है ? और पापबन्ध क्या है ? ऐसी आशका होने पर पुण्य-प्रकृतियो की परिगणना करने के लिए सूत्र कहते है—

साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र, ये पुण्य प्रकृतियाँ है ।। २५ ।।

शुभ का ग्रहण आयु आदि का विशेषण है । शुभ प्रशस्त ये एकार्थवाची है । उस शुभ का ग्रहण आयु आदि का विशेषण है । शुभ आयु शुभ नाम, शुभ गोत्र, ये पुण्यप्रकृतियाँ हैं ।। १ ।।

---

१ परमाणव, ते अनन्तानन्ता अपि पुद्गलस्कन्धा आगता अविशेषेण एतावन्मात्रसूक्ष्मशरीर महामत्स्यादि स्थूलशरीरञ्च व्याप्य स्थिता इत्यर्थ । २. –तु: सख्येयसम–द, व. । तु. सख्येयानन्तसम–मु. ।

शुभायुस्त्रिविधम् । २ । तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुरिति एतत्त्रितयं शुभायुरित्युच्यते ।

शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पम् । ३ । शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पमवगन्तव्यम् । तद्यथा–मनुष्यगतिः, देवगतिः, पञ्चेन्द्रियजातिः, पञ्चशरीराणि, त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि, समचतुरस्रसंस्थानम्, वज्रर्षभनाराचसंहननम्, प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाः, मनुष्यगति-देवगत्यानुपूर्व्यद्वयम्, अगुरुलघु-परघातोच्छ्वासाऽतपोद्योतप्रशस्तविहायोगतयः, त्रस-बादर-पर्याप्ति-प्रत्येकशरीर-स्थिर - शुभ - सुभग - सुस्वर - आदेय-यशस्कीर्तयः निर्माण तीर्थकरनाम चेति । शुभमेकमुच्चैर्गोत्रम् सद्वेद्यमित्येता द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुण्यसञ्ज्ञा[1] इति ।

अतोऽन्यत् पापम् ।। २६ ।।

अस्मात् पुण्यसञ्ज्ञककर्मप्रकृतिसमूहादन्यत् कर्म पापमित्युच्यते । तद् द्व्यशीतिविधम् । तद्यथा–ज्ञानावरणप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणस्य नव, मोहनीयस्य षड्विंशतिः, पञ्चान्तरायस्य, नरकगतिः, तिर्यग्गतिः, चतस्रो जातयः, पञ्च संस्थानानि, पञ्च संहननानि, अप्रशस्तवर्ण-

---

शुभ आयु तीन प्रकार की है—तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु। यद्यपि तिर्यञ्च गति अशुभ है परन्तु तिर्यञ्चायु शुभ है क्योंकि तिर्यञ्च गति मे जाना कोई नही चाहता है, परन्तु तिर्यञ्च गति मे पहुँच जाने पर वहाँ से निकलना नही चाहता है अत. आयु पुण्यप्रकृति है और तिर्यञ्च गति पापप्रकृति है ।। २ ।।

सैंतीस नामप्रकृतियाँ शुभ है। मनुष्यगति, देवगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिक आदि पाँच शरीर, तीन अगोपाग, समचतुरस्रसस्थान, वज्रवृषभ नाराच सहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर नाम ये सैंतीस नामकर्म की प्रकृतियाँ शुभ है। उच्च गोत्र और साता-वेदनीय मिल कर ये सर्व बयालीस प्रकृतियाँ शुभ है, या पुण्यप्रकृतियाँ है ।। ३ ।।

पुण्यप्रकृति से शेष बची प्रकृतियाँ पापप्रकृतियाँ है ।। २६ ।।

पुण्य नामक कर्मप्रकृति के समूह से अन्य प्रकृतियाँ पापप्रकृतियाँ कहलाती है, वे ८२ है। पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, २६ मोहनीय की, अन्तराय की पाँच, नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, ये चार जातियाँ, समचतुरस्र सस्थान को छोडकर पाँच सस्थान, वज्रवृषभ नाराच सहनन को छोड़कर पाँच सहनन, अप्रशस्त और प्रशस्त के भेद से स्पर्शादि दो प्रकार के है, उनमे अप्रशस्त स्पर्श, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त गन्ध,

---

१. –ज्ञा. ता , द., ब., मु. ।

गन्ध - रस - स्पर्शाः, नरकगतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयम्, उपघाता-ऽप्रशस्तविहायोगति-स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त[१]-साधारणशरीरा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशस्कीर्तयश्चेति नामप्रकृतयः चतुस्त्रिंशत्, असद्वेद्यम्, नरकायुः, नीचैर्गोत्रमिति ।

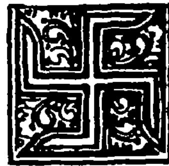
एवं व्याख्यातः सप्रपञ्चो बन्धपदार्थः अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यः तदुपदिष्टागमानुमेयः ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारेऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।। ८ ।।

अप्रशस्त वर्ण, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, ये ३४ प्रकृतियाँ नामकर्म की तथा नरकायु, असाता वेदनीय और नीच गोत्र, ये मिलकर बयासी (८२) पापप्रकृतियाँ है ।

यह सब बन्धपदार्थ अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से गम्य है और उनके द्वारा उपदिष्ट आगम से अनुमेय है ।

इस प्रकार बन्धपदार्थ का वर्णन करने वाला आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।। ८ ।।



१. –प्तिसा–मु., द., ब ।

नवमोऽध्यायः

अत्राह–योऽय अनादिसन्ततिः पौनर्भविकसुखदु.खहेतुः अष्टविधविशेषोपचितमूर्तिः नानाजातिविग्रहोत्पादनप्रवणः [1]पौरुषेयः सर्वात्मप्रदेशावेष्टनसमर्थ· कर्मबन्धः स केनचिदुपायेनापि नाम कस्यचित् अनात्यन्तिकः स्यादिति ? अत्रोच्यते–भवति हि केषाञ्चिदात्यन्तिकस्तद्विनाश. यस्मात्तदर्थमेव [2]भगवद्भिरर्हद्भिरुपदिष्ट·–

आस्रवनिरोधः [3]संवरः ॥ १ ॥

अथवा, आह–कथं पुनरेतदाहितवैचित्र्यं नानास्रवापादित ज्ञानावरणादिकर्म सम्बन्धं नोपयादिति ? अत्रोच्यते–सवरात् । कोऽसौ सवर इति ? [4]अत आह–आस्रवनिरोध. सवर इति । अथवा, बन्धपदार्थो निर्दिष्ट. । इदानी तदनन्तरोद्देशभाजः सवरस्य निर्देश. प्राप्तकाल इति, अत इदमाह–आस्रवनिरोधः सवर इति ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जो यह अनादिकालीन सतति से आगत, पुन· सासारिक सुख-दु ख का कारण, आठ प्रकार विशेषो से उपचित मूर्त्ति, नाना जाति रूप शरीर को उत्पादन करने मे समर्थ, आत्मपरिणामो से उपार्जित और सर्व आत्मप्रदेशो को वेष्टन करने मे समर्थ जो कर्मबन्ध है, वह किसी भी उपाय से किसी के भी अत्यन्त क्षय नही होता है क्या ? उत्तर––किन्ही-किन्ही भव्यात्माओ के कर्मो का अत्यन्त विनाश होता है । इस बात की सिद्धि के लिए भगवान् अर्हन्त देव ने कर्मो के नाश का कारण कहा है । सो कहते है—

आस्रव का निरोध संवर है ॥ १ ॥

अथवा, यहाँ कोई प्रश्न करता है कि प्राप्त किया है वैचित्र्य जिसने, ऐसे नाना प्रकार के आस्रव से अपादित ज्ञानावरणादि कर्म किस प्रकार बन्ध को प्राप्त नही हो सकते है ? उत्तर— सवर होने से नवीन कर्म का सम्बन्ध नही होता है ।

---

१. पौरुषेण यः–मु , द , व. । पुरुषकृत । २ भगवद्भिरूप–मु , द., व । ३. विरोध.-अ । ४. अत एवाह-मु । अत एव अत आह–द. व. ।

अथ कोऽयमास्रवनिरोधः ?

कर्मागमनिमित्ताऽप्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः । १ । कर्मागमनिमित्तं बहुविकल्पं व्याख्यातम्, तस्य कायवाङ्मन प्रयोगस्य स्वात्मलाभहे[१]त्वसन्निधानात् अप्रादुर्भूतिरास्रव-निरोध इत्युच्यते ।

आह–यदि अयमास्रवनिरोध. [२]व्याख्यायताम् इदानी संवर इति ? अत्राभि-धीयते–स न व्याख्यातव्यः । कि कारणम् ? यस्मात्–

तन्निरोधे सति तत्पूर्वककर्मादानाभावः संवरः । २ । कारणाभावात् कार्यभाव इति तस्मिन्नास्रवे निरुद्धे तत्पूर्वकस्यानेकदुःखबीज[३]जननस्य कर्मणः उपनिपाताभावो यः स सवरः । 'अभिमतः' इति वाक्यशेष. ।

तथानिर्देशः कर्तव्य इति चेत्; न; कार्ये कारणोपचारात् । ३ । स्यादेतत्–यद्ययमर्थ इष्टस्तथा निर्देशः कर्तव्यः यथा गमको भवति–आस्रवनिरोधे सति सवरः,

---

सवर किसे कहते हैं ? आस्रव-निरोध को सवर कहते है। अथवा, बन्ध-पदार्थ का निर्देश कर चुके हैं। अब आस्रव के प्रतिपक्षी, आस्रव के अन्तर-कथित सवर के निर्देश का काल प्राप्त है, अर्थात् सवर का प्रकरण है, अतः **'आस्रवनिरोधः संवर'** इस सूत्र की रचना की है। **प्रश्न**—यह आस्रवनिरोध क्या है ? **उत्तर**—

कर्मो के आगमन के निमित्तो का अप्रादुर्भाव ही आस्रवनिरोध है। बहुत विकल्प वाले कर्मागम के निमित्तो का वर्णन पूर्व मे किया है। उस कर्म-आगमन के निमित्तभूत मन, वचन, और काय के प्रयोग का, स्वात्मलाभ हेतु के सन्निधान से उत्पन्न नही होना, आस्रवनिरोध है। **प्रश्न**—यदि यह आस्रव का निरोध है तो इस समय सवर का वर्णन करना चाहिये ? **उत्तर**—सवर का वर्णन नही करना चाहिये, क्योकि—।। १ ।।

आस्रव का निरोध होने पर आस्रवपूर्वक कर्मो के आदान का अभाव ही सवर है। कारण के अभाव मे कार्य का अभाव होता है अतः आस्रव का निरोध होने पर तत्पूर्वक अनेक सुख-दु.खों के बीजभूत कर्मो का ग्रहण नही होना सवर है। यहाँ 'अभिमत' ऐसा वाक्य अध्याहृत होता है। आस्रव के निरोध को सवर (अभिमतः) माना है, ऐसा शब्दार्थ होता है ।। २ ।।

प्रश्न—यदि आस्रव का निरोध सवर इष्ट है तो सूत्र मे विभक्ति का निर्देश करना चाहिये, जिससे यह ज्ञात हो जाय कि आस्रव का निरोध होने पर सवर होता है या आस्रव के निरोध से

---

१. –हेतुत्वस-मु. । २. –तामित्यत्रे दा-मु , द , व । ३ –जनकस्य मु., द , व ।

आस्रवनिरोधादिति वा ? तन्न; कि कारणम् ? कार्ये कारणोपचारात् । यथा अन्नं वै प्राणा इति अन्नकार्येषु प्राणेषु अन्नोपचारः तथा आस्रवनिरोधकार्ये संवरे आस्रवनिरोधोपचारः कृतः ।

[1]**निरुध्यतेऽनेन निरोध इति वा । ४ ।** अथवा, नायं भावसाधनः निरुद्धिर्निरोध इति । किं तर्हि ? करणसाधनः–निरुध्यते येन स निरोध इति । तथा संवरशब्दोऽपि करणसाधनः–संव्रियतेऽनेनेति । कः पुनरसौ ? गुप्त्यादिः वक्ष्यमाणः । तेन [2]द्व्यभयं क्रियते इति सामानाधिकरण्यमुपपद्यते ।

योगविभागो वा । ५ । अथवा, योगविभागोऽत्र द्रष्टव्यः, आस्रवनिरोधः 'हितार्थिना कर्तव्यः' इति वाक्यशेषः । तस्य कि प्रयोजनमिति चेत् ? अत आह–संवर इति । संवरः प्रयोजनमस्येत्यर्थः । कः पुनरसौ ?

सवर होता है । **उत्तर**—विभक्ति के निर्देश के बिना भी कार्य मे कारण का उपचार कर लिया जाता है । जैसे—'अन्न ही प्राण है' यहाँ अन्न को प्राण का कारण होने से अन्न के कार्यभूत प्राणों मे अन्न का उपचार कर लिया जाता है, उसी प्रकार आस्रव-निरोध के कार्यभूत सवर मे आस्रव-निरोध का उपचार कर लिया जाता है अतः 'आस्रव का निरोध होने पर सवर होता है' इस अर्थ मे आस्रवनिरोध को ही सवर कह दिया है । अथवा, ।। ३ ।।

निरुध्यते अनेन जिसके द्वारा रोका जाता है, वह निरोध है । यहाँ भावसाधन निरोध शब्द नही है, अपितु करणसाधन 'जिसके द्वारा रोका जाता है' यह करण साधन है । सवरण किया जाता है जिसके द्वारा वह सवर है, इस प्रकार निरोध शब्द और सवर शब्द दोनो ही करण साधन है । यह सवर अथवा आस्रवनिरोध क्या है ? वह है—गुप्ति, समिति आदि स्वरूप, जिनका वर्णन आगे किया जाएगा । इससे कर्तृसाधन और करण साधन, इन दानो मे ही समान अधिकरण वन जाता है ।। ४ ।।

इनमे योगविभाग है । अथवा, इस सूत्र मे दो पद स्वतन्त्र मानकर योगविभाग कर लेना चाहिये । आस्रवनिरोध के साथ 'हितार्थी को करना चाहिये' इस वाक्य का अध्याहार करके एक वाक्य वनाना चाहिये । उसका प्रयोजन क्या है ? सवर इसका प्रयोजन है, अर्थात् हितार्थी प्राणी को आस्रव का निरोध करना चाहिये, आस्रव का निरोध ही सवर है । वह सवर क्या है ? ।। ५ ।।

---

१. गुप्त्यादिकेन । २. आस्रवनिरोध सवर इति ।

मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययकर्मसंवरणं संवरः । ६ । मिथ्यादर्शनादयः प्रत्यया व्याख्याताः, तदुपादानस्य कर्मण. संवरणं संवर इति निर्ध्रियते ।

स द्वेधा द्रव्यभावभेदात् । ७ । संवरो द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः ? द्रव्यभावभेदात् ।

संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः । ८ । आत्मनो द्रव्यादिहेतुकभ[१]वान्तरावाप्तिः संसार, तन्निमित्तक्रियापरिणामस्य निवृत्तिर्भावसवर इति व्यपदिश्यते ।

तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः । ९ । तस्य संसारकारणस्य [२]भावबन्धस्य निरोधे तत्पूर्वकस्य कर्मपुद्गलस्य निरासो द्रव्यसवर इति निश्चीयते ।

तद्विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनम् । १० । तस्य संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचन क्रियते । तद्यथा–

मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यङ्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टि - संयतासंयत-

---

मिथ्यादर्शनादि आस्रव कर्मो का सवरण करना सवर है। मिथ्यादर्शनादि आस्रवो का (कर्मागमन के कारणो का) वर्णन पूर्व मे किया है, कर्म के उन उपादान कारणो का सवरण करना सवर है ।। ६ ।।

द्रव्यसवर और भावसवर के भेद से सवर दो प्रकार का है ।। ७ ।।

ससार की कारणभूत क्रिया की निवृत्ति होना भावसवर है। आत्मा को द्रव्यादि निमित्तो से पर्यायान्तर-भवान्तर की प्राप्ति होना ससार है। इस ससार को कारणभूत क्रिया और परिणामो को निवृत्ति भावसवर है, ऐसा कहा जाता है ।। ८ ।।

कर्मागमन रूप भावो का निरोध होने पर तत्पूर्वक आने वाले कर्मपुद्गलो का रुक जाना, विच्छेद हो जाना, द्रव्यसवर है। उस ससार के कारणभूत भावबन्ध का निरोध होने पर तत्पूर्वक होने वाले कर्मपुद्गलों का निरास हो जाना, रुक जाना, विच्छेद हो जाना द्रव्यसवर है ।। ९ ।।

सवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान करने के लिए चौदह गुणस्थानो का विवेचन आवश्यक है अतः गुणस्थानो का विवेचन करते हैं ।। १० ।।

वे गुणस्थान चौदह है—मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि, असयत-

---

१ पर्याय । भावान्त–ता, अ. । २. भावसवरस्य मु । भावससारस्य द, ब ।

प्रमत्तसंयता-ऽप्रमत्तसंयताऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसाम्पराय - सूक्ष्मसाम्पराय - उपशमक-क्षपक-उपशान्त-क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ-सयोगि-अयोगकेवलिभेदात् चतुर्दशगुणस्थान-विकल्पः । ११ । मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टि· सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः असंयत-सम्यग्दृष्टि· संयतासंयत· प्रमत्तसंयतः अप्रमत्तसंयतः अपूर्वकरणोपशमकक्षपकौ अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकक्षपकौ सूक्ष्मसाम्परायोपशमकक्षपकौ उपशान्तकषायवीत-रागछद्मस्थः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ· सयोगकेवली अयोगकेवली चैवं भेदात् चतुर्दशगुणस्थानविकल्पो वेदितव्य· ।

तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः । १२ । तेषु मिथ्यादर्शनकर्मोदयेन वशीकृतो जीवो मिथ्यादृष्टि[1]रित्यभिधीयते । यत्कृत तत्त्वार्थानामश्रद्धानम् । तत्र ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितानि त्रीण्यपि ज्ञानानि मिथ्याज्ञानव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति । तस्य विकल्पा· प्राग्व्याख्याताः । ते सर्वे समासेन द्विधा व्यवतिष्ठन्ते—हिताहितपरीक्षा-विरहिताः परीक्षकाश्चेति । तत्रैकेन्द्रियादयः सर्वे संज्ञिपर्याप्तकवर्जिताः हिताहितपरीक्षा-विरहिता·, पर्याप्तका उभयेऽपि भवन्ति ।

सम्यग्दृष्टि, सयतासयत प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण उपशमकक्षपक, अनिवृत्ति बादर साम्पराय उपशमकक्षपक, सूक्ष्म साम्पराय उपशमकक्षपक, उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगकेवली और अयोगकेवली के भेद से गुणस्थानो के १४ विकल्प है ।। ११ ।।

मिथ्यादर्शन के उदय से वशीकृत आत्मा मिथ्यादृष्टि है, अर्थात् जिसके मिथ्यादर्शन का उदय है, वह मिथ्यादृष्टि है । इस मिथ्यात्व के कारण जीवो को तत्त्वार्थ श्रद्धान नही होता है। मिथ्यात्व के उदय के कारण ही ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाले मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, ये तीनो ज्ञान मिथ्याज्ञान या कुज्ञान कहलाते है । मिथ्यादर्शन के विकल्पो का वणन पूर्व मे कर चुके हैं । वे सर्व मिथ्यात्व सक्षेप से दो प्रकार के है, अर्थात् दो श्रेणियो मे बाटे जा सकते है । हिताहित की परीक्षा से रहित (असज्ञी) और हिताहित के परीक्षक (सज्ञी) । सज्ञी पर्याप्तक पचेन्द्रिय जीवो को छोडकर एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असज्ञी पर्याप्तक, अपर्याप्तक और सज्ञी अपर्याप्तक हिताहित की परीक्षा से रहित है और सज्ञी पर्याप्तक मे कोई हिताहित की परीक्षा से रहित है और कोई हिताहित के परीक्षक होते है अतः सज्ञी पर्याप्तक दोनो प्रकार के हैं ।। १२ ।।

---

१ –ष्टिरभि-मु·, द, ब ।

यदुदयाभावेऽनन्तानुबन्धिकषायोदयविधेयीकृतः सासादनसम्यग्दृष्टिः । १३ । तस्य मिथ्यादर्शनस्योदये निवृत्ते अनन्तानुबन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीव. सासादन-सम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते ।

मिथ्यादर्शनोदयनिवृत्ति कथमिति चेत् ? उच्यते–अनादिमिथ्यादृष्टिर्भव्यः षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सादिमिथ्यादृष्टिर्वा षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मक. सप्तविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा अष्टाविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा प्रथमसम्यक्त्व गृहीतुमारभमाण· शुभपरिणामाभिमुख. अन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्धया वर्धमानविशुद्धिः, चतुर्षु मनोयोगेषु अन्यतमेन मनोयोगेन, चतुर्षु वाग्योगेषु अन्यतमेन वाग्योगेन, औदारिक-वैक्रियिककाययोगयोरन्यतरेण काययोगेन वा समाविष्ट. [1]हीयमानान्यतमकषायः साकारोपयोगः, त्रिषु वेदेष्वन्यतमेन वेदेन संक्लेशविरहित. वर्धमानशुभपरिणामप्रतापेन सर्वकर्मप्रकृतीनां स्थिति ह्रासयन्, अशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धमपसारयन् शुभप्रकृतीनां रसमुद्वर्तयन् त्रीणि करणानि कर्तुमुपक्रमते–अथाप्रवृत्तकरणम्, अपूर्वकरणम्, अनिवृत्ति-

---

मिथ्यादर्शन के उदय का अभाव होने पर भी जिनकी आत्मा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से कलुषित हो रही है, जिनके छह आवली भीतर मिथ्यात्व का उदय निश्चित है, वे जीव सासादन-सम्यग्दृष्टि है । ऐसा कहा जाता है ।

प्रश्न—मिथ्यादर्शन के उदय की निवृत्ति कैसे होती है ? **उत्तर**—मोहनीय कर्म की २६ प्रकृतियो के सत्त्व वाला अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य तथा मोहनीय कर्म की २६, २७ या २८ प्रकृतियो के सत्त्व वाला सादि मिथ्यादृष्टि भव्य जब प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के उन्मुख होता है तब निरन्तर अनन्तगुणी विशुद्धि को बढाते हुए अन्तर्मुहूर्त्त तक शुभ परिणामो से सयुक्त होता है । उस समय वह चार मनोयोगों मे से किसी एक मनोयोग से, चार वचनयोगो मे से किसी एक वचनयोग से और औदारिक और वैक्रियिक मे से किसी एक काययोग से युक्त होता है । जिसके कषाय हीयमान है तथा जो साकार उपयोगी है, तीनो वेदो मे से (स्त्री, पुरुष, नपुसक) किसी एक वेद से युक्त है, जिसके सक्लेश परिणाम नही है, वर्धमान शुभ परिणामो के प्रताप से सर्व कर्मप्रकृतियो की स्थिति का खण्डन करता हुआ, अशुभ कर्मप्रकृतियो के अनुभाग बन्ध को दूर करता हुआ तथा शुभ कर्मप्रकृतियो के अनुभाग रस को बढाता हुआ तीन करणों (अध करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) को प्रारम्भ करता है । अध.करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण; इन तीनो करणो का काल अन्तर्मुहूर्त्त है और प्रत्येक का भी काल अन्तर्मुहूर्त्त है, क्योकि अन्तर्मुहूर्त्त के असख्यात भेद है । कालादि[2] लब्धि से आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति को अन्तः-

---

१. –माननूतनक–मु. । –मानन्यूनतमक-द. । २. कालादि लब्धियो का वर्णन दूसरे अध्याय मे किया जा चुका है ।

करणं चेति। तानि त्रीण्यपि करणानि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तकालानि। तत्र अन्तःकोटीकोटिस्थितिकानि कर्माणि कृत्वा अथाप्रवृत्तकरणस्य आदिसमयं कालादिलब्ध्युपेतः प्रविशति। इदं तु करणं प्राक् न कदाचिदपि प्रवृत्तम्, अत एवास्यान्वर्थ संज्ञा–यथेदं[1] करणं न तथा प्राक् प्रवृत्तमित्यथाप्रवृत्तिमिति। तत्राद्ये समये जघन्या विशुद्धिरल्पा, द्वितीये समये जघन्याऽनन्तगुणा, तृतीये समये जघन्या[2] अनन्तानन्तगुणा एवमादि अन्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तेः, ततः प्रथमसमये उत्कृष्टा अनन्तगुणा, [3]द्वितीयसमये उत्कृष्टा अनन्तानन्तगुणा एवमादि अथाप्रवृत्तकरणचरमसमयान्नेतव्या। एवमेते नानाजीवानामसंख्येयलोकप्रमाणाः परिणामविकल्पाः समा विषमाश्च भवति। [4]तेषा समुदायरूपमथाप्रवृत्तकरणम्। अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये जघन्या विशुद्धिरल्पा, तस्यैवोत्कृष्टा अनन्तगुणा, द्वितीयसमये जघन्या अनन्तगुणा तस्यैव उत्कृष्टा अनन्तगुणा, एवम् आ अन्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तेः। त एते नानाजीवानामसंख्येयलोकप्रमाणाः परिणामविकल्पा नियमेन विषमा एव परस्परतः। तेषां समुदायरूपमपूर्वकरणम्, अतएवास्यात्यन्तापूर्वत्वादन्वर्थसंज्ञा। अनिवृत्तिकरणकाले नानाजीवाना प्रथमसमये परिणामा एकरूपा

कोटाकोटी प्रमाण करके अथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय मे प्रवेश करता है। यह करण पूर्व मे कभी प्राप्त हुआ नही है अतएव इसका अथाप्रवृत्तकरण यह सार्थक नाम है। जैसे—यह करण प्राक् इस प्रकार कभी प्राप्त नही हुआ हैं। इसके प्रथम समय मे अल्प जघन्य विशुद्धि होनी है, दूसरे समय मे जघन्य अनन्तगुणी और तृतीय समय मे जघन्य अनन्तानन्त गुणी विशुद्धि होती है। इस प्रकार अनन्तगुणी विशुद्धि की वृद्धि अन्तर्मुहूर्त्त की समाप्ति तक होती रहती है। उसके वाद प्रथम समय मे उत्कृष्ट अनन्त गुणी, द्वितीय समय मे उत्कृष्ट अनन्तानन्तगुणी विशुद्धि होती है, विशुद्धि का यह क्रम अथाप्रवृत्तकरण के चरम (अन्तिम) समय तक चलता रहता है, अर्थात् अथाप्रवृत्तकरण परिणाम के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक परिणामो की विशुद्धि वढती जाती है। इस करण के वारी नाना जीवो की अपेक्षा असख्यात लोक प्रमाण परिणामो के विकल्प हैं, वे कोई सम है और कोई विपम हैं। इनका समुदाय रूप अथाप्रवृत्तकरण है। अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जघन्य विशुद्धि अल्प है, उसी अपूर्व करण के प्रथम समय मे उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। द्वितीय समय मे जघन्य विशुद्धि प्रथम समय से अनन्तगुणी है, उत्कृष्ट विशुद्धि उसमे अनन्तगुणी है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त तक वृद्धि करनी चाहिये, अर्थात् ऐसा क्रम अन्तर्मुहूर्त्त तक समझना चाहिये। इस प्रकार इस करण के वारी असख्य लोकप्रमाण नाना जीवो के परिणाम नियम से परस्पर विपम ही होते है। इनका समुदाय रूप अपूर्वकरण है, अपूर्व-अपूर्व स्वाद होने से इसकी अपूर्वकरण सज्ञा सार्थक है। इसलिये कि अत्यन्त अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते

---

१. अथेद मु.। २. –न्याऽनन्तगुणा-ता, अ, मू.। ३. द्वितीये मु., द., व.। द्वितीयसमयेनुत्कृ-ता। ४. एषा मु. ता।

एव, द्वितीयसमये ततोऽनन्तगुणा एकरूपा एव, एवम् आ अन्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तेः। तेषां समुदायरूपमनिवृत्तिकरणम्। अत एवास्यान्वर्थनाम परस्परतो निवृत्त्यभावादनिवृत्तिकरणमिति।

[1]तत्राथाप्रवृत्तकरणे [2]स्थितिखण्डनमनुभागखण्डनं गुणश्रेणी गुणसंक्रमो वा नास्ति केवलमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्यन् अप्रशस्तप्रकृतीरनन्तगुणानुभागहीना बध्नाति, प्रशस्तप्रकृतीश्चानन्तगुणरसवृद्धा,[3] स्थितिमपि पल्योपमसंख्येयभागहीनाम्। अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणयोः स्थितिखण्डनादीनि संभवन्ति स्थितिबन्धश्च क्रमेण हीयते। अशुभप्रकृतीनाम[4]नुभागबन्धोऽनन्तगुणहान्या शुभप्रकृतीना चानन्तगुणवृद्ध्या वर्तते। तत्रानिवृत्तिकरणस्य कालस्य संख्येयेषु भागेषु गतेष्वन्तरकरणमारभते, येन मिथ्यादर्शनकर्मण उदयघातः क्रियते। ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शन त्रिधा विभक्तं करोति—सम्यक्त्व मिथ्यात्व [5]सम्यङ्मिथ्यात्व चेति। एतासा तिसृणा प्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाना चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकाल प्रथमसम्यक्त्व भवति। तदन्ते जघन्येन

है। अनिवृत्तिकरणकाल के प्रथम समय मे नाना जीवो के परिणाम एक रूप ही होते है, द्वितीय समय मे उससे अनन्त गुणे विशुद्ध होकर भी एक रूप ही रहते है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम होते हैं। इन सबका समुदाय रूप अनिवृत्तिकरण है। इन परिणामो मे परस्पर निवृत्ति-भेद न होने से इनकी अनिवृत्तिकरण यह संज्ञा सार्थक है।

अथाप्रवृत्तकरण मे स्थितिखण्डन, अनुभागखण्डन, गुणसंक्रमण और गुणश्रेणी निर्जरा नही है, केवल अनन्तगुणी विशुद्धि की वृद्धि से अप्रशस्त प्रकृतियो का अनन्तगुणा अनुभागहीन और शुभप्रकृतियो का अनुभाग अनन्तगुण रस की वृद्धि से बाँधता है। स्थिति भी पल्योपम के संख्येय भाग से हीन बाँधता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामो मे स्थितिखण्डन अनुभागखण्डन, गुणसंक्रमण और गुणश्रेणी निर्जरा होती है तथा स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तरहीन होता जाता है। अप्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग बन्ध अनन्तगुणाहीन और प्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग अनन्त गुणाधिक बँधता है। उसमे अनिवृत्तिकरणकाल के संख्यात भाग बीत जाने पर अन्तरकरण प्रारम्भ होता है। अन्तरकरण परिणाम के द्वारा मिथ्यादर्शन कर्म के उदय का घात किया जाता है। अर्थात् इन परिणामो से मिथ्यादर्शन का उदय नष्ट होकर उपशम हो जाता है। उसके बाद अन्तरकरण के चरम समय मे मिथ्यादर्शन के तीन खण्ड किये जाते है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियो का तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार—कुल सात प्रकृतियो के उदय का अभाव होने पर अन्तर्मुहूर्तकाल तक

---

१ अत्राथा–मु, द, ब.। २ –णेपिस्थि–मु, द, ब.। ३ –वृद्ध्या मु.। ४ नुभवव-मु.। ५ सम्यक्त्वमि –ता श्र, मू।

एकसमये उत्कर्षेणावलिकाषट्केऽवशिष्टे यदा अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानामन्यतमस्योदयो भवति तदा सासादनसम्यग्दृष्टिरित्युच्यते। अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा-आसादनं विराधनम् सहासादनेन वर्तत इति सासादना, सासादना सम्यग्दृष्टिर्यस्य सोऽयं सासादनसम्यग्दृष्टिरिति। तस्य मिथ्यादर्शनोदयाभावेऽपि अनन्तानुबन्ध्युदयात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानान्येव भवन्ति। अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा–अनन्तं मिथ्यादर्शनं तदनुबन्धनादनन्तानुबन्धीति। स हि मिथ्यादर्शनोदयफलमापादयन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति।

सम्यङ्मिथ्यात्वोदयात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः। १४। सम्यङ्मिथ्यात्वसंज्ञिकायाः प्रकृतेरुदयात् आत्मा क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रवोपयोगापादितेषत्कलुषपरिणामवत् तत्त्वार्थश्रद्धानाश्रद्धानरूपः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते। अत एवास्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि इत्युच्यन्ते।

सम्यक्त्वोपेतश्चारित्रमोहोदयादिपा (यादापा) दिताऽविरतिरसंयतसम्यग्दृष्टिः। १५। औपशमिकेन क्षायोपशमिकेन क्षायिकेण वा सम्यक्त्वेन समन्वितः चारित्र-

---

प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। जब उस प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवली शेष रहता है, तब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ मे से किसी एक कषाय का उदय आ जाने से यह जीव सम्यक्त्व की विराधना करके सासादन सम्यग्दृष्टि बन जाता है। आसादना-विराधना ये एकार्थवाची हैं, सम्यक्त्व की आसादना के साथ रहे, उसे सासादन कहते है, अर्थात् आसादना सहित सम्यग्दर्शन जिसके है वह सासादन सम्यग्दृष्टि है अतः सासादन सम्यग्दृष्टि यह सार्थक सज्ञा है। मिथ्यादर्शन के उदय का अभाव होने पर भी इसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से मति, श्रुत और अवधि, ये तीन ज्ञान अज्ञान हो जाते है। अनन्तानुबन्धी कषाय नाम सार्थक है, क्योकि अनन्त ससार के कारणभूत अनन्त मिथ्यादर्शन को बाँधने वाली होने से यह अनन्तानुबन्धी कहलाती है। यह कषाय मिथ्यादर्शन के फल उत्पन्न करती है तथा मिथ्यादर्शन मे प्रवेश करा देती है, अर्थात् मिथ्यादर्शन के उदय मे आने का रास्ता खोल देती है।। १३।।

सम्यङ्-मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यङ्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदो के उपभोग से जैसे कुछ मिला हुआ मद परिणाम होता है उसी सम्यङ्-मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से आत्मा तत्त्वार्थ श्रद्धान और अश्रद्धान रूप मिश्र परिणाम वाला होता है। यह सम्यङ्मिथ्यादृष्टि या तीसरे गुणस्थान वाला कहा जाता है। इसके तीनो ज्ञान अज्ञान से मिश्रित होते है।। १४।।

सम्यग्दर्शन सहित होकर भी जो चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने से विरत भावो से रहित है, वह असयत सम्यग्दृष्टि है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन से युक्त

मोहोदयात् अत्यन्तमविरतिपरिणामप्रवणोऽसंयतसम्यग्दृष्टिरिति व्यपदिश्यते। तस्य त्रीण्यपि ज्ञानानि सम्यग्ज्ञानव्यपदेशमर्हन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानसमावेशात्। इत ऊर्ध्वं गुणस्थानेषु नियमेन सम्यक्त्वम्।

द्विविषयविरत्यविरतिपरिणतः संयतासंयतः । १६ । एतदादीनि गुणस्थानानि चारित्रमोहस्य क्षयोपशमादुपशमात् क्षयाच्च भवन्ति। तत्रानन्तानुबन्धिकषायाः क्षीणाः स्युरक्षीणा वा, [1]ते च अप्रत्याख्यानावरणकषायाश्च सर्वघातिन एव, तेषामुदयक्षयात् सदुपशमाच्च, प्रत्याख्यानावरणकषायाः सर्वघातिन एव, तेषामुदये सति संयमलब्धावसत्याम्, सञ्ज्वलनकषायाः नव नोकषायाश्च देशघातिन एव, तेषामुदये सति संयमासंयमलब्धिर्भवति। तद्योग्यया प्राणीन्द्रियविषयया विरताविरतवृत्त्या परिणतः संयतासंयत इत्याख्यायते।

परिप्राप्तसंयमः प्रमादवान् प्रमत्तसंयतः । १७ । अनन्तानुबन्धिकषायेषु क्षीणेष्व-

होकर भी जो आत्मा चारित्रमोहकर्म के उदय के कारण अत्यन्त अविरत परिणाम वाला है अर्थात् जिसके लेश मात्र भी चारित्र नहीं है, उसे असंयत सम्यग्दृष्टि वा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहते है। सम्यग्दर्शन सहित होने से इसके तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाते है। इससे ऊपर के पाँचवें आदि गुणस्थानों में नियम से सम्यग्दर्शन होता ही है ।। १५ ।।

विरताविरत परिणाम होने से संयतासंयत नामक पाँचवाँ गुणस्थान होता है। पाँचवें से आगे के गुणस्थान चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से होते है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी का क्षय हो जाता है और क्षायोपशमिक एवं औपशमिक सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी का उपशम रहता है अतः अनन्तानुबन्धी क्षीण या अक्षीण (क्षय या उपशम) रूप हो, सर्वघाती अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदयाभावी क्षय (वर्तमान में उदय में आने वाले निषेकों का बिना फल दिये झड जाना) या सदवस्थारूप उपशम (आगामी उदय में आने वाले निषेकों का सत्ता में अवस्थित रहना) होने पर तथा सर्वघाती प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से संयमलब्धि नहीं होती है। देशघाती संज्वलन एवं हास्यादि नोकषाय का उदय रहता है तथापि अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव होने से संयमासंयमलब्धि होती है। इस संयमासंयम लब्धि के होने पर उसके योग्य प्राणी और इन्द्रिय विषयक विरताविरत परिणाम वाला संयतासंयत नामक पंचम गुणस्थानवर्ती होता है ।। १६ ।।

संयम प्राप्त होते हुए भी जो प्रमादयुक्त है, वह प्रमत्तसंयत है। अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षय वा उपशम होने पर वा प्राप्त उदय के क्षय हो जाने पर अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान स्वरूप

१. तथा मु. व.।

क्षीणेषु वा प्राप्तोदयक्षयेषु अष्टानां च कषायाणा उदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् सञ्ज्वलननोकषायाणाम् उदये संयमलब्धिर्भवति । तन्मूलसाधनोपपादितोपजननं[1] बाह्यसाधनसन्निधानाविर्भावमापद्यमानं प्राणेन्द्रियविषयभेदात् द्वितयी वृत्तिमास्कन्दन्तं सयमोपयोगमात्मसात्कुर्वन् पञ्चदशविधप्रमादवशात् किञ्चित्प्रस्खलितचारित्रपरिणामः प्रमत्तसयत इत्याख्यायते ।

प्रमादविरहितोऽप्रमत्तसंयतः । १८ । पूर्ववत् संयममास्कन्दन् पूर्वोक्तप्रमादविरहात् अविचलितसंयमवृत्ति· अप्रमत्तसंयतः समाख्यायते । इत ऊर्ध्वं गुणस्थानानां चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवत.–उपशमकश्रेणी क्षपकश्रेणी चेति । यत्र मोहनीयं कर्मोपशमयन्नात्मा आरोहति सोपशमकश्रेणी । यत्र तत्क्षयमुपगमयन्नुद्गच्छति सा क्षपकश्रेणी ।

अपूर्वकरणपरिणाम उपशमकः क्षपकश्चोपचारात् । १९ । प्राग्व्याख्यातोऽपूर्वकरणपरिणामः, तद्विशुद्धिवशेन श्रेणीमारोहयन्नपूर्वकरण इति व्यपदेशमश्नुते । तत्र

आठ कषायो के वर्तमान मे उदय मे आने वाले निषेको का उदयाभावी क्षय तथा आगामी उदय मे आने वालो का सदवस्थारूप उपशम एव सज्वलन और हास्यादि नोकषायो का उदय होने पर सयमलब्धि होती है तब आभ्यन्तर सयम परिणामो के अनुसार बाह्य साधनो के सन्निधान को स्वीकार करता हुआ यह सयम के योग्य प्राणीसयम और इन्द्रियसयम का पालन करता है, परन्तु पन्द्रह प्रमादो के वशीभूत होकर कभी-कभी चारित्र-परिणामो से स्खलित सा होता रहता है अतः प्रमत्तसयत कहलाता है ।। १७ ।।

जो प्रमाद से रहित है, वह अप्रमत्तसयत कहलाता है, पूर्ववत् इन्द्रियसयम एव प्राणी-सयम का पालन करता हुआ जब पूर्वोक्त प्रमाद से रहित होने के कारण अविचलित सयम का पालन करता है, वह अप्रमत्तसयत कहलाता है । इसके आगे चार गुणस्थानो मे दो-दो श्रेणियाँ हो जाती है, उपशमक श्रेणी और क्षपक श्रेणी । जहाँ आत्मा चारित्रमाहनीय कर्म का उपशम करता हुआ आगे बढता है, वह उपशम श्रेणी है और जहाँ आत्मा चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ आगे बढता है, वह क्षपक श्रेणी कहलाती है ।। १८ ।।

अपूर्वकरण परिणाम भी उपचार से क्षपक एव उपशमक कहलाते हैं । पूर्व मे कथित अपूर्वकरण परिणाम है, वे विशुद्धि के वश से श्रेणी मे आरोहण करते हुए अपूर्वकरण इस नाम को प्राप्त होते है, अर्थात् पूर्वकथित अपूर्वकरण परिणाम मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व कर्म का उपशम करते थे, यहाँ पर चारित्र मोहनीय की अपेक्षा से वर्णन है और यह आठवे गुणस्थान का कथन है । यद्यपि इस गुणस्थान मे न तो किसी भी कर्मप्रकृति का उपशम हाता है और न क्षय

---

१ –पजन-मु , श्र., द , मू. ।

कर्मप्रकृतीनां नोपशमो नापि क्षयः किन्तु पूर्वत्रोत्तरत्र च उपशम क्षय[1] वाऽपेक्ष्य उपशमकः क्षपक इति च घृतघटवदुपचर्यंते ।

अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिवादरसाम्परायौ ।२०। पूर्वोक्तोऽनिवृत्तिपरिणामः, तद्वशात् कर्मप्रकृतीनां स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसाम्परायावित‍ि भाष्येते । तत्र उपशमनीया. क्षपणीयाश्च प्रकृतय उत्तरत्र वक्ष्यन्ते ।

सूक्ष्मभावेनोपशमात् क्षपण.च्च सूक्ष्मसाम्परायौ । २१ । साम्पराय. कषायः, स यत्र सूक्ष्मभावेनोपशान्ति क्षय च आपद्यते तौ सूक्ष्मसाम्परायौ वेदितव्यौ ।

सर्वस्योपशमात् क्षपणाच्च उपशान्तकषायः क्षीणकषायश्च । २२ । सर्वस्य मोहस्योपशमात् क्षपणाच्च उपशान्तकषायः क्षीणकपाय इति च व्यपदेशमर्हत· ।

घातिकर्मक्षयादाविर्भूतज्ञानाद्यतिशयः केवली । २३ । घातीकर्मणामत्यन्तक्षयात् आविर्भूतस्वभावाऽचिन्त्यकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतिर्भगवान् केवलीत्यभिलप्यते ।

होता है तथापि आगे होने वाले उपशम और क्षय की दृष्टि से इस गुणस्थान मे भी उपशमक और क्षपक का व्यवहार घी के घड़े के समान उपचार से हो जाता है ।। १९ ।।

अनिवृत्ति परिणामो के कारण स्थूल रूप से कर्मप्रकृतियो का क्षय वा उपशम करने वाला होने से उपशमक और क्षपक बादरसाम्पराय अनिवृत्तिकरण कहलाना है। पूर्वोक्त अनिवृत्ति परिणाम के वश से (विशुद्धि से) स्थूल भाव से कर्मप्रकृतियो का उपशमक और क्षय करने वाला होता है। यहाँ स्थूल साम्पराय (कषाय) होने से यह बादर साम्पराय कहलाता है। अनिवृत्तिकरण परिणामो से उपशमनीय और क्षपणीय प्रकृतियो का वर्णन आगे करेंगे ।। २० ।।

सूक्ष्म भाव से क्षय वा उपशम करने वाला सूक्ष्म साम्पराय कहलाता है। साम्पराय (यानी कपाय) का सूक्ष्म रूप से उपशमन या क्षय करने वाला सूक्ष्म साम्परायिक उपशमक-क्षपक कहलाता है। अर्थात् जिन परिणामो से सूक्ष्म कपायो का शमन या क्षय किया जाता है, उन परिणामो या गुणस्थानो का नाम सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक-क्षपक है ।। २१ ।।

सम्पूर्ण रूप से मोहनीय कर्म का जहाँ उपशमन होता है, उस गुणस्थान वा आत्मा का नाम उपशान्त कपाय तथा क्षय करने वाला क्षीणकपाय इस सज्ञा को प्राप्त होता है ।। २२ ।।

चार घातिया कर्मो के अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनके अचित्य केवलज्ञानादि अतिशय प्रगट हुए हैं, वे केवली कहलाते है ।। २३ ।।

---

१. चापेन्ता, अ, मू ।

स द्विविधो योगभावाभावभेदात् । २४ । स केवली द्विधा भिद्यते । कुतः ? योगभावाभावभेदात्–योगवान् सयोगीति गीयते तदभावादयोगीति च–

तत्र मिथ्यात्वप्रत्ययस्य कर्मणः तदभावे संवरः शेषे । २५ । तत्र मिथ्यात्व-प्राधान्येन यत्कर्मास्रवति तन्निरोधात् शेषे सासादनसम्यग्दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति । किं पुनस्तत् ? मिथ्यात्वनपुंसकवेदनरकायुर्नरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुण्ड[1]संस्थानाऽसंप्राप्त[2]सृपाटिकासंहनननरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्याऽऽतपस्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तकसा-धारणशरीरसंज्ञकषोडशप्रकृतिलक्षणम् ।

असंयमस्त्रिविधोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्या[3]ख्यानोदयविकल्पात् ।२६। असंयम-स्त्रिविधो वेदितव्यः । कुतः ? अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानविकल्पात् ।

तत्प्रत्ययस्य तदभावे संवरः । २७ । तत्प्रत्ययस्य कर्मणः तदभावे संवरोऽवसेयः । तद्यथा – निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्ध्यनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभस्त्रीवेदतिर्यगा -

---

योग के सद्भाव और अभाव के भेद से केवली दो प्रकार के होते है—योगसहित सयोगकेवली और योगरहित अयोगकेवली । इस प्रकार केवली दो प्रकार के होते है ।। २४ ।।

मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाले कर्मो का मिथ्यात्व के अभाव मे सवर हो जाता है । मिथ्यात्व की प्रधानता से जो कर्म आते है, मिथ्यात्व का निरोध हो जाने से उन कर्मप्रकृतियो का शेप सासादनसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानो मे आस्रव रुक जाता है, सवर हो जाता है । **प्रश्न**—मिथ्यात्व निमित्तक बँधने वाली कर्म-प्रकृति कोन-कौन सी है ? **उत्तर**—मिथ्यात्व, नपुसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डक सस्थान, असप्राप्तासृपाटिकासहनन, नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर, ये सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के निमित्त से बँधती है । मिथ्यात्व के सम्बन्ध से, मिथ्यात्व के उदय से ही इनका बन्ध होता है, अतः मिथ्यात्व के अभाव मे इन प्रकृतियो का वध रुक जाता है ।। २५ ।।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय के उदय से होने वाला असयम तीन प्रकार का है ।। २६ ।।

उस असयम के अभाव में तत् निमित्तक बँधने वाली कर्मप्रकृतियो का भी सवर हो जाता है, अर्थात् अनन्तानुबन्धी आदि जन्य अविरति का अभाव होता है, वैसे तज्जन्य कर्मप्रकृतिया का भी आना रुक जाता है । जैसे—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-

---

१. –ण्डकस –मु. । २ –प्तासृ –मु. । ३. –नविक –श्र ।

युस्तिर्यग्गतिचतु:संस्थानचतु.संहननतिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योद्योताऽप्रशस्तविहायोगतिदुर्भग-दु:स्वरानादेयनीचैर्गोत्रसञ्ज्ञकानां पञ्चविशतिप्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिकषायोदयकृता-सयमप्रधानास्रवाणाम् एकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्टचन्ता बन्धका·, तदभावे तासामुत्तरत्र संवरः । अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभमनुष्यायुर्मनुष्यगत्यौदारिक-शरीरतदङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहननमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनामकाना दशाना प्रकृतीनाम् अप्रत्याख्यानकषायोदयकृतासंयमहेतुकानाम् एकेन्द्रियादयः असयतसम्यग्दृष्टचन्ता बन्धकाः, तदभावादूर्ध्वं तासा संवरः । सम्यङ्मिथ्यात्वगुणेनायुर्न बध्यते । प्रत्याख्यानावरण-क्रोधमानमायालोभानां चतसृ्णा प्रकृतीना प्रत्याख्यानकषायोदयकारणासयमास्रवाणाम् एकेन्द्रियप्रभृतयः सयतासंयतावसाना बन्धका·, तदभावात् उपरिष्टात् तासा सवर· ।

प्रमादोपनीतस्य तदभावे निरोधः । २८ । प्रमादोपनीतस्य कर्मणः प्रमत्तसंयतादूर्ध्वं तदभावान्निरोधः प्रत्येतव्यः । कि पुनस्तत् ? असद्वेद्याऽरतिशोकाऽस्थिराऽशुभाऽयश-

---

लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यञ्चायु, तिर्यञ्चगति, चार सस्थान, चार सहनन, तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और नीच गोत्र, इन अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय मे बँधने वालो पच्चोस प्रकृतियो का एकेन्द्रिय आदि सासादन सम्यग्दृष्टि पर्यन्त जीव बन्धक है। अनन्तानुबन्धो का अभाव हो जाने से तृतोय आदि गुणस्थानवर्ती जीवो के इन पच्चीस प्रकृतियों का बँधना (आस्रव) रुक जाता है, अर्थात् सवर हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग, वज्रर्षभ नाराच सहनन और मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, इन अप्रत्याख्यावरण कषाय के उदय से जनित असयम से बँधने वाली दस प्रकृतियो का एकेन्द्रिय आदि असयत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त जीव बधक होते है, अप्रत्याख्यान कषाय का अभाव हो जाने से आगे के गुणस्थानो मे इनका सवर हो जाता है, बँध-व्युच्छित्ति हो जाती है। सम्यङ्मिथ्यात्व रूप तृतीय गुणस्थान मे किसी भी आयु का बन्ध नही होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया और लोभ, इन चार कर्मप्रकृतियो का प्रत्याख्याना-वरण कषाय के निमित्त से हो बन्ध होता है अत· एकेन्द्रिय आदि सयतासयत नामक पचम गुणस्थान पर्यन्त जीव इसके बन्धक होते है। उसके आगे प्रमत्तादि गुणस्थानो मे प्रत्याख्यानावरण जनित अविरति का अभाव होने से उपरितन गुणस्थान मे इन चार प्रकृतियो का आस्रव नही होता है, अतः सवर हो जाता है ।। २७ ।।

प्रमाद के कारण बँधने वाली कर्मप्रकृतियो का प्रमाद के अभाव मे उपरितन गुणस्थानो मे सवर हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये। जैसे—असाता वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशस्कीर्ति, इन प्रमत्तादि निमित्तक बँधने वाली कर्मप्रकृतियो का मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती एकेन्द्रिय से लेकर प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान तक बन्ध होता है, आस्रव होता है। इससे उपरितन सातवे आदि गुणस्थानों मे प्रमत्त अवस्था का अभाव होने से इनका सवर हो जाता है, अप्रमत्त अवस्था मे इनका बन्ध नही होता। देव आयु के आस्रव का तो प्रमाद ही कारण है और

स्कीर्तिविकल्पम् । देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुः, अप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः, तत ऊर्ध्वं तस्य संवरः ।

कषायास्रवस्य तन्निरोधे निरासः । २९ । कषाय एवास्रवो यस्य कर्मणः न प्रमादादिस्तस्य तन्निरोधे तन्निरासोऽवसेयः । स एव कषायः प्रमादादिविरहितः तीव्रमध्यमजघन्यभावेन त्रिषु गुणस्थानेषु व्यवस्थितः । तत्राऽपूर्वकरणस्यादौ सख्येयभागे द्वे कर्मप्रकृती निद्राप्रचले बध्येते । तत ऊर्ध्वं सख्येयभागे त्रिशत्प्रकृतयः– देवगतिपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसस्थानवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गवर्णगन्धरसस्पर्शदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्माणतीर्थंकरनामाख्याः वध्यन्ते । तस्यैव चरमसमये चतस्रः प्रकृतयः हास्यरतिभयजुगुप्सासंज्ञा बन्धमुपयान्ति । ता एताः तीव्रकषायास्रवा., तदभावान्निर्दिष्टाद्भागादूर्ध्वं संव्रियन्ते । अनिवृत्तिबादरसाम्परायस्यादिसमयादारभ्य सख्येयेषु भागेषु पुंवेदक्रोधसंज्वलनौ बध्येते । तत ऊर्ध्वं शेषे शेषे (शेषेषु) संख्येयेषु भागेषु मानसंज्वलनमायासंज्वलनौ बन्धमुपगच्छतः । तस्यैव

समोप का अप्रमाद भो । अत. अप्रमत्त नामक सातवे गुणस्थान पर्यन्त हो देव आयु का बन्ध होता है, उसके आगे उसका भी संवर हो जाता है ।। २८ ।।

कषाय के निमित्त से वँधने वाली कर्मप्रकृतियो का कषाय के अभाव में सवर हो जाता है । कषाय ही जिन कर्मो के आस्रव का कारण है प्रमादादि नही, उन कर्मप्रकृतियो का कषाय के अभाव मे सवर हो जाता है । प्रमादादि रहित वे कषाये उपरितन तीन गुणस्थानो मे तीव्र, मध्यम और जघन्य रूप से विद्यमान रहती है । अपूर्वकरण नामक आठवे गुणस्थान की आदि के सख्यात भाग मे निद्रा और प्रचला ये दो कर्मप्रकृतियाँ वँधती है, उसके ऊपर नही । उसके ऊपर उसी गुणस्थान के सख्येय भाग मे देवगति, पचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर, समचतुरस्र सस्थान, वैक्रियिक अगोपाग, आहारक अगोपाग, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, अपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येक शरीर स्थिर शुभ-सुभग, सुस्वर, आदेय, तीर्थंकर और निर्माण, ये तीस प्रकृतियाँ वँधती है । उसी गुणस्थान के चरम समय मे हास्य, रति, भय और जुगुप्सा, ये चार प्रकृतियाँ वँधती है । ये तीव्र कपायजन्य होने वालो प्रकृतियाँ उसके अभाव मे निर्दिष्ट भाग से आगे सवर को प्राप्त हो जाती है, इनका आना रुक जाता हे । अनिवृत्तिवादर-साम्पराय के प्रथम समय से लेकर सख्येय भागो मे पुरुपवेद और सज्वलन क्रोध का वध होता है, उसके ऊपर शेप सख्येय भागो मे मान सज्वलन और माया सज्वलन कपाय का वध होता रहता है, उसी गुणस्थान के चरम समय तक सज्वलन लोभ का वध होता रहता है । ये पाँच मध्यम कपाय से वँधने वाली कर्मप्रकृतियाँ हैं । अतः निर्दिष्ट भागों से ऊपर इनका सवर हो जाता है । अर्थात् नवमे गुणस्थान मे सख्येय भाग के ऊपर पुरुपवेद

चरमसमये लोभसञ्ज्वलनो बन्धमेति । ता एताः प्रकृतय मध्यमकषायास्रवा:, तदभावे निर्दिष्टस्य भागस्योपरिष्टात् सवरमवाप्नुवन्ति । पञ्चाना ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणाना यशस्कीर्तेरुच्चैर्गोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणां च मन्दकषायास्रवाणां सूक्ष्मसाम्परायो बन्धकः । तदभावादुत्तरत्र तेषा संवर॰ ।

केवलयोगनिमित्तं सद्वेद्यं तदभावात्तस्य निरोधः । ३० । केवलेनैव योगेन सद्वेद्यस्योपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगिना बन्धो भवति । तदभावादयोगकेवलिनस्तस्य सवरो भवति ।

अत्राह्–आस्रवनिरोधः संवर इत्या[1]ख्यातम् । तत्रेदमनिर्ज्ञातम्–आत्मलाभहेतु-सन्निधाने सत्यास्रवतां कर्मणा केन निरोधो भवतीति ? तत्र वक्तव्यम्–अनेनास्रवनिरोधः इति ? अत्रोच्यते–

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।। २ ।।

और सज्वलन क्रोध का, उसके ऊपर सख्येय भागो मे सज्वलन मान और माया का तथा उस गुणस्थान के अन्त समय मे सज्वलन लोभ का आना रुक जाता है। पॉच ज्ञानावरण, चार दशनावरण, यशस्कीर्त्ति, उच्च गोत्र और अन्तराय, ये मन्द कषाय को आने वाली-बँधने वाली कर्मप्रकृतियाँ है अत इनका बन्ध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवे गुणस्थान तक होता है। उसके उपरितन गुणस्थानो मे कषाय का अभाव होने से इन प्रकृतियो का आना रुक जाता है-सवर हो जाता है ।। २९ ।।

केवलयोग के निमित्त से बँधने वाली साता वेदनोय कर्मप्रकृति का बध उपशातकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलो तक होता है, इसके उपरितन अवस्था मे योग रूप कारण का अभाव होने से साता वेदनीय के बध रूप कार्य का भी अभाव हो जाता है अत. अयोगकेवली और सिद्धावस्था मे सर्व कर्मो का सवर हो जाता है ।। ३० ।।

प्रश्न—आस्रव-निरोध को सवर कहा है। वहाँ यह नही जाना गया कि आत्मलाभ के कारणो का सन्निधान होने पर आते हुए कर्मो का निरोध किसके द्वारा किया जाता है? यहाँ यह बताना चाहिये कि इससे आस्रव का निरोध होता है? **उत्तर**—आस्रव-निरोध के कारण कहते है—

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर होता है ।। २ ।।

---

१ इति व्याख्या-मु., मू , ता , द., व ।

संसारकारणगोपनाद् गुप्तिः । १ । यतः संसारकारणात् आत्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः । भावे क्तिः । अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिरिति । कर्तृसाधनो वा क्तिन् गोपयतीति गुप्तिरिति ।

सम्यगयनं समितिः । २ । परप्राणिपीडापरिहारेच्छया सम्यगयनं समितिः । संपूर्वादिणो भावे क्तिः । कर्तरि वा क्तिन् ।

इष्टे स्थाने धत्त इति धर्मः । ३ । आत्मानमिष्टे नरेन्द्रसुरेन्द्रमुनीन्द्रादिस्थाने धत्त इति धर्मः । उणादिषु निष्पादितः ।

स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः । ४ । शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा वेदितव्याः ।

अनुप्रपूर्वादीक्षे भावादिसाधनः अकारः । ५ । अनुप्रपूर्वादीक्षेर्भावसाधनोऽकार. ।

परिषह्यत इति परीषहः । ६ । परिपूर्वात्सहेः कर्मण्यकारः, परिषह्यत इति

ससार के कारणो से आत्मा के गोपन वा रक्षण को **गुप्ति** कहते है। यहाँ भाव मे 'क्ति' प्रत्यय होकर 'स्त्रीलिंग' मे गुप्ति शब्द बना है जिससे गोपन हो वह गुप्ति है, यह अपादान साधन अथवा 'जो रक्षण करे वह गुप्ति' यह कर्तृसाधन भी गुप्ति शब्द बनता है ।। १ ।।

सम्यग् अयन गमन समिति है। दूसरे प्राणियो की रक्षा की भावना से सम्यक् प्रवृत्ति करने को समिति कहते है। स उपसर्गपूर्वक इण् गत्यर्थक धातु से भाव अर्थ मे 'क्ति' प्रत्यय से 'समिति' शब्द की निष्पत्ति होती है। अथवा कर्त्ता अर्थ मे 'क्तिच्' प्रत्यय करने से भी समिति शब्द सिद्ध होता है ।। २ ।।

इष्ट स्थान मे जो धरता है, वह **धर्म** है। जो आत्मा को नरेन्द्र, सुरेन्द्र, मुनीन्द्र आदि स्थानो मे धरता है, वह धर्म है। इस धर्म शब्द की सिद्धि उणादि गण से हो जाती है, धारण अर्थ वाली धृ धातु से मन् प्रत्यय होने से धर्म शब्द बनता है ।। ३ ।।

शरीरादि के स्वभाव का बार-बार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है, ऐसा जानना चाहिये ।। ४ ।।

अनु और प्र उपसर्गपूर्वक ईक्ष् धातु से भावसाधन मे 'अकार' होने से अनुप्रेक्षा शब्द बनता है ।। ५ ।।

जो सही जाँय वे परीषह हैं, परि उपसर्गपूर्वक सह धातु से कर्म अर्थ मे 'अकार' प्रत्यय होकर परीषह शब्द की निष्पत्ति होती है। **प्रश्न**—इसमे अकार कहाँ से आता है ? **उत्तर**—पचादि गण मे पाठ होने से 'अच्' प्रत्यय हो जाता है। **प्रश्न**—'अच्' प्रत्यय तो कर्त्ता अर्थ मे होता है ?

परीषहः। कथमकारः? पचादिलक्षणोऽच्। ननु स कर्तरि विहितः। घञ् तर्हि; स करणाधिकरणयोर्विहितः। घञ् तर्हि कर्मणि, एवमपि परीषाह इति प्राप्नोति, **"अनुबन्धकृतमनित्यम्"** यथा ज्योतिषमिति। अथवा बहुलवचनात् कर्मण्यकारः, **"अन्यस्यापि"** इति दीर्घः। परीषहस्य जयः परीषहजयः।

चारित्रशब्दो व्याख्यातः । ७ । **"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"** [त.सू.१।१] इत्यत्र चारित्रशब्दो व्याख्यातः। चर्यते तच्चारित्रमिति।

संवृण्वतो गुप्त्यादयः करणम् । ८ । संवरितुः सवरणक्रियायाः साधकतमत्वविवक्षायां गुप्त्यादीनां करणभावः प्रत्येतव्यः।

गुप्तिश्च समितिश्च धर्मश्चानुप्रेक्षा च परीषहजयश्च चारित्रं च गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणि तैर्गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैरिति।

उत्तर—तो करण और अधिकरण अर्थ मे होने वाला 'घञ्' प्रत्यय कर लेना चाहिए। **प्रश्न**—यहाँ तो करण अधिकरण रूप अर्थ नही है किन्तु 'परिषह्यते इति परीषहः' ऐसा कर्म अर्थ है। **उत्तर**—तो कर्म अर्थ मे भी घञ् प्रत्यय हो जाता है अतः वह कर लेना चाहिए। **प्रश्न**—यदि घञ् प्रत्यय किया जाएगा तो पूर्व को दीर्घ होने से 'परीषाह' ऐसा शब्द बनेगा। **उत्तर**—व्याकरण को एक परिभाषा है कि 'अनुबन्धकृतमनित्य' अनुबध से किया हुआ कार्य अनित्य होता है अर्थात् घञ् में ञ आदि इत् सज्ञक अनुबन्धो के कारण जो वृद्धि होती है वह अनित्य रूप से होतो है, इसलिए यहाँ नही हुआ है। जिस प्रकार 'ज्योतिष' यहाँ पर घञ् प्रत्यय होने पर भी वृद्धि नही हुई है, यदि वृद्धि हो जाती तो ज्यौतिष हो जाता, परन्तु वह नही हुआ इसलिए वह ज्योतिष रह गया है। उसो प्रकार यहाँ परीषह मे भी वृद्धि नही हुई है। अथवा बहुल वचन से कर्म अर्थ मे भी अकार प्रत्यय हो जाता है। 'अन्यस्यापि' इस सूत्र से परीषह शब्द मे 'परि' उपसर्ग की 'रि' को 'री' ऐसा दोर्घ हो जाता है। परीषह का जीतना परीषहजय कहलाता है ॥ ६ ॥

चारित्र शब्द का लक्षण इस तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'** में किया है कि जो आचरण किया जाय, वह चारित्र है ॥ ७ ॥

सवरण करने वाले की संवरणक्रिया मे साधकतम की विवक्षा से गुप्ति आदि के करण भाव जानना चाहिये। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के द्वारा सवर होता है, ऐसा द्वन्द्व समास करना चाहिये। 'गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरोषहजयचारित्राणि' फिर तृतीया विभक्ति करके—'गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः' यह तृतीयान्त पद बना लिया जाता है ॥ ८ ॥

संवर एव गुप्त्यादय इति चेत्; न; आस्रवनिमित्तकर्मसंवरणात् ।९। स्यान्मतम्–सव्रियतेऽनेनेतिः संवरः, गुप्त्यादिभिश्च कर्म सव्रियते, ततो गुप्त्यादय एव संवर इति [1]भेदेन निर्देशो नोपपद्यते इति; तन्न; कि कारणम् ? आस्रवनिमित्तकर्मसवरणात् । संवरणमिह सवर इति भावसाधनः, तस्य गुप्त्यादयः करणत्वेन निर्दिश्यन्ते । सव्रियते संवर इति कर्मसाधनो वा, गुप्त्यादिभिर्हि कर्म सव्रियत इति ।

स इति वचनं गुप्त्यादिभिः साक्षात् संबन्धनार्थम् ।१०। सवरोऽधिकृतोऽपि पुनः स इति परामृश्यते । किमर्थम् ? गुप्त्यादिभिः साक्षात् सबन्धनार्थम् । तेन किं लब्धम् ? नियम कृतो भवति–स एष सवरो गुप्त्यादिभिरेव नान्येनोपायेनेति । तेन तीर्थाभिषेकदीक्षाशीर्षोपहारदेवताराधनादयो निर्वातिता भवन्ति, रागद्वेषमोहोपात्तस्य कर्मणः अन्यथा निवृत्त्यसभवात् । यदि हि स्यात्; मत्स्यादीनामपि अतिसुलभो मोक्षः स्यात्, रक्तद्विष्टमूढाना च । एषा तत्त्वभेदकथनम् उत्तरत्र करिष्यते ।

गुप्ति आदि सवर ही है, क्योकि इनके द्वारा कर्मो का सवरण किया जाता है, गुप्ति आदि स्वय सवर रूप है अतः गुप्ति आदि में और सवर मे भेद का निर्देश नही करना चाहिये। यह शका ठीक नही है, क्योंकि सवर शब्द करणसाधन न होकर 'सवरण सवर' यह भावसाधन है, अर्थात् आस्रव निमित्त कर्मो के सवरण करने मे गुप्ति आदि कारण होते हैं। अथवा यह सवर शब्द 'सव्रियते इति संवरः' ऐसा कर्मसाधन भी है, क्योकि गुप्ति, समिति आदि के द्वारा कर्मों का निरोध किया जाता है अतः गुप्ति आदि सवर से पृथक् सिद्ध होते हैं, गुप्ति आदि करण है और सवर कार्य है। इनमे कार्य-कारण भेद भी है, क्योकि गुप्ति आदि के द्वारा सवर होता है ॥ ९ ॥

सूत्र मे 'सः' शब्द का प्रयोग गुप्ति आदि के साथ साक्षात् सम्बन्ध के लिये है। यद्यपि यहाँ सवर का अधिकार है तथापि 'स.' पद विशेष रूप से सवर का गुप्ति आदि से साक्षात् सम्बन्ध जोड़ता है। **प्रश्न**—इससे क्या प्राप्त होता है ? **उत्तर**—इससे यह नियम हो जाता है कि यह सवर गुप्ति आदि के द्वारा ही होता है, अन्य उपायो से नही। इस 'सः' शब्द से गुप्ति आदि से भिन्न तीर्थस्नान, दीक्षा, शीर्षोपहार (बलिदान), देवताराधना आदि की निवर्तना हो जाती है अर्थात् तीर्थस्नान आदि उपायो से सवर नही होता क्योकि राग-द्वेष और मोह से ग्रहण किये गये उन कर्मो की दूसरे प्रकारों से निवृत्ति होना संभव नही है। यदि तीर्थस्नान से सवर होता तो निरन्तर तीर्थजल मे डूबी रहने वाली मछली आदि के भी मोक्ष अतिसुलभ हो जायेगा और रागी-द्वेषी मोही जीवो को भी मात्र तीर्थस्नान से मुक्ति मिल जानी चाहिये, अतः गुप्ति आदि के सिवाय अन्य कारणो से सवर नही हो सकता। इन गुप्ति आदि का तत्त्वभेद कथन (विशेष वर्णन वा भेद) आगे कहेगे ॥ १० ॥

---

१. भेदनिर्दे-मु , ता , द , ब. ।

आह–किमेतैरेव गुप्त्यादिभि· अथ संवरो निष्पाद्यते ? न । किं तर्हि ? अन्येन च । यद्येवम्; उच्यतां केन ?

तपसा निर्जरा च ।। ३ ।।

धर्मे अन्तर्भावात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात् । १ । स्यान्मतम्–धर्मविकल्पेषु उत्तमक्षमादिषु तपो वक्ष्यते, ततः सवरहेतुत्वे सिद्धे पृथगस्य ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात्–तपो निर्जराकारणमपि भवतीति ।

प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थं च । २ । सर्वेषु संवरहेतुषु प्रधान तप इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं च पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

संवरनिमित्तसमुच्चयार्थश्चशब्दः । ३ । सवरहेतुरपि तपो भवतीति एतस्य समुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते । तपसा हि अभिनवकर्मसंबन्धाभाव· पूर्वोपचितकर्मक्षयश्च, अविपाकनिर्जराप्रतिज्ञानात् । तस्मात्तपोजातीयत्वात् ध्यानाना निर्जराकारण-त्वप्रसिद्धिः ।

गुप्ति, समिति आदि के ही द्वारा सवर होता है कि अन्य भी कोई सवर के कारण है ? यदि अन्य कोई सवर के कारण हैं तो उनको कहना चाहिये, ऐसा पूछने पर आचार्य सवर के अन्य कारणों का कथन करने के लिए सूत्र कहते हैं—

तप के द्वारा निर्जरा और संवर होता है ।। ३ ।।

धर्म मे अन्तर्भाव होने से यहाँ तप का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ नही है क्योकि निर्जरा के कारणो को बताने के लिये यहाँ तप को ग्रहण किया है । **प्रश्न**—उत्तम क्षमादि धर्मो मे तप कहा जायेगा, अतः सवर के हेतुत्व के सिद्ध होने पर तप का पृथग् ग्रहण करना निरर्थक है । **उत्तर**—यद्यपि तप दस धर्मो मे अन्तर्भूत है फिर भी विशेष रूप से निर्जरा का कारण बताने के लिये अर्थात् तप भी निर्जरा का कारण है, इस बात को रूपायित करने के लिये तप का पृथक् ग्रहण किया गया है ।। १ ।।

वा, सर्व सवर के हेतुओ मे तप ही प्रधान हेतु है इसका ज्ञान कराने के लिए तप को पृथग् (सवर के कारणो से भिन्न सूत्र मे) ग्रहण किया गया है ।। २ ।।

सवरनिमित्त के समुच्चय के लिये 'च' शब्द का प्रयोग किया है । 'च' शब्द तप संवर का हेतु भी होता है । इस सवरहेतुता का समुच्चय करता है, क्योकि तप के द्वारा नूतन कर्म बन्ध रुककर पूर्वोपार्जित कर्मो का क्षय भी होता है अत. तप अविपाक निर्जरा का कारण है । अर्थात् तप से अविपाक निर्जरा होती है । इस प्रकार तप के जातीयत्व होने से ध्यानो (धर्म और शुक्ल ध्यान) के भी निर्जरा का कारणत्व प्रसिद्ध ही है ।। ३ ।।

तपसोऽभ्युदयहेतुत्वान्निर्जराङ्गत्वाभाव इति चेत्; न; एकस्यानेककार्यारम्भदर्शनात् । ४ । स्यादेतत्–तपोऽभ्युदयकारणमिष्टम् देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, ततोऽस्य निर्जराङ्गत्वमनुपपन्नमिति; तन्न; किं कारणम् ? एकस्यानेककार्यारम्भदर्शनात् । यथा अग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्मसाद्भवनादिप्रयोजन उपलभ्यते, तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः ?

गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत् । ५ । अथवा, यथा कृषीवलस्य कृषिक्रियायाः पलालशस्यफलगुणप्रधानफलाभिसम्बन्धः तथा मुनेरपि तपस्क्रियाया प्रधानोपसर्जनाभ्युदयनिःश्रेयसफलाभिसम्बन्धोऽभिसन्धिवशाद्वेदितव्यः ।

आह–गुप्त्यादय उद्दिष्टाः संवरहेतवः । ते किंविषयाः कियत्प्रकाराः प्रत्येकं च किसामर्थ्याः इति ? अत्रोच्यते–सति बहुवक्तव्ये आदावुद्देशभाजो गुप्तेरेव तावन्निर्धारण क्रियते–

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ।। ४ ।।

प्रश्न—तप निर्जरा का कारण नही है, क्योकि तप को तो देवेन्द्रादि के अभ्युदय स्थान की प्राप्ति का कारण कहा है ।

उत्तर—ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि एक ही कारण से अनेक कार्य होते है । अर्थात् एक ही कारण से अनेक कार्यो का आरम्भ-प्रारम्भ देखा जाता है । जैसे एक ही अग्नि पाक, विक्लेदन और भस्म करना आदि अनेक कार्य करती है वैसे ही तप अभ्युदय (देवेन्द्रादिपदों की प्राप्ति) का विधान और कर्मो का क्षय करता है, इसमे क्या विरोध है ? अर्थात् तप से सासारिक अभ्युदय और मुक्ति दोनो प्राप्त होते हैं, इसमे कोई विरोध नही है ।। ४ ।।

किसान की खेती के समान गौण और प्रधानता से फल की प्राप्ति होती है । अथवा जैसे किसान मुख्य रूप से धान्य के लिये खेती करता है, गौण रूप से पलाल (घास) तो उसे अनायास प्राप्त हो जाता है । उसी प्रकार मुनिराज की तपक्रिया मे प्रधान फल मोक्ष है । अर्थात् गौणता से तप का फल किसान के घास की प्राप्ति के समान अभ्युदय (देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदो) की प्राप्ति है, वह आनुषङ्गिक है, ऐसा जानना चाहिये ।। ५ ।।

गुप्ति आदि सवर के कारण कहे हैं, उनका विषय (लक्षण) क्या है ? वे कितने प्रकार के हैं ? प्रत्येक गुप्ति आदि का सामर्थ्य क्या है ? ऐसी बहुत पृच्छा होने पर सर्वप्रथम कथित गुप्ति का निर्धारण (लक्षण) किया जाता है, लक्षण कहा जाता है—

सम्यक् योगनिग्रह को गुप्ति कहते हैं ।। ४ ।।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः । १ । अयं योगशब्दो व्याख्यातार्थो द्रष्टव्य. । क्व ? **"कायवाङ्मनस्कर्मयोगः"** [त.सू. ६।१] इत्यत्र ।

प्राकाम्याऽभावो निग्रहः । २ । प्राकाम्यं यथेष्ट चरित्रं तस्याभावो निग्रह इत्याख्यायते, योगस्य निग्रहो योगनिग्रहः ।

सम्यगिति विशेषणं सत्कारलोकपङ्क्त्याद्याकाङ्क्षानिवृत्त्यर्थम् । ३ । पूजापुरस्सरा क्रिया सत्कारः । संयतो महानिति लोके प्रकाशः लोकपङ्क्तिः । एवमाद्यैहलौकिक-फलमनुद्दिश्य पारलौकिकं च विषयसुखमनपेक्ष्य क्रियमाणो निग्रहो गुप्तिरिह परिगृहीतेति प्रतिपत्त्यर्थं सम्यगिति विशेषणमुपादीयते ।

तस्मात् कायादिनिरोधात्तन्निमित्तकर्मानास्रवणे संवरप्रसिद्धिः । ४ । तस्मात् सम्यग्विशेषणविशिष्टात् संक्लेशाप्रादुर्भावपरात् कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्त कर्म नास्रवतीति कृत्वा संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या । तद्यथा तिस्रो गुप्तयः—कायगुप्ति. वाग्गुप्तिः मनोगुप्तिरिति । तत्र [1]यत् कायिकमनिभृतस्य अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितधरणिप्रदेश-

---

योग शब्द का अर्थ वा लक्षण—"कायवाङ्मन.कर्मयोगः" तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के प्रथम सूत्र मे कह दिया है ।। १ ।।

प्राकाम्य का अर्थ यथेष्ट चरित्र-विचरण है । उस मन, वचन, काय को यथेच्छ विचरण से रोका जाता है, उसको निग्रह कहा जाता है । मन-वचन-काय रूप योग का निग्रह योगनिग्रह कहा जाता है ।। २ ।।

इसका सम्यग् यह विशेषण सत्कार, लोकपक्ति आदि आकाक्षाओ की निवृत्ति के लिये है । पूजा पुरस्सरक्रिया सत्कार कहलातो है, 'यह सयत महान् है' ऐसी लोकप्रसिद्धि लोकपक्ति है । इस प्रकार और भी इहलौकिक फल को आकाक्षा आदि का उद्देश्य न लेकर तथा पारलौकिक सुख की आकांक्षा न करके किया गया योग का निग्रह गुप्ति कहलाता है, उसका ज्ञान कराने के लिये सम्यग् विशेषण दिया गया है ।। ३ ।।

इसलिये कायादि के निरोध होने से तद् निमित्तक कर्मो के रुक जाने से गुप्ति आदि मे सवर की प्रसिद्धि है ही । अर्थात् सम्यग्विशेषण विशिष्ट, सक्लेश परिणामो के प्रादुर्भाव से रहित कायादियोगो का सम्यक् प्रकार निरोध हो जाने पर काय-वचन-मन रूप योग के निमित्त से होने वाले-आने वाले कर्मो का आस्रव रुक जाना ही सवर है, कर्मो का रुक जाना ही सवर है; ऐसा जानना चाहिये । गुप्ति तीन प्रकार को है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति । इसमे

---

१. यत्तु का —अ. ता. ।

चङ्क्रमणद्रव्यान्तराधाननिक्षेपशयनासनादिनिमित्तं कर्म सम्मूर्च्छति न तन्निगृहीतकाय-प्रचारस्याप्रमत्तस्य आस्रोतुमर्हति। यच्च वाचिकमसंवृतस्य असत्प्रलापिनोऽप्रियवचनादिहेतुकं कर्म निपतति न तद्विनिवृत्तवाक्प्रयोगस्यास्रवति। यदपि मानसैः प्रदोषैः रागद्वेषाभिभूतस्यातीतानागतविषयाभिलाषिण आस्रवति न तदात्मीकृतमनसः कदाचिदप्युपनिपतति।

आह–यदि मूर्तिपरित्याग कार्त्स्न्येन कर्तुमशक्नुवतः संक्लेशनिवृत्तये योगनिरोधः प्रतिज्ञायते स यावन्न भवति [1]तावदनेनावश्य प्राणयात्रानिमित्त तत्प्रत्यनीकभावात् परिस्पन्द. कर्तव्य, वाक्प्रयोगो वा प्रश्नापेक्षः, शरीरमलनिर्हरणार्थश्च, तस्मिन् सति कथमस्य सवरः स्यादिति ? अत्रोच्यते–

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

सम्यग्ग्रहणेनाधिकृतेन प्रत्येकमभिसम्बन्धः। १। सम्यगित्यनुवर्तते। तेन प्रत्येक-

---

अयत्नाचारी के बिना देखे, बिना शोधे भूमिप्रदेश पर घूमना, दूसरी वस्तु रखना, उठाना, शयन करना, बैठना आदि शारीरिक क्रियाओ के निमित्त से जो कर्म आते है; वा कायिक निमित्त जिन कर्मों का अर्जन होता है; उन कर्मो का आस्रव काययोग का निग्रह करने वाले अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती सयमो के नही होता। इसी प्रकार वाचनिक असवरी-सवररहित असत् प्रलापी जोव के अप्रिय वचनादि का हेतुक (अप्रिय वचन बोलने आदि से) जो वाचनिक व्यापार निमित्तक कर्म आते है, वचनो का विग्रह करने वाले वचनयोगी के उन कर्मो का आस्रव नही होता। जो रागद्वेषादि से अभिभूत प्राणी के अतीत, अनागत विषयाभिलापा आदि से मनोव्यापार निमित्तक कर्म आते है, वे कर्म मनोनिग्रही के नही आते, अतः योगनिग्रह (योग का निरोध) हो जाने पर तत्सम्बन्धी कर्म कभी नही आते अर्थात् उन कर्मो का सवर हो जाता है अतः योगनिग्रही के सवर सिद्ध है।

शरीर का परित्याग जब तक पूर्ण रूप से नही हुआ है अर्थात् शरीर का सम्पूर्ण रूप से परित्याग करने मे असमर्थ के सक्लेश की निवृत्ति के लिये योगनिरोध कहा जाता है, परन्तु जब तक पूर्ण योगनिरोध नही हुआ है, तब तक अवश्य ही प्राणयात्रा निमित्त उसके लिए कुछ बोलना, खाना-पीना, रखना, मल-मूत्र का विसर्जन करना आदि क्रियाये करनी ही पडती हैं और उन क्रियाओ के होने पर इस गुप्ति वाले मुनिराज के सयम कैसे होगा ? अर्थात् उसके सवर होना अशक्य है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये समिति-सम्यक्प्रवृत्ति का उपदेश देते है—

ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग, ये पाँच समितियाँ हैं ॥ ५ ॥

अधिकृत (पूर्व सूत्र कथित) सम्यक् पद का अनुवर्त्तन करके प्रत्येक से उसका सम्बन्ध कर

---

१ पुस्पेण।

मिहाभिसम्बन्ध. क्रियते–सम्यगीर्या सम्यग्भाषा सम्यगेषणा सम्यगादाननिक्षेपौ सम्यगुत्सर्ग इति ।

समितिरित्यन्वर्थसंज्ञा तान्त्रिकी[1] पञ्चानाम् । २ । समितिरितीमन्वर्थसज्ञा सम्यगिति· समितिरिति । क्व प्रसिद्धा ? तान्त्रिकी । केषाम् ? पञ्चानामीर्यादीनाम् ।

तत्र व्रज्यायां जीववधपरिहार ईर्यासमितिः । ३ । विदितजीवस्थानादिविधेर्मुने· धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्ये उपजाते मनुष्यादिचरणपातोपहृतावश्यायप्रायमार्गे अनन्यमनस· शनैर्न्यस्तपादस्य सङ्कुचितावयवस्य युगमात्रपूर्वनिरीक्षणावहितदृष्टेः पृथिव्याद्यारम्भाभावात् ईर्यासमितिरित्याख्यायते ।

अत्राह–विदितजीवस्थानादिविधेरित्युक्तम्, तत्र न ज्ञायते कति जीवस्थानानि इति ? अत्रोच्यते ।

सूक्ष्मबादरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दशजी-

---

देना चाहिये। जैसे—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यग् आदान निक्षेप और सम्यगुत्सर्ग ।। १ ।।

ईर्या समिति आदि पाँचो ही समितियो का समिति यह नाम शास्त्रो मे सार्थक प्रसिद्ध है । जैसे—समिति-सम्यक्-इति=प्रवृत्ति=समिति । यह सज्ञा पाँचो की आगम मे प्रसिद्ध है ।। २ ।।

गमन मे जीववध का परिहार करना ईर्या समिति है । जीवस्थानादि की विधि को जानने वाले, धर्म के लिये प्रयत्नशील (धार्मिक क्रियाओ के लिये गमन करने वाले), सूर्योदय होने पर चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा विषय को ग्रहण करने का सामर्थ्य हो जाने पर मनुष्य आदि के आवागमन के द्वारा कुहरा, क्षुद्र जन्तु आदि से रहित मार्ग मे सावधानचित्त हो शरीर को सकुचित करके धीरे-धीरे चार हाथ जमीन आगे देखकर गमन करने वाले मुनि के ईर्या समिति होती है। इसमे पृथ्वी आदि सम्बन्धी आरम्भ नही होता है और जीवो की रक्षा होती है ।। ३ ।।

यहाँ पर मुनि "जीवस्थान आदि विधि को जानने वाला होना चाहिये", ऐसा कहा है । परन्तु जीवस्थान कितने है और कौन से है ? इसका वर्णन नही है अत. नही जाना जाता है कि जीवस्थानादि विधि क्या है ? इस प्रकार की आशका करने पर आचार्य कहते है कि—

सूक्ष्मैकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय, इन सातो के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चौदह जीवसमास होते है। एकेन्द्रिय

---

[1] सिद्धान्तानुसारिणी ।

वस्थानानि । ४ । एकेन्द्रियादयः प्राक् व्याख्यातलक्षणाः । तत्रैकेन्द्रिया द्विविधाः–सूक्ष्माः बादराश्चेति[१] । सूक्ष्मा द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । बादरा द्विविधाः–पर्याप्तकाः अपर्याप्तका इति । द्वीन्द्रिया द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । त्रीन्द्रिया द्विविधाः-पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । चतुरिन्द्रिया द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । पञ्चेन्द्रियाः द्विविधा.–सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनः । संज्ञिनो द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । असञ्ज्ञिनो द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति । एव जीवस्थानानि वेदितव्यानि । तानि नामकर्मोदयापादितविशेषाणि एकेन्द्रियजातिसूक्ष्मबादरपर्याप्तकाऽपर्याप्तकनामोदयजनितानि चत्वारि जीवस्थानानि एकेन्द्रियेषु । द्वीन्द्रियादिषु बादरनामोदय एव । विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिपर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयनिर्वर्तितानि । पञ्चेन्द्रियेषु सञ्ज्यसञ्ज्ञि-पर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयलब्धभेदानि चत्वारि जीवस्थानानि ।

हितमितासन्दिग्धाभिधानं भाषासमितिः । ५ । मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितम् । तद्द्विविधम्–स्वहितं परहितं चेति । मितमनर्थकबहुप्रलपनरहितम् । स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं

आदि का लक्षण पूर्व मे कह चुके है । उसमें एकेन्द्रिय दो प्रकार के है—सूक्ष्म और बादर । सूक्ष्म दो प्रकार के है—पर्याप्तक और अपर्याप्तक । बादर दो प्रकार के है—पर्याप्तक और अपर्याप्तक । दो इन्द्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक । तीन इन्द्रिय दो प्रकार के है—पर्याप्तक और अपर्याप्तक । चतुरिन्द्रिय दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक । पचेन्द्रिय सञ्ज्ञी-असञ्ज्ञी के भेद से दो प्रकार के है । सञ्ज्ञो पर्याप्तक अपर्याप्तक के भेद से दो प्रकार के है और असञ्ज्ञी भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो प्रकार के है । इस प्रकार सर्व जोवसमास चौदह प्रकार के है । ये जोवसमास नामकर्म के उदय से होते है । इन १४ जीवसमासो मे एकेन्द्रिय के चार जीवसमास, एकेन्द्रिय जाति सूक्ष्म बादर पर्याप्तक अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से होते है । शेष दो इन्द्रिय आदि जोवसमास अपनी दो इन्द्रिय आदि जाति बादर पर्याप्तक अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से होते है । अर्थात् विकलेन्द्रियो मे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति पर्याप्तक अपर्याप्तक बादर नामकर्म का उदय है और पचेन्द्रियो मे सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी, पर्याप्तक अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से निर्मित चार स्थान होते है । इस प्रकार जीवस्थान को जानकर उनकी रक्षा करते हुए गमन करना **ईर्या समिति है ॥ ४ ॥**

हित, मित और असन्दिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है । मोक्षपद प्राप्त करना जिसका प्रधान फल है, वह हित कहलाता है । स्वहित और परहित के भेद से हित दो प्रकार का है । अर्थात् स्व और पर को मोक्ष की ओर ले जाने वाले वचन स्व-परहितकारक कहलाते हैं । निरर्थक बकवासरहित वचन मित कहलाते हैं । स्फुटार्थ-व्यक्ताक्षर वचन असन्दिग्ध कहलाते हैं ।

---

१. –राः, तत्र सू. मु. द. व. ।

चाऽसन्दिग्धम् । एवंविधमभिधानं भाषासमितिः । तत्प्रपञ्चः—मिथ्याभिधानासूयाप्रियसभेदाल्पसारशङ्कितसम्भ्रान्तकषायपरिहासाऽयुक्ताऽसभ्यनिष्ठुरधर्मविरोध्यदेशकालालक्षणातिसस्तवादिवाग्दोष[1]विरहिताभिधानम् ।

अन्नादावुद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः । ६ । अनगारस्य गुणरत्नसचयसंवाहिशरीरशकटि समाधिपत्तनं निनीषतोऽक्षम्रक्षणमिव शरीरधारणमौषधमिव जाठराग्निदाहोपशमनिमित्तमन्नाद्यनास्वादयतो देशकालसामर्थ्यादिविशिष्टमगर्हितमभ्यवहरतः उद्गमोत्पादनैषणासंयोजनप्रमाणकारणाङ्गारधूमप्रत्ययनवकोटिपरिवर्जनमेषणासमितिरिति-समाख्यायते ।

धर्मोपकरणानां ग्रहणविसर्जनं प्रति प्रयतनमादाननिक्षेपणासमितिः । ७ । धर्माविरोधिनां परानुपरोधिना द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रमृज्य प्रवर्तनमादाननिक्षेपणा समितिः ।

इस प्रकार हित, मित और असन्दिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है । इसका विस्तारपूर्वक कथन है कि मिथ्याभिधान, असूया, प्रियभेदक, अल्पसार, शकित, सभ्रान्त, कषाययुक्त, परिहासयुक्त, असभ्य, निष्ठुर, अधर्मविधायक अर्थात् धर्मविरोधी, देशविरोधी, कालविरोधी और चाटुकारिता (चापलूसी) आदि वचन-दोषो से रहित भाषण करना भाषा समिति है ।। ५ ।।

उद्गमादि दोषरहित आहार ग्रहण करना एषणा समिति है । गुण रूपी रत्नो को ढोने वाली शरीर रूपी गाडी को समाधिनगर की ओर ले जाने की इच्छा करने वाले साधु का गाडी मे ओगन देने के समान या शरीर को धारण करने के लिये औषधि के समान, जठराग्नि के दाह को शमन करने के लिये विना स्वाद लिये देश, काल तथा शक्ति आदि से युक्त अनिन्दित उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजन, प्रमाण, कारण, अङ्गार, धूम और प्रत्यय, इन नव कोटियो से शुद्ध अन्न का ग्रहण करना एषणा समिति है । अर्थात् वत्तीस अन्तराय, छियालीस दोषरहित विना आसक्ति से शुद्धाहार ग्रहण करना **एषणा समिति है** ।। ६ ।।

धर्मोपकरणो के रखने और उठाने मे सावधानी रखना आदाननिक्षेपणसमिति है । धर्माविरोधी और परानुपरोधी ऐसे जो ज्ञानोपकरण (शास्त्र), सयमोपकरण (पिच्छिका), शौचोपकरण (कमण्डलु) आदि उपकरणो के ग्रहण करने मे, रखने मे सावधानी रखना, भूमि को देखकर, शोधकर सावधानीपूर्वक उठाना आदाननिक्षेपणसमिति है ।। ७ ।।

---

१. –विरता-मु द व श्र. ।

जीवाविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणमुत्सर्गसमितिः । ८ । स्थावराणां जङ्गमाना च जीवादीनाम् अविरोधेनाङ्गमलनिर्हरण शरीरस्य च स्थापनम् उत्सर्गसमितिरवगन्तव्या ।

वाक्कायगुप्तिरियमपीति चेत्; न; तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः । ९ । स्यान्मतम्–ईर्यासमित्यादिलक्षणा वृत्ति· वाक्कायगुप्तिरेव, गोपनं गुप्ति· रक्षण प्राणिपीडापरिहार इत्यनर्थान्तरमिति; तन्न; कि कारणम् ? तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः । परिमितकालविषयो हि सर्वयोगनिग्रहो गुप्तिः । तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्ति· समिति । अतो गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपोत्सर्गलक्षणसमितिविधावप्रमत्ताना तत्प्रणालिकाप्रसूतकर्माभावान्निभृताना प्रासीदत् सवरः ।

पात्राभावात् पाणिपुटाहाराणां संवराभाव इति चेत्; न; परिग्रहदोषात् । १० । स्यादेतत्–असति पात्रे पाणिपुटेन भुञ्जानस्य भिक्षोः पतिताहारनिमित्तप्राणातिपातदर्शनादेषणासमित्यभावात् सवराभाव इति; तन्न, कि कारणम् ? परिग्रहदोषात्, नैस्सङ्गी चर्यामातिष्ठमानस्य पात्रग्रहणे सति तत्सरक्षणादिकृतो दोष· प्रसज्यते ।

जीवो के अविरोध से अङ्ग (देह) के मल का निर्हरण करना उत्सर्गसमिति है । अर्थात् जहाँ पर स्थावर या जगम (त्रस) जीवो की विराधना न हो ऐसे निर्जन्तु स्थान मे मलमूत्र आदि का विसर्जन करना और शरीर का रखना **उत्सर्गसमिति** है, ऐसा जानना चाहिये ।। ८ ।।

वाक्, काय गुप्ति को समिति नही कह सकते, क्योकि कालविशेष के समय काय और वचन का सम्पूर्णतया निग्रह करना पडता है । **प्रश्न**—ईर्या समिति आदि का जो लक्षण है, वही लक्षण कायगुप्ति और वचनगुप्ति का है, क्योकि गोपन, गुप्ति, रक्षण, प्राणी-पीडापरिहार, ये एकार्थवाची हैं । इनमे परस्पर कोई भेद नही है, अत· प्राणी-पीडापरिहार लक्षण समिति और वचनकाय गुप्ति दोनो मे समानता है, अत· समिति और वचनकायगुप्ति एक ही है । **उत्तर**—यद्यपि सावधानी की अपेक्षा एक है, तथापि परिमित कालविपयक समिति और सर्व योगनिग्रह लक्षण गुप्ति, ये दोनो एक नही हो सकते, क्योकि जव गुप्ति मे असमर्थ हो जाता है, तव कुशल कार्यो मे प्रवृत्ति करना समिति है, अत समिति का गुप्ति मे अन्तर्भाव नही है । इसलिये गमन करना, वोलना, आहार करना, रखना, उठाना और मलमूत्रादि का उत्सर्ग आदि क्रियाओ मे अप्रमत्त (सावधानी रखने वाले) भिक्षु के गमन आदि क्रियाओ से आने वाले कर्मो का सवर हो जाता है ।। ९ ।।

प्रश्न—पात्र के अभाव मे पाणिपात्र मे आहार लेने वाले साधु के नीचे गिरने वाले आहार आदि के कारण हिसा होती है अतः एपणा समिति का अभाव होने से उसके सवर का अभाव है । **उत्तर**—पात्र के ग्रहण करने मे परिग्रह का दोप आता है । निग्रन्थ-अपरिग्रहीचर्या को स्वीकार करने वाले भिक्षु के पात्र ग्रहण करने पर उसकी रक्षा आदि मे अनेक दोपो का प्रसङ्ग आता है । अतः स्वाधीन करपात्र से ही निर्वाध देश मे (निर्जन्तु क्षेत्र मे) खड़ा होकर सर्व क्षेत्र, द्रव्यादि की

तस्मात् स्वायत्तेन पाणिपुटेन निराबाधे देशे स्थित्वा परीक्ष्य भुञ्जानस्य निभृतस्य तद्गतदोषाभावः । किञ्च,

दैन्यप्रसङ्गात् । ११ । कपालमन्यद्वा भाजनमादाय पर्यटतो भिक्षोर्दैन्यमासज्यते । गृहिजनानीतमपि भाजन [न] सर्वत्र सुलभम्, तत्प्रक्षालनादिविधौ च दु परिहार पापलेप, स्वभाजनेन देशान्तरं नीत्वा भोजने च आशानुबन्धन स्यात्, स्वपूर्वविशिष्ट-भाजनादिकगुणासभवाच्च येन केनचित् भुञ्जानस्य दैन्यं स्यात् । तत स्वकरपुट-भाजनान्नान्यद्विशिष्टमस्ति भिक्षोः ।

अन्नवत्तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; विनाऽभावात् । १२ । स्यादेतत्–यथा [१]प्राच्य-मन्न सस्कृतं परमरस परित्यज्य परगृहे यत्किञ्चित् असस्कृतमन्नम् अरसमनुभूयते भिक्षुणा तथा कपालाद्यादानमपि स्यादिति, तन्न; किं कारणम् ? तेन विनाऽभावात् । चिरकाल तपः संचिचीषत· संयतस्य शरीरयात्रा आहारमन्तरेण न सभवतीति यत्कि-ञ्चित्प्रासुकं कादाचित्कमभ्युपगम्यते न तथा भाजनमिति असमञ्जसो दृष्टान्त· ।

परीक्षा करके सावधानी से एकाग्रचित्त होकर आहार करने वाले साधु के आहारगत दोषो का अभाव है ।। १० ।।·

पात्र रखने से दीनता का प्रसग आता है । कपाल या अन्य भाजन को लेकर भिक्षा के लिये घूमने वाले भिक्षु के दीनता का दोष आता है तथा गृहस्थजनो के द्वारा लाये (दिये) गये पात्र सुलभ हैं, फिर भी उन पात्रो को धोने, रखने आदि मे दु परिहार (अवश्यम्भावी) पापलेप होता ही है । अपने पात्र को देशान्तर मे ले जाकर भिक्षा मागकर भोजन करने मे आशा-तृष्णा की सम्भावना है । पहले जैसे विशिष्ट गुणवाले पात्र के न मिलने पर जिस किसी पात्र से भोजन करने वाले भिक्षु के चित्त मे दीनता और हीनता का अनुभव होना अनिवार्य है, अत. स्वावलम्बी भिक्षु के लिये अपने करपात्र से विशिष्ट कोई पात्र नही है, करपात्र मे आहार करना ही सर्वश्रेष्ठ है ।। ११ ।।

प्रश्न—जिस प्रकार पूर्व मे गृहावस्था मे प्राप्त सुसस्कृत, सुस्वादु अन्न (खाद्य सामग्री) को छोडकर घर-घर में जैसा-तैसा असस्कृत, नीरस, अस्वादु भाजन करने मे भिक्षु को दीनता वा हीनता का अनुभव नही होता है, वैसे हो कपाल आदि मे भाजन करने पर (वा टूटे-फूटे बर्तन मे भाजन करने पर) भिक्षु को दीनता-हीनता का अनुभव नही होता है ? **उत्तर**—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योकि चिरकाल तक तप करने की इच्छा करने वाले सयत को शरीर-यात्रा आहार के बिना सम्भव नही है, अत यत् किञ्चित् नोरस, प्रासुक आहार कभो-कभी ले लिया जाता है । अर्थात् आहार करना तो शरीर के लिये अनिवार्य है, परन्तु उस प्रकार का पात्र रखना अनिवार्य नही है अत· आहार का दृष्टान्त देकर पात्र रखने की सिद्धि करना असमञ्जस दृष्टान्त है ।। १२ ।।

---

१ प्राप्तव्यमन्न परम प –मु ब । प्राप्तमन्न परम प –द. ।

आह–उक्तं गुप्तिसमित्योः संवरहेतुत्वम्, इदानीं तदनन्तरमुद्दिष्टस्य धर्मस्य संवरहेतुत्वं संवर्णयितव्यमिति । अत्रेदमुच्यते–

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं धर्मवचनम् । १ । आद्यं गुप्त्यादि प्रवृत्तिनिग्रहार्थम् । तत्रासमर्थानां प्रवृत्त्युपायप्रदर्शनार्थं द्वितीयमेषणादि । इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम् ।

क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविसह्याक्रोशादिसंभवे कालुष्योपरमः क्षमाः । २ । शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपयतो[1] भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रसहना(त्प्रहसना)वज्ञानताडनशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमेत्युच्यते ।

गुप्ति और समिति को संवर का कारण कहा; अब समिति के अनन्तर कथित 'धर्म' के संवर का हेतुत्व वर्णन करने के लिए सूत्र कहते है—

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य, ये दस धर्म हैं ।। ६ ।।

धर्म का कथन पृथक् क्यों किया है ?

प्रवर्तमान के प्रमाद का परिहार करने के लिये धर्म का कथन किया है। आदि मे गुप्तियों मे प्रवृत्ति का सर्वथा निग्रह (निरोध) है। जो उन गुप्तियो को पालन करने मे असमर्थ है उनके लिये प्रवृत्ति का उपाय दिखाने (बताने) के लिये सवर के दूसरे कारण एषणा आदि समितियो का उपदेश है तथा समिति आदि मे प्रवृत्ति करने वाले के प्रमाद का परिहार करने के लिये वा सावधानोपूर्वक प्रवृत्ति करने के लिये दस प्रकार के धर्म का उपदेश दिया है ।। १ ।।

क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत असह्य आक्रोशादि के सम्भव होने पर भी कालुष्य भाव का नहीं होना क्षमा है। शरीर-यात्रा के लिये पर-घर में भिक्षा के लिये भ्रमण करते हुए भिक्षु को दुष्टजनो के द्वारा कृत आक्रोश (गाली), हँसी, अवज्ञा, ताडन, शरीरच्छेदन आदि क्रोध के असह्य निमित्त मिलने पर भी कलुषता का न होना उत्तम क्षमा है ।। २ ।।

---

१. –परगच्छतो मु. व. ।

जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम् । ३ । उत्तमजातिकुलरूपविज्ञानैश्वर्यश्रुतलाभवीर्यस्यापि सतस्तत्कृतमदावेशाभावात् परप्रयुक्तपरिभवनिमित्ताभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणमवगन्तव्यम् ।

योगस्यावक्रता आर्जवम् । ४ । योगस्य कायवाङ्मनोलक्षणस्यावक्रता आर्जवमित्युच्यते ।

प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचम् । ५ । लोभस्य निवृत्तिः प्रकर्षप्राप्ता, शुचेर्भावः कर्म वा शौचमिति निश्चीयते ।

गुप्तावन्तर्भाव इति चेत्; न; तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात् । ६ । स्यादेतत्—मनोगुप्तौ शौचमन्तर्भवतीति पृथगस्य ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात् । मनोगुप्तौ हि मानस. परिस्पन्दः सकलः प्रतिषिध्यते, तत्राऽसमर्थेषु परकीयेषु वस्तुषु अनिष्टप्रणिधानोपरमार्थमिदमुच्यते ।

आकिञ्चन्येऽवरोध इति चेत्; न; तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात् । ७ । स्यादेतत्—

जाति आदि मद के आवेश से अभिमान का अभाव होना मार्दव है। उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और वीर्य की शक्ति से युक्त होने पर भी तत्कृत मद का अभाव होना तथा दूसरो के द्वारा परिभव के निमित्त उपस्थित किये जाने पर भी अभिमान नही होना उत्तम **मार्दव धर्म** कहलाता है ।। ३ ।।

योग की सरलता आर्जव है। मन, वचन, काय लक्षण योग की सरलता वा मन, वचन, काय को कुटिलता का अभाव उत्तम **आर्जव** है ।। ४ ।।

प्रकर्षता को प्राप्त लोभ की निवृत्ति शौच है। आत्यन्तिक लोभ की निवृत्ति शौच है। वा शुचि का (पवित्रता का) भाव वा कर्म **उत्तम शौच** है, ऐसा निश्चय किया जाता है ।। ५ ।।

मानस परिस्पन्द का निषेध होने से शौच धर्म का गुप्ति मे अन्तर्भाव नही हो सकता। **प्रश्न**—शौचधर्म का मनोगुप्ति मे अन्तर्भाव हो जाता है अत. शौचधर्म का पृथक् उल्लेख करना निरर्थक है ? **उत्तर**—मनोगुप्ति मे मन के सकल व्यापार का निषेध किया जाता है तथा जो मनोगुप्ति का पालन करने मे असमर्थ है उन्हे परकोय वस्तु सम्बन्धी अनिष्ट विचारो से उपरम करने के लिए शौचधर्म का उपदेश दिया जाता है अतः मनोगुप्ति मे शौचधर्म का अन्तर्भाव नही हो सकता ।। ६ ।।

निर्ममता की प्रधानता होने से आकिञ्चन्य मे शौचधर्म का अन्तर्भाव नही होता है। **प्रश्न**—आकिञ्चन्य धर्म का आगे वर्णन करेंगे, उस आकिञ्चन्यधर्म मे शौचधर्म का अवरोध हो

आकिञ्चन्यं वक्ष्यते, तत्रास्यावरोधात् शौचग्रहणं पुनरुक्तमिति; तन्न; कि कारणम् ? तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात् स्वशरीरादिषु सस्काराद्यपोहार्थमाकिञ्चन्यमिष्यते ।

तच्चतुर्विधं जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगभेदात् । ८ । लोभश्चतु प्रकारः–जीवनलोभः आरोग्यलोभ इन्द्रियलोभ उपभोगलोभश्चेति, स प्रत्येक द्विधा भिद्यते स्वपरविषयत्वात्, अतस्तन्निवृत्तिलक्षणं शौचं चतुर्विधमवसेयम् ।

सत्सु साधुवचनं सत्यम् । ९ । सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचन सत्यमित्युच्यते । तद्दशप्रकार व्याख्यातम् ।

जाने से शौचधर्म का कथन करना पुनरुक्त दोष है ? **उत्तर**—आकिञ्चन्य धर्म मे शौचधर्म का अन्तर्भाव नही हो सकता, क्योकि स्वशरीर आदि मे सस्कार आदि की अभिलाषा को दूर करने के लिये तथा निर्ममत्व बढाने के लिये आकिञ्चन्य धर्म है और शौचधर्म लोभ की निवृत्ति के लिये है ।। ७ ।।

जीवित, आरोग्य, इन्द्रिय और उपभोग के भेद से लोभ चार प्रकार का है। अर्थात् जीवित लोभ, आरोग्य लोभ, इन्द्रिय लोभ और उपभोग लोभ के भेद से लोभ चार प्रकार का है। स्व-पर विषय के भेद से प्रत्येक लोभ दो प्रकार का है। जैसे—स्वजीवन लोभ, पर-जीवन लोभ, स्वआरोग्य लोभ, पर-आरोग्य लोभ, स्व-इन्द्रिय लोभ, परइन्द्रिय लोभ और स्व-उपभोग लोभ, परउपभोग लोभ। अपने जीवन, इन्द्रिय, विषय, आरोग्य और उपभोग सामग्री की काक्षा रूप चार प्रकार के लोभ की निवृत्ति लक्षण वाला शौचधर्म भी मुख्यता से चार प्रकार का है, ऐसा जानना चाहिये ।। ८ ।।

सत्जनो के साथ साधु वचन बोलना सत्य है। सत्-प्रशसनीय मनुष्यो के साथ प्रशसनीय वचन बोलना उत्तम सत्य कहलाता है, वह सत्य दस प्रकार का है[1] ।। ९ ।।

---

१. दस प्रकार का सत्य—

१. **जनपद सत्य**—तत् तत् देशवासी मनुष्यों के व्यवहार मे रूढ शब्द। २. **सवृति सत्य**—बहुमनुष्यो की सम्मति से सर्वसाधारण मे रूढ शब्द। ३. **स्थापना सत्य**—किसी वस्तु मे भिन्न वस्तु का समारोप करने वाले वचन। ४ **नाम सत्य**—गुण-जाति आदि की अपेक्षा के विना लोक-व्यवहार के लिये रखा हुआ नाम। ५. **स्वरूप सत्य**—रूपादि के होने पर भी रूप गुण की मुख्यता से वर्णन। ६ **प्रतीत्य सत्य**—किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ का कथन करना। ७. **व्यवहार सत्य**—नैगम नयादि की अपेक्षा कथन। ८. **संभावना सत्य**—शक्ति की सभावना से कथन। ९. **भाव सत्य**—आगमाश्रित वचन या पापरहित वचन भाव सत्य है। १०. **उपमा सत्य**—जो उपमा सहित हो वह वचन जैसे पल्योपम, सागरोपम।

भाषासमितावन्तर्भाव इति चेत्; न; तत्र साध्वसाधुभाषाव्यवहारे हितमितार्थत्वात् । १० । स्यादेतत्—सत्यग्रहणमनर्थकम्, कुतः ? भाषासमितावन्तर्भावादिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्र साध्वसाधुभाषाव्यवहारे हितमितार्थत्वात् । संयतो हि साधुषु असाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितं च ब्रूयात्, अन्यथा रागानर्थदण्डादिदोषानुषङ्गः स्यादिति समितिलक्षणमुक्तम् । इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा तेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्रशिक्षणादिषु बह्वपि[1] वक्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम् ।

अथ कः संयमः ? कश्चिदाह—भाषादिनिवृत्तिरिति ।

न भाषादिनिवृत्तिः संयमः; गुप्त्यन्तर्भावात् । ११ । गुप्तिर्हि निवृत्तिप्रवणा, अतोऽत्रान्तर्भावात् संयमाभावः स्यात् ।

अपर आह—कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टा संयम इति ।

नापि कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टा; समितिप्रसङ्गात् । १२ । समितयो हि कायादिप्रवृत्तिदोषनिवृत्तयः, अतस्तत्रान्तर्भावः[2] प्रसज्येत ।

साधु और असाधु मे हित, मित वचन बोलने वाली भाषासमिति मे सत्य धर्म का अन्तर्भाव नही हो सकता । **प्रश्न**—भाषासमिति मे सत्य धर्म का अन्तर्भाव हो जाता है अतः सत्य धर्म का पृथक् ग्रहण करना निरर्थक है । **उत्तर**—भाषासमिति मे सत्य धर्म का अन्तर्भाव नही हो सकता, क्योकि भाषासमिति मे सयत साधु (साधर्मी) असाधु (विधर्मी) के साथ भाषा का व्यवहार करते समय हित और मित वचन बोलता है । यदि साधु-असाधु मे हित, मित वचनो का प्रयोग न करे तो राग और अनर्थदण्ड आदि दोषो का प्रसङ्ग आता है । ऐसा समिति का लक्षण कहा है, परन्तु सत्य धर्म मे अपने सहधर्मी साधुओ या भक्तो के साथ धर्मवृद्धि के निमित्त या ज्ञान चारित्र के शिक्षण आदि के लिये प्रशसनीय बहुत बोलना भी स्वीकृत है अर्थात् सत्य धर्म वाला अपने सहधर्मियो के साथ धर्मवृद्धि के निमित्त अधिक भी बोल सकता है ।। १० ।।

प्रश्न—सयम किसे कहते है ? कोई भाषादि की निवृत्ति को सयम कहते हैं ? परन्तु—

भाषादि की निवृत्ति संयम नही है, क्योकि भाषा आदि की निवृत्ति का गुप्ति मे अन्तर्भाव हो जाता है । गुप्ति निवृत्ति रूप है इसलिये निवृत्ति रूप गुप्तियों मे भाषादि की निवृत्ति का अन्तर्भाव हो जाने से सयम का अभाव हो जाता है ।। ११ ।।

कोई कायादि प्रवृत्तिविशिष्ट को सयम कहते हैं, परन्तु—

कायादि प्रवृत्तिविशिष्ट सयम नही है । इसको संयम मानने मे समिति का प्रसग आता

---

१. कर्तव्यमि-ता., श्र., द । २. प्रसज्यते मु., द, ब ।

त्रसस्थावरवधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति चेत्; न; परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात् । १३ । अथ मतम्–द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां पृथिवीकायिकादीना स्थावराणां च प्राणिना वधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति; तदपि नोपपद्यते; कुतः ? परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात् । वक्ष्यते हि चारित्रभेदेषु परिहारविशुद्धिलक्षणं चारित्रमिति, तत्रान्तर्भावात् पृथक् संयमग्रहणमनर्थकं स्यात् । कस्तर्हि सयमः ।

समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः । १४ । ईर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्त[१]त्प्रतिपालनार्थः प्राणीन्द्रियपरिहारः संयम इत्युच्यते । एकेन्द्रियादिप्राणिपीडापरिहारः प्राणिसयमः । शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसयमः ।

अतोऽपहृतसंयमभेदसिद्धिः । १५ । एवं च कृत्वा अपहृतसंयमभेदसिद्धिर्भवति ।

है, क्योकि समिति कायादि दोष की निवृत्ति के लिये है अतः विशिष्ट कायादि की प्रवृत्ति को भी सयम नही कह सकते, क्योकि वह समिति मे अन्तर्भूत हो जाती है ।। १२ ।।

आत्यन्तिक त्रस, स्थावर जीवो के वध का निषेध भी सयम नही कहा जा सकता, क्योकि वह परिहारविशुद्धि चारित्र मे अन्तर्भूत हो जाता है । जिनका यह सिद्धान्त है कि दो इन्द्रियादि त्रस जीवो के और पृथ्वीकायादि स्थावर जीवो के वध का आत्यन्तिक निषेध (सर्वथा त्रस, स्थावर जीवो की विराधना नही करना) संयम है तो यह भी घटित नही होता, क्योकि सर्वथा जीवो की विराधना का अभाव तो परिहारविशुद्धि चारित्र मे अन्तर्भूत होता है । चारित्र के भेदो मे परिहारविशुद्धि चारित्र का लक्षण आगे कहेगे (शरीर से किसी भी जीव की विराधना नही होना परिहारविशुद्धि चारित्र है) । उसमे संयम का अन्तर्भाव हो जाने से सयम का पृथक् ग्रहण करना निरर्थक हो जायेगा । तो बताये —

सयम किसे कहते है ?

समितियो मे प्रवृत्ति करने वाले के प्राणी और इन्द्रियो का परिहार सयम है । ईर्या समिति आदि मे प्रवृत्ति करने वाले मुनि के जो समितियो की प्रतिपालना करने के लिये प्राणियो की पीडा का परिहार है और इन्द्रियो के विपयो से विरक्त होना है, उसे सयम कहते है । एकेन्द्रियादि प्राणियो की पीड़ा का परिहार करना, एकेन्द्रियादि जीवो का वध नही करना प्राणिसयम है और शब्दादि इन्द्रियो के विषयो मे राग नही करना, अति आसक्ति नही रखना, इन्द्रिय विपयो का त्याग करना, इन्द्रियसयम है ।। १४ ।।

अपहृत संयम मे भेद की सिद्धि है । सयम दो प्रकार का होता है—एक उपेक्षा सयम दूसरा अपहृत संयम । देशकाल के विधान को जानने वाले, पर के अनुपरोध (स्वाभाविक) रूप

---

१ –त्परिपा मु. द. ब श्र. ।

संयमो हि द्विविधः—उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्चेति। देशकालविधानज्ञस्य [1]परानुपरोधेन उत्सृष्टकायस्य त्रिधा गुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वङ्गलक्षण उपेक्षासंयमः। अपहृतसयमस्त्रिविधः—उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति। तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् परिपालयतः उत्कृष्टः, मृदुना प्रमृज्य [2]जन्तून् परिहरतो मध्यमः, उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः।

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशः ।१६। तस्यापहृतसयमस्य प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशो द्रष्टव्यः। तद्यथा, अष्टौ शुद्धय -भावशुद्धिः कायशुद्धिः विनयशुद्धिः ईर्यापथशुद्धिः भिक्षाशुद्धिः प्रतिष्ठापनशुद्धिः शयनासनशुद्धिः वाक्यशुद्धिश्चेति।

तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता। तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत्।

कायशुद्धिर्निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृताङ्गविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्तिः प्रशमसुखं मूर्तिमिव प्रदर्शयन्तीति। तस्या सत्या न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते नाप्यन्यतस्तस्य।

से शरीर से विरक्त, तीन गुप्तियो के धारक मुनि के रागद्वेष रूप चित्त की वृत्ति का नही होना, उपेक्षासयम है। अपहृतसयम उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है। प्रासुक वसतिका और आहार मात्र है बाह्य साधन जिनके तथा स्वाधीन हैं ज्ञान और चारित्र रूप करण जिनके, ऐसे साधुओ का बाह्य जन्तुओ के आने पर अपने आपको वहाँ से हटाकर सयम पालना उत्कृष्ट अपहृत सयम है। मृदु उपकरण से जन्तुओ को हटाने वाले के मध्यम अपहृत सयम और अन्य उपकरणो की इच्छा करने वाले के जघन्य अपहृत सयम होता है ।। १५ ।।

उस अपहृत सयम का प्रतिपादन करने के लिये आठ शुद्धियो का उपदेश दिया गया है। भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि, ये आठ शुद्धियाँ है।

भावशुद्धि—कर्मक्षयोपशमजनित मोक्षमार्ग की रुचि से जिसमे विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो चित्त रागादि उपद्रव से रहित है, वह भावशुद्धि है। इस भावशुद्धि के होने पर आचार इस प्रकार चमक उठता है जैसे स्वच्छ दीवाल पर आलेखित चित्र कर्म।

कायशुद्धि—समस्त आवरण और आभूषण से रहित शरीरसस्कार से शून्य यथाजात मल को धारण करने वाली, अग विकार से रहित और सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति को कायशुद्धि

---

१ परोपरोधने-मु। परोपरोधेन द. ब.। २. जीवान्-मु, द ब।

विनयशुद्धि: अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हं पूजाप्रवणा, ज्ञानादिषु च यथाविधि भक्तियुक्ता, गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः, प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञप्त्यादिषु प्रतिपत्तिकुशला, देशकालभावावबोधनिपुणा, आचार्यानुमतचारिणी। तन्मूलाः सर्वसंपदः, सैषा[1] भूषा पुरुषस्य, सैव नौः संसारसमुद्रतरणे।

ईर्यापथशुद्धि: नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलम्बितसम्भ्रान्तविस्मितलीलाविकारदिगन्तरावलोकनादिदोषविरहित[2]गमना। तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ।

भिक्षाशुद्धि: परीक्षितोभयप्रचारा प्रमृष्टपूर्वापरस्वाङ्गदेशविधाना आचारसूत्रोक्तकालदेश[3]प्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्ति: लोकगर्हितकुल-

---

कहते है। यह कायशुद्धि प्रशम सुख को मूर्त्तिमान के समान दिखाती है। अर्थात् कायशुद्धि से प्रशम भाव टपकता है। इस कायशुद्धि के होने पर न तो दूसरों से अपने को भय होता है और न अपने से दूसरो को।

अर्हन्त आदि पंच परम गुरुओ का यथायोग्य पूजा-सत्कार आदि करना, ज्ञानादि यथाविधि भक्ति से युक्त होना, सर्वत्र गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति रखना, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना, कथा और विज्ञप्ति आदि (पॉच प्रकार की स्वाध्याय) की प्रतिपत्ति मे (करने मे) कुशलता, देश, काल, भाव को जानने मे निपुणता तथा आचार्य के मतानुसार प्रवृत्ति करना यह **विनयशुद्धि** है। सर्व सम्पदाओ का मूल विनय है। यह विनयशुद्धि ही मानव का भूषण है और आत्मा को ससार-समुद्र से पार उतारने के लिये नौका के समान है।

ईर्यापथशुद्धि—नाना प्रकार के जीवस्थान, जीवयोनि, जीवाश्रय के बोधजनित प्रयत्न से जन्तुओ की पीडा का परिहार करना, गमनागमन क्रिया मे जीवो की रक्षा करना, ज्ञान रूपी सूर्य और अपनी इन्द्रियो के प्रकाश से निरीक्षित देश (क्षेत्र) मे गमन करना, शीघ्र, विलम्बित, सम्भ्रान्त, विस्मित, लीलाविकार, अन्य दिशाओ की ओर देखना आदि गमनक्रिया के दोषो से रहित गमन करना ईर्यापथ शुद्धि है। इस ईर्यापथशुद्धि के होने पर सयम उसी तरह प्रतिष्ठित होता है जैसे सुनीति (न्यायमार्ग को स्वीकार करने वाले) से वैभव।

भिक्षाशुद्धि—भिक्षा को जाते समय दोनो ओर दृष्टि रखना, स्वअङ्ग-देश का पूर्वापर परिमार्जन करना, आचारशास्त्र मे कथित काल, देश, प्रकृति आदि की प्रतिपत्ति मे कुशलता होना, लाभ-अलाभ, मान-अपमान मे समान मनोवृत्ति का होना, लोकगर्हित-निन्दित कुल को छोडकर

---

१. सैव भू–ता. श्र.। २. –परहित-मु, द., ब.। ३. –प्रवृत्तिप्रति-मु, द, ब.।

परिवर्जनपरा चन्द्रगतिरिव हीनाधिकगृहा, विशिष्टोपस्थाना दीनानाथदानशालाविवाह-यजनगेहादिपरिवर्जनोपलक्षिता दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना आगम-विहितनिरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला। तत्प्रतिबद्धा हि चरणसंपत् गुणसंपदिव साधुजनसेवानिबन्धना। सा लाभालाभयो: सुरसविरसयोश्च समसन्तोषाद्भिक्षेति भाष्यते। यथा सलीलसालङ्कारवरयुवतिभिरुपनीयमानघासो गौर्न तदङ्गगतसौन्दर्य-निरीक्षणपर: तृणमेवात्ति, यथा वा तृणोलूप नानादेशस्थ यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमवेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललितरूपवेषविलासावलोक-ननिरुत्सुक: शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेष चानवेक्षमाण: यथागतमश्नाति इति गौरिव चारो गोचार इति व्यपदिश्यते, तथा गवेषणेति च। यथा शकट रत्नभारपरिपूर्ण येन केनचित् स्नेहेन अक्षलेपं कृत्वा अभिलषितदेशान्तर वणिगुपनयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनुशकटीमनवद्यभिक्षायुरक्षम्रक्षणेन अभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीत्य-क्षम्रक्षणमिति च[१] नाम निरूढम्। यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना

भिक्षा करना, चन्द्रगति के समान हीन (दरिद्री), अधिक (धनाढ्य) घरो की मर्यादा होना, विशिष्ट विधान वाली, दीन अनाथ दानशाला, विवाह-यज्ञभोजनशाला आदि मे भिक्षा के लिये नही जाना, दीनवृत्ति का नही होना, प्रासुक आहार की गवेषणा मे चित्तवृत्ति का होना, आगम प्रणोत निर्दोष आहार से ही प्राणयात्रा को सफल मानना आदि क्रियाये भिक्षाशुद्धि है। जैसे साधुजनो की सेवा करने से गुण-सम्पत्ति प्राप्त होती है, वैसे भिक्षाशुद्धि मे तत्पर साधु को चारित्र रूपी सम्पदा की प्राप्ति होती है। लाभ और अलाभ मे, सरस और विरस मे समान सन्तोष होना वह भिक्षा कही जातो है और भिक्षा की शुद्धि भिक्षाशुद्धि है। जैसे—लीलासहित, सालङ्कार (आभूषणो से सजी-धजी, हाव भाव विलासवती) युवतियो के द्वारा लाये हुए घास को खाते समय गाय घास को ही खाती है, घास को ही देखती है, घास को डालने वाली युवती के अङ्गगत सौन्दर्य को नही देखती है, अथवा नाना देशस्थ यथायोग्य उपलब्ध होने वाले चारे के पूले को ही गाय खातो है, उसकी सजावट आदि को नही देखती है, उसी प्रकार भिक्षु भी परोसने वाली के मृदु, ललित रूप वेष-विलास आदि को देखने की उत्सुकता नही रखता है और न आहार शुष्क है, वा गीला (मृदु) है, वा कैसे चादी आदि के बर्तनो मे रखा है या कैसी उसकी योजना की गई है आदि की ओर ही उसकी दृष्टि रहती है, वह भिक्षु तो जैसा ही रूखा, सूखा, सरस, विरस, शुद्ध आहार मिलता है, उसको ही खाता है अत. भिक्षु के भोजन को गाय के समान चारा होने से गोचार या गवेषणा कहते है (गाय के समान ऐषणा गवेषणा है)। जैसे रत्न के भार से परिपूर्ण गाड़ी को वणिक् किसी तैल से लेपन करके-ओगन करके इच्छित देशान्तर मे ले जाता है वैसे ही मुनिगण भी सम्यग्दर्शनादि गुण रूपी रत्नो से भरी हुई शरीर रूपी गाडी को निर्दोष भिक्षा

---

१. नामरूढम् मु, द., व।

वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपि उदराग्नि प्रशमयतीति उदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते। दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते। येन केनचित्प्रकारेण स्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वेति स्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते।

प्रतिष्ठापनशुद्धिपरः संयतः नखरोमसिङ्घाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जन्तूपरोधमन्तरेण प्रयतते।

संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण। स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्याः, शृङ्गारविकारभूषणोज्वलवेषवेश्याक्रीडाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलशालादयश्च परिहर्तव्याः, अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारम्भाः सेव्याः।

(आहार) रूपी तैल का लेप करके-ओगन देकर उसे अभिप्रेत समाधि-नगर तक पहुँचा देता है अतः साधु के आहार का **अक्षम्रक्षण** नाम भी रूढ है अर्थात् साधु के भोजन को अक्षम्रक्षण भी कहते है। जैसे—भाण्डागार मे समुत्थित अग्नि को गृहस्थ शुचि वा अशुचि जल के द्वारा शमन करते है, उसी प्रकार मुनिगण भी रूखा-सूखा, मृदु-कठोर जैसा शुद्ध आहार मिलता है, उसके द्वारा अपनी उदराग्नि को शमन करता है, अत साधु की भिक्षा का नाम **उदराग्निशमन** भी है। दातृजनो को किसी प्रकार की बाधा पहुँचाये बिना, भ्रमर के समान (जैसे भ्रमर फूल को बाधा दिये बिना पुष्पो का रस चूसता है, वैसे ही) दाता को कष्ट पहुँचाये बिना साधु आहार ग्रहण करता है, अत. ऐसी भिक्षावृत्ति का नाम भ्रामरी है। अर्थात् इसको **भ्रमराहार या भ्रामरी वृत्ति** कहते है। जिस किसी प्रकार से स्वभ्रपूरण (गड्ढा भरने) के समान मुनिगण सरस, विरस आहार से उदर रूपी गड्ढे को भरते है अतः इसे **स्वभ्रपूरण** भी कहते है।

प्रतिष्ठापनशुद्धि मे तत्पर साधु नख, रोम, नाक, मल, थूक, वीर्य, मल-मूत्र और देह के परित्याग मे देशकाल को जानकर जन्तुओ की बाधा का परिहार करके प्रवृत्ति करता है। इसे **प्रतिष्ठापनशुद्धि** कहते हैं।

शय्या और आसन की शुद्धि मे तत्पर साधु को स्त्री, क्षुद्र, चौर, मद्यपायी, जुआरी, शराबी और पक्षियो को पकडने वाले आदि पापीजनो के स्थान मे वास (निवास) नही करना चाहिये तथा शृंगार, विकार, आभूषण, उज्वल वेश, वेश्या की क्रीडा से अभिराम (सुन्दर) गीत, नृत्य, वादित्र आदि से व्याप्त शाला आदि मे रहने का भी त्याग करना चाहिये। **शयनासनशुद्धि** वाले सयतो को तो अकृत्रिम (प्राकृतिक) पर्वत की गुफा, वृक्ष का कोटर आदि तथा कृत्रिम शून्यागार छोडे हुए घर आदि ऐसे स्थानो में रहना चाहिये जो उनके उद्देश्य से नही बनाये गए हो और न जिनमे उनके लिये कोई आरम्भ ही किया गया हो।

वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिताः(ता) परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकर-प्रयोगनिरुत्सुका व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला हितमितमधुरमनोहरा सयतस्य योग्या। तदधिष्ठाना हि सर्वसंपदः।

तपो वक्ष्यमाणभेदम् । १७ । कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तप । तदुत्तरत्र वक्ष्यमाणं द्वादशविकल्पमवसेयम् ।

परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः । १८ । परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते ।

अभ्यन्तरतपोविशेषोत्सर्गग्रहणात्सिद्धिरिति चेत्; न; तस्या[1]न्यार्थत्वात् । १९ । स्यान्मतम्–वक्ष्यते तपोऽभ्यन्तर षड्विधम्, तत्रोत्सर्गलक्षणेन तपसा ग्रहणमस्य सिद्धमित्यनर्थकं त्यागग्रहणमिति; तन्न, किं कारणम् ? तस्यान्यार्थत्वात् । तद्धि नियतकाल सर्वोत्सर्गलक्षणम्, अय पुनस्त्याग. यथाशक्ति अनियतकाल क्रियते इत्यस्ति भेदः ।

पृथ्वीकायिक आदि सम्बन्धी आरम्भादि की प्रेरणा जिसमे न हो, कठोर निष्ठुरादि परपीडाकारक प्रयोग से रहित, व्रत, शील आदि चारित्र का उपदेश देने वाले हित, मित, मधुर और मनोहर, साधु के योग्य जो वचन है, वह वाक्यशुद्धि है। यह वाक्यशुद्धि सर्व सम्पदाओ का आश्रय है ॥ १६ ॥

आगे जिसके भेद कहेगे, वह तप है। कर्मो का क्षय करने के लिये जो तपा जाता है, वह तप कहा जाता है। उस तप के १२ भेद है, जिनका वर्णन आगे करेंगे ॥ १७ ॥

परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं। सचेतन—हाथी, घोडा, स्त्री, नौकर आदि और अचेतन—धन-धान्य, सोना, चादी आदि परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते है ॥ १८ ॥

प्रश्न—छह प्रकार का अभ्यन्तर तप कहेगे, उसमे उत्सर्ग नामक एक तप है। उस तप के द्वारा त्याग का ग्रहण हो जाता है अत. त्यागधर्म का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ? **उत्तर**—उत्सर्ग तप मे त्याग का समावेश नही होता है, क्योकि उसका अर्थ भिन्न है। आभ्यन्तर तपो मे आये हुए उत्सर्ग मे नियत समय के लिये सर्वोत्सर्ग किया जाता है, परन्तु त्यागधर्म मे यथाशक्ति और अनियतकालिक त्याग होता है अतः दोनो मे भेद होने से दोनो पृथक्-पृथक् है ॥ १९ ॥

---

१. –स्यान्वर्थ –मु., द., ब ।

शौचवचनात्सिद्धिरिति चेत्; न; तत्रासत्यपि गर्द्धोत्पत्तेः । २० । अथ [1]मतमेतत्–व्याख्यातं शौचम्, तत्रास्यान्तर्भावात् त्यागग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्रासत्यपि गर्द्धोत्पत्तेः । असन्निहिते परिग्रहे कर्मोदयवशात् गर्द्धं उत्पद्यते, तन्निवृत्त्यर्थं शौचमुक्तम् । त्याग. पुन. सन्निहितस्यापायः दान वा स्वयोग्यम्, अथवा सयतस्य योग्यं ज्ञानादिदान त्याग इत्युच्यते ।

ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यम् । २१ । उपात्तष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यमित्याख्यायते । नास्य किञ्चनास्ति इत्यकिञ्चन , तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम् ।

अनुभूताङ्गनास्मरणतत्कथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यम् । २२ । मया अनुभूताङ्गना कलागुणविशारदा इति स्मरणं तत्कथाश्रवणं रतिपरिमलादिवासितं स्त्रीसंसक्तशयनासनमित्येवमादिवर्जनात् परिपूर्णं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते ।

शौचधर्म मे भी त्यागधर्म का अन्तर्भाव नही है, क्योकि शौचधर्म मे तत्कालीन परिग्रह के नही होने पर भी उसकी गृद्धि का त्याग किया जाता है । **प्रश्न**—शौचधर्म का पूर्व मे वर्णन किया है, उसी मे त्यागधर्म का अन्तर्भाव हो जाता है अतः त्यागधर्म का पृथग् ग्रहण करना निरर्थक है ? **उत्तर** –शौचधर्म और त्यागधर्म एक नही है, क्योकि शौचधर्म मे परिग्रह के न रहने पर भी कर्मोदय से होने वाली तृष्णा की निवृत्ति की जाती है, परन्तु त्यागधर्म मे विद्यमान परिग्रह छोडा जाता है । अथवा त्यागधर्म का अर्थ है—स्वयोग्य दान देना । अर्थात् सयत के योग्य ज्ञान, आहार, वसति, औषध आदि चार प्रकार का दान उत्तम त्यागधर्म कहा जाता है ।। २० ।।

'यह मेरा है', इस प्रकार की अभिसन्धि का त्याग करना आकिञ्चन्य है । उपात्त (जन्म से एकक्षेत्रावगाही) जो शरीर आदि परिग्रह है, उनमे सस्कार और राग आदि की निवृत्ति के लिये 'यह मेरा है', इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य कहलाता है । 'जिसके वह कुछ नही है' वह अकिञ्चन है और अकिञ्चन के भाव वा कर्म को आकिञ्चन्य कहते हैं ।। २१ ।।

अनुभूत अगना का स्मरण, उसकी कथा-श्रवण, स्त्रीसंसक्त शयनआसन आदि का त्याग करना ब्रह्मचर्य व्रत है । 'मैने उस कलागुण विशारदा स्त्री को भोगा था', इस प्रकार का चिन्तन **अनुभूताङ्गनास्मरण** है । ललना सम्बन्धी वार्ताओ को रुचिपूर्वक सुनना **तत्कथास्मरण** है । रतिकालीन गन्ध-द्रव्यो की सुवास से सुवासित और स्त्रियो से ससक्त शय्या, आसन, स्थान **स्त्रीसंसक्त शय्यासन** है । इन अनुभूतागनास्मरण, तत्कथाश्रवण, स्त्रीससक्त शय्या-आसन, स्थान आदि का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है ।। २२ ।। अथवा,

---

१. मत व्या. –मु., द , व ।

[1]अस्वातन्त्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा । २३ । अथवा ब्रह्मा गुरुस्तस्मिंश्चरणं तदनुविधान[2]मस्य अस्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं ब्रह्मचर्यमित्याचर्यते ।

अन्वर्थसंज्ञाप्रतिपादनार्थत्वाद्वा अपौनरुक्त्यम् । २४ । अथवा सर्वेषामेव परिहारः । यद्यपि गुप्तिसमित्यादिष्वन्तर्भूताः केचन इहोपदिश्यन्ते तथापि तेषां संवरणधारणसामर्थ्याद्धर्म इत्येषा संज्ञा अन्वर्थेति [3]प्रतिपादनार्थं पुनर्वचनमिति नास्ति पौनरुक्त्यम् ।

तद्भावनाप्रवणत्वाद्वा सप्तप्रकारप्रतिक्रमणवत् । २५ । अथवा, यथा ऐर्यापथिक-रात्रिन्दिवीय-पाक्षिक-चातुर्मासिक-सावत्सरिक-उन्मस्थानिकलक्षण सप्तप्रकारं प्रतिक्रमणं गुप्त्यादिप्रतिष्ठानार्थं भाव्यते, तथोत्तमक्षमादिदशविधधर्मभावना गुप्त्यादि[4]परिपालनार्थैवेति तत्रान्तर्भूतानामपि पृथगुपदेशो युक्तः ।

उत्तमविशेषणं दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थम् । २६ । यत्किञ्चिद् दृष्ट प्रयोजनमनुद्दिश्य

अस्वतन्त्रता के लिये गुरु रूप ब्रह्म मे आचरण करना ब्रह्मचर्य है, ब्रह्म अर्थात् गुरु, उसके आधीन अपनी प्रवृत्ति रखना, स्वच्छन्द नही बनना; गुरु की आज्ञापूर्वक चलना ब्रह्मचर्य कहलाता है ।। २३ ।।

अन्वर्थ (सार्थक) सज्ञा का प्रतिपादन करने के लिये दस धर्मों का वर्णन किया है, इसलिये पुनरुक्त दोष नही है । इस पुनरुक्त दोष का परिहार करते है कि यद्यपि ये सभी धर्म गुप्ति और समितियो मे अन्तर्भूत हो जाते है, ऐसा कोई कहते है तथापि इन धर्मों मे सवर के धारण करने का सामर्थ्य है । अतः 'धारण करने से धर्म' इस सार्थक सज्ञा का प्रतिपादन करने के लिये धर्म का पृथक् उपदेश दिया है । इसमें पुनरुक्त दोष नही है ।। २४ ।।

सप्त प्रकार के प्रतिक्रमण के समान दस धर्मों का वर्णन भी गुप्ति आदि के पालने के लिये है । अथवा, जैसे—ऐर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक और उत्तमार्थ लक्षण सात प्रकार के प्रतिक्रमण, गुप्ति आदि को प्रतिष्ठा के लिये किये जाते हैं, उसी प्रकार उत्तम क्षमा आदि दस धर्मो को भावना भी गुप्ति आदि के परिपालन के लिये ही है अत गुप्ति और समिति मे दस धर्मो का अन्तर्भाव होने पर भी इनका पृथक् उपदेश दिया है जो युक्त भी है ।। २५ ।।

उत्तम विशेषण दृष्ट प्रयोजन के निराकरण के लिये है । यत् किञ्चित् (कुछ भी) दृष्ट प्रयोजन (लौकिक कार्यों) का उद्देश्य लेकर नही किये गये ही क्षमादि धर्म सवर के कारण होते

---

१. स्वा-मु. द. व. । २. -धानमस्वा-मु द. व । -नमन्वा-ना । ३ प्रदर्शनार्थं ना. अ । ४ -दिपरि-मू. ता ।

क्रियमाणानि क्षमादीनि संवरणकारणानि भवन्तीत्यस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थमुत्तमविशेषण-मुपादीयते–उत्तमक्षमा उत्तममार्दवमित्यादि। कथं पुनरेषां संवरहेतुत्वमिति चेत् ? अत्रोच्यते–

सर्वेषां स्वगुणप्रतिपक्षदोषभावनात् संवरहेतुत्वम् ।२७। सर्वेषामेवैषाम् उत्तम-क्षमादीनां स्वगुणस्य प्रतिपक्षदोषस्य च भावनात् सवरहेतुत्वमवसेयम्। तद्यथा, उत्तमक्षमायास्तावत्–व्रतशीलपरिरक्षणम्, इहामुत्र च दुःखानभिष्वङ्गः, सर्वस्य जगतः सम्मानसत्कारभावपरिपंक्त्यादिगुणः, तत्प्रतिपक्षस्य क्रोधस्य धर्मार्थकाममोक्षप्राणनाशनं दोष इति विचिन्त्य क्षमितव्यम्। किञ्च, क्रोधनिमित्तस्य [1]स्वात्मनि भावाभावानु-चिन्तनात्–परैः प्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तस्य आत्मनि भावचिन्तनं तावत्–विद्यन्ते मय्येते दोषाः, किमत्रासौ मिथ्या ब्रवीतीति क्षमितव्यम्। अभावचिन्तनादपि, नैते मयि विद्यन्ते दोषाः, अज्ञानादसौ ब्रवीतीति क्षमा कार्या।

अपि च, बालस्वभावचिन्तनं परोक्षप्रत्यक्षाक्रोशताडनमारणधर्मभ्रंशनानामुत्त-रोत्तररक्षार्थम्। तद्यथा–परोक्षमाक्रोशति बाले क्षमितव्यम्। एवंस्वभावा हि बाला

है। इस प्रकार इस विशेषता की सूचना देने के लिये उत्तम विशेषण दिया गया है, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव इत्यादि। प्रश्न—ये दस धर्म सवर के कारण कैसे है ?—उत्तर देते है—॥ २६ ॥

इन उत्तम क्षमा आदि सर्व धर्मो मे स्वगुण-प्राप्ति और प्रतिपक्षी दोष की निवृत्ति की भावना की जाती है अत. ये दस धर्म सवर के कारण है, ऐसा जानना चाहिये। जैसे—व्रत-शील का रक्षण, इहलोक और परलोक मे दु.ख नही होना, सर्वजगत् मे सन्मान और सत्कार प्राप्त होना आदि क्षमा के गुण हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का नाश करना क्षमाधर्म के प्रतिपक्षी क्रोध के दोष है। अर्थात् क्षमा के कारण व्रत-शीलादि का रक्षण, सन्मान-सत्कार आदि की प्राप्ति होती है और क्रोध से धर्मादि सर्व गुणो का नाश होता है, ऐसा चिंतन करके क्षमा धारण करनी चाहिये। अथवा पर (दूसरे) के द्वारा प्रयुक्त गाली आदि क्रोधनिमित्त का अपनी आत्मा मे भावाभाव का चितन करना चाहिये कि ये दोष मुझ मे विद्यमान है ही, यह क्या मिथ्या कहता है ? ऐसा विचार करके गाली देने वाले को क्षमा करना चाहिये (यह भाव चिन्तन है)। यदि यह दोष अपने मे नही है तो 'यह दोष मुझमे नही है, अज्ञान के कारण यह वेचारा ऐसा कहता है' इस प्रकार अभाव का चिन्तन करके क्षमा करना चाहिये।

अथवा, गाली वा आक्रोश वचन कहने वाले के वाल (मूर्ख) स्वभाव का चिन्तन करना चाहिये। परोक्ष, प्रत्यक्ष, आक्रोश, ताड़न-मारण, धर्मभ्रंश आदि का उत्तरोत्तर रक्षार्थ विचार करना

---

१ स्वात्मभावानुचि-मु, द., ब.।

भवन्ति । दिष्टया च मा परोक्षमाक्रोशति न प्रत्यक्षम् । एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः । प्रत्यक्षमाक्रोशति सोढव्यम् । विद्यत एतत् बालेषु, दिष्टया च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति न ताडयति । एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्य. । ताडयत्यपि च मर्षितव्यम् । दिष्टया च मां ताडयति न प्राणैर्वियोजयतीति । एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः । प्राणैर्वियोजयत्यपि तितिक्षा कर्तव्या दिष्टया च मा प्राणैर्वियोजयति न धर्माद् भ्रंशयति इति । किञ्चान्यत्, ममैवापराधोऽयम् । यत्पुराचरितं[1] तन्महद् दुष्कर्म तत्फलमिदमाक्रोशवचनादि निमित्तमात्रं परोऽत्रेति सहितव्यम् ।

मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णन्ति, साधवोऽपि साधुमामन्यन्ते । ततश्च सम्यग्ज्ञानादीना पात्री भवति । [2]तत. स्वर्गापवर्गफलावाप्ति । मलिने मनसि व्रतशीलानि नावतिष्ठन्ते । साधवश्चैन परित्यजन्ति । तन्मूलाः सर्वा विपद. ।

चाहिये । जैसे—कोई बालक (मूर्ख) परोक्ष मे गाली देता है, कटु वचन कहता है तो बालक पर क्षमा ही करनी चाहिये । सोचना चाहिये कि मूर्खो का यह स्वभाव ही है । भाग्यवश यह मुझे परोक्ष (पीठ पीछे) ही गाली देता है, प्रत्यक्ष तो नही । मूर्ख तो मुँह पर गाली देते है अत. लाभ ही है, ऐसा मानना चाहिये । यदि मूर्ख प्रत्यक्ष गाली देता है तो सोचना चाहिये कि वह भाग्यवश मुझे गाली ही देता है, मारता तो नही, ऐसा विचार कर क्षमा करना चाहिये । वा गाली देना बालको का स्वभाव ही है, मेरा तो इसमे लाभ ही है, ऐसा मानना चाहिये कि मूर्ख तो मारते भी है। यदि मूर्ख मारता है तो विचारना चाहिये कि भाग्यवश यह मुझे मारता ही है, प्राण तो नही लेता है, प्राणो से रहित तो नही करता है, मूर्ख तो प्राण भी लेते है, यह तो मुझे लाभ ही है, ऐसा मानना चाहिये । प्राण ले लेने पर भी क्षमा ही करना चाहिये । विचार करना चाहिये कि भाग्यवश यह मुझको मारता ही है, मेरे प्राण ही लेता है, मेरा धर्म तो नष्ट नही करता । इस प्रकार बालस्वभाव के चिन्तन द्वारा चित्त मे क्षमा भाव को पुष्ट करना चाहिये । अथवा, सोचना चाहिये कि यह मेरा ही अपराध है जो मैंने पूर्व मे महान् दुष्कर्म किये थे, उसके फलस्वरूप मुझे ये गालो-कुवचन सुनने पड रहे है । यह गालो देने वाला तो इसमे निमित्तमात्र है, इसमे मूल कारण तो मेरा पूर्वोपार्जित कर्म ही है, ऐसा विचार करके सहन करना चाहिये ।

निरभिमानी और मार्दव गुणो से युक्त व्यक्ति पर गुरुओ का अनुग्रह होता है, साधुजन भी उसे साधु मानते हैं, गुरुजनो के अनुग्रह से वह सम्यग्ज्ञानादि का पात्र होता है । अर्थात् निरभिमानी को गुरुओ के अनुग्रह से सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है और उससे स्वर्ग तथा मोक्षफल की प्राप्ति होती है। मान कषाय से मलिन चित्त मे व्रत शीलादि गुण नही रह सकते है और मानी को साधुजन छोड़ देते है । सर्व विपदाओ की जड़ अहकार भाव है ।

---

१ —त दुश्च मू. । २. अत· ता., श्र. ।

ऋजुहृदयमधिवसन्ति गुणा., मायाचारं नाश्रयन्ते। गर्हिता च गतिर्भवति।

शुच्याचारमिहापि सन्मानयन्ति सर्वे। विश्रम्भादयश्च गुणाः तमधितिष्ठन्ति। लोभभावनाक्रान्तहृदये नावकाश लभन्ते गुणाः, इह चामुत्र चाऽचिन्त्य व्यसनमसावश्नुते।

सत्यवाचि प्रतिष्ठिताः सर्वा गुणसपद.। अनृतभाषिणं बन्धवोऽपि अवमन्यते (न्ते) मित्राणि च परित्यजन्ति, जिह्वाछेदनसर्वस्वहरणादिव्यसनभागपि भवति।

सयमो ह्यात्महितः। तमनुतिष्ठन्निहैव पूज्यते परत्र किमस्ति वाच्यम्। असयतः प्राणवधविषयरागेषु नित्यप्रवृत्तः कर्माशुभं सचिनुते।

तपः सर्वार्थसाधनम्। तत एव ऋद्धय. संजायन्ते। तपस्विभिरध्युषितान्येव क्षेत्राणि लोके तीर्थतामुपगतानि। तद्यस्य न विद्यते स तृणाल्लघुर्लक्ष्यते। मुञ्चन्ति तं सर्वे गुणा॰। नासौ मुञ्चति संसारम्।

सरल हृदय मे गुणो का वास होता है, गुण मायाचार का आश्रय नही लेते। अर्थात् मायाचारी मे गुणो का वास नही होता। मायाचार से निन्दनीय तिर्यंचादि गति प्राप्त होती है।

शुचि आचार वाले निर्लोभ व्यक्ति का इस लोक मे सर्व लोग सन्मान करते है। विश्वास आदि उसका आश्रय लेते है। अर्थात् निर्लोभ व्यक्ति का सर्व जन विश्वास करते है। लोभ से आक्रान्त हृदय मे गुण नही रहते है, लोभी इस लोक (भव) मे अचिन्त्य दु ख और परलोक मे दुर्गति को प्राप्त होता है। अर्थात् इह-परलोक मे लोभी अनेक दु ख भोगता है।

सर्व गुण सम्पदाये सत्यवादी मे प्रतिष्ठित होती है। असत्य वचन बोलने वाले का बन्धुजन भी तिरस्कार करते है, मित्रगण उसे छोड़ देते है तथा जिह्वाछेदन, सर्वस्वहरण आदि दण्ड उसे भोगने पडते हैं।

संयम आत्मा का हित करने वाला है। सयमी मानव इस लोक में पूजित होता है, परलोक को तो वात ही क्या? अर्थात् सयमी परलोक मे महान् बनता ही है। असयमी जन निरन्तर हिंसादि पापो मे तथा पचेन्द्रिय विपयो में प्रवृत्ति करके अशुभ कर्मो का सचय करते हैं (जिससे इस लोक और परलोक मे दु खी होते है)।

तप सर्व अर्थो का साधन है। तप से सर्व कार्यो की सिद्धि होती है। तप से ही अणिमा, महिमा आदि सर्व ऋद्धियो की प्राप्ति होती है। तपस्वियो की चरण-रज से पवित्र स्थान लोक मे तीर्थता को प्राप्त हो जाते है। जिसके तप नही है, वह तृण से भी लघु कहलाता है, तपहीन मानव घास-फस से भी हीन है। तपोवल से हीन मानव को गुण छोड देते है, उसके हृदय मे गुणो का

उपधित्यागः पुरुषहितः। यतो यतः परिग्रहादपेतः ततस्ततोऽस्य खेदो व्यपगतो भवति। निरवद्ये मन.प्रणिधानं[१] पुण्यविधानम्। परिग्रहाशा बलवती सर्व-दोषप्रसवयोनिः। न तस्या उपधिभि' तृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलनिधेरिह बडवाया। अपि च, कः पूरयति दुःपूरमाशागर्तम्। दिने दिने यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते। शरीरादिषु निर्ममत्व' परमनिवृत्तिमवाप्नोति। शरीरादिषु कृताभिष्वङ्गस्य सर्वकालमभिष्वङ्ग एव संसारे।

ब्रह्मचर्यमनुपालयन्त हिंसादयो दोषा न स्पृशन्ति। नित्याभिरतगुरुकुलावास-मधिवसन्ति गुणसंपद। वराङ्गनाविलासविभ्रमविधेयीकृत. पापैरपि विधेयीक्रियते। अजितेन्द्रियता हि लोके प्राणिनामवमानदात्रीति। एवमुत्तमक्षमादिषु तत्प्रतिपक्षेषु च गुणदोषविचारपूर्विकाया क्रोधादिनिवृत्तौ सत्या तन्निबन्धनकर्मास्रवाभावात् महान् संवरो भवति।

वास नही रहता तथा वह ससारवास से नही छूट सकता, सदा ससार मे परिभ्रमण करता रहता है।

परिग्रह का त्याग करना ही आत्मा का हित (कल्याण) है। जैसे-जैसे आत्मा परिग्रह से रहित होता है, परिग्रह का त्याग करता है, वैसे-वैसे इसके खेद (दुःख) के कारण हट जाते है। परिग्रह की व्याकुलतारहित मन मे उपयोग की एकाग्रता होती है और पुण्य कर्म का सञ्चय होता है। परिग्रह की आशा बडी बलवती है और सर्व दोषो की उत्पत्ति का स्थान है। जैसे—पानी से समुद्र का बडवानल शान्त नही हो सकता, उसी प्रकार सासारिक पदार्थो से आशारूपी बडवानल तृप्त नही हो सकता, शान्त नही हो सकता। इस आशा रूपी दुष्पूर गड्ढे को कौन पूर्ण कर सकता है (कौन भर सकता है?) अर्थात् इसका भरना बहुत कठिन है। प्रतिदिन जो-जो वस्तु आशा की पूर्त्ति के लिए इस आशागर्त्त मे डाली जाती है त्यो-त्यो यह गड्ढा विशेष गहरा होता जाता है। शरीर आदि मे ममत्व नही करने वाला व्यक्ति ही परम सन्तोष को प्राप्त होता है। शरीर आदि मे ममत्व करने वाले के ससार परिभ्रमण सुनिश्चित है। वह ससार से छूट नही सकता।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले मानवो को हिंसादि दोष स्पर्श नही करते है अर्थात् उन्हे हिसादि दोष नही लगते है। नित्य गुरुकुल मे रहने वाले ब्रह्मचारी को सर्व गुण रूपी सम्पदाएँ सहज प्राप्त हो जाती है। स्त्री-विलास-विभ्रम आदि का शिकार हुआ प्राणी पापो का भी शिकार बन जाता है। अर्थात वनिताओ के वशीभूत हुआ प्राणी हिंसादि सर्व पापो मे प्रवृत्ति करने लग जाता है, क्योकि इस लोक मे इन्द्रियो की पराधीनता ही प्राणियो को अपमानदात्री है (अपमान, तिरस्कार कराने वाली है)। इस प्रकार उत्तम क्षमादि दस धर्मों के गुणो का और इन धर्मों के प्रतिपक्षी क्रोधादि के दोषो का विचार करने पर क्रोधादि की निवृत्ति हो जाती है।

---

१ पुण्यनिदान ता. श्र।

व्यक्तिवचनभेदात् निर्देशवैलक्षण्यमिति चेत्; न; सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकस्यै-कत्वादाविष्टलिङ्गत्वात् ।२८। स्यान्मतम्—यथा शुक्लः पटः शुक्ला शाटी शुक्लं वस्त्रं शुक्लौ कंवलौ शुक्लाः कंवला [1]इति सति सामानाधिकरण्ये व्यक्तिवचनयोरभेदो दृश्यते, न च तथेहाभेदः, ततो निर्देशो विलक्षण इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकैकत्वात् । सर्वेषूत्तमक्षमादिषु संवरलक्षणो धर्मभावः अस्ति, स च एकः, तस्य विवक्षितत्वात् एकवचननिर्देशः । आविष्टलिङ्गश्च धर्मशब्दः नान्यसम्बन्धे स्वलिङ्गं जहाति ।

आह—क्रोधाद्यनुत्पत्तिः क्षमादिविशेषप्रत्यनीकालम्बनादित्युक्तम्, तत्र कस्मात् क्षमादीनयमवलम्बते नान्यथा वर्तते इति ? उच्यते—यस्मात्तप्तायस्पिण्डवत् क्षमादिपरिणते-नात्महितैषिणा कर्तव्याः—

क्रोधादि की निवृत्ति हो जाने पर क्रोधादि निमित्त होने वाले कर्मों का आस्रव रुक जाता है और महान् सवर होता है ।। २७ ।।

व्यक्तिवचन के भेद से 'धर्म' शब्द मे निर्देश की विलक्षणता नही है, क्योकि सभी धर्मो मे धर्म भाव के अव्यतिरेक के एकत्व और अविशिष्टलिगत्व होने से एकत्व है । **प्रश्न**—शुक्ल (श्वेत) कपड़ा, श्वेत साडी, श्वेत वस्त्र, सफेद दो कम्बल, श्वेत बहुत सी कम्बल, इनमे समानाधिकरण होने से व्यक्ति और वचन मे (विशेष्य और विशेषण में) भेद नही देखा जाता है, परन्तु धर्म मे समानाधिकरण वा विशेष्य विशेषण भाव होते हुए भी यहाँ अभेद नही है अर्थात् भेद देखा जाता है; इसके निर्देश में विलक्षणता है । अर्थात् इसके साथ वचनभेद पाया जाता है 'ब्रह्मचर्याणि' बहुवचन और नपुसक लिंग होते हुए भी 'धर्मः' शब्द एकवचन और पुल्लिग है, 'शुक्लः पटः, शुक्लौ पटौ' के समान अभेद नही है । **उत्तर**—इसमे भेद होने मे कोई दोष नही है, क्योंकि सभी क्षमादि धर्मो मे एक सवर रूप धर्म भाव पाया जाता है, वह एक है अतः उस सवर रूप धर्म की प्रधानता से धर्म शब्द मे एकवचन का निर्देश किया गया है । धर्म शब्द नित्य पुल्लिग है अतः 'ब्रह्मचर्याणि' के साथ भी वह अपना लिंग नही छोड़ता है ।। २८ ।।

प्रश्न—क्षमादि विशेष प्रत्यनीक का अवलम्बन लेने से (क्रोधादिक के प्रतिपक्षी क्षमादिक का अवलम्बन लेने से) क्रोधादिक की उत्पत्ति नही होती, ऐसा कहा है, परन्तु किसका अवलम्बन लेने से यह आत्मा क्षमादि भावो को प्राप्त होता है, अन्यथा (क्रोधादि रूप) प्रवृत्ति नही करता ? **उत्तर**—सतप्त लोहपिण्ड के समान (जैसे सर्व लोहपिण्ड मे अग्नि का प्रवेश है, उसके समान) क्षमादि से परिणत आत्महितैषी के द्वारा करने योग्य कार्य कहते है—

---

१. इति सा–मु , द., ब. ।

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधि-दुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वभावोऽनित्यत्वम् । १ । आत्मना रागादि-परिणामात्मना कर्मनोकर्मभावेन गृहीतानि उपात्तानि पुद्गलद्रव्याणि, अनुपात्तानि परमाण्वादीनि, तेषा सर्वेषा द्रव्यात्मना नित्यत्व पर्यायात्मना सततमनुपरतभेदससर्गवृत्ति-त्वादनित्यत्वम् । इमानि[1] हि शरीरेन्द्रियविषयोपभोग[2]परिभोगद्रव्याणि समुदयरूपाणि जलबुद्बुद्वदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिषु अवस्थाविशेषेषु सहोपलभ्यमानसयोगविपर्ययाणि । मोहादत्राज्ञो नित्यता मन्यते । न किञ्चित्ससारे समुदित ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यत्वानुप्रेक्षा । एव ह्यस्य चिन्तयतस्तेषु अभिष्वङ्गाभावात् भुक्तोज्झितगन्धमाल्यादिषु इव वियोगकालेऽपि विनिपातो नोत्पद्यते ।

क्षुधितव्याघ्राभिद्रुतमृगशाववज्जन्तोर्जरामृत्युरुजान्तरे[3] परित्राणाभावोऽशरण-त्वम्[4] । २ । शरणं द्विविधम्—लौकिकं लोकोत्तर चेति । तत्प्रत्येक त्रिधा—

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म रूप स्वतत्त्व का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है, ये ही भावनाएँ उत्तम क्षमादि धर्म की कारण है ॥ ७ ॥

उपात्त और अनुपात्त द्रव्य के सयोग के व्यभिचार-स्वभाव का चिन्तन करना अनित्य भावना है। आत्मा के द्वारा रागद्वेषादि परिणामो से कर्म और नोकर्म रूप से जो पुद्गल द्रव्य ग्रहण किये गये है, वे उपात्त द्रव्य है तथा परमाणु आदि पुद्गल द्रव्य अनुपात्त है। ये सभी उपात्त-अनुपात्त पुद्गल द्रव्य द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा नित्य होते हुए भी पर्याय दृष्टि से प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने से अनित्य है। ऐसा विचार करना **अनित्य भावना है।** शरीर तथा पचेन्द्रियो के विषयोपभोग-परिभोग रूप द्रव्य जलबुद्बुद के समान विनश्वर है। गर्भादि अवस्थाओ मे जो सहोपलम्भमान द्रव्यो का सयोग था, उनका इस समय सयोग नही है। मोह के कारण अज्ञानी जीव इनको नित्य मानते है। आत्मा के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग रूप स्वभाव को छोडकर ससार मे कोई भी वस्तु नित्य नही है, ऐसा चिन्तन करना अनित्य अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार अनित्यत्व का चिन्तन करने वाले प्राणी के इन सासारिक पदार्थो मे आसक्ति का अभाव होने से भोगकर छोडी हुई माला, गन्ध आदि द्रव्यो के समान इन पदार्थों के वियोगकाल मे मानसिक ताप नही होता ॥ १ ॥

क्षुधित व्याघ्र के पजो से पकडे हुए हरिण के बच्चे के समान जन्म, जरा, रोग, मृत्यु आदि

---

१. —निश-मु., द., व , ज. । २ —गद्रव्या-मु., द , व., ज । ३ —न्तके प —मु , व., ज., श्र । ४. शरणमू मु., द., व., ज. ।

जीवाजीवमिश्रकभेदात्। तत्र राजा देवता वा लौकिकं जीवशरणम्, [1]प्राकारादि अजीवशरणम्, ग्रामनगरादि मिश्रकम्। पञ्च गुरवो लोकोत्तरं जीवशरणम्, तत्प्रतिबिम्बाद्यजीवशरणम्, सधर्मोपकरणसाधुवर्गोमिश्रकशरणम्। तत्र यथा मृगशावस्य एकान्ते बलवता क्षुधितेन आमिषैषिणा व्याघ्रेणाभिद्रुतस्य न किञ्चित् शरणमस्ति तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रियविप्रयोगाप्रियसंयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिसमुत्थितेन दुःखेनाभिभूतस्य जन्तोः शरणं न विद्यते। परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायीभवति न व्यसनोपनिपाते। यत्नेन सञ्चिता अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति। संविभक्तसुखदुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते। बन्धवः समुदिताश्च रुजा परीतं न परियान्ति। अस्ति चेत् सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तरणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद्भवव्यसनसकटे [2]धर्म एव शरणम्। सुहृदर्थोऽपि [न] अनपायी, नान्यत्किञ्चिच्छरणमिति भावनमशरणानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतः नित्यमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विग्नस्य सासारिकेषु भावेषु ममत्वविगमो भवति। भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रतीते (प्रणीते) एव वचसि [3]प्रतियत्नो भवेत्।

मे व्याप्त जन्तु का रक्षक कोई नही है यह अशरण है। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से शरण दो प्रकार की है। प्रत्येक शरण जीव, अजीव और मिश्र के भेद से तीन-तीन प्रकार की है। राजा, देवता, स्वामी आदि लौकिक जीव शरण है। परकोटा खातिका आदि लौकिक अजीव शरण है तथा ग्राम, नगरादि मिश्र लौकिक शरण है। पच परमेष्ठी लोकोत्तर जीव शरण है, पच परमेष्ठो के प्रतिबिम्ब लोकोत्तर अजीव शरण है और धर्मोपकरण सहित साधुवर्ग लोकोत्तर मिश्र शरण है। जैसे—भूख से व्याकुल मासाहारी बलवन्त व्याघ्र के द्वारा भयकर अटवी मे पकडे हुए हरिण के बच्चे को छुडाने के लिये कोई शरण नही है, उसी प्रकार इस ससार रूपी अटवी मे जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, प्रियजन का वियोग, अनिष्ट का सयोग, इच्छित वस्तु का अलाभ, दारिद्र्य और मानसिक व्यथा आदि से उत्पन्न दुःखो से ग्रस्त (पीड़ित) जन्तु को कोई शरण नही है। यह परिपुष्ट शरीर भी मात्र भोजन करने मे सहायक है, दुःख आने पर सहायक नही होता है। प्रयत्नपूर्वक सचय किया हुआ धन भी भवान्तर मे साथ नही जाता है। सुख-दुःख मे साथ रहने वाले मित्रगण भी मरण के समय रक्षा नही कर सकते। बान्धवो का समुदाय भी रोग से घिरे हुए प्राणो को बचा नही सकता, उसका रोग मिटा नही सकता। यदि कोई एकमात्र तरणोपाय है, वा संसार मे जीव का काई रक्षक है तो वह अच्छी तरह आचरण किया गया धर्म ही है। यही आपत्ति रूपी महासमुद्र से पार उतार सकता है। मृत्यु के जाल मे पडे हुए प्राणी को इन्द्र आदि भी बचा नही सकते अतः संसार के दुःखो से बचाने वाला एकमात्र धर्म ही शरण है। मित्र, धन, पुत्र-

---

१. दुर्गादिक लौकिकमजी –मु.। हर्म्यं प्राकारपरिखादय अ. मा. २। २. पचपरमेष्ठिरूप –मू. टि।
३ प्रतिपन्नो मु, द., ब, ज.।

द्रव्यादिनिमित्ता आत्मनो [1]भवान्तरावाप्तिः संसारः । ३ । चतुर्विधा आत्मावस्थाः—ससारः असंसारः नोससारः तत्त्रितयव्यपायश्चेति । तत्र ससारश्चतसृषु गतिषु नानायोनिविकल्पासु परिभ्रमणम् । अनागतिरससारः शिवपदपरमामृतसुखप्रतिष्ठा । नोससारः सयोगकेवलिनः चतुर्गतिभ्रमणाभावात् [2]असंसारप्राप्त्यभावाच्च ईषत्ससारो नोससारः इति । अयोगकेवलिनः तत्त्रितयव्यपाय, भवभ्रमणाभावात् सयोगकेवलिवत् प्रदेशपरिस्पन्दविगमात् असंसारावाप्त्यभावाच्च । देहपरिस्पन्दाभावेऽपि देहिनः सततं प्रदेशचलनमस्ति, ततः सदा ससार एव । सिद्धानामयोगकेवलिना च नास्ति प्रदेशचलनम्, इतरेषां त्रिधाऽवसीयते । स पुन ससार क्वचिदनादिनिधनः अभव्यापेक्षया भव्यसामान्यार्पणया च, क्वचित् अनादिरुच्छेदवान् भव्यविशेषापेक्षया । सादि सनिधनो नोसंसारः[3] । अनिधन सादिरससारः[4] । [5]तत्त्रितयव्यपायोऽन्तर्मुहूर्तकालः ।

पौत्रादिक कोई भी अनपायी शरण नही है, धर्म को छोडकर। ऐसा चिन्तन करना **अशरण अनुप्रेक्षा** है। 'मैं अशरण हूँ' इस प्रकार का निरन्तर चिन्तन करने वाले पुरुष के भय का उद्वेग आने पर सासारिक पदार्थों के प्रति ममत्व नही रहता है और केवली भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ प्रणीत वचनो की ओर ही उसका चित्त जाता है ।। २ ।।

द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के निमित्त से आत्मा की भवान्तर-प्राप्ति का नाम ससार है। आत्मा की अवस्था चार प्रकार की है—ससार, असंसार, नोससार और तीनो ससार से रहित विलक्षणावस्था। नारकी, तिर्यञ्च, देव और मनुष्य, इन चारो गतियो मे स्थित नाना (चोरासी लाख) योनियो में परिभ्रमण करना ससार है। फिर जन्म नही लेना, शिवपद-प्राप्ति या परम अमृत रूप सुख, प्रतिष्ठा असंसार है। अर्थात् नाना योनियो मे व्याप्त चारो गतियो के भ्रमण रूप ससार से छूट जाना। चतुर्गति के भ्रमण का अभाव होने से तथा अभी असंसार (मोक्ष) की प्राप्ति का अभाव होने से सयोगकेवली की अवस्था ईषत् ससार या नोससार है। अयोगकेवली इन तीनो से विलक्षण है। इनके चतुर्गतिभ्रमण का तो अभाव है, असंसार (मोक्ष) अवस्था की अभी प्राप्ति नही हुई है और सयोगकेवली के समान इनके आत्मप्रदेशो मे परिस्पन्दन भी नही है अतः अयोगकेवली की अवस्था इन तीनो से विलक्षण है। जब तक शरीर परिस्पन्दन न होने पर भी निरन्तर आत्मप्रदेशो का चलन होता रहता है, तब तक ससार है। सिद्ध और अयोगकेवलियो के आत्मप्रदेश परिस्पन्दित नही है। अन्य सर्व जीवो के मन, वचन, काय के निमित्त से परिस्पन्दन होता है, उसमे कुछ प्रदेश तो अचल हैं, कुछ चल हैं और कुछ चलाचल है,[6] अतः तीन प्रकार के हैं। अभव्य तथा भव्य सामान्य की अपेक्षा ससार अनादि अनन्त है, भव्यविशेष की अपेक्षा अनादि और उच्छेद वाला

---

१. भावा –ता., मू । २ मोक्ष –ता टि । ३ सयोगकेवलिन -श्र टि । ४ मोक्ष-श्र टि.। ५ अयोगकेवलिन. श्र टि । ६ विग्रहगति मे आत्मप्रदेश चल ही होते हैं। शेष अवस्थाओ मे जीव के प्रदेश चलाचल होते है, आठ मध्यप्रदेश अचल है और शेष प्रदेश चल है।

तत्र द्रव्यनिमित्त· संसारश्चतुर्विध· कर्मनोकर्मवस्तुविषयाश्रयभेदात् । तत्र क्षेत्रहेतुको द्विविधः—स्वक्षेत्रपरक्षेत्रविकल्पात् । लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यात्मन· कर्मोदयवशात् संहरणविसर्पणधर्मणः हीनाधिकप्रदेशपरिणामावगाहित्व स्वक्षेत्रससार । सम्मूर्च्छनगर्भोपपादजन्मनवयोनिविकल्पाद्यालम्बन· परक्षेत्रससारः । कालो द्विविध·—परमार्थरूपो व्यवहाररूपश्चेति । तयोर्लक्षणं प्राग्व्याख्यातम् । तत्र परमार्थकालवर्तितपरिस्पन्देतरपरिणामविकल्प [1]तत्पूर्वककालव्यपदेशौपचारिककालत्रयवृत्तिः कालससार । भवनिमित्त· संसार· द्वात्रिंशद्विधः—पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकाः प्रत्येकं चतुर्विधाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदात् । वनस्पतिकायिकाः द्वेधा—प्रत्येकशरीरा· साधारणशरीराश्चेति । प्रत्येकशरीरा द्वेधा—पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात् । साधारणशरीराश्चतुर्धा—सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पात् । विकलेन्द्रिया· प्रत्येकं द्विधा पर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पात् । पञ्चेन्द्रियाश्चतुर्धा सञ्ज्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकापेक्षयेति । भावनिमित्तः संसारो द्वेधा

है । नोससार (सयोगकेवली) सादि और सनिधन (सान्त) है । अससार (मोक्ष) सादि और अनिधन है । तोनो से विलक्षण अयोगकेवली का काल अन्तर्मुहूर्त्त है ।

कर्म, नोकर्म, वस्तु और विषयाश्रय के भेद से द्रव्यनिमित्त ससार चार प्रकार का है। स्वक्षेत्र और परक्षेत्र विकल्प से क्षेत्रहेतुक ससार दो प्रकार का है । लोकाकाश तुल्य असख्यात प्रदेशी आत्मा का कर्मोदयवश सहरण, विसर्पण स्वभाव के कारण छोटे-बडे शरीर मे रहना तथा शरीरप्रमाण आत्मप्रदेशो का सकोच-विस्तार करके रहना स्वक्षेत्रससार है । सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद जन्म तथा सचित्त, शीत, विवृत, अचित्त, उष्ण, सवृत, शीतोष्ण, सचित्ताचित्त और सवृतविवृत, इन नौ प्रकार को योनियो का अवलम्बन लेकर जो जन्म-मरणादि है, वह परक्षेत्रससार है । काल दो प्रकार का है—परमार्थ और व्यवहार । इन दोनो का स्वरूप लक्षण पहले (५ वे अध्याय मे) कहा जा चुका है । परमार्थ काल रूप सामान्य वर्तना के द्वारा होने वाली परिस्पन्दरूप क्रिया और अपरिस्पन्द रूप परिणाम यह तो जीव का परमार्थ काल ससार है और उस निश्चयकालपूर्वक जो उपचरित काल व्यवहार होता है, भूत, भविष्यत्, वर्तमान व्यवहार भेद रूप वह जीव का व्यवहारकाल कहलाता है । यही कालससार है । भवनिमित्तक ससार बत्तीस प्रकार का है—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक प्रत्येक सूक्ष्म बादर पर्याप्तक एव अपर्याप्तक के भेद से चार प्रकार का है । प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर के भेद से वनस्पतिकायिक दो प्रकार के है । अपर्याप्तक और पर्याप्तक के भेद से प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं। सूक्ष्म वादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से साधारण वनस्पति चार प्रकार की है । दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, इन प्रत्येक विकलत्रय के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो-दो विकल्प है । पचेन्द्रिय के सज्ञी, असज्ञी, पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चार प्रकार है । इस

---

१. व्यवहार–अ टि. ।

स्वभावपरभावाश्रयात् । स्वभावो मिथ्यादर्शनादि , परभावो ज्ञानावरणादिकर्मरसादि । एवमेतस्मिन्ननेक[1]योनिकुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे ससारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्रप्रेरितः [2]पिता भूत्वा भ्राता पुत्र पौत्रश्च भवति, माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति, कि बहुना स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि ससारस्वभावचिन्तन ससारानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य भावयत. ससारदु.खभयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति, निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय[3] प्रतियतते ।

जन्मजरामरणावृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रति सहायानपेक्षत्वमेकत्वम् । ४ । एकत्वमनेकत्वमित्येतदुभय द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पम् । तत्र द्रव्यैकत्व जीवादिष्वन्यतमद्रव्यविषयत्वेनाऽभेदकल्पनम् । क्षेत्रैकत्व परमाण्ववगाहप्रदेशः । कालैकत्वमभेद समय । भावैकत्व मोक्षमार्ग[4] । तथा अनेकत्वमपि भेदविषयम् । नहि किञ्चिदेकमेव

प्रकार भवनिमित्तकससार बत्तीस प्रकार का है। स्वभाव और परभाव के आश्रय से भावनिमित्तकससार दो प्रकार का है । मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय रूप ससार स्वभावाश्रय है और ज्ञानावरणादि कर्म रूप रसादि के योग से परभावाश्रयससार है । मिथ्यादर्शन, अविरति, कषायादि आत्मा के ही विभाव स्वभाव है इसलिये उनके निमित्त से होने वाला ससारवास स्वभावाश्रय कहलाता है। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म का रूप-रसादि पर (पौद्गलिक) भाव परभावससार है। इस प्रकार इस अनेक लाख कुल कोटियो से व्याप्त ससार मे यह जीव कर्म रूपी यत्र से प्रेरित होकर परिभ्रमण करता हुआ कभी पिता होकर भाई होता है, पुत्र होता है, कभी पौत्र होता है, कभी माता होकर बहिन, स्त्री होता है, कभी पुत्री और कभी पौत्री हो जाता है। अधिक क्या कहा जाय स्वय अपना पुत्र भी हो जाता है। इस प्रकार ससार के स्वभाव का चिन्तन करना **ससारानुप्रेक्षा है ।** इस प्रकार ससार-भावना का चिन्तन करने वाले को ससार से भय होता है, उद्वेग होता है, उसे ससार मे विरक्ति हो जाती है और वह ससार के नाश करने का प्रयत्न करता है ।। ३ ।।

जन्म, जरा, मरण की आवृत्ति मे महादु खो का अनुभवन करने मे दूसरा कोई सहायक नही है, जीव अकेला ही सुख-दु ख का भोक्ता है, ऐसा चिन्तन एकत्व अनुप्रेक्षा है। एकत्व और अनेकत्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार-चार प्रकार के है। अन्यतम द्रव्य के विषयत्व से अभेद होने से जीवादि मे द्रव्यकत्व है। अर्थात् प्रत्येक जीवादि द्रव्य मे द्रव्यत्व गुण की अपेक्षा एकत्व है। एक परमाणु के द्वारा रोका गया आकाश का प्रदेश एकक्षेत्रत्व है। एक समय मे अभेद होने से एक समय मे कालएकत्व है। निश्चयनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है अत. मोक्षमार्ग मे भावएकत्व है। इस प्रकार भेदनय की अपेक्षा भी द्रव्य

---

१. -नेकानेककुयो-मु । -नेककुयो-ज । २ पिता पितामहोभू-मु , द , ब । पितामहोभू-ज. । ३. -प्रहरणाय मु , द , ब., ज. । ४ निश्चयेन-मू टि. ।

निश्चितमस्ति अनेकमेव वा। एकमपि सामान्यार्पणया विशेषार्पणया अनेकमपि। तत्र परिप्राप्तबाह्याभ्यन्तरोपधित्यागस्य सम्यग्ज्ञानादेकत्वनिश्चयमास्कन्दतः यथाख्यात-चारित्रैकवृत्तिः मोक्षमार्गो भावैकत्वम्। तत्प्राप्तये एक एवाहम्, न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते, एक एव जाये एक एव म्रिये, न कश्चिन्मे स्वजन परजनो वा व्याधिजरा-मरणादीनि दुःखान्यपहरति[१]। बन्धुमित्राणि श्मशानं नातिवर्तन्ते। धर्म एव मे सहायः सदानपायीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति परजनेषु च द्वेषानुबन्धो [१]नोपजायते, ततो निस्सङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते।

शरीराद् व्यतिरेको लक्षणभेदादन्यत्वम्।५। अन्यत्व चतुर्धा व्यवतिष्ठते-नामस्थापनाद्रव्यभावालम्बनेन। आत्मा जीव इति नामभेदः, काष्ठप्रतिमेति स्थापनाभेदः, जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेदः, एकस्मिन्नपि द्रव्ये बालो युवा मनुष्यो देव इति भावभेदः। तत्र बन्ध प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वम्। ततः कुशलपुरुषप्रयोग-

---

अनेकत्व, क्षेत्र अनेकत्व, काल अनेकत्व और भाव अनेकत्व है। क्योकि कोई भी वस्तु एक वा अनेक रूप एकान्त (या निश्चित) नही है। सामान्य दृष्टि से एक होकर भी विशेषदृष्टि से सर्व द्रव्य अनेक रूप है। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करके सम्यग्ज्ञान से एकत्व के निश्चय को प्राप्त करने वाले व्यक्ति के यथाख्यात चारित्र रूप से एक मोक्षमार्ग भावैकत्व है। इस भावैकत्व को प्राप्ति के लिये मै अकेला ही हूँ, मुझे अकेले ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करना है, मेरा न कोई स्व है और न कोई पर। अकेला ही उत्पन्न होता हूँ और अकेला हो मरता हूँ, न मेरा कोई स्वजन-परजन है जो व्याधि, जरा, मरणादि के दुखो को दूर कर सके, बन्धु और मित्र श्मसान से आगे नही जाते। धर्म हो एक अनपायी सदा साथ रहने वाला मित्र है; इत्यादि विचार करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस एकत्व भावना का चिन्तन करने वाले के स्वजनो मे प्रीति का अनुबन्ध (राग) और परजनो मे द्वेषानुबन्ध नही होता और अपरिग्रहत्व को स्वीकार करके वह मोक्ष के लिये ही प्रयत्न करने लगता है ॥ ४ ॥

लक्षणभेद से शरीर से भिन्न आत्मा का चिन्तन करना **अन्यत्व भावना** है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से अन्यत्व भी चार प्रकार का है। आत्मा, जीव यह नामभेद है, काष्ठ-प्रतिमा यह स्थापनाभेद है, जीवद्रव्य अजीवद्रव्य यह द्रव्यभेद है और एक ही जीव मे बाल, युवा, मनुष्य, देव आदि पर्यायभेद भावभेद है। बन्ध की दृष्टि से शरीर और आत्मा मे एकत्व होने पर (एकक्षेत्रावगाही होने पर) भी लक्षणभेद से इन दोनो मे अन्यत्व है। कुशल पुरुष के चारित्र आदि प्रयोगो से शरीर से अत्यन्त भिन्न रूप से अपने स्वाभाविक ज्ञानादि अनन्त अहेय गुणो

---

१ –नि परिहरति मु., द, ब., ज। १. नैव जा –मु., द, ब., ज।

सन्निधौ शरीरादत्यन्तव्यतिरेकेण आत्मनो ज्ञानादिभिरनन्तैरहेयैरवस्थानं मुक्तिरन्यत्वं शिवपदमिति चोच्यते। तदवाप्तये च ऐन्द्रियिकं शरीरम् अतीन्द्रियोऽहम्, अज्ञ शरीरं ज्ञोऽहम्, अनित्य शरीर नित्योऽहम्, आद्यन्तवच्छरीरम् अनाद्यन्तोऽहम्, बहूनि मे शरीरशतसहस्राणि अतीतानि संसारे परिभ्रमत', स एवाहम् अन्यस्तेभ्यः इत्येवं शरीरादन्यत्व मे, किमङ्ग पुनर्बाह्येभ्य. परिग्रहेभ्य इति चिन्तनम् अन्यत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य मनस्समादधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोपपद्यते, ततश्च श्रेयसि वर्तते।

शरीरस्याद्युत्तराशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वम्।६। शुचित्व द्विविधम्—लौकिकं लोकोत्तर चेति। तत्रात्मनः प्रक्षालितकर्ममलकलङ्कस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तरं शुचित्वम्, तत्साधनं च सम्यग्दर्शनादि तद्वन्तश्च साधव. तदधिष्ठानानि च निर्वाण-भूम्यादीनि तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छुचिव्यपदेशमर्हन्ति। लौकिक शुचित्वमष्टविधम्—कालाग्निभस्ममृत्तिकागोमयसलिलज्ञाननिर्विचिकित्सत्वभेदात्। तदिद शरीर शुचीकर्तुं नालम्। कुतः? अत्यन्ताशुचित्वात्। शरीरमिदमाद्युत्तराशुभकारणादिभिरशुचि लक्ष्यते। तद्यथा—आद्यं तावत्कारण शरीरस्य शुक्रं शोणित च, तदुभयमत्यन्ताशुचि। उत्तरकारणमाहारपरिणामादि, कवलाहारो हि ग्रस्तमात्र' श्लेष्माशय प्राप्य श्लेष्मणा

मे अवस्थान को मुक्ति, अन्यत्व या शिवपद कहते है। इस शिवपद की प्राप्ति के लिये "शरीर ऐन्द्रियिक है, मै अतीन्द्रिय हूँ, शरीर अज्ञ है, जड है, मैं ज्ञानी हूँ, शरोर अनित्य है, मैं नित्य हूँ, शरीर आदि और अन्त सहित है, मैं अनादि अनन्त अविनाशी हूँ, ससार मे परिभ्रमण करते हुए मैंने अतीतकाल मे लाखो शरीर धारण किये हैं, उन सब शरीरो से मैं भिन्न चैतन्य स्वरूप हूँ। जब मैं शरीर से ही भिन्न हूँ तब बाह्य परिग्रहो की तो बात ही क्या ?" इस प्रकार चिन्तन करने वाले के शरीर आदि मे स्पृहा (ममता) नही होती और वह मोक्षप्राप्ति के प्रति प्रयत्न करने लगत। है ॥ ५ ॥

शरीर के आदि और उत्तर दोनो ही कारणो से अशुचित्व है। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से शुचित्व दो प्रकार का है। कर्मकलक का प्रक्षालन करके आत्मा का अपनी आत्मा मे ही अवस्थान होना, स्थिर होना लोकोत्तर शुचित्व है। उस लोकोत्तर शुचित्व के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रादि, सम्यग्दर्शनादि के धारक साधुजन और उन साधुजनो से अधिष्ठित निर्वाणभूमि आदि है। क्योकि सम्यग्दर्शनादि, साधुजन और निर्वाणभूमि आदि आत्मा के कर्ममल-प्रक्षालन मे कारण है तथा मुक्ति-प्राप्ति के उपाय हैं अत. ये भी शुचि कहलाते हैं। लौकिक शुचि आठ प्रकार की है—कालशुद्धि, अग्निशुद्धि, भस्मशुद्धि, मृत्तिकाशुद्धि, गोमयशुद्धि, जलशुद्धि, ज्ञान और निर्विचिकित्सा। यह आठ प्रकार की शुद्धि शरीर को शुद्ध करने मे समर्थ नहीं है, क्योकि शरीर अत्यन्त अशुचि है। यह शरीर आदि और उत्तर दोनो ही कारणो से अत्यन्त अशुचि है। शरीर की उत्पत्ति का आदि कारण तो माता का रज और पिता का वीर्य है, ये दोनों तो अत्यन्त

द्रवीकृतः अधिकमशुचि भवति, ततः पित्ताशयं प्राप्य पच्यमान आम्लीकृतः अशुचिरेव भवति, पक्वो वाताशयमवाप्य वायुना विभज्यमानः खलरसभावेन भिद्यते। खलभागो मूत्रपुरीषादिमलविकारेण विविच्यते। रसभाग शोणितमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रभावेन परिणमते। सर्वेषां चैषामशुचीना भाजन शरीरमवस्करवत्। अशक्यप्रतीकारं खल्विदं शरीरम्, स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुम्, अंगारवत्। आश्रितमपि द्रव्यमाश्वेवात्मभावमापादयतीति न [1]जलादीनामपि शुचिहेतुत्वम्। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमान जीवस्यात्यन्तिकी शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य सस्मरत. शरीरनिर्वेदो भवति, निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्ते।

आस्रवसंवरनिर्जराग्रहणमनर्थकमुक्तत्वादिति चेत्; न; तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वात् । ७ । स्यान्मतम्–आस्रवसवरनिर्जरा वर्णिता:, अतस्तासामिह पुनर्ग्रहण-

---

अशुद्ध है, अशुचि है। उत्तरकारण आहार का परिणमन है। कवल-(ग्रास) कवल करके खाया आहार खाने मात्र मे (मुख मे जाते) ही श्लेष्माशय मे पहुँच कर श्लेष्म जैसा पतला और अधिक अशुचि हा जाता है, फिर पित्ताशय को प्राप्त होकर पचता हुआ अम्ल बन जाता है, वहाँ भी अशुचि होता है। उसके पश्चात् वाताशय को प्राप्त कर उदरस्थ वायु के द्वारा विभक्त होकर खल और रस भाग रूप से विभाजित हो जाता है। खल भाग मूत्र, मल, पसीना आदि मल विकार से परिणत होता है और भुक्त आहार का रसभाग शोणित (रक्त), मास, मेदा, हड्डी, मज्जा और वीर्य रूप से परिणत होता है। इन मल, मूत्र आदि सर्व अशुचियो का स्थान यह शरीर 'मैलाघर' के समान अत्यन्त अशुचि (अपवित्र) है। इसकी अशुचिता का प्रतीकार अत्यन्त अशक्य है। स्नान, अनुलेपन, धूप मलना, सुगन्धित वस्तुएँ और माला आदि के द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर करना शक्य नही है। अगार के समान अपने ससर्ग मे आये हुए द्रव्य को यह शीघ्र ही अपने स्वरूप बना लेता है। जलादि भी इसलिये शरीर की शुचिता का कारण नही है। बार-बार भावित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से जीव की आत्यन्तिकी शुद्धि हो सकती है, शरीर की नही। इस प्रकार का अनुचिन्तन **अशुचि अनुप्रेक्षा** है। अशुचि भावना का चिन्तन करने वाले को शरीर से ममत्व हट जाता है और अशुचिभावना से भावित आत्मा अपने मन को ससार-समुद्र को पार करने के उपायो मे लगा देता है ।। ६ ।।

प्रश्न—आस्रव, सवर और निर्जरा भावना को ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योकि इनका वर्णन पूर्व मे कर चुके है। **उत्तर**—यद्यपि आस्रव, सवर और निर्जरा के स्वरूप का निरूपण पूर्व मे हो चुका है तथापि भावनाओ मे उनका पुनःग्रहण उनके गुण-दोष के विचार के लिये किया गया है।

---

१ –नामगु–मु., ता, मू, द, ब, ज.।

मनर्थकमिति, तन्न, कि कारणम् ? तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वात् । आस्रवदोषानुचिन्तनमुद्वेगार्थमास्रवोपक्षेप । आस्रवा हि इहामुत्र चापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियादय । तद्यथा–प्रभूतयवसोदकप्रमा[1]थावगाहनादिगुणसपन्नवनविचारिण मदान्धा बलवन्तोऽपि वारणा हस्तिबन्धकीषु स्पर्शनेन्द्रिय[2] प्रससक्तचित्ता मनुष्यविधेयतामुपगत्य बधबन्धनवाहनाङ्कुशताडनपार्ष्णिघातादिजनित तीव्रदु खमनुभवन्ति, नित्यमेव च स्वयूथस्य स्वच्छन्दप्रवीचारसुखस्य च वनवासस्यानुस्मरन्तो महान्त खेदमवाप्नुवन्ति । तथैव च जिह्वेन्द्रियविषयलोला मृतहस्तिशरीरस्थस्रोतोवेगावगाहिवायसवत् व्यसनमुपनिपतन्ति । घ्राणेन्द्रियवशगताश्च औषधगन्धलुब्धपन्नगवद्विनिपातमिच्छन्ति । चक्षुरिन्द्रियविधेयीकृताश्च दीपालोकनलोलपतङ्गवद् व्यसनप्रपाताभिमुखा भवन्ति । श्रोत्रेन्द्रियविषयसङ्गाकृष्टमनसोऽपि गीतध्वनिविषङ्गविस्मृततृणग्रसनहरिणवत् अनर्थोन्मुखा भवन्ति । परत्र च नानाजातिषु बहुविधदु खप्रज्वालितासु पर्यटन्ति इति । एवमाद्यास्रवदोषदर्शनमास्रवानुप्रेक्षा । एव ह्यस्य चिन्तयत क्षमादिधर्मश्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते ।

आस्रव के दोषो का विचार करना **आस्रवानुप्रेक्षा** है । आस्रव का चिन्तन करने से आस्रव से विरक्ति हो जाती है और तब जीव आस्रव का रोकने का प्रयत्न करता है । आस्रव इस लोक मे और परलोक मे अपाय से युक्त है । इन्द्रियादि का उन्माद महानदी के प्रवाह के समान अतितीक्ष्ण (तीव्र) है । जैसे—बहुत घास और पानी विलोडन करके अवगाहन करने आदि गुणो से सम्पन्न वन मे स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करने वाले बलवन्त भी मदान्ध हाथी कृत्रिम हथिनियो को देखकर स्पर्शन इन्द्रिय को आसक्ति के कारण मनुष्यो की आधीनता स्वीकार कर वध-बन्धन, वाहन, अकुश से ताडन, महावत के आघात आदि से उत्पन्न तीव्र दु खो को भोगते है, प्रतिक्षण अपने झुण्ड मे वनविहार और स्वच्छन्द हथिनियो के साथ प्रवीचार सुख का स्मरण करते हुए महान् खेद को प्राप्त होते है तथा जिह्वाइन्द्रिय विषय के लोलुपी, मृतक (मरे हुए) हाथी के शरीरस्थ जल के वेग मे डुबकी लगाने वाले पक्षी के समान अनेक आपत्तियो के शिकार होते हैं । घ्राण इन्द्रिय के वशगत प्राणी औषध (जड) की गन्ध मे लुब्ध सर्प के समान नाश को प्राप्त होते है । चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत हुए प्राणी दीपक को देखने मे चचल पतग के समान आपत्तियो के सागर मे पडकर दु ख उठाते है । श्रोत्रेन्द्रिय के वशगत प्राणी (श्रोत्रेन्द्रिय के विषय से आकर्षित प्राणी) मनोहर गीत की ध्वनि के सुनने से घास खाना भूलकर शिकारी के जाल मे फँसकर दु ख भोगने वाले हरिण के समान अनर्थो के शिकार हो जाते है और परलोक मे बहुत दु खो से प्रज्वलित नाना योनियो मे भ्रमण करते है । इस प्रकार आस्रव दोषो का दर्शन (विचार) **आस्रव अनुप्रेक्षा** है । इस आस्रव अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने वाले के क्षमादि धर्मों मे श्रेयत्व की बुद्धि नष्ट नही होती । अर्थात् १२ भावनाओ का चिन्तन करने वाला उत्तम क्षमादि धर्मो को आत्मकल्याणकारी समझता है ।

---

१ परस्पर–श्र टि । २ –प्रसक्तचि–मु , मू , ता , द , ब , ज ।

सर्वे एते आस्रवदोषाः कूर्मवत् संवृतात्मनो न भवन्ति यथा महार्णवे नावो विवरपिधानेऽसति क्रमाश्रितजलविप्लवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषितदेशान्तरप्रापणं [1]तथा कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयः प्रतिबन्ध इति संवरणगुणानुचिन्तन संवरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः सवरे नित्योद्युक्तता भवति।

निर्जरा वेदनाविपाक इत्युक्तम्। सा द्वेधा–अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा, सा अकुशलानुबन्धा। परीषहजये कृते कुशलमूला, सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। एव निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा। एव ह्यस्यानुस्मरत कर्मनिर्जरायै वृत्तिर्भवति।

लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः। ८। समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्य-

---

कछुवे के समान सकुचित अङ्ग वाले सवरयुक्त आत्मा के ये सर्व आस्रव के दोष नही होते है। जैसे महासमुद्र मे पडी हुई नौका मे छिद्र को नही रोकने पर क्रमशः आकर सचित हुए जल का विप्लव होने पर नौकाश्रित (नौका मे बैठे हुए) प्राणियो का विनाश अवश्यम्भावी है तथा छिद्र के रोक देने पर नौका निरुपद्रव इष्ट स्थान (इच्छित देशान्तर) मे पहुँच जाती है, उसमे बैठने वाले मानव सुरक्षित रहते है, उसी प्रकार कर्मागमद्वार के बन्द हो जाने पर (सवर हो जाने पर) श्रेय (आत्मकल्याण) का कोई प्रतिबन्ध नही रहता है। अर्थात् सवरयुक्त प्राणी का कल्याण अवश्य होता है, इस प्रकार सवर के गुणों का चिन्तन करना **संवर अनुप्रेक्षा है।** इस प्रकार सवर के गुणों का अनुचिन्तन करने वाले मनुष्य के नित्य सवर के प्रति तत्परता रहती है, वह सवर के लिये प्रयत्नशील रहता है।

वेदना के विपाक को (फल देकर कर्मो के झड जाने को) निर्जरा कहते है। वह निर्जरा दो प्रकार की है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियो मे कर्मफल विपाक से होने वाली अबुद्धिपूर्वा निर्जरा है, वह अकुशलानुबन्धा है, क्योकि वह पापबन्ध की कारण है। परीषहजय और तप आदि से होने वाली निर्जरा कुशलमूला है। अर्थात् परीषह सहन करने पर कुशलमूला निर्जरा होती है जो शुभ कर्म का बन्ध करती है या सर्वथा बन्धरहित होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुण दोषो का चिन्तन करना **निर्जरा अनुप्रेक्षा है।** निर्जरा अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने वाले प्राणी की कर्मनिर्जरा के लिए ही प्रवृत्ति होती है। अर्थात् निर्जरा भावना का चिन्तन करने वाले का चित्त कर्मनिर्जरा के लिए तत्पर होता है।। ७।।

लोकसस्थान का वर्णन तीसरे अध्याय मे कर चुके है। चारो तरफ अनन्त अलोकाकाश के मध्य में लोक के सस्थान (आकार) आदि की विधि कही गई है, उस लोक के आकारादि का

---

१. तथा आस्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा, सवरणगुणा–भा. १।

देशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यात., तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतः तत्त्वज्ञानादिविशुद्धिर्भवति।

त्रस[1]भावादिलाभस्य कृच्छ्रप्रतिपत्तिः बोधिदुर्लभत्वम्। ६। उक्त च–

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण।।[2]

इत्यागमप्रामाण्यादेकस्मिन्निगोतशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः। एवं सर्वलोको [3]निरन्तरनिचित' स्थावरै, अतस्तत्र त्रसता [4]बालुकासमुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा। तत्र च विकलेन्द्रियाणा भूयिष्ठत्वात् पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या। तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासद.। तत्प्रच्यवे पुनस्तदुपपत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावापत्तिवत् दुर्लभा। तल्लाभे च कुदेशाना हिताहितविचारणाविरहितपशुसमानमानवाकीर्णाना बहुत्वात् सुदेशः पाषाणेषु

चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। इस प्रकार लोकानुप्रेक्षा का चिन्तन करने वाले के तत्त्वज्ञानादि की विशुद्धि होती है।। ८।।

त्रसपर्यायादि के लाभ से भी दुष्प्राप्य बोधिदुर्लभत्व है। ऐसा चिन्तन करना **बोधिदुर्लभ भावना** है। कहा भी है—

'एक निगोद के शरीर मे द्रव्यप्रमाण से जीवो की सख्या, सिद्धो की सख्या से और अतीत-काल के सर्व समयो की सख्या से अनन्त गुणी है।' इस प्रकार आगमप्रमाण से एक निगोदिया के शरीर मे जीवो की सख्या सिद्धो से अनन्तगुणी है। इस प्रकार यह लोक अनन्त स्थावरो से निरन्तर भरा हुआ है, खचित है। अत. इसमे त्रस-पर्याय का प्राप्त करना बालुका के समुद्र मे गिरी हुई हीरे की कणिका के समान दुर्लभ है। अर्थात् जैसे रेत के समुद्र मे गिरी हुई हीरे की कणिका का मिल जाना दुर्लभ है, वैसे त्रस-पर्याय का पाना दुर्लभ है। त्रसपर्याय मे विकलेन्द्रिय बहुत है अत. गुणो मे कृतज्ञता गुण के मिलने के समान पचेन्द्रियत्व का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। पचेन्द्रिय मे पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप आदि तिर्यञ्चो की बहुलता है, अत. पचेन्द्रियता प्राप्त होने पर मानव-पर्याय का मिलना चौराहे पर रखे हुए रत्न की पुन प्राप्ति के समान अति दुरासाद (दुर्लभ) है। एक बार मनुष्य-पर्याय प्राप्त होकर नष्ट हो जाने के बाद पुनः मनुष्य-पर्याय का प्राप्त करना जले हुए पेड मे अकुर निकलने के समान अतिकठिन है। अथवा दग्धवृक्ष के पुद्गल परमाणुआ का पुनः वृक्ष होने के समान अतिदुर्लभ है। पुनः मनुष्य-पर्याय के मिल जाने पर भी

---

१ रत्नत्रयस्वभावादिलाभस्य कृच्छ्रा प्र–मु. द ब.। २ गो जी गा १९४। मूलाचार गा १२०४। पचसग्रह. १।८४। ३ निरन्तर नि–मु द ब.। ४ वालिका–मु. द ब. ज. श्र.।

मणिरिवासुलभ.। लब्धेऽपि सुदेशे सुकुले[1] जन्म [2]कृच्छ्रलभ्यं पापकर्मजीवकुलाकुलत्वात् लोकस्य। कुले हि जातिः प्रायेण शीलविनयाचारसपत्तिकरी भवति। सत्यामपि कुलसपदि दीर्घायुरिन्द्रियबलरूपनीरोगत्वादीनि दुर्लभानि। सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलाभो यदि न स्यात् व्यर्थ जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम्। तमेवं कृच्छ्रलभ्य धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जन भस्मार्थ चन्दनदहनमिव विफलम्। विरक्तविषयसुखस्य तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिर्दुरवाप.। तस्मिन् सति बोधिलाभ फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयत. बोधि प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति।

जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु मार्गणालक्षणो धर्मः स्वाख्यातः ।१०। उक्तानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि च, तेषा गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारणालक्षणो धर्म. जिनशासने स्वाख्यात.। अत्राह–गत्यादय इत्युच्यन्ते, के पुनर्गत्यादय इति ? अत्रोच्यते–

हिताहित के विचार से शून्य पशु समान जीवन व्यतीत करने वाले मानवो से व्याप्त कुदेशो की (म्लेच्छदेशो की) बहुलता होने से सुदेश मे (आर्यखण्ड मे) जन्मलाभ होना पाषाणो मे मणि के समान अतिदुर्लभ है। सुदेश के मिल जाने पर भी पापकर्म वाले जोवकुलो (नीच कुल) से व्याप्त लोक मे सुकुल की प्राप्ति होना अति दुष्कर है। सुकुल मे जन्म हो जाने पर प्राय. करके शील, विनय और आचार की परम्परा मिल जाती है। आचार, विनय, शीलरूप कुल सम्पदा के मिल जाने पर भी दीर्घ आयु, इन्द्रिय-बल, रूप, नीरोगता आदि की प्राप्ति उत्तरोत्तर दुर्लभ है। दीर्घायु आदि सर्व गुणो के मिल जाने पर भी सद्धर्म का यदि लाभ नही होता है तो नेत्रविहीन मुख के समान मानव-जन्म व्यर्थ है। उस कृच्छ्रलभ्य (कठिनता से प्राप्त) धर्म को पाकर भी विषय-सुख मे रजित (आसक्त) होना भस्म के लिये चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। विपय विरक्त होने पर भी तपोभावना, धर्मभावना, सुख, मरण आदि रूप समाधि अतिदुर्लभ है। समाधि के होने पर ही वोधिलाभ फलवान होता है, इस प्रकार चिन्तन करना **बोधिदुर्लभ भावना** है। इस प्रकार वोधिदुर्लभ भावना का चिन्तन करने वाले को बोधि (रत्नत्रय) को प्राप्त करने मे कभी प्रमाद नही करना चाहिए, निरन्तर अप्रमादी रहना चाहिये ।। ९ ।।

जीवस्थान और गुणस्थानो का गति आदि मार्गणाओ मे अन्वेपण करने रूप धर्म जिनशासन मे स्वाख्यात-अच्छी तरह कहा गया है। यह भावना धर्म स्वाख्यातत्त्व है। अर्थात् जीवस्थान और गुणस्थानो मे, गति आदि मार्गणास्थानो मे स्वतत्त्व का अनुस्मरण करना, चिन्तन करना, स्वतत्त्व विचारणा लक्षणधर्म को जिनेन्द्र भगवान ने स्वाख्यात लक्षणधर्म कहा है। प्रश्न—गति आदि क्या हैं ? किस-किस कर्म के उदयादि से होती है, उसका वर्णन करते हैं—।। १० ।।

---

१. कुले–ता. श्र मू द ब ज। २. कृच्छ्राल्लभ्यते–मु द ब ज।

गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारकेषुमार्गणाः ।११। गम्यत इति गतिः। सा द्वेधा–कर्मोदयकृता क्षायिकी चेति। कर्मोदयकृता चतुर्विधा व्याख्याता–नरकगति. तिर्यग्गतिः मनुष्यगति देवग[^]श्चेति। क्षायिकी मोक्षगति। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम्। तद् द्रव्यभावभेदेन द्विविध सत् पञ्चधा वर्णितम्–एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदेन, तत्कर्मकृतम्। अतीन्द्रियत्वमा[1]त्मन. क्षायिकम्। आत्मप्रवृत्त्यु[2]पचितपुद्गलपिण्डः कायः। तत्सबन्धि-जीव. षड्विध –पृथिवीकायिकः अप्कायिक तेजस्कायिक.[3] वायुकायिकः वनस्पतिकायिक त्रसकायिकश्चेति। त्रसस्थावरनामकर्मविशेषोदयापादिता एते भावा। नामकर्मात्यन्तोच्छेदादकायाः सिद्धाः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमलब्धवृत्तिवीर्यलब्धिर्योग। तद्वत आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बन. प्रदेशपरिस्पन्द उपयोगो योगः। स पञ्चदशप्रकारः–चत्वारो मनोयोगाः चत्वारो वाग्योगा. सप्त काययोगाश्चेति। योगसम्बन्धाऽभाव आत्मनः

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञा और आहारक, इनमे जीवादि और गुणस्थानो का अन्वेषण किया जाता है, इसलिये ये १४ मार्गणाये है। जो प्राप्त की जाय वह **गति** है। वह गति दो प्रकार की है—कर्मोदयकृत और क्षायिकी। कर्मोदयकृत गति चार प्रकार की है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। मोक्ष (सिद्ध) गति क्षायिकी है। क्योकि चारो गतियाँ कर्मोदय से प्राप्त होती है, इसलिये वे कर्मोदयकृत है और सिद्धगति सर्व कर्मों के क्षय से प्राप्त होती है, इसलिये वह क्षायिकी है। इन्द्र अर्थात् आत्मा का चिह्न या इन्द्र (नामकर्म) के द्वारा निर्मित **इन्द्रियाँ** है। वे इन्द्रियाँ द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है--द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय के भेद से इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की है। एकेन्द्रियादि इन्द्रियाँ एकेन्द्रियादि नामकर्म के उदय से निर्मित है, इसलिये कर्मकृत है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण, ये इन्द्रियाँ कर्मकृत है। आत्मा को अतीन्द्रियता (इन्द्रियरहितता) क्षायिकी है। आत्मा के द्वारा उपचित-सचित पुद्गल पिण्ड **काय** है। उस काय सम्बन्धी जीव छह प्रकार के है—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक, ये काय त्रसस्थावर नामकर्म के उदयविशेष से प्राप्त होती है। अर्थात् त्रसस्थावर रूप नामकर्म के उदय से निर्मित है। नामकर्म का अत्यन्त उच्छेद हो जाने से अकाय सिद्धपर्याय होती है। वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त वीर्यलब्धि योग की प्रयोजक होती है। अर्थात् वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से **योग** होते है। वीर्यलब्धि से सामर्थ्य वाले आत्मा का मन, वचन और काय वर्गणा निमित्त व आत्मप्रदेशो का परिस्पन्दन रूप उपयोग योग कहलाता है। वह योग पन्द्रह प्रकार का है—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग। योग सम्बन्ध से रहित आत्मा

---

१. –न्द्रियत्वादात्म–मु द ब। २. –वृत्त्युपचरितपु–मु द ब ज। ३. –क. वनस्पतिकायिक वायुकायिक त्र. –ता।

क्षायिकः। तत्र सत्यमनोयोगः मृषामनोयोगः सत्यमृषामनोयोगः असत्यमृषामनोयोगश्चेति चतुर्विधो मनोयोगः। सत्यवाग्योगः मृषावाग्योगः सत्यमृषावाग्योगः असत्यमृषावाग्योगश्चेति चतुर्विधो वाग्योगः। औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रककाययोगः वैक्रियिककाययोगः वैक्रियिकमिश्रककाययोगः आहारककाययोगः आहारकमिश्रककाययोगः कार्मणकाययोगश्चेति सप्तविधः काययोगः। आत्मप्रवृत्तिसंमोहोत्पादो वेदः। स नोकषायविशेषोदयनिमित्तः त्रिविधः—स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेदश्चेति। आत्मन[1] औपशमिकं क्षायिकं वा[2] अपगतवेदत्वम्। चारित्रपरिणामकषणात् कषायः। स चतुर्विधः क्रोधमानमायालोभलक्षणो व्याख्यातः। अकषायत्वमात्मन[3] औपशमिकं क्षायिकं वा। तत्त्वार्थावबोधो ज्ञानम्, तत्पञ्चविधमुद्दिष्टम्। मिथ्यादर्शनोदयापादितकालुष्यमज्ञानं त्रिविधम्। व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियधारणानुवर्तननिग्रहत्यागजयलक्षणः संयमः पञ्चविधो वक्ष्यते। संयमः संयमासंयमश्चोक्तौ। स[4] सर्वश्चारित्रमोहस्योदयोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाच्च भवति। तत्परिणामत्रयविरहितं सिद्धत्वं क्षायिकम्। दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमाविर्भूतवृत्तिरालोचनं दर्शनम्। तच्चतुर्विधमुद्दिष्टं[5] चक्षुर-

---

क्षायिक है। सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग चार प्रकार का है। इसी प्रकार सत्य, असत्य, उभय और अनुभय के भेद से वचनयोग भी चार प्रकार का है। औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग और कार्मण काययोग, ये सात प्रकार के काययोग हैं। आत्मा मे सम्मोहन रूप प्रवृत्ति उत्पन्न होना वेद है। यह वेद नोकषायविशेष के उदय से होता है। यह वेद तीन प्रकार का है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद। आत्मा की अपगतवेद-अवस्था औपशमिकी और क्षायिकी है। चारित्र परिणामो को कषने वाली वा घातक कषाय है। वह कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार प्रकार की है। इन कषायों का वर्णन पूर्व मे कर दिया गया है। आत्मा की अकषायत्व अवस्था औपशमिकी और क्षायिकी है। तत्त्वार्थ का अवबोध ज्ञान है, वह ज्ञान पाँच प्रकार का कहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मिथ्यादर्शन के उदय से आपादित कलुषित ज्ञान तीन प्रकार का अज्ञान हो जाता है—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। व्रत का (पंच महाव्रत का) धारण, समिति का पालन, कषायों का निग्रह, मन, वचन, काय रूप दण्ड का त्याग और इन्द्रियविजय, यह पाँच प्रकार का संयम है। इनका विशेष लक्षण आगे कहेंगे। संयमासंयम और संयम का लक्षण पूर्व मे कह दिया गया है। यह संयम और संयमासंयम चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से होते है। संयमासंयम तो चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से ही होता है। इन औपशमिक, क्षायिक और क्षायिकौपशमिक रूप तीनो संयमो से रहित सिद्ध अवस्था क्षायिकी है।

---

१. आत्मनि मु. द. ब. ज.। २. वापि गत—द. ब. ज.। चापिगत—मु.। ३. —नश्चौप—मु. द. ब. ज.। ४. स च सर्व—मु. द. ब. ज.। ५. —मुपदिष्टं—मु. द. ब. ज.।

चक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात् । कषायश्लेषप्रकर्षाप्रकर्षयुक्ता योगवृत्तिर्लेश्या । सा षड्विधा कृष्णनीलकपोततेजःपद्मशुक्लविकल्पात् । शरीरनामोदयापादिता द्रव्यलेश्या । अलेश्यत्वं क्षायिकम् । निर्वाणपुरस्कृतो भव्य., तद्विपरीतोऽभव्य', तदुभयं पारिणामिकम् । विरहितभव्यत्वाभव्यत्वविकल्पो मुक्तः । तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यक्त्वमुक्तम् । तत् दर्शनमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाच्च भवति । सासादनसम्यक्त्वम्—अनन्तानुबन्धिकषायोदयाद्भवतीत्यौदयिकम् । सम्यङ्मिथ्यात्व क्षायोपशमिकम् । मिथ्यात्वमौदयिकम् । शिक्षाक्रियालापग्राही सञ्ज्ञी, तद्विपरीतोऽसञ्ज्ञी । तत्र सञ्ज्ञित्व क्षायोपशमिकम्, असञ्ज्ञित्वमौदयिकम् । [1]तदुभयाभावः क्षायिक. । उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहार:, तद्विपरीतोऽनाहारः । तत्राहार. शरीरनामोदयात् विग्रहगतिनामोदयाभावाच्च भवति । अनाहार' शरीरनामत्रयोदयाभावात् विग्रहगतिनामोदयाच्च भवति ।

दर्शनावरण के क्षय और क्षयोपशम से होने वाली वृत्ति आलोचन **दर्शन** कहलाती है, वह दर्शन चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का है। कषाय की प्रकर्षता-अप्रकर्षता से अनुरजित योगप्रवृत्ति को **लेश्या** कहते है, वह लेश्या छह प्रकार की है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कपोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। शरीर नामकर्म के उदय से द्रव्यलेश्या होती है। अत द्रव्य और भाव दोनो ही लेश्या औदयिकी है। अलेश्यत्व क्षायिक है। निर्वाण प्राप्त करने की योग्यता जिसमे प्रगट हो सके वह भव्य कहलाता है और जिसमे प्राप्त करने की योग्यता नही है वह अभव्य है। भव्य-अभव्य दोनो ही भाव पारिणामिक है। भव्य-अभव्य विकल्प से रहित मुक्त जीव है। तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व है। अर्थात् तत्त्वो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। *यह सम्यग्दर्शन औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का* है। दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम से होने वाला औपशमिक, क्षय से होने वाला क्षायिक और क्षयोपशम से होने वाला क्षायोपशमिक है। सासादन सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होता है अत. औदयिक है। सम्यङ्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक है और मिथ्यात्व औदयिक है। शिक्षा क्रिया आदि को ग्रहण करने वाला **संज्ञी** कहलाता है और शिक्षा आदि को नही ग्रहण करने वाला **असज्ञी** कहलाता है। उसमे सज्ञित्व कर्मो के क्षयोपशम से होता है इसलिये क्षायोपशमिक है और असंज्ञित्व कर्मो के उदय से होता है इसलिये औदयिक है। जहाँ सज्ञी, असज्ञी दोनो अवस्थाएँ नही है, वह सिद्धावस्था क्षायिक है। उपभोग[2] शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, छह पर्याप्ति) के योग्य पुद्गल वर्गणाओ को ग्रहण करना आहार है। उपभोग शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओ को ग्रहण नही करना अनाहार है। तीन शरीर नामकर्म के उदय से और विग्रहगति नामकर्म के उदय के अभाव से जीव आहारक होता है तथा तीनो शरीर नामकर्म के उदय के अभाव से और विग्रहगति नामकर्म के उदय से जीव अनाहारक होता है।

---

१ तदुदया-ता. अ । २. ये तीन शरीर इन्द्रियो के द्वारा विषयो को ग्रहण करते हैं अत उपभोग है और कार्माण तैजस निरुपभोग है।

तान्येतानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि। तेषु जीवस्थानाना सत्ता [1]चिन्त्यते–तिर्यग्गतौ चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। इतरासु तिसृषु द्वे द्वे पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्। एकेन्द्रियेषु चत्वारि जीवस्थानानि। विकलेन्द्रियेषु द्वे द्वे। पञ्चेन्द्रियेषु चत्वारि। पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकेषु प्रत्येक चत्वारि। वनस्पति[2] कायिकेषु षट्। त्रसकायिकेषु दश। मनोयोगे एक जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकः। वाग्योगे पञ्च जीवस्थानानि द्वित्रिचतुरिन्द्रियपर्याप्तकसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकनामानि। काययोगे चतुर्दश सन्ति। स्त्रीवेदपुंवेदयोः प्रत्येक चत्वारि जीवस्थानानि सञ्ज्यसज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकाख्यानि। नपुंसकवेदे चतुर्दशापि सन्ति। अवेदे एक जीवस्थान सज्ञिपर्याप्तकसज्ञम्। चतुर्ष्वपि कषायेषु चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। अकषाये एकमेव सज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोश्चतुर्दशापि सन्ति। विभङ्गमनःपर्ययज्ञानयोरेकमेव जीवस्थानं सज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। मतिश्रुतावधिज्ञानेषु द्वे जीवस्थाने सज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकाख्ये। केवलज्ञाने एकमेव जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धि-

---

ये चौदह मार्गणास्थान है। इन मार्गणास्थानो मे जीवस्थानो की सत्ता का विचार करते है। तिर्यञ्चगति मे चौदह ही जोवस्थान होते है। क्योकि तिर्यञ्चगति मे एकेन्द्रियादि सर्व जीवसमास है। शेष तीन गतियो मे पर्याप्तक और अपर्याप्तक पचेन्द्रिय के भेद से ये दो ही जीवसमास है। एकेन्द्रिय मे सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चार जीवसमास है। विकलेन्द्रिय मे पर्याप्तक अपर्याप्तक दो-दो जीवसमास है और पचेन्द्रिय मे सज्ञी, असज्ञी, पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चार जीवस्थान है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय और वायुकाय प्रत्येक मे चार-चार (सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक, अपर्याप्तक) जीवसमास है। वनस्पतिकायिक मे छह जोवसमास है। त्रसकायिको मे दस (पचेन्द्रिय के चार और विकलेन्द्रिय के छह, ये दस) जीवसमास है। मनोयोग मे एक सज्ञिपर्याप्तक ही जोवसमास है। क्योकि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के ही मनोयोग होता है। वचनयोग मे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पर्याप्तक और सज्ञो असज्ञो पर्याप्तक, ये पाँच जीवस्थान है क्योकि अपर्याप्तक और एकेन्द्रियो के वचनयोग नही होता है। काययोग मे चौदह ही जोवसमास है। स्त्रीवेद और पुरुषवेद मे चार जीवसमास है—सज्ञी, असज्ञी, पर्याप्तक और अपर्याप्तक। नपुसकवेद मे चौदह जीवसमास हैं। अवेद (अपगतवेद) मे सज्ञी पर्याप्तक नामक एक जोवसमास है। चारो ही कषायो मे चौदह जोवसमास है और अकषाय (कषायरहित) अवस्था मे एक सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक यह एक ही जीवसमास है। मति अज्ञान और श्रुताज्ञान मे चौदह जोवसमास है। कुअवधि और मन.पर्ययज्ञान मे सज्ञी पर्याप्तक एक जीवसमास है। मति, श्रुत और अवधिज्ञान में सज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवस्थान है और केवलज्ञान मे सज्ञी पर्याप्तक नामक एक ही जीवस्थान है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि,

---

१ विचिन्त्यते–मु. द ब ज.। २. –कायेषु ता.।

सूक्ष्मसाम्परायथाख्यातसंयमसंयमासंयमेषु एकमेव जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकनामकम्। असयमे चतुर्दशापि सन्ति। अचक्षुर्दर्शने चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। चक्षुर्दर्शने त्रीणि जीवस्थानानि चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकाख्यानि। [1]तेषामेवाऽपर्याप्तका [2]लब्धा· सन्ति न निर्वृत्ता:[3]। अवधिदर्शने द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकसंज्ञे। केवलदर्शने संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। आद्यासु तिसृषु लेश्यासु चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। तेज पद्मशुक्ललेश्यासु द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकनामनी। अलेश्यत्वे एकं जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकाख्याम्। भव्येषु अभव्येषु च चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसम्यक्त्वसासादनसम्यक्त्वेषु द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकसंज्ञे। सम्यङ्मिथ्यात्वे एकमेव संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। मिथ्यात्वे चतुर्दशापि सन्ति। संज्ञिषु द्वे जीवस्थाने पर्याप्तकापर्याप्तकनामनी। असंज्ञिषु द्वादशावशिष्टानि। संज्ञ्यसंज्ञित्वाऽभावे एकं जीवस्थानं पर्याप्तकाख्यम्। कर्मोदयापेक्षया आहारे चतुर्दशापि सन्ति। अनाहारे सप्ताऽपर्याप्तकस्थानानि। पर्याप्तक च केवलिसमुद्घाते अयोगकेवलिनि च कर्मोदयार्पणात्। सिद्धा· सर्वत्रातीतजीवस्थाना:।

सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यातसयम और सयमासयममार्गणा मे सज्ञी पर्याप्तक नामक एक ही जीवस्थान होता है। असयममार्गणा मे चौदह ही जीवस्थान होते है। अचक्षुदर्शनमार्गणा मे चौदह (सर्व) जीवसमास होते हैं। चक्षुदर्शन मे चतुरिन्द्रिय, सज्ञी, असज्ञी पर्याप्तक, ये तीन जीवसमास है और उन्ही चक्षुदर्शन वाले जीवो के अपर्याप्तक स्थान लब्धि की अपेक्षा से है, निर्वृत्ति की अपेक्षा से नही है। (यहाँ खुलासा नही हुआ क्योकि षट्खण्डागम मे चक्षुदर्शन अपर्याप्तक (निर्वृत्त्यपर्याप्तक) अवस्था मे माना है और उसके मिथ्यात्व, सासादन, असयत सम्यग्दृष्टि, ये तीन गुणस्थान माने है लब्ध्यपर्याप्तक के तो एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।) अवधिदर्शनमार्गणा मे सज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो जीवस्थान है। केवलदर्शन मे सज्ञीपर्याप्तक यह एक ही जीवसमास है। कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओ मे चौदह जीवस्थान होते है। तेज (पीत), पद्म और शुक्ललेश्या मे सज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो जीवस्थान होते है। अलेश्यत्व में सज्ञीपर्याप्तक यह एक जीवस्थान होता है। अभव्य और भव्य मार्गणाओ मे चौदह ही जीवसमास है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, सम्यक्त्व और सासादन सम्यक्त्वमार्गणाओ मे संज्ञीपर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो जीवसमास होते हैं। सम्यङ्मिथ्यात्व मे सज्ञीपर्याप्तक नामक एक जीवस्थान होता है। मिथ्यात्व मे सर्व चौदह जीवस्थान होते हैं। सज्ञीमार्गणा मे सज्ञीपर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो जीवस्थान होते है। असज्ञीमार्गणा मे शेष बारह जीवसमास होते है। सज्ञी-असज्ञी व्यवहाररहित अवस्था मे पर्याप्तक नामक एक ही

---

१ चतुरिन्द्रियादीनाम्–श्र. टि.। २ लब्धौ सन्ति न निर्वृत्तौ मू. मु. द ब ज। लब्ध्यपर्याप्तक–श्र. टि। ३. निर्वृत्त्यपर्याप्तक–श्र टि।

गुणस्थानानामपि तेष्वेव सत्ता विचार्यते–नरकगतौ नारकेषु पर्याप्तकेषु चत्वारि गुणस्थानानि आद्यानि सप्तसु पृथिवीसु। प्रथमाया पृथिव्यामपर्याप्तकेषु द्वे गुणस्थाने मिथ्यादृष्टचसयतसम्यग्दृष्टी। इतरासु पृथिवीषु अपर्याप्तकेष्वेकमेव मिथ्यात्वम्। तिर्यग्गतौ तिर्यक्षु पर्याप्तकेषु पञ्च गुणस्थानान्याद्यानि। तेषामपर्याप्तकेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टचसयतसम्यग्दृष्टिसंज्ञानि तिरश्चीपु पर्याप्तिकासु पञ्च गुणस्थानानि आद्यानि, अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, स्त्रीत्वेन प्रवेशाभावात् असंयतसम्यग्दृष्टचभावः। मनुष्यगतौ मनुष्येषु पर्याप्तकेषु चतुर्दशापि गुणस्थानानि भवन्ति। अपर्याप्तकेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टचसायतसम्यग्दृष्टचाख्यानि। मानुषीषु पर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिङ्गापेक्षया न द्रव्यलिङ्गापेक्षया, द्रव्यलिङ्गापेक्षया तु पञ्चाद्यानि। अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्। तिर्यङ्मनुष्येषु भवापर्याप्तकेषु एकमेव गुणस्थानमाद्यम्।

जीवस्थान होता है। कर्मोदय की अपेक्षा आहारक मे चौदह जीवसमास है और अनाहार अवस्था मे सात अपर्याप्तक जीवसमास होते हैं। केवलीसमुद्घात मे अयोगकेवली के कर्मोदय की अपेक्षा से एक पर्याप्तक जीवसमास है और सिद्धावस्था जीवसमास से अतीत है।

गुणस्थानों मे जीवसमास की सत्ता का वर्णन (विवेचन) करते है—नरकगति मे सातों ही नरको मे पर्याप्तक अवस्था मे मिथ्यात्व, सासादन, सम्यङ्मिथ्यात्व और असयत सम्यग्दृष्टि, ये चार गुणस्थान होते हैं। प्रथम पृथ्वी मे अपर्याप्तक अवस्था मे मिथ्यात्व (१) और असयत सम्यग्दृष्टि (४) ये दो गुणस्थान होते है। शेष छह पृथ्वियो मे अपर्याप्तक अवस्था मे एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। तिर्यञ्चगति मे तिर्यञ्चो के पर्याप्तक अवस्था मे आदि के पॉच गुणस्थान होते है। उन तिर्यञ्चों के अपर्याप्तक अवस्था मे मिथ्यादृष्टि, सासादन और असयत सम्यग्दृष्टि, ये तीन गुणस्थान होते है। पर्याप्त तिर्यञ्चनियो के आदि के पॉचो ही गुणस्थान हो सकते है, परन्तु अपर्याप्तक अवस्था में तिर्यञ्चनियो के मिथ्यात्व और सासादन, ये दो ही गुणस्थान होते है। क्योकि सम्यग्दर्शन सहित जीव स्त्रियो मे उत्पन्न नही होता अत. अपर्याप्तक अवस्था मे तिर्यंचनियो के असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान नही होता। मनुष्यगति मे पर्याप्त मनुष्यो के चौदह ही गुणस्थान होते है, अपर्याप्तक मनुष्यो मे मिथ्यात्व, सासादन और असयत सम्यग्दृष्टि, ये तीन गुणस्थान है। मनुष्यनियों मे पर्याप्त अवस्था मे सर्व चौदह गुणस्थान होते हैं। यह कथन भावलिंग की अपेक्षा है, क्योकि द्रव्यलिंग की अपेक्षा स्त्रियो के मिथ्यात्व, सासादन, सम्यङ्मिथ्यात्व, असयत सम्यक्त्व और सयमासयम, ये पॉच ही गुणस्थान होते है। सम्यक्त्व सहित जीव भाव एव द्रव्य दोनो ही स्त्रीवेद मे उत्पन्न नही हो सकता अत. अपर्याप्त अवस्था मे स्त्रीवेदी के मिथ्यात्व और सासादन, ये दो ही गुणस्थान होते है। भव-अपर्याप्तक मनुष्य और तिर्यञ्चो मे एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। देवगति मे भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में पर्याप्तक अवस्था में आदि के चार गुणस्थान होते हैं और अपर्याप्तक अवस्था मे मिथ्यात्व और सासादन ये दो

देवगतौ भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कदेवेषु पर्याप्तकेषु चत्वारि गुणस्थानान्याद्यानि, अपर्याप्तकेषु द्वे आद्ये। तद्देवीषु सौधर्मेशानकल्पवासिदेवीषु च स एव क्रमः। सौधर्मेशानादिषु उपरिमग्रैवेयकान्तेषु चत्वारि गुणस्थानानि आद्यानि, अपर्याप्तकेषु त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टयसयतसम्यग्दृष्टिनामानि। अनुदिशानुत्तरविमानवासिषु पर्याप्तापर्याप्तकेषु च एकमेव गुणस्थानम् असयतसम्यग्दृष्टिसज्ञम्।

एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाऽसज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु एकमेव गुणस्थानमाद्यम्। पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञिषु चतुर्दशापि सन्ति।

पृथिवीकायादिषु वनस्पत्यन्तेषु एकमेव प्रथमम्। त्रसकायिकेषु चतुर्दशापि सन्ति।

सत्यमनोयोगेऽसत्यमृषामनोयोगे च सज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतय. सयोगिकेवल्यन्ताः। मृषामनोयोगे सत्यमृषामनोयोगे च सज्ञिमिथ्यादृष्टयादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। असत्यमृषावाग्योगे द्वीन्द्रियादयः सयोगकेवल्यन्ता· ? सत्यवाग्योगे सज्ञिमिथ्यादृष्टयादयः

गुणस्थान होते है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और सौधर्म, ईशान कल्पवासी सर्व देवियो में पर्याप्त अवस्था मे आदि के चार गुणस्थान होते है और अपर्याप्तक अवस्था मे मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते है। सौधर्म, ईशान स्वर्ग से उपरिम ग्रैवेयक तक के पर्याप्तको में मिथ्यात्व, सासादन, सम्यङ्मिथ्यात्व और असयत सम्यग्दृष्टि. ये चार गुणस्थान होते है और इनके अपर्याप्तक अवस्था मे मिथ्यात्व, सासादन और असयत सम्यग्दृष्टि, ये तीन गुणस्थान होते है। अनुदिश और अनुत्तर विमानवासियो के पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनो ही अवस्थाओ मे एक असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान होता है, क्योकि अनुदिश और अनुत्तर विमानो मे सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं।

एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रियो तक मे एक ही मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। सज्ञी पचेन्द्रिय के सर्व चौदह गुणस्थान होते है।

पृथ्वीकायिकादि वनस्पति पर्यन्त पाँच स्थावरकायिको मे एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। त्रसकाय के चोदह गुणस्थान होते है।

सत्य मनोयोग और अनुभय मनोयोग मे सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली तेरहवाँ गुणस्थान तक होता है। असत्य मनोयोग और उभय मनोयोग मे सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग (१२वें) तक गुणस्थान होते हैं। अनुभय (असत्य मृषा) वचनयोग दो इन्द्रिय से लेकर सयोगकेवली (१३) तक होता है और सत्य वचनयोग सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त है। असत्य वचनयोग और उभय वचनयोग मे सज्ञी मिथ्यादृष्टि

सयोगिकेवल्यन्ताः। मृषावाग्योगे सत्यमृषावाग्योगे च सञ्ज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। औदारिककाययोगे त्रयोदश गुणस्थानानि सयोगिकेवल्यन्तानि। औदारिकमिश्रकाययोगे चत्वारि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसयत सम्यग्दृष्टिसयोगिकेवलिसंज्ञानि। वैक्रियिककाययोगे चत्वारि गुणस्थानानि आद्यानि। वैक्रियिकमिश्रकाययोगे त्रीणि तान्येव सम्यङ्मिथ्यात्ववर्जितानि। आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगयोरेकमेव गुणस्थान प्रमत्तसंयताख्यम्। कार्मणकाययोगे चत्वारि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसयतसम्यग्दृष्टिसयोगिकेवल्याख्यानि। [1]अयोगे गुणस्थानमेकम्।

स्त्रीवेदपुंवेदयोरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः। नपुंसकवेदे एकेन्द्रियप्रभृतयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः। नारकाश्चतुर्षु स्थानेषु शुद्धे नपुंसकवेदे। तिर्यञ्च एकेन्द्रियादयः चतुरिन्द्रियान्ताः शुद्धे नपुंसकवेदे। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियादयः संयतासंयतान्ताः तिर्यञ्चस्त्रिषु वेदेषु। मनुष्याः त्रिषु वेदेषु

से लेकर क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग (१२वे) गुणस्थान तक सर्व गुणस्थान होते है। औदारिककाययोग मे मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते है। औदारिकमिश्रकाययोग मे मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असयत सम्यग्दृष्टि और सयोगकेवली, ये चार गुणस्थान होते है। वैक्रियिक काययोग मे प्रारम्भ के मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और असयत सम्यग्दृष्टि, ये चार गुणस्थान होते है। वैक्रियिकमिश्रकाययोग मे इन चार गुणस्थानो मे से सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान को हटाकर शेष तीन ही गुणस्थान होते है, क्योकि तीसरे गुणस्थान में मरण नही होता। मरण को छोड़कर अर्थात् जब तक पर्याप्ति को पूर्णता नही तब तक वैक्रियिकमिश्रकाययोग होता है। आहारककाययोग और आहारक मिश्रकाययोग मे एक छठा प्रमत्तसयत गुणस्थान ही होता है। कार्मणकाययोग मे मिथ्यात्व, सासादन, असयत सम्यग्दृष्टि और सयोगकेवलो, ये चार गुणस्थान होते है। अयोगी के एक चौदहवॉ गुणस्थान होता है।

स्त्रीवेद और पुरुषवेद में असज्ञी पचेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्ति बादर साम्पराय तक नव गुणस्थान होते है। नपुंसकवेद मे एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्ति बादर साम्पराय तक नव गुणस्थान होते है। चारों ही गुणस्थानों मे नारकी शुद्ध नपुंसकवेदी है अर्थात् नारकियो के एक नपुंसकवेद ही होता है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीव शुद्ध नपुंसकवेदी है। असंज्ञी पचेन्द्रिय से लेकर पचम गुणस्थान तक तिर्यञ्च तीनो वेद वाले होते है। मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अनिवृत्ति बादर साम्पराय गुणस्थान तक तीनो वेदी है। दसवे

---

१. अयोगिगुण-ता.।

मिथ्यादृष्टयादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकावसाना.। ततः परे मनुष्या अवेदाः। देवाश्चतुर्षु स्थानेषु स्त्रीपु वेदयोः ज्ञेया ।

क्रोधमानमायासु एकेन्द्रियादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः। लोभकषाये त एव सूक्ष्मसाम्परायिकान्ता.। ततः परे अकषायाः ।

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोरेकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्टयन्ता, विभङ्गज्ञाने सज्ञिमिथ्यादृष्टयो वा सासादनसम्यग्दृष्टयो वा पर्याप्तका भवन्ति नाऽपर्याप्तकाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टयः त्रिपु ज्ञानेषु अज्ञानमिश्रेषु वर्तन्ते, कारणसदृशत्वात् कार्यस्य । मतिश्रुतावधिज्ञानेषु असयतसम्यग्दृष्टिप्रभृतयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसयतादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ता । केवलज्ञाने द्वे गुणस्थाने सयोगायोगिसज्ञे ।

सामायिकछेदोपस्थापनशुद्धिसयमयोः प्रमत्तसयतादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ता.।

गुणस्थान से लेकर १४ वे गुणस्थान तक अपगतवेदी होते है। देवो में चारो ही गुणस्थानो मे स्त्री और पुरुष ये दो ही वेद है।

क्रोध, मान और माया कषायो मे एकेन्द्रिय आदि अनिवृत्ति बादर गुणस्थान (९) पर्यन्त हैं। लोभ कषाय मे जीव एकेन्द्रिय से लेकर सूक्ष्म साम्परायिक दसवे गुणस्थान पर्यन्त है। दसवे गुणस्थान के आगे सर्व गुणस्थानवर्ती जीव कषायरहित होते है।

मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान मे एकेन्द्रिय आदि मिथ्यात्व और सासादन सम्यग्दृष्टि पर्यन्त जीव होते है। कुअवधिज्ञान मे संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक ही होते है, अपर्याप्तक नही। इस ज्ञान वाले के मिथ्यात्व और सासादन. ये दो गुणस्थान होते हैं। अज्ञानमिश्रित इन तीन ज्ञानो मे सम्यङ्मिथ्यात्व नामक एक तीसरा गुणस्थान होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय छद्मस्थ गुणस्थान पर्यन्त है। मन पर्ययज्ञान प्रमत्तसयत गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान पर्यन्त है और केवलज्ञानी के सयोग और अयोग ये दो गुणस्थान है।

सामायिक और छेदोपस्थापना शुद्धि सयम मे प्रमत्तसयत गुणस्थान से लेकर अनिवृत्ति बादर साम्परायिक गुणस्थान पर्यन्त है।

परिहार[1]शुद्धिसयमे द्वे गुणस्थाने प्रमत्ताप्रमत्तलक्षणे। सूक्ष्मसाम्परायसयमे एकमेव गुणस्थानं सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसयमाख्यम्। यथाख्यातविहारशुद्धिसयमे चत्वारि गुणस्थानानि उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगायोगसञ्ज्ञानि। सयमासंयमे एकमेव गुणस्थानं संयतासयताख्यम्। असयमे चत्वारि गुणस्थानान्याद्यानि।

चक्षुर्दर्शने चतुरिन्द्रियादय· क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ता·। अचक्षुर्दर्शने एकेन्द्रियादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। अवधिदर्शने असयतसम्यग्दृष्टचादय. क्षीणकषायान्ताः। केवलदर्शने द्वे गुणस्थाने अन्ते।

आद्यासु तिसृषु लेश्यासु एकेन्द्रियादय. असयतसम्यग्दृष्टचन्ता·। तेजः पद्मलेश्ययोः सञ्ज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतय अप्रमत्तावसानाः। शुक्ललेश्यायां संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः सयोगिकेवल्यन्ताः। अलेश्या अयोगकेवलिनः।

भव्यत्वे चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति। अभव्यत्वे प्रथममेव।

परिहारविशुद्धि सयम मे प्रमत्त और अप्रमत्त, ये दो गुणस्थान होते है। सूक्ष्म साम्पराय सयम मे सूक्ष्म साम्परायिक नामक एक ही दसवाँ गुणस्थान है। यथाख्यातविहारशुद्धि सयम मे उपशातकषाय, क्षीणकपाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली, ये चार गुणस्थान है। सयमासयम नामक देशसयम मे एक सयतासयतगुणस्थान होता है। असयम मे आदि के चार गुणस्थान होते है।

चक्षुदर्शन मे चतुरिन्द्रिय से लेकर वारहवे क्षीणकपाय वीतरागछद्मस्थ पयन्त गुणस्थान है। अचक्षुदर्शन मे एकेन्द्रिय आदि सर्व जीवसमास और प्रथम से लेकर १२ वे तक गुणस्थान होते है। अवधिदर्शन मे असयत सम्यग्दष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से क्षीणकपाय गुणस्थान पर्यन्त और केवलदर्शन मे सयोगी और अयोगी ये दो गुणस्थान होते है।

कृष्ण, नील और कापोतलेश्या मे एकेन्द्रिय आदि सर्व जीवसमास तथा प्रथम गुणस्थान से असयत सम्यग्दष्टि पर्यन्त चार गुणस्थान होते है। पीत और पद्मलेश्या मे सज्ञी पचेन्द्रिय जीव समास और मिथ्यादष्टि से लेकर अप्रमत्त तक गुणस्थान होते है। शुक्ललेश्या मे सज्ञी पचेन्द्रिय मिथ्यादष्टि से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते है। अयोगी केवली लेश्यारहित होते है।

भव्यो मे चौदह गुणस्थान होते है और अभव्यो मे एक मिथ्यात्व ही गुणस्थान होता है।

---

१. –रविशु-मु द ब. ज।

क्षायिकसम्यक्त्वे असयतसम्यग्दृष्टचादय अयोगकेवल्यन्ता: । वेदकसम्यक्त्वे असयतसम्यग्दृष्टचादय. अप्रमत्तान्ता । औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्टचादय: उपशान्तकषायान्ता. । सासादनसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वमिथ्यात्वेषु एकमेव प्रत्येकम् । नारकेषु प्रथमाया पृथिव्या क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वा असयतसम्यग्दृष्टय । इतरासु भूमिषु वेदकौपशमिकसम्यक्त्वा· । तिर्यक्षु असयतसम्यग्दृष्टिस्थाने क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वानि सन्ति । सयतासयतस्थाने क्षायिकसम्यक्त्व नास्ति इतरद् द्वयमस्ति भोगभूमावेवोत्पादात् । तिरश्चीषु उभयोरपि स्थानयो· क्षायिकसम्यक्त्व नास्ति, मनुष्यस्य क्षपणामारब्धवत: पुरुषलिङ्गेनैव वृत्ते·, इतरद् द्वितयमस्ति । मनुष्येषु असयतसम्यग्दृष्टिसंयतासयतसयतस्थानेषु क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वानि सन्ति । भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कदेवेषु तद्देवीषु सौधर्मैशानकल्पवासिदेवीषु चाऽसंयतसम्यग्दृष्टिस्थाने क्षायिकसम्यक्त्वं नास्ति । इतरद् द्वितयमस्ति । सौधर्मादिषु उपरिमग्रैवेयकान्तेषु क्षायिक-

---

क्षायिक सम्यक्त्व मे असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त ११ गुणस्थान होते है । वेदक सम्यक्त्व मे असयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थान होते है और औपशमिक सम्यक्त्वमार्गणा मे असयत सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्त कषाय पर्यन्त आठ गुणस्थान होते है । सासादन सम्यक्त्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और मिथ्यात्वमार्गणा मे एक अपना-अपना गुणस्थान ही होता है । अर्थात् मिथ्यात्व मे मिथ्यात्व, सासादन मे सासादन और सम्यङ्मिथ्यात्व मे सम्यङ्मिथ्यात्व । नारकियो मे प्रथम नरक मे औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीनो सम्यक्त्व होते है । शेष छह भूमियो मे औपशमिक और क्षायोपशमिक, ये दो ही सम्यग्दर्शन होते है । तिर्यञ्चो मे असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक, ये तीनो सम्यग्दर्शन होते है । सयतासयत गुणस्थान मे तिर्यञ्चो के क्षायिक सम्यग्दर्शन नही है, शेष दो सम्यग्दर्शन है, क्योकि क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ पूर्व बद्ध तिर्यञ्चायु आत्मा भोगभूमि मे ही उत्पन्न होता है । तिर्यञ्चनियो मे चतुर्थ और पञ्चम इन दोनो गुणस्थानों मे क्षायिक सम्यग्दर्शन नही है क्योकि दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इनकी क्षपणा आरम्भ करने वाला पुल्लिग कर्मभूमिया मानव ही होता है और वह मर कर पुल्लिग मे ही उत्पन्न होता है, स्त्रीलिग मे नही । मनुष्यो मे असयत सम्यग्दृष्टि, सयतासयत और सयत (प्रमत्त-अप्रमत्त) गुणस्थानो मे औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीनो सम्यक्त्व है । अप्रमत्त गुणस्थान से ऊपर क्षायिक और औपशमिक है, औपशमिक सम्यग्दर्शन उपशान्त कषाय तक है, क्षायिक अयोगकेवली पर्यन्त है । भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्कदेव, उनकी देवागनाओ और सौधर्म ऐशान कल्पवासी देवागनाओ मे असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे क्षायिक सम्यग्दर्शन नही है, शेष दो सम्यक्त्व है । (देवाङ्गनाओ की उत्पत्ति पहले-दूसरे स्वर्ग तक ही है, सौधर्म ऐशान स्वर्ग मे उत्पन्न हुई देवागनाओ को देव सोलहवे स्वर्ग तक ले जाते है अत: यहाँ पर दो स्वर्गों की देवागनाओ का उल्लेख किया है) सौधर्म स्वर्ग से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीनो सम्यग्दर्शन हैं । अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवो मे क्षायिक

वेदकौपशमिकसम्यक्त्वानि सन्ति । अनुदिशानुत्तरविमानवासिदेवेषु क्षायिकवेदकसम्यक्त्वे स्तः, औपशमिकं चास्ति उपशमश्रेण्या मृताना तत्संभवात् ।

संज्ञित्वे सज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादय क्षीणकषायान्ता । असज्ञित्वे एकेन्द्रियादयः असंज्ञिपञ्चेन्द्रियान्ताः । तदुभयाभावे द्वे गुणस्थाने अन्त्ये ।

आहारे एकेन्द्रियादयः सयोगिकेवलिपर्यन्ताः । अनाहारे पञ्च गुणस्थानानि–विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयः, प्रतरलोकपूरणयो सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च । सिद्धा व्यतीतगुणस्थाना इति । एवमादिलक्षणो धर्मो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरहोभगवद्भिरर्हद्भिः स्वाख्यात इति चिन्तन धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा । एव ह्यस्य चिन्तयतः धर्मानुरागात् सदा प्रतियत्नो भवति । एवमनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षासन्निधाने उत्तमक्षमादिधारणात् महान् सवरो भवति ।

स्वाख्यात इति युच्प्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रादिवृत्तेः । १२ । स्यान्मतम्–सुना योगे अकृच्छ्रार्थे युचा भवितव्यमिति; तन्न; कि कारणम् ? प्रादिवृत्तेः । शोभनः आख्यातः स्वाख्यातः इति प्रादिलक्षणा वृत्तिर्भवति ।

और क्षायोपशमिक, ये दो सम्यग्दर्शन होते है, परन्तु जो उपशम श्रेणी मे मरते है उनके औपशमिक सम्यक्त्व भी हो सकता है ।

सज्ञीमार्गणा में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त १२ गुणस्थान है । असज्ञी मार्गणा मे एकेन्द्रिय आदि असज्ञी पचेन्द्रिय तक होते है । सज्ञी असज्ञी उभय विकल्प से परे जीवो मे सयोगी और अयोगी दो गुणस्थान होते हैं ।

आहारमार्गणा मे एकेन्द्रिय आदि सयोगकेवली पर्यन्त गुणस्थान होते है । अनाहार-मार्गणा मे पाँच गुणस्थान होते है । उसमे विग्रहगति मे मिथ्यात्व, सासादन और असयत सम्यग्दृष्टि ये, तीन गुणस्थान होते है तथा लोकपूरण और प्रतरसमुद्घात अवस्था मे सयोगकेवली और अयोग केवली । सिद्धावस्था गुणस्थानातीत है । इस प्रकार 'नि श्रेयस (मोक्ष) हेतु धर्म का अर्हन्त भगवान् ने कितना सुन्दर विवेचन किया है ।' यह विचार करना धर्मस्वाख्यातत्व अनुप्रेक्षा है । इस प्रकार धर्मभावना का चिन्तन करने वाले मानव का धर्म के प्रति अनुराग होने से वह हमेशा धर्म मे प्रयत्नशील रहता है । इस प्रकार अनित्यत्व आदि अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करने से उत्तम क्षमादि धर्मो का सधारण होता है तथा महान् सवर होता है ।

प्रश्न—'सु' उपसर्ग के योग मे अकृच्छ्र अर्थ मे 'युच्' प्रत्यय होना चाहिये । **उत्तर**—'स्वाख्यात' मे 'सु' उपसर्ग के साथ समास है अतः उसके योग मे अकृच्छ्रार्थक 'युच्' प्रत्यय का प्रसग नही है । क्योकि 'शोभन. आख्यातः स्वाख्यात.' इस प्रकार 'प्रादि' उपसर्ग लक्षणसमास होती है, अर्थात् यहाँ सु उपसर्ग के साथ समास है इसलिये 'युच्' प्रत्यय नही है ।। १२ ।।

अनुप्रेक्षा इति भावसाधनत्वे बहुवचनविरोधः । १३ । अयमनुप्रेक्षाशब्दो यदि भावसाधन , बहुवचन नोपपद्यते तस्यैकत्वात् ।

कर्मसाधनत्वे सामानाधिकरण्याभावः । १४ । स्यात् कर्मसाधनत्वमेवमपि युज्यते बहुवचन सामानाधिकरण्य तु नोपपद्यते, अन्या ह्यनुप्रेक्षा अन्यदनुचिन्तनमिति । अथानुचिन्तनमेवानुप्रेक्षा; एवमपि लिङ्गवचनभेदविरोध. ।

न वा; कृदभिहितो भावो हि [1]द्रव्यवद्भावात् । १५ । नैष दोषः । किं कारणम् ? कृदभिहितस्य द्रव्यवद्भावात् । कृदभिहितो भावो हि द्रव्यवद्भवति यथा पाकः पाकौ पाका इति । तथाऽनुप्रेक्षितव्या[2]र्थभेदात् भावस्य भेदे विवक्षिते बहुवचन न्यायप्राप्तम् ।

सामानाधिकरण्यसिद्धि[3]श्चोभयोः कर्मसाधनत्वात् । १६ । सामानाधिकरण्य च सिद्ध्यति । कुत. ? उभयो· कर्मसाधनत्वात् । अनुप्रेक्ष्यन्ते इत्यनुप्रेक्षाः, अनुचिन्त्यते

प्रश्न—यदि अनुप्रेक्षा शब्द को भावसाधन से निष्पन्न मानते है तो बहुवचन नही हो सकता। क्योकि भाववचन, एकवचन और नपु सक होते है ।। १३ ।।

कर्मसाधनत्व यदि अनुप्रेक्षा शब्द को स्वीकार करते है तो बहुवचन का निर्देश तो हो जायेगा, परन्तु सामानाधिकरण्य नही होगा क्योकि कर्मणि वाच्य मे अनुप्रेक्षा भिन्न होगा और अनुचिन्तन भिन्न होगा । अथ, अनुचिन्तन ही अनुप्रेक्षा है, ऐसा मान लेने पर भी लिग, वचन और भेद मे विरोध आता है ।। १४ ।।

उत्तर—अनुप्रेक्षा शब्द भावसाधन है। क्योकि कृदन्त से अभिहित भाव द्रव्य के समान होता है। जैसे 'पाक. और पाकौ' इसमे भावसाधन मे दो वचन है, अत· अनुप्रेक्षितव्य (चिन्तन करने योग्य पदार्थ) के भेद से भाव मे भी भेद होकर बहुवचन का निर्देश न्याय प्राप्त है, अर्थात् बहुवचन का निर्देश होता है, इसमे कोई दोष नही है ।। १५ ।।

तथा कर्मसाधन मानकर भी अनुचिन्तन के साथ सामानाधिकरण्य बन जाता है। क्योकि 'अनुचिन्त्यते इति अनुचिन्तन, अनुप्रेक्ष्यते इति अनुप्रेक्षा' इस प्रकार दोनो मे ही कर्मसाधनत्व है, अनुचिन्तन शब्द भी कर्मसाधन है अतः दोनो मे समानाधिकरण बन जाता है। अनित्यत्व आदि

---

१ यथा पच्यमानौदनादिवत् द्रव्यमेकवचनादिपु भवति तथा तदाश्रितभावमपि अ. टि । २ अशरणाद्यर्थादाहरति—यथा पाक इत्यादिना । अयमत्राशय तृजभिहितस्य भावस्य यथैकत्व तेन भूयते ताभ्या तैर्नेति तथा कृदभिहितस्य भावस्य नियमो न भवतीति धात्वथ केवल शुद्धो भाव इत्यभिधीयते इति वचनात्-अ टि ।
३ –द्धेश्चो-मु द र्ब ज. ।

इत्यनुचिन्तनम् । अनित्यादिस्वतत्त्व ह्यनुचिन्त्यमानमनुप्रेक्षाव्यपदेशभाग् भवति । कथम् ? कर्मण्यनः "**युड्व्या बहुलम्**"[१] इति, यथा [२]निरदनमवसेचनमिति । एवमपि लिङ्गसख्याभेदो नोपपद्यते, उपात्तलिङ्गसख्याना परस्पराभिसम्बन्धो युज्यते यथा गावो धनमिति । अथ धर्मोपदेशात् प्रागनुप्रेक्षा· किमर्थ नोक्ताः ?

मध्येऽनुप्रेक्षावचनम् उभयनिमित्तत्वात् । १७ । अनुप्रेक्षावचनं मध्ये क्रियते । कुत· ? उभयनिमित्तत्वात् । अनुप्रेक्षा हि भावयन् उत्तमक्षमादीश्च परिपालयति परीषहांश्च जेतुमुत्सहते ।

व्याख्याता अनुप्रेक्षाः । संवरहेतु परीषहजय इत्युक्तम्, अतस्तान् व्याचक्ष्महे । आह–व्याख्यास्यति भवान्, इदमेव तावद्वक्तव्य किमर्थमेते सह्यन्ते ? [३]किञ्च, एषा पारिभाषिकी सज्ञा, उतान्वर्था इति ? अत्रोच्यते–

स्वभावो का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है अत. अनुचिन्त्यमान अनुप्रेक्षा इस शब्द की निष्पत्ति हो जाती है। क्योंकि कर्मण्यनः युड्व्या बहुलम् इस प्रकार व्याकरण के नियम से कर्मणि मे 'न' प्रत्यय होकर अनुचिन्तन शब्द का उत्पाद हुआ है। जैसे 'निरदन अवसेचनम्-करण पठन इत्यादि।' इस प्रकार इसमे लिंग और सख्या का (वचन का) भेद भी उत्पन्न नही हो सकता, अर्थात् स्वाख्यानुचिन्ननम् अनुप्रेक्षा, चिन्तन एकवचन नपु सकलिंग है और अनुप्रेक्षा स्त्रीलिंग है। यह वचन और लिंग का भेद भी इसमे दूषित नही है, क्योंकि उपात्तलिंग और वचन वाले शब्दो मे परस्पर सम्बन्ध का नियम है अतः लिंग और वचनभेद तो 'गावो धनम्' के समान बन ही जाता है ॥ १६ ॥

मध्य मे अनुप्रेक्षा का कथन उभय निमित्तत्व के लिये है। अर्थात् अनुप्रेक्षा का वर्णन उभय निमित्त होने से मध्य मे कहा है। क्योंकि अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करने वाला ही उत्तम क्षमा आदि धर्मो का पालन करता है और परीषहो को जीतने के लिये उत्साहित होता है अतः धर्म और परीषहजय के मध्य मे अनित्य आदि भावनाओ का उल्लेख किया है ॥ १७ ॥

इस प्रकार अनुप्रेक्षाओ का वर्णन किया। सवर का कारणभूत परीषहजय कहा गया है अत. अब परीषहजय का कथन करेंगे। प्रश्न—आप परीषहजय का वर्णन तो करेंगे परन्तु प्रथम यह कहना चाहिये कि परीषह क्यों सहन की जाती है ? अथवा, इसकी पारिभाषिक सज्ञा सार्थक है कि असार्थक ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

---

१. जैनेन्द्र० २।३।९४। २ यथा निरदन्ति तदिति निरदन कर्मसाधन –श्र टि। ३. किमेषा मु. द. ब. ज।

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

[१]महत्त्वादन्वर्थसंज्ञा । १ । सज्ञा च नाम यतो न लघीयसी ।[२] कुत एतत् ? लघ्वर्थं हि सज्ञाकरणमिति, तत्र महत्याः सज्ञाया करणे एतत्प्रयोजनमन्वर्थसज्ञा परीपहा इति[३] यथा विज्ञायते तद्विभाव्यते[४] ।

प्रकरणात् संवरमार्गसंप्रतिपत्तिः । २ । सवरो हि प्रकृतः, अतस्तदभिसम्बन्धात् मोक्षपदप्रापकसंवरमार्गसप्रतिपत्तिरिह वेदितव्या ।

तदच्यवनार्थो निर्जरार्थश्च परीषहजयः । ३ । कर्मागमद्वाराणि संवृण्वतो [५]जैनेन्द्रमार्गान्मा च्योष्महीति पूर्वमेव परीषहान् विजयन्ते । जितपरीपहा. सन्तः तैरनभिभूयमाना प्रधानसवरमाश्रित्याऽप्रतिबन्धेन क्षपकश्रेण्यारोहणसामर्थ्य प्रतिपद्याभिन्नोत्साहा सकलसाम्परायि[६]कप्रध्वसनशक्तयो ज्ञानध्यानपरशुभि छिन्नमूलानि कर्माणि

जिनेन्द्रोक्त मार्ग से च्युत नहीं होने के लिये और कर्मों की निर्जरा करने के लिये जो प्रीतिपूर्वक सहन की जाती है, उन्हें परीषह कहते है ॥ ८ ॥

नाम की महत्ता होने से 'परीषहजय' यह सार्थक नाम है । अर्थात् नाम वडा होने से यह छोटी नही है, महान् है । **प्रश्न**—यह कैसे जाना गया है कि यह सार्थक नाम है ? **उत्तर**—नाम छोटे से छोटा रखा जाता है । यहाँ 'परीपह' इतना बड़ा नाम रखने का यह प्रयोजन है कि 'परीषहजय' यह सार्थक नाम है अत. इसका जैसा नाम है वैसा ही कहा जाता है कि जो सहन किये जॉय, वे परीषह है ॥ १ ॥

सवर का प्रकरण होने से परीषहजय से सवर होता है, ऐसा अर्थ प्रतीत हो जाता है । अर्थात् सवर का प्रकरण चल रहा है, अत सवर का सम्बन्ध होने से मार्ग का अर्थ मोक्षपद के प्रापक सवरमार्ग का ग्रहण करना चाहिये ॥ २ ॥

उस कर्मागम द्वार को रोकने वाले सवर रूप जिनेन्द्रकथित मार्ग से च्युत न हो जायें, इसके पूर्व ही परीषहो पर विजय प्राप्त की जानी है, वा कर्मो की निर्जरा के लिये जा सहन की जाये, वह परीपहजय कहलाती है । परीषहो को जीतने वाले सन्त उन परीपहो के द्वारा तिरस्कृत न होते हुए प्रधान सवर का आश्रय लेकर अप्रतिवन्ध से क्षपकश्रेणी पर आरूढ करने के सामर्थ्य को प्राप्त कर उत्तरोत्तर उत्साह को वढाते हुए सकल कपायो की प्रध्वस शक्ति वाले होकर ध्यान रूपी परशु के द्वारा कर्मो की जड़ को मूल से उखाड़ कर जिनके पखो पर जमी हुई धूल झड़ गई है, उन उन्मुक्त

---

१. परीपहाऽमहत्त्वाद -मु. द व ज. । २. तस्मात् महत्त्वादन्वर्थसज्ञा । ३ इति यावत् यथा मु द व ज । इतीय यथा ता. । ४. परीपहा इति श्र. टि । ५ जैनेन्द्रान्मा -मु द. व ज । ६. कषाय ।

विधूय प्रस्फोटितपक्षरेणव इव पतत्त्रिण ऊर्ध्वं व्रजन्ति–इत्येवमर्थ परिसोढव्या परीषहाः। "सोढः"[1] इति षत्वप्रतिषेधः।

यद्येवमुच्यता के परीषहाः कियन्तो वेति ? अत इदमाह–

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

क्षुधादयो द्वाविंशतिः परीषहाः । १ । त एते बाह्याभ्यन्तरद्रव्यपरिणामाः शारीरमानसप्रकृष्टपीडाहेतवः क्षुधादयो द्वाविंशति परीषहाः प्रत्येतव्याः। तद्विजये विदुषा सयतेन मोक्षार्थिना प्रतियत्नः कार्यः। तद्यथा–

प्रकृष्टक्षुदग्निप्रज्वलने धृत्यम्भसोपशमः क्षुज्जयः । २ । निवृत्तसर्वसंस्कारविशेषस्य शरीरमात्रोपकरणसन्तुष्टस्य तप.सयमविलोपं परिहरतः कृतकारितानुमत-

---

पक्षियो की तरह पखो को फड-फड़ाकर ऊपर उठ जाते है। इसलिये सवरमार्ग और निर्जरा की सिद्धि के लिये परीपह सहन करनी चाहिये। 'परिसोढव्या.' मे 'सोढ.' इस सूत्र से षत्व का निषेध हो जाता है। अर्थात् परीषहजय सवर, निर्जरा और मोक्ष का साधन है ॥ ३ ॥

परीषह कौन-कौनसी है ? और कितनी है ? अत अब उन परीषहो के नाम और सख्या का वर्णन करते है—

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये बाईस परीषह है ॥ ९ ॥

क्षुधादि बाईस परीपह होती है। बाह्य और आभ्यन्तर द्रव्यो के परिणमन रूप शारीरिक और मानसिक पीड़ा की कारणभूत क्षुधादि बाईस परीपह है। मोक्षप्राप्ति के इच्छुक विद्वान् सयतो को इन परीपहो को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ १ ॥ जैसे—

प्रकृष्टक्षुधारूपी अग्नि की ज्वाला को धैर्यरूपी जल से शान्त करना, क्षुधाजय कहलाता है। जिसने शरीर के सर्व सस्कारो का त्याग कर दिया है, जो शरीर मात्र उपकरण मे सतुष्ट है, तप और संयम के नाशक कारणो का परिहार करने वाला है, कृत, कारित, अनुमोदित, सकल्पित,

---

१ जैने. ५।४।८१।

सकल्पितोद्दिष्टसंक्लिष्टक्रयागतप्रत्यात्तपूर्वकर्मपश्चात्कर्मदशविधदोपविप्रमुक्तैषणस्य देश-कालजनपदव्यवस्थापेक्षस्य अनशनाध्वरोगतप स्वाध्यायश्रमवेलातिक्रमावमोदर्यासिद्धेद्यो-दयादिभ्य नानाहारेन्धनोपरमे जठराग्निदाहिनी मारुतालोलिताग्निशिखेव समन्ताच्छरीरेन्द्रियहृदयसंक्षोभकरी क्षुदुत्पद्यते। तस्या प्रतीकारं त्रिप्रकारम् अकाले सयमविरोधिभिर्वा द्रव्यै. स्वयमकुर्वतोऽन्येन क्रियमाणमसेवमानस्य मनसा चाऽनभिसन्दधत· दुस्तरेय वेदना महाश्च कालो दीर्घाह इति दीर्घाह इति विषादमनापद्यमानस्य त्वगस्थिसि-रावतानमात्रकलेवरस्यापि सत. आवश्यकक्रियादिषु नित्योद्यतस्य क्षुद्वशप्राप्तानर्थकारा-बन्धनस्थमनुष्यान् पञ्जरगततिर्यक्प्राणिन· क्षुदभ्यर्दितान् परतन्त्रानपेक्षमाणस्य ज्ञानिनो धृत्यम्भसा सयमकुम्भधारितेन क्षुदग्नि शमयतः तत्कृतपीडां प्रत्यवगणयन् क्षुज्जय इत्युच्यते।

उदन्योदीरणहेतूपनिपाते तद्वशाप्राप्तिः पिपासासहनम्।३। स्नानावगाहन-परिषेकत्यागिनः पतत्त्रिवदध्रुवासनावसथस्य अतिलवणस्निग्धरूक्षविरुद्धाहारग्रैष्मातप-

---

उद्दिष्ट, सक्लिष्ट, खरीद कर लाया हुआ, परिवर्तन करके लाया हुआ (अपनी वस्तु देकर उसके बदले मे दूसरी लाकर साधु को देना प्रत्यात्त कहलाता है), पूर्व कर्म (आहार लेने के पूर्व दाता की स्तुति करना), पश्चात् कर्म (आहारान्तर दाता की स्तुति करना), इन दस प्रकार के एषणा दोषो को टाल कर आहार करने वाला है, देशकाल, जनपद की व्यवस्था को जानने वाला है, ऐसे सयत को भी अनशन, मार्ग का श्रम, रोग, तप, स्वाध्याय का श्रम, कालातिक्रम, अवमोदर्य और असाता वेदनीय कर्म के उदय आदि कारणो से नाना आहार रूपी ईधन के डालने पर जठराग्नि को प्रज्वलित करने वाली और वायु के झकोरो से चचल अग्नि की शिखा के समान चारो तरफ शरीर और इन्द्रियो को क्षोभ उत्पन्न करने वाली क्षुधा उत्पन्न होती है। उसका प्रतीकार अकाल (भोजनकाल के सिवाय काल) मे सयम के विरोधी द्रव्य के द्वारा न तो स्वय करते है, न दूसरे से कराते है, न मन मे यह विचार करते है कि—'यह वेदना दुस्तर है, समय बहुत है, बहुत बडे-बडे दिन होते है' आदि। क्षुधा के कारण वे ज्ञानी साधु किसी प्रकार के विषाद को प्राप्त नही करके शरीर मे अस्थि (हड्डी), सिरा-जाल, चमड़ा मात्र रह जाने पर भी आवश्यक क्रियाओ को बराबर नियम से करते है तथा कारागार के बन्धन मे पडे हुए भूख से छटपटाते हुए मनुष्यो को और पिजरे मे बन्द पशु-पक्षियो को क्षुधा से पीडित एव परतन्त्र देखकर उनकी दशा का विचार करके सयमरूपी कुम्भ मे भरे हुए धैर्यरूपी जल से क्षुधारूपी अग्नि को शमन करते है तथा उस भयकर क्षुधा की पीड़ा को नही गिनते हुए क्षुधा को जीतते है। इसे **क्षुधा परीषहजय** कहते है ॥ २ ॥

तृषा (प्यास) की उदीरणा के कारण मिलने पर भी प्यास के वशीभूत नही होना,उसके प्रतीकार को नही चाहना पिपासासहन है। स्नान अवगाहन (तालाब आदि मे डुबकी लगाने आदि) के त्यागी, पक्षियो के समान अनियत आसन और स्थान वाले, अतिलवण, स्निग्ध, रूक्ष, प्रकृतिविरुद्ध

पित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णा शरीरेन्द्रियोन्माथिनी पिपासा प्रत्यनाद्रियमाणप्रतीकारमनसः निदाघे पटुतपनकिरणसतापिते अटव्यामासन्नेष्वपि ह्रदेषु अप्कायिकजीवपरिहारेच्छया जलमनाददानस्य सलिलसेकविवेकम्लानां[1] लतामिव ग्लानिमुपगता गात्रयष्टिमनवगणय्य तपः–परिपालनपरस्य भिक्षाकालेऽपि इङ्गिताकारादिभि योग्यमपि पानमचोदयतो धैर्यकुम्भावधारित[2]शीलसुगन्धिप्रज्ञातोयेन विध्यापयतः तृष्णाग्निशिखां संयमपरत्वं पिपासासहनमित्यवसीयते ।

पृथगवचनमैकार्थ्यादिति चेत्; न; सामर्थ्यभेदात् । ४ । स्यादेतत्–क्षुत्पिपासयोः पृथग्वचनमनर्थकम् । कुतः ? ऐकार्थ्यादिति; तन्न; कि कारणम् ? सामर्थ्यभेदात् । अन्यद्धि क्षुधः सामर्थ्यमन्यत्पिपासायाः ।

अभ्यवहारसामान्यादिति चेत्; न; अधिकरणभेदात् । ५ । स्यान्मतम्–अभ्यवहार-सामान्यात् एकार्थमिति; तदपि न युक्तम्, कुतः ? अधिकरणभेदात् । अन्यद्धि क्षुव. प्रतीकाराधिकरणम्, अन्यत्पिपासायाः ।

आहार, गरमी, पित्त, ज्वर और उपवास आदि से उत्पन्न शरीर और इन्द्रियो को मथने वाली पिपासा को कुछ न समझकर उसके प्रतीकार की इच्छा नही करने वाले, जेठ महीने के सूर्य का तीव्र ताप और जगल मे जलाशय के निकट रहने पर भी जलकायिक जीवों की हिंसा का परिहार करने की इच्छा से उन जलाशयों के जल से प्यास बुझाने की इच्छा नही करने वाले, पानी सीचने के अभाव में मुरझाई हुई लता के समान म्लानता को प्राप्त हुए शरीर की परवाह न करके तप का परिपालन करने वाले, भिक्षाकाल के समय भी सकेत आदि के द्वारा योग्य जल को भी नही चाहने वाले, परम सयमी साधु धैर्य रूपी कुम्भ मे भरे हुए, शील से सुगन्धित प्रज्ञा रूपी जल से तृष्णा रूपी अग्नि की ज्वाला को बुझाते है, शान्त करते है और सयम मे तत्पर रहते है, वे **पिपासा परीषहजयी** होते हैं ।। ३ ।।

प्रश्न—क्षुधा और पिपासा को पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि दोनो का एक ही अर्थ है । **उत्तर**—सामर्थ्यभेद से (लक्षणभेद से) क्षुधा पिपासा एक नही है, क्योंकि क्षुधा का सामर्थ्य भिन्न है और पिपासा का सामर्थ्य भिन्न है अतः दोनो एक नही है ।। ४ ।।

प्रश्न—भूख और प्यास में अभ्यवहार (भोजन करना) सामान्य है अतः क्षुधा, तृषा परीषह एक ही है, पृथक्-पृथक् नही ? **उत्तर**—भूख और प्यास पृथक्-पृथक् है, क्योंकि उन दोनो का अधिकरण भिन्न-भिन्न है, क्षुधा के प्रतीकार का अधिकरण (साधन) है और पिपासा का अधिकरण भिन्न है अतः अभ्यवहार सामान्य होते हुए भी पृथक्-पृथक् है ।। ५ ।।

---

१ –ना लतेव मु. द. ब ज. । २. –तशील मु द. ब. ज. ।

शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषात् संयमपरिपालनं शीतक्षमा । ६ । परित्यक्तवासस पक्षिवदनवधारितालयस्य शरीरमात्राधिकरणस्य शिशिरवसन्तजलदागमादिवशात् वृक्षमूलपथिगुहादिषु पतितप्रालेयलेशतुषारलवव्यतिकरशिशिरपवनाभ्याहतमूर्ते तत्प्रतिक्रियासमर्थद्रव्यान्तराग्न्याद्यनभिसन्धानात्, नारकदु.सहशीतवेदनानुस्मरणात् तत्प्रतीकारचिकीर्षाया परमार्थविलोपभयात् विद्यामन्त्रौषधपर्णवल्कलत्वक्तृणाजिनादिसवन्धाद् व्यावृत्तमनस परकीयमिव देह मन्यमानस्य धृतिविशेषप्रावरणस्य गर्भागारेषु धूपप्रवेकप्रकरप्ररूपितप्रदीपप्रभवेषु वराङ्गनानवयौवनोष्णघनस्तननितम्बभुजान्तरतर्जितशीतेषु निवास सुरतसुखरसाकरमनुभूतमसारत्वावबोधादस्मरतः विषादविरहितस्य सयमपरिपालन शीतक्षमेति भाष्यते ।

दाहप्रतीकारकाङ्क्षाभावाच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनम् । ७ । ग्रैष्मेण पटीयसा भास्करकिरणसमूहेन सतापितशरीरस्य तृष्णानशनपित्तरोगघर्मश्रमप्रादुर्भूतोष्णस्य स्वेदशोषदाहाभ्यर्दितस्य जलभवनजलावगाहनानुलेपनपरिषेकार्द्रावनीतलनीलोत्पलकदली-

---

शीत के कारणो के सन्निधान मे शीत के प्रतीकार की अभिलाषा नही करना, सयम का परिपालन करना शीत परीषहजय कहलाता है। निर्वस्त्र पक्षियो के समान अनियत आवास वाले और शरीर मात्र आधार वाले साधुजन शिशिर, वसन्त और वर्षा के समय मे वृक्षमूल, मार्ग तथा गुफा आदि निवास मे गिरे हुए बर्फ, तुषार आदि के कणो से व्याप्त शीतलपवन से तीव्र शरीर के काँपने पर भी उस शीत की प्रतिक्रिया करने मे समर्थ अग्नि आदि द्रव्यान्तर की अभिलाषा नही करते हैं, किन्तु नरकसम्बन्धी दु सह शीतजन्य तीव्र वेदना का स्मरण करके चित्त का समाधान करते है। शीत के प्रतीकार की चिकीर्षा मे परमार्थ के लोप के भय के कारण विद्या, मत्र, औषध, पत्ते, वल्कल, तृण और चर्म आदि के सम्बन्ध से व्यावृत्त मन वाले (अभिलाषा नही करने वाले) साधुजन शरीर को पराया समझते हुए पूर्व मे धूप से सुवासित, दीपको से प्रज्वलित श्रेष्ठ अङ्गनाओ के नवयौवन, उष्ण घन स्तन, नितम्ब और भुजान्तर के द्वारा शीत की तर्जना करने वाले, गर्भागारो मे किये हुए निवास को तथा अनुभूत सुरत-सुख के रस को ज्ञान के द्वारा असार समझकर स्मरण नही करते हुए किसी प्रकार का विवाद नही करते हुए साधुगण धैर्य रूपी वस्त्र को धारण करके सयम का परिपालन करते हुए शीत को सहन करते हैं, उसे शीत परीषहजय कहते है ।। ६ ।।

चारित्र की रक्षा करने के लिये दाह का प्रतीकार करने की इच्छा का अभाव होना उष्ण परीषहसहन है। ज्येष्ठ मास के प्रखर सूर्य की किरणो के समूह से अगार की तरह सतापित शरीर वाले; प्यास, अनशन, पित्तरोग, घाम, श्रम आदि से उत्पन्न उष्णता से सन्तप्त, स्वदेह (अपने शरीर) मे असह्य गर्मी की वेदना से पसीना, शोष-दाह आदि से पीड़ित होने पर भी जलभवन, जलावगाहन, चन्दन आदि का अनुलेपन, जलसिंचन, आर्द्रभूमि, नीलकमल, केले के पत्र से उत्क्षेपित शीतल वायु,

पत्रोत्क्षेपमारुतजलतूलिकाचन्दनचन्द्रपादकमलकल्हारमुक्ताहारादिपूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रार्थनापेतचेतस उष्णवेदना अतितीव्रा बहुकृत्व परवशादवाप्ता, इद पुनस्तपो मम कर्मक्षयकारणमिति तद्विरोधिनी क्रियां प्रत्यनादराच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमिति समाम्नायते ।

दंशमशकादिबाधासहनमप्रतीकारम् । ८ । प्रत्याख्यातशरीराच्छादनस्य क्वचिदपि अप्रतिबद्धचेतसः परकृतायतनगुहागह्वरादिषु रात्रौ दिवा वा दशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिकायूकमत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादिभि. तीक्ष्णपातैर्भक्ष्यमाणस्यातितीव्रवेदनोत्पादकैः अव्यथितमनस स्वकर्मविपाकमनुचिन्तयतो विद्यामन्त्रौषधादिभिः तन्निवृत्ति प्रति निरुत्सुकस्य आशरीरपतनादपि निश्चितात्मन. परबलप्रमर्दन प्रति प्रवर्तमानस्य मदान्धगन्धसिन्धुरस्य रिपुजनप्रेरितविविधशस्त्रप्रतिघातादपराङ्मुखस्य नि.प्रत्यूहविजयोपलम्भनमिव कर्मागतिपृतनापराभवं प्रति प्रयतनं दशमशकादिबाधासहनमप्रतीकारमित्याख्यायते ।

दंशमशकमात्रप्रसङ्ग इति चेत्; न; उपलक्षणार्थत्वात् । ९ । स्यान्मतम्—दश-

---

जलतूलिका (जल के फव्वारे), चन्दन, चन्द्रकिरण, कमल की माला और मुक्ताहार आदि पूर्व मे अनुभूत शीतल उपचारो के प्रति तिरस्कार भाव रखने वाले, सयमीजन उस भयकर महागर्मी मे विचार करते है—'मैने बहुत बार नरको मे परवश होकर अत्यन्त दु सह उष्ण वेदना सही है, यह तप मेरे कर्मक्षय का कारण है, इसे स्वतन्त्रभाव से सहन करना चाहिये' इत्यादि पुनीत विचारो से उष्णविरोधिनी क्रिया के प्रति अनादर करते हुए (उष्णता के प्रतीकार की इच्छा नही करते हुए) चारित्र का रक्षण करना **उष्ण परीषहजय** है ।। ७ ।।

दशमशक की बाधा सहन करना, उसका प्रतीकार नही करना **दंशमशक परीषहजय** कहलाता है । त्याग किया है शरीर के आच्छादक वस्त्रादि का जिन्होने, किसी भी पदार्थ मे जिनका मन आसक्त नही है, परकृत आवास गिरिगुफा आदि स्थानो मे वास करने वाले, रात-दिन अतितीव्र वेदना के उत्पादक डाँस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, कीडा, जुँआ, खटमल, चीटी और बिच्छू आदि के तीक्ष्णपात से काटे जाने पर भी दु.खित मन नही होने वाले, स्वकर्म के पाक का चिन्तन करने वाले, विद्या, मत्र और औषधि आदि के द्वारा उस दशमशक की बाधा के प्रतीकार की इच्छा न रखने वाले, शरीर के नाश पर्यन्त निश्चित दृढात्मा बने रहने वाले साधुगण प्रबल प्रमर्दन के प्रति प्रवर्तमान रिपुजन प्रेरित विविध प्रकार के शस्त्रो के प्रतिघात से अपराङ्मुख निर्विघ्न विजय को प्राप्त करने वाले मदान्ध हाथी के समान कर्मसेना को जीतने मे तत्पर रहते है, उसे दशमशक परीषहजयी वा दशमशकबाधा अप्रतीकारी कहते है ।। ८ ।।

प्रश्न—सूत्र मे दंशमशक को ही बाधा कारण ग्रहण किया है, अतः दशमशक ही परीषह

मशकस्यैव बाधाकारणस्य ग्रहणं प्राप्नोतीति; तन्न, किं कारणम्; उपलक्षणार्थत्वात् । दशनपरितापकारणस्य सर्वस्यैवेदं उपलक्षण यथा 'काकेभ्यो रक्षतां सर्पिः' इत्युपघातकोपलक्षणम् । यद्येव[1]मन्यतरग्रहणमेव कर्तव्यम्, अन्यतरोपादाने स्वरूपग्रहणप्रसङ्गात् द्वितीयवचनमुपलक्षणं संपद्यते ।

जातरूपधारणं नाग्न्यम् । १० । गुप्तिसमित्यविरोधिपरिग्रहनिवृत्तिपरिपूर्णब्रह्मचर्यमप्रार्थिकमोक्षसाधनचारित्रानुष्ठान यथाजातरूपम् असस्कृतमविकारं मिथ्यादर्शनाभिष्टविद्विष्ट परममाङ्गल्य नाग्न्यमभ्युपगतस्य स्त्रीरूपाणि नित्याशुचिवीभत्सकुणपभावेन पश्यतो वैराग्यभावनावरुद्धमनोविक्रियस्याऽसभावितमनुष्यत्वस्य नाग्न्यदोषासस्पर्शनात् परीषहजयसिद्धिरिति जातरूपधारणमुत्तम श्रेय प्राप्तिकारणमित्युच्यते । इतरे पुनर्मनोविक्रिया निरोद्धुमसमर्थास्तत्पूर्विकाङ्गविकृति निगूहितकामा कौपीनफलकचीवराद्यावरणमातिष्ठन्ते [2]अङ्गसवरणार्थमेव तन्न कर्मसवरणकारणम् ।

है, अन्य जन्तुकृत नही ? **उत्तर**—दशमशक शब्द डँसने वाले जन्तुओ के उपलक्षण के लिये है। जैसे 'दही सरक्षण' मे 'काक' शब्द दही खाने वाले प्राणियो का उपलक्षक होता है, अत दशनतापकारी सर्व जन्तुओ का दशमशक से ग्रहण होता है। यदि उपलक्षण नही होता तो दशमशक मे से किसी एक शब्द का ग्रहण होता, अत दशमशक मे से किसी एक का नाम लेने से उसी जन्तु के स्वरूप का बोध होने से दूसरा शब्द उपलक्षण के लिए दिया गया है ॥ ९ ॥

जातरूप (जन्म-अवस्था के समान निराभरण निर्वस्त्र निर्विकार रूप) धारण करना नाग्न्य है। गुप्ति, समिति की अविरोधी परिग्रह निवृत्ति और परिपूर्ण ब्रह्मचर्यभूत अप्रार्थिक मोक्ष के साधन चारित्र का अनुष्ठान करना यथाजात रूप है। अविकारी (शरीर), सस्कारो से रहित, स्वाभाविक, मिथ्यादृष्टियो के द्वारा द्वेषकृत होने पर भी परम माङ्गल्य ऐसी यथाजातरूप नाग्न्य अवस्था के धारक, स्त्रीरूप को नित्य अशुचि, वीभत्स और शव-ककाल के समान देखने वाले, वैराग्य भावनाओ से मनोविकार को जीतने वाले और सामान्य मनुष्यत्व के द्वारा असभावित ऐसे विशिष्ट मानवरूपधारी साधुगणो के नाग्न्य दोषो (लिंगविकार, मनोविकार आदि दोषो) का स्पर्श नही होने से नाग्न्य परीषह के जय की सिद्धि होती है। अर्थात् नग्न होने पर भी पुरुषविकार प्रकट न होने से **नाग्न्य परीषहजय** कहलाता है। जातरूप का धारण करना उत्तम है और मोक्षप्राप्ति का कारण कहा जाता है। अन्य तापसीगण मनोविकारो तथा मनोविकारपूर्वक होने वाले अगविकारों को रोकने मे असमर्थ है अत. उस अङ्गविकृति को ढँकने के लिए कौपीन, फलक, चीवर आदि आवरणो को ग्रहण करते है। वे तापस केवल अङ्ग का ही सवरण कर सकते है, कर्म का नही ॥ १० ॥

---

१. यद्येवमन्यतरग्रहण ॥ १० ॥ यद्येव–मु द व ज. । २ अन्ते अङ्ग–मु द व ज. ।

संयमे रतिभावादरतिपरीषहजयः । ११ । सयतस्य क्षुधाद्याबाधासंयमपरिरक्षणेन्द्रियदुर्जयत्वव्रतपरिपालनभारगौरवसर्वदाप्रमत्तत्वदेशभाषान्तरानभिज्ञत्वविषमचपलसत्त्वप्रचुरभीमदुर्गनियतैकविहारत्वादिभिररति प्रादुष्यती धृतिविशेषान्निवारयतः सयमरतिभावनात् विषयसुखरतिर्विषाहारसेवेव विपाककटुकेति चिन्तयतः रतिपरिबाधाभावादरतिपरीषहजय इति निश्चीयते ।

सर्वेषामरतिकारणत्वात् पृथगरतिग्रहणानर्थक्यमिति चेत्; न; क्षुधाद्यभावेऽपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः । १२ । स्यादेतत्–क्षुधादीना सर्वेषामरतिहेतुत्वात् पृथगरतिग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? क्षुधाद्यभावेऽपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः । मोहोदयाकुलितचेतसो हि क्षुधादिवेदनाऽभावेऽपि सयमेऽरतिरुपजायते ।

वराङ्गनारूपदर्शनस्पर्शनादिविनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजयः । १३ । एकान्ते आरामभवनादिप्रदेशे रागद्वेषयौवनदर्परूपमदविभ्रमोन्मादमद्यपानावेशादिभिः प्रमदासु बाधमानासु तदक्षिवक्त्रभ्रूविकारशृङ्गाराकारविहारहावविलासहासलीलाविजृम्भितकटाक्षविक्षेपसुकुमार-

---

सयम मे रति करना **अरति परीषहजय** कहलाता है। क्षुधा आदि की बाधा सताने पर सयम की रक्षा मे, इन्द्रियो को बडी कठिनता से जीतने मे, व्रतो के भले प्रकार पालन करने के भार की गुरुता प्राप्त होने पर, सदैव प्रमादरहित परिणामो की सम्हाल करने मे, भिन्न-भिन्न देशभाषाओ के नही जानने पर विरुद्ध और चपलप्राणियो से भरे भयानक मार्गो मे अथवा राज्य के कर्मचारियो आदि से भयानक परिस्थिति मे नियत रूप से एकाकी विहार करने आदि से जो अरति (खेद) उत्पन्न होती है उसे वे धैर्यविशेष से निवारण करते है। सयमविषयक रति (अनुराग) भावना के वल से विपयसुख रति को (विपयानुराग को) विपमिश्रित आहार के सेवन के समान विपाक मे कटु मानने वाले उन परम सयमीजन के रति परीपह वाधा का अभाव होने से **अरति परीषहजय** होता है; ऐसा जानना चाहिये ।। ११ ।।

प्रश्न—क्षुधादि सर्व ही परीपह अरति के हेतु हैं अतः अरति परीषह को पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है। उत्तर—यद्यपि क्षुधा आदि सभी परीपहे अरति उत्पन्न करती है तथापि क्षुधा आदि के न होने पर भी मोहकर्म के उदय से होने वाली सयम की अरति का सग्रह करने के लिये 'अरति' का पृथक् ग्रहण किया है, क्योकि मोह के उदय से आकुलित चित्त वाले प्राणी के क्षुधादि के अभाव मे ही सयम के प्रति अरति उत्पन्न होती है ।। १२ ।।

वराङ्गनाओं के रूप देखना, उनका स्पर्श करना आदि के भावो की निवृत्ति को **स्त्री परीषहजय** कहते है। एकान्त, उद्यान, भवन आदि प्रदेशो मे रागद्वेपविशिष्ट यौवन का घमण्ड करने वाली, अपने सुन्दर रूप का गर्व करने वाली, विभ्रम और उन्माद को पैदा करने वाले मद्यादि का पान करने वाली स्त्रियो के द्वारा वाधा पहुँचाने पर भी, उन वनिताओ के नेत्र, मुख एव भ्रूविकार,

स्निग्धमृदुपीनोन्नतस्तनकलशनितान्तताम्रोदरपृथुजघनरूपगुणाभरणगन्धवस्त्रमाल्यादिप्रतिनिगृहीतमनोविप्लुतेः दर्शनस्पर्शनाभिलाषनिरुत्सुकस्य स्निग्धमृदुविशदसुकुमाराभिधानतन्त्रीवशमिश्रातिमधुरगीतश्रवणनिवृत्तादरश्रोत्रस्य ससारार्णवव्यसनपातालावगाढदुःखरौद्रावर्तकुटिलध्यायिनः स्त्रैणानर्थविनिवृत्ति. स्त्रीपरीषहजय इति कथ्यते। अन्यवादिपरिकल्पिता देवताविशेषा ब्रह्मादय तिलोत्तमादेवगणिकारूपसदर्शनलोललोचनविकारा. स्त्रीपरीषहपङ्कान्नोद्वर्तुमात्मान समर्थाः।

व्रज्यादोषनिग्रहश्चर्याविजयः। १४। दीर्घकालाभ्यस्तगुरुकुलब्रह्मचर्यस्य अधिगतबन्धमोक्षपदार्थतत्त्वस्य कषायनिग्रहपरस्य भावनार्पितमतेः सयमायतनभक्तिहेतोर्देशान्तरातिथेः गुरुणाभ्यनुज्ञातस्य नानाजनपदव्याहारव्यवहाराभिज्ञस्य ग्रामे एकरात्रं नगरे पञ्चरात्र प्रकर्षेणावस्थातव्यमित्येव सयतस्य वायोरिव नि.सङ्गतामुपगतस्य देशकालप्रमाणोपेतमध्वगमनमनुभवतः क्लेशक्षमस्य भीमाटवीप्रदेशेषु निर्भयत्वात् सिंहस्येव सहायकृत्यमनपेक्षमाणस्य [1]परुषशर्कराकण्टकादिव्यधनजातपादखेदस्यापि सतः

शृगार, आकार, विहार, हाव-भाव, विलास, हास, लीला, कटाक्ष-विक्षेप, सुकुमार-स्निग्ध-मृदु-पीन-उन्नत-स्तनकलश, नितान्तक्षीण उदर, पृथु जघन, रूप, गुण, आभरण, सुवास, वस्त्र, माल्य आदि के प्रति पूर्ण निग्रह के भाव होने से जो उनके दर्शन, स्पर्शन आदि की अभिलाषाओ से पूर्णतः रहित हैं तथा स्निग्ध, मृदु, विशद, सुकुमार शब्द और तत्री वीणा आदि से मिश्रित अतिमधुर गीत आदि के सुनने मे निरुत्सुक है, तथा स्त्रीसम्बन्धी अनर्थो को ससार रूपी समुद्र के व्यसनपाताल भयकर दु ख, रौद्र भँवर आदि रूप विचार करने वाले है ऐसे परम सयमीजनो के **स्त्री परीषहजय** होता है। अन्य मिथ्यादृष्टियो के द्वारा कल्पित ब्रह्मादि देव तिलोत्तमा देवगणिका के रूप को देखकर विकार को प्राप्त हो गये थे, वे स्त्रीपरीषह रूपी पक (कीचड) से ऊपर नही उठ सके, अपने आत्मा का उद्धार करने मे समर्थ नही हो सके ।। १३ ।।

गमन के दोषो का निग्रह करना **चर्या परीषहजय** कहलाता है। दीर्घकाल तक गुरुकुल मे रहकर ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने वाले, बन्ध, मोक्षतत्त्व के मर्म को जानने वाले, कषायो का निग्रह करने मे तत्पर भावनाओ से सुभावित चित्त वाले, गुरु की आज्ञापूर्वक सयम आयतनो की भक्ति के लिये देशान्तर में गमन करने वाले और नाना जनपद (अनेक देशो के) व्यवहारो के ज्ञाता साधुओं को ग्राम मे एक रात्रि और नगर मे पाँच रात्रि ही अधिक-से-अधिक रहना चाहिये। वहाँ एक वा पाँच दिन रहकर भी वायु के समान नि.सग रहना चाहिये। ऐसा विचार करने वाले वा देशकाल प्रमाणोपेतमार्ग के अनुभव से क्लेश को सहन करने मे समर्थ भयकर अटवीप्रदेशो मे सिह के समान निर्भय होने से सहायक की अपेक्षा न करके परिभ्रमण करने वाले साधुजन मार्ग मे कठोर ककड़

---

१ पुरुपकर्कशक –मु, द, ब., ज। स्पर्शशकराक –अ.।

पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरत सम्यग्व्रज्यादोषं परिहरतः चर्यापरीषहज
वेदितव्य. ।

संकल्पितासनादविचलनं निषद्यातितिक्षा । १५ । श्मशानोद्यानशून्यायतनगिरि
गुहागह्वरादिषु ग्रनभ्यस्तपूर्वेषु विदितसंयमक्रियस्य धैर्यसहायस्योत्साहव्रतो निषद्यामधिरूढ
प्रादुर्भूतोपसर्गरोगविकारस्यापि सत. तत्प्रदेशादविचलत. मन्त्रविद्यादिलक्षणप्रतीकारान
पेक्षमाणस्य क्षुद्रजन्तुप्रायविषमदेशाश्रयात् काष्ठोपलवन्निश्चलस्य ग्रनुभूतमृदुकुथास्त
णादिस्पर्शसुखमविगणयतः प्राणिपीडापरिहारोद्यतस्य ज्ञानध्यानभावनाधीनधि
सकल्पितवीरासनोत्कुटिकासनादिरतेरासनदोषजयान्निषद्यातितिक्षेत्याख्यायते ।

ग्रागमोदितशयनात् ग्रप्रच्यवः शय्यासहनम् । १६ । स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरि
खेदितस्य मौहूर्तिकी खरविषमप्रचुरशर्कराकपालसङ्कटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशे
निद्रामनुभवत' यथाकृत्येकपार्श्वदण्डायतादिशायिनः सञ्जातबाधाविशेषस्य सयमार्थम

ग्रादि से पैरो के कट जाने पर ग्रौर छिल जाने पर भी खेद का ग्रनुभव नही करते है, वा इन साधुग्र
को खेद का ग्रनुभव नही होता है। पूर्व मे ग्रनुभव किए हुए उचित यान-वाहन ग्रादि का स्मरर
नही करते है तथा सम्यक् प्रकार से गमन के दोषो का परिहार करते है, उन साधुग्रो के **चर्या परीष**
जय होता है ग्रर्थात् ऐसे साधु चर्या परीषहजयी होते है ।। १४ ।।

सकल्पित ग्रासन से विचलित नही होना **निषद्या परीषहजय** होता है। श्मशान, उद्यान
शून्यगृह, गिरिगुहा, गह्वर ग्रादि ग्रनभ्यस्त (नये-नये) स्थानो मे सयमविधिज्ञ, धैर्यशाली ग्रौर उत्साह
सम्पन्न साधु जिस ग्रासन से बैठते है, उपसर्ग, रोग-विकारादि के ग्राने पर भी उस ग्रासन
विचलित नही होते है ग्रौर न मन्त्र-विद्या ग्रादि से उपसर्गादि का प्रतीकार ही करना चाहते है व
उपसर्ग ग्रादि को दूर करने के लिये मन्त्रविद्या ग्रादि की ग्रपेक्षा ही करते है। क्षुद्रजन्तुयुक्त विष
देश मे भी काष्ठ या पत्थर के समान निश्चल ग्रासन से बैठते है; उस समय वे पूर्वानुभूत मृदु शय्य
ग्रादि बिछौनो के सुख का स्मरण भी नही करते है, वे तो प्राणीपीड़ा के परिहार मे तत्पर है, निशदि
ज्ञान-ध्यान मे लीन रहने हैं ग्रर्थात् जिनकी बुद्धि ज्ञान-ध्यान की भावना के ग्राधीन है। वीरासन
उत्कुटिकासन ग्रादि जिस ग्रासन से बैठते है, उस सकल्पित ग्रासन से दूसरे ग्रासन की पलटना नह
करते, हिलना ग्रादि ग्रासन-दोषो को जीतते है, उन परम सयमीजनो को निषद्या परीषहजय होत
है ग्रर्थात् वे ही साधु निषद्या परीषह के विजयी होते है ।। १५ ।।

ग्रागम मे कथित शयन से चलित नही होना, ग्रागमानुसार शयन करना **शयन परीषहजय**
कहलाता है। स्वाध्याय, ध्यान ग्रौर मार्ग-गमन के परिश्रम ग्रादि से परिखेदित, खर, विषम,
रेतीली, ककरीली, पथरीली, शीत तथा उष्णता से युक्त भूमिप्रदेशो मे एक मुहूर्त्त तक एक करवट से
सीधे डण्डे की भांति शयन करने वाले, बाधाविशेष के उत्पन्न होने पर भी सयम की रक्षा करने के
लिये हलन-चलन न करके निश्चल रहने वाले, व्यन्तर ग्रादि के द्वारा उपद्रव करने पर भी भागने

स्पन्दमानस्यानुतिष्ठत· व्यन्तरादिभिर्वावित्रास्यमानस्य पलायन प्रति निरुत्सुकस्य मरणभयनिर्विशङ्कस्य निपतितदारुवत् व्यपगतासुवच्चा[1]ऽपरिवर्तमानस्य द्वीपिशार्दूल-महोरगादिदुष्टसत्त्वप्रचरितोऽयं प्रदेशोऽचिरादतो निर्गमनं श्रेयः [2]कदानु रात्रीर्विवसतीति विषादमनादधानस्य सुखप्राप्तावप्यपरितुष्यतः पूर्वानुभूतनवनीतमृदुशयनरतिमनुस्मरतः सम्यगागमोदितशयनादप्रच्यवः शय्यासहनमिति प्रत्येतव्यम् ।

अनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजयः । १७ । तीव्रमोहाविष्टमिथ्यादृष्टचार्यम्लेच्छ-खलपापाचारमत्तोदृप्तशङ्कितप्रयुक्त–माशब्दधिक्कारपरुषावज्ञानाक्रोशादीन् कर्णविरेचनान् हृदयशूलोद्भावकान् क्रोधज्वलनशिखाप्रवर्धनकरानप्रियान् शृण्वतोऽपि दृढमनसः भस्मसात्कर्तुमपि समर्थस्य परमार्थविगाहितचेतसः, शब्दमात्रश्राविणस्तदर्थान्वीक्षण-विनिवृत्तव्यापारस्य स्वकृताशुभकर्मोदयो ममैष यतोऽमीषां मां प्रति द्वेष इत्येवमादि-भिरुपायैरनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजय इति निर्णीयते ।

या उसके प्रतीकार की इच्छा नही रखने वाले, मरण के भय से भी नि.शक रहकर गिरी हुई लकडी के समान, निश्चल मरे हुए के समान पडे रहने वाले (मृतक प्राणीवत् निश्चल), 'यह स्थान सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि दुष्ट जीवो से भरा हुआ है, यहाँ से शीघ्र ही निकल जाना श्रेयस्कर है, कब यह रात्रि समाप्त होगी' इस प्रकार के सकल्प-विकल्पो को नही करने वाले, सुख-स्थान के मिलने पर भी हर्ष से उन्मत्त नही होने वाले, पूर्व मे अनुभूत नवनीत के समान मृदु शय्या का स्मरण न करके आगमोक्तविधि से शयन करने वाले तथा आगमोक्तविधि से च्युत नही होने वाले साधुजनो के शय्या परीषहजय होता है अर्थात् उक्त विधि से शयन करने वाले ही सयमीजन शयन परीषह-विजयी होते हैं ।। १६ ।।

अनिष्ट वचनो को सहन करना **आक्रोश परीषहजय** है । तीव्र मोहाविष्ट, मिथ्यादृष्टि-आर्य, म्लेच्छ, खल (दुष्ट) पापाचारी, मत्त (पागल), उद्दृप्त (घमण्डी), शङ्कित आदि दुष्टजनों के द्वारा प्रयुक्त मा शब्द, धिक्कार शब्द, तिरस्कार अवज्ञा के सूचक कठोर, कर्कश, कानो को बधिर करने वाले, हृदयभेदी, हृदय मे शूल के उत्पादक, क्रोधरूपी अग्नि की ज्वालाओ को बढाने वाले और अप्रिय गाली आदि वचनो को सुनकर भी स्थिरचित्त रहने वाले, भस्म करने का सामर्थ्य होते हुए भी परमार्थ (तत्त्वविचार) मे अवगाहित चित्तवाले, शब्द मात्र को श्रवण कर कटु शब्दो के अर्थ के विचार से पराङ्मुख, "यह मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म का उदय ही है जिससे मेरे प्रति इनका द्वेष है", इत्यादि पुण्य भावनाओ के चिन्तन रूप उपायो के द्वारा सुभावित साधु का अनिष्ट वचनो का सहन करना आक्रोश परीषहजय है, ऐसा समझना चाहिये ।। १७ ।।

---

१. –वच्चपरि श्र. ता. ज. । २. कदा तु ता श्र. ।

मारकेष्वमर्षापोहभावनं वधमर्षणम् । । १८ । ग्रामोद्यानाटवीनगरेषु नक्तं दिवा चैकाकिनो निरावरणमूर्तेः समन्तात्पर्यटद्भिः[1]श्चौराक्षिकम्लेच्छशवरपरुषवधिरपूर्वापकारिद्विषत्परलिङ्गिभिराहितक्रोधैः ताडनाकर्षणबन्धनशस्त्राभिघातादिभिर्मार्यमाणस्याप्यनुत्पन्नवैरस्य अवश्यप्रपातुकमेवेद शरीर कुशलद्वारेणानेनापनीयते न मम व्रतशीलभावनाभ्र शनमिति भावशुद्धस्य दह्यमानस्यापि सुगन्धमुत्सृजतश्चन्दनस्येव शुभपरिणामस्य स्वकर्मनिर्जरामभिसन्दधानस्य दृढमतेः क्षमौषधिबलस्य मारकेषु सुहृत्स्विवामर्षापोहभावन वधमर्षणमित्याम्नायते ।

प्राणात्ययेऽप्याहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः । । १९ । क्षुदध्वपरिश्रमतपोरोगादिभिः प्रच्यावितवीर्यस्य शुष्कपादपस्येव निरार्द्रमूर्त्तेरुन्नतास्थिस्नायुजालस्य निम्नाक्षिपुटपरिशुष्काधरौष्ठक्षामपाण्डुकपोलस्य चर्मवत्सङ्कुचिताङ्गोपाङ्गत्वचः शिथिलजानुगुल्फकटिबाहुयन्त्रस्य देशकालक्रमोपपन्नकल्पादायिनः वाचयमस्य मौनिसमस्य वा शरीरसन्दर्शनमात्रव्यापारस्य [2]ऊर्जितसत्त्वस्य प्रज्ञाप्यायितमनसः प्राणात्ययेऽप्याहारव-

---

मारने वालो के प्रति भी क्रोध नही करना **वध परीषहजय** है । ग्राम, उद्यान, अटवी, नगर आदि मे रात-दिन एकाकी, निरावरण शरीर वाले, चारो तरफ घूमने वाले, चोर, कुतवाल, म्लेच्छ, भील, कटोर, बधिर, पूर्व अपकारी, शत्रु और द्वेषाविष्ट मिथ्यादृष्टि तपस्वी आदि के द्वारा क्रोधपूर्वक ताडन, आकर्षण, बन्धन, शस्त्राभिघात आदि के द्वारा मारने पर भी वैर नही करने वाले, यह शरीर अवश्य ही नष्ट होने वाला है, यह कुशलता है कि शरीर ही इस पुरुष के द्वारा नष्ट किया जा रहा है, मेरे व्रत, शील-भावना आदि तो नष्ट नही किये जा रहे हैं' इत्यादि शुभ भावनाओ को भाने वाले, जलने पर भी सुवास को फैलाने वाले चन्दन के समान शुभ परिणाम वाले, इसके मारण-ताडन से तो मेरे कर्मो की निर्जरा ही हो रही है, ऐसा विचार करने वाले, दृढमति और क्षमा रूपी औषधि के बल से मारने वाले मे भी मित्रभाव रखने वाले या क्रोध नही करने वाले सयमी के वध परीषहजय कहा जाता है ॥ १८ ॥

प्राण जाने पर भी आहारादि की याचना नही करना, दीनता से निवृत्त होना **याचना परीषहजय** है । भूख, मार्ग के परिश्रम आदि के द्वारा शुष्क वृक्ष के समान जिसके सारे अवयव सूख गये हैं, (शरीर लकड़ी के समान हो गया है), जिसके अस्थि और स्नायु का समूह ऊपर चमक उठा है, नेत्र भीतर धँस गये है, ओठ शुष्क हो गये है, कपोल गड्ढे से युक्त सफेद हो गये है, चर्म के समान जिनके अगोपाङ्ग सकुचित हो गये है, जघा, पैर, कमर, बाहु आदि जिनके अत्यन्त शिथिल हो गये है, ऐसे देशकाल की अवस्था का विचार कर ही आहार के लिए निकलने वाले, मौनी, परम स्वाभिमानी, शरीर दिखाना मात्र व्यापार वाले, महाशक्तिशाली, प्रज्ञा से ओत-प्रोत मानसिक

---

१ –श्चौरराक्षसम्ले–मु. द ब. । २. उज्झितमदस्य –मु द ब ।

सतिभेषजानि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य रत्नवणिजो मणिसंदर्शनमिव स्वशरीरप्रकाशनमकृपणं मन्यमानस्य वन्दमानं, प्रति स्वकरविकसनमिव पाणिपुटधारणमदीनमिति गणयतः याचनासहनमवसीयते। अद्यत्वे पुनः कालदोषाद्दीनानाथपाखण्डिबहुले जगत्यमार्गज्ञैरनात्मविद्भिर्याचनमनुष्ठीयते।

अलाभेऽपि लाभवत् सन्तुष्टस्यालाभविजयः । २० । वायुवदनेकदेशचारिणः अप्रकाशितवीर्यस्याभ्युपगतैककालभोजनस्य सकृन्मूर्तिसंदर्शनव्रतकालस्य देहीति असभ्यवाक्प्रयोगादुपरतस्यानुपात्तविग्रहप्रतिक्रियस्याद्येदं श्वश्चेदमिति व्यपेतसंकल्पस्य एकस्मिन् ग्रामे अलब्ध्वा ग्रामान्तरान्वेषणनिरुत्सुकस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसः नायं दाता तत्रान्यो वदान्योऽस्तीति व्यपगतपरीक्षस्य लाभादप्यलाभो मे परम तपः इति सन्तुष्टस्यालाभविजयोऽवसेय.।

परिणति वाले, परम तपस्वीगण प्राण जाने की अवस्था हो जाने पर भी दीनता, मुख की विवर्णता, शरीर का सकेत, हीन वचन का प्रयोग आदि के द्वारा आहार, वसति, औषध आदि की याचना नही करते है, जैसे—जौहरी (रत्नो का व्यापारी) मणि को दिखाता है, उसी प्रकार स्व शरीर को दिखाना ही पर्याप्त है। जो अदोन है, वन्दना करने वाले के लिये ही जिनके हाथ ऊपर उठते है, अर्थात् वन्दना करने वालो को आशीर्वाद देने के लिए ही जिनके हाथ विकसित होते है, याचना के लिये नही, ऐसे साधुगण ही याचना परीषहविजयी होते है वा ऐसे महामना साधु के याचना परीषहजय होता है। अधुना (इस समय) कालदोष से दीन, अनाथ, पाखण्डियो से व्याप्त इस जगत् मे मोक्षमार्ग को नही जानने वाले अनात्मज्ञो के द्वारा याचना की जाती है। (याचना-परोषहजयी के सवर होता है, याचना करने वाले के नही) ।। १९ ।।

अलाभ मे भी लाभ के समान सतुष्ट होने वाले तपस्वी के **अलाभ परीषहजय** होता है। वायु के समान अनेक देशो मे विहार करने वाले, अपनी शक्ति को प्रकाशित नही करने वाले, दिन मे एक बार भोजन करने वाले, स्व शरीर दर्शन मात्र से भिक्षा स्वीकार करने वाले, 'देहि या देओ' इस प्रकार के असभ्य वचनो का प्रयोग नही करने वाले, शरीर को प्रतिक्रिया के (शरीर के ममत्व के) त्यागी, 'यह आज है और यह कल' इत्यादि सकल्पो से रहित, एक ग्राम मे भिक्षा की प्राप्ति न होने पर ग्रामान्तर मे आहार का अन्वेषण करने के लिये जाने मे अनुत्सुक, पाणिपात्र मे भोजन करने वाले और बहुत से घरो मे बहुत दिनो तक भ्रमण करने पर भिक्षा के नही मिलने पर भी सक्लेश परिणाम नही करने वाले, रचमात्र भी चित्त को मलिन नही करने वाले परम तपस्वी के अलाभ परोषहजय होता है, वे साधु यह न सोचते है और न कहते है कि 'यहाँ दाता नही है, वहाँ बडे-बडे दानी उदार दाता है', वे परम योगी लाभ से भी अलाभ में परम तप मानते हैं, इस प्रकार लाभ की अपेक्षा अलाभ मे अधिक सन्तुष्ट होने वाले के अलाभ परोषहजय है, ऐसा जानना चाहिये ।। २० ।।

नानाव्याधिप्रतीकारानपेक्षत्वं रोगसहनम् ।२१। दुःखादिकरणमशुचिभाजनं जीर्णवस्त्रवत्परिहेय पित्तमारुतकफसन्निपातनिमित्तानेकामयवेदनाभ्यर्दितमन्यदीयमिव विग्रहं मन्यमानस्य उपेक्षितृत्वाप्रच्युतेश्चिकित्साव्यावृत्तचेष्टस्य शरीरयात्राप्रसिद्धये व्रणालेपनवद्यथोक्तमाहारमाचरतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिःस्पृहत्वात् प्रतीकारानपेक्षिणः पूर्वकृतपापकर्मणः फलमिदमनेनोपायेनानृणीभवामीति चिन्तयतो रोगसहनं संपद्यते ।

तृणादिनिमित्तवेदनायां मनसोऽप्रणिधानं तृणस्पर्शजयः ।२२। यथाभिनिर्वृत्ताधिकरणशायिन शुष्कतृणपत्रभूमिकण्टकफलकशिलातलादिषु प्रासुकेष्वसस्कृतेपु व्याधिमार्गगमनशीतोष्णजनितश्रमविनोदार्थं शय्या निषद्या वा भजमानस्य तृणादिवाधितमूर्त्तेरुत्पन्नकण्डुविकारस्य दु खमनभिचिन्तयतः तृणादिस्पर्शवाधाऽवशीकृतत्वात्तृणस्पर्शसहनमवगन्तव्यम् ।

स्वपरमलापचयोपचयसंकल्पाभावो मलधारणम् ।२३। जलजन्तुपीडापरिहारा-

नाना व्याधियो के प्रतीकार की इच्छा नही करने वाले के **रोग परीषहजय** होता है । दुःख का कारण, अशुचि का भाजन, जीर्ण वस्त्र के समान छोड़ने योग्य, वात-पित्त-कफ और सन्निपातजन्य अनेक रोग और वेदनाओ से जकडे हुए इस शरीर को दूसरे के समान मानने वाले, इस शरीर से उपेक्षाभाव को धारण करने के कारण सर्व प्रकार की विचिकित्सा से चित्त को हटाकर शरीर की यात्रा की प्रसिद्धि के लिये व्रण (घाव) के लेपन के समान शास्त्रोक्त विधि से शुद्ध आहार लेने वाले, तप के प्रभाव से जल्लौषधिप्राप्ति आदि अनेक तपविशेष ऋद्धियो के प्राप्त होने पर भी शरीर से अत्यन्त नि.स्पृह होने से रोग के प्रतीकार की इच्छा नही करने वाले 'यह पूर्वोपार्जित पापकर्म का फल है, इसे भोगकर उऋण हो जाना ही अच्छा है', इत्यादि विचारो के द्वारा रोग की वेदना को सहन करने वाले परम योगी के रोग परीषहजय होता है ।। २१ ।।

तृणादि के निमित्त से वेदना के होने पर भी मन का निश्चल रहना उसमे दु.ख नही मानना **तृण परीषहजय** है । यथाभिनिर्वृत्त अधिकरणो (जहां कहीं जैसी ऊँची-नीची पृथ्वी मिल गई उस) पर सोने वाले, शुष्कभूमि, तृण, पत्र, कण्टक, काष्ठ, फलक और शिलातल आदि किसी भी प्रासुक असस्कृत आधार पर व्याधि, मार्गश्रम, शीत, उष्ण आदि कारणो से उत्पन्न क्लम (श्रम थकावट) को दूर करने के लिये शय्या वा आसन लगाने वाले तृणादि के द्वारा शरीर मे बाधा होने तथा खुजली आदि विकार उत्पन्न होने पर भी दु.ख नही मानकर निश्चल रहने वाले साधु के तृणादि के स्पर्श की बाधा के वशोभूत न होने से तृण परीषहजय (सहन) जानना चाहिये, ऐसा साधु तृण परीषहजयी होता है ।। २२ ।।

स्व और पर के द्वारा मल के अपचय और उपचय के सकल्प के अभाव को **मलधारण परीषह-**

याऽस्नानप्रतिज्ञस्य, स्वेदपङ्कदिग्धसर्वाङ्गस्य, सिध्मकच्छूदद्रूदीर्णकायस्य नखरोमश्मश्रुकेशविकृतसहजबाह्यमलसपर्ककारणानेकत्वग्विकारस्य स्वगतमलापचये[1] परमलोपचये चाऽप्रणिहितमनस· कर्ममलपङ्कापनोदायैवोद्यतस्य पूर्वानुभूतस्नानानुलेपनादिस्मरणपराङ्मुखचित्तवृत्तेर्मलधारणमाख्यायते ।

[1]**केशलुञ्चनखेदसहनोपसंख्यानमिति चेत्; न; मलपरीषहावरोधात् । २४ ।** स्यादेतत्–केशलुञ्चने तत्सस्काराकरणे वा महान् खेद सजायते, तत्सहनमपरमुपसख्यातव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? मलपरीषहावरोधात् । मलसामान्यसग्रहे हि तदन्तर्भवति ।

मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्कारानभिलाषः । २५ । चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विन· स्वपरसमयनिश्चयज्ञस्य हितोपदेशपरस्य [2]कथामार्गकुशलस्य बहुकृत्व परवादिविजयिनः प्रणामभक्तिसभ्रमासनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोतीत्येव-

---

सहन कहते है । जलकायिक जीवो की पीडा का परिहार करने के लिए अस्नान जिनका व्रत है, ऐसे परम अहिंसक साधु पसीने के मैल से सारे अगो के जल जाने पर दाद, खाज आदि चर्मरोगो के प्रकुपित होने पर तथा नख, रोम, दाढी, मूँछ, केश के विकृत होने से एव अनेक वाह्य मल के सम्पर्क के कारण चर्मविकार होने पर भी स्वय मल (शरीरगत मैल) को दूर करने की वा दूसरो से मल को दूर कराने की इच्छा नही करते है और सदा कर्ममल को दूर करने की चेष्टा करते हैं, जो पूर्व मे अनुभूत स्नान, अनुलेपन आदि के स्मरण से पराङ्मुख है, उन सयमीजनो के **मलधारण परीषहजय** होता है, अर्थात् वे ही साधु मलपरीषह को सहन करने वाले होते है ।। २३ ।।

प्रश्न—केशलुञ्चन करने मे वा केशो का सस्कार नही करने पर महान् खेद होता है अत. केशलुञ्चन को सहन करना वा केशसस्कार नही करना नाम एक परीषह और होना चाहिये । **उत्तर**—यद्यपि केशलुञ्चन और केशसस्कार नही करने पर खेद होता है, पर यह मलपरीषह मे अन्तर्भूत हो जाता है अत. इसको पृथक् ग्रहण नही किया है ।। २४ ।।

मान और अपमान मे तुल्यभाव होना, सत्कार-पुरस्कार की भावना नही होना, **सत्कार-पुरस्कार परीषहजय** है । 'चिरकाल से ब्रह्मचर्य व्रत के धारी महातपस्वी, स्वपरसमयनिश्चयज्ञ, हितोपदेशी, कथामार्गकुशल, अनेक बार परवादी के साथ शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त करने वाले 'मेरा कोई प्रणाम, भक्ति, आदर (आने पर खड़े होना-चलने पर पीछे-पीछे चलना) आसन-प्रदान आदि से सत्कार-पुरस्कार नही करता है', इस प्रकार की दुर्भावनाओ को मन मे न लाकर मान

---

१. परमलापचये चाप्र –मु. द. व. । १. केशलुञ्चने तत्सस्काराकरणे वा महत्खेद–मु द व. ज । २. कथामार्गकु–मु. द ब ज. ।

मविचिन्तयत. मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्कारनिराकाङ्क्षस्य श्रेयोध्यायिनः सत्कारपुरस्कारपरीषहजयो वेदितव्यः । सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः । पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामन्त्रणं वा ।

प्रज्ञाप्रकर्षावलेपनिरासः प्रज्ञाविजयः । २६ । अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य कृत्स्नग्रन्थार्थावधारिणः अनुत्तरवादिनस्त्रिकालविषयार्थविद. शव्दन्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवत् नितरामवभासन्ते इति विज्ञानमदनिरास प्रज्ञापरीषहजयः प्रत्येतव्यः ।

अज्ञानावमानज्ञानाभिलाषसहनमज्ञानपरीषहजयः । २७ । अज्ञोऽय न किञ्चिदपि वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्याध्ययनार्थग्रहणपराभिभवादिष्वसक्तबुद्धेश्चिरप्रव्रजितस्य विविधतपोविशेषभाराक्रान्तमूर्त्ते. सकलसामर्थ्याप्रमत्तस्य विनिवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इत्यनभिसन्दधतः अज्ञानपरीषहजयोऽवगन्तव्य· ।

और अपमान मे समवृत्ति रखने वाले सत्कार-पुरस्कार की आकाक्षा नही करने वाले और मात्र श्रेयोमार्ग का ध्यान करने वाले सयमी के सत्कार-पुरस्कार परीषहजय हं ता है । सत्कार-पुरस्कार मे समभाव रखने वाला ही साधु सत्कार-पुरस्कार परीपहजयी होता है । पूजा प्रशसात्मक सत्कार है और क्रिया के प्रारम्भ मे मुखिया बनाना, प्रधानता देना, आमन्त्रण देना पुरस्कार है ।। २५ ।।

प्रज्ञा (बुद्धि) का विकास होने पर भी प्रज्ञा मद नही करना **प्रज्ञा परीषहविजय** है । 'मैं अग पूर्व प्रकीर्णक आदि मे विशारद हूँ, सारे ग्रन्थो के अर्थ का ज्ञाता हूँ, अनुत्तरवादी हूँ, त्रिकाल विषयार्थवेदी हूँ, शब्द (व्याकरण), न्याय, अध्यात्म मे निपुण हूँ, मेरे समक्ष सूर्य के सामने खद्योत के समान अन्यवादी निस्तेज हो जाते है, इस प्रकार विज्ञान का मद नही होने देना प्रज्ञा परीषहजय है ।। २६ ।।

अज्ञान के कारण होने वाले अपमान एव ज्ञान की अभिलाषा को सहन करना **अज्ञान परीषहजय** है । 'यह अज्ञ है, कुछ नही जानता, पशु समान है' इत्यादि आक्षेप (तिरस्कार) वचनो को शान्तिपूवक सहने वाले, अध्ययन और अर्थग्रहण मे श्रम करने वाले, चिरप्रव्रजित (बहुत काल का दीक्षित) विविध तपविशेष के भार से आक्रान्त मूर्त्ति (विविध प्रकार के घोर तपो को करने (वाले), सर्व क्रियाओ मे प्रमाद नही करने वाले और अशुभ मन, वचन, काय की क्रियाओ से रहित मुझे आ.ज तक कोई ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नही हुआ है, इस प्रकार अपने मन मे अज्ञान से हीन भावना नही आने देना, मानसिक ताप से सन्तापित नही होना अज्ञान परीषहजय जानना चाहिये ।। २७ ।।

प्रव्रज्याद्यनर्थकत्वासमाधानमदर्शनसहनम् । २८ । संयमप्रधानस्य दु खकरतपोऽनुष्ठायिन: परमवैराग्यभावनाशुद्धहृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्याऽर्हदायतनसाधुधर्मपूजकस्य चिरन्तनस्य अद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते, महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमिदम्, अनर्थिकेय प्रव्रज्या विफल व्रतपरिपालनमित्येवमसमादधानस्य, दर्शनशुद्धियोगाददर्शनपरीषहसहनमवसातव्यम् । एवं परीषहान् असंकल्पोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसः रागादिपरिणामास्रवाभावात् महान् संवरो भवति ।

श्रद्धानालोचनग्रहणमविशेषादिति चेत्; न; अव्यभिचारदर्शनार्थत्वात् । २९ । स्यादेतत्–श्रद्धानमालोचनमिति द्विविध दर्शनम्, तस्याविशेषेण ग्रहणमिह प्राप्नोति; कुत. ? अविशेषात् । न हि किञ्चिद्विशेषलिङ्गमिहाश्रितमस्तीति; तन्न, कि कारणम् ? अव्यभिचारदर्शनार्थत्वात् । मत्यादिज्ञानपञ्चकाव्यभिचारिश्रद्धानं[1] दर्शनम् । [2]आलोचन तु न, श्रुतमन.पर्ययोरप्रवृत्तेरतोऽस्याव्यभिचारिणः श्रद्धानस्य ग्रहणमिहोपपद्यते ।

'दीक्षा लेना आदि अनर्थक है', इस प्रकार मानसिक विचार नही होने देना, **अदर्शन परीषहसहन** है । सयम पालन करने में प्रधान, दुष्कर तप तपने वाले, परम वैराग्य भावना से शुद्ध हृदय युक्त, सकल तत्त्वार्थवेदी, अर्हदायतन, साधु और धम के प्रतिपूजक चिरप्रव्रजित मुझ तपस्वी का आज तक कोई ज्ञानातिशय उत्पन्न नही हुआ है । 'महोपवास करने वालों को प्रातिहार्यविशेष (चमत्कारी ऋद्धियाँ) उत्पन्न हुए थे' यह सब प्रलाप मात्र है, असत्य है, यह दीक्षा लेना व्यर्थ है, व्रतो का पालन निरर्थक है । इस प्रकार से चित्त मे अश्रद्धा उत्पन्न नही होने देना, अपने सम्यग्दर्शन को दृढ रखना, **अदर्शन परीषहसहन** करना जानना चाहिये । तप के बल पर ऋद्धियो के उत्पन्न न होने पर जिनवचन पर अश्रद्धान नही करना अदर्शन परीषहजय है । इस प्रकार असकल्पित (विना सकल्प के) उपस्थित परीषहो को सक्लेश परिणामरहित सहन करने वाले साधु के रागादि परिणाम रूप आस्रव का अभाव होने से महान् सवर होता है ।। २८ ।।

प्रश्न—श्रद्धान और आलोचन (अवलोकन) के भेद से दर्शन दो प्रकार का है अतः यहाँ अविशेषता से दोनो का ग्रहण होगा । क्योकि यहाँ दर्शन का कोई विशेप लिंग आश्रित नही है ? **उत्तर**—यद्यपि दर्शन के श्रद्धान और आलोचन ये दो अर्थ होते है, तथापि यहाँ अव्यभिचार दिखाने के लिये दर्शन का अर्थ 'श्रद्धान' ही ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि यहाँ मति आदि पाँच ज्ञानो के अव्यभिचारी श्रद्धान रूप दर्शन का ग्रहण है, आलोचन रूप दर्शन श्रुत और मन.पययज्ञानो मे नही होता है अतः उसका ग्रहण नही है, अव्यभिचारी श्रद्धान का ही ग्रहण है ।। २९ ।।

---

१. लक्षणम् –अ. टि. । २. विषयविषयिसम्बन्धे सति श्वेतत्वादिविशेषणरहितवस्तुसत्तावभासिलक्षणम् –अ. टि. ।

मनोरथपरिकल्पनामात्रमिति चेत्; न; वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्यात् । ३० । स्यादेतत्–श्रद्धानदर्शनग्रहणमिदमिति स्वमनोरथपरिकल्पनामात्रमिति; तन्न; किं कारणम् ? वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्यात् । वक्ष्यते हि कारणम्–"**दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ**" [त. सू. ९।१४] इति ।

अवध्यादिदर्शनपरीषहोपसंख्यानमिति चेत्; न; अवधिज्ञानाद्यभावे सहचरितदर्शनाभावादज्ञानपरीषहावरोधात् । ३१ । स्यान्मतम्–"**अवध्यादिदर्शनोपेताः सुष्ठु पश्यन्ति नास्य किञ्चिदतिशयवदस्ति दर्शनम्, गुणप्रत्ययं च तत्**" इत्युक्तम् आगमे, नूनमस्मिस्तद्योग्या गुणा न सन्तीत्येवमादिवचनसहनमवध्यादिदर्शनपरीषहजयः, तस्योपसख्यानं कर्तव्यमिति; तन्न, किं कारणम् । अज्ञानपरीषहावरोधात् । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–अवध्यादिज्ञानाभावे तत्सहचरितदर्शनाभावः, आदित्यस्य प्रकाशाभावे प्रतापाभाववत्, तस्मादज्ञानपरीषहेऽवरोधः । यद्येव श्रद्धानदर्शनमपि ज्ञानाविनाभावीति प्रज्ञापरीषहे तस्यान्तर्भाव. प्राप्नोतीति, नैष दोषः, प्रज्ञायां सत्यामपि क्वचित्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावाद् व्यभिचारोपलब्धेः ।

प्रश्न—अदर्शन परीषह मे दर्शन का अर्थ श्रद्धान करना स्व-मनोरथ कल्पना मात्र है। **उत्तर**—आगे कहे जाने वाले दर्शनमोह के उदय से ही अदर्शन परीषह बताई जायेगी। '**दर्शनमोहान्तरायोरदर्शनालाभौ**' अतः दर्शन का श्रद्धान अर्थ केवल कल्पनामात्र नही है ।। ३० ।।

प्रश्न—अवधि आदि दर्शन को भी परीषह मे ग्रहण करना चाहिये क्योकि 'मेरी आँख अच्छा देखती है, इसकी आँख मे कोई अतिशय नही है, गुणप्रत्यय भी अवधि है, आगम मे लिखा भी है कि 'इसमे उसके योग्य गुण नही हैं' इत्यादि वचनो को सहन करना अवधि आदि दर्शन परीषहजय है अत. अवधिदर्शन परीपह को भी ग्रहण करना चाहिये । **उत्तर**—यद्यपि अवधिदर्शन आदि के न होने पर 'इसमे यह गुण नही है' आदि रूप से अवधिदर्शन परीषह हो सकती है, परन्तु इसका अज्ञान परीपह मे अन्तर्भाव हो जाता है; क्योकि ये अवधि आदि दर्शन अपने-अपने ज्ञानो के सहचारी होते है । अवधि आदि ज्ञान के अभाव मे उनके सहचारी दर्शन का भी अभाव रहता है । जैसे सूर्य के प्रकाश के अभाव मे उसके प्रताप का अभाव रहता है इसलिये अज्ञान परीषह मे ही उन-उन अवधिदर्शन अभाव आदि परीपहो का अन्तर्भाव है। **प्रश्न**—यदि अज्ञान परीपह मे अवधिदर्शनाभाव आदि का अन्तर्भाव हो जाता है तो श्रद्धान भी ज्ञान का अविनाभावी है अतः अदर्शन परीपह का भी प्रज्ञा परीपह मे अन्तर्भाव प्राप्त होता है ? **उत्तर**—इस प्रकार श्रद्धान रूप दर्शन को ज्ञान का अविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञा मे अन्तर्भाव नही किया जा सकता । क्योकि किसी मे प्रज्ञा के होने पर भी तत्त्वार्थश्रद्धान का अभाव पाया जाता है, अतः व्यभिचारी है अर्थात् प्रज्ञा के साथ श्रद्धान का अविनाभाव सम्बन्ध नही है ।। ३१ ।।

आह–उपपादित परीषहजयात् सवरो भवतीति। इदमुच्यता किमेते सर्वे ससारमहार्णवादुत्तितीर्षन्तममुं प्रव्रज्यामभ्युपगतमभिद्रवन्ति उत कश्चित्प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते–अमी व्याख्यातलक्षणाः क्षुधादयश्चारित्रान्तराणि प्रति भाज्याः, नियमेन पुनरनयो. प्रत्येतव्या –

सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

चतुर्दशवचनादन्याभावः । १ । चतुर्दशेति वचनादन्येषा परीषहाणामभावो वेदितव्य । कुत. ? सख्याविशेषपरिग्रहस्य नियमार्थत्वात्–चतुर्दशैव नान्ये इति ।

सूक्ष्मसाम्पराये[1] नियमानुपपत्तिर्मोहोदयादिति चेत्; न; सन्मात्रत्वात् । २ । स्यान्मतम्–युज्यते वीतरागछद्मस्थे निरवशेषमोहनीयस्योपशमात्, क्षयाच्च तत्कृतवक्ष्यमाणपरीषहाष्टका[2]भावाच्चतुर्दशसख्यानियम सूक्ष्मसाम्पराये तु मोहोदयसद्भावाच्चतुर्दशेति नियमो नोपपद्यते इति; तन्न, कि कारणम् ? सन्मात्रत्वात् । तत्र

शिष्य पूछता है कि परीषहो को जीतने से सवर हाता है, ऐसा आपने कहा है, अब यह बताइये कि **प्रश्न**—ससारसमुद्र से तिरने की इच्छा करने वाले इन मुनिगण को क्या ये सर्व परीषह एक साथ दु ख देती है कि इनमे कुछ विशेषता है ? **उत्तर**—जिनका लक्षण कह चुके हैं ऐसी ये क्षुधादि परीषह भिन्न-भिन्न चारित्र के अनुसार विभक्त हो जाती है । इनमे विशेषता है परन्तु नीचे के सूत्र द्वारा तीन गुणस्थानो मे नियम से चौदह परीषह होती है, वह सूत्र कहा जाता है—

सूक्ष्मसाम्पराय (दसवें) तथा छद्मस्थ वीतराग (ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान) में चौदह परीषह होती है ॥ १० ॥

चतुर्दश वचन से अन्य परीषहो का अभाव जानना चाहिये । अर्थात् चौदह ही होती है, अन्य नही, ऐसा समझना चाहिये । क्योकि चतुर्दश इस सख्या विशेष का ग्रहण नियम के लिये है कि चौदह ही होती है, अन्य नही ॥ १ ॥

प्रश्न—वीतराग छद्मस्थ के सम्पूर्ण रूप से मोहनीय कर्म का उपशम और क्षय हो जाने से उनके चौदह परीषह कहना ठीक है । क्योकि मोहनीय कर्मकृत वक्ष्यमाण (आगे कही जाने वाली) आठ परीपहो का अभाव होने से छद्मस्थ वीतराग के चौदह सख्या का नियम वन जाता है, परन्तु सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवे गुणस्थान मे तो मोहनीय कर्म का सद्भाव है अतः उसके चौदह ही परोषह है, ऐसा नियम घटित नही होता ? **उत्तर**—यद्यपि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभ सज्वलन कषाय का उदय है पर वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से कार्यकारी नही है, मात्र उसका

---

१. –येति नि–मु द ब ज । २. दर्शनमोहनीये अदर्शन चारित्रमोहे सप्त –अ टि ।

हि केवलो लोभसञ्ज्वलनकषायोदयः, स चात्यन्तसूक्ष्मस्ततो वीतरागछद्मस्थकल्पत्वाच्चतुर्दशेति नियमस्तत्रापि युज्यते ।

तत एव परीषहाभाव इति चेत्; न; बाधाविशेषोपरमेऽपि[1] तद्भावस्याचिख्यासितत्वात् सर्वार्थसिद्धस्य सप्तमीगमनसामर्थ्यवत् । ३ । अथ मतम्–तत एव तयोः परीषहाभावः कुत एव ? मोहोदयाभावात्, मन्दोदयाच्च । यस्य हि क्षुधादिवेदनाप्रकर्षोदयस्तस्य तत्सहनात् परीषहजयो भवति । न च मोहोदयबलाधानाभावे वेदनाप्रभवोऽस्ति, तदभावात् सहनवचनं भक्तिमात्रकृतमिति, तन्न; किं कारणम् ? तद्भावस्याचिख्यासितत्वात् । यथा सर्वार्थसिद्धदेवस्यानुपरतसद्वेद्योदयप्रकर्षस्यापि सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यं न हीयते तथा वीतरागछद्मस्थस्य कर्मोदयसद्भावकृतपरीषहव्यपदेशो युक्तिमवतरति ।

आह–यदि शरीरवत्यात्मनि परीषहसन्निधानं प्रतिज्ञायते, अथ भगवत्युत्पन्न-

---

सद्भाव ही है अतः वीतराग छद्मस्थ कल्प (समान) होने से छद्मस्थ वीतराग के समान सूक्ष्मसाम्पराय मे भी चौदह परीषहो का नियम घटित हो जाता है ॥ २ ॥

छद्मस्थ वीतराग के परीषह का अभाव है, ऐसा कहना उचित नही है । क्योकि बाधाविशेष के उपरम होने पर भी उसके भाव को कहने के लिये सर्वार्थसिद्धि और सप्तम नरक मे गमन करने के सामर्थ्य के समान छद्मस्थ वीतराग के परीषहजय का कथन है । **प्रश्न**—मोहनीय के उदय का अभाव होने से वा मन्दोदय होने से ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थानो मे परीषहो का अभाव है। क्योकि जिसके क्षुधादि वेदना का प्रकर्ष उदय होता है, उसी से उसको जीतने के कारण परीषहजय कहा जा सकता है, परन्तु जब १० वे, ११ वे और १२ वे गुणस्थान मे मोह का मन्दोदय, उपशम और क्षय है तब मोह के उदय रूप बलाधायक (सहकारी कारण) के अभाव मे क्षुधादि वेदना की उत्पत्ति नही है और क्षुधादि वेदना का अभाव होने से परीषह के सहन का कथन करना केवल भक्ति दिखाने के लिये है, वास्तव मे नही । **उत्तर**—१०, ११, १२, गुणस्थानो मे परीषहो का कथन भक्तिमात्र दिखाने के लिए नही है, क्योकि उन गुणस्थानो मे उनका सद्भाव पाया जाता है, जैसे—सर्वार्थसिद्धि के देवो मे निरन्तर सातावेदनीय का उत्कृष्ट उदय रहता है फिर भी उनके सप्तम पृथ्वी के गमन का सामर्थ्य नष्ट नही होता है । अर्थात् सर्वार्थसिद्धि के देव गमन करते नही है, परन्तु गमन करने का उनका सामर्थ्य तो नष्ट नही होता है, उसी प्रकार वीतराग छद्मस्थ के भी उस-उस कर्मजन्य परीषहो का सद्भाव पाया जाता है वा कर्मोदय सद्भावकृत परीषहो का व्यपदेश युक्तिसगत हो जाता है ॥ ३ ॥

प्रश्न—यदि शरीर वाली आत्मा मे परीषहो का सन्निधान जाना जाता है तो उत्पन्न हुआ

---

१. -स्याविरध्यासि-मु. द. ब. । -स्याविरन्यासि-ज ।

केवलज्ञाने कर्मचतुष्ट[१]यफलानुभवनवशवर्त्तिनि कियन्त उपनिपतन्तीति ? अत्रोच्यते—तस्मिन्पुन.—

एकादश जिने ॥ ११ ॥

'कैश्चित्कल्प्यन्ते' इति वाक्यशेष. ।

वेदनीयोदयभावात् क्षुधादिप्रसङ्ग इति चेत्; न; घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । १ । स्यान्मतम्—घातिकर्मप्रक्षयान्निमित्तोपरमे सति नाग्न्यारति-स्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनालाभसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानि मा भूवन्, अमी पुनर्वेदनीयाश्रया[२] खलु परीषहा· प्राप्नुवन्ति भगवति जिने इति; तन्न, कि कारणम् ? घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । यथा विषद्रव्य मन्त्रौषधिबलादुपक्षीण-मारणशक्तिकमुपयुज्यमान न मरणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धन-स्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेद-नीयाख्य कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबल स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादन प्रत्यसमर्थमिति

है केवलज्ञान जिनको ऐसे कर्मचतुष्टय (अघातिया चार कर्म) के फल के अनुभव के वशवर्त्ती केवली भगवान के कितनी परीषह होती है ? **उत्तर**—कहते है—

सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में ग्यारह परीषह होती है ।। ११ ।।

जिन भगवान मे ग्यारह परीषह कोई मानते है । यह वाक्यशेष यहाँ समझना चाहिये ।

घातिया कर्मोदय की सहायता का अभाव होने से शक्तिक्षीण वेदनीय के सद्भाव मे भी क्षुधादि परीषह नही है ? **प्रश्न**—घातियाकर्मो का क्षय हो जाने से उनके उदय रूप निमित्त के अभाव मे जिनेन्द्र भगवान के नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, अलाभ, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन परीषह मत होओ, परन्तु वेदनीयकर्म के उदय का सद्भाव होने से वेदनीय के आश्रय से होने वाली क्षुधा आदि परीषह तो जिनेन्द्र भगवान मे होनी ही चाहिये ? **उत्तर**—घातियाकर्म के उदय रूप सहकारी कारण का अभाव हो जाने से अन्य कर्मो का सामर्थ्य नष्ट हो जाता है । जैसे—मन्त्र, औषधि के बल से (प्रयोग से) जिसकी मारण-शक्ति क्षीण हो गई है ऐसे विषद्रव्य को खाने पर भी मरण नही होता है वा वह विषद्रव्य मारने मे समर्थ नही है, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातियाकर्म रूपी ईंधन के जल जाने पर अप्रतिहत (अनन्त) ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय के धारी केवलीभगवान के अन्तराय (लाभान्तराय) कर्म का अभाव हो जाने से प्रतिक्षण शुभ कर्म पुद्गलो का सचय होता

---

१. अघाति –अ. टि. । २. वेदनीये शेषा इत्यत्र वक्ष्यमाणा क्षुदादय –ता टि. ।

क्षुधाद्यभावः, तत्सद्भावोपचाराद् ध्यानकल्पनवत् । अथवा, नायं वाक्यशेषः 'एकादश जिने कैश्चित्कल्प्यन्ते' इति । कि तर्हि ? एकादश सन्तीति । कथम् उपचारात् । यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिन्तानिरोधाभावेऽपि कर्मरजोविधूननफल-संभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादिवेदनाभावपरीषहाभावेऽपि वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषह-सद्भावात् एकादश जिने सन्तीति उपचारो उक्तः[१] ।

आह–यदि सूक्ष्मसाम्परायादिषु व्यस्ताः परीषहा अथ समस्ताः क्वेति ?

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

बादरसाम्परायग्रहणात् प्रमत्तादिनिर्देशः । १ । बादरसाम्पराय इति नाय गुणस्थानविशेषपरिग्रहः । कि तर्हि ? [२]अर्थनिर्देशः, ततः प्रमत्तादीनां संयताना सामान्यग्रहणम्–बादरः साम्परायो यस्य सोऽयं बादरसाम्पराय इति । तत्र हि–

रहता है अतः प्रक्षीणसहाय वेदनीयकर्म के उदय का सद्भाव होने पर भी वह अपना कार्य नही कर सकता तथा सहकारी कारण के बिना स्वयोग्य प्रयोजन उत्पादन के प्रति असमर्थ होने से क्षुधादि का अभाव है। जैसे १३ वे गुणस्थान मे ध्यान को उपचार से कहा जाता है, वैसे ही वेदनीय का सद्भाव होने से केवलो मे ११ परीषह उपचार से कही जाती हैं। अथवा, यह वाक्यशेष नही है कि केवली मे ११ परीषह कोई मानते है ? अपितु केवली के ११ परीषह है, ऐसा अर्थ करना चाहिये। जैसे—समस्त ज्ञानावरण कर्म का नाश हो जाने के कारण परिपूर्ण केवलज्ञानी, केवलीभगवान मे 'एकाग्रचिन्तानिरोध' का अभाव होने पर भी कर्मरज के विघ्न रूप (कर्मनाश रूपी) ध्यान के फल को देखकर उपचार से केवली मे ध्यान का सद्भाव माना जाता है, उसी प्रकार क्षुधा आदि वेदना रूप वास्तविक परीषहो का अभाव होने पर भी वेदनीय कर्मोदय रूप द्रव्य परीषह का सद्भाव देखकर ग्यारह परीपहो का केवलीभगवान मे उपचार कर लिया जाता है ॥ १ ॥

यदि सूक्ष्मसाम्पराय, छद्मस्थ वीतराग और केवलीभगवान मे १४ और ११ परीपह कही है, यानी थोडी-थोड़ी परीपह कही है तो सर्व परीषह किन गुणस्थानो मे होती है ?

बादरसाम्पराय गुणस्थान तक साधुओं के सर्व परीषह होती है ॥ १२ ॥

यहाँ वादरसाम्पराय कहने से गुणस्थानविशेष (नवम गुणस्थान मात्र) का ग्रहण नही है, अपितु अर्थनिर्देश है कि प्रमत्तादि सयतो का सामान्य ग्रहण है। बादर (स्थूल) साम्पराय (कषाय) जिनके हैं, वे वादर साम्पराय है ॥ १ ॥

---

१. उपचारतोऽप्यस्य एकादश परीपहा न सभाव्यन्ते तत्र निःशेषपरत्वात् सूत्रस्य । एकेन अधिका न दश परीपहा-जिने एकादश जिने इति व्युत्पत्ते । प्रयोगश्च—भगवान् क्षुदादिपरीषहरहित अनन्तसुखत्वात् सिद्धवत् इति प्रोक्त मार्तण्डे –श्र. टि । २. उत्कृष्टलोभादिगुणस्य –श्र टि ।

निमित्तविशेषस्यानुपक्षीणत्वात् सर्वे । २ । ज्ञानावरणादिनिमित्तविशेषो वक्ष्यते । तस्यानुपक्षीणत्वात् सर्वे सभवन्ति । कस्मिन् पुनश्चारित्रे सर्वेषां संभव· ?

[1]सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसयमेषु सर्वसंभवः । ३ । एतेषा त्रयाणां चारित्राणामन्यतमे सर्वे क्षुत्परीषहादयो द्रष्टव्या· ।

आह–गृहीतमेतत् परीषहाणा स्थानविशेषावधारणम्, इदं तु न विद्मः–कस्याः प्रकृतेः क· कार्य इति ? अत्रोच्यते–

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥ १३ ॥

ज्ञानावरणे अज्ञानं न प्रज्ञेति चेत्; न; अन्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात् । १ । स्यादेतत्–ज्ञानावरणे सति अज्ञानमनवबोधो भवति न प्रज्ञा ज्ञानस्वभावत्वादात्मन इति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात् । प्रज्ञा हि क्षायोपशमिकी

निमित्तविशेष का सद्भाव होने से सर्व परीषहो का बादरसाम्पराय मे सद्भाव पाया जाता है। क्षुधादि परीषह मे ज्ञानावरणादि कर्मो का उदय निमित्तविशेष है। उन ज्ञानावरणादि सारे निमित्तो का सद्भाव रहने पर बादरसाम्पराय अर्थात् प्रमत्तसयत से लेकर नवे गुणस्थान तक के साधुओ के क्षुधा आदि सभी परीषह होती है। **प्रश्न**—किस-किस चारित्र मे सर्व परीषहो की सभवता है ? ॥ २ ॥

उत्तर—सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि, इन तीन चारित्रो मे क्षुधादि सर्व परीषहो की सभावना है, अर्थात् इनके सर्व परीषह होती है ॥ ३ ॥

इस प्रकार परीषहो के गुणस्थानविशेष की अवधारणा का वर्णन कर दिया। अब किस कर्मप्रकृति का कार्य कौन सी परीषह है अर्थात् किस-किस कर्म के उदय से कौन-कौन सी परीषह होती है, उसका वर्णन करते है—

ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान दो परीषह होती है ॥ १३ ॥

प्रश्न—ज्ञानावरण कर्म के उदय से अज्ञान अर्थात् ज्ञान का अभाव होता है अतः अज्ञान परीषह तो ज्ञानावरण कर्म के उदय से हो सकती है परन्तु प्रज्ञा तो आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह ज्ञानावरण कर्म के उदय से कैसे हो सकती है ? **उत्तर**—प्रज्ञा क्षायोपशमिकी है, अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होती है, अन्य ज्ञानावरण के उदय के सद्भाव मे प्रज्ञा का सद्भाव है अतः क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के उदय मे मद उत्पन्न करती है; सर्व ज्ञानावरण कर्म का

---

1 सूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातचारित्रयोरुक्ता· परीषहा· सूत्रकृता, शेषेषु कति भवन्तीत्येतदाह –अ. टि ।

अन्यस्मिन् ज्ञानावरणे सति मद जनयति न सकलावरणक्षय इति प्रज्ञाज्ञाने ज्ञानावरणे सति प्रादु.स्त इत्यभिसम्बध्यते ।

मोहादिति चेत्; न; तद्भेदानां परिगणितत्वात् । २ । स्यान्मतम्—मोहोदयादह महाप्राज्ञो नान्य इति मन्यते न ज्ञानावरणादिति, तन्न; कि कारणम् ? तद्भेदाना परिगणितत्वात् । मोहभेदा हि परिगणिता दर्शनचारित्रव्याघातहेतुभावेन, तत्र नायमन्तर्भवति, चारित्रवतोऽपि प्रज्ञापरीषहसद्भावात्, ततो ज्ञानावरण एवेति निश्चयः कर्तव्य· ।

आह—यद्यनयोरेककर्महेतुत्वमात्मलाभेऽवसीयते, अदर्शनाऽलाभयोः को हेतुरिति[1] ?

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।। १४ ।।

विशिष्टकारणनिर्देशादवध्यादिदर्शनसन्देहाभावः । १ । दर्शनमोह इति विशिष्टमिह कारण निर्दिश्यते, ततोऽवध्यादिदर्शनविषय. सन्देहो न भवति[2] ।

क्षय हो जाने पर मद नही होता । अत· प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से उत्पन्न है अर्थात् इन दोनो परीषहो की उत्पत्ति मे ज्ञानावरण कर्म का उदय ही कारण है ।। १ ।।

मोह के भेदो की परिगणना होने से प्रज्ञा मोहकर्म के उदय से नही होती । **प्रश्न**—मोहकर्म के उदय से ही प्राणी 'मैं महाप्रज्ञावान् हूँ, मेरे समान कोई दूसरा ज्ञानी नही है' ऐसा मानता है, ज्ञानावरण कर्म के उदय मे नही अत· प्रज्ञा ज्ञानावरण कर्म का कार्य नही है ? **उत्तर**—प्रज्ञा मोहकर्म के उदय से नही होती है । क्योकि मोहनीय कर्म के भेद गिने हुए है और उनका कार्य भी सम्यग्दर्शन एव सम्यक् चारित्र का नाश करना सुनिश्चित है अतः इसका अन्तर्भाव मोह मे नही हो सकता अत 'मैं बडा विद्वान् हूँ' यह मद मोहनीय कर्म का न होकर ज्ञानावरण कर्म का कार्य है; क्योकि चारित्रधारी सम्यग्दृष्टियो के भी प्रज्ञापरीषह का सद्भाव पाया जाता है अत. प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिये ।। २ ।।

यदि प्रज्ञा और अज्ञान परीषह की उत्पत्ति मे एक ज्ञानावरण कर्महेतु है तो अदर्शन और अलाभ परीपह की उत्पत्ति किस कर्म के उदय से होती है ? ऐसा पूछने पर कहते है—

दर्शनमोहनीय कर्म के उदय में अदर्शन और अन्तराय कर्म के उदय में अलाभ परीषह होती है ।। १४ ।।

'दर्शनमोह' इस विशिष्ट कारण का निर्देश करने से अवधिदर्शन आदि के सन्देह का अभाव हो जाता है, सन्देह नही रहता कि अवधिदर्शन का कार्य अदर्शनपरीषह है ।। १ ।।

---

१. –ति चेद् द–मु. द. ब ज । २. अवध्यादिदर्शन न भवतीत्यर्थः श्र. टि. ।

अन्तराय इति सामान्यनिर्देशेऽपि सामर्थ्याद्विशेषसंप्रत्ययः । २ । यद्यप्ययमन्तरायः इति सामान्यनिर्देशः तथापि[1] सामर्थ्यात् लाभान्तरायविशेषसंप्रत्ययो भवति ।

आह–यद्याद्ये मोहनीयभेदे सत्यदर्शनपरीषहो भवति, अथ द्वितीयस्मिन् केषां जन्मेति ? अत्रोच्यते–

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार-पुरस्काराः ॥ १५ ॥

मोहोदयहेतुत्व नाग्न्यादीना प्रतिपद्यामहे पुंवेदोदयादि[2]निमित्तत्वात्, निषद्यापरीषहस्तु (स्य तु) कथमिति चेत् ? उच्यते–

निषद्यापरीषहस्य मोहोदयहेतुत्वं प्राणिपीडार्थत्वात् । १ । मोहोदये सति प्राणिपीडापरिणाम सजायते, तत्परिपालनार्थत्वात् निषद्यापरीषहोदयहेतुरित्यवसीयते ।[3]

इस सूत्र मे अन्तराय ऐसा सामान्य निर्देश है फिर भी सामर्थ्य से विशेष का सप्रत्यय होता है। यद्यपि इस सूत्र मे अन्तराय यह सामान्य निर्देश है तथापि यहाँ सामर्थ्य से (अलाभ के ग्रहण से) लाभान्तरायविशेष ही विवक्षित है, लाभान्तरायविशेष का ही ज्ञान होता है। अर्थात् अदर्शन परीषह दर्शनमोह के उदय से और अलाभ परीषह लाभान्तराय के उदय से होती है, ऐसा जानना चाहिये। क्योकि सूत्र मे अलाभ का ग्रहण है ।। २ ।।

यदि मोहनीय कर्म के प्रथम भेद दर्शनमोहनीय के उदय मे अदर्शन परीषह होती है तो मोहनीय के द्वितीय भेद चारित्रमोहनीय के उदय मे किन-किन परीषहो की उत्पत्ति होती है ? ऐसा पूछने पर चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाली परीषहो का वर्णन करते है—

चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, ये सात परीषह होती है ।। १५ ।।

प्रश्न—पुरुषवेद-स्त्रीवेद के उदय निमित्त से होने वाली नाग्न्य, अरति, स्त्री, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार परीषहो को चारित्रमोहनीय के उदय से हम मानते है (और मानना ठीक भी है) परन्तु निषद्या परीषह चारित्र मोहनीय कर्म के उदय मे कैसे हो सकती है ?

उत्तर—निषद्या परीषह भी मोहनीय कर्म के उदय से होती है, प्राणि-पीडा का कारण होने से। मोहनीय कर्म के उदय से ही प्राणि-हिंसा के परिणाम होते हैं अतः प्राणि-हिसा की

---

१ सूत्रे अलाभग्रहणादित्यर्थः –अ टि । २ मानकषाये क्रोधे चाक्रोश लोभे याचना, माने सत्कारपुरस्काराभिनिवेश इति–अ टि । ३ प्रत्याख्यानकषाये निषद्यापरीषह इत्यर्थ –अ टि ।

आह–अभ्युपेमः कर्मप्रकृतिविशेषत्रय अमी परीषहा उक्ता इति । अथान्ये कस्मिन् सति निमित्ते भवन्तीति ? अत्राभिधीयते–

[1]वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

उक्तादन्यनिर्देशे शेषा इति । १ । उक्ताः प्रज्ञापरीषहादयः, तेभ्योऽन्ये शेषा इति निर्दिश्यन्ते । के पुनस्ते ? क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमल-परीषहाः ।

निमित्तात् कर्मसंयोग इति चेत्; न; तद्योगाभावात् । २ । स्यान्मतम्–यथा **"चर्मणि द्वीपिनं हन्ति"** निमित्तात्कर्मसयोग इति विभक्तिविशेषविधान तथा वेदनीये इत्येवमादिनिर्देशो भवतीति; तन्न, किं कारणम् ? तद्योगाभावात् । कर्मसंयोगे हि तद्विभक्तिविधानम् । न चात्र कर्मसयोगोऽस्तीति तदभावः । कथं तर्हि निर्देश. ?

सन्निर्देशस्तदुपलक्षणत्वात् । ३ । यथा **"गोषु दुह्यमानासु गतः, दुग्धास्वागतः"**

परिपालना का कारण होने से निषद्या परीषह को भी मोहोदयहेतुक ही समझना चाहिये । अर्थात् अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से निषद्या परीषह होती है ।

ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन कर्मो के उदय मे होने वाली परीषहो को तो जान लिया है, परन्तु अन्य शेष परीषह किस कर्म के उदय से होती है, ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते है—

शेष ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होती है ।। १६ ।।

उपर्युक्त प्रज्ञादि परीषहो से अतिरिक्त क्षुत्पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या. शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल, ये ग्यारह परीषह शेष शब्द से निर्दिष्ट है अत. ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय मे होती है ।। १ ।।

प्रश्न—जैसे 'चर्म के निमित्त हाथी को मारता है' इसमे कर्मसयोगार्थक सप्तमी विभक्ति का विशेप विधान है, वैसे यहाँ **'वेदनीय'** इसमे कर्मसयोगार्थक सप्तमी विभक्ति का निर्देश है ? **उत्तर**—'वेदनीय' मे सप्तमी विभक्ति कर्मसयोगार्थक नही है, क्योकि कर्मसयोगार्थक जो सप्तमी विभक्ति का विधान होता है वह अविद्यमान अर्थ वा तद्योग के अभाव मे होता है, परन्तु यहाँ सप्तमी विभक्ति विद्यमान अर्थ मे है अर्थात् उपलक्षणत्व होने से यहाँ सत् का निर्देश है ।। २ ।।

जैसे—'गोषु दुह्यमानासु गत. तद्दुग्धासु आगतः' गौओ के दुहते समय चला गया था और

---

१. वेदनीये इति निमित्तसप्तमी, तस्य द्वीपिन हन्तीत्यादिवत् केनचित् कर्मणा -श्र टि ।

इति सन्निर्देशः तथा वेदनीये सतीत्येवमादि. सन्निर्देशोऽवसेय· । कुतः ? तदुपलक्षणत्वात् ।

आह–व्याख्यातनिमित्तलक्षणविकल्पा· प्रत्यात्म प्रादुर्भवन्तः कति युगपदवतिष्ठन्तः इति ? अत्रोच्यते–

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

आङभिविध्यर्थः । १ । आङ्यमभिविध्यर्थो द्रष्टव्य·, तेन एकान्नविंशतिरपि क्वचिद्युगपद्भवन्तीत्यवगम्यते । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

शीतोष्णशय्यानिषद्याचर्याणामसहभावादेकान्नविंशतिसंभवः । २ । शीतोष्ण-परीषहयोरेक·, शय्यानिषद्याचर्याणा चान्यतम एव भवति एकस्मिन्नात्मनि । कुत ? सहानवस्थानात् । ततस्त्रयाणामपगमे युगपदेकात्मनीतरेषा सभवादेकान्नविंशतिविकल्पो बोद्धव्य· ।

उनके दोहने के समय आ गया, इसमे अस्तित्व का निर्देश करने वाली सप्तमी विभक्ति है, उसी प्रकार यहाँ पर भी अस्तित्व के निर्देश मे सप्तमी विभक्ति जाननी चाहिये उपलक्षणत्व होने से, अर्थात् वेदनीय कर्म का उदय होने पर ही ये ग्यारह परीषह होती हैं, अन्यथा नही, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३ ॥

इस प्रकार किन कर्मो के निमित्त से कौन-कौनसी परीषह होती है उनके निमित्त, लक्षण और विकल्पो का वर्णन कर दिया । अब एक साथ एक जीव के कितनी परीषहे होती है ? उनका वर्णन करते हैं—

एक साथ एक जीव के १९ परीषह तक होती है ॥ १७ ॥

यहाँ 'आ' शब्द अभिविधि अर्थ मे है अत. क्वचित् किसी साधु मे एक साथ १९ परीपहे होती है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १ ॥

प्रश्न—एक आत्मा मे १९ परीषहे कैसे होती है ?

उत्तर—शीत, उष्ण; शय्या, निषद्या और चर्या, ये पाँचो एक साथ नही होती हैं, अतः एक साथ उन्नीस परीपह होती है । अर्थात् शीत-उष्ण मे से एक, शय्या-निषद्या और चर्या इन तीनो मे से एक परीषह एक आत्मा मे होती है । क्योकि ये तीनो एक साथ नही रहती अतः शीत और उष्ण मे से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या में से कोई एक परीपह होने से और शेप तीन का अभाव होने से एक आत्मा मे एक साथ उन्नीस परीषह ही होती हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ २ ॥

प्रज्ञाऽज्ञानयोर्विरोधादन्यतराभावेऽष्टादशप्रसङ्ग इति चेत्; न; अपेक्षातो विरोधाभावात् । ३ । स्यान्मतम्–प्रज्ञाऽज्ञाने अपि विरुद्धे तयोरन्यतराभावेऽष्टादशसंख्याप्रसङ्गः इति; तन्न; कि कारणम् ? अपेक्षातो विरोधाभावात् । श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञाप्रकर्षे सति अवध्याद्यभावापेक्षया अज्ञानोपपत्तेः ।

[1]दंशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकान्नविंशतिविकल्प इति चेत्; न; प्रकारार्थत्वान्मशकशब्दस्य । ४ । स्यादेतत्–प्रज्ञाऽज्ञानयोर्विरोधाद्युगपदसंभवे दशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकान्नविशतिविकल्प[2] इति, तन्न; कि कारणम् ? प्रकारार्थत्वान्मशकशब्दस्य, एक एव ह्यय परीषहः ।

दंशग्रहणात्तुल्यजातीयसंप्रत्यय इति चेत्; न; श्रुतिविरोधात् । ५ । अथ मतमेतत्–दंशग्रहणात्तुल्यजातीयसप्रत्ययस्ततो मशकशब्दस्य न प्रकारार्थत्वमिति; तन्न, कि

प्रश्न—प्रज्ञा और अज्ञान मे भी परस्पर विरोध है अत उन दोनो मे एक का अभाव होने से एक साथ एक आत्मा मे अठारह परीषहो के सद्भाव का प्रसग आता है ? **उत्तर**—अपेक्षा से विराध का अभाव है क्योकि श्रुतज्ञान की अपेक्षा से प्रज्ञा का प्रकर्ष होने पर भी अवधिज्ञान आदि की अपेक्षा अज्ञान हो सकता है अतः दोनो के एक साथ रहने मे कोई विरोध नही है ।। ३ ।।

दशमशक की युगपत् प्रवृत्ति होती है अतः १९ परीषहे मान लेना भी ठीक नही है क्योकि मशक शब्द प्रकारार्थ मे है । **प्रश्न**—जैसे—निषद्या परीषह होने पर साधु शय्या मे (शयन मे) प्रवृत्ति करता है और शय्या पराषह होने पर चर्या या निषद्या मे प्रवृत्ति करता है, क्योकि तीनो एक साथ नही रहती, उसो प्रकार प्रज्ञा और अज्ञान मे भी परस्पर विरोध होने से ये एक साथ नहीं रहती अत. दश और मशक परीषह को पृथक्-पृथक् मानकर १९ परीषहो का विकल्प कर लेना चाहिये ? अर्थात् उन्नीस एक साथ होती है, ऐसा सख्या का निर्वाह कर लेना चाहिये । **उत्तर**—'दशमशक' यह एक ही परीषह है, पृथक्-पृथक् नही; क्योकि मशक शब्द तो प्रकारार्थवाची है ।। ४ ।।

प्रश्न—दश शब्द के ग्रहण से ही तुल्यजातीय जन्तुओ का बोध हो जाता है अत प्रकारार्थत्व मशक शब्द का ग्रहण करना निरर्थक है ? **उत्तर**—दश शब्द से तुल्यजातीय जन्तुओ का वोध करके मशक शब्द को निरर्थक कहना उचित नही है; क्योकि इससे श्रुति का (आगम का)

---

१. शय्यानिपद्याचर्याणामविशेपादेक परीपह । यथा निषद्याया परीषहे साधुः शय्याया प्रवर्त्तते, शय्याया च परीपहे चर्यायामिति एकत्र नियमाभावात् एकत्व दशमशकौ द्वाविति कृत्वा एकान्नविंशतिवचन क्रियते तदिति पुनरपि चोदयति –श्र. टि. । २. दशमशकौ द्वौ परीपहौ एकस्मिन्काले युगपत्प्रवृत्ते प्रज्ञाऽज्ञानयोरन्यतर सहानवस्थानादिति कृत्वा एकान्नविशतिविकल्पो भवत्विति आह-तटस्थ. -श्र. टि ।

कारणम् ? [1]श्रुतिविरोधात् । यच्छब्द आह तन्न[2] प्रमाणम्, न च दंशशब्दः प्रकारमभिधत्ते, ततोऽस्य विरोध· स्यात् ।

तत्तुल्यमिति चेत् न; अन्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात् । ६ । यदि श्रुतिविरोधादन्यार्थकल्पनमयुक्तमित्युच्यते, ननु मशकशब्देऽपि तत्तुल्यमिति प्रकारार्थत्वमस्य नोपपद्यते इति; तन्न; कि कारणम् ? अन्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात् । दंशग्रहणेनैव परीषहे निरूपिते मशक हणसामर्थ्यात्प्रकारार्थो विज्ञायते[3] ।

चर्याद्यविशेषादेकान्नविंशतिवचनमिति चेत्; न; अरतौ परीषहजयाभावात् । ७ । स्यान्मतम्—चर्यादीनां त्रयाणा परीषहाणामविशेषादेकत्र नियमाभावादेकत्वमित्येकान्नविंशतिवचन क्रियते इति; तन्न, कि कारणम् ? अरतौ परीषहजयाभावात् । [4]यद्यत्र [5]रतिर्नास्ति परीषहजय एवास्य व्युच्छिद्यते[6] । तस्माद्यथोक्तप्रतिद्वन्द्विसान्निध्यात्

विरोध होता है । जो शब्द जिस अर्थ को कहता है वही हमको प्रमाण मानना चाहिये । दश शब्द प्रकारार्थ मे तो है नही, इसलिये इसका विरोध होगा ।। ५ ।।

मशक शब्द भी दश के समान है, ऐसा नही है, क्योकि दूसरे शब्द के द्वारा परीषह का निरूपण किया गया है । **प्रश्न**—यदि श्रुति का विरोध होने से अन्य अर्थ की कल्पना करना अयुक्त (ठीक नही) कहते हो तो मशक शब्द भी उसके तुल्य है, उस मशक शब्द का प्रकारार्थ नही हो सकता । अर्थात् जैसे दश शब्द प्रकारार्थ मे नही है, वैसे मशक शब्द भी प्रकारार्थ मे नही है ? **उत्तर**—यद्यपि मशक शब्द का भी सीधा प्रकार अर्थ नही होता है तथापि जब दश शब्द डॉस अर्थ को कहकर परीषह का निरूपण कर देता है तब मशक शब्द हण (घातक) के सामर्थ्य से प्रकार अर्थ का ज्ञापन करा देता है ।। ६ ।।

प्रश्न—चर्यादि तीन परीषह समान है; एक साथ उनके रहने के नियम का अभाव है अर्थात् तीनो एक साथ नही हो सकती, क्योकि बैठने मे परीषह आने पर साधु शयन कर सकता है, शयन परीषह आने पर चल सकता है वा बैठ सकता है और सहनविधि एक जैसी है अत इन्हे एक परीषह मान लेना चाहिये और शीत-उष्ण मे एक काल मे एक होने से एक को ही ग्रहण करके १९ ही परीषह माननी चाहिये । **उत्तर**—अरति मे परीषहजय का अभाव होता है । क्योकि यदि साधु चर्या (गमन) के कष्ट से उद्विग्न होकर बैठ जाता है और बैठने से उद्विग्न होकर लेट जाता है तो परीषहजय कैसा ? यदि 'परीषहो को जीतूंगा' इस प्रकार की रुचि नही है तो वह

---

१ शब्दश्रवणविरोध —श्र. टि । २ अस्माकम् -श्र. टि. । ३ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्ट सूत्रयन्तीत्याचार्यस्येति न्यायात् —श्र. टि. । ४ परीषहजये —श्र टि. । ५. परीषहानह जयामीति —श्र टि. । ६. अन्यत्रोपद्रवे अन्यत्रावस्थानात् —श्र. टि. ।

परीषहस्वभावाश्रयपरिणामात्मलाभनिमित्तविचक्षणस्य तत्परित्यागाया[1]दरप्रवृत्त्यर्थमौपोद्घातिकं प्रकरणमुक्तम् ।

निर्दिष्टाः परीषहाः, यैरनाविष्टा विपश्चितोऽभिनवानि कर्माणि नोपचिन्वन्ति पूर्वप्रचितानि च निर्जरयन्ति । तदनन्तरं खलु कर्मनिर्हरणार्थमाहितसामर्थ्य पुरुषसाध्य यदवोचाम चारित्रम्, तच्चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणात्मविशुद्धिलब्धिसामान्यापेक्षया एकम् । प्राणिपीडापरिहारेन्द्रियदर्पनिग्रहशक्तिभेदाद् द्विविधम् । उत्कृष्टमध्यमजघन्यविशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षयोगात्तृतीयमवस्थानमनुभवति । विकलज्ञानविषयसरागवीतराग–सकलावबोधगोचरसयोगायोगविकल्पाच्चातुर्विध्यमप्यश्नुते । पञ्चतयीं च वृत्तिमास्कन्दति । तद्यथा–

परीषहजयी नही कहा जा सकता है अर्थात् उसके परीषहजय की व्युच्छित्ति (व्यच्छेद) हो जायेगी, क्योकि कष्टो को जीतना और एक कष्ट का निवारण करने के लिये दूसरे की इच्छा नही करना अर्थात् शीत का निवारण करने के लिये उष्णता की और उष्णता का निवारण करने के लिए शीत की, चर्या निषद्या परीषह का निवारण करने के लिये शयन आदि की इच्छा नही करना ही परीषहजय कहलाता है । अत. यथोक्त प्रतिद्वन्द्वी के सान्निध्य से परीषह के स्वभाव, आश्रय, परिणाम, आत्मलाभ आदि निमित्तो का विचार करने मे चतुर साधु के अरति का परित्याग (परीषहजय की अरुचि का परित्याग) करने के लिये परीषह सहन करने मे आदरपूर्वक प्रवृत्ति के लिये शास्त्रीय प्रकरण कहा है ।

बाईस परीषह कही है । जिन परीषहो के द्वारा आकुलित नही होने वाले ज्ञानीजन नवीन कर्मो का सचय नही करते है और पुरातन (पूर्व मे सचित कर्मो) की निर्जरा करते है उन परीषहो का तो वर्णन कर दिया है । उसके बाद कर्मनिर्जरा के लिये प्राप्त सामर्थ्य वाला (निर्जरा का कारण) और पुरुष के द्वारा साध्य जो चारित्र कहा है, वह चारित्र चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होने वाली आत्मविशुद्धि की प्राप्ति की सामान्य अपेक्षा से एक है । प्राणिपीडा का परिहार (प्राणिसयम) और इन्द्रियो के दर्प के निग्रह की शक्ति (इन्द्रिय सयम) के भेद से दो प्रकार का है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य विशुद्धि के प्रकर्ष एवं अप्रकर्ष के योग से तीसरे अवस्थान का अनुभव करता है । अर्थात् उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है । विकलज्ञान (छद्मस्थ) विषयक सराग और वीतराग, सकलज्ञानविषयक (सर्वज्ञो का) सयोग एवं अयाग के विकल्प से चारित्र चार प्रकार का है । चारित्र पॉच प्रकार का भी है । जैसे—

---

१. –यापरअ-मु. द. व ज ।

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ।। १८ ।।

सामायिकशब्दोऽतीतार्थः । १ । अय सामायिकशब्दोऽतीतार्थो द्रष्टव्य । क्व ? **"दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक"** [७।२१] इत्यत्र । सामायिकमिति वा समासविषयत्वात् । अथवा[1] आयन्तीत्याया अनर्था सत्त्वव्यपरोपणहेतव, सगता. आयाः समाया, सम्यग्वा आया. समायास्तेषु ते वा प्रयोजनमस्येति सामायिकमवस्थानम् ।

[2]**सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानपरम् । २ ।** सर्वस्य सावद्ययोगस्याऽभेदेन प्रत्याख्यानमवलम्ब्य प्रवृत्तमवधृतकाल वा सामायिकमित्याख्यायते ।

गुप्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; इह मानसप्रवृत्तिभावात् । ३ । स्यादेतत्—निवृत्तिपरत्वात् समायिकस्य गुप्तिप्रसङ्ग इति ? तन्न, कि कारणम् ? मानसप्रवृत्तिभावात् । अत्र मानसी प्रवृत्तिरस्ति निवृत्तिलक्षणत्वाद् गुप्तेरित्यस्ति भेद. ।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात के भेद से चारित्र पाँच प्रकार का है ।। १८ ।।

यह सामायिक शब्द अतीतार्थ है अर्थात् सप्तम अध्याय मे **'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक'** इस सूत्र मे सामायिक का कथन कर दिया गया है, यहाँ यह सामायिक शब्द समासविषयक है । 'आते हैं जीवो के घात के कारणभूत अनर्थ जिससे' वह आय कहलाता है अर्थात् पाँच पापो को वा सावद्ययोग को आय कहते है, उन आयो का 'स' (निरोध) समाय वा पुण्य कर्मो का आना समाय है और समाय के प्रयोजन को सामायिक कहते है, समाय मे अवस्थान को सामायिक कहते हैं । अर्थात् आय-हिंसादि अनर्थो से 'स' सतर्क रहना सामायिक है ।। १ ।।

सर्व सावद्ययोग का त्याग करना सामायिक है । हिंसा, झूठ, चोरी आदि सभी सावद्ययोगो का अभेद रूप से सार्वकालिक वा नियमित समय तक त्याग करना सामायिक है ।। २ ।।

मानसिक प्रवृत्ति का सद्भाव होने से सामायिक का गुप्ति मे अन्तर्भाव नही होता है । **प्रश्न**—निवृत्ति रूप होने से सामायिक सयम का गुप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है ? **उत्तर**—सामायिक को गुप्ति नही कह सकते, क्योकि गुप्ति मे तो मन के व्यापार का भी निग्रह किया जाता है जवकि सामायिक मे मानसिक प्रवृत्ति होती है । अत· निवृत्ति और प्रवृत्ति के भेद से गुप्ति और सामायिक मे भेद है ।। ३ ।।

---

१ प्रागच्छन्ति —अ. टि । २. सामायिकस्य वाक्यार्थमाह —अ. टि. ।

समितिप्रसङ्ग इति चेत्; न; तत्र यतस्य प्रवृत्त्युपदेशात् । ४ । स्यान्मतम्–यदि प्रवृत्तिरूपं सामायिकं समितिलक्षणं प्राप्तमिति, तन्न; किं कारणम् ? तत्र यतस्य प्रवृत्त्युपदेशात् । सामायिके हि चारित्रे यतस्य समितिषु प्रवृत्तिरुपदिश्यते । अतः कार्यकारणभेदादस्ति विशेषः ।

धर्मप्रसङ्ग इति चेत्; न; अन्ते वचनस्य कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थत्वात् । ५ । स्यादेतत्–दशविधो धर्मो व्याख्यात., तत्र संयमेऽन्तर्भावोऽस्य प्राप्नोतीति; तन्न; कि कारणम् ? अन्ते वचनस्य कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थत्वात् । धर्मे अन्तर्भूतमपि चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनाय ।

प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना । ६ । त्रसस्थावर-जन्तुदेशकाल[1]प्रादुर्भावनिरोधाप्रत्यक्षत्वात् प्रमादवशादभ्युपगतनिरवद्यक्रियाप्रबन्धविलोपे सति तदुपात्तस्य कर्मणः सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विज्ञेया ।

विकल्पनिवृ(वृं)त्तिर्वा । ७ । अथवा, सावद्यं कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृ-(वृं)त्तिः छेदोपस्थापना ।

प्रश्न—प्रवृत्ति रूप होने से सामायिक सयम का समिति मे अन्तर्भाव हो जाएगा । **उत्तर**—प्रवृत्ति रूप होने से सामायिक सयम को समिति नही कह सकते, क्योकि सामायिक चारित्र मे समर्थ व्यक्ति को ही समितियों में प्रवृत्ति का उपदेश दिया जाता है अतः इन दोनो में कार्य-कारण भेद है । अर्थात् सामायिक चारित्र कारण है, समिति कार्य है ।। ४ ।।

प्रश्न—दस प्रकार का धर्म कहा है, उन धर्मो मे सयम नाम का धर्म है अतः उस सयम नामक धर्म मे सामायिक का अन्तर्भाव हो जायेगा ? **उत्तर**—यद्यपि सयमधर्म मे सामायिक चारित्र का अन्तर्भाव हो सकता है तथापि चारित्र मोक्षप्राप्ति का साक्षात् कारण है और वह चारित्र समस्त कर्मो का अन्त (क्षय) करने वाला है अतः इस वात की सूचना देने (चारित्र को साक्षात् मोक्ष का कारण वताने) के लिये अन्त में चारित्र का पृथक् वर्णन किया है ।। ५ ।।

प्रमादकृत अनर्थ के प्रवन्ध का नाश करने के लिए सम्यक् प्रतिक्रिया **छेदोपस्थापना** है । त्रस-स्थावर जन्तुओ का देश-काल, उत्पत्ति, नाश और स्थान छद्मस्थो के अप्रत्यक्ष है अतः प्रमाद-वश स्वीकृत निरवद्य क्रियाओ मे दूषण लगने पर उसका सम्यक् प्रतीकार करना छेदोपस्थापना चारित्र है, ऐसा जानना चाहिये ।। ६ ।।

अथवा, विकल्प की निवृत्ति नही होना छेदोपस्थापना है । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का ग्रहण रूप सावद्य पाँच प्रकार है, इत्यादि विकल्पो का होना **छेदोपस्थापना है** ।। ७ ।।

---

१. उत्पत्तिविनाश –अ. टि. ।

परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् । ८ । परिहरण परिहार प्राणिवधान्निवृत्तिस्तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्र प्रत्येतव्यम् । तत्पुनस्त्रिशद्वर्षजातस्य संवत्सरपृथक्त्व तीर्थकरपादमूलसेविन प्रत्याख्यान-नामधेयपूर्वापर(पूर्वपार)ग[१]तस्य जन्तुनिरोधप्रादुर्भावकालपरिमाणजन्मयोनिदेशद्रव्यस्व-भावविधानज्ञस्य प्रमादरहितस्य महावीर्यस्य परमनिर्जरस्य अतिदुष्करचर्यानुष्ठायिन', तिस्र सध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतगामिनः सपद्यते, नान्यस्य ।

अतिसूक्ष्मकषायत्वात् सूक्ष्मसाम्परायम् । ९ । सूक्ष्मस्थूलसत्त्ववधपरिहारा-प्रमत्तत्वात् अनुपहतोत्साहस्य अखण्डितक्रियाविशेषस्य सम्यग्दर्शनज्ञानमहामारुतसन्धुक्षित-प्रशस्ताध्यवसायाग्निशिखोपश्लुष्टकर्मेन्धनस्य ध्यानविशेषविशिखीकृतकषायविषाङ्कुरस्य अपचयाभिमुखालीनस्तोकमोहबीजस्य तत एव परिप्राप्तान्वर्थसूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसयतस्य सूक्ष्मसाम्परायचारित्रमाख्यायते ।

परिहार से विशुद्धि जिस चारित्र मे होती है, वह **परिहारविशुद्धिचारित्र** है । प्राणिवध से निवृत्ति का नाम परिहार है । विशिष्ट शुद्धि का नाम विशुद्धि है, अत जिसमे प्राणिवध के परिहार के साथ विशिष्ट शुद्धि हो, वह परिहारविशुद्धिचारित्र है अर्थात् उसको परिहारविशुद्धि-चारित्र जानना चाहिये । यह चारित्र तीस वर्ष तक घर मे सुखपूर्वक रहकर दीक्षा लेकर तीन वर्ष से आठ वर्ष तक जिसने तीर्थंकर के चरणमूल की सेवा कर उनके समीप मे प्रत्याख्यान नामक पूर्व का अध्ययन किया है, जन्तुओ की उत्पत्ति, विनाश, उनका स्थान, काल, परिमाण, जन्म, योनि द्रव्य के स्वभाव आदि के विधान का जिसे ज्ञान है, जो अप्रमादी है, महाशक्तिशाली है, परम निर्जरा करने वाला है, दुष्कर-चर्या अनुष्ठान करने मे तत्पर है और तीनो सन्ध्याकाल को छोडकर प्रतिदिन दो कोस गमन करने वाला है, उसी साधु के परिहारविशुद्धिसयम होता है, अन्य के नही । इस साधु के शरीर से किसी भी जीव की विराधना नही होती ॥ ८ ॥

अति सूक्ष्म कषायपना होने से **सूक्ष्मसाम्पराय** कहलाता है । सूक्ष्म-स्थूल प्राणियो के वध के परिहार मे जो सम्पूर्ण रूप से अप्रमत्त है, अत्यन्त निर्बाध उत्साहशील है, अखण्डित क्रियाविशेष (चारित्र) वाला है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूपी महापवन से प्रज्वलित प्रशस्त अध्यवसाय रूपी अग्नि की शिखा(ज्वाला)ओ से कर्म रूपी ईधन को जिसने भस्म कर दिया है, ध्यान रूपी विशेष शस्त्र से उखाड दिया है कषाय रूपी विषय के अकुर को जिसने, नाश के मुख मे गिरा दिया है (नष्ट कर दिया है) सूक्ष्ममोहबीज (सूक्ष्म लोभ कषाय) को जिसने और प्राप्त किया है सूक्ष्म-साम्पराय (सूक्ष्मकषाय होने से) सार्थक नाम जिसने, ऐसे साधु के **सूक्ष्मसाम्परायचारित्र** होता है ॥ ९ ॥

---

१ पगत्य –अ टि. ।

गुप्तिसमित्योरन्यतरत्रान्तर्भाव इति चेत्; न; तद्भावेऽपि गुणविशेषनिमित्ताश्रयणात् । १० । स्यान्मतम्–गुप्तिसमित्योरन्यतरत्रान्तर्भवतीदं चारित्र प्रवृत्तिनिरोधात् [१]सम्यगयनाच्चेति; तन्न, किं कारणम् ? तद्भावेऽपि गुणविशेषनिमित्ताश्रयणात् । लोभसंज्वलनाख्यः साम्परायः सूक्ष्मो भवतीत्ययं विशेष आश्रित' ।

निरवशेषशान्तक्षीणमोहत्वादथाख्यातचारित्रम् । ११ । चारित्रमोहस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयाच्चात्मस्वभावावस्थापेक्षलक्षणमथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते । पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यात न तु [२]परिप्राप्त प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम् । अथशव्दस्यानन्तर्यार्थवृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः ।

यथाख्यातमिति वा । १२ । अथवा, यथा आत्मस्वभावोऽवस्थितः तथैवाख्यातत्वात् यथाख्यातमित्याख्यायते ।

इतेरुपादानं ततः कर्मसमाप्तिज्ञापनार्थत्वात् । १३ । हेत्वेवप्रकारव्यवस्थाविपर्या-

---

सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र—गुप्ति और समिति से बढकर है, गुणस्थानविशेष मे होता है अतः समिति, गुप्ति मे इसका अन्तर्भाव नही होता है। **प्रश्न**—प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप होने से तथा सम्यग् अयन रूप होने से सूक्ष्मसाम्परायचारित्र समिति और गुप्ति मे अन्तर्भूत हो जाता है। **उत्तर**—यह चारित्र प्रवृत्ति का निरोधक और सम्यक् प्रवृत्ति का कारण होने पर भी समिति और गुप्ति मे अन्तर्भूत (गर्भित) नही होता, क्योकि यह चारित्र गुणस्थानविशेष के आश्रय से होता है, अर्थात् यह दसवे गुणस्थान मे, जहाँ मात्र सूक्ष्म लाभ टिमटिमाता है, होता है। अतः यह पृथक् रूप से निर्दिष्ट है ।। १० ।।

सम्पूर्ण रूप से मोह के उपशम या क्षय होने पर आत्मस्वभाव स्थिति रूप परम उपेक्षा परिणत लक्षण **अथाख्यातचारित्र** होता है। पूर्व के सामायिक आदि चारित्रो के अनुष्ठान करने वाले सयमीजनो के द्वारा कथित और ज्ञात तो है (अर्थात् पूर्व चारित्रानुष्ठायी सयमियो ने इसको समझा तथा इसका कथन भी किया) परन्तु मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण रूप से उपशम और क्षय नही होने से इसे प्राप्त नही किया अत. यह चारित्र अथाख्यात है। 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य वृत्ति है, अर्थात् जो मोह के उपशम या क्षय के अनन्तर प्रकट होता है अत. अथाख्यात कहलाता है ।। ११ ।।

अथवा, इस चारित्र को यथाख्यात भी कहते हैं, क्योकि जैसा परिपूर्ण आत्मस्वभाव अवस्थित है वैसा ही इसमे प्राप्त होता है, अतः यह यथाख्यात इस प्रकार कहा जाता है ।। १२ ।।

इति शब्द का ग्रहण कर्म (कार्य) की समाप्ति को बताने के लिये है। हेतु एव प्रकार,

---

१ गर्भभावात् –अ टि । २. धातूनामनेकार्थत्वात् गत्यर्थं ग्राह्यम् –अ. टि. ।

सादिषदृष्टप्रयोग इतिरिह् विवक्षात. समाप्तिद्योतनो द्रष्टव्य' । ततो यथाख्यातचारित्रात् सकलकर्मक्षयसमाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते ।

उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थमानुपूर्व्यवचनम् । १४ । सामायिकादीनामानुपूर्व्य वचनमुत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थं क्रियते । तद्यथा–सामायिकछेदोपस्थापनासयमजघन्य-विशुद्धिलब्धिरल्पा । तत परिहारविशुद्धिचारित्रस्य जघन्या लब्धिरनन्तगुणा, तस्यैवोत्कृष्टा लब्धिरनन्तगुणा । तत. सामायिकछेदोपस्थापनासयमोत्कृष्टा विशुद्धि-रनन्तगुणा । तत. सूक्ष्मसाम्परायचारित्रस्य जघन्यविशुद्धिरनन्तगुणा । तस्यैवोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा । ततो यथाख्यातचारित्रस्य विशुद्धि' सपूर्णा प्रकर्षाप्रकर्षविरहिता अनन्तगुणा । एवमेते पञ्च चारित्रोपयोगा शब्दविषयत्वेन सख्येयभेदाः, बुद्ध्यध्यवसान-भेदादसख्येयाः, [1]अर्थतोऽनन्तभेदाश्च[2] भवन्ति । तदेतच्चारित्र पूर्वास्रवनिरोधकारण-त्वात्परमसवरहेतुरवसेयः ।

आह–उक्त चारित्रम्, तदनन्तरमुद्दिष्ट यत् "**तपसा निर्जरा च**" [९।३] इति,

---

व्यवस्था, विपर्यास, ईषद्, दृष्टिप्रयोग, समाप्ति आदि अनेक अर्थवाची 'इति' शब्द है, परन्तु यहाँ पर (इस सूत्र मे) इति शब्द को विवक्षा से समाप्तिसूचक समझना चाहिये, क्योकि यथाख्यात चारित्र से सकल कर्मो की समाप्ति हो जाती है, अर्थात् चारित्र की पूर्णता भी यहाँ हो जाती है ।। १३ ।।

उत्तरोत्तर गुणों की प्रकर्षता को प्रकट करने के लिये सामायिकादि का क्रम से कथन है। अर्थात् आगे के चारित्र प्रकर्ष गुणशाली है । जैसे—सामायिक और छेदोपस्थापना सयम की जघन्य विशुद्धि अल्प है । इनसे परिहारविशुद्धि सयम की जघन्यविशुद्धिलब्धि अनन्त गुणी अधिक है, परिहारविशुद्धि सयम की उत्कृष्टलब्धि उसकी जघन्य विशुद्धिलब्धि से अनन्त गुणी है । परिहार-विशुद्धि चारित्र की उत्कृष्टविशुद्धिलब्धि की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना सयम की उत्कृष्टविशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी है, इससे सूक्ष्मसाम्पराय सयम की जघन्यविशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी है, जघन्य से उत्कृष्ट विशुद्धि लब्धि अनन्तगुणी है और यथाख्यात चारित्र की पूर्ण विशुद्धि सर्व चारित्रो की अपेक्षा अनन्तगुणी है, इस चारित्र मे जघन्य और उत्कृष्ट भेद नही है अर्थात् यह प्रकर्षाप्रकर्ष विभाग से रहित है । ये पाँचो चारित्र शब्द की दृष्टि से सख्यात भेद और अध्यवसाय (बुद्धि के उपयोग रूप विकल्पो) की दृष्टि से असख्यात भेद तथा चारित्र की विशुद्धि की दृष्टि से अनन्त भेद वाले है । यह चारित्र पूर्वास्रव (आते हुए कर्मो का) निरोध करने वाला होने से परम सवर का कारण है, ऐसा जानना चाहिये ।। १४ ।।

चारित्र का वर्णन तो कर दिया, अब चारित्र के अनन्तर जो 'तपसा निर्जरा च' अर्थात् तप

---

१ कोऽर्थ –अ टि. । २. द्रव्याश्रयादतीतानागतनानाजीवापेक्षयेत्यर्थः –अ. टि. ।

तस्येदानीं तपसो विधानं कर्त्तव्यमिति, अत्रोच्यते–तद् द्विविधं बाह्यमभ्यन्तरं च, तत्प्रत्येकं षड्विधम्, तत्र बाह्यस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह–

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनवचनम् । १ । यत्किञ्चिद् दृष्टफल मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते । तत्किमर्थम् ? संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमवसेयम् ।

तद् द्विविधम्–अवधृतानवधृतकालभेदात् । २ । तदनशन द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुत. ? अवधृताऽनवधृतकालभेदात् । तत्रावधृतकाल सकृद्भोजनं [1]चतुर्थभक्तादि, अनवधृतकालमादेहोपरमात् ।

से भी सवर होता है और तप से निर्जरा भी होती है अत: अब उस तप का विधान करना योग्य है। उसी का वर्णन करते है—वह तप अन्तरग और बहिरग के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्येक के छह-छह भेद है। उनमे बाह्य तप के छह भेदो का वर्णन करते है—

अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश, ये छह बहिरंग तप है ॥ १९ ॥

लौकिक सुख, मत्रसाधनादि दृष्टफल की अपेक्षा बिना सयम की सिद्धि, इन्द्रिय विषय सम्वन्धी राग के उच्छेद, कर्मो के विनाश, ध्यान की सिद्धि और आगम ज्ञान की प्राप्ति के लिए चारो प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास (अनशन) कहलाता है ॥ १ ॥

अवधृतकाल (नियतकालिक) और अनवधृतकाल के भेद से अनशन दो प्रकार का है। दिन मे एक वार भोजन करना, चतुर्थभक्त (एक उपवास का नाम चतुर्थभक्त है, क्योकि इसमे एक भुक्ति पहले दिन की, दो उपवास के दिन की और एक पारणा के दिन की, इस प्रकार चार भुक्ति का त्याग होता है। एक दिन मे दो भुक्ति होती है, इसी प्रकार दो उपवास को षष्ठभक्त, तेला को अष्टभक्त आदि कहते हे।) आदि नियतकालिक वा अवधृतकालिक उपवास है, क्योकि इसमे काल की मर्यादा है। यावज्जीवन (शरीरत्याग पर्यन्त) अन्न-पानी का त्याग करना अनवधृतकालिक अनशन है ॥ २ ॥

---

१ चतुर्थषष्ठवेनाभक्तादि –अ टि. ।

संयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायसुखसिद्धयाद्यर्थमवमोदर्यम् । ३ । [1]आशितंभवो य ओदन· तस्य चतुर्भागेनार्द्धग्रासेन वा अवममून उदरमस्यासाववमोदर., अवमोदरस्य भाव. कर्म वा अवमोदर्यम् । तत्किमर्थम् ? सयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायसुखसिद्धयर्थम् ।

एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम् । ४ । भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः सकल्पश्चिन्तावरोध. वृत्तिपरिसख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम् ।

दान्तेन्द्रियत्वतेजोऽहानिसंयमोपरोधव्यावृत्त्याद्यर्थं घृतादिरसत्यजनं रसपरित्यागः । ५ । दान्तेन्द्रियत्व तेजोऽहानिः संयमोपरोधनिवृत्तिरित्येवमाद्यर्थ घृतदधिगुडतैलादिरसत्यजनं रसपरित्याग इत्युच्यते ।

रसवत्परित्याग इति चेत्; न; मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात् । ६ । स्यान्मतम्—रसशब्दोऽय गुणवाची, तद्वतश्चात्र परित्याग इष्ट इति तस्माद्रसवत्परित्याग इति निर्देश.

सयम को जागृत करने के लिये, दोषो को शात करने के लिये, सन्तोष, स्वाध्याय एवं सुख की सिद्धि के लिये अवमोदर्य होता है । तृप्ति के लिये पर्याप्त भोजन मे से चतुर्थांश या दो चार ग्रास कम खाना अवमोदर है और अवमोदर का भाव या कर्म अवमोदर्य कहलाता है । **प्रश्न**—अवमोदर्य किसलिये किया जाता है ? **उत्तर**—सयम की जागरूकता, दोषप्रशम, सतोष, स्वाध्याय और सुख की सिद्धि आदि के लिये अवमोदर्य तप किया जाता है अर्थात् अवमोदर्य तप से स्वाध्याय आदि की वृद्धि होती है ।। ३ ।।

एक घर, सात घर, एक गली (एक मोहल्ला) अर्द्ध ग्राम आदि के विपय का सकल्प करना वृत्तिपरिसख्यान तप है । आशा-तृष्णा की निवृत्ति के लिये भिक्षा को जाते समय साधु का एक, दो, तीन, सात आदि घर-गली, ग्राम, दाता, भोज्यपदार्थ आदि का नियम कर लेना **वृत्तिपरिसंख्यान** तप है ।। ४ ।।

जितेन्द्रियत्व, तेजोवृद्धि, संयम मे बाधा की निवृत्ति आदि के लिये घी, दूध, दही, गुड़, नमक, तेल आदि रसो का परित्याग करना **रसपरित्याग** तप कहलाता है ।। ५ ।।

प्रश्न—यह रस शब्द गुणवाची है अतः रस का त्याग नही, रस वाले का त्याग कहना चाहिये । रसपरित्याग न कह करके रसवत्परित्याग कहना चाहिये । **उत्तर**—रस शब्द गुणवाची है अत· गुणत्याग न होकर गुणवाली वस्तु का ही त्याग होता है, परन्तु जैसे 'शुक्लवान् पटः' न

---

१. तृप्तिनिमित्तः—अ. टि. ।

कर्त्तव्य इति; तन्न, किं कारणम् ? मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात् । लुप्तनिर्दिष्टोऽत्र मतुः यथा शुक्लः पट इति ।

अव्यतिरेकाद्वा तद्वत्संप्रत्ययः ।७। अथवा, न गुण व्यतिरिच्य गुणी वर्तते, ततः सामर्थ्यात्तद्वन्निर्देशः प्रतिपत्तव्यः । द्रव्यत्यागमुखेन रसपरित्यागो नान्यथेति ।

सर्वत्यागप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रकर्षगतेः ।८। स्यादेतत्–सर्वमुपभोगार्हं पुद्गलद्रव्यं रसवत्, अत. सर्वत्यागः प्राप्नोतीति; तन्न, किं कारणम् ? प्रकर्षगतेः । यथा अभिरूपाय कन्या देयेति अभिरूपतमे संप्रत्ययो भवति तथा सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य रसवत्त्वात् प्रकृष्टरसत्यागसंप्रत्ययो भवति । कश्चिदाह–

अनशनावमोदर्यरसपरित्यागानां वृत्तिपरिसंख्यानावरोधात् पृथगनिर्देशः ।९। वृत्तिपरिसंख्यानमिदं सामान्यभिक्षाचरणे नियमकारित्वात् । अत अनशनावमोदर्यरस-परित्यागाना तेनैवावरुद्धत्वात् पृथङ् निर्देशोऽनर्थक. ।

तद्विकल्पनिर्देश इति चेत्; न; अनवस्थानात् ।१०। अथ मतम्–तस्य

कहकर 'शुक्लः पटः' कहा जाता है, 'मतु' 'वान्' प्रत्यय का लोप किया है, उसी प्रकार 'मतु' प्रत्यय का लोप समझना चाहिये ।। ६ ।।

अथवा, अव्यतिरेक होने से तद्वान् का बोध हो जाता है । गुण को छोडकर गुणी पृथक् नही रहता है अतः गुणी के कथन के सामर्थ्य से गुणवान् का बोध हो ही जाता है । क्योकि द्रव्य के त्याग से ही गुण रूप रस का परित्याग होता है, गुणवान् द्रव्य का त्याग किये बिना रसादि गुणो के त्याग की असभवता है ।। ७ ।।

प्रश्न—रसत्याग कहने से उपभोग के योग्य सर्व वस्तुओ का त्याग हो जाता है क्योकि सर्व पुद्गल रूप-रस वाले हैं ? उत्तर—यद्यपि सब पुद्गल रस वाले है पर यहाँ प्रकर्प रस वाले द्रव्य की विवक्षा है, जैसे कि 'अधिक रूप वाले को कन्या देनी चाहिये' यहाँ सुन्दर या विशिष्ट रूपवान् की विवक्षा है, उसी प्रकार सब पुद्गल रस वाले होने पर रसपरित्याग मे प्रकृष्ट रस वाले की विवक्षा है अत. प्रकृष्ट रसत्याग का बोध होता है ।। ८ ।।

प्रश्न—अनशन, अवमोदर्य और रसपरित्याग रूप तपों का वृत्तिपरिसख्यान नामक तप मे अन्तर्भाव हो जाता है क्योकि सामान्य भिक्षा के आचरण मे नियमकारी (प्रतिवध लगाने वाला) वृत्तिपरिसख्यान तप है । अतः अनशन, अवमोदर्य और रसपरित्याग, वृत्तिपरिसख्यान तप से व्याप्त होने से इनका पृथक् कथन करना निरर्थक है ? ।। ९ ।।

अथवा, वृत्तिपरिसख्यान के भेद मानकर अनशन आदि का पृथक् निर्देश करना भी उचित

वृत्तिपरिसंख्यानस्य विकल्पा निर्देष्टव्या इति पृथगुपदेशः कर्तव्य इति; तन्न; किं कारणम् ? अनवस्थानात्[१] ।

न वा, कायचेष्टाविषयगणनार्थत्वाद् वृत्तिपरिसंख्यानस्य । ११ । न वा एष दोष:; किं कारणम् ? भिक्षाचरणे प्रवर्तमान साधुः एतावत्क्षेत्रविषया कायचेष्टां कुर्वीत कदाचिद्यथाशक्तीति विषयगणनार्थं वृत्तिपरिसंख्यान क्रियते, [२]अनशनमभ्यवहर्त्तव्यनिवृत्ति., एवम् अवमोदर्यरसपरित्यागौ अभ्यवहर्तव्यैकदेशनिवृत्तिपराविति महान् भेद. ।

आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्धचर्थं विविक्तशय्यासनम् । १२ । शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु सयतस्य शय्यासन वेदितव्यम् । तत्किमर्थम् ? [३]आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्धचर्थम् ।

कायपरिक्लेशः स्थानमौनातपनादिरनेकधा । १३ । नानाविधप्रतिमास्थानं

नही है, क्योकि अनशन, अवमोदर्य और रसपरित्याग को वृत्तिपरिसख्यान के विकल्प मानने पर तो गिनती की कोई व्यवस्था ही नही रहेगी ? ।। १० ।।

उत्तर—ऐसा नही है, क्योकि कायचेष्टा के विषयो की गणना के लिये वृत्तिपरिसख्यान का वर्णन है। भिक्षा करने मे प्रवर्त्तमान साधु इतने क्षेत्र (घर) विषयक कायचेष्टा करता है अर्थात् कभी घर आदि का नियम करता है, कभी यथाशक्ति पचेन्द्रियो के विषयो का दमन करने के लिये वृत्तिपरिसख्यान किया जाता है वा करता है। इस प्रकार वृत्तिपरिसख्यान तप मे कायचेष्टा आदि का नियमन (निरोध) होता है, परन्तु अनशन मे (उपवास मे) भोजन मात्र की निवृत्ति है, अवमोदर्य और रसपरित्याग मे भोजन की आशिक निवृत्ति है, आहार का एकदेशत्याग किया जाता है, अतः तीनो मे महान् भेद है ।। ११ ।।

जन्तुबाधा का परिहार, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की सिद्धि के लिये निर्जन्तु शून्यागार, गिरिगुफा आदि एकान्त स्थानो मे शय्या (सोना) आसन (बैठना) विविक्तशय्यासन है। विविक्त (एकान्त) में सोने-बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है, ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि होती है और गमनागमन का अभाव होने से जीवो की रक्षा होती है ।। १२ ।।

अनेक प्रकार के प्रतिमायोग (प्रतिमा के समान अचल, स्थिर रहना) धारण करना, मौन रखना, आतापन (ग्रीष्मकाल मे सूर्य के सम्मुख खडे रहना), वृक्षमूल (चातुर्मास मे वृक्ष के नीचे चार

---

१ अनशनादीनीयन्त्येवेति नियमाभावादनवस्था —अ. टि. । २ अनशनादीना परस्परत. को भेद इत्यत आह —अ टि । ३. जन्तुबाधा —अ. टि. ।

वाचंयमत्वम् आतापनम् वृक्षमूल [वास] इत्येवमादिना शरीरपरिखेद. कायक्लेशः इत्युच्यते। स किमर्थं ?

देहदुःखतितिक्षासुखानभिष्वङ्गप्रवचनप्रभावनार्थम् ।१४। दुःखोपनिपाते सति तितिक्षार्थं विषयसुखे चानभिष्वङ्गार्थं प्रवचनप्रभावनाद्यर्थं च कायक्लेशानुष्ठानं क्रियते। इतरथा हि ध्यानप्रवेशकाले सुखोचितस्य द्वन्द्वोपनिपाते सति समाधानं न स्यात्।

परीषहजातीयत्वात् पौनरुक्त्यमिति चेत्; न; स्वकृतक्लेशापेक्षत्वात् ।१५।। स्यान्मतम्–अथ कायक्लेशः स्थानमौनादि परीषहजातीयस्ततः पुनरुपदेशः पौनरुक्त्यं जनयतीति; तन्न, किं कारणम् ? स्वकृतकायक्लेशापेक्षत्वात्। बुद्धिपूर्वो हि कायक्लेश इत्युच्यते, यदृच्छयोपनिपाते परीषहः। दृष्टफलानपेक्षमित्येतत् सर्वत्रानुवर्त्तते। तर्त्तांह कर्तव्यम्–

सम्यगित्यनुवृत्तेर्दृष्टफलनिवृत्तिः ।१६। "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" [९।२।] इत्यतः सम्यग्ग्रहणमनुवर्त्तते, तेन दृष्टफलनिवृत्ति. कृता भवति सर्वत्र। बाह्यत्वमस्य कुतः ?

महीना निश्चल बैठे रहना), सर्दी मे नदीतट पर ध्यान करना आदि क्रियाओ से शरीर को कष्ट देना कायक्लेश तप है। प्रश्न—यह कायक्लेश तप क्यो किया जाता है ? ।। १३ ।।

उत्तर—देह को कष्ट देने की इच्छा, विषयसुख की अनासक्ति और प्रवचन (जिनधर्म) की प्रभावना के लिये कायक्लेश तप किया जाता है। कायक्लेश तप करने से अकस्मात् शारीरिक कष्ट आने पर सहनशीलता बना रहती है, विषयसुखों मे आसक्ति नही होती है तथा धर्म की प्रभावना होती है। अत. कायक्लेश तप करना चाहिये। यदि कायक्लेश तप का अनुष्ठान नही किया जाता है तो ध्यानादि के समय मे सुखशील व्यक्ति को द्वन्द्व (दु.ख, आपत्ति) आने पर चित्त का समाधान नही हो सकेगा यानी चित्त स्थिर नही रहेगा ।। १४ ।।

प्रश्न—वृक्षमूल मे स्थान, मौनधारण आदि रूप कायक्लेश तप परीषह की जाति का है अत' कायक्लेश तप का कथन पुनरुक्त दोष उत्पन्न करता है ? उत्तर—कायक्लेश तप परीषहजातीय नहीं है, क्योंकि परीषह जब चाहे तब आते हैं और कायक्लेश बुद्धिपूर्वक किया जाता है वा कायक्लेश मे स्वकृत अपेक्षा है। अतः बुद्धिपूर्वक कायक्लेश होता है, चाहे जब आने वाले परीषह होते हैं; यह कायक्लेश और परीषह मे भेद है। दृष्टफलानपेक्ष की अनुवृत्ति सब तपो मे करनी चाहिये अर्थात् सभी तपों मे इहलोकिक फल की कामना नही होनी चाहिये ।। १५ ।।

'सम्यग्योगनिग्रहोगुप्ति' इस सूत्र में जो 'सम्यग्' पद है उसका अनुवर्त्तन सब तपो में है अत' सम्यक् पद की अनुवृत्ति आने से दृष्टफलनिरपेक्षता का होना तपो मे अनिवार्य है। अथवा सर्व

बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम् । १७ । बाह्यमशनादिद्रव्यमपेक्ष्य क्रियत इति बाह्यत्वमस्य ग्राह्यम् ।

परप्रत्यक्षत्वात् । १८ । परेषा खल्वप्यनशनादि प्रत्यक्ष भवति, ततश्चास्य बाह्यत्वम् ।

तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च । १९ । अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम् । कथ तर्ह्येतदनशनादि तप इत्युच्यते ?

कर्मनिर्दहनात्तपः । २० । यथाऽग्नि· सञ्चित तृणादि दहति तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जित निर्दहतीति तप इति निरुच्यते ।

देहेन्द्रियतापाद्वा । २१ । अथवा, देहस्येन्द्रियाणा च ताप करोतीत्यनशनादि [अत] तप [1]इत्युच्यते । तत्तापादिन्द्रियनिग्रह· सुकरो भवति ।

तपो मे दृष्टफल की निवृत्ति हो जाती है । **शंका**—इन तपो मे बाह्यपना कैसे है ? अर्थात् ये तप बाह्य क्यो कहलाते है ? ।। १६ ।।

समाधान—बाह्य द्रव्य की अपेक्षा होने से ये बाह्य कहलाते है अर्थात् ये अनशन आदि तप बाह्य द्रव्यो की (आहारत्याग, स्वल्पाहार, घरो की सख्या नियत करना, रस छोडना आदि) अपेक्षा करके किये जाते है, इसलिए इन्हे बाह्य तप कहते है । और भी—।। १७ ।।

ये तप दूसरों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय है तथा इन तपो को मुनीश्वर भी करते हैं और गृहस्थ भी, सम्यग्दृष्टि भी और मिथ्यादृष्टि भी । इसलिए भी इन्हे बाह्य तप कहते हैं । **प्रश्न**—इन अनशनादि को तप क्यो कहते हैं ? ।। १८–१९ ।।

उत्तर—कर्मो को जलाते है, भस्म करते है इसलिये इनको तप कहते है । जैसे—अग्नि सञ्चित तृणादि ईंधन को भस्म कर देती है, जला देती है, उसी प्रकार ये तप मिथ्यादर्शन, अविरति कषाय आदि के द्वारा अर्जित कर्म रूप ईंधन को भस्म कर देते है, जला देते है, नष्ट कर देते है, इसलिये इनको तप कहते है ।। २० ।।

अथवा, इन्द्रिय और शरीर को ताप देते है, इन्द्रियो की विषयप्रवृत्ति का निरोध करके अनशनादि तप शरीर और इन्द्रियो को तपा देते है इसलिये अनशनादि को तप कहते हैं । इन अनशनादि बाह्य तपो के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह सहज हो जाता है ।। २१ ।।

---

१. इति व्यपदिश्यते ता. ।

उक्तं बाह्यं तपः, अथाभ्यन्तरस्य के भेदा इति ? अत्रोच्यते–

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

कुतः पुनरुत्तरत्वम्[१] ?

अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम् ।१। यतोऽन्यैस्तीर्थ्यैरनभ्यस्तमनालीढं ततोऽस्योत्तरत्वम्, अभ्यन्तरमिति यावत् ।

अन्तःकरणव्यापारात् ।२। प्रायश्चित्तादितपः अन्तःकरणव्यापारालम्बनं ततोऽस्याभ्यन्तरत्वम् ।

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च ।३। न हि बाह्यद्रव्यमपेक्ष्य वर्तते प्रायश्चित्तादि, ततश्चास्याभ्यन्तरत्वमवसेयम् ।

तद्भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह–

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

इस प्रकार बाह्य तपो का वर्णन करके अब अन्तरग तप और उसके भेद कहते है—

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये उत्तर यानी अन्तरंग तप हैं ॥ २० ॥

प्रश्न—इन तपों को उत्तर (अन्तरग) क्यो कहते हैं ?

उत्तर—ये प्रायश्चित्त आदि अन्य मतावलम्बियो के द्वारा अनभ्यस्त है, उनसे नही किये जाते हे, उन मिथ्यादृष्टियो के द्वारा अप्राप्य है, अत. इनको उत्तर और अभ्यन्तर तप कहते है ॥ १ ॥

ये प्रायश्चित्तादि तप अन्त.करण के व्यापार का अवलम्बन लेकर होते है, इसलिये इनके अभ्यन्तरत्व है ॥ २ ॥

अथवा, ये प्रायश्चित्तादि तप बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा नही रखते है, इसलिये अभ्यन्तर कहलाते है, कर्मों की निर्जरा करने के लिये इन अभ्यन्तर तपो को करना चाहिये ॥ ३ ॥

अन्तरग तपो के भेदो का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र कहते है—

ध्यान से पहले-पहले क्रमशः उन प्रायश्चित्तादि के नौ, चार, दस, पाँच और दो भेद हैं ॥ २१ ॥

---

१ मधिकृत्वमिति ध्वनि –अ टि. ।

नवादीनां भेदशब्दोपसहितानामन्यपदार्थे वृत्तिः । १ । नवादीना सख्यापदाना भेद-शब्दोपसहितानामन्यपदार्थे वृत्तिर्भवति–नव च चत्वारश्च दश च पञ्च च द्वौ च भेदा अस्य नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदमिति ।

द्विशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसङ्ग इति चेत्; न; पूर्वसूत्रापेक्षत्वात् । २ । स्यादेतत्–द्विशब्दस्य पूर्वनिपात· प्राप्नोति,[1] **"द्वन्द्वे सुः"**[2], **"अल्पाच्तरम्"**[3] इति सूत्रप्रामाण्यात् **"संख्यायाः अल्पीयस्याः"**[4] इत्युपसख्यानाच्चेति[5]; तन्न; किं कारणम् ? पूर्वसूत्रा-पेक्षत्वात् । पूर्वसूत्रे विहिताना नवादिभिर्यथाक्रममभिसंबन्ध. कथं स्यादिति ? नैतद्युक्तम्, न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यमिति[6] । न च प्रयोजनेन लक्षणमुल्लङ्घनीयम्, नैष दोष., राजदन्तादिषु पाठ· करिष्यते, लक्ष्यानुविधानाल्लक्षणस्य ।

अर्थात् प्रायश्चित्त के नौ, विनय के चार, वैयावृत्य के दस, स्वाध्याय के पाँच और व्युत्सर्ग के दो भेद है ।

नव, चतुर्दश आदि सख्यापदो का भेदशब्द के साथ अन्य पदार्थप्रधान (बहुव्रीही) समास है । जैसे—नव, चार, दस, पाँच और दो भेद है इसके (जिसके) वह नवचतुर्दशपचदो भेद वाला कहलाता है ।। १ ।।

प्रश्न—'द्वि शब्द का पूर्व निपात होना चाहिये । क्योकि व्याकरण सूत्र से द्वन्द्वसमास मे जो स्वन्त है, अल्प स्वर वाले हैं और अल्प सख्या वाले है, उनका पूर्व निपात होता है ? **उत्तर**—यद्यपि द्वन्द्वसमास मे व्याकरण के नियम से स्वन्त अल्पाच् और अल्पसख्या वाले शब्दो का पूर्व निपात होता है तथापि पूर्व सूत्र मे निर्दिष्ट प्रायश्चित्त आदि का नव, चार, दस, पाँच और दो के साथ क्रमशः सम्बन्ध करने के लिये द्वि शब्द का पूर्व निपात नही किया है । यदि व्याकरण के नियम से द्वि शब्द का पूर्व निपात करते है तो पूर्व सूत्र मे कथित प्रायश्चित्त आदि का नवादि के साथ सम्बन्ध कैसे होगा ? **प्रश्न**—पदकारो के साथ लक्षण का अनुवर्तन नही करना चाहिये अर्थात् व्याकरण के लक्षण से पदो का न्यास करना चाहिये, व्याकरणशास्त्र पदकारों का अनुवर्तन नही करता है किन्तु पदकार ही व्याकरणशास्त्र का अनुवर्तन करते है । पूर्व सूत्र मे कथित पदों के साथ क्रमश. सम्बन्ध रूप से पदो का न्यास नही करना चाहिये । **उत्तर**—यदि यही आग्रह है कि प्रयोजन रहने पर भी व्याकरण के नियम का उल्लघन नही किया जा सकता तो 'राजदन्तादि' मे पाठ करके निर्वाह कर लिया जायेगा क्योकि लक्ष्य के अनुविधान से ही लक्षण का पाठ होता है ।। २ ।।

---

१. –ति शाब्दान्न्यासात् द्वन्द्वे सुरल्पा–मु शुद्धिपत्रे । २. १।३।९८ । ३. १।३।१०० । ४. १।३।१०० वा । ५ कारणाश्रयात्-श्र. टि. । ६. –वर्त्यं न च मु द व. ज. श्र ।

प्राग्ध्यानादिति वचनं यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थम् । ३ । प्राग्ध्यानादित्युच्यते यथासंख्यप्रतिपत्तिः कथं स्यादिति, इतरथा हि वैषम्याद्यथासंख्यं न स्यात् ।

तत्राभ्यन्तरतपोभेदस्याद्यस्य निर्दिष्टविकल्पसंख्यस्य भेदाख्यविशेषप्रक्लृप्त्यर्थमिदमुच्यते–

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदप[1]रिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

प्रमाददोषव्युदासभावप्रसादनैःशल्यानवस्थाव्यावृत्तिमर्यादाऽत्यागसंयमदाढर्चाराधनादिसिद्धचर्थं प्रायश्चित्तम् । १ । प्रमाददोषव्युदासः भावप्रसादो नैःशल्यम् अनवस्थावृत्तिः मर्यादाऽत्यागः संयमादाढर्चमाराधनमित्येवमादीनां सिद्धचर्थं प्रायश्चित्त नवविधं विधीयते। प्रायः साधुलोक, प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तम् तत्प्रायश्चित्तम् । **"प्रायाच्चित्तिचित्तयोः"**[2]

ध्यान से प्राक् यह शब्द (वचन) यथासंख्या की प्रतिपत्ति के लिए है। प्राग् ध्यान वचन यथासख्या का ज्ञान कराने के लिये है। यदि प्राग् ध्यान शब्द नही हो तो वैषम्य हो जाने से यथासख्या का ज्ञान नही होगा अर्थात् ध्यान से पहले-पहले क्रमश नव आदि सख्याओ का सम्बन्ध कर लेना चाहिये ।। ३ ।।

इस प्रकार अभ्यन्तर तपों के भेदो का निरूपण करके निर्दिष्ट विकल्प सख्या के भेदो के नामो का विशेष ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं। प्रथम प्रायश्चित्त के भेद कहते है—

आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, (आलोचना प्रतिक्रमण) विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना, ये प्रायश्चित्त के नौ भेद है ।। २२ ।।

प्रश्न—प्रायश्चित्त किसलिए कहा जाता है ?

प्रमाद मे लगे हुए दोषो के निराकरण, भावप्रसाद-परिणामो की निर्मलता, नि शल्यत्व-भावो की शल्य (माया, मिथ्यात्व, निदान) के निराकरण, अव्यवस्था के निवारण, मर्यादा के पालन, सयम की दृढ़ता, आराधना सिद्धि आदि के लिये नव प्रकार का प्रायश्चित्त तप किया जाता है। 'प्रायः' शब्द का अर्थ है साधुजन; 'चित्त' मन, जिसमे साधुजनो का चित्त लीन हो वह प्रायश्चित्त है। उत्कृष्ट चारित्र के धारक मुनि को प्राय. कहते है और मन को चित्त कहते हैं अतः मन की शुद्धि करने वाले कर्म को प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे हुए

---

१. –दमलपरि –ना अ. ज । २. ४।३।११७।

इति सुट् । अपराधो वा प्राय., चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्त प्रायश्चित्तम्, अपराधविशुद्धिरित्यर्थ. ।

तत्र गुरवे प्रमाद[1]निवेदनं दशदोषवर्जितमालोचनम् । २ । तेषु नवसु प्रायश्चित्तविकल्पेषु गुरवे एकान्ते निषण्णाय प्रसन्नमनसे विदितदेशकालस्य शिष्यस्य सविनयेनात्मप्रमादनिवेदन दशभिर्दोषैर्विवर्जितमालोचनमित्याख्यायते । के पुनस्ते दश दोषा इति चेत् ? उच्यते–

उपकरणेषु दत्तेषु प्रायश्चित्तं मे लघु कुर्वन्तीति विचिन्त्य दान प्रथममालोचनदोषः । १ । प्रकृत्या दुर्बलो ग्लानोऽहं उपवासादि न कर्तुं मल यदि लघु दीयेत ततो दोपनिवेदनं करिष्ये इति वचन द्वितीयो दोष । २ । अन्यादृष्टदोषगूहन कृत्वा प्रकाशदोषनिवेदनं मायाचारस्तृतीयो दोष' । आलस्यात् प्रमादाद्वा अल्पापराधावबोधनिरुत्सुकस्य स्थूलदोषप्रतिपादन चतुर्थ । ४ । महादुश्चरप्रायश्चित्तभयान्महादोषसवरण कृत्वा

दोषो की शुद्धि करना प्रायश्चित्त है । 'प्राय. चित्ति और चित्त मे सुट् प्रत्यय होता है' इस सूत्र से प्रायश्चित्त शब्द बनता है । अथवा 'प्रायः' शब्द का अर्थ अपराध है, उस अपराध का शोधन जिस क्रिया से हो वह प्रायश्चित्त है अतः प्रमाद दोष का व्युदास, भावप्रसाद, नि.शल्यत्व, अव्यवस्थानिवारण, मर्यादा के पालन, सयम की दृढता और आराधना की सिद्धि आदि के लिए प्रायश्चित्त के द्वारा विशुद्ध होना आवश्यक है ।। १ ।।

गुरुओ के लिये (गुरुओ के समक्ष) दस दोषरहित प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है । उन नव प्रकार के प्रायश्चित्तो मे प्रथम **आलोचना** नामक प्रायश्चित्त है । एकान्त मे विराजमान, प्रसन्नचित्त गुरु के समक्ष देशकाल को जानने वाले शिष्य के द्वारा सविनय दस दोषरहित आत्म-(अपने) दोषो के निवेदन करने को आलोचना कहते है । **प्रश्न**—दस दोष कौन-कौन से है ? उनका वर्णन करते है—

उपकरण देने से मुझे लघु प्रायश्चित्त देगे, इस प्रकार विचार करके प्रायश्चित्त के समय उपकरण आदि देना प्रथम **आलोचना** दोष है ।। १ ।। "मै प्रकृति से दुर्बल हूँ, रोगी हूँ, उपवास आदि नही कर सकता" यदि मुझे लघु (थोड़ा) प्रायश्चित्त देते है तो मै अपने दोषो का निवेदन करूगा, इस प्रकार का विचार कर वा अपने प्रति गुरु के मन मे अनुकम्पा उत्पन्न कराकर दोषो का निवेदन करना दूसरा **अनुमापित** दोष है ।। २ ।। जिन दोपो को दूसरों ने नही देखा, उन दोषों को छिपाकर दूसरो के द्वारा जाने गये दोषो को कहना **मायाचार यद्दृष्ट** दोष है ।। ३ ।। आलस्य वा प्रमाद के कारण सूक्ष्म दोषो की परवाह न करके स्थूल दोपो का प्रतिपादन करने वाले के **स्थूलदोष प्रतिपादन** चतुर्थ दोष है ।। ४ ।। महान् दुश्चर प्रायश्चित्त के भय से

---

१. –दविनि–मु द ब ज ।

तनुप्रमादाचारनिबोधन पञ्चम । ५ । ईदृशे व्रतातिचारे सति किन्न. स्यात्प्रायश्चित्त-मित्युपायेन गुरूपासना षष्ठ । ६ । पाक्षिकचातुर्मासिकसावत्सरिकेपु कर्मसु महति यति-समवाये आलोचनशब्दाकुले पूर्वदोषकथन सप्तमः । ७ । गुरूपपादित प्रायश्चित्त किमिदं युक्तम् आगमे स्यान्नवेति शङ्कमानस्यान्यसाधुपरिप्रश्नोऽष्टमः । ८ । यत्किञ्चि-त्प्रयोजनमुद्दिश्यात्मना समानायैव प्रमादाचरितमावेद्य महदपि गृहीतं प्रायश्चित्त न फलकरमिति नवम । ९ । अस्यापराधेन ममातिचारः समानः तमयमेव वेत्ति अस्मै यद्दत्त तदेव मे युक्तं लघूकर्त्तव्यमिति स्वदुश्चरितसवरण दशमो दोषः । १० ।

आत्मन्यपराध चिरमनवस्थाप्य निकृतिभावमन्तरेण बालवदृजुबुद्ध्या दोष निवेदयत न ते दोषा भवन्त्यन्ये च । सयतालोचन द्विविषयमिष्टमेकान्ते, सयतिका-लोचनं त्र्याश्रय [1]प्रकाशे । लज्जापरपरिभवादिगणनया निवेद्यातिचारं यदि न शोधयेद्

महान् दोषो को छिपाकर सूक्ष्म दोषो का (अल्प दोषो का) गुरु के समक्ष कथन करना **सूक्ष्माचारनिवेदन** नामक पाँचवाँ दोष है ।। ५ ।। "ऐसा व्रतो का अतिचार (दोष) लगने पर क्या प्रायश्चित्त होगा ?" इस प्रकार किसी उपाय से प्रायश्चित्त जानकर पश्चात् गुरु के समीप अपने दोषो का निरूपण करना छठा **छन्न** नाम का दोष है ।। ६ ।। पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण के समय बहुत यतियो के समुदाय मे कोलाहल मे अपने दोषो का निवेदन करना, जिससे गुरु अच्छी तरह सुन नही सके वह **शब्दाकुलित** नामक सातवाँ दोष है ।। ७ ।। 'गुरु के द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त युक्त (ठीक) है या नही, आगमविहित है या नही ?' इस प्रकार शकित मन होकर अन्य साधुजनो से पूछना आठवाँ **बहुजन** नामक दोष है ।। ८ ।। जिस किसी प्रयोजन का उद्देश्य लेकर अपने ही समान गुरु के लिए प्रमाद से आचरित दोषो का निवेदन करना **अव्यक्त** नाम का नवमा दोष है ।। ९ ।। इसमे किया गया कठोर प्रायश्चित्त भी निष्फल होता है, इसके समान ही मेरा अपराध है, उसको यही जानता है, जो इसके लिये प्रायश्चित्त दिया गया है, वही मैं शीघ्र ले लूंगा, वही प्रायश्चित्त शीघ्र ही मुझे करना चाहिये । इस प्रकार गुरु से अपने दोषो का सवरण करना **तत्सेवित** नाम का दसवाँ दोष है ।। १० ।।

अपने मन मे दोषो को अधिक समय तक न रखकर निष्कपट भावो से बालक के समान सरल हृदय से स्वकीय दोषो का निवेदन करने वाले साधु के न तो ये दस दोष लगते है और न उनके अन्य किन्ही दोषो की उत्पत्ति की संभावना है । इन दस दोषो को टालकर गुरु के समक्ष अपने दोषो का कथन करना प्रायश्चित्त है । साधु का आलोचन (गुरु के समीप अपने दोषो का निवेदन) एकान्त मे आलोचक (दोषो का निवेदन करने वाला) और आचार्य इन दोनो की उपस्थिति मे हो जाता है, परन्तु आर्यिकाजन का आलोचन प्रकाश मे (गुप्त वा एकान्त स्थान मे नही) होता है।

१. प्रसिद्धे सति-दोषे -अ० टि. ।

अपरीक्षितायव्ययाधमर्णवदवसीदति। महदपि तपस्कर्म अनालोचनपूर्वकम् नाभिप्रेतफलप्रदम् [1]आविरिक्तकायगतौषधवत् कृतालोचनस्यापि [2]गुरुमतप्रायश्चित्तमकुर्वतोऽपरिकर्मसस्यवत् महाफल न स्यात्। कृतालोचनचित्तगत प्रायश्चित्तं परिमृष्टदर्पणतलरूपवत् परिभ्राजते।

मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तप्रतिक्रिया प्रतिक्रमणम् । ३ । कर्मवशप्रमादोदय-जनित मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमाद्यभिव्यक्त' प्रतीकार. प्रतिक्रमणमित्युच्यते।

तदुभयसंसर्गे सति शोधनात्तदुभयम् । ४ । किञ्चित्कर्म आलोचनमात्रादेव शुद्धयति, अपर प्रतिक्रमणेन, इतरत्पुनस्तदुभयससर्गे सति शुद्धिमुपयातीति तदुभयमित्यु-पदिश्यते। इदमयुक्त वर्तते। किमत्रायुक्तम् ? 'अनालोचयत' न किञ्चिदपि

आर्यिकाओ का आलोचन खुले सार्वजनिक स्थान मे तीन व्यक्तियो की उपस्थिति मे होता है, लज्जा और पर-तिरस्कार के कारण अतिचारो का निवेदन करके भी यदि उनका सशोधन नही किया जाता है तो अपनी आय और व्यय का हिसाब न रखने वाले कर्जदार के समान साधक को दु ख का पात्र होना पड़ता है। महान् तपस्या भी आलोचना के बिना अभिप्रेत (इच्छित फल) को देने वाली नही होती, जैसे विरेचन से शरीर की मलशुद्धि किये बिना खाई गई औषधि लाभकारी नही होती। आलोचना करके भी यदि जो गुरु के द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नही करता है तो वह बिना सवारे (आसपास के घास को उखाड कर जिस क्षेत्र की शुद्धि नही की गई है ऐसे) धान्य के समान महाफलदायक नही हो सकता। आलोचनायुक्त चित्त से किया गया प्रायश्चित्त माँजे (स्वच्छ किये) हुए दर्पण मे स्थित रूप के समान निखर वा चमक उठता है॥ २॥

'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो', इस प्रकार से कर्मो का प्रतिकार करने वाले वचनो का उच्चारण करना **प्रतिक्रमण** है। कर्मवश या प्रमाद से लगे हुए दोष 'हे प्रभो ! तेरे प्रसाद से मिथ्या होवे।' इस प्रकार सरल हृदय से वचनों का उच्चारण करना प्रतिक्रमण है। अथवा, गुरु के समीप अपने दोषो का उच्चारण करके कहना कि मेरे दोष मिथ्या होवें, यह प्रतिक्रमण है॥ ३॥

दोनो प्रकार के दोषो का ससर्ग होने पर उनका शोधन करना उभय नामक प्रायश्चित्त है। कुछ कर्म आलोचना मात्र से शुद्ध हो जाते है और कुछ कर्म प्रतिक्रमण से शुद्ध होते हैं और कुछ कर्म आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनो से शुद्ध होते है, अत. उभय है। अर्थात् उसको उभय कहते है। **प्रश्न**—उभय प्रायश्चित्त कहना ठीक नही है, क्योकि आलोचना नही करने वाले के कोई प्रायश्चित्त नही है, ऐसा कहा है, यहाँ कहते है कि प्रतिक्रमण मात्र से भी शुद्धि होती है, अत. ये

---

१. विरेचनकृत –अ. टि। अतिक्तकाय-मु. द. व. ज.। आ समन्तात् विरक्तीकृत विरेचनौपधिना निर्मलीकृत इत्यर्थ.। २ गुरुदत्तप्रा-मु द ब.।

प्रायश्चित्तम्' इत्युक्तम्, पुनरुपदिष्टम्–'प्रतिक्रमणमात्रमेव शुद्धिकरम्' इति, एतदयुक्तम् । अथ तत्राप्यालोचनपूर्वकत्वमभ्युपगम्यते, तदुभयोपदेशो व्यर्थः, नैष दोषः, सर्वं प्रतिक्रमणमालोचनपूर्वकमेव, किन्तु पूर्वं गुरुणाभ्यनुज्ञातं शिष्येणैव कर्तव्यम्, इदं पुनर्गुरुणैवानुष्ठेयम् ।

संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः । ५ । संसक्तानामन्नपानोपकरणादीना विभजन विवेक इत्युच्यते ।

व्युत्सर्गः कायोत्सर्गादिकरणम् । ६ । कालनियमेन कायोत्सर्गादिकरण व्युत्सर्ग इत्युच्यते ।

तपोऽनशनादि । ७ । अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानादि तपोऽवगन्तव्यम् ।

दिवसपक्षमासादिना प्रव्रज्याहापनं छेदः । ८ । चिरप्रव्रजितस्य दिवसमासादिविभागेन प्रव्रज्याहापन छेद इति प्रत्येतव्यम् ।

पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः । ९ । पक्षमासादिकालविभागेन ससर्गमन्तरेण दूरत. परिवर्जनं परिहार इत्यवध्रियते ।

दोनों कथन परस्पर विरोधी है ? **उत्तर**—यद्यपि सभी प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही होते हैं तथापि जो गुरु को कहकर गुरु की आज्ञा से शिष्य प्रतिक्रमण करता है, वह प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक होता है. क्योकि वह गुरु के समक्ष अपनी गर्हा निन्दा रूप आलोचना करता हुआ प्रतिक्रमण करता है, वहाँ गुरु की आज्ञा से शिष्य के द्वारा किया जाता है अत: शिष्य के द्वारा दोनों किये जाते है और जहाँ केवल प्रतिक्रमण से दोषशुद्धि होती है, वहाँ वह स्वय गुरु के द्वारा ही किया जाता है, क्योकि गुरु स्वय किसी अन्य साधु के समक्ष आलोचना नही करता ।। ४ ।।

प्राप्त वा जिसमें अत्यन्त आसक्ति है, ऐसे ससक्त अन्न पानादि और उपकरण आदि का त्याग करना **विवेक** है । अथवा, जिस वस्तु के न खाने का नियम है, वह वस्तु भाजन मे वा मुख मे आ जाने पर अथवा जिन वस्तुओं के ग्रहण करने मे कषायादि उत्पन्न होते है उन वस्तुओ का त्याग कर देना **विवेक** नाम का प्रायश्चित्त है ।। ५ ।।

काल का नियम करके कायोत्सर्ग आदि करना **व्युत्सर्ग** है ।। ६ ।।

अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसख्यान को **तप** नाम का प्रायश्चित्त जानना चाहिये ।। ७ ।।

चिरकाल से दीक्षित साधु की अमुक दिन, पक्ष और माह आदि की दीक्षा छेद करना, **छेद** प्रायश्चित्त है ।। ८ ।।

किसी दोष के हो जाने पर चिरप्रव्रजित साधु को पक्ष, माह आदि काल के विभाग से सघ से दूर कर देना, उसका ससर्ग नही करना **परिहार** नामक प्रायश्चित्त है, ऐसा जानना चाहिये ।। ९ ।।

पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना । १० । महाव्रताना मूलच्छेद कृत्वा पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापनेत्याख्यायते ।

विद्यायोगोपकरणग्रहणादिषु प्रश्नविनयमन्तरेण प्रवृत्तिरेव दोष इति तस्य प्रायश्चित्तमालोचनमात्रम् । देशकालनियमेनावश्य कर्त्तव्यमित्यास्थितानां योगाना धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसन्निधानेन विस्मरणे सति पुनरनुष्ठाने प्रतिक्रमण तस्य प्रायश्चित्तम् । भयत्वरणविस्मरणाऽनवबोधाशक्तिव्यसनादिभिर्महाव्रतातिचारे सति प्राक्छेदात् षड्विध प्रायश्चित्त विधेयम् । शक्तचनिगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणादप्रासुकग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात् प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्स[1]र्जनं प्रायश्चित्तम् । दुःस्वप्नदुश्चिन्तनमलोत्सर्जनमू[2]त्रातिचारमहानदीमहाटवीतरणादिषु व्युत्सर्गः प्रायश्चित्तम् । बहुकृत्व' प्रमादबहु[3]दृष्टापराधप्रत्य[4]नीकवृत्तिविरुद्धदृष्टीनां[5] यथाक्रमं [6]छेदमूलभूम्यनुपस्थापनपारञ्चिकविधान क्रियते[7] ।

चिरप्रव्रजित साधुओ के महाव्रतो का मूलच्छेद करके पुन.दीक्षा देना **उपस्थापना** नामक प्रायश्चित्त कहा जाता है ।

विद्या और ध्यान के योग्य उपकरण शास्त्रादि को ग्रहण करते समय प्रश्न (पूछना) और विनय के बिना प्रवृत्ति करने पर दोष लगता है । उसका प्रायश्चित्त आलोचना मात्र है । देश और काल के नियम से अवश्य करने योग्य क्रियाओ को धर्मकथा आदि व्याक्षेप कारणो के मिलने से भूल जाने पर पुन करने के समय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है । भय, शीघ्रता, विस्मरण, अज्ञान, अशक्ति और आपत्ति आदि कारणो से महाव्रतो मे अतिचार लग जाने पर, छेद से पहले के छहो प्रायश्चित्त होते है अर्थात् आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग और उपवासादि तप, इन छह प्रकार के प्रायश्चित्तो के द्वारा अज्ञानादि से लगे हुए महाव्रतो के अतिचारो की शुद्धि की जाती है । स्वकीय शक्ति को न छिपाकर प्रयत्नपूर्वक व्रतो के अतिचारो को दूर करते हुए, व्रतो का पालन करते हुए भी किसी कारणवश अप्रासुक वस्तु को स्वय ग्रहण करने वा दूसरे को ग्रहण कराने पर तथा त्याग की हुई प्रासुक वस्तु के विस्मरण हो जाने से ग्रहण कर लेने पर उसका स्मरण आ जाय तो पुन उस वस्तु का त्याग कर देना ही प्रायश्चित्त है । दुस्वप्न, दुश्चिन्ता, मलोत्सर्ग, मूत्र आदि के अतिचार, महानदी और महाअटवी को पार करने आदि क्रियाओ मे उत्पन्न दोषो का निराकरण करने के लिये व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) नाम का प्रायश्चित्त किया जाता है । बार-बार प्रमाद, बहुदृष्ट अपराध (बहुत से लोगो ने जिसको देखा है). आचार्यादि के विरुद्ध कार्य करने पर

---

१ –दुज्झन प्रा -मु द व ज । २ –सूत्राति -ता श्र ज. । ३. बहुभि पुरुषै -श्र टि. । ४ आचार्यादीना -श्र टि । ५ विराधितसम्यक्त्वानाम् -श्र टि । ६ छेद मूलभूम्यनुपस्थान पारचिक -मु द. व. । ७. गृहस्थताप्रापणमित्यर्थः –श्र. टि. ।

[1]अपकृष्टयाचार्यमूले प्रायश्चित्तग्रहणमनुपस्थापनम् । आचार्यादाचार्यान्तरप्रापणमातृतीय [2]पारञ्चिकम् । तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्त देशकालशक्तिसयमाद्यविरोधेनापराधानुरूपं दोषप्रशमन चिकित्सितवद्विधेयम् । जीवस्यासंख्येयलोकपरिमाणा परिणामविकल्पाः, अपराधाश्च तावन्त एव, न तेषां तावद्विकल्पं प्रायश्चित्तमस्ति । व्यवहारनयापेक्षया पिण्डीकृत्य प्रायश्चित्तविधानमुक्तम् ।

आह–व्याख्यात प्रायश्चित्तम्, इदानी तदनन्तरमुद्दिष्टस्य विनयस्य विकल्पा वक्तव्या ? अत्रोच्यते–

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

विनय इत्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसंबन्धः ।१। विनय इत्यनुवर्त्तते, तेन प्रत्येकमभिसबन्धो भवति–ज्ञानविनयो दर्शनविनयश्चारित्रविनय उपचारविनयश्चेति ।

और सम्यग्दर्शन की विराधना करने पर क्रमशः छेद (दीक्षा का छेद), मूलभूमिअनुपस्थापन (मूल दीक्षा का छेद कर पुनः दीक्षा देना) और पारञ्चिक प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है। दीक्षा का छेद कर आचार्य के चरणमूल में प्रायश्चित्त ग्रहण करना अनुपस्थापना है। तीन आचार्यों तक एक आचार्य से अन्य आचार्य के समीप भेजना पारञ्चिक है। ये नौ प्रकार के प्रायश्चित्त देश, काल, शक्ति और सयम आदि के अविरोध रूप से अपराध के अनुसार दोषो का प्रशमन करने के लिये औषधि के समान ग्रहण करने चाहिए। अर्थात् जैसे रोग का शमन करने के लिये रोगी की शक्ति, देश, कालादि के अनुसार औषधि ग्रहण की जाती है, उसी प्रकार महाव्रतो मे लगे हुए अतिचारजनित दोष रूपी रोगों का शमन करने के लिए शारीरिक शक्ति एव देश, काल के अनुसार नव प्रकार के प्रायश्चित्त लेने चाहिये। यद्यपि जीव के परिणाम असख्येय लोक प्रमाण है और अपराध के विकल्प भी उतने ही है अर्थात् अपराध भी असख्यात लोक प्रमाण है, परन्तु प्रायश्चित्त तो उतने प्रकार के नही हो सकते। अतः व्यवहारनय से वर्गीकरण करके प्रायश्चित्तो का स्थूल निर्देश किया है, इस प्रकार प्रायश्चित्त का विधानकिया ॥ १० ॥

इस प्रकार प्रायश्चित्त का वर्णन करके अब प्रायश्चित्त के अन्तर्कथित विनय के विकल्पो का वर्णन करते है—

ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय के भेद से विनय चार प्रकार का है ॥ २३ ॥

विनय की अनुवृत्ति करके प्रत्येक के साथ उसका सम्बन्ध कर देना चाहिये। जैसे—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय ॥ १ ॥

---

१. अपरकृष्टया –मु. द. ब.। २ परानञ्चतीति तस्य भाव –अ. टि ।

तत्र सबहुमानज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः । २ । अनलसेन शुद्धमनसा देशकालादिविशुद्धिविधानविचक्षणेन सबहुमानो यथाशक्ति निषेव्यमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयो वेदितव्यः ।

पदार्थश्रद्धाने निशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयः । ३ । सामायिकादौ लोकबिन्दुसारपर्यन्ते श्रुतसमुद्रे ये यथा भगवद्भिरुपदिष्टा पदार्था १ तेषां तथाश्रद्धाने निःशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयो वेदितव्यः ।

तद्वतश्चरित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः । ४ । तद्वतो ज्ञानदर्शनवतः पञ्चविधदुश्चरचरणश्रवणानन्तरमुद्भिन्नरोमाञ्चाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तेः परप्रसादो मस्तकाञ्जलिकरणादिभिर्भावितश्चानुष्ठातृत्वं चारित्रविनयः प्रत्येतव्यः ।

प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु पूजनीयेष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः

बहुमान सहित ज्ञान को ग्रहण करना, ज्ञान का अभ्यास करना, स्मरण करना आदि ज्ञानविनय है। आलस्यरहित (निष्प्रमादी) होकर देशकालादि की विशुद्धि के ज्ञाता तथा शुद्ध मन वाले साधु के द्वारा बहुमानपूर्वक यथाशक्ति मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान का ग्रहण, अभ्यास, स्मरण, चिन्तवन आदि करना **ज्ञानविनय** है ।। २ ।।

पदार्थो के श्रद्धान मे निशङ्कित्वादि लक्षण से युक्त होना अर्थात् निशकितादि आठ गुणो से युक्त सम्यग्दर्शन का पालन करना **दर्शनविनय** है। जिनेन्द्र भगवान ने सामायिक आदि से लेकर लोकविन्दुसार पर्यन्त श्रुतरूपी महासमुद्र मे जिन पदार्थो का जैसा उपदेश दिया है, उनका उसी रूप से श्रद्धान करना किसी भी विषय मे शका नही करना तथा सम्यग्दर्शन के निशकितादि गुणो को धारण करना **दर्शनविनय** है ।। ३ ।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त पुरुषो का सम्यक्चारित्र में समाहितचित्त होना **चारित्रविनय** है। सम्यग्ज्ञानवन्त और सम्यग्दृष्टि पुरुषो के पाँच प्रकार के दुश्चर चारित्रो का वर्णन सुनकर रोमाञ्च आदि के द्वारा अन्तर्भक्ति प्रकट करना, मस्तक पर अजुलि रखकर प्रणाम करना आदि क्रियाओ के द्वारा आदर करना और भावपूर्वक चारित्र का अनुष्ठान करना चारित्रविनय जानना चाहिये ।। ४ ।।

पूजनीय आचार्यादि को सामने देखकर (पूजनीय आचार्यादि पुरुषो के आने पर उनको देखकर)

---

१ –र्था यथालक्षणा वर्तन्ते नान्यथावादिनो जिना इति निःसशयपेतता दर्शनविनय इत्याख्यायते तद्वत–मु.। –र्था तद्वत–ज द ब ।

। ५ । प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु पूजनीयेषु अभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणवन्दनानुगमनादिरात्मानुरूप उपचारविनयोऽवगन्तव्यः ।

परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः । ६ । परोक्षेष्वाचार्यादिष्वञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणज्ञानानुष्ठायित्वादिः कायवाङ्मनोभिरवगन्तव्य. ।

किमर्थमिदं विनयभावनम् ?

ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनम् । ७ । ज्ञानलाभः आचारविशुद्धिः सम्यगाराधनमित्येवमादीनां सिद्धिर्भवति विनयभावनेन, ततश्च निर्वृत्तिसुखमिति विनयभावनं क्रियते ।

आह–विनयो वर्णितः, तदनन्तरोद्देशभाजो वैयावृत्त्यस्येदानी विवरणं कर्त्तव्यमिति, अत इदमुच्यते–

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घ-
साधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना, अजुलि जोड़ना, उनकी वन्दना करना, उनकी आज्ञा में चलना आदि आत्मानुरूप आचरण उपचारविनय है ॥ ५ ॥

आचार्य के समक्ष न होने पर उनके परोक्ष मे उनके प्रति काय से अजुलि धारण करना, हाथ जोड़ना, नमस्कार करना, वचन से उनके गुणो का सकीर्तन करना, उनकी प्रशसा करना, मन से उनके गुणो का स्मरण करना और मन-वचन-काय से उनके परोक्ष मे भी उनकी आज्ञा का पालन करना उपचारविनय है ॥ ६ ॥

विनय किसलिये किया जाता है ?

ज्ञानलाभ, आचारविशुद्धि और सम्यग्आराधना आदि की सिद्धि विनय से ही होती है और अन्त मे मोक्षसुख भी इससे मिलता है, अतः विनयभावना अवश्य ही रखनी चाहिये ॥ ७ ॥

इस प्रकार विनय का वर्णन किया । अब विनयवाद मे वर्णित वैयावृत्ति का वर्णन करना योग्य है । अतः वैयावृत्ति का वर्णन करते है—

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञजनों की सेवा करना वैयावृत्ति है । जिनकी वैयावृत्ति की जाती है, वे आचार्य आदि के भेद से दस प्रकार के हैं अतः वैयावृत्ति भी दस प्रकार की है ॥ २४ ॥

वैयावृत्त्यमित्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसम्बन्धः । १ । वैयावृत्त्यमित्यनुवर्त्तते तेन प्रत्येकमभिसबन्धो भवति–आचार्यवैयावृत्त्यमुपाध्यायवैयावृत्त्यमित्यादि ।

व्यावृत्तस्य भावः कर्म च वैयावृत्त्यम् । २ । कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण वा व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यमित्युच्यते ।

आचरन्ति यस्माद्[1] व्रतानीत्याचार्यः । ३ । यस्मात् सम्यग्ज्ञानादिगुणाधारादाहृत्य व्रतानि स्वर्गापवर्गसुखामृतबीजानि भव्या हितार्थमाचरन्ति स आचार्य. ।

उपेत्य यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः । ४ । विनेयेनोपेत्य यस्माद् व्रतशीलभावनाधिष्ठानादागम श्रुताख्यमधीयते स उपाध्याय. ।

महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी । ५ । महोपवासादिलक्षणं तपोऽनुतिष्ठति य. स तपस्वीत्युच्यते । कुत एतत् ? अतिशयार्थे मत्वर्थीयप्रयोगात् ।

वैयावृत्ति की अनुवृत्ति होने से प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करना चाहिये । अर्थात् आचार्यवैयावृत्ति, उपाध्यायवैयावृत्ति, तपस्वीवैयावृत्ति, शैक्ष्यवैयावृत्ति, ग्लानवैयावृत्ति, गणवैयावृत्ति, कुलवैयावृत्ति, सघवैयावृत्ति, साधुवैयावृत्ति और मनोज्ञवैयावृत्ति, इत्यादि । ।। १ ।।

वैयावृत्य का भाव वा कर्म वैयावृत्य है । कायचेष्टा से वा अन्य द्रव्यान्तर से व्यावृत्त (सेवा करने मे तत्पर) पुरुष का कर्म वा भाव **वैयावृत्य** कहलाता है ।। २ ।।

जिनसे व्रतो को धारण कर उनका आचरण किया जाता है, वे आचार्य है । जिन सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि गुणो के आधारभूत महापुरुष से भव्यजीव स्वर्गमोक्षरूप अमृत के बीजभूत (स्वर्गमोक्षदायक) व्रतो को ग्रहण कर अपने हित के लिये आचरण करते है, व्रतो का पालन करते है वा जो दीक्षा देते है, वे **आचार्य** कहलाते है ।। ३ ।।

जिनके 'उप' समीप जाकर अध्ययन किया जाता है, वे उपाध्याय है । अथवा, जिन व्रतशील भावनाशाली महानुभाव के समीप जाकर भव्यजन विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करते है, वे **उपाध्याय** है ।। ४ ।।

महोपवास (एक महीना, दो महीना आदि का उपवास) करके जो महातपो का अनुष्ठान करते है, वे **तपस्वी** कहलाते है । यहाँ पर अतिशय अर्थ मे 'मतु' अर्थीय प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, अर्थात् तप जिनके हो वे घोर तपो को तपने वाले तपस्वी कहलाते हैं ।। ५ ।।

---

१ तस्मा –मू ता. श्र. ।

शिक्षाशीलः शैक्ष्यः[1] **। ६ ।** श्रुतज्ञानशिक्षणपरः अनुपरतव्रतभावनानिपुणः [2]शैक्षकः इति लक्ष्यते ।

रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः । ७ । रुजादिभिः क्लिष्टशरीरो ग्लानः इत्युच्यते ।

गणः स्थविरसन्ततिः । ८ । स्थविराणां सन्ततिर्गण इत्युच्यते ।

दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः कुलम् । ९ । दीक्षकस्याचार्यस्य शिष्यसस्त्यायः कुलव्यपदेशमर्हति ।

चतुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः । १० । चतुर्वर्णानां श्रमणानां निवहः सङ्घ इति समाख्यायते ।

चिरप्रव्रजितः साधुः । ११ । चिरकालभावितप्रव्रज्यागुणः साधुरित्याम्नायते ।

मनोज्ञोऽभिरूपः । १२ । अभिरूपो मनोज्ञ इत्यभिधीयते ।

शिक्षाशील को **शैक्ष्य** कहते है, अर्थात् श्रुतज्ञान के शिक्षण मे तत्पर और सतत व्रत भावना मे निपुण **शैक्ष्य** (शिक्षक) कहलाते है ।। ६ ।।

जिनका शरीर रोगो से आक्रान्त है, वे **ग्लान** कहलाते है ।। ७ ।।

स्थविरो की सन्तति को **गण** कहते हैं ।। ८ ।।

दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा कुल कहलाती है, वा **कुल** इस नाम को प्राप्त होती है ।। ९ ।।

यति, ऋषि, मुनि और अनगार, इन चार प्रकार के मुनियो के समूह को **संघ** कहते है वा चार प्रकार के मुनियों का समूह सघ कहलाता है ।। १० ।।

चिरकाल से भावित प्रव्रज्यागुण (दीक्षा गुण) वाले पुराने साधक **साधु** कहलाते है ।। ११ ।।

अभिरूप को **मनोज्ञ** कहते है ।। १२ ।।

---

१ शैक्ष. भा. १, २ । २ शैक्ष इ-अ ।

सम्मतो वा लोकस्य विद्वत्तावक्तृत्वमहाकुलत्वादिभिः । १३ । अथवा विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति यो लोकस्य सम्मत स मनोज्ञः, तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वात् ।

असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा । १४ । अथवा, असयतसम्यग्दृष्टिर्मनोज्ञ इति गृह्यते सस्कारोपेतरूपत्वात् ।

तेषां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते तत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यम् । १५ । तेषामाचार्यादीना व्याधिपरीपहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते प्रासुकौषधिभक्तपानप्रतिश्रयपीठ-फलकसस्तरणादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकार सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्त्यम् ।

बाह्यद्रव्यासंभवे स्वकायेन तदानुकूल्यानुष्ठानं च । १६ । बाह्यस्यौषधभक्त-पानादेरसंभवेऽपि स्वकायेन श्लेष्मसिङ्घाणकाद्यन्तर्मलापकर्षणादि तदानुकूल्यानुष्ठान च वैयावृत्त्यमिति कथ्यते ।

तत्पुन. किमर्थमिति चेत् ? उच्यते—

अथवा, जो विद्वान् मुनि वाग्मिता (वाक्पटुता), महाकुलीनता आदि गुणो के द्वारा लोक मे प्रसिद्ध हैं, वे मनोज्ञ है । ऐसे लोगो का सघ मे रहना लोक मे प्रवचन-गौरव का कारण होता है ।। १३ ।।

अथवा, सस्कारो से सुसस्कृत असयत सम्यग्दृष्टि को भी **मनोज्ञ** कहते है (क्योकि उससे प्रवचन की प्रभावना होती है) ।। १४ ।।

इन आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, कुल, गण, सघ, साधु और मनोज्ञो पर व्याधि, परीषह, मिथ्यात्व आदि का उपद्रव होने पर उन उपद्रवो का प्रासुक औषधि, आहारपान, आश्रय, चौकी, फलक, घास की चटाई आदि धर्मोपकरण (कमण्डलु, पिच्छिका, शास्त्रादि) के द्वारा प्रतीकार करना तथा मिथ्यात्व की ओर जाते हुए को सम्यक्त्वमार्ग मे दृढ करना **वैयावृत्त्य** है ।। १५ ।।

बाह्य प्रासुक औषधि आहार-पानादि द्रव्यो के अभाव मे भी अपने शरीर से (हाथ से) खकार, नाक आदि के भीतरी मल को साफ करना और उनके अनुकूल वातावरण बना देना, उनके अनुकूल अनुष्ठानादि करना **वैयावृत्त्य** कहा जाता है ।। १६ ।।

वैयावृत्त्य किसलिये किया जाता है ? सो कहते है—

समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम् । १७ । समाध्याधान विचिकित्साभावः प्रवचनवात्सल्यं सनाथता चेत्येवमाद्यभिव्यक्त्यर्थं वैयावृत्यमिष्यते । किमर्थं बहूनामुपक्षेपः क्रियते, ननु सङ्घवैयावृत्यमिति गणवैयावृत्यमिति वा वक्तव्यम् ?

बहूपदेशात् क्वचिन्नियमेन प्रवृत्तिज्ञापनाय भूयसामुपन्यासः । १८ । बहुषु वैयावृत्यार्हेषूपदिष्टेषु क्वचित् कस्यचित् प्रवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमाद्यर्थं भूयसामुपन्यासः क्रियते ।

आह–व्याख्यातं वैयावृत्यम्, तत्समीपोद्देशभाजः स्वाध्यायस्येदानीं निर्देशः करणीय इति ? अत्राभिधीयते–

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशः ॥ २५ ॥

निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना । १ । अनपेक्षात्मना विदितवेदितव्येन निरवद्यग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा पात्रे प्रतिपादनं वाचनेत्युच्यते ।

संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छनम् । २ । आत्मोन्नति-

---

समाधिधारण, विचिकित्साभाव, (ग्लानिपर विजय) प्रवचनवात्सल्य, सनाथता तथा दूसरो मे सनाथवृत्ति जताने आदि के लिये वैयावृत्य करना आवश्यक है । **प्रश्न**—अधिक विस्तार करने से क्या प्रयोजन है ? 'सघ वैयावृत्य' कहने से आचार्यादि सबका ग्रहण हो जाता है, अत. संघ-वैयावृत्य कहना चाहिये ? ॥ १७ ॥

उत्तर—यद्यपि संघ-वैयावृत्य या गण-वैयावृत्य इस सक्षिप्त कथन से कार्य चल सकता था तथापि वैयावृत्य के योग्य अनेक पात्रो का निर्देश इसलिये किया गया है कि वैयावृत्यादिहेतु बहुत से पात्रो का निर्देश करने पर इनमे से किसी मे किसी की प्रवृत्ति हो सकती है, वैसी करनी चाहिये ॥१८॥

इस प्रकार वैयावृत्य का वर्णन किया । अब वैयावृत्य के समीप मे स्वाध्याय का निर्देश है, उसका वर्णन करते है—

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, ये पाँच स्वाध्याय के भेद है ॥ २५ ॥

निरपेक्ष भाव से तत्त्वार्थज्ञ के द्वारा पात्र के लिये जो निर्दोप ग्रन्थ वा ग्रन्थ के अर्थ या दोनो (ग्रन्थ और अक्षर इन) का प्रतिपादन किया जाता है वह वाचना है ॥ १ ॥

आत्मोन्नति[1], परातिसन्धान, परोपहास, सघर्प और प्रहसन आदि दोपो से रहित हो,

---

१. आत्मोन्नति=अपनी महानता । परातिसन्धान=दूसरो को नीचा दिखाने, दूसरे का उपहास करने, कलह आदि के लिये पूछना पृच्छा स्वाध्याय नही है ।

परातिसन्धानोपहा[१]ससघर्षप्रहसनादिविवर्जितः संशयच्छेदाय निश्चितवलाधानाय वा ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा परं प्रत्यनुयोग. पृच्छनमिति भाष्यते ।

अधिगतार्थस्य मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा । ३ । अधिगतपदार्थप्रक्रियस्य तप्तायस्पिण्डवदर्पितचेतसो मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा वेदितव्याः ।

घोषविशुद्धपरिवर्तनमाम्नायः । ४ । व्रतिनो वेदितसमाचारस्यैहलौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुतविलम्बितादिघोषविशुद्धं परिवर्तनमाम्नाय इत्युपदिश्यते ।

धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः । ५ । दृष्टप्रयोजनपरित्यागादुन्मार्गनिवर्तनार्थं सन्देहव्यावर्त्तनापूर्वपदार्थप्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठान धर्मोपदेश इत्याख्यायते । किमर्थोऽयं स्वाध्यायः ?

प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थः स्वाध्यायः । ६ । प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः

सशयच्छेद या निर्णय की पुष्टि के लिये ग्रन्थ, अर्थ या उभय के लिये दूसरे से पूछना **पृच्छना** है ।। २ ।।

अधिगत (जाने हुए) अर्थ का मन के द्वारा अभ्यास करना **अनुप्रेक्षा** है । वस्तु के स्वरूप को जानकर सतप्त लोहपिण्ड के समान चित्त को तद्रूप वना लेना और वार-वार मन से उसका अभ्यास करना **अनुप्रेक्षा** नाम का स्वाध्याय है ।। ३ ।।

विशुद्ध घोष से पाठ का परिवर्तन करना आम्नाय है । आचार-पारगामी व्रती का लौकिक फल की अपेक्षा किये विना द्रुतविलम्बित आदि उच्चारण दोषो से रहित होकर विशुद्ध पाठ का फेरना, घोप करना **आम्नाय** स्वाध्याय है, ऐसा कहा जाता है ।। ४ ।।

धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना **धर्मोपदेश** है । लौकिक ख्याति, लाभ आदि दृष्ट प्रयोजन के विना, उन्मार्ग की निवृत्ति के लिए, सशय को दूर करने के लिये तथा अपूर्व पदार्थ के प्रकाशन के लिये धर्मकथा आदि का अनुष्ठान-कथन करना **धर्मोपदेश** नामक स्वाध्याय कहलाता है । **प्रश्न**—स्वाध्याय किसके लिये किया जाता है ? ।। ५ ।।

उत्तर—प्रज्ञा के अतिशय (वुद्धि का विकास), प्रशस्त अध्यवसाय (परिणामो की निर्मलता) प्रवचनस्थिति, सशयोच्छेद, परवादियो की शका का अभाव, परमसवेग, तप की वृद्धि और

---

[१] -नघोषप्र-मु. द. ब. ।

प्रवचनस्थिति. संशयोच्छेद. परवादिशङ्काभाव॰ परमसवेग तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धि-रित्येवमाद्यर्थं॰ स्वाध्यायोऽनुष्ठेय. ।

आह–वर्णित॰ पञ्चविध स्वाध्याय:, तदनन्तरमुद्दिष्टो यो व्युत्सर्गस्तस्य भेद इदानी वक्तव्य इति ? अत्राभिधीयते–

बाह्याभ्यन्तरोपध्यो: ॥ २६ ॥

व्युत्सर्ग इत्यनुवृत्तेर्व्यतिरेकनिर्देशः । १ । व्युत्सर्जन व्युत्सर्ग इति भावसाधन: शब्दोऽनुवर्त्तते, तदपेक्षोऽय व्यतिरेकनिर्देश. ।

उपधीयते बलाधानार्थमित्युपधिः । २ । योऽर्थोऽन्यस्य बलाधानार्थमुपधीयते स उपधिरित्युच्यते ।

अनुपात्तवस्तुत्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः । ३ । आत्मनाऽनुपात्तस्य एकत्वमनापन्नस्य वस्तुनस्त्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गोऽवगन्तव्यः ।

अतिचार की विशुद्धि (निर्मल चारित्र की प्राप्ति) आदि के लिये स्वाध्याय करना चाहिये ॥ ६ ॥

इस प्रकार पाँच प्रकार के स्वाध्याय का वर्णन किया। अब स्वाध्याय के अनन्तर जो व्युत्सर्ग नाम के तप का कथन किया है, उसके भेद कहते है—

उपधि के दो भेद है—बाह्य उपधि और अभ्यन्तर उपधि ॥ २६ ॥

व्युत्सर्जन (त्याग) को व्युत्सर्ग कहते है, व्युत्सर्ग की अनुवृत्ति ऊपर से करनी चाहिये। व्युत्सर्ग शब्द भावसाधन है, व्युत्सर्जन व्युत्सर्ग है, उस व्युत्सर्ग की अनुवृत्ति के लिये ही सूत्र मे षष्ठी विभक्ति का निर्देश किया है, अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर उपधि का व्युत्सर्जन (त्याग) करना व्युत्सर्ग तप है ॥ १ ॥

जो पदार्थ अन्य मे बलाधान के लिये ग्रहण किये जाते है, अर्थात् जो किसी के सहकारी कारण होते हैं उनको बाह्य उपधि कहते है ॥ २ ॥

अनुपात्त वस्तु का त्याग बाह्योपधि त्याग वा व्युत्सर्ग है। जो बाह्य पदार्थ आत्मा के द्वारा उपात्त नही है वा जो बाह्य पदार्थ आत्मा के साथ एकत्व को प्राप्त नही हुए है; उन पदार्थो का त्याग करना उसे बाह्योपधि व्युत्सर्ग जानना चाहिये, अर्थात् बाह्य पदार्थो के त्याग को बाह्योपधि व्युत्सर्ग कहते है ,अर्थात् इन्द्रियविषयो का त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है ॥ ३ ॥

क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः ।४। क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्व-हास्यरत्यरतिशोकभयादिदोषनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग इति निश्चीयते ।

कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा ।५। कायत्यागश्चाभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग इत्युच्यते । स पुनर्द्विविधः–नियतकालो यावज्जीव चेति ।

परिग्रहनिवृत्तेरवचनमिति चेत्; न; तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात् ।६। स्यादेतत्–महाव्रतोपदेशकाले परिग्रहनिवृत्तिरुक्ता, तत पुनरिद वचनमनर्थकमिति; तन्न, किं कारणम् ? तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात् ।

धर्माभ्यन्तरे भावादिति चेत्; न; प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितन्त्रत्वात् ।७। स्यादेतत्–दशविधधर्मेऽन्तरीभूतस्त्याग इति पुनरिद वचनमनर्थकमिति, तन्न; कि कारणम् ? प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितन्त्रत्वात् तस्य ।

प्रायश्चित्ताभ्यन्तरत्वादिति चेत्; न; तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात् ।८। अथमतमेतत्–

क्रोधादि भावो की निवृत्ति अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा आदि अभ्यन्तर दोषो की निवृत्ति अर्थात् अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना, अभ्यन्तर उपधि का त्याग कहलाता है वा **अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग** है ॥ ४ ॥

काय (शरीर) के ममत्व का त्याग करना अभ्यन्तर उपधि का त्याग है। काय के ममत्व का त्याग दो प्रकार का है—नियतकाल और यावज्जीवन। घडी, घटा आदि नियतकाल तक सामायिक आदि के समय शरीर के ममत्व का त्याग करना, कायोत्सर्ग करना **नियतकाल** है और समाधि आदि के समय जीवन पर्यन्त शरीर के ममत्व का त्याग करना **यावज्जीव** त्याग है ॥ ५ ॥

प्रश्न—महाव्रतो के उपदेशकाल मे परिग्रहत्याग का वर्णन किया है, पुन. व्युत्सर्ग नाम तप मे परिग्रह का त्याग कहना या व्युत्सर्ग तप का वर्णन करना निरर्थक है ? **उत्तर**— व्युत्सर्ग का वर्णन निरर्थक नही है क्योकि परिग्रहत्याग मे सोना, चादी, वस्त्र आदि विपयक परिग्रह का त्याग है ॥ ६ ॥

प्रश्न—दस धर्मों मे त्यागधर्म का वर्णन है। उसमें व्युत्सर्ग का अन्तर्भाव हो जाता है अतः व्युत्सर्ग का विधान निरर्थक है ? **उत्तर**—दसविध धर्म में कथित त्यागधर्म मे व्युत्सर्ग का अन्तर्भाव नही हो सकता, क्योकि त्यागधर्म मे प्रासुक निर्दोष आहार, औषधि आदि का अमुक समय तक त्याग किया जाता है। अत व्युत्सर्ग तप इनसे पृथक् है ॥ ७ ॥

प्रायश्चित्त के भेदों मे व्युत्सर्ग का वर्णन किया है। पुनः व्युत्सर्ग तप का वर्णन निरर्थक

प्रायश्चित्ताभ्यन्तरो व्युत्सर्गस्तत पुनस्तस्य वचनमनर्थकमिति, तन्न; कि कारणम् ? तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात्, तस्य हि व्युत्सर्गस्यातिचार प्रतिद्वन्द्वी विद्यते, अय पुनरनपेक्षः क्रियते इत्यस्ति विशेषः ।

अनेकत्रावचनमनेनैव गतत्वादिति चेत्; न; शक्त्यपेक्षत्वात् । ९ । अनेकत्र वचनमनर्थकम्, इदमेवास्तु पर्याप्तमिति; तन्न, कि कारणम् ? शक्त्यपेक्षत्वात् । क्वचित् सावद्य प्रत्याख्यायते क्वचित् [निरवद्यम्] निरवद्यमपि नियतकाल क्वचिदनियतकाल पुरुषशक्त्यपेक्षत्वान्निवृत्तिधर्मस्य, उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षादुत्साहोत्पादनार्थत्वाच्च न पौनरुक्त्यम् । किमर्थ पुनर्व्युत्सर्गः ?

निःसङ्गनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः । १० । निःसङ्गत्व निर्भयत्व जीविताशाव्युदासः दोषोच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थो व्युत्सर्गोऽभिधीयते द्विविध· ।

आह–अभ्यन्तरतपः षोढा प्रतिज्ञाय प्राग्ध्यानादिति यत्सन्न्यस्त तपो ध्यानाभिधान तदनाविष्कृतार्थं प्राप्तविचारकालमिति, अत्रोच्यते–

है ? उत्तर—प्रायश्चित्तो मे गिनाया गया व्युत्सर्ग अतिचार होने पर उसकी शुद्धि के लिये किया जाता है अत. प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग प्रतिद्वन्द्वी है और व्युत्सर्ग तप स्वय निरपेक्ष भावो से किया जाता है, इसलिये प्रायश्चित्त के भेद व्युत्सर्ग और स्वतन्त्र व्युत्सर्ग तप इन दोनो मे भेद है अर्थात् प्रायश्चित्त तप से तो लगे हुए दोपो का निराकरण होता है और व्युत्सर्ग तप से निर्जरा और सवर होता है ॥ ८ ॥

प्रश्न—व्युत्सर्ग का अनेक स्थलो मे वर्णन करना निरर्थक है ? यहाँ एक स्थल मे ग्रहण करना पर्याप्त है ? उत्तर—यहाँ उसका वर्णन होने से अन्य अनेक जगह उसका ग्रहण निरर्थक है, यह आशका नही करनी चाहिये, क्योकि विभिन्न शक्ति आदि की अपेक्षा इसके विभिन्न प्रयोजन हैं । कही सावद्य का प्रत्याख्यान होता है और कही निरवद्य भी पदार्थ अमुक काल के लिये या अनियत काल के लिये छोडे जाते है । तात्पर्य यह है कि निवृत्तिधर्म (त्याग) पुरुष (आत्मा) की शक्ति के अनुसार ही होता है अतः उत्तरोत्तर गुणो मे प्रकृष्ट उत्साह उत्पादन करने के लिये व्युत्सर्ग का अनेक स्थलो मे ग्रहण करना सार्थक है, पुनरुक्त दोप नही है ॥ ९ ॥

प्रश्न—व्युत्सर्ग का वर्णन किसलिये किया जाता है ?

उत्तर—निसङ्गत्व, निर्भयत्व जीविताशा (जीवन की तृष्णा) का त्याग, दोषा का उच्छेद और मोक्षमार्ग की भावना मे तत्परता आदि के लिये दो प्रकार के व्युत्सर्ग का वर्णन किया जाता है । अतः दोनों प्रकार के व्युत्सर्ग अवश्य करने चाहिये ॥ १० ॥

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात् ॥ २७ ॥

आद्यं संहननत्रयमुत्तमम् । १ । वज्रवृषभनाराचसहनन वज्रनाराचसहननं नाराच-सहननमित्येतत्त्रितय संहननमुत्तमम् । कुतः ? ध्यानादिवृत्तिविशेषहेतुत्वात् । तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव । ध्यानस्य त्रितयमपि । उत्तम सहनन यस्य स उत्तम-सहनन तस्य उत्तमसंहननस्य ।

एकशब्दः संख्यापदम् । २ । अन्यासहायाद्यानेकार्थसभवे एकशब्दोऽत्र सख्यावाची गृह्यते ।

अङ्ग्यते तदङ्गमिति तस्मिन्निति वाग्रं मुखम् । ३ । अङ्गेर्गत्यर्थस्य कर्मण्य-धिकरणे वा उणादौ रग्निपातित "वज्रेन्द्राग्र[1]" इति [ ] अत्र अग्र मुखमित्यर्थ. ।

अभ्यन्तर तप छह प्रकार का कहा है । उसमे ध्यान के पूर्व के पाँच प्रकार के तपो का वर्णन कर दिया । अब ध्यान का वर्णन है अत ध्यान के लक्षण, भेद आदि का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते है—

चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकर एक ही अर्थ में लगाने को ध्यान कहते है, यह ध्यान उत्तम संहनन वाले के अन्तर्मुहूर्त्त तक हो सकता है ॥ २७ ॥

आदि के तीन संहनन उत्तम कहलाते हैं, अर्थात् वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच और नाराच, ये तीन सहनन उत्तम कहलाते है । इन तीनो सहननो को उत्तम क्यो कहते है ? ध्यानादि का विशेष कारण होने से इनको उत्तम कहते हैं । इनमे मोक्ष का कारण तो एक आदि का वज्रवृषभ नाराच सहनन ही होता है, परन्तु ध्यान के कारण तो आदि के तीनो सहनन होते है । उत्तम सहनन जिसके है वह उत्तम सहनन है, उत्तम सहनन वाले के ध्यान अन्तर्मुहूर्त्त तक होता है ॥ १ ॥

एक शब्द सख्यापद है अन्य असहाय आदि । एक शब्द के अनेकार्थ होते हुए भी यहाँ पर सख्यावाची अर्थ ग्रहण करना चाहिये ॥ २ ॥

अङ्ग धातु गति अर्थ मे है, उस अङ्ग धातु का कर्मणि और अधिकरण में वा उणादि प्रकरण मे 'रग्' निपात होता है । व्याकरण मे 'वज्रेन्द्राग्र' इस सूत्र से अग का अग्र आदेश होता है । अत अग्र मुख्य वा लक्ष्य यह एकार्थवाची है ॥ ३ ॥

---

१ पूर्वप्रयोग दर्शयति –अ. टि. ।

चिन्ता अन्तःकरणवृत्तिः । ४ । अन्त.करणस्य वृत्तिरर्थेषु चिन्तेत्युच्यते ।

अनियतक्रियार्थस्य नियतक्रियाकर्तृत्वेनावस्थानं निरोधः । ५ । गमनभोजनशयनाध्ययनादिषु क्रियाविशेषेषु अनियमेन वर्तमानस्य एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वेनावस्थानं निरोध इत्यवगम्यते। एकमग्रं मुख यस्य सोऽयमेकाग्रः, चिन्ताया निरोध· चिन्तानिरोध., एकाग्रे चिन्तानिरोध एकाग्रचिन्तानिरोधः । कुत· पुनरसौ[1] एकाग्रत्वेन चिन्तानिरोधः ?

वीर्यविशेषात् प्रदीपशिखावत् । ६ । यथा प्रदीपशिखा निराबाधे प्रज्वलिता न परिस्पन्दते तथा निराकुले देशे वीर्यविशेषादवरुध्यमाना चिन्ता विना व्याक्षेपेण एकाग्रेणावतिष्ठते ।

अर्थपर्यायवाची वा अग्रशब्दः । ७ । अथवा अङ्ग्यते इत्यग्रः अर्थ इत्यर्थः, एकमग्र एकाग्रम्, [2]एकाग्रे चिन्ताया निरोधः एकाग्रचिन्तानिरोध. । [3]योगविभागान्मयूरव्यंसकादित्वाद्वा वृत्ति. । एकस्मिन् द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वाऽर्थे चिन्तानियम इत्यर्थ. ।

चिन्ता—अन्त.करण का व्यापार है । अर्थात् पदार्थो मे अन्त करण की वृत्ति-व्यापार को चिता कहते हैं ।। ४ ।।

अनियत क्रियार्थ का नियतक्रिया अकर्तृत्व से अवस्थान होना निरोध है । गमन, भोजन, शयन और अध्ययन आदि विविध क्रियाओ मे अनियम रूप से भटकने वाली चित्तवृत्ति को एक क्रिया मे रोक देना निरोध है, ऐसा जाना जाता है । एक 'अग्र' मुख जिसके है वह एकाग्र है, उस एक अग्र मे चिता का निरोध एकाग्रचितानिरोध है । प्रश्न—यह एकाग्रत्व से चिता निरोध कैसे होता है ? ।। ५ ।।

दीपक की शिखा के समान वीर्यविशेप के सामर्थ्य से चित्तवृत्ति का एक स्थान मे निरोध हो जाता है । जैसे—निराबाध (वायुरहित) प्रदेश मे प्रज्वलित दीपशिखा परिस्पन्दन नही करती है, स्थिर रहती है, उसी प्रकार निराकुल स्थान मे (एकलक्ष्य मे) शक्तिविशेप से अवरुध्यमान (रोकी गई) चित्तवृत्ति विना व्याक्षेप के एकाग्रता से स्थिर रहती है*, अन्यत्र नही भटकती ।। ६ ।।

अथवा, 'अग्र' शब्द अर्थ पर्यायवाची है । अङ्ग्यते इति अग्रः, अग धातु गमन अर्थ मे है, अतः जो गुण और पर्यायो को 'अङ्ग्यते' प्राप्त होता है वह अग्र-अर्थ है । 'एक अग्र' एक द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु या अन्य किसी अर्थ मे चिन्ता को (चित्तवृत्ति को) नियमित करना, केन्द्रित करना, स्थिर करना, एकाग्रचिन्तानिरोध है । इसमे योगविभाग से मयूर व्यसकादित्व

---

१. निरोध –अ. टि । २. एकाग्रे इत्यत्र चाधारसप्तमी आधाराधेयत्वयोगात् न तु निमित्तसप्तमी कर्माभावात् । एवमादि सप्तम्याप्रतीतो त्वमेकाग्रे । ३. स्वमतसूत्रपाठे सप्तमी शौण्डादिभिः इत्यत्र द्रष्टव्यम् –अ. टि । * एक-एक (मुख) अग्र=पदार्थ इसमे मयूर व्यंसक समास मे एक-एक का लोप हो जाता है।

ध्यानशब्दो भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशात् । ८ । अयं ध्यानशब्द भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशाद्वेदितव्य । तत्र ध्येय प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रेणाभिधाने ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनो ध्यानशब्दः, ध्यायतीति ध्यानमिति बहुलापेक्षया कर्तृसाधनश्च युज्यते। करणप्रशंसापरायामभिधानप्रवृत्तौ समीक्षितायां यथा साध्वसिश्छिनत्तीति प्रयोक्तृनिर्वर्त्ययो सतोरप्युद्यमननिपातनयोरविशेषतन्त्रत्वाच्छेदनस्य कर्तृ धर्माध्यारोपः क्रियते तथा दिध्यासोरप्यात्मन. ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषतन्त्रत्वात् ध्यानपरिणामस्य युज्यते कर्तृत्वम् । करणत्वमपि चास्य पर्यायपर्यायिणोर्भेदपरिकल्पनासद्भावात् युज्यते अग्नेर्दाहपाकस्वेदादिक्रियाप्रवृत्तस्यात्मभूतौष्ण्यकरणपरिकल्पनवत् ।

एकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तम् । ९ । अर्थान्तरभावोऽनर्थान्तरभाव एवेत्येकान्तकल्पनाया दोषविधानमुक्तम् । क्व ? आदिसूत्रे ।

से समास होता है, एक-एक लोप होता है, अत. एक मुख्य पदार्थ मे चिन्तानिरोध होता है, वह ध्यान है ।। ७ ।।

विवक्षा के कारण ध्यान शब्द कर्तृ, करण और भावसाधन है । यह ध्यान शब्द विवक्षा के वश कर्तृ, करण और भावसाधन है । उसमे ध्येय के प्रति अव्यापृत उदासीन भाव मात्र की विवक्षा होने पर 'ध्यातिः ध्यानम्' इस प्रकार ध्यान शब्द भावसाधन हो जाता है । 'ध्यायतीति ध्यानम्' ऐसा कर्तृसाधन भी बहुल की अपेक्षा होता है, कारण की विशेष प्रशसा करने के लिये अभिधान प्रवृत्ति की समीक्षा मे जैसे 'तलवार अच्छी तरह से छेदती है' यहाँ उद्यमन (कर्त्ता का) निपातन रूप कर्त्ता करण इन दोनों मे अविशेषता होने से (अर्थात् कर्त्ता प्रयोक्ता है और करण प्रयोक्ता का साधन है, दोनो मे समानता होने से) छेदनक्रिया के करने वाले कर्त्ता के धर्म का करण मे अध्यारोप किया जाता है, जैसे छेदने वाले पुरुष कर्त्ता के धर्म का 'तलवार अच्छा छेदती है, तलवार करण मे कर्त्ता के धर्म का अध्यारोप किया जाता है' उसी प्रकार ध्यान करने वाले आत्मा का ध्यान परिणाम ज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के आधीन है, अत उसी ध्यान परिणाम को कर्त्ता कह दिया जाता है । अर्थात् ध्यान, पर्याय और पर्यायी (आत्मा) मे भेद-विवक्षा न करने से ध्यान कर्तृसाधन हो जाता है । जब पर्याय (ध्यान) और पर्यायी (आत्मा) मे भेदविवक्षा से वर्णन किया जाता है तो ध्यान शब्द करणसाधन हो जाता है । जैसे—दाह, पाक, स्वेदन आदि क्रिया मे प्रवृत्त अग्नि की आत्मभूत औष्ण्य पर्याय मे ही करण की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार आत्मा की ही पर्याय करण कहलाती है । अग्नि उष्णता के द्वारा जलाती है, वैसे ही आत्मा के द्वारा ध्याया जाता है, वह ध्यान है (करणसाधन); आत्मा ध्याती है वह ध्यान है, कर्तृसाधन है । 'ध्याति' मात्र ध्यान है, भावसाधन है ।। ८ ।।

ध्यान आत्मा से भिन्न ही है वा अभिन्न ही है, इस प्रकार एकान्तवाद की कल्पना मे दोष का विधान कहा है, अनेकान्तवाद मे नही; अर्थात् गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी मे भिन्नाभिन्नता की व्यवस्था अनेकान्तवाद मे ही बन सकती है, एकान्तवाद मे नही । एकान्त पक्ष के अनेक दोष प्रथम

प्रतीतपरिमाणो मुहूर्त्तः । १० । मुहूर्त्त इति कालविशेषवाचिशब्दः, तस्य परिमाणं प्राग्विहितम् ।

उत्तमसंहननाभिधानम् अन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणाऽसामर्थ्यात् । ११ । अन्यत्संहननमेतावन्त कालं चिन्तानिरोधधारणे साधनभावं प्रत्यसमर्थमिति उत्तमसंहनन-ग्रहणं क्रियते ।

एकाग्रवचनं वैयग्र्यनिवृत्त्यर्थम् । १२ । एकाग्रवचनं क्रियते वैयग्र्यनिवृत्त्यर्थम् । व्यग्रं हि ज्ञानमेव न ध्यानमिति ।

चिन्तानिरोधग्रहणं तत्स्वाभाव्यप्रदर्शनार्थम् । १३ । यथा पृथिव्याः कस्मिंश्चित् परिणामविशेषे घटशब्दो वर्तते एवं चिन्तायाः ज्ञानात्मिकायाः वृत्तिविशेषे ध्यानशब्दो वर्त्तते इति प्रदर्शनार्थं चिन्तानिरोध इति विशेष्यते ।

अध्याय मे कहे जा चुके है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र शब्द को कर्तृ, करण और भावसाधन सिद्ध करते समय ।। ९ ।।

मुहूर्त्त का परिमाण ४८ मिनट है। मुहूर्त्त कालविशेषवाची है, उसका परिमाण ४८ मिनट पूर्व मे कह दिया गया है ।। १० ।।

इसमे उत्तम सहनन का कथन, अन्य सहनन से इतने काल तक स्थिर रहने की असमर्थता प्रगट करने के लिये है। अर्थात् उत्तम सहनन वाला जीव ही इतने समय (अन्तर्मुहूर्त्त) तक एक पदार्थ मे चित्तवृत्ति का निरोध कर सकता है, अन्य सहनन वाले नही। इस बात की सूचना करने के लिये सूत्र मे उत्तम सहनन शब्द का प्रयोग किया है ।। ११ ।।

'एकाग्र' शब्द व्यग्रता-चंचलता की निवृत्ति के लिये है, क्योकि ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र, अतः ध्यान की एकाग्रता को प्रकट करने के लिये एकाग्र शब्द दिया गया है ।। १२ ।।

'चिन्तानिरोध' शब्द का ग्रहण ध्यान के स्वाभाव्य का द्योतन करने के लिये है। जैसे— पृथिवी की किसी पर्यायविशेष मे घट शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् कही घट को पृथ्वी (पार्थिव्य) कह देते हैं, क्योकि घट पृथ्वी की पर्याय है, उसी प्रकार ज्ञानात्मकचिन्ता की पर्यायविशेष में ध्यान शब्द का प्रयोग होता है, इस बात की सूचना करने के लिये 'चिन्तानिरोध' ध्यान का विशेषण किया गया है। चिन्ता ज्ञान की पर्याय है। उस ज्ञान की व्यग्रता हट जाना ही ध्यान है ।। १३ ।।

ध्यानमित्यधिकृतस्वरूपनिर्देशार्थम् । १४ । यत्तदधिकृतमुत्तम (र) तप, तत्स्वरूपनिर्देशार्थं ध्यानवचनं क्रियते ।

मुहूर्त्तवचना[१]दाहारादिव्यावृत्तिः । १५ । आहारादिकालान्तरव्यावृत्त्यर्थं मुहूर्त्तवचन क्रियते । अत परं दुर्धरत्वात् ।

अभावो निरोध इति चेत्; न; केनचित् पर्यायेणेष्टत्वात् । १६ । स्यान्मतम्—अभावो निरोध इत्यनर्थान्तरम्, स चेत् ध्यानशब्दार्थः खरविषाणवत् ध्यानमसत्प्रसजतीति; तन्न, कि कारणम् ? केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात् । अन्यचिन्ताऽभावापेक्षायामसदेव ध्यानम्, विवक्षितार्थविषयावगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति चोच्यते ।

अभावस्य च वस्तुत्वाद्धेत्वङ्गत्वादिति । १७ । अभावोऽप्यय वस्तुधर्मः । कुत ? हेत्वङ्गत्वादिभि.,[२] ततश्चोपालम्भाभावः ।

एकार्थवचनं विस्पष्टत्वादिति चेत्; न; अनिष्टप्रसङ्गात् । १८ । स्यान्मतम्—

यहाँ अधिकृत जो अतरंग तप है, उसके स्वरूप का निर्देश करने के लिये सूत्र मे ध्यान शब्द का उल्लेख किया है ।। १४ ।।

मुहूर्त्तवचन आहारादि की व्यावृत्ति के लिये है। आहारादि का समय आ जाने पर चित्तवृत्ति ध्यान से च्युत हो जाती है अत. उस आहारादि काल की निवृत्ति के लिए मुहूर्त्त शब्द कहा गया है। अथवा, ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त है। इसके बाद एक ही ध्यान लगातार नही रह सकता ।। १५ ।।

प्रश्न—अभाव और निरोध एकार्थवाची है अत. ध्यान के शब्दार्थ मे गधे के सीग के समान ध्यान के अभाव का प्रसग आएगा ? **उत्तर**—चिन्तानिरोध तुच्छ अभाव (सर्वथाभाव) रूप नही है किन्तु किसी पर्याय की अपेक्षा भावान्तर रूप इष्ट है। अन्य चिन्ताओ के अभाव की अपेक्षा ध्यान असत् होकर भी विवक्षित लक्ष्य के सद्भाव की अपेक्षा सत् स्वरूप है। अर्थात् विवक्षित अर्थ के विषय अवगम स्वभाव की सामर्थ्य की अपेक्षा ध्यान अस्ति रूप है ।। १६ ।।

अथवा, अभाव भी वस्तु है, क्योकि वह विपक्ष भावरूप वस्तु का अग है, अर्थात् अभाव से ही सद्भाव की सिद्धि होती है। अत निरोध को अभाव मानकर ध्यान के अभाव का उलहना देने का अभाव है ।। १७ ।।

प्रश्न—अर्थ को स्पष्ट करने के लिये 'एकार्थचिन्तानिरोध' पद देना चाहिये ? **उत्तर**—

---

१ –दिविनिवृ–मु. द व । दिनपर्यन्तमित्यर्थ स. । २ विपक्षाद् व्यावृत्तिलक्षण –अ टि. ।

एकार्थचिन्तानिरोध इत्यस्तु विस्पष्टत्वादिति, तन्न, किं कारणम् ? अनिष्टप्रसङ्गात् । किमनिष्टम् ? **"वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः"** [९।४४] इति वक्ष्यते, तेनार्थसंक्रमः इष्यते—द्रव्यात्पर्याये पर्यायाच्च द्रव्ये । यद्येकार्थे निरोध इह गृह्येत, तद्विरोधः स्यात् ।

एकाग्रवचनेऽपि तुल्यमिति चेत्; न; आभिमुख्ये सति पौनःपुन्येनापि[1] प्रवृत्ति-ज्ञापनार्थत्वात् । १९ । अथ मतमेतत्—एकाग्रवचनेऽपि तस्यानिष्टस्य प्रसङ्गः तुल्य इति, तन्न, किं कारणम् ? आभिमुख्ये सति पौनः पुन्येनापि प्रवृत्तिज्ञापनार्थत्वात् । अग्रं मुखमिति ह्युच्यमानेऽनेकमुखत्वं निर्वर्तितं एकमुखे[2] तु संक्रमोऽभ्युपगत एवेति नानिष्टप्राप्तिः ।

प्राधान्यवाचिनो वैकशब्दस्य ग्रहणम् । २० । अथवा, प्राधान्यवचने एकशब्दः इह गृह्यते, प्रधानस्य पुंसः[3] आभिमुख्येन चितानिरोध इत्यर्थः, अस्मिन्पक्षेऽर्थो गृहीतः ।

स्पष्टता के लिये 'एकार्थचिन्तानिरोध' पद देने मे अनिष्ट का प्रसङ्ग आता है । **प्रश्न**—अनिष्टता क्या है ? **उत्तर**—इसी अध्याय के चवालीसवें **'वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः'** इस सूत्र मे द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य मे संक्रम का विधान किया गया है । अतः यदि एकार्थनिरोध कहेगे तो इस सूत्र के साथ विरोध आयेगा । क्योकि ध्यान मे अर्थ सक्रमण स्वीकार किया है ।। १८ ।।

प्रश्न—'एकाग्र' पद देने मे भी यह दोष आता है, अनिष्ट का प्रसंग आता है, क्योकि एकाग्र और एकार्थ तो तुल्य (समान) है । **उत्तर**—एकाग्र पद देने मे अनिष्ट का प्रसग नही आता (ध्यान मे अर्थसक्रमण का अभाव नही होता है, एकाग्र पद देने से) क्योकि अग्र का अर्थ मुख होता है, अतः ध्यान अनेकमुखी न होकर एकमुखी रहता है और एक मुख मे सक्रमण स्वीकार किया गया है । अर्थात् उस एक मुख मे द्रव्यपर्यायो की अपेक्षा सक्रमण होता रहता है । आभिमुख्य होने पर पुनः-पुनः प्रवृत्ति को बताने के लिये एकाग्र पद दिया गया है, अतः इससे अनिष्ट का प्रसग नही आता ।। १९ ।।

अथवा, यहाँ प्राधान्यवाची एक शब्द का ग्रहण है । अग्र शब्द प्राधान्यवाची है, अर्थात् प्रधान आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता का निरोध करना, इस पक्ष मे यह अर्थ गृहीत है ।। २० ।।

---

१. -पिवृत्तिविज्ञानार्थत्वात् मु. ज. द ब. । -पि वृत्तिज्ञा-श्र भा. १ । २. द्रव्यपर्यायादीनामन्यतमे-श्र टि । ३. आत्मन -श्र. टि. ।

[1]**अङ्गतीत्यग्रमात्मेति वा । २१ ।** अथवा, अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थ । द्रव्यार्थतयै-कस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्, तत स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निर्वर्तिता भवति ।

दिवसमासाद्यवस्थानमुपयुक्तस्येति चेत्; न; इन्द्रियोपघातप्रसङ्गात् । २२ । स्यादेतत्–ध्यानोपयोगेन दिवसमासाद्यव[2]स्थान नान्तर्मुहूर्तादिति, तन्न, किं कारणम् ? इन्द्रियोपघातप्रसङ्गात्[3] ।

प्राणापाननिग्रहो[4] ध्यानमिति चेत्; न; शरीरपातप्रसङ्गात् । २३ । स्यादेतत्–प्राणापानकर्मणो निग्रहो ध्यानमिति, तन्न, किं कारणम् ? शरीरपातप्रसङ्गात् । प्राणापाननिग्रहे सति तदुद्भूतवेदनाप्रकर्षात् आश्वेव शरीरस्य पात. प्रसज्येत । तस्मान्मन्दमन्दप्राणापानप्रचारस्य ध्यानं युज्यते ।

मात्राकालपरिगणनमिति चेत्; न; ध्यानातिक्रमात् । २४ । स्यान्मतम्–

अङ्गति-जानाति, जो जानता है वह 'अग्र' आत्मा है । इस व्युत्पत्ति मे द्रव्य रूप से एक आत्मा मे चिन्ता का निरोध करना ध्यान है । अर्थात् आत्मा को लक्ष्य बनाना स्वीकृत ही है । ध्यान मे स्ववृत्तित्व होता है, इसमे प्राधान्य की अपेक्षा से बाह्य ध्येय निर्वर्तित हो जाता है ।। २१ ।।

प्रश्न—ध्यान के उपयोग से दिन या महीना भर भी अवस्थान रह सकता है अत. ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त है, यह कथन नही बन सकता । उत्तर—एक दिन या महीना भर तक जो ध्यान की बात सुनी जाती है, वह ठीक नही है, क्योकि इतने समय तक एक ही ध्यान रहने से इन्द्रियो का उपघात ही हो जाएगा वा इन्द्रियो के उपघात का प्रसङ्ग आयेगा ।। २२ ।।

प्रश्न—प्राणापान का निग्रह ध्यान है ? उत्तर—श्वासोच्छ्वास के निग्रह को ध्यान नही कहते, क्योकि श्वासोच्छ्वास का निरोध करने पर उससे उत्पन्न वेदना के प्रकर्ष से शाघ्र ही शरीर के पात होने का प्रसङ्ग आएगा । अतः ध्यानावस्था मे श्वासोच्छ्वास का प्रचार स्वाभाविक होना ही उचित है । अर्थात् ध्यान मे श्वासोच्छ्वास का निरोध नही होता, श्वासोच्छ्वास मन्द-मन्द होता है ।। २३ ।।

ध्यान का अतिक्रम होने से काल की परिगणना मात्र ध्यान नही है । अर्थात् काल की गणना करना दो घण्टा, तीन घण्टा आदि यह भी ध्यान नही है । क्योकि मात्रा के द्वारा यदि

---

१ जानाति -अ. टि । २ लोके दृश्यते -अ टि । ३ यदि मासादिपर्यन्तमिन्द्रियोपरोध· स्यात् तर्हि विषयव्यापृति (त्य) भावात् इन्द्रियाणामप्यभाव अ टि ।. ४ –नविनि–मु. द ब ज ।

मात्राकालपरिगणनं ध्यानमिति; तन्न; किं कारणम् ? [1]ध्यानातिक्रमात् । मात्राभिर्यदि कालगणन क्रियेत ध्यानमेव न स्याद्वैयग्र्यात् ।

विध्युपायनिर्देशः कर्तव्य इति चेत्; न; गुप्त्यादिप्रकरणस्य तादर्थ्यात् । २५ । स्यान्मतम्–एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्येतद्युक्तं किन्तु तदुत्पत्तये विध्युपायनिर्देशः कर्तव्यः–अनेन विधिना अनेनोपायेन ध्यानं भवतीति, तन्न; कि कारणम् ? गुप्त्यादि-प्रकरणस्य तादर्थ्यात् । ध्यानविधानभावनार्थमेव हि गुप्त्यादिप्रकरण प्रक्रान्तम् ।

संवरार्थं तदिति चेत्; न; प्रागुपदेशस्योभयार्थत्वात् । २६ । स्यान्मतम्–संवर-प्रतिपत्त्यर्थं तद्गुप्त्यादि प्रकरणमुक्तं न ध्यानोपायप्रतिपत्त्यर्थम्, न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रागुपदेशस्योभयार्थत्वात् । अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति, तद्यथा–शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते, [2]उपस्पृश्यते च शालयश्च भाव्यन्ते ।

सकलध्यानधर्मासंग्रह इति चेत्; न; ध्यानप्राभृते प्रणीतत्वात् । २७ । स्यान्मतम्–सकलो ध्यानधर्मो नास्मिन्सूत्रे संगृहीत इत्यपरिपूर्णं लक्षणमिति; तन्न; किं

कालगणना की जायेगी तो ध्यान ही नही हो सकता, क्योकि गणना तो व्यग्र रूप है और ध्यान एकाग्र रूप है । गिनती करने मे व्यग्रता स्पष्ट ही है ।। २४ ।।

प्रश्न—एकाग्रचिन्तानिरोध ध्यान कहा है, परन्तु उस ध्यान की उत्पत्ति के लिए विधि और उपाय का भी निर्देश करना चाहिये कि इस विधि और इस उपाय से ध्यान होता है ? उत्तर—ध्यान की सिद्धि तथा विधि-विधान को बताने के लिये गुप्ति, समिति आदि का प्रकरण है, क्योकि ध्यान के विधान वा ध्यान की भावना के लिये ही गुप्ति, समिति आदि का वर्णन किया गया है ।। २५ ।।

प्रश्न—गुप्ति आदि का प्रकरण तो सवर के लिये कहा गया है, ध्यान की प्राप्ति और ध्यान के उपायो की प्रतिपत्ति के लिये नही है तथा अन्य के (दूसरे के) लिये किया गया विधान अन्य के लिये नही हो सकता, अतः सवर के लिये कहा गया प्रकरण ध्यान के लिये नही हो सकता । उत्तर—अन्य के लिये किया गया विधान अन्य के लिये भी होता है, जैसे–धान्य सीचने के लिये वनाई गई पानी की नहर से धान्य भी सीचा जाता है, पानी भी पीया जाता है और आचमन भी किया जाता है, उसी प्रकार प्राक् (पूर्व) कथित गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षादि भी उभयार्थ है । अर्थात् गुप्ति आदि सवर के लिये भी है और ध्यान की भूमिका बनाने के लिये भी है ।। २६ ।।

प्रश्न—सर्व ध्यानो के धर्मो (भेदों वा लक्षणो) का सग्रह इस सूत्र मे नही है अतः यह ध्यान

---

१. –नानित-मु द. ब. । २. उपस्पर्शस्तु आचमनम् -अ टि. ।

कारणम् ? ध्यानप्राभृते प्रणीतत्वात् । तत्र हि ध्यानलक्षण सकल प्राधान्येनोक्तम्, इह त्वानुषङ्गिकमिति ।

तस्य ध्यानस्य सामान्येनोक्तस्य विकल्पप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

ऋतमर्दनमार्त्तिर्वा तत्र भवमार्त्तम् । १ । ऋत दुःखम्, अथवा अर्दनमार्त्तिर्वा, तत्र भवमार्त्तम् ।

रुद्रः क्रूरस्तत्कर्म रौद्रम् । २ । रोदयतीति रुद्रः क्रूर इत्यर्थ, तस्येद कर्म तत्र भव वा रौद्रमित्युच्यते ।

धर्मादनपेतं धर्म्यम् । ३ । धर्मो वर्णित, ततोऽनपेत ध्यान धर्म्यमित्याख्यायते ।

शुचिगुणयोगाच्छुक्लम् । ४ । यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्ल वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्मपरिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते ।

तदेतच्चतुर्विधं ध्यान द्वैविध्यमश्नुते । कुत ? प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदात् । अप्रशस्तम्

का लक्षण परिपूर्ण नही है ? **उत्तर**—'ध्यानप्राभृत' आदि ग्रन्थो मे ध्यान के सर्व लक्षणो का वर्णन प्रधानता से किया गया है, यहाँ तो केवल उसका लक्षण ही किया है ॥ २७ ॥

सामान्य से कथित उस ध्यान के विकल्पो का कथन करने के लिये सूत्र कहते है—

ध्यान के चार भेद हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ॥ २८ ॥

ऋत, दु ख और अर्दन को आर्त्ति कहते है और आर्त्ति से होने वाला ध्यान आर्त्तध्यान है ॥ १ ॥

रुलाने वाले को रुद्र या क्रूर कहते हैं, उस रुद्र का कर्म या भाव रौद्रध्यान कहलाता है ॥ २ ॥

धर्म से युक्त ध्यान धर्म्यध्यान कहलाता है ॥ ३ ॥

शुचि गुण के योग से शुक्ल होता है । जैसे—मैल हट जाने से शुचि गुण के योग से वस्त्र शुक्ल कहलाता है, अर्थात् वस्त्र शुचि होकर शुक्ल (श्वेत वर्ण उज्ज्वल) हो जाता है, उसी प्रकार गुणो के साधर्म्य से निर्मल गुण रूप आत्मपरिणति भी शुक्ल कहलाती है ॥ ४ ॥

ये चारो प्रकार के ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार के हैं—पाप के कारण-

अपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात् प्रशस्तम्। किं पुनस्तदिति चेत्? उच्यते–

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

एकस्यैव परत्वमिति चेत्; न; व्यवहितेऽपि परशब्दप्रयोगात्। १। स्यान्मतम्–एकस्यैव परत्वमुपपद्यते न द्वयोरिति, तन्न; किं कारणम्? व्यवहितेऽपि परशब्दप्रयोगात्, तद्यथा परा मथुरा पाटलिपुत्रादिति।

द्विवचननिर्देशाद्वा गौणस्यापि संप्रत्ययः। २। अथवा, परमन्त्य तत्समीपवर्त्यपि परमित्युपचर्यते, द्विवचननिर्देशात्तस्यापि ग्रहणं भवति।

परयोर्मोक्षहेतुत्वात्, पूर्वयोः संसारहेतुत्वप्रसिद्धिः। ३। 'परे मोक्षहेतू' इति वचनात् परिशेषात् 'पूर्वे ससारहेतू' इति विज्ञायते, तृतीयस्य साध्यस्याभावात्।

आह–किमेषां लक्षणमिति। तत्रानेकस्य वक्तव्यसंभवे वाचः क्रमवृत्तेराद्यस्य लक्षणप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते–

भूत ध्यान अप्रशस्त है और कर्म को दहन करने के सामर्थ्य से युक्त ध्यान प्रशस्त कहलाते है, अर्थात् जिससे कर्मो का नाश होता है, वह प्रशस्त ध्यान है। आदि के दो ध्यान (आर्त्त, रौद्र) अप्रशस्त है और धर्म्य और शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान किसके कारण है?—

धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं ॥ २९ ॥

प्रश्न—एक के ही परत्व होता है, दो मे नही होता है। **उत्तर**—केवल एक में ही परत्व होता है ऐसा नही है, अपितु व्यवहित मे भी पर शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—मथुरा पाटलिपुत्र (पटना) से पर है, अथवा दो वचन का निर्देश होने से, अन्तिम शुक्ल और उसके समीपवर्त्ती धर्म-ध्यान का पर शब्द से ग्रहण होता है, क्योकि समीपवर्त्ती अन्त्य को भी 'पर' कहते है ॥ १–२ ॥

'परे मोक्षहेतू' धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण है, ऐसा कहने पर परिशेष न्याय से पूर्व आर्त्त, रौद्रध्यान ससार के कारण हैं, यह जाना जाता है क्योकि तीसरे साध्य का अभाव है अर्थात् संसार और मोक्ष को छोड़कर तीसरा कोई भेद या अवस्था नहीं है ॥ ३ ॥

इन ध्यानो का लक्षण क्या है? इनमे अनेक वक्तव्यो की सम्भावना होने पर क्रमवृत्ति से प्राप्त आदि (आर्त्तध्यान) के लक्षण का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अप्रियममनोज्ञं बाधा[1]कारणत्वात् । १ । यदप्रियं वस्तु विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि तद्बाधाकारणत्वादमनोज्ञमित्युच्यते ।

भृशमर्थान्तरचिन्तनादाहरणं समन्वाहारः । २ । अर्थान्तरचिन्तनादाधिक्येनाहरणमेकत्रावरोधः समन्वाहार । स्मृते· समन्वाहार· स्मृतिसमन्वाहारः । अमनोज्ञस्योपनिपाते स कथ नाम मे न स्यादिति सकल्पश्चिन्ताप्रबन्ध· आर्तमित्याख्यायते ।

आह–किमिदमनभिमतचेतनाऽचेतनद्रव्यपर्यायसम्प्रयोगहेतुकमेवार्थ निर्ध्रियते ? न; किं तर्हि ? अन्यथाप्येतत् प्रत्येतव्यमित्युच्यते–

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

प्रागुक्तनिमित्तविपर्ययाद्विपरीतम् । १ । प्रागुक्त यन्निमित्त ततो विपर्ययाद्वि-

---

अमनोज्ञ (अप्रिय) वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग के लिये निरन्तर चिन्तन करना (अनिष्टसंयोग नाम का) आर्त्तध्यान है । स्मृति को दूसरे पदार्थ की ओर न जाने देकर बार-बार उसी में लगाये रखना समन्वाहार है ॥ ३० ॥

बाधाकारी विष, कण्टक, शत्रु, शस्त्रादि अप्रिय वस्तुएँ अमनोज्ञ कहलाती है। जो विष, कण्टक, शत्रु आदि वस्तु अप्रिय है, उसे बाधा की कारण होने से अमनोज्ञ कहते है ॥ १ ॥

अर्थान्तर (दूसरे पदार्थ) की ओर मन को न जाने देकर उसे बार-बार एक ही पदार्थ मे लगाये रखना समन्वाहार है, स्मृति का समन्वाहार-स्मृति समन्वाहार है। बाधाकारी विप, कण्टक आदि अप्रिय वस्तु का सयोग मिलने पर 'ये मुझसे दूर कैसे हो' इस प्रकार का सकल्प, चिन्ता का प्रबन्ध आर्त्तध्यान कहा जाता है ॥ २ ॥

सिर्फ इन अप्रिय चेतन-अचेतन, द्रव्यपर्याय का सयोग होने पर उसके वियोग के लिये ही चिन्तन होता है, इतना ही नही अपितु इष्ट का वियोग होने पर भी आर्त्तध्यान होता है, ऐसा जानना चाहिये, अतः इससे विपरीत ध्यान का लक्षण कहते हैं—

मनोज्ञ (प्रिय) वस्तु का वियोग हो जाने पर उसके संयोग के लिये बार-बार चिन्तन करना (इष्ट वियोगज) भी आर्त्तध्यान है ॥ ३१ ॥

पूर्वकथित से विपर्यय विपरीत कहलाता है। जैसे—मनोज्ञ विपय (प्रियवस्तु, पुत्र, कलत्र,

---

१ बाधाकर –ज. अ. ।

परीतमित्यभिधीयते । तद्यथा मनोज्ञस्य विषयस्य विप्रयोगे संप्रयुयुक्षा प्रति या परिध्याति- स्मृतिसमन्वाहारशब्दचोदिता असावप्यार्तं ध्यानमिति निश्चीयते ।

यथा च प्रियसमवाये तदभावादाहितकालुष्यस्यार्तं, प्रतिज्ञायते तथा ज्वरादिसन्तापाभ्याहतमूर्ते:-

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

प्रकरणाद् दुःखवेदनासंप्रत्ययः । १ । यद्यपि वेदनाशब्दः सुखदुःखानुभवनविषयसामान्यस्तथापि आर्त्तस्य प्रकृतत्वाद् दुःखवेदनासप्रत्ययो भवति । तत्प्रतिचिकीर्षा प्रत्यागूर्णस्यानवस्थितमनसो धैर्योपरमात् स्मृतिसमन्वाहार आर्त्तध्यानमवगन्तव्यम् ।

अङ्गविक्षेपशोकाक्रन्दनाश्रुपाताभिव्यक्तं तृतीयम् । २ । यथा अनिष्टसंप्रयोगेष्टविप्रयोगाऽशुभवेदनासमवायनिबन्धनमार्त्तं तथा चेदमपि प्रीतिविशेषाभिष्वङ्गमन्थरकामातुरमतेः पौनर्भविकविषयसुखरसगृद्धस्य तत्संस्कारपरायणस्य कायादिखेदहेतुकम् ।

धनादि) का वियोग हो जाने पर उसके पुन.सयोग के लिये (पुन.प्राप्ति के लिये) जो अत्यधिक चिन्ताधारा चलती है, मन अन्य पदार्थो मे न जाकर बार-बार उसी के चिन्तन में लीन रहता है, वह भी आर्त्तध्यान है ।। १ ।।

जैसा प्रिय वस्तु के वियोग और अप्रिय वस्तु के सयोग होने पर आर्त्तध्यान होता है वैसा ज्वरादि के द्वारा शरीर के पीडित होने पर भी होता है—

शारीरिक वेदना होने पर उसकी निवृत्ति के लिये चिन्तन करना पीड़ाचिंतन आर्त्तध्यान है ।। ३२ ।।

प्रकरण से दु.ख-वेदना का वोध होता है । यद्यपि वेदना शब्द सुख-दुःख के अनुभव करने के विषय मे सामान्य है तथापि यहाँ पर आर्त्तध्यान का प्रकरण होने से दु ख से वेदना का अवबोध होता है । उस वेदना का प्रतीकार करने के लिये तत्पर रहने वाले के धैर्य खोकर निरन्तर जो वेदना दूर करने का चिन्तन है, वह भी आर्त्तध्यान है ।। १ ।।

यह वेदनाजन्य तीसरा आर्त्तध्यान अङ्गविक्षेप, शोक, आक्रन्दन और अश्रुपात से अभिव्यक्त होता है । अर्थात् दु.खवेदना के होने पर उसको दूर करने के लिये धैर्य खोकर जो अगविक्षेप, शोक, आक्रन्दन आदि से युक्त विकलता और चिन्ता होती है, वह वेदनाजन्य आर्त्तध्यान है । जैसे—अनिष्ट का संयोग, इष्ट का वियोग और अशुभ वेदना के सयोग के कारण आर्त्तध्यान होता है, उसी प्रकार प्रीतिविशेष के कारण से, तीव्र कामादि वासना से आतुर मति वाले के, पौनर्भविक विषयसुख रस की गृद्धि वाले के, सांसारिक सस्कारों मे तत्पर पुरुष के सासारिक भोगो के हेतु तपश्चरण करने से होने वाले शरीर आदि के खेदपूर्वक निदान नाम का आर्त्तध्यान होता है—

निदानं च ।। ३३ ।।

'विपरीतं मनोज्ञस्य' इत्येव सिद्धमिति[1] चेत्; न; अप्राप्तपूर्वविषयत्वान्निदानस्य । १ । स्यादेतत्–विपरीतं मनोज्ञस्येत्यनेनैव निदान संगृहीतमिति; तन्न, कि कारणम् ? अप्राप्तपूर्वविषयत्वान्निदानस्य । सुखमात्रया प्रलम्भितस्याप्राप्तपूर्वप्रार्थनाभिमुख्यादनागतार्थप्राप्तिनिबन्धनं निदानमित्यस्ति विशेष ।

तदेतच्चतुर्विधमार्त कृष्णनीलकापोतलेश्याबलाधानम् अज्ञानप्रभव पौरुषेयपरिणामसमुत्थ पापप्रयोगाधिष्ठानं परिभोगप्रसङ्ग नानासकल्पासङ्ग धर्माश्रयपरित्यागिकषायाश्रयोपस्थानम् अनुपशमप्रवर्द्धन प्रमादमूलमकुशलकर्मादान कटुकविपाकासद्वेद्य तिर्यग्भवगमनपर्यवसानम् ।

तदेतत् किं स्वामिकमिति चेत् ? उच्यते–

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।। ३४ ।।

निदान (तपादि करके सांसारिक भोगों की वाञ्छा) भी आर्त्तध्यान है ।। ३३ ।।

प्रश्न—'विपरीतं मनोज्ञस्य' इस सूत्र से निदान का सग्रह हो जाता है ? **उत्तर**—'विपरीतं मनोज्ञस्य' इस सूत्र से निदान का सग्रह नही होता, क्योकि निदान अप्राप्त की प्राप्ति के लिये होता है, इसमे पारलौकिक विषय-सुख की गृद्धि से अनागत अर्थ-प्राप्ति के लिये सतत चिन्ता चलती रहती है । इष्टवियोग में वर्त्तमानकालिक चिन्ता है, यह इन दोनो मे विशेषता है ।

ये चारो आर्त्तध्यान कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वालो के विशेष बल से होते है । ये ध्यान अज्ञानमूलक तीव्रपुरुषार्थजन्य पापप्रयोगाधिष्ठान, परिभोगप्रसङ्ग, नाना सकल्पो से आकुलित, विषयतृष्णा से परिव्याप्त, धर्माश्रय के परित्यागी, कषायस्थानो से युक्त, अशान्तिवर्द्धक, प्रमाद के कारण, अप्रशस्त कर्म के हेतु, कटु फल देने वाले, असातावेदनीय के बन्धक और तिर्यञ्चगति मे ले जाने वाले है ।। १ ।।

इस आर्त्तध्यान का स्वामी कौन है ? सो कहते है—

ये आर्त्तध्यान अविरत (प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त), देश विरत-संयता-संयत और प्रमत्त गुणस्थान से युक्त संयतों के होते हैं ।। ३४ ।।

---

१. –मिति चेदप्रा–ता ।

अविरताः असयतसम्यग्दृष्टयन्ताः, [1]देशविरताः सयतासयताः, प्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमादोपेताः क्रियानुष्ठायिनः ।

कदाचित् प्राच्यमार्त्तध्यानत्रयं प्रमत्तानाम्[2] । १ । निदानं वर्जयित्वा अन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित्प्रमत्तसयतानां भवति ।

आह–व्याख्यातमाद्यमप्रशस्तं सञ्ज्ञादिभिः, अथ द्वितीयं किंस्वभावसंज्ञाप्रभवस्वामिकमिति ? अत उच्यते–

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥

ध्यानोत्पत्तेर्हिंसादीनां निमित्तभावाद्धेतुनिर्देशः । १ । हिंसादीन्युक्तलक्षणानि, तानि रौद्रध्यानोत्पत्तेर्निमित्तीभवन्तीति हेतुनिर्देशो विज्ञायते ।

तेन स्मृतिसमन्वाहाराभिसम्बन्धः । २ । तेन हेतुनिर्देशेनानुवर्तमानः स्मृति-

---

असयत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त, अविरत सयतासयत और १५ प्रमाद सहित क्रिया का अनुष्ठान करने वाले प्रमत्तसयतो के होते हैं ।

प्रमत्तसयतो के प्रमाद के उद्रेक से निदान नामक आर्त्तध्यान को छोडकर कदाचित् अन्य तीन आर्त्तध्यान होते है । क्योकि निदान शल्य होने से व्रतो की घातक है अर्थात् संयत के निदान नाम का आर्त्तध्यान नही हो सकता ॥ १ ॥

प्रथम अप्रशस्त आर्त्त ध्यान का लक्षण, भेद, स्वामी आदि का कथन तो कर दिया, अब द्वितीय अप्रशस्त रौद्र ध्यान का स्वभाव, सज्ञा, उत्पत्ति, स्वामी आदि कहते है—

हिंसानन्द, मृषानन्द, अचौर्यानन्द और परिग्रहानन्द के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का है, यह रौद्रध्यान देशविरत पंचम गुणस्थान तक होता है ॥ ३५ ॥

हिंसा, अनृत आदि का निमित्त लेकर ध्यान की धारा चलती है अत. हिंसादि का हेतु रूप से निर्देश किया है । अर्थात् उक्त लक्षण वाले हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह रौद्रध्यान के निमित्त होते है अतः हिंसादि रौद्रध्यान की उत्पत्ति के कारण है । ऐसा हेतुनिर्देश जानना चाहिये ॥ १ ॥

उस हेतुनिर्देश से अनुवर्त्तमान हिंसादि के साथ स्मृतिसमन्वाहार का सम्बन्ध कर लेना

---

१. तेषामार्त्तं चतुर्विधमपि सभवति -श्र टि । २ तेषां प्रमत्तसयताना च निदानजं च सभवति, सति निदाने सशल्यत्वेन व्रतित्वायोगात् । व्यवहारतो देशविरतस्य चतुर्विधमपि भवति, स्वल्पनिदानेन अणुव्रतित्वस्याविरोधात् –श्र टि ।

समन्वाहारोऽभिसम्बध्यते–हिंसाया· स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि। अविरतस्य ´ भवतु रौद्रध्यान देशविरतस्य कथम् ?

देशविरतस्यापि हिंसाद्यावेशाद् वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च । ३ । देशविरतस्यापि रौद्रध्यान भवति। कुत ? हिंसाद्यावेशात् वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद्भ-वितुमर्हति। तत्पुनर्नारकादीनामकारण [1]सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात्। [2]अथ कथमिद रौद्रध्यान सयतस्य न भवति ?

तदयुक्तम्; संयते तदावेशे संयमप्रच्युतेः । ४ । संयते रौद्रध्यानं न युज्यते। कुत ? तदावेशे संयमप्रच्युते·। यदा रौद्रध्यानाविशिष्टो (नाविष्टो) भवत्यात्मा न तदा सयमोऽत्रावतिष्ठते। तदेतच्चतुर्विधं रौद्रध्यानम् अतिकृष्णनीलकापोतलेश्यावलाधान प्रमादाधिष्ठानं नरकगतिफलावसानम्। एवमुक्ताप्रशस्तध्यानपरिणत आत्मा तप्तायस्पिण्ड इवोदक कर्मादत्ते।

चाहिये, जैसे—हिंसास्मृतिसमन्वाहार, अनृतस्मृतिसमन्वाहार, चोरीस्मृतिसमन्वाहार और परिग्रह-स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि। **प्रश्न**—अविरत के रौद्रध्यान हो सकता है परन्तु देशविरत के रौद्रध्यान कैसे हो सकता है ? ॥ २ ॥

उत्तर—हिसादि के आवेश और परिग्रह आदि के सरक्षण के कारण देशविरत के भी रौद्रध्यान होता है, कभी-कभी। परन्तु यह देशविरत का रौद्रध्यान सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य से (सम्यग्दर्शन के साथ होने से) नरकगति आदि का कारण नही होता। **प्रश्न**—यह रौद्रध्यान सयत के (मुनि के) क्यो नही होता ? ॥ ३ ॥

उत्तर—सयत के रौद्रध्यान नही होता क्योकि रौद्रभाव मे सयम से च्युत हो जाते है वा हिंसादि के आवेश मे सयम रह नही सकता। क्योकि जव आत्मा रौद्रध्यान से युक्त होता है तव उसके सयम नही रह सकता। ये चारो ही रौद्रध्यान अतिकृष्ण, अतिनील, अत्यन्तकपोत-लेश्या के वलाधान से होते है। ये चारों ही ध्यान प्रमादाधिष्ठान हैं अर्थात् प्रमादभाव इनकी उत्पत्ति मे कारण हैं तथा नरकगति मे जाना इस रौद्रध्यान का फल है अर्थात् रौद्रध्यानी नरक मे जाता है। जैसे अग्नि से सतप्त लोहपिण्ड चारो तरफ से जल खीचता है, उसी प्रकार इन आर्त-रौद्ररूप अप्रशस्त ध्यानो से परिणत आत्मा चारो ओर से कर्मरूपी जल खीचता है, कार्माण वर्गणाओं को ग्रहण करता है ॥ ४ ॥

---

१ अत्राप्यकारणत्व भवतु इति चेतु अधिकृतसम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् सम्यग्दृष्टीनामेतद् ग्रहणम् -अ टि । २. [illegible] -अ. टि ।

आह–परे मोक्षहेतू इति ये उपदिष्टेऽनिर्दिष्टसञ्ज्ञाभेदस्वभावे, तयोस्तावदाद्यं किमभिधानप्रकारस्वभावविषयमिति ? अत्रोच्यते–तत्खलु सम्यग्ज्ञानवीजमुप[1]शमोत्थम-प्रमादसञ्चितं [2]मोहव्रश्चनं धर्मानुवन्धि सुखफलं त्रिविष्टपावसानम् ।

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ।। ३६ ।।

[3]**विचितिर्विवेको विचारणा विचयः । १ ।** विचितिर्विचयो विवेको विचारणेत्यनर्थान्तरम् ।

तदपेक्षया आज्ञादीनां कर्मनिर्देशः । २ । त विचयभावमपेक्ष्याज्ञादीना कर्मनिर्देशः क्रियते । आज्ञा चापायश्च विपाकश्च संस्थान च आज्ञापायविपाकसंस्थानानि, तेपा विचय आज्ञापायविपाकसस्थानविचयः, तदर्थमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय ।

अधिकारात् स्मृतिसमन्वाहारसंबन्धः । ३ । स्मृतिसमन्वाहार इत्यनुवर्तते, तेन प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–आज्ञाविचयाय स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि ।

दो ध्यान मोक्ष के कारण है, ऐसा कहा है परन्तु उन दोनो ध्यानो का नाम, भेद, स्वभाव आदि नही है अतः उन दोनो (धर्मध्यान और शुक्लध्यान) मे से आदि के धर्मध्यान के नाम, प्रकार, स्वभाव और विषय का वर्णन करते है। उनमे निश्चय से वह धर्मध्यान सम्यग्ज्ञान का बीज है, उपशम से उत्पन्न है, अप्रमाद से सचित है, मोह का छेदक है, धर्मानुवन्धी है, जिसका फल सुखरूप है और स्वर्ग को देने वाला है।

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार धर्म्यध्यान है ।। ३६ ।।

विचय, विवेक और विचारणा सभी एकार्थवाची है ।। १ ।।

उस विचयभाव की उपेक्षा करके ही आज्ञा आदि मे कर्म का निर्देश किया है। आज्ञा का विचय, अपाय का विचय, विपाक का विचय और लोक के सस्थान का विचय ।। २ ।।

यहाँ ध्यान का अधिकार होने से स्मृतिसमन्वाहार का सम्बन्ध लगाना चाहिये। अर्थात् स्मृतिसमन्वाहार का अनुवर्तन करके प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिये। जैसे—आज्ञाविचय के लिए स्मृतिसमन्वाहार, अपायविचय के लिए स्मृतिसमन्वाहार, विपाकविचय के लिए स्मृति-समन्वाहार और सस्थानविचय के लिए स्मृतिसमन्वाहार। आज्ञा आदि के विचय के लिये जो स्मृति समन्वाहार-चिन्तनधारा है, वह धर्म्य ध्यान है ।। ३ ।।

---

१ –शमार्थमप्र-मु. द व । २ मोहच्छेदनमित्यर्थ.–श्र. टि । ३. प्रमत्ताप्रमत्तसयतस्य वि–मु , ता., श्र., मू , आ , द , ब., ज. । भा. १ प्रतावेव नास्ति ।

तत्रागमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः । ४ । उपदेष्टुरभावात् मन्दबुद्धित्वात् कर्मोदयात् सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सर्वज्ञप्रणीतमागम प्रमाणीकृत्य 'इत्थमेवेदं नान्यथा वादिनो जिना' इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचय ।

आज्ञाप्रकाशनार्थो वा । ५ । अथवा, सम्यग्दर्शनविशुद्धपरिणामस्य विदितस्वपरसमयपदार्थनिर्णयस्य सर्वज्ञप्रणीतानाहितसौक्ष्म्यान् अस्तिकायादीनर्थानवधार्य एवमेते इत्यन्य प्रति पिपादयिषत कथामार्गे श्रुतज्ञानसामर्थ्यात् स्वसिद्धान्ताविरोधेन हेतुनयप्रमाणविमर्दकर्मणा ग्रहणसहिष्णून्[1] कृत्वा प्रभाषयत तत्समर्थनार्थस्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते ।

सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः । ६ । मिथ्यादर्शनपिहितचक्षुषाम् आचारविनयाप्रमादविधय.[2] ससारविवृद्धये भवत्यविद्याबाहुल्यात् अन्धवत् । तद्यथा जात्यन्धा

आगम प्रामाण्य से अर्थ की अवधारणा करना आज्ञाविचय है। इस काल मे उपदेष्टा का अभाव है, बुद्धि मन्द है, कर्मो का उदय तीव्र है, पदार्थ सूक्ष्म है, उन सूक्ष्म पदार्थों की सिद्धि के लिए हेतु और दृष्टान्त मिलते नही है, अत सर्वज्ञप्रणीत आगम को प्रमाण मानकर 'यह ऐसा ही है, जिनेन्द्र अन्यथावादी नही हो सकते' इस प्रकार गहन पदार्थो का श्रद्धान करके अवधारणा करना, उन पर दृढ विश्वास करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है ।। ४ ।।

अथवा, आज्ञा का प्रकाशन करना आज्ञाविचय है। स्वसमय (जैनधर्म), परसमय (जैनधर्म से भिन्न दर्शन) के ज्ञाता, सम्यग्दर्शन से विशुद्ध परिणामी सम्यग्दृष्टि के द्वारा सर्वज्ञप्रणीत अतिसूक्ष्म अस्तिकायादि पदार्थों की अवधारणा करके (दृढ निश्चय करके) अन्य के प्रति कथामार्ग और श्रुतज्ञान के सामर्थ्य से प्रतिपादन करने के इच्छुक स्वसिद्धान्त के अविरोधीहेतु प्रमाण, नय, दृष्टान्त आदि की सम्यग्योजना के द्वारा परवादियो (मिथ्यादृष्टियों) के तर्कजाल का भेदन करके उन्हे अपने मत के प्रति सहिष्णु बनाने के लिये तर्क, नय और प्रमाण की योजना करने मे तत्पर सयमी विद्वज्जन का भगवान की सर्व आज्ञा का प्रकाशन करने का जो चिन्तन है वह **आज्ञाविचय धर्मध्यान** है। ऐसी चिन्तनधारा चलती है कि सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा का विस्तार कैसे हो वा सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत तत्त्व अन्यथा नही, ऐसे चिन्तन को आज्ञाविचय धर्मध्यान कहा है, ऐसा जानना चाहिये। इसमे सर्वज्ञ की आज्ञा के प्रकाशन के लिये चिन्तन होने से आज्ञाविचय है ।। ५ ।।

सन्मार्ग के उपाय का चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है। मिथ्यादर्शन से जिनके ज्ञाननेत्र अन्धकाराच्छन्न हो रहे हैं उनकी आचार, विनय, अप्रमाद आदि विधियां अविद्या की बहुलता

---

१. पदार्थान् अस्तिकायादीनित्यर्थं —अ. टि । २ गुणा. —अ. टि. ।

बलवन्तोऽपि सत्पथात्प्रच्युता. कुशलमार्गादेशकेनाननुष्ठिताः नीचोन्नतशैलविषमोपल-कठिनस्थाणु[1]निहितकण्टकाकुलाटवीदुर्गपतिता परिस्पन्दवन्तोऽपि न [2]तत्त्वमार्गमनु-सर्तुमर्हन्ति देशकाभावात् तथा सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखा मोक्षार्थिनं सम्यङ्मार्गा-परिज्ञानात् सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचय ।

[3]**असन्मार्गापायसमाधानं वा । ७ ।** अथवा, मिथ्यादर्शनाकुलितचेतोभि प्रवादिभिः प्रणीतादुन्मार्गात् कथन्नाम इमे प्राणिनोऽपेयुः, अनायतनसेवापायो वा कथं स्यात् पापकरणवचनभावनाविनिवृत्तिर्वा कथमुपजायते इत्यपायार्पितचिन्तनमपायविचय· ।

कर्मफलानुभवविवेकं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः । ८ । कर्मणा ज्ञानावरणादीना द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचय· । तद्यथा

होने से अन्धे के समान ससार की वृद्धि के लिये ही होती है अर्थात् मिथ्यादृष्टि की सारी क्रियाये ससार ही बढाती है। जैसे बलवान भी जन्मान्ध सत्पथ से प्रच्युत होकर कुशल मार्गदर्शक के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर नही चलने के कारण ऊँचे-नीचे, ककरीले-पथरीले कठिन स्थाणु से व्याप्त, तीक्ष्ण कण्टको से भरे हुए महाभयकर जंगलीमार्ग मे भटक जाते है, प्रयत्नवान् होते हुए भी वे जन्मान्ध सन्मार्गदर्शक का अभाव होने से सन्मार्ग (समीचीन सरल मार्ग) को प्राप्त नही कर सकते, उसी प्रकार सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख मोक्षार्थी (मोक्ष के इच्छुक तो है परन्तु सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख है, घर जाने का इच्छुक अन्धा घर के मार्ग से विमुख होने से घर नही जा सकता, वैसे ही) समीचीन मार्ग का ज्ञान न होने से सन्मार्ग से दूर ही भटक रहे है; इस प्रकार सन्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना **अपायविचय धर्मध्यान** है ।। ६ ।।

असत्मार्ग (मिथ्यामार्ग) के अपाय (नाश) का चिन्तन करना अपायविचय है। मिथ्यादर्शन से आकुलित चित्त वाले प्रवादियो (मिथ्यादृष्टियो) के द्वारा प्रचारित एव प्रसारित कुमार्ग से हटकर ये प्राणी कैसे सुमार्ग मे लगे तथा मिथ्यादर्शनवर्द्धक आयतनो की सेवा से विरक्त कैसे होवे और कैसे पापकारी वचन एव पाप भावनाओ से निवृत्त होकर सुपथगामी बने, इस प्रकार मिथ्यामार्ग के अपाय का चिन्तन अपायविचय धर्मध्यान है। अर्थात् सन्मार्ग से भ्रष्ट प्राणियो तथा कुमार्गरतो के कुमार्ग के नाश का चिन्तन करना अपायचिन्तन है ।। ७ ।।

ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मो के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के कारण होने वाले फलानुभवन (कर्मोदय) का विचार-चिन्तन करना विपाकविचय है। अर्थात् किस कर्म का उदय किस गुणस्थान पर्यन्त है, उसका चिन्तन करना विपाकविचय है। जैसे—मिथ्यात्व, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण, इन

---

१. -निचितक-ता, श्र । २ न च मा-मु द ब ज.। न नीचोन्नतशैलमार्गं-मु. शुद्धिपत्रे । ३. असन्मार्गा-पायचिन्तनमपायविचय· अस-मु ।

मिथ्यादर्शनैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणाख्याना दशाना कर्मप्रकृतीना प्रथमगुणस्थाने उदयो नोर्ध्वम् । अनन्तानुवन्धिक्रोधमानमायालोभाना प्रथमद्वितीयगुणस्थानयोरुदयो नोर्ध्वम् । सम्यङ्मिथ्यात्वस्य सम्यङ्मिथ्यादृष्टौ उदयो नोर्ध्वं नाधः । अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभनरकदेवायुर्नरकदेवगतिवैक्रियिकशरीराङ्गो-पाङ्गानुपूर्व्यचतुष्कदुर्भगानादेयायशस्कीर्तिसज्ञाना सप्तदशाना कर्मप्रकृतीनामुदयोऽसयत-सम्यग्दृष्टयन्तेषु नोपरि । [1]चतुर्णामानुपूर्व्याणा सम्यङ्मिथ्यादृष्टावुदयो नास्ति शेषाणामस्ति । प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभतिर्यगायुस्तिर्यग्गत्युद्योतनीचैर्गोत्रसज्ञा-नामष्टाना कर्मप्रकृतीना विपाक. सयतासयतान्तेषु नोपरि । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिनामिकाना तिसृणा कर्मप्रकृतीना फलानुभवनमनु[2]त्तरशरीरप्रमत्तसयतेपु नोपरि । आहारशरीराहारशरीराङ्गोपाङ्गनाम्नोऽप्रमत्तसयते उदय नोर्ध्वं नाधः । वेदकसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयादिष्वप्रमत्तसयतान्तेपु नोर्ध्वं नाप्यध. । अर्धनाराचसहननकीलिकासहननासप्राप्तासृपाटिकासहननाख्याना तिसृणा प्रकृतीनामुदयोऽ-प्रमत्तसयतान्तेषु नोपरि ।

दस कर्मप्रकृतियो का उदय प्रथम गुणस्थान मे ही है, इसके आगे द्वितीयादि गुणस्थानो मे इनका उदय नही है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार प्रकृतियो का उदय दूसरे गुणस्थान तक है प्रथम, द्वितीय गुणस्थान के ऊपर इनका उदय नही है। सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय सम्यङ्मिथ्यादृष्टि नामक तृतीय गुणस्थान मे ही होता है, अन्य गुणस्थानो मे नहीं। अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, नरकगति, देवगति, नरकायु, देवायु, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक अगोपाग, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, नरकगत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय और अयशस्कीर्त्ति, इन १७ कर्मप्रकृतियो का उदय असयत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान तक ही होता है, उसके ऊपर नही। सम्यङ्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान (मिश्र गुणस्थान) मे चारो ही आनुपूर्वी का उदय नही है, शेष प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थान मे है। प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यञ्चायु, तिर्यञ्चगति, उद्योत और नीचगोत्र इन आठ कर्म-प्रकृतियो का उदय सयतासयत नामक पचम गुणस्थान तक ही होता है, आगे नही। निद्रा-निद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, इन तीन कर्मप्रकृतियो का उदय अनुत्तर शरीर वाले अर्थात् आहारक शरीर की निर्वृत्ति न करने वाले प्रमत्तसयतो के होता है। आहारकशरीर और आहारक-शरीरागोपाग नामकर्म का उदय प्रमत्तसयत नामक छठे गुणस्थान मे होता है न ऊपर और न नीचे। वेदक सम्यक्त्वप्रकृति का उदय असयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसयत पर्यन्त होता है, आगे भी नही पीछे भी नही। अर्धनाराचसहनन, कीलकसहनन और असप्राप्तासृपाटिकासहनन, इन तीन प्रकृतियो का उदय अप्रमत्तसयत नामक सातवे गुणस्थान पर्यन्त होता है, आगे नही।

---

१ उत्सर्गेण प्रामावपवादविधिमाह –अ टि.। २ आहारकशरीरनिर्वृत्तिरहित –अ टि.।

हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्याना षण्णां कर्मप्रकृतीनामपूर्वकरणचरमसमयान्तेषु फलानुभवनं नोर्ध्वम् । त्रयाणां वेदाना त्रयाणा संज्वलनाना चोदयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायेषु । तत्र अनिवृत्तिबादरसाम्परायकालस्य शेषे[१]शेषे संख्येयान् भागान् गत्वोदयच्छेदः । लोभसज्वलनस्य विपाकः सूक्ष्मसाम्परायचरमसमयान्तेषु नोपरि । वज्रनाराचसहनननाराचसहननयोरुदयः उपशान्तकषायान्तेषु नोर्ध्वम् । निद्राप्रचलयोरुदयः क्षीणकषायोपान्तसमयान्तेषु नोपरि । पञ्चानां ज्ञानावरणाना चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणा चोदयः क्षीणकषायचरमसमयान्तेषु नोपरि । अन्यतरवेदनीयौदारिकतैजसकार्मणशरीरसस्थान[२]षट्कौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गवज्रवृषभनाराचसहननवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरनिर्माणनामिकाना त्रिंशत्प्रकृतीनामुदयः सयोगकेवलिनश्चरमसमये नोर्ध्वम् । अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेय-

---

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, इन छह कर्मप्रकृतियो का उदय अपूर्वकरणनामा अष्टम गुणस्थान के चरम समय तक होता है । स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सकवेद कर्म का तथा सज्वलन क्रोध, मान, माया, इन तीन सज्वलन प्रकृतियो का उदय अनिवृत्तिकरण बादरसाम्पराय नामक नवम गुणस्थान के अन्त तक रहता है । इनका उदय विच्छेद, अनिवृत्ति बादरसाम्पराय गुणस्थान के सख्यात भाग काल के व्यतीत होने पर क्रमशः सात भागो में एक-एक प्रकृति का व्युच्छेद होता है । संज्वलन लोभ कषाय का उदय सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के चरम समय तक रहता है, उसके ऊपर नही। वज्रनाराचसहनन और नाराचसहनन का उदय उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवे गुणस्थान तक होता है, उसके ऊपर नही । निद्रा और प्रचला का उदय क्षीणकषाय नामक बारहवे गुणस्थान तक है, उसके ऊपर नही; क्योकि यहाँ इसका उदय विच्छेद हो जाता है । चार दर्शनावरण, पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तराय, इन १४ प्रकृतियो का उदय भी १२ वे गुणस्थान तक है, इसके ऊपर नही । साता असाता मे से कोई एक वेदनीय, औदारिक शरीर, तेजस शरीर, कार्माण शरीर, छहो सस्थान, औदारिक शरीरांगोपाग, वज्रवृषभनाराचसहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्ताप्रशस्त विहायोगति, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दु स्वर, निर्माण, इन तीस कर्मप्रकृतियो का उदय सयोगकेवली नामक १३ वे गुणस्थान के चरम समय तक रहता है, उसके आगे उनकी व्युच्छित्ति हो जाती है । दोनो वेदनीयो मे से कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय, यशस्कीर्त्ति, उच्चगोत्र, इन ग्यारह कर्मप्रकृतियो का उदय अयोगकेवली के चरम समय

---

१. सप्तभागेषु प्रत्येकमेकैकभागे –अ टि । २. केवलिना हुण्डकसस्थानरूपताप्यस्तीत्युपदेश । हुण्डकसस्थानोदय. कश्चन मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वमासाद्य दीक्षित्वा केवलज्ञानमवाप्नोतीति –अ टि. ।

यशस्कीर्त्युच्चैर्गोत्रसंज्ञकानामेकादशाना प्रकृतीनामुदयः अयोगकेवलिनश्चरमसमये नोर्ध्वम् । तीर्थकरनामोदयो[1] द्वयो· केवलिनोर्नोपरि नाप्यध· ।

[2]**अयथाकालविपाक उदीरणोदयः । ९ ।** तत्र मिथ्यादर्शनस्य उदीरणोदयो मिथ्यादृष्टौ उपशमसम्यक्त्वाभिमुखस्य चरमावलीमुत्सृज्येतरत्र भवति । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्यातपस्थावर सूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणसंज्ञिकाना नवाना प्रकृतीनामुदीरणोदयः मिथ्यादृष्टौ भवति नोर्ध्वम् । अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानामुदीरणोदयो मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टयोर्नोपरि । सम्यङ्मिथ्यात्वस्योदीरणोदय सम्यङ्मिथ्यादृष्टौ नोपरि नाप्यध. । अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभनरकगतिदेवगतिवैक्रियिकशरीरवैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गदुर्भगानादेयायशस्कीर्तिसज्ञका एकादशप्रकृतय असयतसम्यग्दृष्टयन्तेषूदीर्यन्ते नोर्ध्वम् । नरकायुषो देवायुषश्च मरणकाले चरमावलि मुक्त्वा असयतसम्यग्दृष्टावुदीरणोदयो भवत्यधश्च नोर्ध्वम् । चतुर्णामानुपूर्व्याणा विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टयसयतसम्यग्दृष्टिषूदीरणोदयो नेतरत्र । प्रत्याख्यानक्रोध-

---

तक होता है, आगे नही । तीर्थंकर नामकर्मप्रकृति का उदय सयोगकेवली और अयोगकेवली, इन दो गुणस्थानो मे ही होता है, अन्य मे नही ॥ ८ ॥

अयथाकाल-विनाकाल मे होने वाला कर्मविपाक उदीरणोदय है । मिथ्यात्वप्रकृति का उदीरणोदय (उदीरणा) उपशम सम्यक्त्व के सम्मुख हुए मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व चरमावली को छोडकर अन्य समयो मे हाता है । किस गुणस्थान मे किन-किन प्रकृतियो की उदीरणा होती है, उसका वर्णन इस प्रकार है—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण, इन नौ प्रकृतियो का उदीरणोदय मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे ही होता है, आगे नही । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, इनका उदीरणोदय मिथ्यादृष्टि और सासादन इन दो गुणस्थानो मे ही होता है, ऊपर के गुणस्थानो मे नही । सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति का उदीरणोदय सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे ही होता है, न आगे और न पीछे । अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, नरकगति, देवगति, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकशरीरागोपाग, दुर्भग, अनादेय और अयशस्कीर्त्ति, इन ग्यारह प्रकृतियो की उदीरणा असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होती है, इसके ऊपर के गुणस्थानो मे नही । नरक आयु और देव आयु की उदीरणा, मरणकाल मे चरमावली को छोडकर चतुर्थ गुणस्थान मे होती है और इसके नीचे भी होती है, परन्तु चौथे गुणस्थान के ऊपर इन दोनो प्रकृतियो की उदीरणा नही होती है । चारो आनुपूर्वियो की उदीरणा विग्रहगति मे स्थित मिथ्यादृष्टि, सासादन और असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानो मे ही होती है, अन्य किन्ही गुणस्थानो मे नही । प्रत्याख्यान

---

१. नामकर्मोदय मु. द व ज । २ अथ प्रसङ्गप्रसक्तामुदीरणोदयमप्याह –श्र. टि. ।

मानमायालोभतिर्यग्गत्युद्योतनीचैर्गोत्राणा सप्ताना प्रकृतीनामुदीरणोदयः संयतासयतान्तेषु नोपरि। तिर्यगायुषो मरणकाले चरमावली मुक्त्वा संयतासंयतान्तेषूदीरणोदयो नोर्ध्वम्। निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिसदसद्वेद्यानां पञ्चाना प्रकृतीनां प्रमत्त-सयतान्तेषूदीरणोदयो नोपरिष्टात्।

[1]उत्तरशरीरवर्तिपूर्वचरमावल्या सह उदीरणोदयो नास्ति। आहारशरीराहार-शरीराङ्गोपाङ्गनाम्नोः [2]प्रमत्तसंयते उदीरणोदयो नोर्ध्वं नाप्यधः। मनुष्यायुषः उदीरणोदयो मरणकाले चरमावलिं मुक्त्वा प्रमत्तसंयतान्तेषु सम्यङ्मिथ्यादृष्टिवर्जितेषू-दीरणोदयो भवति नोपरि। वेदकसम्यक्त्वस्योदीरणोदयः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिष्व-प्रमत्तसंयतान्तेषु भवति नोर्ध्वं नाप्यधः। अर्धनाराचकीलिकासंप्राप्तासृपाटिकासहनाना-मुदीरणोदयः अप्रमत्तसंयतान्तेषु भवति नोर्ध्वम्। हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साना षण्णां प्रकृतीनामपूर्वकरणचरमसमयान्तेषूदीरणोदयो भवति नोर्ध्वम्। त्रयाणां वेदाना त्रयाणां

क्रोध-मान-माया-लोभ, तिर्यंचगति, उद्योत और नीचगोत्र, इन सात प्रकृतियो की उदीरणा सयता-सयत नामक गुणस्थान तक पाँच गुणस्थानो मे होती है, इनके ऊपर के प्रमत्त आदि गुणस्थानो मे नही। तिर्यञ्च आयु की उदीरणा मरणकाल मे चरमावली को छोडकर संयतासयत तक गुणस्थानो मे होती है, उनसे ऊपर नही होती है। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, सातावेदनीय और असातावेदनीय, इन पाँच प्रकृतियो की उदीरणा प्रथम गुणस्थान से लेकर प्रमत्तसंयत (छठे गुणस्थान) तक होती है, इससे ऊपर के गुणस्थानो मे नही।

उत्तरशरीरवर्ती (आहारकशरीर वालों) मे चरम आवली के साथ उदीरणा नही है, अर्थात् आहारकशरीर की चरमावली के साथ (चरमावलीकाल मे) किसी भी कर्मप्रकृति की उदीरणा नही है। आहारकशरीर और आहारक अगोपांग नामक कर्मप्रकृति की उदीरणा प्रमत्तसयत गुणस्थान में ही होती है इससे अधस्तनवर्ती गुणस्थानो में और इससे ऊपर के गुणस्थानो में नही है। मनुष्यायु की उदीरणा मरणकाल मे चरमावली को छोडकर मिश्र गुणस्थान के सिवाय प्रथम गुणस्थान से लेकर प्रमत्तसयत गुणस्थान के अन्त तक होती है, प्रमत्त गुणस्थान से उपरि गुणस्थानो मे नही। वेदक सम्यक्त्व (सम्यक्त्वप्रकृति) का उदीरणोदय, असयत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसयत नामक सप्तम गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानो मे है, न तो मिथ्यात्वादि नीचे के तीन गुणस्थानो मे सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा होती है और न सप्तम गुण-स्थान से उपरि गुणस्थानो मे सम्यक्त्वप्रकृति की उदीरणा होती है। अर्धनाराचकीलिका और असप्राप्तासृपाटिकासहनन इनका उदीरणोदय अप्रमत्तसयत गुणस्थान के अन्त तक होता है, इसके ऊपर नही। हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा, इन छह कर्मप्रकृतियो की उदीरणा

---

१. आहारकशरीरवर्त्ति –अ. टि.। २. सातिशये –अ. टि.।

सज्वलनाना चोदीरणोदयोऽनिवृत्तिबादरसाम्परायेषूपान्तेषु भवति नोर्ध्वम् । तस्मिश्चानिवृत्तिकाले शेषे शेषे ऊर्ध्व ऊर्ध्व सख्येयभागान् गत्वा उदीरणोदयोच्छेद । लोभसज्वलनस्योदीरणोदय. सूक्ष्मसाम्परायचरमावलीवर्जितेषु पूर्वेषु नोपरि । वज्रनाराचसहनननाराचसंहननयोरुपशान्तकषायान्तेषूदीरणोदयो नोपरिष्टात् । समयोत्तरचरमावलीवर्जितक्षीणकषायान्तेषु निद्राप्रचलयोरुदीरणोदयो नोपरि । पञ्चानां ज्ञानावरणाना चतुर्णां दर्शनावरणाना पञ्चानामन्तरायाणा च चरमावलीवर्जितक्षीणकषायान्तेषूदीरणोदयो नोर्ध्वम् । मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकतैजसकार्माणशरीरषट्सस्थानौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गवज्रवृषभनाराचसहननवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभसुभगसुस्वरदु स्वरादेययशस्कीर्तिनिर्माणोच्चैर्गोत्रसज्ञिकानामष्टात्रिशत प्रकृतीना सयोगकेवलिचरमसमयान्तेषूदीरणोदयो नोपरि । तीर्थकरनाम्न उदीरणोदय सयोगिकेवलिन्येव नोपरि नाप्यध ।

अपूर्वकरण गुणस्थान के चरम समय तक होती है, इस गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानो मे नही होती। स्त्री आदि तीनो वेदो और क्रोध, मान, माया, तीन सज्वलन कषाय इन छह प्रकृतियो की उदीरणा अनिवृत्तिबादरसाम्पराय के अन्त समय से पहले समयो तक होती है, इससे ऊपर नही होती। इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के छह भागो मे एक-एक की उदीरणा व्युच्छित्ति होकर ऊपर सख्यात भाग प्रमाण समय चलकर दूसरी प्रकृति की उदीरणा व्युच्छित्ति हो जाती है, इस प्रकार नवमे गुणस्थान के छह भागो मे प्रत्येक भाग मे एक-एक का उदीरणोच्छेद हो जाता है। सज्वलन लोभ की उदीरणा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान की चरमावली को छोडकर शेष पहले समयो मे होती है अर्थात् सज्वलन लोभ की उदीरणा दसवे गुणस्थान के अन्त की आवली मे नही होती है। वज्रनाराच और नाराच इन दो सहननो की उदीरणा उपशान्तकषाय गुणस्थान पर्यन्त होती है, उससे ऊपर नही। निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियो की उदीरणा एक समय अधिक अन्तिम आवली को छोडकर बाकी क्षीणकषाय पर्यन्त होती है, उसके ऊपर नही। अर्थात् क्षीणकषाय गुणस्थान के एक समय अधिक अन्तिम आवली के समयो मे निद्रा प्रचला की उदीरणा नही होती है। बाकी के क्षीणकषाय के समयो मे और उससे नीचे के गुणस्थानो मे निद्रा प्रचला की उदीरणा होती है। पॉच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पॉच अन्तराय, इन १४ कर्मप्रकृतियो की उदीरणा चरमावली (क्षीणकषाय गुणस्थान की अन्तिम आवली) को छोडकर बाकी क्षीणकषाय पर्यन्त होती है, इसके ऊपर नही होती है। मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, औदारिक तैजस कार्माण शरीर, छह सस्थान, औदारिक शरीरागोपाग, वज्रवृषभनाराचसहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, उच्छ्वास, प्रशस्ताप्रशस्त विहायोगति, त्रसबादरपर्याप्तक प्रत्येकशरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, सुस्वर, दु.स्वर, आदेय यशस्कीर्त्ति, निर्माण और उच्चगोत्र, इन अडतीस प्रकृतियो की उदीरणा प्रथम गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली के चरम समय तक है, सयोगकेवली के अन्त मे इनकी उदीरणा व्युच्छित्ति हो जाती है। तीर्थंकर नामकर्म की उदीरणा सयोग-

लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानविचयः । १० । लोकसंस्थान प्राग्वर्णितम् । तदवयवाना च द्वीपादीना तत्स्वभावावधानं संस्थानविचयः ।

धर्मादनपेतं धर्म्यम् । ११ । धर्म उत्तमक्षमादिदशविकल्पः, ततोऽनपेतं धर्म्यं ध्यानम् । उत्तमक्षमादिभावनावतः प्रवृत्तेः ।

अनुप्रेक्षाणां धर्म्यध्यानजातीयत्वात्पृथगनुपदेश इति चेत्; न; ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पत्वात् । १२ । स्यादेतत्–अनुप्रेक्षा अपि धर्म्यध्यानेऽन्तर्भवन्तीति पृथगासामुपदेशोऽनर्थकः इति, तन्न; किं कारणम् ? ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पत्वात् । अनित्यादिविषयचिन्तनं यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षाव्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधस्तदा धर्म्यध्यानम् ।

[1]धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेत्; न; पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसङ्गात् । १३ । कश्चिदाह–धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्यैवेति; तन्न; किं कारणम् ? पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसङ्गात् । असंयत-

---

केवली गुणस्थान में ही होती है, उसके आगे १४ वें गुणस्थान मे नही । इस प्रकार कर्मप्रकृतियों के उदय और उदीरणा का विचार करना विपाकविचय है ।। ९ ।।

लोक के स्वभाव का चिन्तन करना **संस्थानविचय धर्मध्यान** है। लोक के आकार स्वरूपादि का वर्णन पूर्व में कर चुके है। उस लोक के अवयव द्वीप, समुद्र आदि के स्वभाव का चिन्तन करना सस्थानविचय है अर्थात् लोक के स्वभाव, सस्थान तथा द्वीप-नदी आदि के स्वरूप का चिन्तन करना, विचार करना सस्थानविचय है ।। १० ।।

धर्म से युक्त हो, उसे धर्म्य कहते हैं। उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों से ओतप्रोत होने के कारण यह धर्म्यध्यान कहलाता है, क्योकि यह ध्यान उत्तम क्षमादि दस प्रकार की धार्मिक भावना वालो के ही होता है ।। ११ ।।

प्रश्न—अनित्य आदि अनुप्रेक्षा भी धर्मध्यान की जाति होने से धर्मध्यान मे अन्तर्भूत हो जाती है, अतः अनित्यादि भावनाओ का पृथक् निर्देश करना व्यर्थ है? **उत्तर**—अनित्यादि अनुप्रेक्षाओ मे जब बार-बार चिन्तनधारा चालू रहती है तब वे ज्ञान रूप है पर जब उन भावनाओं में एकाग्र चिन्तानिरोध होकर चिन्तनधारा एक स्थान मे केन्द्रित हो जाती है तब वे ध्यान कहलाती हैं अतः सविकल्प चिन्तन भावना है और निर्विकल्प ध्यान है, यह इन दोनो में भेद है ।। १२ ।।

धर्मध्यान तो अप्रमत्त गुणस्थान मे ही होता है, ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि अप्रमत्त गुणस्थान में ही धर्मध्यान मानने पर असयत सम्यग्दृष्टि, संयतासयत और प्रमत्तसंयत के धर्मध्यान के अभाव का प्रसंग आता है। असंयत सम्यग्दृष्टि आदि के सम्यग्दर्शन के प्रभाव से धर्मध्यान

---

१. 'आज्ञापायविपाकसस्थानविचयाय धर्म्ममप्रमत्तसंयतस्य"—तत्त्वार्थाधि.-सू. ९।३७ ।

सम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसयतानामपि धर्म्यध्यानमिष्यते सम्यक्त्वप्रभवत्वात् । [१]यदि धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्येत तर्हि, तेषा निवृत्तिः प्रसज्येत ।

उपशान्तक्षीणकषाययोश्चेति चेत्; न; शुक्लाभावप्रसङ्गात् । १४ । कश्चिदाह– उपशान्तक्षीणकषाययोश्च धर्म्यं ध्यानं भवति न पूर्वेषामेवेति, तन्न, कि कारणम् ? शुक्लाभावप्रसङ्गात् । उपशान्तक्षीणकषाययोर्हि शुक्लध्यानमिष्यते तस्याभाव. प्रसज्येत ।

तदुभयं तत्रेति चेत्; न; पूर्वस्यानिष्टत्वात् । १५ । स्यादेतत्–उभय धर्म्यं शुक्ल चोपशान्तक्षीणकषाययोरस्तीति ? तन्न, कि कारणम् ? पूर्वस्यानिष्टत्वात् । पूर्वं हि धर्म्य ध्यान श्रेण्योर्नेष्यते आर्षे, पूर्वेषु चेष्यते ।

आह–यदि धर्म्यध्यानमविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयतान्ताना भवति, अथ शुक्लध्यान कस्येति ? अत्रोच्यते–तद्वक्ष्यमाण चतुर्विकल्पम्, तत्र प्रथमयोर्विकल्पयो· [२]स्वामिनिर्देश क्रियते–

होता है अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक धर्मध्यान होता है अत. वह असयत सम्यग्दृष्टि सयतासयत और प्रमत्तसयत के भी होता है । यदि धर्मध्यान 'अप्रमत्त के ही होता है' ऐसी अवधारणा की जाती है तो असयतादि गुणस्थानो मे धर्मध्यान की निवृत्ति का प्रसग आता है ।। १३ ।।

उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय मे धर्मध्यान होता है, ऐसा कहना भी उचित नही है । क्योकि ऐसा मानने पर उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय मे शुक्लध्यान के अभाव का प्रसग आता है परन्तु उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय मे शुक्लध्यान माना जाता है, धर्मध्यान नही ।। १४ ।।

उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थान मे धर्मध्यान और शुक्लध्यान दोनो मानना उचित नही है, ऐसा मानने पर पूर्वाचार्यो के कथन मे विरोध आता है, क्योकि पूर्वाचार्यकथित आर्षग्रन्थो मे श्रेणियो मे शुक्लध्यान का ही उल्लेख किया है, धर्मध्यान का नही ।। १५ ।।

यदि धर्म्यध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान पर्यन्त होता है, तो शुक्लध्यान किसके है ? ऐसा पूछने पर आगे कहे जाने वाले शुक्लध्यान के चार विकल्पो मे प्रथम दो विकल्पो के स्वामियो का निर्देश करते हैं—

---

१ 'यदि धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्येत', इति पाठो नास्ति ता. मू श्र. द व ज भा १, भा. २ । २ स्वामिनिर्दे–मु द ब ज. ।

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

पूर्वविद्विशेषणं श्रुतकेवलिनस्तदुभयप्रणिधानसामर्थ्यात् । १ । सकलश्रुतधरस्याद्यशुक्लध्यानद्वयप्रणिधानसामर्थ्यं नेतरस्येति प्रतिपत्त्यर्थं [1]पूर्वविद्विशेषणमुपादीयते ।

चशब्दः पूर्वध्यानसमुच्चयार्थः । २ । चशब्दः क्रियते पूर्वस्य धर्म्यध्यानस्य समुच्चयार्थः । शुक्ले चाद्ये पूर्वविदो भवतः धर्म्यं चेति ।

विषयविवेकापरिज्ञानमिति चेत्; न; व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः । ३ । स्यादेतत्–चशब्देन पूर्वस्य ध्यानस्य समुच्चये क्रियमाणे विषयविवेको न ज्ञायते इति, तन्न; किं कारणम् ? व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः । श्रेण्यारोहणात् प्राग् धर्म्यध्यानं श्रेण्योः शुक्लध्यानमिति व्याख्यास्यामः ।

आह–यद्याद्ये शुक्ले उपशान्तनिर्दग्धमोहयोर्नियमेन प्रतिज्ञायेते अवशिष्टे कस्य[2] भवत इति ? अत्रोच्यते–

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

पूर्ववित् अर्थात् श्रुतकेवली के आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं ॥ ३७ ॥

आदि के दो शुक्लध्यान धारण करने का सामर्थ्य सकल श्रुत के धारी के है, अन्य के नही । इस बात की सूचना देने के लिये पूर्वविद् विशेषण का ग्रहण किया गया है ॥ १ ॥

पूर्वकथित धर्मध्यान के समुच्चय के लिये 'च' शब्द का उल्लेख किया है कि पूर्वविद् (श्रुतकेवली) के आदि के पृथक् वितर्कवीचार और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान होते है और धर्मध्यान भी होता है ॥ २ ॥

प्रश्न—'च' शब्द से धर्मध्यान को ग्रहण करने पर विषय का भेद नही रहेगा कि किसके धर्मध्यान होता है और किसके शुक्लध्यान ? **उत्तर**—च शब्द से धर्मध्यान को ग्रहण करने पर विषय के भेद का अभाव नही होता, क्योकि धर्मध्यान श्रेणी-आरोहण के पहले होता है तथा श्रेण्यारोहणकाल मे शुक्लध्यान होता है, यह बात व्याख्यान से ज्ञात हो जाती है ॥ ३ ॥

प्रश्न—यदि आदि के दो शुक्लध्यान उपशान्तकषायी और क्षीणमोही के नियम से होते है तो शेष दो शुक्लध्यान किसके होते है ? **उत्तर** कहते हैं—

अन्तिम दो शुक्लध्यान केवलज्ञानी के होते हैं ॥ ३८ ॥

---

१. पूर्ववद्वि–मु द. ब. ज. ता । २ कस्या श्रेण्या कतम ध्यानमिति–श्र टि. ।

केवलिशब्दसामान्यनिर्देशात्तद्वतोरुभयोर्ग्रहणम् ।१। केवलीत्यय शब्दः सामान्यविषय, ततोऽचिन्त्यविभूतिविशेषकेवलज्ञानसाम्राज्यमनुभवतोरुभयो. सयोग्ययोगिकेवलिनोर्ग्रहणम् । परे शुक्लध्याने तयोर्भवतो न छद्मस्थस्येति ।

आह–अन्धकारमुष्टचभिघातसादृश्यादमु शुक्लध्यानाधिष्ठातृप्रक्रिया प्रति न व्याप्रियामहे । कुत. ? [1]तल्लक्षणविशेषनिर्देशानुपलम्भात् । उच्यते–स्यादेतदेवं यद्यमूनि तस्य परस्परविशिष्टानि पर्यायान्तराणि न स्यु.[2]–

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

वक्ष्यमाणलक्षणापेक्षयासर्वेषामन्वर्थत्वम् ।१। वक्ष्यमाणलक्षणमपेक्ष्य सर्वेषामन्वर्थत्वमवसेयम् । यदिदमुपात्तचातुर्विध्य शुक्लध्यान तत्किमालम्बनमिति चेत् ? उच्यते–

'केवली' यह शब्द सामान्य है, अत इस केवली शब्द से अचित्य विभूति रूप केवलज्ञान साम्राज्य का अनुभव करने वाले सयोगकेवली और अयोगकेवली इन दोनो का ग्रहण करना चाहिये। इससे यह फलितार्थ हुआ कि उपशातमोही के पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान, क्षीणमोही (बारहवे गुणस्थान) के एकत्ववितर्क शुक्लध्यान, सयोगकेवली के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और अयोगकेवली के व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान होता है। अत अन्तिम दो शुक्लध्यान केवली के होते है, छद्मस्थो के नही।

प्रश्न—अन्धकार को मुष्टि से घात करने के समान इस शुक्लध्यान का अनुष्ठान करने वालो की प्रक्रिया के प्रति हमारी प्रवृत्ति नही हो सकती, क्योकि उनके लक्षण विशेष के निर्देश की उपलब्धि नही होती ? **उत्तर**—यदि इनके लक्षणविशेष का निर्देश नही होता तो इनके परस्पर विशिष्ट पर्यायान्तर नही होते, परन्तु परस्पर जो पर्यायान्तर है, उन्हे कहते है—

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती, ये चार शुक्लध्यान है ॥ ३९ ॥

आगे कहे जाने वाले लक्षण की अपेक्षा से ये चारो ही ध्यान सार्थक नाम वाले है। जैसे—पृथक् वितर्क=श्रुत और वीचार=अर्थ व्यञ्जन का परिवर्तन जिसमे हो अर्थात् पृथक्-पृथक् श्रुत का परिवर्तन जिसमे होता है वह पृथक् वितर्क वीचार है, इनका लक्षण आगे कहेगे ॥ १ ॥

यदि ये चार प्रकार के शुक्लध्यान है तो उनका आलम्बन क्या है ? विपय क्या है ? सो कहते है—

---

१. स्वलक्षणविशे–ता । स्वलक्षणप्रविशेषानुय-श्र. । २ तर्हि-श्र टि ।

त्र्येकयोगकाययोगाऽयोगानाम् ।। ४० ।।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः । १ । अयं योगशब्दो व्याख्यातार्थः **"कायवाङ्मनस्कर्म योगः"** [६।१।] इत्यत्र ।

यथासंख्यं चतुर्णामभिसम्बन्धः । २ । चतुर्णां त्रियोगादीनामुक्तैश्चतुर्भिः शुक्लध्यानविकल्पैः सह यथासंख्यमभिसम्बन्धो भवति । त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कम्, त्रिषु योगेष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कम् काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति ।

तत्राद्यस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ।। ४१ ।।

पूर्वविदारभ्यत्वादेकाश्रयसिद्धिः । १ । उभे अपि परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेनारभ्येते इत्येकाश्रये इत्युच्यते ।

तीनों योग वालों के पृथक्त्ववितर्कवीचार, किसी एक योग वाले के एकत्ववितर्कवीचार, काययोगवालों के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और अयोगी के व्युपरतक्रियानिवर्ती ध्यान होता है ।। ४० ।।

इस तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के प्रथम सूत्र "कायवाङ्मन. कर्मयोग:" मे योग का अर्थ कर दिया गया है ।। १ ।।

इन चारों ध्यानो का सम्बन्ध क्रमश· लगाना चाहिये अर्थात् शुक्लध्यान के चार विकल्प कहे है । उन विकल्पो के साथ यथासभव सम्बन्ध होता है—जैसे पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान तीनो के साथ हो सकता है । एकत्ववितर्क तीनो योगो मे से किसी एक योग के साथ होता है, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान काययोग वाले के होता है और अयोगी के व्युपरतक्रियानिवर्ती ध्यान होता है ।। २ ।।

पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान का विशेष ज्ञान कराने के लिये कहते हैं—

पूर्व के दो शुक्लध्यान एक श्रुतज्ञान के आश्रय होते है तथा वितर्क और वीचार सहित होते हैं ।। ४१ ।।

ये पूर्व के दो शुक्लध्यान श्रुतकेवली के द्वारा प्रारम्भ किये जाते है अत: दोनो का आश्रय एक ही होने से एकाश्रय कहते है अर्थात् इन दोनों ध्यानों का एक ही प्रकार का सकल श्रुतकेवली स्वामी है ।। १ ।।

सवितर्कवीचार इति द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः । २ । वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ सह वितर्कवीचाराभ्या वर्तते सवितर्कवीचार· ।

पूर्वत्वमेकस्यैवेति चेत्; न; उक्तत्वात् । ३ । किमुक्तम् ? तत्समीपवर्तिनस्तद्व्यपदेश इति । द्विवचनसामर्थ्यादुभयोर्ग्रहणम् ।

तत्र यथासख्यप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते–

अवीचारं द्वितीयम् ।। ४२ ।।

पूर्वयोर्यद् द्वितीय तदवीचार प्रत्येतव्यम्–अर्थात् आद्यं सवितर्क सवीचार च भवति, द्वितीय सवितर्कमवीचारमिति ।

अथ वितर्कवीचारयो क प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते–

वितर्कः श्रुतम् ।। ४३ ।।

सवितर्कवीचार यह द्वन्द्वसमास सहित बहुव्रीहि समास है जैसे वितर्क और वीचार-वितर्कवीचार, वितर्कवीचार सहित जो प्रवृत्ति करते है उसको सवितर्कवीचार कहते है ।। २ ।।

पूर्वपना तो एक के होता है, ऐसी आशका नही करनी चाहिये, क्योकि इसका कथन पूर्व मे किया है कि समीपवर्ती को भी पूर्व कहते है । अथवा "पूर्वे" इस दो वचन के सामर्थ्य से आदि के दो शुक्लध्यान एकाश्रय और सवितर्कवीचार है । इस प्रकार दोनो ध्यानो का ग्रहण हो जाता है ।। ३ ।।

उन दोनो ध्यानो मे ऐसा क्रमवर्ती अर्थ नही ग्रहण किया जाय कि सवितर्क पहला शुक्लध्यान होता है और सवीचार दूसरा शुक्लध्यान होता है, इस अनिष्ट क्रम की निवृत्ति के लिए सूत्र कहते है—

द्वितीय (एकत्ववितर्क) शुक्लध्यान वीचाररहित है ।। ४२ ।।

पूर्व के दो ध्यानो (पृथक्त्व वितर्कवीचार और एकत्ववितर्क) मे जो पूर्व है वह प्रथम है और द्वितीय शेष है । वह द्वितीय शुक्लध्यान वितर्क तो है—परन्तु वीचार से रहित है, ऐसा जानना चाहिए, परन्तु प्रथम शुक्लध्यान वितर्क और वीचार सहित है ।

प्रश्न—वितर्क और वीचार मे क्या विशेपता है ? उत्तर—देते हैं—

श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं ।। ४३ ।।

विशेषेण तर्कणमूहन वितर्क श्रुतज्ञानमित्यर्थ. ।

यदि श्रुतज्ञाने वितर्कशब्दो वर्तते, जायसे तर्हि पुनरपि प्रष्टव्यः–अथ वीचारः किलक्षण इति ? अत्रोच्यते–

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

अर्थो ध्येयः द्रव्य पर्यायो वा, व्यञ्जन वचनम्, योगः कायवाङ्मनस्कर्मलक्षणः, संक्रान्ति. परिवर्तनम् । द्रव्य विहाय पर्यायमुपैति, पर्याय त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसक्रान्तिः । एक श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसक्रान्ति । काययोग त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति योगान्तर च त्यक्त्वा[1] काययोगमिति योगसंक्रान्तिः, एव परिवर्तन वीचार इत्युच्यते तदेतत्सामान्यविशेषनिर्दिष्टचतुर्विध शुक्ल धर्म्यं च पूर्वोदित-गुप्त्यादिबहुप्रकारोपाय ससारविनिवृत्तये मुनिर्ध्यातुमर्हति । तदारम्भे च परिकर्म भवति ।

विशेष रूप से तर्कणा-ऊहन (विचार) को वितर्क कहते है। वितर्क का दूसरा नाम श्रुत है।

प्रश्न—यदि वितर्क शब्द श्रुतज्ञानवाची है तो वीचार का अर्थ क्या है ? ऐसी पृच्छा होने पर वीचार का लक्षण कहते है—

अर्थ, व्यञ्जन और योगों की संक्रान्ति (परिवर्तन) को वीचार कहते है ॥ ४४ ॥

ध्यान करने योग्य द्रव्य और पर्याय को **अर्थ** कहते है। वचन या शब्द को **व्यञ्जन** कहते है और मन, वचन एव काय के व्यापार को **योग** कहते है। सक्रान्ति का अर्थ है—परिवर्तन। **अर्थ संक्रान्ति**—द्रव्य को छोडकर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोडकर द्रव्य का ध्यान करना, इस प्रकार बार-बार ध्येय अर्थ मे परिवर्तन होना अर्थ सक्रान्ति है। **व्यञ्जन संक्रान्ति**—श्रुतज्ञान के किसी शब्द को छोडकर अन्य शब्द का अवलम्बन लेना और उसको छोडकर पुन· अन्य शब्द को ग्रहण करना व्यञ्जन सक्रान्ति है। **योगसंक्रान्ति**—काययोग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग का अवलम्बन लेना तथा उन्हे छोडकर काययोग का अवलम्बन लेना योगसक्रान्ति है। इस प्रकार अर्थ, व्यञ्जन और योग के परिवर्तन को **वीचार** कहते है। इस प्रकार सामान्य रूप से और विशेष रूप से कहा गया चार प्रकार का शुक्लध्यान है और चार प्रकार का ही धर्म्यध्यान है जो कि गुप्ति, समिति आदि अनेक प्रकार के उपायो द्वारा सिद्ध किया गया है। इन ध्यानो को मुनिराज ससारनिवृत्ति के लिए ध्याते है। इन ध्यानो का प्रारम्भ करने के लिये परिकर्म अर्थात् निमित्त अपेक्षित है—क्योकि उत्तम संहननवान होने पर जब परीषह की बाधा को सहन करने की शक्ति वाला आत्मा होता है, यानी

---

[1] त्यक्त्वाऽन्ययो-मु, द, व,।

यदोतमशरीरसहननतया परीषहबाधासहनशक्तिमन्तमात्मानमवगच्छति तदा ध्यानयोग-परिचयायोपक्रमते । कथमिति चेत् ?

उच्यते–पर्वतगुहाकन्दरदरीद्रुमकोटरनदीपुलिनपितृवनजीर्णोद्यानशून्यागारादीनामन्यतमस्मिन्नवकाशे व्यालमृगपशुपक्षिमनुष्याणामगोचरे तत्रत्यैरागन्तुभिश्च जन्तुभि· परिवर्जिते नात्युष्णे नातिशीते नातिवाते वार्षातपवर्जिते समन्तात् बाह्यान्त करणविक्षेपकारणविरहिते भूमितले शुचावनुकूलस्पर्शे यथासुखमुपविष्टो बद्धपल्यङ्कासन समृजु प्रणिधाय शरीरयष्टिमस्तब्धा स्वाङ्के वामपाणितलस्योपरि दक्षिणपाणितलमुत्तल [१]समुपादाय नात्युन्मीलन्नातिनिमीलन् दन्तैर्दन्ताग्राणि संदधान ईषदुन्नतमुख प्रगुणमध्योऽस्तब्धमूर्तिः प्रणिधानगम्भीरशिरोधर प्रसन्नवक्त्रवर्णा अनिमिषस्थिरसौम्यदृष्टि विनिहितनिद्रालस्यकामरागरत्यरतिशोकहास्यभयद्वेषविचिकित्स मन्दमन्दप्राणापानप्रचार इत्येवमादिकृतपरिकर्मा साधुः, नाभेरूर्ध्वं हृदये मस्तकेऽन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचय प्रणिधाय मुमुक्षुः

जब आत्मा परीषह की बाधा को सहन करने मे समर्थ होती है तब ही ध्यानसिद्धि के लिए मुनिराज उपक्रम करते हैं अर्थात् परीषहो की बाधा सहन करके ही ध्यान प्रारम्भ किया जा सकता है। ध्यान के परिकर्म अर्थात् तैयारी का कथन करते है—

पर्वत, गुफा, वृक्ष की खोह (कोटर), नदीतट, श्मसान, जीर्ण उद्यान और शून्यागार आदि किसी स्थान मे व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के अगोचर, वहाँ के चलने-फिरने वाले चींटी आदि जन्तुओ से रहित (निर्जन्तु), समशीतोष्ण, अधिक शीत-उष्णता से रहित, अति वायु से रहित, वर्षा आतप आदि से रहित तथा सर्वत्र बाह्य और मन को विक्षेप करने वाले कारणो से रहित पवित्र और अनुकूल स्पर्श वाले भूमितल पर सुखपूर्वक पल्यकासन से बैठ, शरीर को सरल और निश्चल करके अपनी गोदी मे बाएँ हाथ पर दाहिना हाथ रखकर न खुले हुए न बन्द, ईषत् खुले हुए नेत्र, दाँतो पर दाँत रखकर कुछ ऊपर किये मुख, सीधी कमर, निश्चल मूर्त्ति, गम्भीर गर्दन, प्रसन्नमुख, अनिमेष स्थिर सौम्यदृष्टि, निद्रा, आलस्य, कामराग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदि को छोडकर मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास लेने आदि परिकर्म से (सहायक कारणो से) युक्त मुमुक्षु साधु नाभि के ऊपर हृदय, मस्तक या शरीर के किसी भी अवयव पर अभ्यासानुसार चित्तवृत्ति को स्थिर करके प्रशस्त ध्यान करने का प्रयत्न करे (प्रयत्न करना चाहिये)। इस प्रकार एकाग्रचित्त होकर राग-द्वेष मोह का उपशम जिसके हो गया है, ऐसा उपशान्त रागद्वेषमोही कुशलता से शारीरिक क्रियाओ का निग्रह करने वाला, मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास लेता हुआ, निश्चित लक्ष्य वाला और क्षमाशील मुमुक्षु बाह्याभ्यन्तर द्रव्य एवं पर्यायो का ध्यान करता हुआ वितर्क (श्रुत) के सामर्थ्य से युक्त हो, अर्थ और व्यजन, काय और वचन के पृथक्-पृथक् रूप से सक्रमण करने वाले और असीम बल और उत्साह से

---

१ समुपदाय–ता श्र ।

प्रशस्तध्यानं ध्यायेत् । तत्रैकाग्रमना उपशातरागद्वेषमोहो नैपुण्यान्निगृहीतशरीरक्रियो मन्दोच्छ्वासनिःश्वासः सुनिश्चिताभिनिवेष क्षमावान् बाह्याभ्यन्तरान् द्रव्यपर्यायान् ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्य. अर्थव्यञ्जने कायवचसी च पृथक्त्वेन सक्रामता मनसाऽपर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति । पुनर्वीर्यविशेषहानेर्योगाद्योगान्तर व्यञ्जनाद्वयञ्जनान्तरमर्थादर्थान्तरमाश्रयन् ध्यानविधूतमोहरजाः ध्यानयोगान्निवर्तते इति । उक्तं पृथक्त्ववितर्कवीचारम् ।

अनेनैव विधिना सतूलमूलं मोहनीय निर्दिधिक्षन्ननन्तगुणविशुद्ध योगविशेषमाश्रित्य बहुतराणा ज्ञानावरणसहायिभूताना[१] प्रकृतीना बन्ध निरुन्धन् स्थितेः ह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगवान्निवृत्तार्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ति अविचलितमना क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इति ? उक्तमेकत्ववितर्कम् ।

एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धघातिकर्मेन्धन. प्रज्वलितकेवलज्ञानगभ-

---

मन को सवल वनाकर अव्यवस्थित और भौथरे शस्त्र के द्वारा वृक्षछेदन के समान मोहकर्म की प्रकृतियो का उपशम एव क्षय करने वाले पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान का ध्याता होता है। पुन. शक्ति की हीनता होने से योग से योगान्तर, व्यञ्जन से व्यञ्जनान्तर और अर्थ से अर्थान्तर को प्राप्त करता हुआ ध्यान के द्वारा मोहरज का विध्वस करके इस ध्यान से निवृत्त हो जाता है, अर्थात् मोहकर्म का नाश करना ही पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान का कार्य है। यह ध्यान पृथक्-पृथक् अर्थ, व्यजन, योग की सक्रान्ति और श्रुत का आधार होने से सार्थक है। यह ध्यान यदि मोहकर्म का उपशमन करने वाला है तो छूट भी जाता है।

इसी विधि से मोहनीय कर्म का समूलतल उच्छेद करने की तीव्र इच्छा से अनन्तगुणविशुद्धयोग विशेप का आश्रय लेकर ज्ञानावरणीय की सहायभूत बहुत-सी कर्मप्रकृतियो के बन्ध को रोकता हुआ तथा उन कर्मप्रकृतियो की स्थिति का खण्डन और क्षय करता हुआ श्रुतज्ञानोपयोगवाला वह ध्यानी अर्थ, व्यञ्जन और योग की सक्रान्ति को रोककर एकाग्र निश्चल चित्त हो क्षीणकपायी वैडूर्यमणि के समान निर्लेप ध्यान धारण कर पुन. नीचे नही गिरता है, ज्ञानावरणादि कर्मो का नाश कर १२ वे गुणस्थान मे चला जाता है, यह एकत्ववितर्कध्यान है। यह इसका सार्थक नाम है क्योकि इसमे एक योग के आधार से, श्रुतज्ञान की सहायता से अर्थादि सक्रान्ति न करके ध्यान किया जाता है, इसलिये वितर्क सहित तो है परन्तु वीचार रहित है।

इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिसने घातिया कर्म रूपी ईंधन को

---

१ मोहनीयानामित्यर्थं —अ टि ।

स्तिमण्डल· मेघपञ्जरनिरोधनिर्गत इव घर्मरश्मिर्बाभास्यमानो भगवास्तीर्थंकर इतरो वा केवली लोकेश्वराणामभिगमनीयोऽर्चनीयश्चोत्कर्षेणायु·पूर्वकोटि देशोना विहरति । स यदा अन्तर्मुहूर्त्तशेषायुष्क तत्तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा सर्ववाङ्मनसयोग बादरकाययोग च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बन· सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानमास्कन्दितुमर्हति । यदा पुनरन्तर्मुहूर्त्तशेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिविशेषकर्मत्रयो भवति योगी तदा, आत्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्य शेषकर्मरेणुपरिशातनशक्तिस्वाभाव्यात् दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतश्चतुर्भि· समयै· कृत्वा पुनरपि तावद्भिरेव समयै समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिविशेषकर्मचतुष्टय· पूर्वशरीरपरिमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान ध्यायति ।

तदस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमारभते । समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तीत्युच्यते ।

जला दिया है, प्रज्वलित केवलज्ञान रूपी सूर्य से जो प्रकाशित है, मेघसमूह को भेदकर निकले हुए सूर्य की किरणो के समान देदीप्यमान है, ऐसे भगवान तीर्थंकर तथा अन्य केवली तीन लोक के ईश्वरो के द्वारा अभिवन्दनीय, अर्चनीय और अभिगमनीय होते है तथा वे कुछ कम उत्कृष्ट एक कोटि पूर्वकाल तक विहार करते है (जगत् के प्राणियो को धर्म का उपदेश देते है) । जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहती है तथा वेदनीय, नाम और गोत्र की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहती है तब सभी मन-वचन योग और बादरकाययोग को छोडकर केवलो भगवान सूक्ष्मकाययोग का अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान प्रारम्भ करते है, परन्तु जब आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है और शेष तीन कर्मो (गोत्र, वेदनीय, नाम) की स्थिति आयुकर्म से अधिक रहती है तब योगी विशिष्ट आत्मोपयोगवालो परमसामायिकपरिणत विशिष्टकरण महासवर की कारणभूत शीघ्र ही कर्मो को पचाने वाली (कर्मो की निर्जरा करने वाली) समुद्घात क्रिया करता है । वह इस क्रिया से शेप कर्मरेणुओ का परिपाक करने के लिये चार समयो मे दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण अवस्था मे आत्मप्रदेशो को पहुँचा कर फिर क्रमश· चार ही समयो मे उन प्रदेशो का सहरण कर चारो कर्मों की स्थिति समान कर लेता है । इस दशा मे वह फिर अपने शरीर परिमाण हो जाता है । पुन. सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान प्रारम्भ करता है । सूक्ष्मकाययोगी के द्वारा इसका ध्यान किया जाता है अतः सूक्ष्मक्रिया और अप्रतिपाती होने से सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती यह इसका नाम सार्थक है ।

इसके बाद १४वे गुणस्थान मे समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती ध्यान प्रारम्भ होता है । श्वासोच्छ्वास आदि सर्व मन, वचन और काय सम्वन्धी व्यापारो का निरोध होने से यह ध्यान समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति कहलाता है । इस समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान मे सर्व आस्रव-वन्ध का

तस्मिन् समुच्छिन्नक्रियानिर्वर्तिनि ध्याने सर्वबन्धास्रवनिरोधसर्वशेषकर्मशातनसामर्थ्योपपत्तेरयोगिनः केवलिनः सपूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शन सर्वसंसारदु.खजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते। स पुनरयोगिकेवली भगवास्तदा ध्यानानलनिर्दग्धसर्वमलकलङ्कबन्धो[१] निरस्तकिट्टधातुपाषाणजात्यकनकवल्लब्धात्मा परिनिर्वाति। तदेतद् द्विविध तप अभिनवकर्मास्रवनिरोधहेतुत्वात् सवरणकारण प्राक्तनकर्मरजोविधूननिमित्तत्वान्निर्जराहेतुरपि।

अत्राह्–उक्त परीषहजयात्तपसश्च कर्मनिर्जरा भवतीति, तत्रेदं न ज्ञायते सर्वे सम्यग्दृष्टय. समनिर्जराः आहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इति? अस्तीत्याह–

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

निरोध होकर समस्त कर्मो को नष्ट करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, इसके धारक अयोगकेवली के ससार दु.खजाल के उच्छेदक, साक्षात् मोक्षमार्ग के कारण परिपूर्ण यथाख्यात चारित्र, ज्ञान, दर्शन आदि गुण उत्पन्न हो जाते है। वे अयोगकेवली भगवान पुन. ध्यान रूपी अग्नि से समस्त कर्ममल कलकवन्धो को जलाकर (भस्म कर) किट्ट-कालिमा रहित सुवर्ण के समान परिपूर्ण स्वरूप लाभ करके निर्वाण को प्राप्त हो जाते है। ये दोनो प्रकार के तप नूतन कर्मास्रव के निरोधक होने से सवर के कारण हैं तथा पुरातन कर्मरज के नाशक होने से निर्जरा के भी कारण है, अत' सवर और निर्जरा के कारणभूत अन्तरग और बहिरग तप अवश्य करने चाहिए।

परीपहो पर विजय और अन्तरग बहिरग तपश्चरण करने से कर्मो की निर्जरा होती है, ऐसा कहा है, परन्तु यह नही जाना गया कि सब सम्यग्दृष्टियो के निर्जरा समान होती है कि उनमे कुछ विशेषता है? ऐसी आशका होने पर आचार्य उत्तर कहते है—

(अविरत) सम्यग्दृष्टि, श्रावक (देशविरत), विरत (प्रमत्त, अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि) अनन्तानुवन्धी कषाय के विसंयोजक, दर्शनमोह का क्षय कर क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले, चारित्रमोह के उपशमक (उपशम श्रेणी चढ़ने वाले) उपशान्तमोह (११ वें गुणस्थानवर्ती), चारित्रमोह का क्षय करने वाले (क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले), क्षीणमोह (१२ वें गुणस्थानवर्ती) तथा सयोगकेवली जिन और अयोगकेवली जिन, ये क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा वाले होते है ॥ ४५ ॥

---

१. –बन्धनो श्र. ता।

प्रथमसम्यक्त्वादिप्रतिलम्भे अध्यवसायविशुद्धिप्रकर्षादसख्येयगुणनिर्जरात्व दशानाम्। मद्यपानाविष्टस्य मदैकदेशविगमादव्यक्तावगमशक्तिवत्, प्रकृष्टनिद्रस्य वा तदेकदेशक्षयादल्पस्मृतिजन्मवत्, विषमोहितमूर्तेर्वा एकदेशविषप्रच्युतेश्चेतनाप्रतिलम्भवत्, पित्तादिविकारोपजातमूर्च्छस्य वा मोहैकदेशनिवृत्तेरव्यक्तचैतन्यवत् एकेन्द्रियेष्वनन्तकायादिषु अनन्तकालमुत्पद्योत्पद्य परिभ्रमत· विशेषलब्ध्या द्वीन्द्रियादिजन्म यावत्पञ्चेन्द्रिय इति कदाचित्पुन प्रतिनिवर्तते। तदेव बहुकृत्वो निवर्तनारोहणबहुशतसहस्रेषु कदाचित् पञ्चेन्द्रियत्व नरकादिषु दीर्घकालमनुभूय घुणोत्कीर्णाक्षरसमानजातीयमानवेषु जन्मावाप्नुयात्। भ्रान्त्वा पुनरपि ततो दुर्लभानि देशकुलादीन्यवाप्य सक्लेशस्य म्रदिम्ना विशुद्धव्यवसाय· प्रतिभाशक्तियुक्त भव्य परिणामशुद्धया प्रक्षालितान्तरात्माप्युपदेशासभवात् सन्मार्गमलभमान कुतीर्थप्रतिपादितमिथ्यादर्शनो भूत्वा पुनरपि ससारमहाजनपदातिथिर्भवति। अभिहितक्रमेणैव भूयो ज्ञानावरणकर्मैकदेशप्रशमोपजातविशुद्धिरुपदेशलब्धिसम्पन्न अथवा मौनीन्द्रं दर्शन कदाचिच्छृणुयात् प्रतिबन्धिनश्च कर्मण न्यग्भावात्

प्रथम सम्यक्त्व आदि का लाभ होने पर अध्यवसाय (परिणामो) की विशुद्धि की प्रकर्षता से ये दसो स्थान क्रमश असख्येयगुणी निर्जरावाले है। जैसे मद्यपायी के शराब का कुछ नशा उतरने पर अव्यक्त ज्ञानशक्ति प्रकट होती है, या दीर्घ निद्रा के हटने पर जैसे ऊँघते-ऊँघते भी अल्प स्मृति होती है, या विषमूर्च्छित व्यक्ति को विष का एकदेश वेग कम होने पर चेतना आती है, अथवा पित्तादि विकार से मूर्च्छित व्यक्ति को मूर्च्छा हटने पर अव्यक्त चेतना आती है—उसी प्रकार अनन्तकाय आदि एकेन्द्रियो मे बार-बार जन्म-मरण-परिभ्रमण करते-करते विशेष लब्धि से दो इन्द्रिय आदि से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस पर्याय मिलती है। कदाचित् पुन. वही एकेन्द्रियो मे परिभ्रमण करना पडता है। अर्थात् कोई प्राणी निगोद से निकलकर द्वीन्द्रिय आदि मे भ्रमण कर पुन निगोद मे चले जाते है। इस प्रकार अनेक बार चढ-उतर कर (कभी एकेन्द्रिय, कभी दो इन्द्रिय, कभी तीन इन्द्रिय आदि मे हजारो बार परिभ्रमण करके) नरकादि पर्यायो मे दीर्घकाल तक पञ्चेन्द्रियत्व का अनुभव करके घुणोत्कीर्ण अक्षर (घुण चलता है, उससे अक्षर का आकार बन जाना घुणाक्षर न्याय है) के समान अतीव कठिनता से मानव-जन्म प्राप्त करता है। फिर भी (मानुषभव प्राप्त करके) ससार मे भ्रमण कर मानुप पर्याय से भी अतिदुर्लभ उत्तम देश, उत्तम कुल, आदि को प्राप्त करके अल्प सक्लेश के कारण वह भव्यजीव प्रतिभा शक्ति वाला हो थोडी सी विशुद्धि को पा लेता है, परिणामो की विशुद्धि से अन्तरात्मा का प्रक्षालन होने पर भी यदि योग्य उपदेश नही मिलता तो उसे सन्मार्ग की प्राप्ति नही होती और वह कुतीर्थो के द्वारा प्रतिपादित मिथ्या पदार्थों को मानकर मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्यामार्गो मे भटककर पुन: जन्माटवी मे परिभ्रमण करता है, यानी ससार का अतिथि बना रहता है। इस प्रकार पूर्वोक्त क्रम से ज्ञानावरणादि कर्मो के क्षयोपशम से उत्पन्न विशुद्धि, उपदेश, लब्धि-सम्पन्न (क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि को प्राप्त करता है) होता है। अथवा कभी मुनिराजकथित जिनधर्म को सुनता है तथा कदाचित् प्रतिबन्धी कर्मो के दब जाने से उस पर श्रद्धान भी करता है, जैसे कतक फल के सम्पर्क से जल का

श्रद्दध्यात् कतकसम्पर्कोपजनितकलुषतोयप्रसादवत् असद्भूतार्थोपदेशमलीमसः मिथ्यात्वोपशमात् [१]परिणतप्रसादः श्रद्धानाभिमुखोऽभिलाषाभि[२]मुख्यादसंख्येयगुणनिर्जरः अभूतपूर्वकरणात् प्रथमसम्यक्त्वाभिमुखो रुचितजिनवचन उपशमसम्यग्दृष्टितामनुभवति। तत सम्यक्त्वभावनामृतरसविवर्द्धितविशुद्धि मिथ्यात्वविघातिवीर्याविर्भावे क्षुद्यमानव्रीहितुषकणतन्दुलविवेकवत्, मिथ्यादर्शनकर्म मिथ्यात्वसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वविभागेन त्रिधा विभज्य सम्यक्त्व वेदयमान. सद्भूतपदार्थश्रद्धानफल वेदकसम्यग्दृष्टिर्भवति। ततः प्रशमसंवेगादिमान् जिनेन्द्रभक्तिप्रवर्द्धितविपुलभावनाविशेषसंभारो यत्र केवलिन सन्ति भगवन्तस्तत्र मोहं क्षपयितुमारभते, निष्ठापकः पुनश्चतसृषु गतिषु [३]भवति। स निराकृतमिथ्यात्वः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। अथवा पूर्वोदित[४] एव शङ्कादिदोषविनिर्मुक्त. कुसमयैरक्षोभितमति उपलब्धसद्भावो मोहतिमिरपटलविप्रमुक्तदृष्टिः जैनेन्द्रपूजाप्रवचनवात्सल्यसंयमादिप्रशसादिपरतया क्षपितोपशमितदेशघातिकर्मा सयमा-

---

कीचड नीचे बैठ जाता है, और जल निर्मल बन जाता है उसी प्रकार मिथ्या उपदेश से अतिमलिन मिथ्यात्व के उपशम से आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर श्रद्धानाभिमुख होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान की अभिलाषा के सन्मुख होकर कर्मो की असख्यातगुणी निर्जरा करता है और अभूतपूर्वकरण (अनिवृत्तिकरण परिणामो) से प्रथम सम्यक्त्व के सम्मुख होता है तथा जिनेन्द्र के वचनो मे परम रुचि एव श्रद्धान करता हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। अर्थात् उपशम सम्यक्त्व का अनुभव करता है। पुनः सम्यक्त्व भावना रूप अमृत रस से विशुद्धि को बढाता हुआ मिथ्यात्व की घातक शक्ति का आविर्भाव होने से, धान्य को कूटने से जैसे तुष, कण और चावल पृथक्-पृथक् हो जाते है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, ये तीन विभाग करके सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन करता हुआ सद्भूत पदार्थो का श्रद्धान करना जिसका फल है ऐसा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होता है। पुन प्रशम, सवेग, अनुकम्पादि गुणो का धारी जिनेन्द्र-भक्ति से बढी हुई विपुल भावनाओं का आगार यह वेदक सम्यग्दृष्टि जहाँ केवली है वहाँ उनके चरणमूल मे मोह (दर्शनमोह) का क्षय करना प्रारम्भ करता है। उस क्षायिक सम्यक्त्व की पूर्णता पूर्व मे बाँधे हुए आयुकर्म के अनुसार चारों गतियो मे से किसी भी गति मे करता है, (परन्तु प्रारम्भ कर्मभूमिया मनुष्य ही करता है) इस प्रकार मिथ्यात्व का निराकरण करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। (अर्थात् जिन्होने मिथ्यात्व अवस्था मे नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यादि का बन्ध कर लिया हो, पुन. क्षायिक सम्यक्त्व करना प्रारम्भ किया हो तथा अनन्तानुवन्धी चार मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्वप्रकृति का क्षय करके मर गया हो, पुनः चारो गतियो मे से किसी मे जन्म लेकर सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है अतः मोह के क्षय की समाप्ति चारो गतियो मे है) अथवा, पूर्वकथित शकादि दोषो से रहित, कुसमयो (कुशास्त्रो) से अक्षुब्ध बुद्धि वाला, सत्पदार्थो की उपलब्धि करने वाला और मोहतिमिर

---

१. प्रोणितप्र–मु द.ब.ज। २. तत्त्वार्थ–श्र टि। ३. बद्धायुष्कापेक्षया—श्र टि.। ४ वेदकसम्यग्दृष्टि श्र. टि.।

सयमप्राप्त्या श्रावकोऽपि स्यात् । पूर्वनिर्दिष्ट ततो विशुद्धिप्रकर्षात् पुनरपि सर्वगृहस्थ-सङ्गविप्रमुक्तो निर्ग्रन्थतामनुभवन् विरत इत्यभिलप्यते । एवमुत्तरोत्तरक्रमो वेदितव्योऽन्वर्थः । त एते दशाप्युपर्युपरि असख्येयगुणनिर्जरा वेदितव्या ।

क्षपक इत्यसाधुरन्वाख्यानाभावादिति चेत्; न; चशब्देन मित्संज्ञोपलब्धेः । १ । स्यान्मतम्–क्षपक इत्ययमसाधुः । कुत ? अन्वाख्याना[1]भावादिति,[2] तन्न, कि कारणम् ? चशब्देन मित्सज्ञोपलब्धेः । क्षै जै षै क्षय इत्यस्य कृतात्वस्य **"णिचियुकि-जविजृष्टुसुरजोमताश्च"** इति चशब्देन मित्सज्ञाया सत्या ह्रस्वत्वात् साधुर्भवति । प्रयुक्तानामन्वाख्यानात् प्रयोगदर्शनाच्च ।

आह–सम्यग्दर्शनसन्निधानेऽपि यद्यसख्येयगुणनिर्जरात्वात् परस्परतो न साम्यमेषा हन्त तर्हि श्रावकवदमी पूर्वसूत्रचोदिता न सर्वे विरतादयो गुणभेदात् निर्ग्रन्थतामर्हन्तीति ?-

---

पटल से विमुक्तदृष्टियुक्त तथा जैनेन्द्रपूजा, प्रवचनवात्सल्य और सयमादि की प्रशसा मे तत्पर रहकर देशघातीकर्मो के क्षयोपशम से सयमासयम को प्राप्त कर श्रावक हो जाता है । पुन पूर्वनिर्दिष्ट वेदकसम्यग्दृष्टिविशुद्धि के प्रकर्ष से समस्त गृहस्थ-सम्बन्धी परिग्रहो से मुक्त होकर निर्ग्रन्थता का अनुभव करता हुआ विरत (महाव्रती) हो जाता है । इसी प्रकार आगे-आगे विशुद्धिप्रकर्ष से असख्यातगुणी निर्जरा होती है । इस प्रकार क्रमशः दस स्थानो मे उपरि-उपरि असख्यातगुणी निर्जरा का क्रम जानना चाहिये ।

प्रश्न—क्षपक शब्द ठीक नही है क्योकि 'पुटाच्' इस सूत्र से 'क्षि' धातु दीर्घ होता है, ह्रस्व नही, इससे 'क्षापक' शब्द बन सकता है, 'क्षपक' नही । अत· 'क्षपक' शब्द अन्वाख्य (व्याकरण की सिद्धि) का अभाव होने से ठीक नही है । **उत्तर**—च शब्द से मित् सज्ञा की उपलब्धि होती है अर्थात् 'क्षै जै षै' धातु क्षय अर्थ मे है । 'णिचि युकि ' इत्यादि सूत्र से क्षै धातु से आत्व और मित् सज्ञा होकर ह्रस्वत्व होने पर 'क्षपक' शब्द ठीक बन जाता है, व्याकरण की दृष्टि से सिद्ध है । अत प्रयुक्त शब्दो का अन्वाख्यान होने से और प्रयोग देखे जाने से सिद्धि होती है ।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का सन्निधान (सम्यग्दर्शनयुक्त) होने पर भी यदि असख्यात गुणी निर्जरा होने से इनमे परस्पर समानता नही है तो श्रावक के समान पूर्व सूत्र मे कहे गये सर्व विरतादि गुणभेद होने से निर्ग्रन्थ नही हो सकते, अर्थात् विरतादि निर्ग्रन्थ नही है । **उत्तर**—विरतादि को निर्ग्रन्थ नही मानना ठीक नही है, क्योकि यद्यपि गुणो के भेद से पुलाकादि विरतो (सयमी निर्ग्रन्थो) मे परस्पर विशेषता है और वास्तव मे १२ वे गुणस्थानवर्ती विरत ही अन्तरग कषायादि परिग्रह

---

१ लक्षणानुसारेण –अ टि । २ पुटाच् इत्यादि सूत्रे क्षि धातोग्परे पठितत्वात् ह्रस्वाभावः तस्मात् क्षापक इति प्राप्नोति, क्षपक इति अपगतलक्षण इत्याह चोदकः –अ टि ।

उच्यते–नैतदेवम् । कुत ? यस्माद् गुणभेदादन्योन्यविशेषेऽपि नैगमादिनयव्यापारात् सर्वेऽपि भवन्ति–

पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातका निर्ग्रंथाः ।। ४६ ।।

अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीनाः पुलाकाः । १ । उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित् परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्त अविशुद्धपुला[1]कसादृश्यात् पुलाकव्यपदेशमर्हन्ति ।

अखण्डितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणा वकुशाः । २ । नैर्ग्रन्थ्य प्रस्थिताः अखण्डितव्रता शरीरोपकरणविभूषा[2]नुवर्तिन. ऋद्धियशस्कामा· सात-गौरवाश्रिता· अविविक्तपरिवारा· छेदशबलयुक्ता· वकुशा· । शबलपर्यायवाची वकुशशब्दः ।

कुशीला द्विविधाः प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात् । ३ । कुशीला द्विविधा भवन्ति ।

का अभाव होने से निर्ग्रन्थ हैं तथापि नैगमनय की अपेक्षा से सभी निर्ग्रन्थ होते हैं, उन निर्ग्रन्थों के भेद कहते हैं—

पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक, ये पॉच निर्ग्रन्थ मुनि होते है ।। ४६ ।।

अपरिपूर्ण व्रत वाले और उत्तरगुण से रहित 'पुलाक' होते है । जिनके मन में उत्तरगुणों के पालन करने की भावना नही है, मूलगुणो की भी कभी-कभी विराधना करते है अर्थात् मूलगुणो का भी परिपूर्ण पालन नही करते है, वे विना पके वा जिसमे पूर्ण शुद्धि नही हुई है, उस पुलाक धान्य के समान व्रतों की शुद्धि न होने से पुलाक इस नाम को धारण करते है, अर्थात् पुलाक कहलाते है ।। १ ।।

जो निर्ग्रन्थ यद्यपि मूलगुणों का अखण्ड रूप से (निर्दोषता से) पालन करते है, परन्तु शरीर और उपकरणो की सजावट मे जिनका चित्त लगा है, यश और ऋद्धियो की जो कामना करते हैं, सात और गौरव से युक्त है, परिवार के ममत्व से जिनकी चित्तवृत्ति निवृत्त नही हुई है और छेद से जिनका चित्त शबल अर्थात् चित्रित है, वे वकुश है, क्योकि वकुश शब्द शबल का पर्यायवाची है ।। २ ।।

प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील के भेद से कुशील मुनि दो प्रकार के है । यहॉ कुशील का अर्थ व्यभिचार नही है । परिग्रह की भावना सहित (अन्तरग मे कमण्डलु आदि परिग्रह की

---

१ तृणधान्यविशेषः –अ. टि. । २. –सायानुव –ता. श्र. ।

कुतः ? प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात् । अविविक्तपरिग्रहा परिपूर्णोभया कथञ्चिदुत्तरगुणविराधिन प्रतिसेवनाकुशीला. । ग्रीष्मे जङ्घाप्रक्षालना[1]दिसेवनाद्वशीकृतान्यकषायोदया. संज्वलनमात्रतन्त्रत्वात् कषायकुशीला. ।

उदके दण्डराजिवत्सन्निरस्तकर्माणोऽन्तर्मुहूर्तकेवलज्ञानदर्शनप्रापिणो निर्ग्रन्थाः । ४ । उदके दण्डराजिर्यथा आश्वेव विलयमुपयाति तथाऽनभिव्यक्तोदयकर्माणः ऊर्ध्वं मुहूर्त्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्था. ।

प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनः स्नातकाः । ५ । ज्ञानावरणादिघातिकर्मक्षयादाविर्भूतकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतयः सयोगिशैलेशिनो लब्धा[2]स्पदा केवलिन. स्नातका । **"स्नातवेदसमाप्तौ"** इति स्वार्थिके के निष्पन्न शब्द । त एते पञ्चनिर्ग्रन्था । कश्चिदाह–

प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यानां निर्ग्रन्थाभावश्चारित्रभेदाद् गृहस्थवत् । ६ । यथा गृह-

---

अभिलाषा बनी रहती है) मूल और उत्तर गुणो मे परिपूर्ण कभी-कभी उत्तरगुणो की विराधना करने वाले **प्रतिसेवनाकुशील** कहलाते है। ग्रीष्मकाल में उष्णता के कारण जघाप्रक्षालन आदि का सेवन करने की इच्छा होने से जिनके सज्वलन कषाय जगती है और अन्य कषाये वश मे हो चुकी है, वे **कषायकुशील** कहलाते है ।। ३ ।।

जैसे पानी मे खीची गई रेखा शीघ्र ही विलीन हो जाती है उसी प्रकार जिनके कर्मो का उदय अत्यन्त अनभिव्यक्त (नही के समान) है तथा जिनको अन्तर्मुहूर्त्त के भीतर ही केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होने वाली है उन्हे **निर्ग्रन्थ** कहते है, वा वे निर्ग्रन्थ हैं। वा जिनके अतरग और बहिरग दोनो प्रकार के परिग्रह नष्ट हो चुके है, वे निर्ग्रन्थ कहलाते है ।। ४ ।।

घातियाकर्म के नाशक केवलज्ञानी **स्नातक** है। ज्ञानावरणादि घातिया कर्मो के नाश हो जाने से जिनके केवलज्ञानादि अतिशय विभूतियाँ प्रकट हुई है, जो योग सहित है, सम्पूर्ण शीलो के स्वामी है, वा शैल-पर्वत के समान अचल अडोल अकम्प है, लब्धास्पद (कृतकृत्य) है वे सयोगकेवली स्नातक कहलाते है। अथवा, 'स्नात्' धातु वेद और परिसमाप्ति मे आता है, स्वार्थ मे 'इकण्' प्रत्यय लगाकर स्नातक शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है, जिनके सर्व कार्य समाप्त हो चुके हैं, वे स्नातक हैं। ये पाँचो ही **निर्ग्रन्थ** कहलाते है। यहाँ कोई **प्रश्न**—करता है कि—।। ५ ।।

जैसे गृहस्थ चारित्र के भेद से निर्ग्रन्थ नही कहलाता है उसी प्रकार पुलाक आदि भी प्रकृष्ट

---

१ मस्तकप्रक्षालन—मु टि । २ कृतकृत्या इत्यर्थं, प्रतिष्ठाकृत्यमास्पदमित्यभिधानात्—श्र टि ।

स्थश्चारित्रभेदान्निर्ग्रन्थव्यपदेशभाग् न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्टाप्रकृष्ट-मध्यमचारित्रभेदान्निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते ।

न वा, दृष्टत्वात् ब्राह्मणशब्दवत् । ७ । न वैष दोषः । कुतः ? दृष्टत्वात् ब्राह्मणशब्दवत् । यथा जात्या चारित्राध्ययनादिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दोऽविशिष्टो वर्तते तथा निर्ग्रन्थशब्दोऽपि इति । किञ्च,

संग्रहव्यवहारापेक्षत्वात् । ८ । यद्यपि निश्चयनयापेक्षया गुणहीनेषु न प्रवर्त्तते तथापि संग्रहव्यवहारनयविवक्षावशात् सकलविशेषसंग्रहो भवति । किञ्च,

दृष्टिरूपसामान्यात् । ९ । सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूप च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्त. ।

भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसङ्ग इति चेत्; न; रूपाभावात् । १० । यदि भग्नव्रतेऽपि निर्ग्रन्थशब्दो वर्तते श्रावकेऽपि स्यादिति अतिप्रसङ्गः; नैष दोषः; कुतः ? रूपाभावात्,

---

(उत्कृष्ट), अपकृष्ट (जघन्य) और मध्यम आदि चारित्र के भेद होने से सभी निर्ग्रन्थ नही कहला सकते, पुलाकादि सभी मुनियो के निर्ग्रन्थत्व नही हो सकता ।। ६ ।।

उत्तर—जैसे चारित्र, अध्ययन आदि का भेद होने पर भी सभी ब्राह्मणों मे जाति की दृष्टि मे ब्राह्मण शब्द का प्रयोग समान रूप से होता है, उसी प्रकार चारित्र आदि की अपेक्षा से पुलाक बकुश आदि भेद होने पर भी पुलाक आदि सभी मुनियो मे समान रूप से निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग होता है । किञ्च—।। ७ ।।

सग्रह और व्यवहारनय की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ है। यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा गुणहीनो मे निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नही होता तथापि सग्रह और व्यवहारनय की अपेक्षा गुणहीन मे भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग सर्वसग्रहार्थ कर लिया जाता है । अथवा, ।। ८ ।।

दृष्टि रूप सामान्य की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ है; भूषा, वेष और आयुध से रहित निर्ग्रन्थरूप और शुद्ध सम्यग्दर्शन के कारण पुलाक आदि सभी मुनियो मे निर्ग्रन्थता समान है, क्योकि सभी सम्यग्दृष्टि हैं और भूषा, वेष, आयुध से रहित है, अत इनमे निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग सकारण है ।। ९ ।।

प्रश्न—भग्नव्रतो (किञ्चित् विराधित व्रतो) मे यदि निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग किया जाता है तो श्रावक मे भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग करना चाहिये, अतः अतिप्रसङ्ग दोष आता है । उत्तर—हम निर्ग्रन्थ रूप का प्रमाण मानते हैं, अत भग्नव्रत मे निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग करके भी श्रावकव्रत मे

निर्ग्रन्थरूपाभावात् । निर्ग्रन्थरूपमत्र न प्रमाणम् । न च श्रावके तदस्तीति नातिप्रसङ्गः ।

अन्यस्मिन् सरूपे[1]ऽतिप्रसङ्ग इति चेत्; न; दृष्ट्यभावात् । ११ । स्यादेतत्– यदि रूप प्रमाणमन्यस्मिन्नपि सरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेश प्राप्नोतीति; तन्न, किं कारणम् ? दृष्ट्यभावात् । दृष्ट्या सह यत्र रूप तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेश न रूपमात्र इति । अथ किमर्थः पुलाकादिव्यपदेशः ?

गुणप्रकर्षवृत्तिविशेषख्यापनार्थः पुलाकाद्युपदेशः । १२ । चारित्रगुणस्योत्तरोत्तर-प्रकर्षे वृत्तिविशेषख्यापनार्थं पुलाकाद्युपदेश क्रियते ।

तेषा पुलाकादीना भूयो विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नही कर सकते, क्योकि श्रावक मे निर्ग्रन्थरूपता नही है, इसलिये अतिप्रसग दोष नही है ॥ १० ॥

प्रश्न—यदि भग्नव्रत मे निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग होता है वस्त्रादि नही होने से तब तो जिस किसी नग्न मिथ्यादृष्टि में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग करना चाहिये । **उत्तर**—जिस किसी नग्न मे निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नही किया जा सकता; क्योकि उनमे सम्यग्दर्शन नही पाया जाता है जिनमे सम्यग्दर्शन सहित निर्ग्रन्थपना है, वही निर्ग्रन्थ है, केवल नग्नरूप मात्र निर्ग्रन्थ नही है । **प्रश्न**—पुलाक आदि का वर्णन किसलिये किया गया है ? ॥ ११ ॥

उत्तर—चारित्र गुणो की उत्तरोत्तर प्रकर्षता बताने के लिये पुलाकादि का उपदेश है, अर्थात् चारित्र गुण का क्रमविकास और क्रमप्रकर्ष दिखाने के लिये इन पुलाकादि भेदो की चर्चा की है ॥ १२ ॥

अब पुलाकादि मुनियो मे परस्पर और क्या विशेषता है, उसको प्रकट करने के लिए सूत्र कहते है—

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान के विकल्प से भेद सिद्ध किये गये है ॥ ४७ ॥

---

१. –पे सति प्र–ता । –पे–प्र श्र ।

तसोऽलक्षणत्वादनिर्देश इति चेत्; न; अन्यतोऽपीति वचनात्सिद्धेः । १ । स्यादेतत्–तसो नोत्पत्तेर्लक्षणमस्ति । ततो निर्देशो न युक्त इति; तन्न, किं कारणम् ? "अन्यतोऽपि" इति वचनात्सिद्धेः ।

१**भवदादियोग इति चेत्; न; अन्यत्रापि दर्शनात् । २ ।** स्यान्मतम्–भवदादियोगे "अन्यतोऽपि" इति लक्षणं व्याक्रियते, नान्यत्रेति तसो नोत्पत्तिरिति, तन्न; किं कारणम् ? अन्यत्रापि दर्शनात् । अन्यत्र तस. प्रयोगो दृश्यते–नार्थतो न शब्दतो नाभिधानतः सुमध्यम इति ।

प्रतिसेवनेति षत्वाभावः क्रियान्तराभिसंबन्धात् । ३ । यथा विगताः सेवका अस्माद् ग्रामाद्विसेवको ग्राम इति षत्वं न भवति तथा प्रतिगता सेवना प्रतिसेवनेति क्रियान्तराभिसवन्धात् षत्व न भवति ।

पुलाकादयः संयमादिभिः साध्याः । ४ । एते पुलाकादय. पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा सयमादिभिरष्टाभिरनुयोगैः साध्या व्याख्येया इत्यर्थः । तद्यथा, कः कस्मिन् **संयमे**

प्रश्न—अलक्षण होने से 'तस्' प्रत्यय का निर्देश करना युक्त नही है, अर्थात् 'तस्' प्रत्यय का उत्पत्तिलक्षण नही है अतः 'तस्' प्रत्यय का निर्देश नही करना चाहिये ? **उत्तर**—'तस्' प्रत्यय अलक्षण नही है—क्योकि 'तस्' प्रत्यय अन्य से भी होता है ।। १ ।।

भवति आदि के योग मे भी 'तस्' प्रत्यय होता है अन्यत्र नही, ऐसी आशका करना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि भवति आदि के योग के बिना भी 'तस्' प्रत्यय का प्रयोग सिद्ध है । 'तस्' प्रत्यय का प्रयोग भवति आदि को छोडकर अन्य शब्दो मे भी देखा जाता है, जैसे—नार्थतः (अर्थ से नही), न शब्दतः (शब्द से नही), नाभिधानतः (अभिधान से नही), सुमध्यम है; इस प्रकार इन शब्दो मे भी 'नस्' प्रत्यय का प्रयोग है ।। २ ।।

क्रियान्तर के अभिसम्वन्ध से प्रतिसेवना मे 'षत्व' का अभाव है । जैसे—'विगतसेवक-ग्राम' का नाम विसेवक है । इसमे नामि परे 'स' 'प' नही हुआ, उसी प्रकार प्रतिगतासेवना में प्रतिसेवना है, इसमे भी क्रियान्तर का अभिसम्वन्ध होने से 'स' का षत्व नही होता है ।। ३ ।।

ये पुलाकादि सयमादि के द्वारा साध्य हैं । ये पुलाकादि पाँच निर्ग्रन्थ विशेष सयमादि आठ अनुयोगो के द्वारा साध्य होते है, विशेष रूप से सिद्ध करने योग्य होते है । जैसे किसमे कौनसा सयम होता है ? संयम—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील सामायिक और छेदोपस्थापना

---

१ पाद्यादिभ्य इति न भवद्भिभक्त्यन्तेभ्यः 'तस्' भवति–अ. टि । २ सम-मु द.ज. ।

भवति ? पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलाः द्वयो सयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनयो-र्भवन्ति। कषायकुशीला द्वयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायो. पूर्वयोश्च। निर्ग्रन्थ-स्नातकाः एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे।

श्रुतम्–पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषाय-कुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतम् आचारवस्तु। वकुश-कुशीलनिर्ग्रन्थाना श्रुतम् अष्टौ प्रवचनमातरः। स्नातका अपगतश्रुता केवलिनः।

प्रतिसेवना–पञ्चाना मूलगुणाना रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतम प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। वकुशो द्विविधः–उपकरणवकुशः शरीरवकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्त बहुविशेषयुक्तोपकरणकाङ्क्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरणवकुशो भवति। शरीरसस्कारसेवी शरीरवकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन् उत्तरगुणेषु काञ्चिद्विराधना प्रतिसेवते। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाना प्रतिसेवना नास्ति।

इन दो सयमो को धारण करते है अर्थात् इनके दो सयम होते है। कषायकुशील मुनि के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय, ये चार सयम होते है। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक यथाख्यात सयम ही होता है।

श्रुत की दृष्टि से—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनि उत्कृष्ट से अभिन्न अक्षर-दशपूर्व के धारी होते है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट चौदह पूर्व के धारी होते हैं। जघन्य से पुलाक का श्रुत आचारवस्तु के ज्ञान तक सीमित है। वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थो का जघन्य श्रुत आठ प्रवचनमातृकाओ (पाँच समिति और तीन गुप्ति) के ज्ञान तक है। स्नातक-केवली है, अत. श्रुतातीत है।

प्रतिसेवना : पाँच मूलगुण (अहिंसामहाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत) तथा रात्रिभोजनत्याग रूप षष्ठ व्रत मे से किसी की पर के दवाव से प्रतिसेवना (विराधना) करने वाला पुलाक मुनि होता है, अर्थात् पुलाक मुनि के पर के दवाव से पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनत्याग व्रत की विराधना हो जाती है। वह प्रतिसेवना है। वकुश मुनि दो प्रकार के होते है—उपकरणवकुश और शरीरवकुश। उपकरणो (पिच्छिका, कमण्डलु, शास्त्र) में जिनका चित्त आसक्त है, जो अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न परिग्रह से युक्त हैं, जो सुन्दर बहुविशेष रूप से अलकृत उपकरणो के आकाङ्क्षी है तथा जो उन उपकरणो का सस्कार किया करते हैं अथवा उनके उपकरण स्वच्छ, सुन्दर दीखते रहे ऐसा उनका सस्कार पसन्द करते हैं, ऐसे मुनि उपकरणवकुश कहलाते है। शरीरसस्कारसेवी (शरीर को स्वच्छ वा सुसज्जित रखने मे तत्पर) भिक्षु शरीरवकुश कहलाता है। जो मूलगुणो का निर्दोष पालन करने वाला है, परन्तु

तीर्थमिति सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु भवन्ति ।

लिङ्गं द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च । भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्थ-लिङ्गिनो भवन्तीति । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य[1] भाज्याः ।

लेश्याः—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति । वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि । कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेश्च[2]तस्र(श्च चतस्र)उत्तराः । सूक्ष्म-साम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति । अयोगशैले प्रतिपन्ना अलेश्याः ।

उपपादः—पुलाकस्य उत्कृष्ट उपपादः उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे, वकुशप्रति-सेवनाकुशीलयोः द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयोः, कषायकुशीलनिर्ग्रन्थ-

---

उत्तरगुणो की कभी-कभी विराधना करता है, वह प्रतिसेवनाकुशील है । कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के कभी भी व्रतो की विराधना नही होती, अत. ये प्रतिसेवना से रहित है ।

तीर्थ : सभी तीर्थंकरो के तीर्थ मे पुलाक आदि मुनि होते है ।

लिंग : लिंग दो प्रकार का है—द्रव्यलिंग और भावलिंग । भावलिंग की अपेक्षा ये पाँचो ही निर्ग्रन्थलिंगी होते है, परन्तु द्रव्यलिंग की अपेक्षा भाज्य है, अर्थात् भाव की अपेक्षा पाँचो ही प्रकार के मुनि भावलिंगी सम्यग्दृष्टि निष्प्रमादी हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा पुलाक आदि भेद है ।

लेश्या : पुलाक मुनि के उत्तर की तीन (पीत, पद्म और शुक्ल) लेश्या होती है । वकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहो लेश्या होती है । कषायकुशील और परिहारविशुद्धि वाले के उत्तर की चार (नील, पीत, पद्म, शुक्ल) लेश्या होती है । सूक्ष्मसाम्पराय, निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक शुक्ललेश्या ही होती हैं। अयोगशैल को प्रतिपन्न (अयोगकेवली) लेश्यारहित होते है । यद्यपि चतुर्थगुणस्थान के ऊपर शुभ तीन लेश्या ही कही है, फिर चार लेश्या मानना ठीक नही है, क्योकि भावलिंगी मुनि छठे आदि गुणस्थान मे होते है, परन्तु छहों लेश्याओ का वकुश के जो वर्णन किया है, वह आर्त्तध्यान की अपेक्षा वर्णन किया है, कार्य मे कारण का उपचार किया है ।)

उपपाद—पुलाक का उत्कृष्ट रूप से उपपाद सहस्रार स्वर्ग मे उत्कृष्टस्थिति वाले देवो तक है, अर्थात् पुलाक अठारह सागर की स्थिति वाले १२ वे स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है । वकुश और प्रतिसेवनाकुशील का उत्कृष्ट रूप से आरण और अच्युतकल्प मे २२ सागर की उत्कृष्टस्थिति

---

१ आश्रित्य–श्र टि । २. –श्च तिस्र–मू. ता. श्र । "कषायकुशीलस्य चतस्र उत्तरा" –सर्वार्थसि ९।४७ ।

योऽनार्यस्त्रिशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ। सर्वेषामपि जघन्य. सौधर्मकल्पे द्वे सागरोपमस्थितिषु। स्नातकस्य निर्वाणमिति।

स्थानम्—असंख्येयानि सयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः, तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छत', ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानीष्टस्थानानि गच्छति एकाकी। ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशा. युगपदसख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति, ततो वकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा निर्ग्रन्थस्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीत्येतेषा सयमलब्धिरनन्तगुणा भवतीति।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मे उपपाद होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि मे तेंतीस सागर की स्थिति मे उत्पन्न होते है। पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, इन सभी का जघन्य रूप से सौधर्मस्वर्ग मे दो सागर की आयु सहित देवो मे उपपाद होता है। स्नातक के तो उसी भव से निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है।

स्थान—कषाय के निमित्त से असख्यात सयमस्थान होते है। उनमे कषायकुशील और पुलाक के सर्वजघन्य लब्धिस्थान होते हैं। वे दोनो आगे एक साथ असख्यात सयमस्थानो को प्राप्त होते हैं। उसके आगे पुलाक की व्युच्छित्ति हो जाती है, अर्थात् सयमलब्धि की अधिक विशुद्धि होने से पुलाक भाव वाले मुनि नही रहते। उसके आगे कषायकुशील असख्यात सयमस्थानो को अकेला ही प्राप्त होता है। उसके आगे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और वकुश एक साथ असख्यात संयमस्थानो को प्राप्त होते है, उसके आगे वकुश रूप परिणामो की व्युच्छित्ति हो जाती है। उसके आगे भी असंख्येय सयमस्थान (परिणामो की विशुद्धि) को प्राप्त होकर कषायमन्द हो जाने से प्रतिसेवनाकुशील रूप परिणामो को व्युच्छित्ति हो जाती है। उससे असख्यात सयमस्थानो के वीत जाने पर कषायकुशील परिणामो की व्युच्छित्ति हो जाती है। इसके आगे अकषाय स्थान को प्राप्त होकर निर्ग्रन्थ हो जाता है। वह निर्ग्रन्थ भी असख्यात सयमस्थानो को प्राप्त कर व्युच्छिन्न हो जाता है। उसके बाद निर्ग्रन्थ (१२ वे गुणस्थानवर्ती) तथा स्नातक (सयोगकेवली और अयोगकेवली) एक स्थान को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इनके सयमस्थान एक ही होता है, क्योकि कषायों के अभाव में सयमस्थान नही होते। इस प्रकार इनके सयमलब्धि अनन्तगुणी होती है।

इस प्रकार तत्त्वार्थवार्त्तिकअलंकार में नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

आह–आस्रवदोषानवलिप्तत्वं परिस्पन्दवतोऽपि कुशलस्य कर्मागमद्वारसंवरणादित्युपपादित. सवरपदार्थः, तदनन्तरनिर्देशभाविनी निर्जराऽभिधीयतामिति ? अत्र ब्रूमः नासाविह पुनर्वक्तव्या। कुत. ? तपोऽनुभवसबन्धेन[1] यस्मात्पुरैव [2]व्याख्याता। यथानामोपभुक्तविचित्रफलकर्मनिवृत्तिर्निर्जरा। [3]तत्रानवसरप्राप्तेति चेत्; न; [4]अर्थवशाच्छास्त्रगरीयस्त्वपरिहारार्थत्वाच्च। [5]सवरानन्तरनिर्देशार्हेति चेत्; तथैवाभिहिता

प्रश्न—मन, वचन और कायरूप योग के निमित्त से आत्मप्रदेशो में परिस्पन्दन होते हुए भी चतुर प्राणी का, कर्मागम द्वार के रुक जाने से आस्रवदोषो के द्वारा लिप्त नही होना ही सवर पदार्थ कहा है, उस सवर के अनन्तर जिसका निर्देश किया गया है, ऐसी निर्जरा का यहाँ कथन करना चाहिये ? उत्तर–देते हैं कि यहाँ दसवे अध्याय मे पुनः निर्जरा का वर्णन नही किया गया है क्योकि तप के द्वारा होने वाली अविपाक निर्जरा का और कर्मफल का अनुभव देकर नाश होने वाली सविपाक निर्जरा का वर्णन पूर्व में ही कर दिया गया है। अपने नामानुसार उपभुक्त है विचित्र फल जिनका ऐसे कर्मो का (फल देकर) झड जाना ही निर्जरा है। प्रश्न—पूर्व मे निर्जरा के वर्णन का अवसर नही है ? उत्तर—निर्जरा का अवसर प्राप्त न होने पर भी अनुभागबन्ध के प्रकरण से निर्जरा का कथन हो जाता है। यदि विभिन्न रूप से विपाक और निर्जरा का कथन किया जाय तो शास्त्रगौरव भी होता है। प्रश्न—सवर के वाद निर्जरा का वर्णन करना चाहिये ? उत्तर—सवर के अनन्तर ही निर्जरा का वर्णन किया है। अर्थात् सवर के अनन्तर निर्जरा का वर्णन करना योग्य है अतः गुप्ति, समिति, धर्मानुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र रूप सवर के कारणो का वर्णन करके 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्र के द्वारा निर्जरा का वर्णन किया है। अर्थात् गुप्ति आदि के अनन्तर निर्जरा का वर्णन है। यदि ऐसा नहीं होता (संवर के वाद निर्जरा का वर्णन नही होता) तो सवर

---

१ तपः सम्बन्धेन अनुभवसम्बन्धेन चेत्यर्थः। अनुभवसम्बन्धेन–अ टि। २ तपसा निर्जरा चेत्यत्र विपाकोऽनुभवः स यथानाम ततश्च निर्जरेत्यत्र च व्याख्याता–अ टि। ३. तत्रानुभव सप्राप्त इति मु द. व। तत्रानुभव नप्राप्त इति–ज। ४. प्रयोजन–अ टि। ५ यत एव सवरानन्तर निर्देशार्हत्वं तस्मादेव गुप्त्यादिप्रभावमाने व्याख्याता स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रै तपसा निर्जरा चेति। वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिरिति सूत्रव्याख्यानावसरे द्रष्टव्यम्–अ टि।

"तपसा निर्जरा च" [९।३] इति । अत एव गुप्त्याद्यवसानम्, इतरथा हि उभयहेतुत्व-विपर्ययेण यत्र क्वचनाभिधानं स्यात् ।

आह—प्रक्लृप्ता निर्जरा, मोक्षोऽभिधातव्य । स चानुपसम्प्राप्तकेवलज्ञानावस्थस्य नोपपद्यते इति अत केवलज्ञानमेव तावद्यथा भवति तथोपदेशष्टव्यमिति ? उच्यते; नैतदपि भूयो निर्देशार्हं वेदितव्यम् । कुत ? यस्माद्ध्यानप्रकरणे व्याख्यातम् ।

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥ इति ।

अथवा, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [१।१] इत्युपक्षिप्य लक्षणोत्पत्ति-विषयनिबन्धनादिभिर्विशेषैर्दर्शनचारित्रे समर्थिते, ज्ञान च प्रमाणस्वभाव पञ्चविधमभ्युपेत्य तत्र चतुष्टयस्य लक्षणोत्पत्तिहेतुविषयनिबन्धा प्रक्रान्ता , अत परमिद वक्तव्यम्—एवमुत्पद्यते केवलमिति ? अत्र ब्रूम —न वक्तव्य पुन , यस्मात् पुरस्तदेव व्याख्यातम्, सवरनिरुपादानी-

---

और निर्जरा इन दोनो के कारणो को विपरीत भी कह सकते थे अर्थात् पूर्व मे निर्जरा और बाद मे संवर का कथन करते । अथवा सवर के बाद निर्जरा का स्वतत्र प्रकरण इसलिये नही बनाया गया कि प्रायः सवर के कारणो से निर्जरा होती है, इसलिए सवर के प्रकरण मे ही निर्जरा का वर्णन कर दिया गया है ।

निर्जरा का वर्णन कर चुके है, अब मोक्ष का वर्णन करना चाहिये, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति केवलज्ञान की उत्पत्ति के बिना नही हो सकती अत. पूर्व मे केवलज्ञान की उत्पत्ति जिससे होती है, उसी का उपदेश देना चाहिये । केवलज्ञान का विशेष वर्णन भी ध्यान के प्रकरणो मे किया जा चुका है, वहाँ पर ही बतला दिया गया है कि—

अन्तर्मुहूर्त्त पूर्व मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय होने तथा 'च' शब्द से तीन आयु और तेरह नामकर्म की प्रकृतियों के क्षय होने से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

अथवा, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.' इस प्रकार लक्षण, उत्पत्ति, विषय और निबन्धनादि विशेषो के द्वारा दर्शन और चारित्र का समर्थन कर देने पर ज्ञान प्रमाण स्वभाव है और वह प्रमाण पाँच प्रकार का है, उसमे आदि के मति श्रुत आदि चार ज्ञानो के लक्षण, उत्पत्तिहेतु और विषयनिबन्धन को कह दिया गया है, परन्तु केवलज्ञान का लक्षण और विपयनिवन्धन कह देने पर भी उसकी उत्पत्ति का कारण यहाँ कहना चाहिए कि इन कारणो से केवलज्ञान उत्पन्न होता है । अर्थात् यहाँ पर केवलज्ञान की उत्पत्ति के कारणो का कथन करना चाहिये, ऐसी आशका नही करनी चाहिये क्योकि केवलज्ञान की उत्पत्ति के कारणो का कथन पहले कर दिया गया है । सवर के द्वारा जिसकी परम्परा की जड काट दी गई है तथा सम्यक्चारित्र और ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा

कृतसन्ततिचारित्रध्यानाग्निप्रज्वलितेन्धनमोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। किम्? उत्पद्यत इत्युपदिष्टमिति[1] वाक्यशेषः।

वृत्तिप्रसङ्गो लघ्वर्थमिति चेत्; न; क्रमेण क्षयज्ञापनार्थत्वात्।१। स्यान्मतम्–इह वृत्त्या निर्देशः कर्तव्यः मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलमिति। किमर्थः? लघ्वर्थमिति; तन्न, कि कारणम्? क्रमेण क्षयज्ञापनार्थत्वात्। प्रागेव मोहक्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्त क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपद् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणा क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति।

तत्क्षयहेतुः केवलोत्पत्तिरिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशः।२। तत्क्षयः केवलज्ञानोत्पत्तेर्हेतुरिति कृत्वा तदभिसंबन्धावद्योतिकया हेतुलक्षणया विभक्त्या निर्देशः क्रियते।

[2]**तत्क्षयः प्रणिधानविशेषात्।३।** तेषा मोहादीना क्षयो भवति। कुतः? प्रणिधानविशेषात्, परिणामविशेषादिति यावत्। तद्यथा–[3]पूर्वाहितेन विधिना परम-

---

जिसकी सत्ता का सर्वथा लोप कर दिया गया है उस मोहनीय कर्म के मूल से क्षय हो जाने पर तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय होते ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है—केवलज्ञान उत्पन्न होता है। 'उत्पन्न होता है' इस वाक्यविशेष का अन्वय कर लेना चाहिये।

प्रश्न—इस सूत्र मे "मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् केवलं" ऐसे समासान्त पद की रचना करनी चाहिये थी क्योकि ऐसा करने से सूत्र भी लघु बन जाता। उत्तर—सूत्र मे समास न करके मोहक्षय का पृथक् प्रयोग क्रमिक क्षय की सूचना देने के लिए है, क्योकि प्रथम मोहनीय कर्म का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त तक क्षीणकषाय पद को प्राप्त करके तदनन्तर एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करता है ॥ १ ॥

मोहनीय कर्म का क्षय ही मुख्यतया केवलज्ञान की उत्पत्ति मे कारण है, यह बात बताने के लिये पंचमी विभक्ति से मोहक्षय की हेतुता का द्योतन किया है अर्थात् मोहनीय कर्म का क्षय ज्ञानावरणीयादि के क्षय का कारण है ॥ २ ॥

मोह आदि का क्षय प्रणिधानविशेष से होता है, परिणामविशेष से होता है। जैसे पूर्वोक्त विधि के साथ परम तपोविशेष के द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए शुभ प्रकृतियो का अनुभाग बढता है–और अप्रशस्त-अशुभ अनुभाग कृश होकर

---

१. ध्यानप्रकरणे–अ टि। २ 'सम्यग्दृष्टिश्रावक' इत्यादि-सूत्रस्य व्याख्यानावसरे दुर्लभ-परम्परविधानेन –अ टि.। ३. अनुभागेन–अ टि।

तपोविशेषैः प्रशस्ताध्यवसायप्रकर्षात् विशुद्धचत.[१] शुभाभिमताः प्रकृतय. स्फीतीभवन्ति, अप्रशस्ताश्च तनूभूय विलीयन्ते। तत्र कश्चिद्वेदकसम्यग्दृष्टिरप्रमत्तगुणस्थाने सप्तप्रकृत्युपशमात् श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहमुपशमयितुमारभते। अपर' असयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसयताप्रमत्तसयतगुणस्थानेषु [२]कस्मिंश्चित् सप्तकर्मप्रकृती' क्षयमुपनीय क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा चारित्रमोहमुपशमयितुमुपक्रमते। ततोऽथा[३]प्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण च कृत्वा उपशमकश्रेणिमारुह्यापूर्वकरणोपशमकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूय तत्राभिनवशुभाभिसन्धितनूकृतपापकर्मप्रकृतिस्थित्यनुभाग विवर्द्धितशुभकर्मानुभवः अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकगुणस्थानमधिरुह्य नपुंसकवेदस्त्रीवेदनोकषायषट्कपुंवेदाप्रत्याख्यानक्रोधद्वयमानद्वयमायाद्वयलोभद्वयक्रोधमानसज्वलनसज्ञिका प्रकृती: क्रमेणोपशमय्य तत' सूक्ष्मसाम्परायप्रथमसमये मायासज्वलनमुपशम नीत्वा लोभसज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसाम्परायोपशमकाख्यामास्कन्द्य तत. उपशान्तकषायप्रथमसमये लोभसज्वलने चोपशमं गते सर्वमोहप्रकृत्युपशमात् उपशान्तकषायव्यपदेशभाग्भवति। आयुष क्षयात्

विलीन हो जाता है। कोई वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त गुणस्थान मे सात प्रकृतियो के उपशम का प्रारम्भ करता है तथा सात प्रकृतियो का उपशम करके उपशम श्रेणी पर आरूढ होकर चारित्र मोहनीय के उपशम का प्रारम्भ करता है। कोई असयत सम्यग्दृष्टि सयतासयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत गुणस्थानो मे से किसी भी एक गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतियो का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर उपशम श्रेणी पर आरूढ होकर चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियो का उपशम करना प्रारम्भ करता है, पुन अध.प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करके उपशमश्रेणी पर चढकर अपूर्वकरण—उपशमक व्यपदेश को प्राप्त कर वहाँ नवीन परिणामो से पापकर्मो के प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को क्षीण कर शुभ कर्मो के अनुभाग को बढाते हुए अनिवृत्तिवादरसाम्पराय उपशमक गुणस्थान मे पहुँच जाता है। वहाँ नपुसकवेद, स्त्रीवेद, छहनोकषाय पुवेद, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान दो क्रोध, दो मान, दो माया, दो लाभ, क्रोध-मान-सज्वलन नामकर्म प्रकृतियो का क्रमश उपशम करता हुआ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के प्रथम समय मे अर्थात् नौवे गुणस्थान के अन्त भाग मे माया सज्वलन का उपशम कर देता है तथा सज्वलन लोभ को कृश कर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवे गुणस्थान मे पहुँच जाता है। पुन. उपशातकषाय के प्रथम समय मे लोभ सज्वलन का उपशम कर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से उपशात कषाय कहलाता है। इस गुणस्थान मे यदि आयु का क्षय हो जाय तो मरण हो सकता है अथवा पुन कषायो की उदीरणा हो जाने से नीचे गिर जाता है। पुन. वही साधक या दूसरा कोई जीव विशुद्धि के अध्यवसाय से अपूर्व उत्साह को धारण

---

१. पुंस.—श्र टि। २. गुणस्थाने—श्र टि। ३ वेदकसम्यग्दृष्टि उपशमश्रेण्यनारोहको वा क्षपकश्रेण्यारूट. इत्यर्थं—श्र. टि।

म्रियते । अथवा पुनरपि कषायानुदीरयन् प्रतिनिवर्त्तते । स एव वाऽन्यो वा विशुद्धाध्यवसायानुपरतोत्साहः पूर्ववत् क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा कर्मविशुद्ध्या महत्या विशुद्धचन् क्षपकश्रेणीमनुप्रपद्य[1] तैरेव करणैस्त्रिभि. पूर्ववदपूर्वकरणक्षपकतामाश्लिष्य तत ऊर्ध्वं कषायाष्टकं नष्ट कृत्वा नपुंसकवेदं नाशमापाद्य स्त्रीवेदमुन्मूल्य नोकषायषट्क [2]पुंवेदे, प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पु वेद क्रोधसज्वलने क्रोधसज्वलनं मानसज्वलने मानसज्वलन मायासंज्वलने मायासज्वलन च लोभसज्वलने क्रमेण क्रमेण [3]बादरकृष्टिविभागेन विलयमुपनीय अनिवृत्तिबादरसाम्परायक्षपकभावमवाप्य लोभसज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसाम्परायक्षपकमनुभूय निरवशेष मोहनीय निर्मूलकाष कषित्वा क्षीणकषायतामधिरुह्य अवतारितमोहनीयभारः उपान्तिमे समये निद्राप्रचले प्रलयमुपनीय पञ्चाना ज्ञानावरणाना चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणा [4]चान्तमन्ते समुपगम्य तदनन्तरं ज्ञानदर्शनस्वभाव केवलपर्यायमप्रतर्क्यविभूतिविशेष नि सपत्नमवाप्य निरुपलेप कमलमिवामल· साक्षात्त्रिकालसर्वद्रव्यपर्यायस्वभावज्ञः सर्वत्राप्रतिहतदर्शन· अवाप्तनिरवशेषपुरुषार्थ. जलधरनिरोधकालातीतस्वकिरणकलापसौम्यदर्शनस्तारकाधिपतिरिव ज्वलितमूर्ति केवली भवति ।

करते हुए पूर्व के समान क्षायिक सम्यग्यदृष्टि होकर बडी भारी विशुद्धि से क्षपक श्रेणी मे आरूढ़ होकर पूर्वकथित लक्षण वाले अथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिरूप तीन करणो के द्वारा अपूर्वकरणक्षपक अवस्था को प्राप्त कर उससे आगे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ कषायो को नष्ट कर नपु सकवेद और स्त्रीवेद को उखाड कर, छह नोकषायो को पुरुषवेद मे क्षेपण कर, पुरुषवेद को क्रोध सज्वलन मे, क्रोध सज्वलन को मान सज्वलन मे, मान सज्वलन को माया सज्वलन मे और माया सज्वलन को लोभ सज्वलन मे क्षेपण कर क्रम-क्रम से बादरकृष्टिविभाग से इनका क्षय करके अनिवृत्ति बादरसाम्परायक क्षपक गुणस्थान मे पहुँच जाता है। तदनन्तर लोभ सज्वलन कषाय को सूक्ष्म कर सूक्ष्मसाम्परायक नामक दशम गुणस्थान को प्राप्त होता है। सूक्ष्म साम्पराय अवस्था का अन्तर्मुहूर्त्त तक अनुभव करके समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीणकषाय (वा क्षपक मोह) नामक गुणस्थान को प्राप्त कर मोहनीय कर्म का समस्त भार उतार करके फेंक देता है। वह क्षपक उस गुणस्थान के उपान्त्य समय मे निद्रा और प्रचला कर्म का नाशकर अन्त समय मे पॉच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पॉच अन्तराय कर्म का नाश कर अचित्यविभूतियुक्त केवलज्ञान एव केवल दर्शन स्वभाव को निष्प्रतिपक्षी रूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त एव निर्लेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्त्ती सर्व द्रव्यपर्यायो के स्वभाव का ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहत अनन्तदर्शनशाली निरवशेष पुरुषार्थ को प्राप्त कृतकृत्य मेघ-पटलो से विमुक्त शरत्कालीन स्वकिरणकलापो से पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्यदर्शन तथा देदीप्यमान मूर्त्ति केवली हो जाता है ।। ३ ।।

---

१. अभिमुखो भूत्वा–श्र टि । २ पु वेदरूपेण कृत्वेत्यर्थः–श्र टि । ३ स्थूलकर्पण-श्र टि । ४ चान्तसमये स-मु. द व. ज ता श्र. ।

आह–व्याख्यातं प्रतिबन्धविनिर्मुक्तसम्यक्त्वदर्शनानन्तवीर्यसमन्वित केवलम्, तदात्मलाभश्च सकलकर्मोच्छेदहेतुरभ्युपगतः[1]। अथ किं लक्षणः कस्माच्च हेतोर्मोक्षो भवतीत्युभयमभिधीयतामिति ? अत्रोच्यते–तस्य खलु भगवत. केवलपर्याय-लब्धात्मलाभस्य विग्रहवत· स्वप्रभावार्जितानन्तैश्वर्यभाज. पूर्वं दग्धकर्मचतुष्टयस्याऽप्रच्युत-वेद्यनामगोत्रायुषश्च–

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां[2] कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः[3] ॥ २ ॥

मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः । १ । मिथ्यादर्शनादीना पूर्वोक्ताना-कर्मास्रवहेतूना निरोधे[4] कारणाभावात् कार्याभाव इत्यभिनवकर्मादानाभाव ।

पूर्वोदितनिर्जराहेतुसन्निधाने चार्जितकर्मनिरासः । २ । पूर्वोदिताना निर्जराहेतूना सन्निधानेऽर्जितस्य च कर्मणो निरासो भवति । ताभ्या बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यामिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देश , ततो भवस्थितिहेतुसमीकृतशेषकर्मावस्थस्य युगपदात्यन्तिक प्रत्येतव्य. [5]कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ।

समस्त प्रतिबन्धी कर्मो से रहित एव सम्यग्दर्शन, अनन्तवीर्य आदि गुणो से युक्त केवलज्ञान होता है, यह तो कह दिया तथा केवलज्ञान का आत्मलाभ सकल कर्म के उच्छेद के कारण से स्वीकृत है। परन्तु मोक्ष का लक्षण क्या है ? किस कारण से मोक्ष होता है ? ये दो बाते अब कहना चाहिये—ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है कि—इन केवलज्ञान दर्शन वाले सशरीरी अपनी प्रभा से उपार्जित अनन्त ऐश्वर्यशाली, घातिया कर्मो के नाशक अर्थात् घातिया कर्म के चतुष्टय को नष्ट करने वाले और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र की सत्ता वाले केवली के—

बंध के कारणों का अभाव (संवर) और निर्जरा के द्वारा (पूर्व सचित) सम्पूर्ण कर्मो के नाश हो जाने को मोक्ष कहा है ॥ २ ॥

पूर्व (अष्टम अध्याय) मे कथित मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप वध के कारणो का निरोध (अभाव) हो जाने पर नूतन कर्मो का आना (आस्रव) रुक जाता है क्योकि कारण के अभाव मे कार्य का अभाव होता ही है ॥ १ ॥

पूर्वोक्त तप आदि निर्जरा के कारणो का सन्निधान (निकटता) होने पर पूर्व अर्जित (सचित) कर्मो का विनाश हो जाता है। उन बन्धहेतुओ का अभाव और निर्जरा मे हेतु अर्थ पचमी विभक्ति का निर्देश किया गया है, इन दोनो कारणो से भवस्थिति (आयु) के वरावर जिनकी

---

१ अङ्गीकृत –अ टि । २ मोक्ष –अ , टि । ३ 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षोमोक्षः' इति नास्ति–ता , अ , मू , ज , ब , द., भा. १,२ । केवल मुद्रितप्रतावेव विद्यते । ४ विरोधिका–मु , द , ब , ज. । ५. ता अ मू. ज द. प्रतिपु पृथक् सूत्र उल्लेखित ।

आद्यभावादन्ताभाव[1] इति चेत्; न; दृष्टत्वादन्त्यबीजवत् । ३ । स्यान्मतम्–कर्मबन्धसन्तानस्याद्यभावादन्तेनाप्यस्य न भवितव्यम्, [2]दृष्टविपरीतकल्पनाया प्रमाणाभावादिति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्टत्वादन्त्यबीजवत् । यथा बीजाङ्कुरसन्तानेऽनादौ प्रवर्त्तमाने अन्त्यबीजमग्निनोपहताङ्कुरशक्तिकमित्यन्तोऽस्य दृष्टस्तथा मिथ्यादर्शनादि-प्रत्ययसाम्परायिकसन्ततावनादौ ध्यानानलनिर्दग्धे कर्मबीजे भवाङ्कुरोत्पादाभावान्मोक्ष इति दृष्टमिदमपह्नोतुमशक्यम् । उक्तं च–

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ।। [ ] इति[3] ।

[4]कृत्स्नस्य कर्मत्वेन क्षय. कर्मक्षय, सतो [5]द्रव्यस्य द्रव्यत्वेन विनाशो नास्ति । कथं तर्हि ? पर्यायेण, तस्योत्पत्तिमत्त्वाद्विनाशेन भवितव्यम्, तन्मुखेन द्रव्यमपि व्ययमुपयातीति व्यपदिश्यते । ततः पुद्गलद्रव्यस्य कारण[6]वशात् कर्मत्वपर्यायमापन्नस्य

स्थिति कर ली गई ऐसे वेदनीय आदि शेष कर्मों का युगपत् (एक साथ) आत्यन्तिक क्षय हो जाना ही सर्व कर्मो का नाश मोक्ष जानना चाहिये ।। २ ।।

प्रश्न—कर्मबन्ध सन्तान जब अनादि है तो उसका अन्त नही होना चाहिये ? क्योकि जो अनादि होता है उसका अन्त नही होता तथा दृष्टविपरीत (प्रत्यक्ष से विपरीत) की कल्पना करने पर प्रमाण का अभाव होता है ? **उत्तर**—अनादि होने से अन्त नही होता ऐसा नही है, क्योकि जैसे बीज और अङ्कुर की सन्तान अनादि होने पर भी अग्नि से अन्तिम बीज के जला देने पर उससे अङ्कुर उत्पन्न नही होते है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के द्वारा अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि कर्मबन्ध के कारणों को भस्म कर देने पर भवाङ्कुर का उत्पाद नही होता, अर्थात् भवाङ्कुर नष्ट हो जाता है यही मोक्ष है, इस दृष्ट बात का लोप नही कर सकते । कहा भी है— **जैसे—"बीज के जल जाने पर अङ्कुर उत्पन्न नही होता, उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने पर भवाङ्कुर उत्पन्न नही होता ।"**

कृत्स्न (सम्पूर्ण) कर्म का कर्म रूप से क्षय हो जाना कर्मक्षय है, क्योकि 'सत्' द्रव्य का द्रव्यत्वरूप से विनाश नही है किन्तु पर्याय रूप से उत्पत्तिमान होने से उनका विनाश होता है तथा पर्याय द्रव्य को छोड़कर नही है अतः पर्याय की अपेक्षा द्रव्य भी व्यय को प्राप्त होता है, ऐसा कह दिया जाता है। क्योकि पर्याये उत्पन्न और विनष्ट होती है अतः पर्याय रूप से द्रव्य का व्यय होता है । अतः कारणवशात् कर्मत्वपर्याय को प्राप्त पुद्गल द्रव्य का कर्मबन्ध के प्रत्यनीक

---

१. अन्त नास्तीत्यर्थः–श्र. टि । २ यथा अनादीनामपि धर्मादिद्रव्याणामाद्यन्त-कल्पनाया प्रमाणत्वाभावस्तथा अनाद्यनिधनतया अदृष्टस्य कर्मबन्ध –श्र टि । ३. तुलना-त भा. का १०।७।८ । ४. कृत्स्नस्य कर्मणो विप्रमोक्षो मोक्ष इत्युक्त तर्हि नैवासतो जन्म सतो न नाश इति या प्रतिज्ञा सा हीयत इत्याशङ्कायामाह–श्र टि । ५ सतो द्रव्यत्वेन-ता. । ६ मिथ्यादर्शनादि-श्र टि ।

तत्प्रत्यनीकहेतुसन्निधाने [1]तत्पर्यायनिवृत्तौ तस्य क्षय· इत्युपदेशो भवतीति युक्तमेतत्–कृत्स्नकर्मक्षय इति ।

भावसाधनो मोक्षशब्दो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः । ४ । मोक्ष असने इत्यस्य मोक्षणं मोक्ष इति भावसाधन· शब्दो द्विविषय· मोक्तव्यमोचकापेक्षत्वात् । कुत ? विप्रयोगक्रियामात्रगतेः । कृत्स्नशब्देन कर्माष्टविध सद्बन्धोदयोदीरणाचतुर्विधव्यवस्थ परिगृहीतम् । तत्र बन्धोदयोदीरणाना क्षयविभागो गुणस्थानभेदेन निर्दिष्ट । सत्कर्मोच्छेदस्तु न प्रतिपादितः, स विव्रियते–

कर्माभावो द्विविधः–यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति । तत्र चरमदेहस्य नरकतिर्यग्देवायुषामभावोऽयत्नसाध्य· असत्त्वात् । यत्नसाध्य इत ऊर्ध्वमुच्यते–असयतसम्यग्दृष्टयादिपु चतुर्षु गुणस्थानेषु कस्मिश्चिदनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वाख्यप्रकृतिसप्तकविषतरुवनं शुभाध्यवसायनिशितपरशुपातेन निर्मूल निच्छिद्यते ।

(सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप) कारणो के सन्निधान होने पर उस कर्मत्वपर्याय की निवृत्ति होने पर उसका क्षय हो जाता है, उस समय वह पुद्गल द्रव्य अकर्म पर्याय से परिणत हो जाता है । इसलिये कृत्स्न कर्मक्षय को मुक्ति कहना युक्त ही है ।। ३ ।।

मोक्षशब्द भाव साधन है । विप्रयोग क्रिया मात्र गति होने से उसके विपय दो है । 'मोक्ष' धातु 'असने' क्षेपण अर्थ मे होता है इसलिये मोक्षण (छूट जाना) मोक्ष है, यह भाव साधन शब्द है । यह मोक्ष मोक्तव्य और मोचक की अपेक्षा द्विविपयक है, क्योकि वियोग दो का होता है, मोक्तव्य=छोड़ने योग्य । मोचक—छूटने वाला, इन दो का मोक्ष होता है । अर्थात् पौद्गलिक कार्माण वर्गणाये और आत्मा दोनो का वियोग होना मोक्ष है । कृत्स्न शब्द से सत्ता, वन्ध, उदय और उदीरणा इन चार भागो मे बँटे हुए आठ कर्मो का ग्रहण है । उनमे वन्ध, उदय और उदीरणा के क्षय के विभाग (बन्ध उदय उदीरणा व्युच्छित्ति) का वर्णन तो गुणस्थान के भेदो से कर दिया गया है परन्तु सत्ताव्युच्छित्ति का कथन नही किया गया है अत सत्ता व्युच्छित्ति का वर्णन करते हैं अर्थात् किस गुणस्थान में किस कर्म के सत्त्व का उच्छेद होता है, उसका कथन करते हैं—

कर्म का अभाव दो प्रकार का है—एक यत्नसाध्य और दूसरा अयत्न साध्य । चरम शरीरी के नरकायु, तिर्यञ्चायु और देवायु का अभाव अयत्नसाध्य है, क्योकि इनका स्वय अभाव है । यत्नसाध्य सत्त्व व्युच्छित्ति इस प्रकार है—असयत सम्यग्दृष्टि, देशसयत, प्रमत्त और अप्रमत्त, इन चार गुणस्थानों मे से किसी भी एक गुणस्थान मे अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति, इन सात कर्मप्रकृतियो का विपवृक्षवन शुभ अध्यवसाय

---

१. कर्मपर्याय-अ. टि. ।

निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनरकगतितिर्यग्गत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपोद्योत-स्थावरसूक्ष्मसाधारणसञ्ज्ञकानां षोडशानां कर्मप्रकृति पृतनासेनान्या युगपदनिवृत्तिबादरसाम्परायःस्वेन समाधिचक्रेण विजयमवाप्नोति। तत. परं कपायाष्टक नष्ट करोति स एव युगपत्। नपुंसकवेदः स्त्रीवेदश्च क्रमेण तत्रैव क्षयमुपयाति, नोकषायषट्क चैकेनैव प्रहारेण निपातयति। ततः पुंवेदसञ्ज्वलनक्रोधमानमाया. क्रमेण तत्रैवात्यन्तिक ध्वंसनमास्कन्दन्ति। लोभसंज्वलनः सूक्ष्मसाम्परायान्ते यात्यन्तम्। निद्राप्रचले क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थस्योपान्तिमे समये प्रलयमुपव्रजतः। पञ्चाना ज्ञानावरणाना चतुर्णा दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणा च तस्यैवान्तसमये प्रक्षयो भवति। अन्यतरवेदनीयदेवगत्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीर[1]-संस्थानषडौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गषट्संहननपञ्चप्रशस्तवर्णपञ्चाऽप्रशस्तवर्णगन्धद्वयपञ्चप्रशस्तरसपञ्चाऽप्रशस्तरसस्पर्शाष्टकदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरानादेयायशस्कीर्तिनिर्माणनामनीचैर्गोत्राख्या द्वासप्ततिप्रकृतयः अयोगिकेवलिन उपान्त्यसमये विनाश-

रूप तीक्ष्ण फरसे से समूल काटा जाता है। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण इन सोलह प्रकृतियो की सेना को अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानवाला एक साथ अपने समाधि रूप चक्र से जीतता है, इनका समूल उच्छेद कर देता है। तदनन्तर वही अनिवृत्तिवादरसाम्पराय एक साथ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, इन आठ कषायों का नाश करता है। उसके बाद क्रमशः नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्षय करता है। पुनः एक ही प्रहार मे छह नोकषायो (हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा) का विनाश करता है। उसी अनिवृत्ति वादरसाम्पराय गुणस्थान मे क्रमशः पुरुषवेद, सज्वलन, क्रोध, मान, माया का क्षय करता है। सूक्ष्मसाम्पराय के अन्त में लोभसज्वलन क्षय को प्राप्त हो जाता है निद्रा और प्रचला कर्म प्रकृति क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ के उपान्त्य समय मे नाश को प्राप्त हो जाती है। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय का १२वें गुणस्थान के अन्त मे नाश होता है। दो वेदनीय मे से कोई एक वेदनीय, देवगति, औदारिक वैक्रियिक आहारक, तैजस और कार्माण शरीर, छह सस्थान, औदारिक-वैक्रियिक और आहारक अगोपांग, छह संहनन, पाँच प्रशस्त वर्ण, पाँच अप्रशस्त वर्ण, दो गन्ध, पाँच प्रशस्त-अप्रशस्त रस, आठ स्पर्श, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, अपर्याप्तक प्रत्येक शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, दुर्भग, सुस्वर-दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्त्ति, निर्माण और नीच गोत्र, इन ७२ कर्मप्रकृतियों का अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय मे विनाश

१. –र वन्धन पञ्चसघातमस्वा मु द. व।

मुपयान्ति । अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य-त्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेययशस्कीर्त्तितीर्थंकरनामोच्चैर्गोत्रसंज्ञिकानां त्रयोदशानां प्रकृतीनामयोगिकेवलिनश्चरमसमये व्युच्छेदो भवति ।

आह–किमासां पौद्गलिकीनामेव द्रव्यकर्मप्रकृतीनां निरासान्मोक्षोऽवसीयत उत भावकर्मणोऽपीति ? अत्रोच्यते–

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

किम् ? मोक्ष इत्यनुवर्तते ।

भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकाऽनिवृत्त्यर्थम् । १ । अन्येषां जीवत्वादिनां पारिणामिकानां मोक्षावस्थायामनिवृत्तिज्ञापनार्थं भव्यत्वग्रहणं क्रियते । तेन पारिणामिकेषु भव्यत्वस्य औपशमिकादीनां च भावानामभावान्मोक्षो भवतीत्यवगम्यते । ननु च द्रव्यनिरासेऽभिहिते तन्निमित्तानां [1]भावानां निवृत्तिरर्थादवगम्यत इति नार्थोऽनेन योगेन ?

(सत्ताव्युच्छित्ति) होता है । दो वेदनीय मे से कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रसबादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय, यशस्कीर्त्ति, तीर्थंकर और उच्च गोत्र, इन तेरह प्रकृतियो का अयोगकेवली के अन्त समय मे व्युच्छेद हो जाता है ।

प्रश्न—क्या इन पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रकृतियो का उच्छेद होना ही मोक्ष है, अथवा भाव कर्मों का भी ? **उत्तर**—

मोक्ष में औपशमिकादि भव्यत्वादि भावों का भी अभाव हो जाता है ॥ ३ ॥

मोक्ष का ऊपर से अनुवर्तन करना चाहिये ।

भव्यत्व का ग्रहण अन्य पारिणामिक भावो की अनिवृत्ति के लिये है । पारिणामिक भावो मे जीवत्व भाव की मोक्ष मे अनिवृत्ति के लिये भव्यत्व भाव का ग्रहण किया गया है । अत: पारिणामिक भावो मे भव्यत्व तथा औपशमिकादि भावो का अभाव भी मोक्ष मे हो जाता है । **प्रश्न**—कर्मद्रव्य का निरास होने से तन्निमित्तक भावो की निवृत्ति अपने आप हो ही जाती है, अर्थापत्ति न्याय से जान ली जाती है, फिर इस सूत्र के बनाने की क्या आवश्यकता है ? इस सूत्र से कोई प्रयोजन नही है । **उत्तर**—निमित्त के अभाव मे नैमित्तिक का अभाव हो ही, ऐसा एकान्त

---

१ द्रव्यकर्मभावकर्म–अ टि ।

नैष दोषः; नायमेकान्तः–[1]'निमित्तापाये [2]नैमित्तिकानां निवृत्तिः' इति । अपि च अर्थादवगमेऽपि सिद्धे साक्षात्प्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–विस्पष्टार्थं वक्ष्यमाणसूत्रनिर्देशार्थम् ।

आह–यद्यपवर्गो भावोपरतेः प्रतिज्ञायते, ननु चौपशमिकादिभावनिवृत्तिवत् सर्वक्षायिकनिवृत्तौ अव्यपदेशो मुक्तस्य प्राप्नोतीति; स्यादेतदेवं यदि विशेषो नोच्येत, अस्ति तु विशेष इति अपवादविधानार्थमिदमुच्यते–

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

अन्यत्रशब्दो वर्जनार्थः । १ । अन्यत्रशब्दोऽयं वर्जनार्थो द्रष्टव्यः, तन्निमित्तः सिद्धत्वेभ्य इति विभक्तिनिर्देशः, यथा–"**अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां सर्वे योद्धाः पराङ्मुखाः**"] इति ।

अन्यशब्दप्रयोगे तद्विज्ञानमिति चेत्; न; स्वार्थिकत्वात् । २ । स्यान्मतम्–अन्यशब्दप्रयोगे का[3] विभक्तिर्विज्ञायते यथाऽन्यो देवदत्तादिति, अन्यत्र शब्दोऽयं तस्मान्निर्देशो

नियम नही है । फिर जिसका अर्थापत्ति से ज्ञान हो जाता है, उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति कराने के लिये और आगे के सूत्र की सगति बैठाने के लिये औपशमिकादि भावो का नाम लिया है ।

प्रश्न—यदि भावो की उपरति (अभाव) से मोक्ष होता है तो औपशमिकादि भावो की निवृत्ति के समान क्षायिकादि भावो की भी निवृत्ति हो जायेगी, फिर तो मुक्त जीव को अव्यपदेश प्राप्त होगा अर्थात् उसका कुछ भी उल्लेख नही किया जा सकेगा ? यदि क्षायिकादि भावो की निवृत्ति नही होती है तो उसकी विशेषता क्या है ? ऐसी शका होने पर क्षायिकादि भावो का अभाव नही होता, इस बात को बताने के लिये यह सूत्र कहते है—

मोक्ष में केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व, इन चार भावों का क्षय नहीं होता है ॥ ४ ॥

अन्यत्र शब्द निषेधार्थक है । अन्यत्र शब्द 'वर्जन' के अर्थ मे है इसलिये पंचमी विभक्ति दी गई है । जैसे—"द्रोण और भीष्म से अन्यत्र सर्व योद्धा पराङ्मुख हो गये ।" इसमे द्रोण भीष्म मे पंचमी विभक्ति अन्यत्र के साथ सम्बन्ध करने के लिये है ॥ १ ॥

प्रश्न—अन्यत्र शब्द का प्रयोग करने पर भी पचमी विभक्ति जानी जाती है जैसे देवदत्त से अन्य (देवदत्तात् अन्यः) अतः अन्यत्र शब्द यह निर्देश नही हो सकता । **उत्तर**—यद्यपि अन्य शब्द

---

१. द्रव्य-अ. टि. । २. भाव । चक्रभ्रमणनिमित्तदण्डापाये न चक्रभ्रमणाभाव, कुलालचक्रचीवराद्यभावे वा न घटाभाव. । अपि तर्हि भाव एव–अ. टि. । ३. पञ्चमी विभक्तिरित्यर्थः ।

नोपपद्यते इति; तन्न; कि कारणम् ? स्वार्थिकत्वात् । स्वार्थिकोऽय त्र:, केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्योऽन्यस्मिन्नयं विधिरिति ।

अनन्तवीर्यादिनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; अत्रैवान्तर्भावात् । ३ । स्यादेतत्—सम्यक्त्वादीनां चतुर्णां क्षायिकाणा संग्रहादितरेषा निवृत्तिरनन्तवीर्यादीना प्राप्नोतीति, तन्न; कि कारणम् ? अत्रैवान्तर्भावात् । ज्ञानदर्शनाविनाभाविनो ह्यनन्तवीर्यादय अत्रैवान्तर्भवन्ति । अनन्तसामर्थ्यहीनस्यानन्तावबोधवृत्त्यभावात्, ज्ञानमयत्वाच्च सुखस्येति ।

बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेत्; न; मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्तेः । ४ । स्यादेतत्—यथा अश्वादीनामेकस्मिन् बन्ध उच्छिन्नेऽपि पुनर्बन्धान्तरसंभवादव्यवस्था तथा जीवस्यापि कस्मिश्चिद् बन्धेऽपगतेऽपि बन्धान्तरप्रसङ्ग इति; तन्न, कि कारणम् ? मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदेकार्यकारणनिवृत्ते पुनर्बन्धहेत्वभावाद्बन्धाभाव ।

पुनर्बन्धप्रसङ्गो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्; न; सर्वास्रवपरिक्षयात् । ५ । स्यादेतत्—व्यसनार्णवे निमग्न जगदशेषं जानतः पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते ततश्च बन्ध इति,

---

का प्रयोग करके भी पचमी विभक्ति का निर्वाह हो सकता है तथापि 'त्र' प्रत्यय स्वार्थिक है । इसमें केवलसम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व से भिन्नता के लिये यह उक्त प्रकरण है । अर्थात् इनसे भिन्न गुण इनमें नही हैं, क्योकि यह उनका स्वभाव है वा यह विधि है ।। २ ।।

अनन्तवीर्यादि की निवृत्ति का प्रसग भी नही आता क्योकि केवलज्ञानादि मे ही अनन्तवीर्यादि का अन्तर्भाव हो जाता है । प्रश्न—सम्यग्दर्शनादि चार क्षायिक भावो का सग्रह हो जाने से अन्य अनन्तवीर्यादि के नाश का प्रसग प्राप्त होता है, अनन्तवीर्यादि का भी सिद्धो मे अभाव हो जाएगा ? उत्तर—ज्ञान, दर्शन के अविनाभावी अन्तवीर्यादि 'अनन्त' सज्ञक गुण भी गृहीत हो जाते है, अर्थात् उनकी भी निवृत्ति नही होती । क्योकि अनन्तवीर्य से रहित व्यक्ति के अनन्तज्ञान नही हो सकता और न अनन्तसुख ही, क्योकि सुख तो ज्ञानमय ही है ।। ३ ।।

प्रश्न—जैसे घोड़ा एक बन्धन से छूटकर फिर दूसरे बन्धन से बँध जाता है, उसी प्रकार जीव के भी किसी एक बन्ध के उच्छेद हो जाने पर भी पुन. अन्य बन्ध का प्रसग आता है । उत्तर—जैसे घोड़ा एक बन्धन से छूटकर भी फिर दूसरे बन्धन से बँध जाता है, उसी प्रकार जीव में पुनर्बंध की आशंका नही करनी चाहिये, क्योकि मिथ्यादर्शनादि कारणो के उच्छेद होने पर बन्धन रूप कार्य का सर्वथा अभाव हो जाता है । अर्थात् बन्ध के हेतुओ का अभाव होने से बन्ध रूप कार्य का भी अभाव हो जाता है ।। ४ ।।

प्रश्न—दुःख रूपी समुद्र में निमग्न सारे जगत् के प्राणियो को देखने वाले, जानने वाले भगवान को कारुण्य भाव उत्पन्न होता है और उस कारुण्य भाव से बन्ध होता है ? उत्तर—नहि, क्यो,

तन्न; किं कारणम् ? सर्वास्रवपरिक्षयात् । भक्तिस्नेहकृपास्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सन्तीति ।

अकस्मादिति चेत्; अनिर्मोक्षप्रसङ्गः । ६ । यदि कारणमन्तरेणैव मुक्तस्य बन्धः कल्प्यते ननु अनिर्मोक्षः स्यात् । मुक्तिप्राप्त्यनन्तरमेव बन्धोपपत्तेः[1] ।

स्थानवत्त्वात्पात इति चेत्; न; अनास्रवत्वात् । ७ । स्यादेतत्–स्थानव[2]त्त्वात् मुक्तस्य पातः प्राप्नोतीति; तन्न; कि कारणम् ? अनास्रवत्वात् । आस्रववतो हि यानपात्रस्याध.पतनं दृश्यते, न चास्रवो मुक्तस्यास्ति ।

गौरवाभावाच्च । ८ । गौरववतो हि तालफलस्य तत्प्रतिबद्धवृन्तसंयोगाभावे पतन दृष्ट नागौरवस्याकाशप्रदेशस्य, न च गौरवमस्ति मुक्तस्येति पाताभावः । यस्य हि स्थानवत्त्व पातकारणं तस्य सर्वेषां[3] पदार्थानां पातः स्यात् स्थानवत्त्वाविशेषात् ।

कृपा और स्पृहा आदि राग-विकल्पो का अभाव हो जाने से वीतराग के जगत् के प्राणियों को दु.खी और कष्ट मे पड़े हुए देखकर करुणा और तत्पूर्वक बन्ध नही होता, क्योकि उनके सर्व आस्रवों का परिक्षय हो गया है ।। ५ ।।

अकस्मात् वन्ध भी नही होता, क्योंकि ऐसा मानने पर अनिर्मोक्ष का प्रसग आता है । विना कारण ही यदि मुक्त जीवो के बन्ध माना जाय तो कभी मोक्ष नही हो सकेगा और मुक्त जीवों के भी वन्ध होने लगेगा ।। ६ ।।

स्थान वाले होने से उन मुक्त जीवो का अध.पतन भी नही, क्योकि वे अनास्रव होते है । आस्रव वाले ही यानपात्र का अध पात देखा जाता है, मुक्तात्मा के आस्रव नही है अत. उसका अध पतन नही है ।। ७ ।।

गौरव-भारीपन का अभाव होने से भी मुक्तावस्थाप्राप्त जीवो का अधःपतन (नीचे गिरना) नहीं होता, क्योकि वजनदार ताड़फल आदि का प्रतिवन्धक-डण्ठलसयोगादि के अभाव मे पतन होता है (पतन देखा जाता है), गुरुत्व शून्य आकाशप्रदेश आदि का नही । मुक्त जीव भी गुरुत्व-रहित है । अत इनके पतन (नीचे गिरने) का अभाव है । यदि मात्र स्थान वाले होने से पात हो तो सभी धर्मद्रव्यादि पदार्थों का पात होना चाहिये ।। ८ ।।

---

१ –त्तेः कस्मादिति चेत् ? अनिर्मोक्षप्रसङ्गः भा. १ । २ –नवन्मु– ता श्र. ज. । ३ स्थानवता धर्मादीनाम्– श्र. टि. ।

परस्परोपरोध इति चेत्; न; अवगाहनशक्तियोगात् । ९ । स्यान्मतम्—अल्पः सिद्धावगाह्य आकाशप्रदेश आधारः, आधेया. सिद्धा अनन्ता, तत परस्परोपरोध[1] इति; तन्न, किं कारणम्? अवगाहनशक्तियोगात् । मूर्तिमत्स्वपि नामानेकमणिप्रदीपप्रकाशेषु अल्पेऽप्यवकाशे न विरोध किमङ्ग पुनरमूर्तिषु अवगाहनशक्तियुक्तेषु मुक्तेषु ?

तत एव जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपातव्याबाधाविरहात् परमसुखिनः । १० । तत एव अमूर्तत्वादेवेत्यर्थः । यस्य हि मूर्त्तिरस्ति तस्य तत्पूर्वकः प्रीतिपरितापसम्बन्धः स्यात्, न चामूर्तानां मुक्तानां जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपातव्याबाधाऽस्ति, अतो निर्व्याबाधत्वात् परमसुखिनस्ते ।

न तस्यास्त्युपमानम्, आकाशपरिमाणवत् । ११ । यथा परमाण्ववगाहक्षेत्रमारभ्य एकैकप्रदेशवृद्धया कल्प्यमान सातिशय क्षेत्रमाकाशपरिमाण पुनरिद[2]मिवेत्युपमार्थकल्पनाभावादनुपमान तथा सुखशब्दार्थोऽपि प्रकर्षाप्रकर्षयोगात् ससारगत. [3]सान्तर, मुक्तानां पुनः परमानन्तपरिमाणयोगान्निरतिशय इत्यनुपमान ।

प्रश्न—आधारभूत सिद्धावगाह्य (सिद्धो के द्वारा अवगाहन करने योग्य) आकाशप्रदेश अल्प है और आधेयभूत सिद्ध अनन्त है, अत. इन सिद्धो मे परस्पर अवरोध (रुकावट) होगा। **उत्तर**—अवगाहनशक्ति के योग से जब मूर्तिमान् भी अनेक मणि-प्रदीप प्रकाशो के अल्प आकाश मे अविरोधी अवगाह की बाधा नही है तब अमूर्तिक अवगाहनशक्तियुक्त सिद्धो मे तो परस्पर बाधा कैसे हो सकती है ? ।। ९ ।।

इसीलिये जन्म-मरण आदि द्वन्द्वो की बाधा सिद्धो मे नही है अमूर्तिक होने से, क्योकि जिसकी मूर्त्ति है (शरीर है) उसके ही (शरीर अवस्था मे ही) जन्म-मरणादिपूर्वक प्रीति, परिताप आदि बाधाओ की सभावना है, अमूर्तिक मुक्तात्माओ मे जन्म-मरण द्वन्द्वो के उपनिपात की बाधा नही है, अत. निर्व्याबाधत्व होने से सिद्ध परम सुखी है ।। १० ।।

आकाशप्रदेश के परिमाण के समान सिद्धो के सुख की उपमा भी नही है। जैसे परमाणु अवगाहक्षेत्र से आरम्भ करके एक-एक प्रदेश की वृद्धि के द्वारा कल्प्यमान सातिशय क्षेत्र को आकाश परिमाण (अनन्त) कह दिया जाता है अर्थात् आकाश को अनन्तप्रदेशी कह दिया जाता है पुन उसके उपमान अर्थ की कल्पना का अभाव होने से उसे अनुपमान कह देते है उसी प्रकार सुख शब्द का अर्थ भी प्रकर्षाप्रकर्ष के योग से ससारी जीवो का सुख सान्तरसोपमान (उपमा सहित) तथा प्रकर्ष-अप्रकर्ष वाला हो सकता है परन्तु सिद्धो का सुख परम अनन्त परिमाण वाला होने से निरतिशय और निरुपम है ।। ११ ।।

---

१ परस्परोपरोधे सति दु ख जायते तत क्रोधादि, ततः पुनरपि वन्ध. तत दु खसद्भावात् वन्धश्च प्राप्नोति –अ टि । २ –रिदमेवे–मू मु ता ज द व । ३ सान्त –मु द व ज ।

अनाकारत्वादभाव इति चेत्; न; अतीतानन्तरशरीराकारानुविधायित्वात्। १२। स्यादेतत्–मुक्तानां परित्यक्तमूर्तीनामाकाराभावादभावः [1]प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अतीतानन्तरशरीराकारानुविधायित्वात्।

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसङ्ग इति चेत्; न; कारणाभावात्। १३। स्यान्मतम्–यदि शरीरानुविधायी जीवः, तदभावात् स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोतीति, तन्न, कुतः? कारणाभावात्, पुनर्विसर्पणकारणाभावान्न विसर्पति[2]।

नामकर्मसंबन्धात् संहरणविसर्पणधर्मत्वं प्रदीपप्रकाशवत्। १४। यथा प्रदीपप्रकाशोऽवधृतपरिमाणः शरावमानिकापवरकादिद्रव्योपष्टम्भान्महानल्पश्च भवति तथा नामकर्मसंबन्धात् परिच्छिन्नपरिमाणोऽपि जीवः संहरति विसर्पति च, तदभावान्न संहारो विसर्पणं वा मुक्तजीवस्य।

प्रश्न—मुक्त जीव शरीररहित होने से अनाकार है और अनाकार होने से सिद्धो का अभाव ही है तथा अभाव होने से वन्ध एवं मोक्ष का भी अभाव है? **उत्तर**—मुक्त जीव सिद्धावस्था मे अतीत अनन्तर (अन्तिम) शरीर के आकार होते है अत. अनाकार होने से सिद्धो का अभाव नही किया जा सकता ॥ १२ ॥

प्रश्न—यदि जीव शरीरानुविधायी (शरीर प्रमाण) रहने वाला है तव तो शरीर के अभाव मे स्वभाव से लोकाकाश परिमाण असख्यातप्रदेशी होने से लोकाकाश प्रदेश परिमाण विसर्पण-फैलने का प्रसग आयेगा? **उत्तर**—लोकाकाश के समान असख्यातप्रदेशी जीवो को शरीरानुविधायी मानने पर शरीर के अभाव मे विसर्पण-फैलने का प्रसग भी नही आता, क्योकि विसर्पण के कारण का अभाव होने से विसर्पण नही होता। विसर्पण होने से नामकर्म का सद्भाव होगा और नामकर्म का सद्भाव होने से वन्ध भी होगा ॥ १३ ॥

नामकर्म के सम्वन्ध से प्रदीप और प्रकाश के समान आत्मा का सकोच-विस्तार धर्म है। जैसे—प्रदीप का प्रकाश अवधृत परिमाण वाले सकोरे, घडे, कोठे आदि द्रव्यो के अवलम्बन से महान् एव अल्प होता है अर्थात् छोटे-वडे आवरणो के अनुसार दीपक के प्रकाश का सकोच, विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार जीव भी नामकर्म के सम्वन्ध से आत्मप्रदेशो का गृहीत शरीर के अनुसार सकोच-विस्तार करता है, शरीरप्रमाण आत्मप्रदेश सकुचित और विस्तृत होते है। परन्तु नामकर्म के सम्वन्ध रूप कारण के अभाव मे मुक्त जीव के आत्मप्रदेशो का सकोच-विस्तार नही होता है ॥ १४ ॥

---

१ अभावत्वे वन्धमोक्षाभावः –अ टि.। २. विसर्पणत्वे सति नामकर्मत्वादिसद्भावात् वन्धप्रसङ्ग. –अ टि।

मूर्त्तिमद्दृ धर्म्यादिति चेत्; न; उभयलक्षणप्राप्तत्वात्[१] **। १५ ।** स्यान्मतम्–मूर्त्तः प्रदीपप्रकाशः अमूर्त्तस्यात्मनः संहरणविसर्पणधर्मत्वे साध्ये दृष्टान्तो नोपपद्यते इति, तन्न; किं कारणम् ? उभयलक्षणप्राप्तत्वात् उपयोगस्वलक्षणापेक्षया अमूर्त्तः, बन्धपरिणामापेक्षया मूर्त्तः । उक्तं च–

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयन्तो होदि जीवस्स ।। इति[२] ।

तस्मात्कथञ्चिन्मूर्त्तत्वोपपत्तेः साम्यमेव दृष्टान्तेन ।

अनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; तावन्मात्रस्य निर्दिदिक्षितत्वाच्चन्द्रमुखीवत् । १६ । स्यादेतत्–संहरणविसर्पणधर्मत्वादेव प्रदीपप्रकाशवदनित्यत्वं प्राप्नोत्यात्मन इति, तन्न; किं कारणम् ? तावन्मात्रस्य निर्दिदिक्षितत्वात् । यथा चन्द्रमुखी कन्येति बहवश्चन्द्रे गुणाः, या चासौ प्रियदर्शनता सा गम्यते तथा प्रदीपप्रकाशेऽनित्यत्वादिषु बहुषु धर्मेषु सत्स्वपि सङ्कोचविकाससाधर्म्यमात्रं विवक्षितम् । सर्वसाधर्म्याच्च दृष्टान्ताभावप्रसङ्गः ।

प्रश्न—प्रदीप का प्रकाश मूर्त है और आत्मा अमूर्त है अतः अमूर्त आत्मा के संकोच-विस्तार धर्मत्व के साध्य मे मूर्त दीपक का दृष्टान्त लागू नही हो सकता ? **उत्तर**—मूर्त दीपक का दृष्टान्त आत्मा मे लागू हो जाता है क्योकि आत्मा मूर्त एव अमूर्त दोनो रूप है अर्थात् उपयोग स्वभाव की दृष्टि से आत्मा अमूर्त है और कर्मबन्ध की दृष्टि से मूर्त है ।

कहा भी है—"बन्ध की दृष्टि से शरीर और आत्मा मे एकत्व होने पर भी लक्षण की दृष्टि से शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् है । अतः आत्मा मे एकान्त से अमूर्त्त भाव नही है ।" अत. आत्मा के कथञ्चित् मूर्त्त होने से दीपक का दृष्टान्त समान ही है अर्थात् दृष्टान्त के साथ साम्य है, विषम दृष्टान्त नही है ।। १५ ।।

प्रश्न—संहरण-विसर्पण धर्मत्व होने से आत्मा के भी प्रदीप के प्रकाश के समान अनित्यत्व का प्रसग प्राप्त होगा ? उत्तर—आत्मा मे अनित्यत्व का प्रसग नही आता, क्योकि केवल सकोच-विस्तार की ही यहाँ विवक्षा है जैसे चन्द्रमुखी कन्या कहने से चन्द्रमा मे बहुत गुण होते हुए भी प्रियदर्शनत्व के सिवाय अन्य चन्द्रगुणो की यहाँ विवक्षा नही है, उसी प्रकार प्रदीप प्रकाश मे अनित्यत्वादि बहुत से धर्म होने पर भी सकोच-विस्तार रूप साधर्म्य मात्र की यहाँ विवक्षा है अन्य धर्मो की नही, क्योकि दृष्टान्त के सभी धर्म दार्ष्टान्त मे नही पाये जाते, यदि दृष्टान्त के सभी धर्म

---

१. –यलक्षणत्वात् भा १ । २. उद्धृतेय गाथा–स सि २।७ ।

सर्वथाऽभावो मोक्षः प्रदीपवदिति चेत्; न; साध्यत्वात् । १७ । [1]स्यादेतत्–यथा वर्तिस्नेहानलसन्निपाते प्रदीपोऽनुपरतवृत्त्या प्रवर्त्तमानस्तत्क्षये न काञ्चिद्दिशं विदिशं वा गच्छति तत्रैवात्यन्तविनाशमुपयाति तथा कारणवशात् स्कन्धप्रतिसन्तानरूपेण प्रवर्तमानः स्कन्धसमूहो[2] जीवव्यपदेशभाक् क्लेशक्षयान्न काञ्चिद्दिशं विदिशं वा गच्छति तत्रैवात्यन्तं प्रलयमेतीति; तन्न, किं कारणम् ? साध्यत्वात् । साध्यमेतत्–प्रदीपो निरन्वयनाशमुपयातीति । प्रदीपा एव हि पुद्गला, पुद्गलजातिमजहतः परिणामवशान्मषीभावमापन्ना इति नात्यन्तविनाश ।

[3]**दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत् । १८ ।** यथा निगलादिद्रव्यवियोगे देवदत्तादीनामवस्थान दृष्ट तथा बन्धविप्रमोक्षे आत्मना च स्थेयमिति दृष्टमिदमपह्नोतुमशक्यमिति नाभावः ।

दार्ष्टान्त मे आ जायेंगे तो वह दृष्टान्त ही नही कहा जा सकता । अत दीपक के दृष्टान्त से आत्मा मे अनित्यता का प्रसङ्ग नही आता ।। १६ ।।

साध्यत्व होने से प्रदीप के समान मोक्ष सर्वथा अभाव रूप भी नही है । **प्रश्न**—जैसे- बत्ती, तेल और अग्नि आदि सामग्री से निरन्तर जलने वाला दीपक सामग्री के अभाव मे किसी दिशा वा विदिशा मे न जाकर वहाँ पर अत्यन्त विनाश को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार कारणवश स्कन्धसन्तति रूप से प्रवर्तमान स्कन्धसमूह जीवव्यपदेशभागी होता है अर्थात् जिसे जीव कहते है, वह रागद्वेषादि क्लेश भाव के क्षय हो जाने से दिशा और विदिशा मे न जाकर वही पर अत्यन्त प्रलय को प्राप्त हो जाता है ? **उत्तर**—प्रदीप का निरन्वय नाश भी असिद्ध है क्योकि प्रदीप पुद्गल है वह पुद्गल जाति को न छोडकर परिणामवश (परिणमन के कारण) मषि (राख) भाव को प्राप्त होता है। अत दीपक की पुद्गल जाति बनी रहती है अत्यन्त विनाश नही होता है। उसी प्रकार मुक्तात्मा का भी विनाश नही होता ।। १७ ।।

अथवा, प्रत्यक्ष भी निगड़ादि के वियोग होने पर देवदत्त आदि का अवस्थान के समान नाश नहीं है। जैसे—हथकडी, बेडी आदि द्रव्य से विमुक्त देवदत्त आदि का स्वरूप-अवस्थान देखा जाता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध से छूट जाने पर भी मुक्तावस्था मे आत्मा का अवस्थान पाया जाता है, इसका लोप नही किया जा सकता, अत मुक्तावस्था मे आत्मा का अभाव नही है ।। १८ ।।

---

१ 'दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित् नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् । दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।। दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चिद् नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् । एव कृती निर्वृतिमभ्युपेत. स्नेहक्षयात् केवलमेति शातिम् ।। –सौन्दर १६।२८-२९ । २ पचेन्द्रियजनितपञ्चज्ञानरूप·श्र– टि । ३. दीपस्तत. पुद्गलभावतोऽस्ति इत्यभिधानम् । तर्हि अस्माक विनाशे दृष्टान्ते नास्ति भवतामपि सद्भावे दृष्टान्तो नास्तीत्याशंकाया अस्तीत्याह–श्र टि ।

यत्रैव कर्मविप्रमोक्षस्तत्रैवावस्थानमिति चेत्; न; साध्यत्वात् । १९ । स्यादेतत्-यस्मिन्नेव देशे कर्मविप्रमोक्षस्तस्मिन्नेवावस्थान प्राप्नोति पुनर्गतिकारणाभावादिति; तन्न, कि कारणम् ? साध्यत्वात् । साध्यमेतत्तत्रैवावस्थातव्यमिति, बन्धनाभावादनाश्रितत्वाच्च स्याद्गमनमिति ।

आह–न तावदस्य बन्धाभावेऽधोगतिर्गौरवाभावात्, नापि तिर्यग्गतिर्योगभावात्, तस्मात्प्राप्तमेतत्तत्रैवावस्थानम् ततो लोकस्योपरि तदवस्थानकल्पनाव्यावृत्तिरिति, उच्यते–भवेदेतदेव यद्यनभिमतदेशगतिनिमित्ताभाववत्तस्योर्ध्वगतिनिमित्त न स्यात् । अस्ति च तत् । तस्मादेकसमयेन हि निरस्तकर्मभार पुरुष –

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ।। ५ ।।

तद्वचनं प्रकृतनिर्देशार्थम् । १ । तदित्यनेन प्रकृतोऽर्थो निर्दिश्यते । कश्च प्रकृत ? कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष । तस्यानन्तरमूर्ध्वं गच्छति ।

जहाँ पर कर्मबन्ध का अभाव होता है वही पर अवस्थान होना चाहिये, यह भी बात विचारणीय है । **प्रश्न**—जिस आकाशप्रदेश मे आत्मा कर्मबन्ध से रहित होती है उसी स्थान मे उस आत्मा का अवस्थान रहना चाहिये, क्योकि कर्मबन्ध के अभाव मे गति के (गमन के) कारण का अभाव है । **उत्तर**—जहाँ कर्मबन्ध का उच्छेद होता है वही आत्मा का अवस्थान होना चाहिये, यह प्रश्न भी विचारणीय है । साध्य है कि मुक्तात्मा को वही ठहरना चाहिये या बन्ध का अभाव और अनाश्रित होने से गमन करना चाहिये ।। १९ ।।

"गौरव (भारीपन) न होने से अधोगति तो उसकी होती नही और योग न होने मे तिरछी आदि भी गति नही है, अत. मुक्तात्मा को वही ठहरना चाहिये, इससे लोक के ऊपर मुक्तात्मा के अवस्थान की कल्पना की व्यावृत्ति हो जाती है" । इस आशका का निर्मूलन करने के लिये कहते है कि—अनभिमत (चारो गति आदि) देश मे गमन करने के निमित्त का अभाव होने मे चारो गतियो (तिरछी, अधोगति) आदि मे गमन नही होता, उसके समान ऊर्ध्वगमन के निमित्त का अभाव नही है, अपितु ऊर्ध्वगमन का कारण है इसलिये निरस्त कर्मभार (कर्मबन्ध से रहित) आत्मा एक समय पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करता है, सो कहते है—

कर्मबन्ध का उच्छेद होते ही आत्मा समस्त कर्मभार से रहित होने के कारण लोकाकाशपर्यन्त ऊर्ध्वगमन करता है ।। ५ ।।

"तत्" शब्द प्रकृत (कर्मबन्धउच्छेद) के निर्देश के लिये है । "कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष:" इसका प्रकरण है । उसके अनन्तर ऊर्ध्वगमन करता है ।। १ ।।

आङभिविध्यर्थः । २ । ईषदर्थादिषु दृष्टप्रयोग आङिह विवक्षावशादभिविधौ वेदितव्यः । लोकस्यान्तो लोकान्त आलोकान्तादिति ।

आह–अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमन कथमध्यवसातु शक्यमिति ? अत्रोच्यते–

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

आह–हेत्वर्थ पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमिति; उच्यते–

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबूवदेरण्डबीजवद-ग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

आङ् विधि अर्थ मे है। यद्यपि ईषद् अर्थ आदि आङ् शब्द के अनेक अर्थ है, परन्तु इस सूत्र मे जो (आ) शब्द है उसको विवक्षावश अभिविधि अर्थ मे समझना चाहिये। लोक के अन्त को लोकान्त कहते है और लोकाकाश पर्यन्त का अर्थ है—आलोकान्त। अर्थात् लोकाकाश पर्यन्त मुक्त जीव का ऊर्ध्व गमन होता है ॥ २ ॥

प्रश्न—जिसके ऊर्ध्वगमन के कारण नही कहे गये है, ऐसे मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन का निश्चय करना कैसे शक्य हो सकता है ? उत्तर—इस शका का निराकरण करने के लिये सूत्र कहते है—

पूर्व के संस्कार से, कर्म के सङ्ग रहित हो जाने से, बन्ध का नाश हो जाने से और ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्तजीव ऊर्ध्वगमन करता है ॥ ६ ॥

ससारी जीव ने मुक्त होने से पहिले कितनी ही बार मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया है, अत. पूर्व का सस्कार होने से जीव ऊर्ध्वगमन करता है। जीव जब तक कर्मभार सहित रहता है तब तक ससार मे विना किसी नियम के गमन करता है और कर्मभार से रहित हो जाने पर ऊपर को ही गमन करता है। अन्य जन्म के कारणभूत गति, जाति आदि समस्त कर्मवन्ध के उच्छेद हो जाने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है। आगम मे जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने वाला बताया है अतः कर्म नष्ट हो जाने पर अपने स्वाभाविक अवस्था के कारण मुक्तात्मा का एक समय तक ऊर्ध्व-गमन होता है।

वहुत से भी हेतु अर्थदृष्टान्त के समर्थन के विना अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि करने के लिये समर्थ नही है अतः उपर्युक्त चार कारणो के चार दृष्टान्त कहते है—

घुमाये गये कुम्हार के चाक के समान, लेप रहित तूम्बी के समान, एरण्ड के वीज के समान और अग्नि की शिखा के समान जीव ऊर्ध्वगमन करता है ॥ ७ ॥

हेतुदृष्टान्तानां यथासंख्यमभिसंबन्धः । १ । पूर्वसूत्रे विहिताना हेतूनामत्रोक्तानां दृष्टान्ताना च यथासंख्यमभिसबन्धो भवति । तद्यथा–

अपवर्गप्राप्तये बहुशः प्रणिधानादाविद्धकुलालचक्रवत् । २ । यथा कुलाल-प्रयोगापादितहस्तदण्डचक्रसयोगपूर्वक भ्रमणमुपरतेऽपि तस्मिन् पूर्वप्रयोगादासस्कार-क्षयाद्भवति एवं भवस्थेनात्मना अपवर्गप्राप्तये बहुशो यत् प्रणिधान तदभावेऽपि तदावेशपूर्वकं मुक्तस्य गमनमवसीयते । किञ्च,

असङ्गत्वान्मुक्तलेपालाबूद्रव्यवत् । ३ । यथा मृत्तिकालेपजनितगौरवमलावूद्रव्य जलेऽध. पतति तदेव क्लेदविश्लिष्टमृत्तिकाबन्धन लघु सदूर्ध्वमेव गच्छति तथा कर्मभाराक्रान्तवशीकृत आत्मा तदावेशवशात् ससारे नियमेन गच्छति, तत्सङ्गविप्रमुक्तौ तूपर्येव [1]याति ।

अनियमप्रसङ्गो दण्डवदिति चेत्; न; ऊर्ध्वगौरवात् । ४ । स्यादेतत्–यथा द्रव्या-

---

इन चार दृष्टान्तो का उपर्युक्त चार कारणो के साथ क्रमश सम्बन्ध लगाना चाहिये । जैसे— ॥ १ ॥

अपवर्ग की प्राप्ति के लिये बहुत बार प्रणिधान होने से हाथ से घुमाये हुए चक्र के समान ऊर्ध्व-गमन करता है । जैसे—कुम्हार के प्रयोग से उसके हाथ का दण्ड से और दण्ड का चाक से सयोग होने पर चाक का भ्रमण होता है, परन्तु जव कुम्हार चाक पर दण्ड को घुमाना बन्द भी कर देता है तव भी पूर्वप्रयोग के कारण सस्कारक्षयपर्यन्त चक्र बरावर घूमता रहता है, उसी प्रकार ससारी आत्मा ने जो मोक्ष-प्राप्ति के लिये अनेक बार प्रणिधान और प्रयत्न किये है परन्तु अव मोक्ष-प्राप्ति के समय उद्योग के अभाव मे भी उस सस्कार के आदेशपूर्वक पूर्वप्रयोग के कारण मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है ॥ २ ॥

सङ्गरहित होने से मुक्त लेप वाली तूम्बडी द्रव्य के समान मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है । जैसे—मिट्टी के लेप से वजनदार तूम्बड़ी पानी मे डूब जाती है और वही तूम्बडी ज्योंही मिट्टी का लेप घुल जाता है तब शीघ्र ही पानी के ऊपर आ जाती है उसी प्रकार कर्मभार के आक्रान्त मे वशीकृत आत्मा, कर्मवश ससार मे इधर-उधर भ्रमण करती है, उसका अध.पतन होता है पर जैसे ही वह कर्मबन्धन से मुक्त होती है वैसे ही ऊपर आती है अर्थात् ऊर्ध्वगमन करती है ॥ ३ ॥

प्रश्न—जिस प्रकार द्रव्यान्तर से ससक्त दण्ड अवस्थित रहता है और द्रव्यान्तर के सयोग के अभाव मे अनियम से गिर जाता है-अर्थात् तिरछा, अध:, किधर भी गिर जाता है । किधर गिरे—

---

१. ऊर्ध्वं गच्छत्येव–ता टि. ।

न्तरससक्तो दण्डोऽवस्थितस्तदभावेऽनियमेन पतति तथा कर्मसङ्गाभावेऽनियमेनात्मनोऽपि गमनं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? ऊर्ध्वगौरवात् । ऊर्ध्वगौरवपरिणामो हि जीव उत्पतत्येव । किञ्च,

बन्धच्छेदादेरण्डबीजवत् । ५ । यथा बीजबन्धकोशादिच्छेदादेरण्डबीजस्य गतिर्दृष्टा तथा मनुष्यादिभवप्रापकगतिजातिनामादिसकलकर्मबन्धच्छेदात् मुक्तस्य गतिरवसीयते । किञ्च,

तथागतिपरिणामाच्च अग्निशिखावत् । ६ । यथा तिर्यक्पवनस्वभावसमीरण-सबन्धनिरुत्सुका प्रदीपशिखा स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्माऽपि नानागतिविकारकारण-कर्मनिवारणे सति ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वादूर्ध्वमेवारोहति ।

असङ्गत्वबन्धच्छेदयोरर्थाविशेषादनुवादप्रसङ्ग इति चेत्; न; अर्थान्यत्वात् । ७ । स्यादेतत्–असङ्गत्वबन्धच्छेदयोर्नास्त्यर्थविशेष इति पौनरुक्त्यं[1] प्राप्नोति [2]बध्नातिरपि

ऐसा कोई नियम नही है, उसी प्रकार कर्मसङ्ग के अभाव मे आत्मा के भी अनियम से गमन होता है ऊर्ध्व ही गमन करे, ऐसा कोई नियम नही है । उत्तर—जीव की दण्ड की तरह अनियत गति नही हो सकती, क्योकि जीव को ऊर्ध्वगौरव धर्म वाला (ऊर्ध्वगमन करने वाला) बतलाया है अत: ऊर्ध्वगौरव परिणाम वाला आत्मा ऊपर ही जाता है ।। ४ ।।

बन्ध का उच्छेद हो जाने से एरण्ड के बीज के समान आत्मा ऊर्ध्वगमन करता है । जिस प्रकार ऊपर के छिलके के हटते ही एरण्ड के बीज की गति दृष्टिगोचर होती है, अर्थात् छिलका हटते ही एरण्ड बीज ऊपर को ही जाता है उसी प्रकार मनुष्यादि भवो मे भ्रमण कराने वाले गति-नामकर्मादि सर्वकर्मो के बन्ध का छेद हो जाने से मुक्त जीव का स्वाभाविक ऊर्ध्व ही गमन होता है ।। ५ ।।

अथवा, अग्नि की शिखा के समान, मुक्त जीव का स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन ही है । जैसे—तिरछी वहने वाली वायु के अभाव मे प्रदीपशिखा स्वभाव से ऊर्ध्व ही गमन करती है, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी नाना गतिविकार के कारणभूत कर्म के हट जाने पर ऊर्ध्वगति स्वभाव से ऊपर को ही जाता है ।। ६ ।।

प्रश्न—असङ्गत्व और वन्धच्छेद, इन दोनो मे कोई विशेपता नही है, अत इन दोनो का पृथक्-पृथक् कथन करना पुनरुक्ति दोष को प्राप्त होता है, अर्थात् दोनो मे से किसी एक का कथन करने पर ही कार्य हो सकता है क्योकि वन्धत्व ही सङ्गत्व मे प्रवर्त होता है ? उत्तर—वन्धत्व और

---

१. द्वयोरन्यतमेन पर्याप्तत्वात् –अ. टि । २ यस्मात् –अ टि ।

व्यतिषङ्गे वर्त्तत इति; तन्न; किं कारणम्? अर्थान्यत्वात्। अन्योन्यानुप्रवेशे सत्यविभागेनावस्थानं बन्धः, परस्परप्राप्तिमात्रं सङ्ग इत्यस्त्यर्थविशेषः। तस्मात्क्रिया-कारणधर्मा[1]धर्माभावेऽपि हेत्वन्तरान्मुक्तस्य गतिरभ्यनुज्ञायते।

नोदाहरणमलाबूर्मारुतावेशादिति चेत्; न; तिर्यग्गमनप्रसङ्गात्। ८। स्यादेतत्—अलाबूद्रव्य मुक्तगमनसिद्धावुदाहरण न भवति; कुतः? मारुतावेशादिति, तन्न; किं कारणम्? तिर्यग्गमनप्रसङ्गात्। यदि मारुतावेशात्तस्य[2] गमन स्यात्तिर्यक्पवन-धर्मत्वान्मरुतस्तिर्यग्गमनमेव स्यान्नोर्ध्वम्।

ऊर्ध्वगत्यभावे तदभावप्रसङ्गोऽग्नेरौष्ण्याभावेऽभाववदिति चेत्; न; गत्यन्तर-निवृत्त्यर्थत्वात्। ९। स्यान्मतम्—यथोष्णस्वभावस्याग्नेरौष्ण्याभावेऽभावस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वे [3]तदभावे तस्याप्यभाव [4]प्राप्नोतीति; तन्न, किं कारणम्? गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थत्वात्। मुक्तस्योर्ध्वमेव गमन न दिगन्तरगमनमित्ययं स्वभावो नोर्ध्वगमनमेवेति।

सङ्गत्व इन दोनों में अन्तर है, एकत्व नही है क्योकि परस्पर प्रवेश होकर एकमेक हो जाना बन्ध है और परस्पर प्राप्तिमात्र का नाम सङ्ग है अत. इन दोनो मे भेद है। इसलिए क्रिया के कारणभूत पुण्य-पाप के नष्ट हो जाने पर भी मुक्त जीव के हेत्वन्तर (स्वगति परिणाम) ऊर्ध्वगमन होता है, ऐसा जाना जाता है ॥ ७ ॥

प्रश्न—मुक्तात्मा के ऊर्ध्वगमन की सिद्धि मे अलाबूद्रव्य का उदाहरण लागू नहीं होता है, क्योकि वायु और अलाबू मे अविशेषता-एकता है। **उत्तर**—अलाबू और वायु मे अविशेषता नहीं है, क्योकि अलाबू और तूम्बड़ी वायु के कारण ऊपर नही आती, यदि वायु मे अविशेषता होने से अलाबू ऊपर आती है तो वायु का तिरछा चलने का स्वभाव है, अत. अलाबू को भी तिरछा चलना चाहिये ऊर्ध्व नही, परन्तु अलाबू सङ्गरहित होने से ऊपर आती है, अत मिट्टी के लेप के अभाव मे ऊर्ध्वगमन मानकर अलाबू का दृष्टान्त सगत ही है ॥ ८ ॥

प्रश्न—जैसे उष्णता के अभाव मे उष्ण स्वभाव वाली अग्नि का भी अभाव हो जाना है उसी प्रकार सिद्धशिला पर पहुँचने के बाद मुक्त जीव मे ऊर्ध्वगमनत्व नहीं रहता, अत ऊर्ध्वगमनत्व स्वभाव का नाश हो जाने से मुक्तात्मा का भी अभाव (नाश) हो जाना चाहिये? **उत्तर**—गत्यन्तर की निवृत्ति के लिए ऊर्ध्वगमन कहा है। अर्थात्, 'मुक्तात्मा का ऊर्ध्व ही गमन होता है, दिगान्तर मे तिरछा नही।' यह स्वभाव है न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना ॥ ९ ॥

---

१ पुण्य-पाप —अ. टि.। २ जीवस्य —अ टि। ३ लोकाद्बहिर्गमनाभावे —अ टि.। ४ [illegible] —अ. टि.।

ऊर्ध्वज्वलनवद्वा । १० । यथा [1]ऊर्ध्वज्वलनस्वभावत्वेऽप्यग्नेर्वेगवद्द्रव्याभिघातात्तिर्यग्ज्वलनेऽपि नाऽग्नेर्विनाशो दृष्टस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वेऽपि तदभावे नाऽभाव इति ।

अत्राह–ऊर्ध्वज्वलनस्वभावस्याग्नेर्वेगवद[2]भिघातात्तिर्यग्ज्वलने सति विरोधादूर्ध्वज्वलनाभावो युक्तः, मुक्तस्य तु पुनः स्वभावगतिलोपहेत्वभावादूर्ध्वगत्युपरमोऽनुपपन्न इति; उच्यते लोकान्तान्नोर्ध्वगतिर्मुक्तस्य । कुतः ?

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः । [3]तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते ।

किं पुनरमी परिनिर्वृत्ताः कार्मणशरीरोपशमकादिभावनिरूपाख्याः पर्यायान्तरेण

ऊर्ध्वज्वलन के समान है । जैसे—ऊर्ध्वज्वलन स्वभावत्व होने पर भी अग्नि के वेगवान द्रव्य वायु के अभिघात से तिरछी ज्वाला निकलने पर भी अग्नि का विनाश नही देखा जाता है, उसी प्रकार मुक्त जीव मे ऊर्ध्वगमन स्वभावत्व होने पर भी लक्ष्य-प्राप्ति के बाद ऊर्ध्वगमन न होने पर भी मुक्तात्मा का अभाव नही होता है ।। १० ।।

अथवा, ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाली अग्नि के तो तिर्यक् पवन के सयोग से ऊर्ध्वगमन का अभाव माना जा सकता है, परन्तु मुक्तात्मा के तो स्वभाव गति के लोप के हेतु का अभाव होने से ऊर्ध्वगति उपरम नही होना चाहिये पर सूत्र मे लिखा है कि लोकाकाश पर्यन्त ही मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है । लोकाकाश से आगे मुक्तात्मा के गमन नही होने का क्या कारण है ? इस शका का समाधान करने के लिए सूत्र कहते हैं—

धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकाकाश के बाहर मुक्तात्मा के गमन का अभाव होता है ।। ८ ।।

लोकाकाश के आगे गति-उपग्रह करने मे कारणभूत धर्मास्तिकाय नही है । अतः लोकाकाश के आगे मुक्तात्मा के गमन का अभाव है । यदि लोकाकाश मे धर्मास्तिकाय का अभाव माना जाय या लोकाकाश के बाहर धर्मास्तिकाय का सद्भाव माना जाय तो लोक-अलोक के विभाग का अभाव ही हो जायेगा ।

प्रश्न—कार्माण शरीर एव औपशमिकादि भावो से रहित यह मुक्तात्मा क्या पर्यायान्तर के

---

१. ऊर्ध्वगमन –ता मू अ. आ. । २. वायु –अ. टि. । ३. धर्मास्तिकायस्याभावे –अ. टि. ।

शक्याः व्यपदेष्टुम् उतातीतव्यवहारा एव निर्धारयितव्या इति ? उच्यते–गम्याः। कथम् ? यस्मात्ते खलु–

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञाना-वगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनयद्वयापेक्षया क्षेत्रादिभिः साध्याः सिद्धाः । १ । एतैः क्षेत्रादिभिरल्पबहुत्वान्तैर्द्वादशभिरनुयोगद्वारैः प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनयद्वयापेक्षया साध्या चिन्त्या विकल्प्या । के पुनस्ते ? सिद्धाः । तद्यथा क्षेत्रेण तावत् कस्मिन् क्षेत्रे सिद्ध्यन्ति ?

सिद्धिक्षेत्रे कर्मभूमिषु वा । २ । प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिनयार्पणेन सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे, आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति । भूतानुग्रहतन्त्रनयविवक्षायां जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः । ऋजुसूत्रनयः शब्दभेदाश्च त्रयः प्रत्युत्पन्न-विषयग्राहिणः, शेषा नया उभयभावविषयाः । कालेन कस्मिन्काले सिद्धिः ?

द्वारा कथन करने योग्य है कि (किसी पर्याय के द्वारा इनका कथन-व्यवहार करना शक्य है) कि ये अतीत व्यवहार है, इसका निश्चय करना चाहिये ? उत्तर—सिद्धो मे भी पर्यायान्तर से व्यवहार होता है। सिद्धो मे भेद-व्यवहार किन कारणो से होता है, वे कारण यहा कहे जाते है—

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध, बोधित बुद्ध, ज्ञान, अवगाहन, संख्या और अल्पवहुत्व, इन बारह अनुयोगो के द्वारा सिद्धों में भेद सिद्ध किया जाता है ॥ ९ ॥

प्रत्युत्पन्ननय और भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा क्षेत्रादि के द्वारा सिद्धा मे भे... क्षेत्र को आदि लेकर अल्पबहुत्व पर्यन्त १२ अनुयोगो के द्वारा प्रत्युत्पन्ननय और भूत... अपेक्षा सिद्धो के विकल्प साध्य होते है। जैसे--क्षेत्र की अपेक्षा किस क्षेत्र मे सिद्ध होते...

सिद्धिक्षेत्र मे वा कर्मभूमि मे सिद्ध होते है। प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा सिद्धक्षे... आकाशप्रदेश मे सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियो मे ... अपेक्षा मनुष्यलोक मे सिद्धि होती है। ऋजुसूत्रनय और तीन शब्दनय (शब्दनय, समभि... एवभूतनय) प्रत्युत्पन्ननय वर्तमानग्राही है तथा शेषनय (सग्रह, व्यवहार और नैगम। ... और भूतकाल) विषयग्राही (ग्रहण करने वाले) है। प्रश्न—काल की अपेक्षा किस ... होते है ? ॥ २ ॥

एकसमये उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्वाऽविशेषे ।३। प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्ध्यन् सिद्धो भवति। भूतभावप्रज्ञापननयार्पणाया द्वेधा-जन्मनः(तः)संहरणतश्च। तत्र जन्मत· अविशेषेण उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जात सिद्धयति। विशेषेण अवसर्पिण्यां सुषमदु.षमाया अन्ते भागे दु·षमसुषमायां च जातः सिद्धयति। दुःषमसुषमायां जातः दुषमायां सिद्धयति न तु दु·षमायां जातः, [सः] अन्यदा नैव सिद्धयति। संहरणतः सर्वस्मिन् काले अवसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यां च सिद्धयति। गत्या कस्यां गतौ सिद्धि· ?

सिद्धिगतौ मनुष्यगतौ वाऽविशेषः ।४। प्रत्युत्पन्ननयाश्रयणेन सिद्धिगतौ सिद्धयति। भूतविषयनयापेक्षया द्विधा कल्पना—अनन्तरगतौ एकान्तरगतौ चेति। तत्रानन्तरगतौ मनुष्यगतौ सिद्धयति। एकान्तरगतौ चतसृषु गतिषु जातः सिद्धयति लिङ्गेन-केन सिद्धि· ? लिङ्ग त्रिविधो वेद ।

अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः ।५। वर्तमानविषयनयविवक्षायामवेदत्वेन सिद्धिर्भवति। अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्य· सिद्धिर्भवति भावं प्रति, न तु द्रव्यं प्रति, द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिङ्गेनैव सिद्धि । अपर· प्रकार.—लिङ्ग द्विविधम्—

उत्तर—एक समय मे सिद्ध होते है वा साधारण रूप से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकाल मे सिद्ध होते है। प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा एक समय मे ही सिद्ध होता है, क्योकि सिद्ध होने का काल तो एक समय ही है। भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा दो विकल्प है—जन्म से और सहरण से। जन्म की अपेक्षा सामान्यत. उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सुषम-सुषमा के अन्त भाग मे और दुःषम-सुषमा मे उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुषम-सुषमा मे उत्पन्न हुआ जीव दुषमा मे सिद्ध हो सकता है, परन्तु दुषमा मे या प्रथम द्वितीय काल मे तथा सुषमा-सुषमा के प्रथम भाग मे वा दुषमा-दुषमा काल मे उत्पन्न हुआ कभी सिद्ध नही हो सकता। सहरण की दृष्टि से सभी कालो मे (उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी मे) सिद्ध हो सकते है। **प्रश्न**—गति की अपेक्षा किस गति मे सिद्धि होती है ? ॥३॥

उत्तर—सिद्धगति मे वा मनुष्यगति मे सिद्धि होती है। प्रत्युत्पन्ननय की दृष्टि से सिद्धगति मे सिद्धि होती है। भूतनय की अपेक्षा दो विकल्प है—एकान्तरगति और अनन्तरगति। अनन्तरगति भूतनय की दृष्टि से मनुष्यगति मे सिद्धि होती है और एकान्तरगति की अपेक्षा चारो गतियां मे सिद्धि होती है अर्थात् किसी भी गति से मनुष्य होकर सिद्ध हो सकता है। **प्रश्न**—लिंग तीन प्रकार (स्त्री, पुरुष, नपु सक) का, उनमे किस लिंग से सिद्धि होती है, मुक्ति होती है ? ॥४॥

उत्तर—अवेद से मुक्ति होती है या तीनो वेदो से मुक्ति होती है—वर्तमान नय (प्रत्युत्पन्ननय) की अपेक्षा अवेद अवस्था मे सिद्धि होती है और अतीत गोचरनय (भूतनय) की अपेक्षा साधारण रूप से तीनो वेदो से सिद्धि होती है—तीनो लिगों से सिद्धि भावभेद की अपेक्षा है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं, क्योकि द्रव्यवेद की अपेक्षा तो पुरुषलिग से ही सिद्धि होती है दूसरे वेद से नही। अथवा,

निर्ग्रन्थलिङ्गं सग्रन्थलिङ्गं चेति। तत्र प्रत्युत्पन्नविषयनयादेशेन निर्ग्रन्थलिङ्गेन सिद्धयति। भूतविषयनयादेशेन तु भजनीयम्। तीर्थेन ?

तीर्थसिद्धिर्द्वेधा-तीर्थकरेतरविकल्पात्। ६। तीर्थसिद्धिर्द्वेधा भवति—तीर्थकरत्वेनेतरत्वेन च। सन्ति केचित्तीर्थंकरसिद्धा अपरेऽन्यथा सिद्धा। ते द्वेधा सत्येव तीर्थंकरे सिद्धा, असति चेति। चारित्रेण केन सिद्धयति ?

अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः। ७। प्रत्युत्पन्नावलेहिनयवशान्न चारित्रेण नाप्यचारित्रेण व्यपदेशविरहितेन भावेन सिद्धि। भूतपूर्वगतिर्द्विधा-अनन्तर-व्यवहितभेदात्। आनन्तर्येण यथाख्यातचारित्रेण सिद्ध्यति, व्यवधानेन चतुर्भिः पञ्चभिर्वा। चतुर्भिस्तावत् सामायिकच्छेदोपस्थापनासूक्ष्मसाम्परायथाख्यातचारित्रैः। पञ्चभिस्तैरेव परिहारविशुद्धिचारित्राधिकैः।

लिंग दो प्रकार का है—सग्रन्थलिङ्ग और निर्ग्रन्थलिङ्ग। उसमे प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा निर्ग्रन्थ-लिंग से ही मुक्ति होती है और भूतनय की अपेक्षा विकल्प है। **तीर्थ की अपेक्षा**—॥ ५ ॥

तीर्थसिद्धि दो प्रकार की होती है— एक तीर्थंकर रूप से और दूसरी तीर्थंकर भिन्न रूप से। कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए हैं और कोई तीर्थंकर न होकर सामान्य केवली होकर सिद्ध होते है। जो सामान्य सिद्ध है, तीर्थंकर बिना हुए सिद्ध हुए है, वे दो प्रकार के है— उनमे कोई तो तीर्थंकरो के अस्तित्व (मौजूदगी) मे सिद्ध होते है और कोई तीर्थंकर की गैर मौजूदगी मे सिद्ध होते हे। **प्रश्न—चारित्र की अपेक्षा** किस चारित्र से सिद्ध होते है ? ॥ ६ ॥

उत्तर—चारित्र-अचारित्र के विकल्प से रहित अवस्था से या एक, चार, पॉच विकल्प वाले चारित्र से सिद्ध होते हैं—अर्थात् प्रत्युत्पन्न नय की दृष्टि से न तो चारित्र से सिद्धि होती है और न अचारित्र से सिद्धि होती है, चारित्र-अचारित्र के विकल्परहित निर्विकल्प भाव से सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा दो प्रकार है—अनन्तर और व्यवहित। अनन्तरभूतप्रज्ञापननय की दृष्टि से यथाख्यात चारित्र से सिद्धि होती है और व्यवधान भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा चार या पॉच चारित्रो से सिद्धि होती है। सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात, इन चार चारित्रो को धारण कर सिद्ध होते है और कोई सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात, इन पॉच चारित्रो को प्राप्त कर मुक्त होते है। मुक्त होने के पूर्व चार चारित्र तो अवश्य होते है, परिहारविशुद्धिसयम भजनीय है, किसी के होता है, किसी के नही भी होता ॥ ७ ॥

---

१ मुक्ति तो निर्ग्रन्थ लिंग मे ही होती है, परन्तु उपसर्ग कृत केवली के लिये सग्रन्थ लिंग लिखा है—जैसे पाण्डवो को आभूषण पहनाना आदि।

स्वशक्तिपरोपदेशनिमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येकबुद्धबोधितविकल्पः ।८। केचित्प्रत्येकबुद्ध[1]सिद्धाः, परोपदेशमनपेक्ष्य स्वशक्त्यैवाविर्भूतज्ञानातिशयाः । अपरे बोधितबुद्धसिद्धाः[2], परोपदेशपूर्वकज्ञानप्रकर्षास्कन्दिनः । ज्ञानेन ?

एकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः ।९। प्रत्युत्पन्नग्राहिनयनिरूपणाया केवलज्ञानेनैकेन सिद्धिर्भवति । भूतपूर्वगत्या तु द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैर्भवति । द्वाभ्याम्–मतिश्रुतज्ञानाभ्याम्, त्रिभिर्मतिश्रुतावधिभिः मतिश्रुतमनःपर्ययैर्वा, चतुर्भिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययैः ।

अवगाहनं द्विविधम्-उत्कृष्टजघन्यभेदात् ।१०। आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनं द्विविधम्–उत्कृष्ट जघन्य चेति । तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि । जघन्यम् अर्द्धचतुर्थारत्नयः देशोना. । मध्ये विकल्पाः । एतस्मिन्नवगाहे सिद्ध्यन्ति

स्वशक्ति और परोपदेश निमित्त ज्ञान के भेद से प्रत्येकबुद्ध और बोधितबुद्ध ये दो विकल्प होते है। कुछ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध होते है जो परोपदेश के बिना स्वशक्ति से ही ज्ञानातिशय प्राप्त करते है अर्थात् पूर्वभवोपार्जित सस्कार के कारण स्वयमेव ससार से विरक्त हो जाते है। कुछ वोधितवुद्ध होते है जो परोपदेशपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते है, गुरुजनो के द्वारा सम्बोधित करने पर ससार से विरक्त हो मुक्ति प्राप्त करते है ।। ८ ।।

ज्ञान की अपेक्षा कोई एक ज्ञान से, कोई दो ज्ञान से, कोई तीन ज्ञान से और कोई चार ज्ञान विशेप से सिद्धावस्था प्राप्त करते है। प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा एक केवलज्ञान से ही सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापननय की दृष्टि से मति, श्रुत इन दोनो से, मति श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानो से वा मति श्रुत और मन.पर्यय इन तीन ज्ञानो से तथा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चारो से सिद्धि होती है ।। ९ ।।

उत्कृष्ट और जघन्य के भेद से अवगाहन (शरीर की ऊँचाई) दो प्रकार का है। आत्मप्रदेशो का व्यापित्व, अर्थात् अवगाहन शरीर परिमाण है और वह अवगाहन उत्कृष्ट एव जघन्य के भेद से दो प्रकार का है। उत्कृष्ट अवगाहन पाँच सौ पच्चीस धनुष है और जघन्य साढे तीन अरत्नि (मुष्ठि वन्द किए हुए हाथ को अरत्नि कहते है) प्रमाण है। मध्य मे अवगाहना के अनेक विकल्प होते हैं। भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष है, जघन्य साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण से और मध्य मे अनेक विकल्पो से सिद्धि होती है तथा प्रत्युत्पन्न

---

१ मेघपटलादिक माटकूटाद्याकार क्षणदृष्टप्रणष्टमेक प्रत्यपरोपदेशमन्तरेण स्वशक्त्यैव कामभोगादिभ्यो विरक्तिर्बुद्धि जायते स प्रत्येकवुद्ध इत्याख्यायते –श्र. टि । २. यः पुन कामभोगाद्यासक्तचित्तः परेण वोधित. स॒ कामभोगादिभ्यो विरक्तबुद्धिर्जायते स वोधितवुद्धः –श्र टि. ।

पूर्वभावप्रज्ञाननयापेक्षया। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापने तु एतस्मिन्नेव देशोने। किमन्तरं सिद्धचताम् ? अनन्तरं च सिद्ध्यन्ति सान्तरञ्च।

अनन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कर्षेणाष्टौ।११। आनन्तर्येण जघन्येन द्वौ समयौ सिद्ध्यन्ति उत्कर्षेणाष्टौ।

अन्तरं जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेण षण्मासा.।१२। सिद्धचता सिद्धिविरह-कालोऽन्तरम्। तत् जघन्येनैकसमय., उत्कर्षेण षण्मासा प्रत्येतव्या।

जघन्येन एक उत्कर्षेण अष्टशतमिति संख्या।१३। एकसमये कति सिद्धचन्ति ? जघन्येनैकः उत्कर्षेणाष्टशतमिति संख्या अवगन्तव्या।

क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परतः संख्याविशेषः अल्पबहुत्वम्।१४। क्षेत्रादिभिरेका-दशभिरनुयोगद्वारैः भिन्नाना परस्परत· सख्याविशेषोऽल्पबहुत्वमित्युच्यते। तद्यथा-

---

भाव प्रज्ञापननय की दृष्टि से उत्कृष्ट कुछ कम पाँच सौ पच्चीस धनुष से जघन्य साढे तीन अरत्नि प्रमाण से और मध्य मे अनेक विकल्पो से सिद्धि होती है तथा प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापननय की दृष्टि से उत्कृष्ट कुछ कम पाँच सौ पच्चीस धनुष से सिद्धि होती है और जघन्य से कुछ कम, साढे तीन अरत्नि प्रमाण से सिद्धि होती है। **प्रश्न**—मुक्तावस्था को प्राप्त होने वाले जीव निरन्तर सिद्ध होते हे कि सान्तर सिद्ध होते है, यदि सान्तर सिद्ध होते है तो उनमे अन्तर क्या है ?॥ १० ॥

उत्तर—जघन्य से दो समय तक और उत्कृष्ट से आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते रहते हैं॥ ११ ॥

जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह महीने का अन्तर पड सकता है। सिद्धो के विरहकाल को अन्तर कहते है, अर्थात् एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होने के मध्य का काल वा जितने समय तक कोई भी जीव मोक्ष मे नही जाय, उसको अन्तर कहते हैं। सिद्ध होने का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास है। उसके बाद कोई-न-कोई जीव मोक्ष मे अवश्य जायेगा॥ १२ ॥

जितने जीव एक साथ मोक्ष मे जाते है, उसे संख्या कहते है। एक समय मे जघन्य से एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट से १०८ जीव एक समय मे सिद्ध हो सकते है, ऐसा जानना चाहिये॥ १३ ॥

क्षेत्रादि भेद से भिन्न-भिन्न की परस्पर सख्याविशेष—सख्या के तारतम्य को अल्पबहुत्व कहते है। क्षेत्र-काल, लिंग आदि ग्यारह अनुयोग द्वार से भेदो की परस्पर सख्याविशेष को अल्पबहुत्व कहते हैं। जैसे—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा सिद्धक्षेत्र मे सिद्ध होते है अत. उनमे अल्पबहुत्व नही है। परन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा यहाँ विचार किया जाता है—भूतपूर्व नय की अपेक्षा क्षेत्रसिद्ध दो प्रकार के है—एक-जन्म की दृष्टि से और दूसरे संहरण की दृष्टि से। उनमे सहरण सिद्ध अल्प हैं,

प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे सिद्धयन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । भूतपूर्वनयापेक्षया तु चिन्त्यते–क्षेत्रसिद्धा द्विधा–जन्मतः सहरणतश्च । तत्राल्पे संहरणसिद्धा.[1] । जन्मसिद्धाः संख्येयगुणा [2] । सहरण द्विविधम्–स्वकृत परकृतं च । देवकर्मणा चारणविद्याधरैश्च कृत परकृतम् । स्वकृत चारणविद्याधराणामेव । तेषा च क्षेत्राणा विभाग.–कर्मभूमिः अकर्मभूमि समुद्रो द्वीप ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति । सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धा । अधोलोकसिद्धा सख्येयगुणा तिर्यग्लोकसिद्धा सख्येयगुणा । सर्वस्तोकाः समुद्रसिद्धाः । द्वीपसिद्धा सख्येयगुणा । एव तावदविशेषेण । विशेषेण च सर्वस्तोका. लवणोदसिद्धा । कालोदसिद्धाः संख्येयगुणा । जम्बूद्वीपसिद्धा सख्येयगुणा । धातकीखण्डसिद्धा संख्येयगुणा । पुष्करद्वीपार्द्धसिद्धा सख्येयगुणा इति ।

कालविभागस्त्रिविध–उत्सर्पिणी अवसर्पिणी अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणी चेति । सर्वस्तोका उत्सर्पिणीसिद्धा । अवसर्पिणीसिद्धा विशेषाधिका. । अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणीसिद्धा संख्येयगुणा । प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्धयन्तीति नास्त्यल्पवहुत्वम् ।

जन्मसिद्ध उनसे सख्यात गुणे है । सहरण दो प्रकार का है—एक स्वकृत और दूसरा परकृत । देवो के द्वारा एव चारण विद्याधरो के द्वारा कृत सहरण परकृत है और चारण विद्याधरो का स्वय सहरण स्वकृत है । जिस क्षेत्र मे जन्म हुआ है वह क्षेत्र कहलाता है और देव विद्याधर उठाकर समुद्र में डाल देते है या स्वय विद्या या ऋद्धियो से दूसरे स्थान मे चले जाते है, वह सहरण कहलाता है । उनके क्षेत्रो के विभाग को कहते है—कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र-द्वीप, ऊपर, नीचे, तिरछे आदि । उनमे ऊर्ध्वलोकसिद्ध सबसे स्तोक-कम है । ऊर्ध्वलोक से सिद्ध होने वाले जीवो की अपेक्षा अधोलोक से सिद्ध होने वाले सख्यात गुणे अधिक है । उससे भी तिर्यग्लोक सिद्ध सख्यातगुणे है । अधोलोक का अर्थ नरक वा ऊर्ध्वलोक का अर्थ स्वर्ग नही है अपितु अधोलोक का अर्थ है—किसी ने मुनिराज को नीचे गड्ढे मे डाल दिया हो या पर्वत आदि ऊँचे स्थान मे ले गये हो, वह ऊर्ध्वलोक कहलाता है । वहाँ से सिद्ध होने वाले अधोलोकसिद्ध और ऊर्ध्वलोकसिद्ध कहलाते है । सबसे कम समुद्रसिद्ध है, उससे सख्यात गुणे द्वीपो से मुक्त हुए जीव है, यह सामान्य वर्णन है—विशेष से सबसे कम लवणसमुद्र से सिद्ध हुए जीव है उससे सख्यातगुणे कालोदधि समुद्र से सिद्ध हुए हैं । उससे संख्यात गुणे जम्बूद्वीपसिद्ध है । जम्बूद्वीपसिद्ध की अपेक्षा धातकीखण्ड से सिद्ध हुए जीव सख्यातगुणे अधिक है, उससे सख्यातगुणे पुष्करार्धद्वीपसिद्ध है ।

काल-विभाग तीन प्रकार का है—उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी । उत्सर्पिणीकाल मे सिद्ध हुए जीव सबसे कम है । अवसर्पिणीसिद्ध उससे विशेषाधिक है, अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणीसिद्ध (विदेहक्षेत्रो से सिद्ध हुए जीव) सख्यातगुणे अधिक है । प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा एक समय मे सिद्ध होते है अत अल्पबहुत्व नही है ।

---

१. तेऽप्यनन्ता –अ. टि. । २ सख्येयगुणा अनन्ता इत्यर्थं एवमुत्तरत्रापि योज्य –अ टि ।

[[1]अन्तरम्—सर्वस्तो] का अष्टसमयानन्तरसिद्धा । सप्तसमयानन्तरसिद्धा सख्येयगुणा । [एवमा द्विस] मयानन्तरसिद्धेभ्य । एव तावदनन्तरेषु । सान्तरेष्वपि सर्वस्तोका षण्मासान्तरसिद्धा । [एकसमया]न्तरसिद्धा संख्येयगुणा । यवमध्यान्तरसिद्धा सख्येयगुणाः । अधस्ताद् यवमध्यान्तरसिद्धा सख्येयगुणा । उपरियवमध्यान्तरसिद्धा विशेषाधिका. ।

गति प्रति—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापननयस्य सिद्धिगतौ सिद्धचन्तीति नास्त्यल्पवहुत्वम् । भूतविषयनयापेक्षया वानन्तरगतौ मनुष्यगतौ सिद्धचन्तीति नास्त्यल्पवहुत्वं । एकान्तरगतौ तु अल्पबहुत्वमस्ति । सर्वत स्तोकास्तिर्यग्योन्यनन्तरगतिसिद्धा, मनुष्ययोन्यनन्तरगतिसिद्धा सख्येयगुणा, नरकयोन्यनन्तरगतिसिद्धा सख्येयगुणा देवयोन्यनन्तरगतिसिद्धा सख्येयगुणा इति ।

वेदानुयोगे—प्रत्युत्पन्ननयाश्रयणे अवेदा सिद्धचन्तीति नास्त्यल्पवहुत्वम् ।

अन्तरानुयोग से—आठ समय के अनन्तर से सिद्ध होने वाले जीव सबसे कम हैं। सात समय के अनन्तर से सिद्ध होने वाले उससे सख्यातगुणे है, इस प्रकार दो समयानन्तर से सिद्ध होने वाले तक समझना चाहिये। अर्थात् आठ समय तक लगातार सिद्ध होने वाले जीव सवसे कम है, सात समय तक लगातार सिद्ध होने वाले उससे सख्यातगुणे है। छह समय से कम मे जाने वाले सख्यातगुणे है, इस प्रकार दो समय तक सख्यात-सख्यातगुणे समझना चाहिये। सान्तरो मे छह मास के अन्तर से सिद्ध होने वाले सबसे कम है। एक समयान्तर से सिद्ध होने वाले जीव उससे सख्यात गुणे हैं। यवमध्यान्तरसिद्ध सख्येय गुणे है। अधोयवमध्यान्तरसिद्ध सख्येय गुणे हे और उपरियवमध्यान्तरसिद्ध विशेषाधिक है।

गति अनुयोग से—गति की दृष्टि से प्रत्युत्पन्ननय की विवक्षा से सिद्धगति मे ही सिद्धि होती है, अतः इसमे अल्पबहुत्व नही है। भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा अनन्तरगति मनुष्यगति मे ही सिद्धि होती है, अत. इसमे भी अल्पबहुत्व नही है क्योकि एक मे अल्पवहुत्व नही होता। एकान्तरगति मे तो अल्पबहुत्व है, सबसे स्तोक तिर्यञ्चगति से मनुष्य होकर सिद्ध होने वाले हे। मनुष्यगति से आकर मनुष्य होकर सिद्ध होने वाले, तिर्यञ्चगति वालो की अपेक्षा सख्यातगुणे अधिक है। इससे सख्यातगुणे नरक गति से आकर मनुष्य होकर सिद्ध होने वाले है, देवयोनि से आकर मनुष्य होकर सिद्ध होने वाले उनसे भी सख्यातगुणे है।

वेदानुयोग से—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा अवेद अवस्था मे ही मुक्ति होती है, अत इसमे

---

१ तुलना—"अन्तरम्। सर्वस्तोका अष्टसमयानन्तरसिद्धा । सप्तसमयानन्तरसिद्धा षट्समयानन्तरसिद्धा [illegible] यावद् द्विसमयानन्तरसिद्धा इति सख्येयगुणा । एव तावदनन्तरेषु । सान्तरेष्वपि सर्वस्तोका षण्मासान्तरसिद्धा, एकसमयान्तरसिद्धा सख्येयगुणा, यवमध्यान्तरसिद्धा. सख्येयगुणा., अधस्ताद् यवमध्यान्तरसिद्धा [illegible], उपरियवमध्यान्तरसिद्धा विशेषाधिका, सर्वे विशेषाधिका ।" —त भा १०।७।

भूतविषयनयाश्रयणे तु सर्वतः स्तोकाः नपुंसकवेदसिद्धाः । स्त्रीवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः पुंवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

तीर्थानुयोगे[1]–तीर्थकरसिद्धाः अल्पे । इतरे सिद्धाः संख्येयगुणाः ।

चारित्रानुयोगे–प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया अव्यपदेशेन सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पवहुत्वम् । भूतविषयनयाश्रयणे च अनन्तरचारित्रपरिग्रहे यथाख्यातचारित्राः सर्वे सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । व्यवधाने च पञ्चचारित्रसिद्धाः अल्पे । चतुश्चारित्रसिद्धाः संख्येयगुणा. ।

प्रत्येकबुद्ध–बोधितबुद्धानुयोगे-अल्पे प्रत्येकबुद्धाः । बोधितबुद्धाः संख्येयगुणाः ।

ज्ञानानुयोगे–प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनस्य केवली सिद्ध्यतीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । पूर्वभावप्रज्ञापनस्य सर्वस्तोका द्विज्ञानसिद्धाः । चतुर्ज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । त्रिज्ञानसिद्धाः सख्येयगुणा । एवं तावदविशेषेण । विशेषेण च सर्वस्तोकाः मतिश्रुतमन.पर्ययज्ञानसिद्धाः । मतिश्रुतज्ञानसिद्धाः सख्येयगुणाः । मतिश्रुतावधिमन पर्ययज्ञानसिद्धाः सख्येयगुणाः । मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणा इति ।

अल्पवहुत्व नही है । भूतपूर्वनय की विवक्षा से सबसे कम नपुंसकवेद सिद्ध है । इससे संख्यातगुणे स्त्रीवेदसिद्ध हैं और इससे संख्यातगुणे पुरुषवेदसिद्ध हैं । यह वर्णन श्रेणी माडने वाले भाववेद की अपेक्षा से है, द्रव्य से तो पुरुषवेद से ही सिद्धि होती है ।

तीर्थानुयोग से—तीर्थंकर सिद्ध स्तोक है और इतरसिद्ध उससे सख्येयगुणे है ।

चरित्रानुयोग से—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा निर्विकल्प चारित्र से सिद्ध होते है, अतः इसमे अल्पवहुत्व नही है । भूतपूर्वनय के आश्रय से, अनन्तर चारित्र की दृष्टि से सभी यथाख्यात चारित्र से सिद्ध हो जाते हैं अतः इसमें अल्पवहुत्व नही है । व्यवधान की दृष्टि से पञ्च चरित्र से सिद्ध बहुत कम होते है और चतुश्चारित्रसिद्ध संख्येयगुणे है ।

प्रत्येकवुद्ध बुद्धवोधित अनुयोग से—प्रत्येकबुद्ध कम है और वोधितबुद्ध सख्येयगुणे हैं ।

ज्ञानानुयोग से—प्रत्युत्पन्ननय की दृष्टि से केवली ही सिद्ध होते है, अतः इसमे अल्पबहुत्व नही है । पूर्वभावप्रज्ञापननय की अपेक्षा द्विज्ञानसिद्ध सवसे कम है, चतुर्ज्ञानसिद्ध उससे सख्यातगुणे है; त्रिज्ञानसिद्ध उससे भी सख्यातगुणे है । यह अविशेषता से अर्थात् ज्ञान के नामोच्चारण के विना कथन है । इसी प्रकार विशेषता से मतिश्रुतमन.पर्ययज्ञानसिद्ध अर्थात् "जिन को केवल-

---

१. प्रश्न –अ. टि. ।

अवगाहनानुयोगे–सर्वस्तोका· जघन्यावगाहनसिद्धा । उत्कृष्टावगाहनसिद्धाः सख्येय-गुणाः । यवमध्यसिद्धाः संख्येयगुणाः । अधस्ताद्यवमध्यसिद्धाः सख्येयगुणा. । उपरि यवमध्यसिद्धाः विशेषाधिकाः ।

संख्यानुयोगे–सर्वस्तोका अष्टशतसिद्धा । अष्टोत्तरशतसिद्धादय[1] आपञ्चाशत्सिद्धेभ्यः अनन्तगुणाः । एकान्नपञ्चाशत्सिद्धादय· आपञ्चविंशतिसिद्धेभ्य. असख्येयगुणा । चतुर्विंशतिसिद्धादयः आ एकसिद्धेभ्य सख्येयगुणा· ।

एवं निसर्गाधिगमयोरन्यतरज तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकं शङ्काद्यतीचारविमुक्त प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षण विशुद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शनोपलब्धिविशुद्ध च ज्ञानमधिगम्य, निक्षेपप्रमाणनिर्देशसत्सख्यादिभिरप्युपायैर्जीवानां पारिणामिकौदयिकौप-शमिकक्षायोपशमिकक्षायिकाणा भावाना स्वतत्त्व विदित्वा चेतनाचेतनाना भोगसाधना-नामुत्पत्तिप्रलयस्वभावावगमात् विरक्तो वितृष्णस्त्रिगुप्त पञ्चसमितो दशलक्षण-धर्मानुष्ठानात्तत्फलदर्शनाच्च निर्वाणप्राप्तियतनायाभिवर्द्धितश्रद्धासंवेगभावनाविर्भावितात्मा

ज्ञान के पूर्व ये तीन ज्ञान हो चुके है" वे सबसे स्तोक है, मतिश्रुतज्ञानसिद्ध इनसे सख्येयगुणे है, मतिश्रुत-अवधिमन·पर्ययज्ञानसिद्ध सख्यातगुणे है और इनसे सख्यातगुणे मतिश्रुतअवधिज्ञानसिद्ध हैं ।

अवगाहनानुयोग से—जघन्य अवगाहनासिद्ध सबसे कम है, उत्कृष्ट अवगाहनासिद्ध सख्यात-गुणे है । यवमध्यसिद्ध (मध्यम अवगाहनासिद्ध) इससे सख्येयगुणे हैं, अधोयवसिद्ध (जघन्य अवगाहना के समीप अर्थात् चार हाथ, पाँच हाथ आदि अवगाहना से सिद्ध) सख्यातगुणे है और उपरियवसिद्ध (४००-४५०-४७५ धनुष आदि अवगाहनासिद्ध) अधोयवसिद्ध से विशेष अधिक है ।

संख्यानुयोग से—एक सौ आठ, एक सौ आठ एक साथ होने वाले सिद्ध सबसे स्तोक है । १०८ से लेकर पचास तक एक साथ सिद्ध होने वाले १०८ होने वाले सिद्धो से अनन्तगुणे है । ४९ से २५ तक सिद्ध होने वाले असख्यातगुणे है और चौवीस से लेकर एक तक एक साथ सिद्ध होने वाले सख्यातगुणे है ।

इस प्रकार निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होने वाला, तत्त्वार्थश्रद्धान रूप, शकादि अतिचार से रहित, प्रशम सवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव से जिसका लक्षण प्रकट है, ऐसे उस विशुद्ध सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन से विशुद्ध सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर, निक्षेप प्रमाण निर्देश-सत्सख्यादि उपायो (अनुयोगो) के द्वारा जीवो के पारिणामिक औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक भावो के स्वतत्त्व को जानकर, चेतन-अचेतन भोग-साधनो की उत्पत्ति एव विनाश स्वभाव को जानकर, विरक्त वितृष्ण त्रिगुप्तियुक्त पचसमिति सहित, दशलक्षण धर्मानुष्ठान और उसके फल देखकर निर्वाण-प्राप्ति की दिशा मे श्रद्धा, सवेग. भावना आदि की वृद्धि से आत्मा को भावित कर,

---

१ सतोत्तरशतसि –मू. ।

अनुप्रेक्षाभि. स्थिरीकृतानभिष्वङ्गः[1] सवृतात्मा निरास्रवत्वाद् व्यपगताभिनवकर्मोपचयः परिषहजयाद्बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानादनुभवनाच्च सम्यग्दृष्टिविरताविरतादीनां च जिनपर्यन्ताना परिणामाध्यवसानविशुद्धिस्थानान्तराणामसख्येयगुणोत्कर्षप्राप्त्या पूर्वोपचितं कर्म निर्जरयन् सामायिकादीनां च सूक्ष्मसाम्परायान्ताना सयमविशुद्धिस्थानानामुत्तरोत्तरोपलम्भात् पुलाकादीना च निर्ग्रन्थाना संयमानुपालनविशुद्धिस्थानविशेषाणामुत्तरोत्तरप्रतिपत्त्या घटमानोऽत्यन्तप्रहीणार्त्तरौद्रध्यानो धर्म्यध्यानविजयादवाप्तसमाधिवलः, शुक्लध्यानविकल्पयोश्च पृथक्त्वैकत्ववितर्कयोश्चान्यतरस्मिन् वर्तमानो नानाविधपूर्वोदितर्द्धिविशेषयुक्तः, तत्रानभिष्वक्तचित्तः, पूर्वोदितेन क्रमेण मोहादीन् क्षयं नीत्वा सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीमनुभूय, तत शेषकर्मक्षयाद्भवबन्धनिर्मुक्तः निर्दग्धपूर्वोपादानेन्धनो निरुपादान इवाग्नि. पूर्वोपात्तभववियोगात् हेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भावात् सान्तः ससारदुःखमतीत्य आत्यन्तिकमैकान्तिक निरुपमं निरतिशयं निर्वाणसुखमवाप्नोतीति तत्त्वार्थभावनाफलमेतत् । उक्तञ्च–

> एवं [2]तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशम् ।
> निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ ॥ १ ॥

अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन से चित्त को स्थिर कर, विषयो से विरक्तमन होकर, आत्मा को चारों ओर से सवरयुक्त करके, आस्रवशून्य होने से अभिनव (नवीन) कर्मो के उपचय को नष्ट करता हुआ, परीषहजय बाह्य-आभ्यन्तर तपोऽनुष्ठान और अनुभव से सम्यग्दृष्टि विरत आदि जिनपर्यन्त परिणामविशुद्धि अध्यवसानविशुद्धि आदि स्थानो को प्राप्त करके, असख्यात गुणी उत्कर्ष की प्राप्ति से पूर्वोपार्जित कर्मो की निर्जरा करता है। वह सामायिक आदि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय पर्यन्त सयमविशुद्धि स्थानो को उत्तरोत्तर प्राप्त करके, पुलाक से लेकर निर्ग्रन्थ पर्यन्त सयमानुपालनविशुद्धिस्थान आदि को उत्तरोत्तर चढता हुआ, आर्त्तरौद्रध्यान से रहित होकर, धर्मध्यान की विजय से समाधि वल प्राप्त करके, पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क शुक्लध्यान मे से किसी एक शुक्लध्यान को ध्याता हुआ, पूर्वोक्त नानाविध ऋद्धियो के मिलने पर भी उनमे अनासक्त चित्त हो, पूर्वोक्त क्रम से मोहादि का क्षय करके, सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मी का (अर्हन्तावस्था का) अनुभव करके, तत्पश्चात् शेष अघातिया कर्मो को ईंधनरहित अग्नि के समान क्षय करता हुआ, पूर्व शरीर का नाश हो जाने से तथा नवीन शरीर की उत्पत्ति का कारण न होने से भवबन्धन से मुक्त अशरीरी होकर, ससारदु खो से परे आत्यन्तिक ऐकान्तिक निरुपम और निरतिशय निर्वाणसुख प्राप्त करता है । यही तत्त्वार्थभावना का फल है। कहा भी है कि—

इस प्रकार तत्त्वपरिज्ञान करके अत्यन्त विरक्त आत्मा आस्रवरहित होने से नूतन कर्म-

---

१ अपरिभव -अ टि । २ सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसयुक्तस्या -मु. ।

पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः ।
संसारबीजकात्स्न्येंन मोहनीयं प्रहीयते ।। २ ।।

ततोऽन्तरायज्ञानघ्न-दर्शनघ्नान्यनन्तरम् ।
प्रहीयन्तेऽस्य युगपत्त्रीणि कर्माण्यशेषतः ।। ३ ।।
गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा तालो विनश्यति ।
तथा कर्मक्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ।। ४ ।।
ततः क्षीणचतुःकर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम् ।[1]
बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः ।। ५ ।।

शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ।। ६ ।।

कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति ।
यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः ।। ७ ।।
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ।। ८ ।।

सन्तति के नष्ट हो जाने पर पूर्वोक्त कारणो के द्वारा पूर्वार्जित कर्मो का क्षय कर ससार के वीजभूत मोहनीय कर्म को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है ।। १-२ ।।

उसके बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, ये तीनो कर्म अशेषरूप से एक साथ नष्ट हो जाते है । जैसे—गर्भसूची-मस्तकछत्र के (या जड के) नष्ट हो जाने पर (नष्ट होते ही) तालवृक्ष नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही शेष तीन घातिया कर्म नष्ट हो जाते है ।। ३-४ ।। इसके बाद चार घातिया कर्मो का नाश कर अथा(यथा)ख्यातसयम को प्राप्त और बीजवन्धन (कर्मबीज बन्धन) से निर्मुक्त आत्मा स्नातक परमेश्वर वन जाता है ।। ५ ।।

शेष चार अघातिया कर्मो का उदय रहते हुए भी आत्मा शुद्ध-वुद्ध निरामय सर्वज्ञ, सर्वदर्शी केवली जिन हो जाता है ।। ६ ।।

जैसे जली हुई अग्नि ईंधन आदि उपादान न रहने पर बुझ जाती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्मो के क्षय हो जाने से आत्मा निर्वाण को प्राप्त हो जाती है, ऊर्ध्वगमन कर जाती है ।। ७ ।। जैसे बीज के अत्यन्त जल जाने पर अङ्कुर उत्पन्न नही होता है, उसी प्रकार कर्मवीज के भस्म हो

---

१. घाति –श्र टि ।

तदनन्तरमेवोर्ध्व-मालोकान्तात् स गच्छति ।
पूर्वप्रयोगासङ्गत्व-बन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥ ९ ॥
कुलालचक्रडोलायामिषौ चापि यथेष्यते ।
पूर्वप्रयोगात् कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ १० ॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टोऽप्स्वलाबुनः ।
कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ ११ ॥
एरण्डयन्त्रपेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।
कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः ।
अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥ १३ ॥
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निदीप्तयः ।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनाम् ॥ १४ ॥
अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते ।
कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥ १५ ॥
स्यादधस्तिर्यगूर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः ।
ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम् ॥ १६ ॥
द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः ।
समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात् ॥ १७ ॥

जाने पर भवांकुर उत्पन्न नही हो सकता ॥ ८ ॥ कर्मक्षय के अनन्तर आत्मा पूर्वप्रयोग, असगत्व, वन्धच्छेद और ऊर्ध्वगौरव धर्म के कारण लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन करता है ॥ ९ ॥

जैसे—कुम्भकार के चक्र या वाण मे पूर्वप्रयोगवश क्रिया होती रहती है, उसी प्रकार पूर्वप्रयोगवश कर्मों से छूटते ही आत्मा का ऊर्ध्वगमन बताया गया है। जिस प्रकार मिट्टी का लेप छूट जाने पर पानी मे डूबी हुई अलावू (तूंवडी) ऊपर आ जाती है वैसे ही कर्मलेप के हट जाने पर स्वाभाविक सिद्ध गति होती है अर्थात् कर्मों के लेप से रहित आत्मा ऊर्ध्वगमन करती है ॥ १०-११ ॥ एरण्डवीज, यन्त्र तथा पेला आदि मे जैसे वन्धच्छेद होने पर ऊर्ध्वगमन होता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध का उच्छेद होने पर आत्मा का ऊर्ध्वगमन होता है, सिद्धपद की प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥

जिनेन्द्र भगवान ने जीव को ऊर्ध्वगौरवधर्मा तथा पुद्गल को अधोगौरवधर्मा कहा है। जिस प्रकार लोष्ठ, वायु और अग्निशिखा स्वभाव से ही नीचे, तिरछे और ऊपर को जाती है, उसी प्रकार आत्मा की स्वभावतः ऊर्ध्वगति होती है। ससारी जीवो की जो विकृत गति पाई जाती है वह या तो प्रयोग से है या फिर कर्मो के प्रतिघात से है ॥ १३-१५ ॥ ससारी जीवो की कर्मजा (कर्मों से होने वाली) गति अधः (नीचे), तिरछे और ऊपर भी होती है, परन्तु क्षीणकर्मा जीवो की गति स्वभाव से ऊर्ध्व होती है ॥ १६ ॥

जिस प्रकार परमाणुद्रव्य मे लोकान्तगामिनी क्रिया की उत्पत्ति, आरम्भ और समाप्ति

उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह ।
युगपद्भवतो यद्वत्तथानिर्वाणकर्मणोः ॥ १८ ॥

तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा ।
प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १९ ॥
नृलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा ।
ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः ॥ २० ॥
तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने ।
सम्यक्त्वसिद्धतावस्थाः हेत्वभावाच्च निष्क्रियाः ॥ २१ ॥

ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः ।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥ २२ ॥
संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥ २३ ॥

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः ।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्यत्र मे शृणु ॥ २४ ॥
लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥ २५ ॥

युगपत् (एक साथ) होती है उसी प्रकार ससार के क्षय हो जाने से मुक्तात्मा की गति की उत्पत्ति आरम्भ और समाप्ति एक साथ होती है। जैसे—प्रकाश की उत्पत्ति और अन्धकार का विनाश एक ही साथ (एक ही समय मे) होता है, उसी प्रकार निर्वाण की प्राप्ति और कर्मो का नाश एक ही समय में होता है ॥ १७-१८ ॥

लोक के शिखर पर अतिशय मनोज्ञ, तन्वी, सुरभि, पुण्या और परमभासुरी प्राग्भारा नाम की वसुधा अवस्थित है। यह मनुष्यलोक के समान विस्तार वाली (४५ लाख योजन विस्तृत) शुभ एवं शुक्ल छत्र के समान है। लोकान्त मे इस पृथ्वी पर सिद्ध विराजमान होते हैं। वे सिद्ध भगवान केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व और सिद्धत्व मे तद्रूप से उपयुक्त है और क्रिया के कारणों का अभाव होने से निष्क्रिय हैं ॥ १९-२१ ॥

'उससे भी ऊपर उनकी गति क्यो नही होती है?' इसका समाधान यह है कि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकाकाश के बाहर सिद्धो का गमन नही होता। परम ऋषियो ने सिद्धो का सुख ससार के विषयों से अतीत, अव्यय (विनाशरहित) और अव्याबाध (बाधारहित) कहा है ॥२२-२३॥

'अशरीरी, नष्ट-अष्टकर्मा मुक्तजीवो के कैसे, क्या सुख होता है?' इसका समाधान सुनिये—इस लोक मे चार अर्थो मे सुख शब्द का प्रयोग होता है। विषयवेदना का अभाव, विपाक, कर्मफल और मोक्ष। 'अग्नि सुखकर है' 'वायु सुखकारी है', इत्यादि मे सुख शब्द विषयार्थक है। रोगादि दुःखो के अभाव मे पुरुष 'मैं सुखी हूँ' ऐसा समझता है, वह वेदनाभाव सुख है, पुण्यकर्म के विपाक

सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते ।
दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ।। २६ ।।
पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ।। २७ ।।

सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम् ।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात् सुखानुशयतस्तथा ।। २८ ।।
श्रमक्लममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात् ।
मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ।। २९ ।।

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते ।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ।। ३० ।।
लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः ।
अलिङ्गं चाऽप्रसिद्धं च तत्तेनानुपमं स्मृतम् ।। ३१ ।।

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम् ।
गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्मस्थपरीक्षया ।। ३२ ।।
इति तत्त्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः ।
यत्रन् सन्निहितस्तर्कन्यायागमविनिर्णयः ।। ३३ ।।

।। इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे दशमोऽध्यायः समाप्तः ।।

(उदय) से जो इष्ट इन्द्रिय विषयो से सुखानुभूति होती है वह विपाकज सुख है और कर्म और क्लेश के विमोक्ष (नष्ट) होने से मोक्ष का अनुपम सुख प्राप्त होता है—वह मोक्षसुख है ।। २४-२७ ।।

कोई मोक्षसुख को सुप्तावस्था के समान मानते है, परन्तु सुप्तावस्था के समान सुख मानना ठीक नही है, क्योकि मोक्षसुख मे सुखानुभव रूप क्रिया होती रहती है और सुप्तावस्था तो दर्शनावरणीय कर्म के उदय से श्रम-क्लम-मद, भय, व्याधि काम आदि निमित्तो से उत्पन्न होती है और मोहोत्पत्ति का विकार है ।। २८-२९ ।।

सारे ससार मे ऐसा कोई पदार्थ ही नही है जिससे उस सुख (मोक्षसुख) की उपमा दी जाय । अतः मोक्षसुख परम निरुपम है । लिग और प्रसिद्धि मे, अनुमान और उपमान मे प्रामाण्य उत्पन्न होता है परन्तु यह सिद्धो का सुख न तो लिङ्ग से अनुमित होता है न किसी प्रसिद्ध पदार्थ से उपमित होता है अत॰ यह सिद्धो का सुख अलिङ्ग एव अप्रसिद्ध होने से निरुपम कहा है ।। ३०-३१ ।।

वह सिद्धो का सुख भगवान अर्हन्त के प्रत्यक्ष है और सर्वज्ञ के द्वारा कथित है अतः हम छद्मस्थजन उन्ही के वचनप्रामाण्य से उनके अस्तित्व को जानते है। उनका अखण्ड स्वरूप अल्पज्ञानी की परीक्षा का सर्वथा विषय नही हो सकता है । इस प्रकार उत्तम पुरुषो ने तत्त्वार्थसूत्रों का भाष्य कहा है। इसमें तर्क है और न्याय तथा आगम से निर्णय है ।। ३२-३३ ।।

इस प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्यानालंकार में दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ। 卐 卐 卐

द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः[1]

(पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर)

['द्रव्यलिङ्ग' प्रतीत्य भाज्याः' के अभिप्राय को लेकर काफी ऊहापोह हुई है। प जवाहरलालजी ने इस सम्बन्ध मे 'दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण' मे प्रकाशित विविध विद्वानो के मन्तव्यो का उल्लेख करते हुए अपना अभिप्राय प्रकट कर यह आलेख तैयार किया है, जिसे सबके लाभार्थ यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। -सं.]

"भावलिंग से सब मुनि निर्ग्रन्थ अर्थात् अपरिग्रही और वस्त्ररहित होते है। वाह्य चिह्न या कार्य से उनके अनेक भेद हो सकते है, जैसे—आहार करने वाले मुनि, विहार करने वाले मुनि, अध्ययन करने वाले मुनि, आदि। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः का यही अभिप्राय है।"

—(स्व.) क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी, दि. जैन. सि. द. ३।७६.

"शरीर-संस्कार कृत द्रव्यलिंग भेद को प्राप्त हो जाता है। यथा—मुनिराज हाथ-पैर घुटने से ऊपर नही धोते है, पर किसी मुनि ने विशेष गर्मी के कारण घुटनो के उपरिम भाग—जघा एव अन्य अंगोपागों पर गीले हाथ फेरे। इसी तरह सघ की वैयावृत्ति आदि करने के हेतु से अथवा पठन-पाठन आदि के उद्देश्य से कोई मुनि एकान्तर, बेला, तेला आदि उपवास नही करता है, केवल चौबीस घण्टे मे एक बार एकासन पर आहार-जल ग्रहण करता है, इसमे न्यूनाधिकता नही करता। इसके सिवा वह और कोई सस्कार नही करता। इत्यादि प्रकार से वाहर मे अनुभव मे आने योग्य और भी द्रव्यलिग के भेद जानने चाहिए।"

—(स्व.) आचार्यश्री कुन्थुसागरजी महाराज, वही पृ. १२६.

"द्रव्यलिंग-नाग्न्य रूप सब मे एकसा रहने पर भी बाह्य मे प्रदर्श्य भेद हैं। यथा—किसी के उत्तरगुण तो है ही नही, परन्तु कभी कही व्रतो की भी परिपूर्णता नही है। किसी के व्रत परिपूर्ण

---

१ तत्त्वार्थवार्तिक-नवम अध्याय, सूत्र ४७, पृ स ६६०, पक्ति ३।

है तो उत्तरगुण परिपूर्ण नहीं हैं। किसी के मूलव्रत और उत्तरव्रत दोनों है, परन्तु कभी किसी तरह उत्तरगुण विराधित होते है, इत्यादि द्रव्यलिंग के भेद हैं। अभिप्रायतः ...मूलगुण या उत्तरगुणों की अपेक्षा द्रव्यलिंग जुदा-जुदा है।

"किसी ने मुनि पर कपडा डाल दिया या पहना दिया तो यह एक उपसर्ग है। मुनि ने स्वेच्छा से कपडा धारण नही किया है इसलिए भावलिंग उनके तदवस्थ रहता है और देखने वालो को उस समय द्रव्यलिंग अनग्न रूप दिखेगा, अत. ऐसी परिस्थिति मे नग्नद्रव्यलिंग नही मिलता। अतएव द्रव्यलिंगतः भाज्य हुए। स्मरण रहे कि ध्यानापन्न मुनि पर किसी ने वस्त्र डाल दिया तो वह उपसर्ग है, न कि अपवाद।"

—(स्व.) पं. पन्नालालजी सोनी, वही पृ. १६३-६५.

"किसी मुनि का शरीर दुबला, किसी का मोटा; किसी का शरीर लम्बा, किसी का छोटा (ठिगना), इत्यादि भिन्न-भिन्न शरीराकृतियाँ द्रव्यलिंगगत भिन्नता की सूचक है।"

—(स्व.) पं. इन्द्रलालजी शास्त्री, वही पृ. ८२.

"द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः अर्थात् द्रव्यलिंग की अपेक्षा मुनि नाना शरीराकृति वाले होते है।"

—(स्व.) प. नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य, आरा; वही ३।६८.

"लिंगशब्देन निर्ग्रन्थलिंगेन सिद्धिर्भवति। भूतनयापेक्षया सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भवति। कथ—साहरणासाहरणेति वचनात्। पूर्वं निर्ग्रन्थः पश्चात् उपसर्गाभरणादिक केनचित् कृतम्। यथा—त्रयः पाण्डवाः साभरणाः मोक्ष गताः। उपसर्गवशात् ग्रन्थत्व पाण्डवादिवत्।"

(स सि. १०।९।३२० की टिप्पण)

"उक्त प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि मुक्ति निर्ग्रन्थ लिंग से ही होती है तथापि उपसर्गादि की अपेक्षा सग्रन्थ लिंग से भी मुक्ति कही है, पर वैधानिक रूप से नहीं। इस तरह द्रव्यलिंग कथचित् सग्रन्थ व निर्ग्रन्थ के भेद से द्विविध बन जाता है।"

—(स्व.) पं. दयाचन्दजी शास्त्री, बीना; वही ३।५७.

'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः का अभिप्राय तो यह है कि कोई मुनि (बकुश) अपना शरीर साफ (सुन्दर) बनाए रखने मे दत्तचित्त है तो किन्ही मुनियो का शरीर मैला सा रहता है। अतः किन्हीं का द्रव्यलिंग आकर्षक और किन्ही का अनाकर्षक होता है। बलभद्र, जीवन्धर आदि सरीखे मुनियों का द्रव्यलिंग इतना आकर्षक होता है कि स्त्री-पुरुष उन्हें देखकर मोहित हो जाते हैं। इसी प्रकार असुन्दर द्रव्यलिंग वाले भी मुनि होते है।"

—(स्व.) प. अजितकुमारजी शास्त्री, वही १।२३७

"पूज्य भास्करनन्दि की सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति (मैसूर प्रकाशन) के नवम अध्याय सूत्र ४७ की टीका मे पत्र २२४ पर लिखा है—"लिग द्विविध, द्रव्यलिग भावलिग चेति। भावलिग प्रतीत्य पञ्चापि लिगिनो भवन्ति, सम्यग्दर्शनादे सद्भावात्। द्रव्यलिग प्रतीत्य भाज्या, केषाचित्, क्वचित् कदाचित् कुतश्चित् कथचित् प्रावरणसद्भावात्। अर्थ—लिग दो प्रकार का है—द्रव्यलिग और भावलिग। भावलिग का आश्रय करके पाँचो ही लिगी है क्योकि वे सम्यग्दर्शनादि गुण सहित है। द्रव्यलिग की अपेक्षा कोई मुनिराज कही, किसी समय, किसी कारण, किसी प्रकार आवरणयुक्त हो सकते है।

"ग्रन्थ की इस लिखावट से यह बात मालूम पडती है कि भक्ति, उपसर्ग आदि वश जो मुनिधर्म के लिए योग्य या अभिप्रेत नही है, ऐसे कारण कभी बन जाते है। अत भले ही पाँचो मे स्वरूप (द्रव्यलिग) दिखने की अपेक्षा भेद हो सकता है परन्तु वास्तविक स्वगृहीत जातरूप की अपेक्षा से (विकल्पपूर्वक वस्त्रादि ग्रहण नही होने से अथवा उन्हे रखने का भाव भी नही होने से) कोई भी भेद नही है। इस प्रकार द्रव्यलिग भाज्य है। अथवा, कोई आचार्य है तो कोई उपाध्याय है, कोई साधारण मुनि। इसी तरह बालमुनि, वृद्धमुनि, श्रान्तमुनि, ग्लानमुनि, शैक्ष्यमुनि आदि विविध प्रकार के मुनि होते है। इसी तरह कोई एकलविहारी भी होते है। ये सब द्रव्यलिगगत भेद है।"

—(स्व.) पं. रामप्रसादजी सिद्धान्तशास्त्री, बम्बई, वही १।२८.

"भावलिग प्रतीत्य पञ्चापि निर्ग्रन्थलिगिनो भवन्ति द्रव्यलिग प्रतीत्य भाज्या", गम्भीर विचार करने पर प्रकरण को देखते हुए यह प्रतीत होगा कि भावलिग के स्थान पर द्रव्यलिग पाठ होना चाहिए। पहले जब लिग के द्रव्यलिग और भावलिग इस प्रकार दो भेद किए तब पहले वर्णन भी द्रव्यलिग का ही क्रम प्राप्त है, न कि भावलिग का। अत. भावलिग के स्थान मे द्रव्यलिग तथा द्रव्यलिग के स्थान मे भावलिग पाठ होना चाहिए।

"और तब, अर्थ ऐसा होगा कि द्रव्यलिग की अपेक्षा पुरुषलिगधारी के ही निर्वाण होगा। भावलिग की अपेक्षा कोई भी लिग (स्त्री, पुरुष या नपुसकवेद) का धारी निर्वाण को प्राप्त हो सकता है।

"पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि के वाक्य 'द्रव्यतः पुल्लिगेनैव' (पृ. ३२०) मे स्थित एवकार मे अन्य द्रव्यलिग निषिद्ध हो जाते है।"

—प. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, सिवनी; वही ३।२०३

स्वर्गीय पण्डित शान्तिराजजी न्यायतीर्थ ने भी दिवाकरजी के समान ही अशुद्ध पाठ होने का मन्तव्य प्रकट किया है। (देखो, वही ग्रन्थ ३।२१०)। स्वर्गीय पण्डित लाला पोस्तीलालजी के

एतद्विषयक निम्नलिखित वाक्य (पं. सुमेरुचन्द्रजी के अभिमतानुसार ही) द्रष्टव्य है—"पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ व स्नातक इस प्रकार निर्ग्रन्थ मुनि पॉच प्रकार के होते है। ये सभी नग्न (द्रव्यत. निर्ग्रन्थ) ही रहते है। हॉ, उनके भावों मे (भावलिग मे) भेद सम्भव है। ये सभी पूजनीय हैं। उलटा अर्थ नही करना चाहिए।"

मेरी अपनी मान्यता है कि 'द्रव्यलिंग प्रतीत्य भाज्या' पाठ ही रहे तब भी कोई आपत्ति नही है। सबके अन्तरंग मे भावलिंग रहते हुए भी बाहर से द्रव्यलिग भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। जैसे—(१) किसी दिगम्बर मुनि के कमण्डलु-पिच्छिका होते है, (२) किसी के नही होते है। (३) किसी के नग्न शरीर पर किसी के द्वारा भक्ति या द्वेषवश कपड़ा डाला जाने पर उन ध्यानस्थ मुनि के उस उपसर्गकाल मे सवस्त्रपना भी है और अन्तरग से तो भावलिंग है ही। (४) इसी तरह किसी दिगम्बर मुनि पर किसी दुष्ट द्वारा आभूषणादि से भी वाह्य मे दृश्यमान सग्रन्थता कर दी गई हो। इत्यादि प्रकार से द्रव्यलिग नाना प्रकार के नजर आ सकते है। इसी को स्पष्ट किया जाता है—

(१) सामान्यत. सभी मुनियो के कमण्डलु-पिच्छिका दोनो होते है (वर्तमान मे हम देखते भी है)।

(२) तीर्थंकरो के मुनि अवस्था मे कमण्डलु-पिच्छी नही होते। आगम प्रमाण इस प्रकार हे—महापुराणादि (सर्ग १७-१८) मे ऋषभादि की दीक्षा का विस्तृत वर्णन है पर कही भी पिच्छी-कमण्डलु का उल्लेख नही है। **भावपाहुड** गा. ७९ की श्रुतसागरी टीका मे लिखा है—"पिच्छी-कमण्डलुरहित लिङ्ग कश्मलमित्युच्यते तीर्थङ्करपरमदेवात्तप्तर्द्धे विना अवधिज्ञानाद् ऋते चेत्यर्थः।" अर्थात् पिच्छी-कमण्डलु रहित साधुवेश ठीक नही किन्तु तीर्थंकर परमदेव, तप्तऋद्धि के धारक मुनि और अवधिज्ञान से युक्त मुनियो को इनकी आवश्यकता नही रहती। **वामदेवकृत भावसंग्रह** मे लिखा है—"अवधे प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छ यथागतम् ॥२७६॥" अर्थात् अवधिज्ञान के बाद पिच्छिका आवश्यक नही। **नियमसार** गा. ६४ की टीका मे लिखा है कि उपेक्षासयमियों के पुस्तक, कमण्डलु आदि वाह्य उपकरण नही होते। **असगकृत महावीरचरित** सर्ग १७, श्लोक १२७ मे तीर्थंकरो के परिहारविशुद्धि सयम वताया है (अत· उनके पिच्छीकमण्डलु नही होते)। माथुर सघ तो नि.पिच्छक ही था।

तत्त्वार्थसूत्र (प. फूलचन्द शास्त्री कृत टीका) अ. ९ सू. ४७ पृ. ४५१ पर लिखा है—निर्ग्रन्थो का द्रव्यलिग एक सा नही होता। किसी के पिच्छी कमण्डलु होते हैं, किसी के नही होते। **प्रेमीजी कृत जैन साहित्य और इतिहास** (द्वि. स.) पृ. ४९४ पर लिखा है—"तीर्थङ्करानुकारमिच्छता मठे

निवसन पिच्छीकमण्डलुधारणं सर्वमविधेय स्यादिति ।" अर्थात् तीर्थंकर रूप के अभिलाषियो का मठ मे रहना, पिच्छी-कमण्डलु धारना उचित नही । जयसेनप्रतिष्ठापाठ पृ २७१ पर लिखा है—"अत्र कमण्डलुपिच्छिकादान तीर्थंकरस्य शौचक्रियाजीवघाताभावाच्च न कर्तुम् प्रभवति ।" अर्थात् शौचक्रिया और जीवहिंसा के अभाव के कारण तीर्थंकरो के कमण्डलु-पिच्छी नही होते । समयप्रवाह (प्रतिष्ठाचार्य दुर्गाप्रसादजी) पृ. १६ मे लिखा है कि भगवान की दीक्षा के समय पिच्छी-कमण्डलु नही होते । विचारसारप्रकरण पृ. ४७ "न वि लेइ जिणा पिच्छी, न वि कु डी वल्कल च कडसारं ।" तीर्थंकर पिच्छी, कमण्डलु, चटाई आदि नही रखते ।[1]

(३) कोई मुनिराज ध्यान मे लीन है और किसी ने आकर उनके शरीर पर कपडा लपेट दिया । ऐसी अवस्था मे उक्त मुनि द्रव्यत. अनग्न होते हुए भी उनके भावलिंग के बने रहने मे बाधा नही आती । कहा भी है—"कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति, तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टन कृतम् । आभरणादिक वा कृत तथाऽप्यसौ निर्ग्रन्थ एव । कस्मात् ? इति चेत्, बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पाण्डवादिवत् ।' (समयसार गा. ४३६ ता. वृ.)

(४) पाण्डवो के तप.काल मे दुर्योधन के वश के किसी पापी युधवरोधन नामक मनुष्य ने दुस्सह उपसर्ग किया । इसने लोहे के मुकुट, कडे, कटिसूत्र आदि आभूषण बनवा कर और इन्हे अग्नि मे तपा कर युधिष्ठिर आदि पाँचो मुनियो के मस्तक आदि स्थानो मे पहना दिए । उस समय उनका द्रव्यलिंग तो सग्रन्थ हो गया था तथापि वे भावतः निर्ग्रन्थ ही थे । (ह पु ६५।१९-२१ पृ· १०३१-३२; पाण्डवपुराण २५।५२-१३६, समयसार ता. वृ. गाथा ४३६)

(५) इसी तरह सामान्यत. दिगम्बर मुनि का द्रव्यलिंग जटाओ से रहित होता है परन्तु दीर्घकाल तक अचल होकर तप करने के कारण जटाएँ भी आ जाती है । कहा भी है—"हवा से उडी हुई आदिनाथ भगवान की अस्त-व्यस्त जटाये थी । (प पु ३।२८७-८८, म. पु. १।६) इसीलिए आदिनाथ भगवान की प्रतिमाये जटामुकुट रूप शेखर से सहित भी होती है । (आदि जिणप्पडिमाओ ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ—ति. प. ४।२३) इसी तरह बाहुबली मुनिराज की भी स्थिति थी । "दधान. स्कन्धपर्यन्तलम्बिनी केशवल्लरी । सो अवन्गादूढकृष्णाहिमण्डल हरिचन्दनम् म. पु. ३६।१०६ । कन्धो पर्यन्त लटकती हुई केश रूपी लताओ को धारण करने वाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पो के समूह को धारण करने वाले हरिचन्दन वृक्ष के समान लगते थे । बाहुबली मुनिराज के शरीर पर भी लताएँ हो गई थी । उनका वह शरीर मानो लताओं से युक्त

१ "तीर्थंकरो के मुनि-अवस्था मे कमण्डलु पिच्छिका नही होते ।" —इस सन्दर्भ के सभी प्रमाण श्रीयुत प रतनलालजी कटारिया (केकडी) ने भेजे थे । उन्हे साभार यहाँ उद्धृत किया गया है ।

2229

कथचित् सग्रन्थ जैसा लगता था। "फूली हुई वसन्तलता के द्वारा शाखा रूपी भुजाओ से घेर कर गाढ़ आलिगन किए हुए वे बाहुबली ऐसे जान पडते थे मानो हार लिए हुए किसी सखी ने ही अपनी भुजाओं से उन्हें गाढ आलिगन किया हो। (आ. पु. ३६।११०)। कभी-कभी क्रीडा के लिए आई हुई विद्याधरियाँ उन मुनिराज के समस्त शरीर पर लगी हुई लताओ को हटा जाती थी। (आ. पु. ३६।१८३)। इसीलिए आज उनकी प्रतिमाएँ भी लता सहित ही बनती है। ऐसे उन बाहुबली का द्रव्यलिग लताओं व जटाओ सहित भिन्न ही द्रव्यलिग स्वरूप दिखता था परन्तु तब भी वे भावत: तो भावलिगी निर्ग्रन्थ ही थे। वे सर्वावधि व विपुलमति मन:पर्ययज्ञान के धारक तथा तप्त तप (मलमूत्राभाव की हेतुभूत ऋद्धि) आदि ऋद्धियो से युक्त थे। (म. पु. ३६।१४७-१५०)।

इस प्रकार कमण्डलु-पिच्छी युक्त नग्न मुनि, कमण्डलु-पिच्छी रहित नग्नमुनि, ध्यानस्थ (उपसर्गवश) सवस्त्र मुनि, साभूषण (उपसर्गत:) मुनि, लतादि सहित मुनि, जटा वाले मुनि इसी तरह अन्य भी आगमानुसार द्रव्यलिग के प्रकार जानने चाहिए। परन्तु इन सब मुनियो के भी अन्तरग मे भावलिग होने मे बाधा नही है।

